☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्रीकन्हैयालालजी 'कमल'
श्रीदेवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्रीरतन मुनि
पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्रीविनयकुमार 'भीम'
श्रीमहेन्द्र मुनि 'दिनकर'

☐ अर्थसहयोगी
श्रीमान् सेठ खींवराजजी चोरड़िया

☐ प्रकाशन-तिथि
वीर निर्वाणसंवत् २५०८, वि. सं. २०३७, ई. सन् १९८१

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन-समिति,
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन नं. ३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यन्त्रालय,
केसरगंज, अजमेर

☐ मूल्य ४५) रु.

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji maharaj

Fifth Ganadhara Sudharma Swami Compiled
Seventh Anga

NAYA DHAMMAKAHAO

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity
Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji maharaj

Convener & Chief Editor
Yuvacharya Sri Mishrimalji maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Pt. Shobhachandra Bharill

Publishers
Sri Agama Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

☐ **Jinagam Granthmala Publication No. 4**

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-Pravartaka Munisri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandra Bharill

☐ **Managing Editor**
Srichand Surana 'Saras'

☐ **Promotor**
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **Financial Assistance**
Sri Seth Khivarajji Choradia

☐ **Publishing Date**
Vir-Nirvan Samvat 2508, Vikram Samvat 2037, January 1981.

☐ **Publishers**
Sri Agam Prakashana Samiti
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.) [India]
Pin 305901

☐ **Printers**
Vaidic Yantralaya,
Kesar ganj, Ajmer.

☐ **Price 45 Rs.**

समर्पण

जिनकी तलस्पर्शी विद्वत्ता जैन संघ में विश्रुत है, अनेकानेक दशाब्दियाँ जिनके उज्ज्वल आचार की साक्षी हैं, जो आगम-ज्ञान के विशाल भण्डार हैं, बहुभाषाविज्ञ हैं, ज्योतिष शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य हैं,

जिनका हृदय नवनीत-सा मृदुल एवं मधुर है, जिनके व्यवहार में असाधारण सौजन्य झलकता है, संघ जिनके लोकोत्तर उपकारों से ऋणी है,

उन महास्थविर श्रमणसंघरत्न पण्डितप्रवर उपाध्याय

श्री कस्तूरचन्द्रजी महाराज

के कर-कमलों में

☐ मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

भगवान् श्रीमहावीर की २५ वीं निर्वाण-शताब्दी के पावन प्रसंग पर साहित्यप्रकाशन की एक नई उत्साहपूर्ण लहर उठी थी। उस समय जैनधर्म, जैनदर्शन ग्रौर भगवान् महावीर के लोकोत्तर जीवन ग्रौर उनकी कल्याणकारिणी शिक्षाओं से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन हुआ। मुनि श्रीहजारीमलस्मृतिप्रकाशन ब्यावर की ग्रोर से भी 'तीर्थंकर महावीर' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया। इसी प्रसंग पर विद्वद्रत्न श्रद्धेय मुनि (ग्रव ग्र. भा. श्रमण संघ के युवाचार्य) श्रीमिश्रीमल जी म. 'मधुकर' के मन में एक उदात्त भावना जागृत हुई कि भ. महावीर से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन हो रहा है, यह तो ठीक है, किन्तु उनकी मूल ग्रौर पवित्र वाणी जिन ग्रागमों में सुरक्षित है, उन ग्रागमों को सर्वसाधारण को क्यों न सुलभ कराया जाय, जो सम्पूर्ण वत्तीसी के रूप में कहीं उपलब्ध नहीं हैं। भगवान् महावीर की ग्रसली महिमा तो उस परम पावन सुधामयी वाणी में ही निहित है। मुनिश्री की यह भावना वैसे तो चिरसंचित थी परन्तु उस वातावरण ने उसे ग्रधिक प्रवल वना दिया।

मुनिश्री ने कुछ वरिष्ठ ग्रागमप्रेमी श्रावकों तथा विद्वानों के समक्ष ग्रपनी भावना प्रस्तुत की। धीरे-धीरे ग्रागमवत्तीसी के प्रकाशन की चर्चा वल पकड़ती गई। भला कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा जो इस पवित्रतम कार्य की सराहना ग्रौर ग्रनुमोदना न करे? श्रमण भगवान् महावीर के साथ ग्राज हमारा जो सम्पर्क है, वह उनकी जगत्-पावन वाणी के ही माध्यम से है। भगवान् की देशना के सम्वन्ध में कहा गया है—'सव्व-जगजीव-रक्खण-दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।' ग्रर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा ग्रौर दया के लिए ही भगवान् की देशना प्रस्फुटित हुई थी। ग्रत एव भगवद्वाणी का प्रचार ग्रौर प्रसार करना प्राणिमात्र की रक्षा ग्रौर दया का ही कार्य है। इससे ग्रधिक श्रेष्ठ विश्वकल्याण का ग्रन्य कोई कार्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार ग्रागमप्रकाशन के विचार को सभी ग्रोर से पर्याप्त समर्थन मिला। तव मुनिश्री के वि. सं. २०३५ के व्यावर-चातुर्मास में समाज के ग्रग्रगण्य श्रावकों एवं विद्वानों की एक वैठक ग्रायोजित की गई ग्रौर प्रकाशन की रूप-रेखा पर विचार किया गया। सुदीर्घ चिन्तन-मनन में पश्चात् वैशाख शुक्ला १० को जो भगवान् महावीर के केवलज्ञान-कल्याणक का शुभ दिन था, ग्रागमवत्तीसी के प्रकाशन की घोषणा कर दी गई ग्रौर शीघ्र ही कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

हमारे मुख्य सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' ने प्रवन्ध-सम्पादक का दायित्व स्वीकार किया ग्रौर ग्राचारांग के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। साथ ही ग्रन्य विद्वानों ने भी विभिन्न ग्रागमों के सम्पादन का दायित्व स्वीकार किया ग्रौर कार्य प्रारम्भ हो गया।

तव तक प्रसिद्ध विद्वान् एवं ग्रागमों के गम्भीर ग्रध्येता पंडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी वम्वई से व्यावर ग्रागए ग्रौर उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग भी हमें प्राप्त हो गया। ग्रापके वहुमूल्य सहयोग से हमारा कार्य ग्रतिसुगम हो गया ग्रौर भार हल्का हो गया।

श्री. श्रीचन्दजी द्वारा सम्पादित-ग्रनूदित ग्राचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) का विमोचन जोधपुर में युवाचार्य-चादर-समारोह के शुभ ग्रवसर पर राजस्थान के महामहिम राज्यपाल श्री रघुकुल तिलक के कर-कमलों से हुआ।

तत्पश्चात् द्वितीय श्रुतस्कन्ध का तथा डा. छगनलालजी शास्त्री द्वारा सम्पादित-अनूदित उपासकदशांग का विमोचन आचार्यप्रवर पूज्य श्रीजयमलजी म. की जयन्ती के समारोह-प्रसंग पर मेड़ता शहर में, उपप्रवर्त्तक स्वामी श्रीव्रजलालजी म. तथा युवाचार्यजी श्रीमधुकर मुनिजी म. के सान्निध्य में भारत के विख्यात शिक्षाशास्त्री एवं वैज्ञानिक डा. दौलतसिंहजी महता के वरद हस्तों से हुआ। इस प्रकार अब तक तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। चौथे श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्ग का प्रकाशन दि. २५ जनवरी, १९८१ के दिन डेह (नागौर) में होने वाले दीक्षा-समारोह के अवसर पर करने का विचार किया गया था किन्तु राज्यव्यापी विद्युत्संकट के कारण सम्भव न हो सका। अब उसे प्रकाशित करते समय हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत आगम का सम्पादन और अनुवाद पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने किया है। उनके विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। समिति की ओर से प्रकाशित होने वाले आगमों का पंडितजी पहले निरीक्षण और संशोधन करते हैं, फिर युवाचार्यश्रीजी उन्हें अन्तिम रूप से अवलोकन करते हैं और तत्पश्चात् ही उनका मुद्रण प्रारम्भ किया जाता है।

स्थानाङ्गसूत्र मुद्रणार्थ आगरा भेज दिया गया है और अन्तकृद्दशांग तथा अनुत्तरौपपातिक अजमेर में मुद्रित होने जा रहे हैं। सूत्रकृतांग, समवायांग आदि भी शीघ्र प्रेस में दिए जा सकेंगे, ऐसी आशा है।

अन्त में हम श्रमणसंघ के युवाचार्य, सर्वतोभद्र श्रीमधुकर मुनिजी महाराज के अतीव आभारी हैं जिनकी शासनप्रभावना की उत्कट भावना, आगमों के प्रति उद्दाम भक्ति, धर्मज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रति तीव्र उत्कंठा और साहित्य के प्रति अप्रतिम अनुराग की बदौलत हमें भी वीतराग-वाणी की किंचित् सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

सम्पादकमण्डल के अन्यतम सदस्य, सुप्रसिद्ध साहित्यकार और विद्वान् श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री ने प्रस्तुत आगम की विशद विस्तृत प्रस्तावना लिख कर इस संस्करण का महत्त्व बढ़ाया है। इसके लिए हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

सेवा के इस सात्त्विक अनुष्ठान में अपने सहयोगियों के भी हम कृतज्ञ हैं। सागर-वर-गम्भीर श्रावकवर्य पद्मश्री सेठ मोहनमलजी सा. चोरड़िया ने समिति की अध्यक्षता स्वीकार कर और एक बड़ी धनराशि प्रदान कर हमें उत्साहित किया है। आपके अनुज भ्राता सेठ खींवराजजी सा. ने, जिनका परिचय अन्यत्र दिया जारहा है, प्रस्तुत आगम के प्रकाशन का भार वहन किया है। इनके अतिरिक्त सेठ श्रीकंवरलालजी बैताला, श्री मूलचन्दजी सुराणा श्रीदौलतरामजी पारख, श्रीरतनचन्दजी मोदी तथा श्री चाँदमलजी विनायकिया का सहयोग विभिन्न रूपों में हमें प्राप्त हो रहा है। समिति के कार्यालय की व्यवस्था श्रीसुजानमलजी सेठिया आत्मीयता की भावना से कर रहे हैं। हम इन सब के आभारी हैं।

पुखराज शीशोदिया
कार्यवाहक अध्यक्ष

जतनराज महता
महामन्त्री
श्री आगमप्रकाशन, समिति, ब्यावर (राजस्थान)

आमुख

जैनधर्म, दर्शन व संस्कृति का मूल आधार वीतराग सर्वज्ञ की वाणी है। सर्वज्ञ अर्थात् आत्मद्रष्टा। सम्पूर्ण रूप से आत्मदर्शन करने वाले ही विश्व का समग्र दर्शन कर सकते हैं। जो समग्र को जानते है, वे ही तत्त्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं। परमहितकर निःश्रेयस का यथार्थ उपदेश कर सकते हैं।

सर्वज्ञों द्वारा कथित तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिवोध 'आगम' शास्त्र या सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरों की वाणी मुक्त सुमनों की वृष्टि के समान होती है, महान् प्रज्ञावान् गणधर उसे सूत्र रूप में ग्रथित करके व्यवस्थित 'आगम' का रूप दे देते हैं।[1]

आज जिसे हम 'आगम' नाम से अभिहित करते हैं, प्राचीन समय में वे 'गणिपिटक' कहलाते थे। 'गणिपिटक' में समग्र द्वादशांगी का समावेश हो जाता है। पश्चाद्वर्ती काल में इसके अंग, उपांग, मूल, छेद, आदि अनेक भेद किये गये।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, तब आगमों को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से सुरक्षित रखा जाता था। भगवान् महावीर के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक 'आगम' स्मृति-परम्परा पर ही चले आये थे। स्मृतिदुर्बलता, गुरुपरम्परा का विच्छेद तथा अन्य अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान भी लुप्त होता गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र ही रह गया। तब देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने श्रमणों का सम्मेलन बुलाकर, स्मृति-दोष से लुप्त होते आगमज्ञान को, जिनवाणी को सुरक्षित रखने के पवित्र उद्देश्य से लिपिबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयास किया और जिनवाणी को पुस्तकारूढ करके आने वाली पीढ़ी पर अवर्णनीय उपकार किया। यह जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की धारा को प्रवहमान रखने का अद्भुत उपक्रम था। आगमों का यह प्रथम सम्पादन वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् सम्पन्न हुआ।

पुस्तकारूढ होने के बाद जैन आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु कालदोष, बाहरी आक्रमण, आन्तरिक मतभेद, विग्रह, स्मृति-दुर्बलता एवं प्रमाद आदि कारणों से आगमज्ञान की शुद्ध धारा, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ, पद तथा गूढ अर्थ छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। जो आगम लिखे जाते थे, वे भी पूर्ण शुद्ध नहीं होते थे। उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही रहे। अन्य भी अनेक कारणों से आगम-ज्ञान की धारा संकुचित होती गयी।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने एक क्रांतिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थ-ज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु

---

१. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।

कुछ काल बाद पुनः उसमें भी व्यवधान आगए। साम्प्रदायिक द्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारों की भाषाविषयक अल्पज्ञता आगमों की उपलब्धि तथा उनके सम्यक् अर्थबोध में बहुत बड़ा विघ्न बन गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो पाठकों को कुछ सुविधा हुई। आगमों की प्राचीन टीकाएँ, चूर्णि व निर्युक्ति जब प्रकाशित हुई तथा उनके आधार पर आगमों का सरल व स्पष्ट भावबोध मुद्रित होकर पाठकों को सुलभ हुआ तो आगमज्ञान का पठन-पाठन स्वभावतः बढ़ा, सैकड़ों जिज्ञासुओं में आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति जगी व जैनेतर देशी-विदेशी विद्वान् भी आगमों का अनुशीलन करने लगे।

आगमों के प्रकाशन-सम्पादन मुद्रण के कार्य में जिन विद्वानों तथा मनीषी श्रमणों ने ऐतिहासिक कार्य किया, पर्याप्त सामग्री के अभाव में आज उन सबका नामोल्लेख कर पाना कठिन है। फिर भी मैं स्थानकवासी परम्परा के कुछ महान् मुनियों का नाम ग्रहण अवश्य ही करूंगा।

पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज स्थानकवासी परम्परा के वे महान् साहसी व दृढ-संकल्पबली मुनि थे, जिन्होंने अल्प साधनों के बल पर भी पूरे बत्तीस सूत्रों को हिन्दी में अनूदित करके जन-जन को सुलभ बना दिया। पूरी बत्तीसी का सम्पादन प्रकाशन एक ऐतिहासिक कार्य था, जिससे सम्पूर्ण स्थानकवासी व तेरापंथी समाज उपकृत हुआ।

गुरुदेव पूज्य स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज का एक संकल्प :

मैं जब गुरुदेव स्व. स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज के तत्त्वावधान में आगमों का अध्ययन कर रहा था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर गुरुदेव मुझे अध्ययन कराते थे। उनको देखकर गुरुदेव को लगता था कि यह संस्करण यद्यपि काफी श्रम-साध्य हैं, एवं अब तक के उपलब्ध संस्करणों में काफी शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं। मूल पाठ में एवं उसकी वृत्ति में कहीं-कहीं अन्तर भी है, कहीं वृत्ति बहुत संक्षिप्त है।

गुरुदेव स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज स्वयं जैन सूत्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनकी मेधा बड़ी व्युत्पन्न व तर्कणा-प्रधान थी। आगमसाहित्य की यह स्थिति देखकर उन्हें बहुत पीड़ा होती और कई बार उन्होंने व्यक्त भी किया कि आगमों का शुद्ध, सुन्दर व सर्वोपयोगी प्रकाशन हो तो बहुत लोगों का कल्याण होगा, कुछ परिस्थितियों के कारण उनका संकल्प, मात्र भावना तक सीमित रहा।

इसी बीच आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज, जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्मा-रामजी महाराज, पूज्य श्री घासीलालजी महाराज आदि विद्वान् मुनियों ने आगमों की सुन्दर व्याख्याएँ व टीकाएँ लिखकर अथवा अपने तत्त्वावधान में लिखवाकर इस कमी को पूरा किया है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी ने भी यह भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया है और अच्छे स्तर से उनका आगम-कार्य चल रहा है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करने का मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के विद्वान् श्रमण स्व. मुनि श्री पुण्यविजय जी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत ही व्यवस्थित व उत्तमकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। उनके स्वर्गवास के पश्चात् मुनि श्री जम्बूविजय जी के तत्त्वावधान में यह सुन्दर प्रयत्न चल रहा है।

उक्त सभी कार्यों का विहंगम अवलोकन करने के बाद मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज कहीं तो आगमों का मूल मात्र प्रकाशित हो रहा है और कहीं आगमों की विशाल व्याख्याएँ की जा रही हैं। एक, पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। मध्यम मार्ग का अनुसरण कर आगमवाणी का भावोद्घाटन करने वाला ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जो सुबोध भी हो, सरल भी हो, संक्षिप्त हो, पर सारपूर्ण व सुगम हो।

गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। उसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ४-५ वर्ष पूर्व इस विषय में चिन्तन प्रारम्भ किया। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला १० महावीर कैवल्यदिवस को दृढ निर्णय करके आगम-बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ कर दिया और अब पाठकों के हाथों में आगम-ग्रन्थ, क्रमशः पहुँच रहे हैं, इसकी मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है।

आगम-सम्पादन का यह ऐतिहासिक कार्य पूज्य गुरुदेव की पुण्यस्मृति में आयोजित किया गया है। आज उनका पुण्यस्मरण मेरे मन को उल्लसित कर रहा है। साथ ही मेरे वन्दनीय गुरु-भ्राता पूज्य स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज की प्रेरणाएँ—उनकी आगम-भक्ति तथा आगम सम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान, प्राचीन धारणाएँ, मेरा सम्बल बनी हैं। अतः मैं उन दोनों स्वर्गीय आत्माओं की पुण्यस्मृति में विभोर हूँ।

शासनसेवी स्वामीजी श्री ब्रजलालजी महाराज का मार्गदर्शन, उत्साह-संवर्द्धन, सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार व महेन्द्र मुनि का साहचर्य-बल; सेवा-सहयोग तथा महासती श्री कानकुंवर जी, महासती श्री झणकारकुंवरजी, परमविदुषी साध्वी श्री उमराव कुंवर जी, 'अर्चना'—की विनम्र प्रेरणाएँ मुझे सदा प्रोत्साहित तथा कार्यनिष्ठ बनाये रखने में सहायक रही हैं।

मुझे दृढ विश्वास है कि आगम-वाणी के सम्पादन का यह सुदीर्घ प्रयत्न-साध्य कार्य सम्पन्न करने में मुझे सभी सहयोगियों, श्रावकों व विद्वानों का पूर्ण सहकार मिलता रहेगा और मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने में गतिशील बना रहूँगा।

इसी आशा के साथ.................

—मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
(कार्यकारी समिति)

ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र प्रकाशन में विशिष्ट सहयोगी

श्रीमान् सेठ खींवराजजी चोरड़िया

[जीवन-रेखा]

राजस्थान के गौरवास्पद व्यवसायी, स्थानकवासी जैनसमाज की अन्यतम विभूति, धर्मनिष्ठ सेठ श्री खींवराजजी सा. चोरड़िया का जन्म राजस्थान के ग्राम नोखा—चान्दावतों का—में ई. सन् १९१४ को हुआ। आपके पूज्य पिताश्री सिरेमलजी सा. और माता सायबकुंवरजी के धार्मिक संस्कार आपको उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए हैं। आपके ज्येष्ठतम भ्राता सेठ हीराचंदजी सा., ज्येष्ठ भ्राता पद्मश्री सेठ मोहनमलजी सा. तथा श्रीमाणकचंद जी सा. हैं। आपके सुपुत्र श्रीदेवराजजी और श्रीनवरत्नमलजी हैं। अनेक पौत्रों और पौत्रियों से हरा-भरा आपका यह वृहत् परिवार समाज के लिए, धर्मनिष्ठा की दृष्टि से आदर्श है।

चोरड़ियाजी की धर्मपत्नी श्रीमती भंवरीबाई धर्मश्रद्धा की प्रतिमूर्त्ति एवं तपस्विनी भी हैं। आपने शारीरिक स्वास्थ्य साधारण होते हुए भी अपने प्रबल आत्मबल के आधार पर वर्षी तप की आराधना की है, जिसका उद्यापन बड़ी ही धूमधाम से नोखा में किया गया था। वर्षी तप के उपलक्ष्य में लाखों की राशि दान में दी गई थी।

श्री चोरड़ियाजी का विशाल व्यवसाय मद्रास नगर में है। व्यापारिक समाज में आपका वर्चस्व है। व्यापारियों में आप एक प्रकार से राजा कहलाते हैं। आपके व्यवसाय इस प्रकार हैं—

१—खींवराज मोटर्स प्रा. लि. मावर रोड, मद्रास

२—फाइनेन्सर्स

३—खींवराज मोटर्स बेंगलूर—ओटोमोबाइल्स एजेन्सी

४—राज मोटर्स—मोटर साइकिल एजेन्सी

५—जमीन-जायदाद का व्यवसाय

६—दी भवानी मिल्स लिमि. (धागे की मिल) (चेयरमेन)

७—श्रीविग केमिकल (चेयरमेन)

इसके अतिरिक्त आपकी मद्रास, जोधपुर तथा नोखा आदि में विपुल स्थावर सम्पत्ति है।

किन्तु यह न समझा जाय कि आपका जीवन व्यवसाय के लिए ही समर्पित है। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी आप तन, मन और धन से महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। निम्नलिखित तालिका से यह कथन स्पष्ट हो जाता है। वर्त्तमान में आपका नि. लि. संस्थाओं के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हैं—

१—आप स्थानकवासी जैन संघ के उपाध्यक्ष हैं।

२—श्री वर्धमान सेवासमिति, नोखा के अध्यक्ष हैं।

३—दयासदन, मद्रास के अध्यक्ष हैं।

४—मुनि श्रीहजारीमलजी म. सा. ट्रस्ट, नोखा के ट्रस्टी हैं।

५—श्री जैन एजुकेशन सोसाइटी के पेटर्न हैं।

६—श्री जयमल जैन छात्रावास के सदस्य हैं।

७—श्री एस. एस. जैन महिलासंघ के अध्यक्ष हैं।

८—श्री दक्षिण भारत स्वाध्याय समिति मद्रास के सदस्य हैं।

उल्लिखित संस्थाओं के साथ संवद्ध होने के साथ-साथ आपने स्वयं अपने उदार दान से नि. लि. संस्थाओं की स्थापना भी की है—

१—खींवराज चोरड़िया डिस्पेन्सरी, मावर रोड, मद्रास

२—खींवराज चोरड़िया चेरेटेबिल ट्रस्ट, मद्रास

३—श्रीमती भंवरीकुंवर चोरडिया चेरेटेबिल, मद्रास

इस संक्षिप्त परिचय से ही पाठक समझ सकेंगे कि सेठ खींवराजजी का जीवन कितना बहुमुखी है। विशेषतः उल्लेखनीय यह है कि चोरड़ियाजी अतीव भाग्यशाली हैं। वे लक्ष्मी के पीछे नहीं दौड़ते, लक्ष्मी उनके पीछे दौड़ती है। जब, जहाँ, जिस व्यवसाय में हाथ डालते हैं, पूर्ण सफलता आपका स्वागत करने के लिए सन्नद्ध रहती है।

इतना सब होते हुए भी चोरड़ियाजी बहुत सादगी-पसन्द, सौजन्यमूर्त्ति, भद्रहृदय, अत्यल्पभाषी और प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी हैं।

उल्लेख करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है कि प्रस्तुत शास्त्र 'ज्ञाताधर्मकथा' के प्रकाशन का व्यय-भार आपने ही वहन किया है। इस उदारता के लिए समिति आपकी अतीव आभारी है।



सम्पादकीय : यत्किञ्चित्

ज्ञाताधर्मकथाङ्ग द्वादशांगी में छठा अंग है और कथाप्रधान है। यद्यपि अन्तगड, अनुत्तरोववाइय तथा विपाक आदि अंग भी कथात्मक ही हैं तथापि इन सब अंगों की अपेक्षा ज्ञाताधर्मकथा का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कहना चाहिए कि यह अंग एक प्रकार से आकर अंग है। यद्यपि प्रस्तुत अंग में भी औपपातिक, राजप्रश्नीय आदि अंगों के अनुसार अनेक प्ररूपणाएँ—विशेषतः राजा, रानी, नगर आदि को जान लेने के उल्लेख—स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं, फिर भी अनेक कथा-आगमों में ज्ञातासूत्र का ही प्रचुरता से उल्लेख हुआ है। अतएव आकर-अंगों में प्रस्तुत सूत्र की गणना करना अनुचित नहीं, सर्वथा उचित ही है।

ज्ञाताधर्मकथांग की भाषा भी पूर्वोक्त अंगों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और साहित्यिक है। जटिलता लिए हुए है। अनेक स्थल ऐसे भी इसमें हैं जहाँ बड़ी हृदयहारी आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया गया है और उसे पढ़ते समय ऐसा आभास होता है कि हम किसी कमनीय काव्य का रसास्वादन कर रहे हैं। आठवें अध्ययन में वर्णित अर्हन्नक श्रमणोपासक की समुद्रयात्रा के प्रसंग में, तालपिशाच द्वारा किये गये उपसर्ग का वर्णन है और नौका के डूबने-उतराने का जो वर्णन किया गया है, वह अत्यन्त रोचक है। उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार वहाँ मन को मोह लेते हैं।

अन्यत्र ज्ञाताधर्मकथासूत्र की कथाओं में अवान्तर कथाओं का उल्लेख मिलता है, वे सब कथाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं तथापि उनकी एक स्पष्ट झलक आज भी देखी जा सकती है और वे अवान्तर कथाएँ लगभग सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रथम अध्ययन में मेघकुमार की कथा के अन्तर्गत उसके पूर्वभवों की कथाएँ हैं तो द्वितीय अध्ययन में धन्य सार्थवाह की कथा में विजय चोर की कथा गर्भित है। अष्टम अध्ययन में तो अनेकानेक अवान्तर कथाएँ आती हैं। उनमें एक बड़ी ही रोचक कथा कूपमंडूक की भी है। नौवें माकन्दी अध्ययन में प्रधान कथा माकन्दीपुत्रों की है, मगर उसके अन्तर्गत रत्नद्वीप की रत्ना देवी और शूली पर चढे पुरुष की भी कथा है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी ऐसी कथाएँ खोजी जा सकती हैं।

उदाहरण के रूप में ही यहाँ अवान्तर कथाओं का उल्लेख किया जा रहा है। आगम का सावधानी के साथ पारायण करने वाले पाठक स्वयं ऐसी कथाओं को जान-समझ सकेंगे, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। टीकाकार के अनुसार प्रथम श्रुतस्कन्धों में जो कथाएं हैं, वे ज्ञात अर्थात् उदाहरण हैं और दूसरे श्रुतस्कन्ध की कथाएँ धर्मकथाएँ हैं। अनेक स्थलों पर टीकाकार का यही अभिमत उल्लिखित हुआ है। टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने अपनी टीका के प्रारम्भ में इस प्रकार लिखा है—

'नायाणि त्ति ज्ञातानि उदाहरणानीति प्रथमश्रुतस्कन्धः, धम्मकहाओ—धर्मप्रधानाः कथाः धर्मकथाः। ज्ञातता चास्यैवं भावनीया—दयादिगुणवन्तः सहन्त एव देहकष्टं उत्क्षिप्तैकपादो मेघकुमारजीवहस्तीवेति।'

तात्पर्य यह है कि 'नाय' का संस्कृत रूप 'ज्ञात' है और ज्ञात का अर्थ है उदाहरण। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध 'ज्ञात' है। इसे ज्ञात (उदाहरण) रूप किस प्रकार माना जाय ? इस प्रश्न का समाधान यह दिया गया है कि जिनमें दया आदि गुण होते हैं वे देह-कष्ट सहन करते ही हैं, जैसे एक पैर ऊपर उठाए रखने वाला मेघकुमार का जीव हाथी।

इस प्रकार प्रथम अध्ययन का उदाहरण के रूप में उपसंहार करने का समर्थन किया गया है। अन्य अध्ययनों को भी इसी प्रकार उदाहरण के रूप में समझ लेना चाहिए।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में, टीकाकार का कथन है कि धर्मप्रधान कथाओं को धर्मकथा जानना चाहिए।

ज्ञात और धर्मकथा का जो पृथक्करण टीकाकार ने किया है, वह पूरी तरह समाधानकारक नहीं है।

क्या प्रथम श्रुतस्कन्ध की कथाओं को धर्मप्रधान कथाएँ नहीं कहा जा सकता ? यदि वे भी धर्मप्रधान कथाएँ हैं—और वस्तुतः उनमें धर्म की प्रधानता है ही—तो उन्हें धर्मकथा क्यों न माना जाय ? यदि उन्हें भी धर्मकथा मान लिया जाता है तो फिर उक्त पृथक्करण ठीक नहीं बैठता। ऐसी स्थिति में सूत्र का नाम 'ज्ञाताधर्मकथा' के बदले 'धर्मकथा' ही पर्याप्त ठहरता है, क्योंकि दोनों श्रुतस्कन्धों में धर्मकथाएँ ही हैं।

इसके अतिरिक्त, दूसरे श्रुतस्कन्ध में जो धर्मकथाएं हैं, क्या उनका उपसंहार, मेघकुमार की कथा के समान ज्ञात—उदाहरण रूप में नहीं किया जा सकता ? अवश्य किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में दोनों श्रुत-स्कन्ध 'ज्ञात' ही बन जाते हैं और उक्त पृथक्करण विगड़ जाता है। अतएव प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञात और दूसरे श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाएं होने से प्रस्तुत अंग का नाम 'ज्ञाताधर्मकथा' अथवा 'नायाधम्मकहाओ' है, यह अभिमत चिन्तनीय बन जाता है।

इस विषय में एक तथ्य और उल्लेखनीय है। श्री अभयदेव सूरि ने यह भी उल्लेख किया है कि प्राकृत-भाषा होने कारण 'नाय' के स्थान पर दीर्घ 'आ' हो जाने से 'नाया' हो गया है। यह तो यथार्थ है किन्तु जब 'नायाधम्मकहाओ' का संस्कृतरूपान्तर 'ज्ञाताधर्मकथा' किया गया तो 'ज्ञात' का 'ज्ञाता' कैसे हो गया, इसका कोई समाधान सूरिजी ने नहीं किया है। किन्तु उन्होंने भी अपनी टीका की आदि और अन्त में 'ज्ञाताधर्मकथा' शब्द का ही प्रयोग किया है—

ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्यानुयोगः कश्चिदुच्यते।

—मंगलाचरणश्लोक

शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणा विवृत्तिः कृता।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य श्रुतभक्त्या समासतः॥

—अन्तिम प्रशस्ति

प्रस्तुत आगम के नाम एवं उसके अर्थ के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों का समाधान होना अब भी शेष है यद्यपि समवायांगटीका में इसके समाधान का प्रयत्न किया गया है, परन्तु वह सन्तोषजनक नहीं है।

प्रस्तावनालेखक विद्वद्वर श्रीदेवेन्द्रमुनिजी ने अपनी विस्तृत प्रस्तावना में इस सम्बन्ध में भी गहरा ऊहापोह किया है। अतएव हम इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं। वास्तव में मुनिश्री ने प्रस्तुत आगम की विस्तारपूर्ण प्रस्तावना लिख कर मेरा बड़ा उपकार किया है। मेरा सारा भार हल्का कर दिया है। उस प्रस्तावना से मुनिश्री का विशाल अध्ययन तो विदित होता ही है, गम्भीर चिन्तन भी प्रतिफलित होता है। उन्होंने प्रस्तुत आगम के विषय में सर्वांगीण विचार प्रस्तुत किए हैं। आगम में आई हुई नगरियों आदि का ऐतिहासिक दृष्टि से परिचय देकर अनेक परिशिष्टों के श्रम से भी मुझे बचा लिया है। मैं उनका बहुत आभारी हूँ। अनुवाद और सम्पादन के विषय में किंचित् उल्लेख करके ही मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूंगा।

श्रमणसंघ के युवाचार्य पण्डितवर्य मुनि श्रीमिश्रीलालजी म. नेतृत्व में आगमप्रकाशन समिति ने आगमों का मूलपाठ के साथ हिन्दी संस्करण प्रकाशित करना आरम्भ किया है। यह एक सराहनीय प्रयत्न है। इस पुनीत आयोजन में मुझे जो सहयोग देने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ उसके प्रधान कारण आगमग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक मधुकर मुनिजी हैं।

ज्ञाताधर्मकथा का सन् १९६४ में मैंने एक संक्षिप्त अनुवाद किया था जो श्रीतिलोक-रत्न स्था. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी से प्रकाशित हुआ था। वह संस्करण विशेषतः छात्रों को लक्ष्य करके सम्पादित और प्रकाशित किया गया था। प्रस्तुत संस्करण सर्वसाधारण स्वाध्यायप्रेमी एवं जिज्ञासुओं को ध्यान में रख कर समिति

द्वारा निर्धारित पद्धति का अनुसरण करते हुए तैयार किया गया है। इसमें स्थान-स्थानपर 'जाव' शब्द का प्रयोग करके इसी ग्रन्थ में अन्यत्र आए पाठों को तथा अन्य आगमों में प्रयुक्त पाठों को संक्षिप्त करने का प्रयास किया गया है। फिर भी ग्रन्थ अपने आप में वृहदाकार है। अतएव ग्रन्थ अत्यधिक स्थूलकाय न बन जाए, यह बात ध्यान में रख कर 'जाव' शब्द से ग्राह्य आवश्यक और अत्युपयोगी पाठों को ब्रैकेट में दे दिया गया है, किन्तु जिस 'जाव' शब्द से ग्राह्य पाठ बारंबार आते ही रहते हैं, जैसे 'मित्त-णाइ', अन्नं पाणं, आदि वहाँ अति परिचित होने के कारण यों ही रहने दिया गया है। कहीं-कहीं उन पाठों के स्थान टिप्पणों में उल्लिखित कर दिए गए हैं।

कथात्मक होने से प्रस्तुत ग्रन्थ को आशय को समझ लेना कठिन नहीं है। अतएव प्रत्येक सूत्र-कंडिका का विवेचन करके ग्रन्थ को स्थूलकाय बनाने से बचा गया है, परन्तु जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ वहाँ विवेचन किया गया है।

प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ से पूर्व उसका वास्तविक रहस्य पाठक को हृदयंगम कराने के लक्ष्य से सार-संक्षेप दे दिया गया है।

आवश्यक टिप्पण और पाठान्तर भी दिए गए हैं।

अनेक स्थलों में मूलपाठ के 'जाव' शब्द का 'यावत्' रूप हिन्दी-अनुवाद में भी प्रयुक्त किया गया है। यद्यपि प्रचलित भाषा में ऐसा प्रयोग नहीं होता किन्तु प्राकृत नहीं जानने वाले और केवल हिन्दी-अनुवाद पढ़ने वाले पाठकों को भी आगमिक भाषापद्धति का किञ्चित् आभास हो सकेगा, इस दृष्टिकोण से अनुवाद में 'यावत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'यावत्' शब्द का अर्थ है—पर्यन्त या तक। जिस शब्द या वाक्य से आगे जाव (यावत्) शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ से आरम्भ करके, जिस शब्द के पहले वह हो, उसके बीच का पाठ यावत् शब्द से समझा जाता है। इस प्रकार पुनरुक्ति से बचने के लिए 'जाव' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

अन्त में तीन परिशिष्ट दिए गए हैं। प्रथम परिशिष्ट में उपनय-गाथाएं दी गई हैं और उनका हिन्दी भाषा में अर्थ भी दे दिया गया है। ये गाथाएं मूल आगम का भाग नहीं हैं, अतएव इन्हें मूल से पृथक् रक्खा गया है। फिर भी अध्ययन का मर्म प्रकाशित करने वाली हैं, अतएव पठनीय हैं। दूसरे परिशिष्ट में, प्रस्तुत आगम में प्रयुक्त व्यक्तिविशेषों की अकारादि क्रम से सूची दी गई है और तीसरे में स्थल-विशेषों की सूची है जो अनुसंधान-प्रेमियों के लिए विशेष उपयोगी होगी।

मूलपाठ के निर्धारण में तथा 'जाव' शब्द की पूर्ति में मुनि श्रीनथमलजी म. द्वारा सम्पादित 'अंग-सुत्ताणि' का अनेकानेक स्थलों पर उपयोग किया गया है, एतदर्थ उनके आभारी हैं। अर्थ करने में श्री अभयदेव सूरि की टीका का अनुगमन किया गया है। इनके अतिरिक्त अनेक आगमों और ग्रन्थों से सहायता ली गई है, उन सब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना कर्त्तव्य है।

आशा है प्रस्तुत संस्करण जिज्ञासु स्वाध्यायप्रेमियों, आगम-सेवियों तथा छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

चम्पानगर
ब्यावर

प्रस्तावना

धर्म, दर्शन, समाज और संस्कृति का भव्य प्रासाद उनके मूल-भूत ग्रंथों की गहरी नींव पर टिका हुआ है। विश्व में जितने भी धर्म और संप्रदाय हैं उनके वरिष्ठ महापुरुषों ने, प्रवर्तकों ने जो पावन उपदेश प्रदान किये वे उपदेश वेद, त्रिपिटक, वाइविल, कुरान या गणिपिटक के रूप में जाने और पहचाने जाते हैं। उन्हीं ग्रंथों को केन्द्र वनाकर विश्व के धर्म और दर्शन विकसित हुए हैं।

वेद और आगम

ब्राह्मण संस्कृति के मूल-भूत ग्रन्थ वेद हैं। वेद वैदिक चिन्तकों के विचारों की अमूल्य निधि हैं। ऋग्वेद आदि की, विज्ञगण विश्व के प्राचीनतम साहित्य में परिगणना करते हैं। ब्राह्मण मनीपियों ने वेदों के शब्दों की सुरक्षा का अत्यधिक ध्यान रखा है। कहीं वेदमन्त्र के शब्द इधर-उधर न हो जायँ, इसके लिए वे सतत जागरूक रहे। वेदों के शब्दों में मन्त्रशक्ति का आरोप करने से उनमें शब्दपरिवर्तन नहीं हुए। क्योंकि वैदिक विज्ञों ने संहितापाठ, पादपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ के रूप में वेदमन्त्रों के पठन और उच्चारण का एक वैज्ञानिक क्रम वनाया था, जिस के कारण वेदों का शाब्दिक कलेवर वर्तमान में ज्यों का त्यों विद्यमान है। पर वौद्ध और जैन चिन्तकों ने शब्दों की ओर अधिक लक्ष्य न देकर अर्थ पर विशेप ध्यान दिया। उन्होंने अर्थ की किंचित् मात्र भी उपेक्षा नहीं की, जिससे जैन आगम और वौद्ध त्रिपिटकों में अनेक पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। विविध पाठांतरों के होने पर भी अर्थ के सम्वन्ध में मतभेद नहीं है। जैन और वौद्ध शास्त्रों में मन्त्रशक्ति का आरोप नहीं किया गया। इसलिए भी उनमें शब्द-परिवर्तन होते रहे हैं।

जैन, वौद्ध और वैदिक साहित्य का जव हम तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि वेद एक ऋषि के द्वारा निर्मित नहीं हैं, अपितु अनेक ऋषियों ने समय-समय पर मन्त्रों की रचनाएँ की हैं जिसके कारण वेदों में विचारों की विविधता है। सभी ऋषियों के विचारों में एकरूपता हो यह कभी संभव नहीं है। वैदिक मान्यतानुसार ऋषिगण मन्त्रद्रष्टा थे, मन्त्रस्रष्टा नहीं थे, उन्होंने अपने अन्तश्चक्षुओं से जो देखा और परखा उसे शब्दों में अभिव्यंजना दी थी।

पर जैन आगम और वौद्ध त्रिपिटक श्रमण भगवान् महावीर और तथागत वुद्ध के चिन्तन का ही मूर्त रूप हैं। उनके प्रवक्ता एक ही हैं, इसलिए उनमें विभिन्नता नहीं आई है। दूसरी महत्त्वपूर्ण वात यह है कि वेद में ऋषियों के ही शब्द हैं जव कि जैन आगमों में तीर्थंकरों के शब्द नहीं हैं। तीर्थंकर तो अर्थ रूप में अपना प्रवचन करते हैं,[1] शब्द रूप में सूत्रवद्ध रचना गणधर करते हैं। अतः जैन आगम के शब्द गणधरों के हैं

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति गा० १९२ (ख) धवला भा-१. ६४-७२.

तीर्थंकरों के नहीं। जैन परम्परा में और वैदिक परम्परा में यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि एक ने अर्थ को प्रधानता दी है तो दूसरे ने शब्द को प्रधानता दी है। यही कारण है कि वैदिक परम्परा में वेद के नाम पर विभिन्न चिन्तन धाराएँ विकसित हुई हैं। विभिन्न दार्शनिक जीव, जगत् और ईश्वर को लेकर पृथक् पृथक् व्याख्याएँ करते रहे हैं। वेद सभी को मान्य हैं, किन्तु वेदों की व्याख्या में एकरूपता नहीं है।

जन परम्परा में वैदिक परम्परा की तरह संप्रदायभेद नहीं है। जो श्वेतांबर, दिगंबर या अन्य उप-संप्रदाय हैं उनमें विचारों का मतभेद प्रमुख नहीं, अपितु आचार का भेद प्रमुख है। यह सत्य है कि श्वेतांबर-मान्य आगमों को दिगम्बर मान्य नहीं करते हैं, पर दिगंबर साहित्य में अंग साहित्य के नाम ज्यों के त्यों मिलते हैं, किन्तु वे उन्हें विच्छिन्न मानते हैं। यह पूर्ण सत्य है कि श्वेतांबर और दिगंबरों के मूल-भूत तत्त्वों में किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं है। षट् द्रव्य, नौ तत्त्व, प्रमाण, नय, निक्षेप, कर्म आदि दोनों ही परम्पराओं में एक सदृश है।

जैन आगम के उद्‌गाता तीर्थंकर हैं जिन्होंने स्वयं भौतिक वैभव को ठुकराकर साधना के पथ पर अपने सुदृढ कदम बढ़ाये थे। इसलिए उन्होंने सभी को उस पथ पर बढ़ने की पवित्र प्रेरणा दी। उन्होंने स्वर्ग के रंगीन सुखों को नहीं किन्तु मोक्ष के अनन्त आनन्द को प्रधानता दी, और मोक्षमार्ग की बहुत ही विस्तार से चर्चा की, जब कि वेदों में भौतिक वैभव को प्राप्त करने की कामना और भावना प्रमुख रही है। और इसी के लिए प्रार्थनाएँ की जाती रही हैं।

यहाँ पर यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि जैन आगमों में आध्यात्मिक चिन्तन की प्रमुखता तो है ही, साथ ही उस युग में प्रचलित अनेक ज्ञान-विज्ञानों का अपूर्व संकलन भी उनमें है। जीवविज्ञान के सम्बन्ध में जितना विस्तार के साथ जैन आगमों में निरूपण हुआ है उतना अन्यत्र मिलना कठिन है। आगमों में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के सम्बन्ध में गहराई से विश्लेषण किया गया है। उस युग की धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों का जो चित्रण है, वह जैन परम्परा के अभ्यासियों के लिए ही नहीं अपितु मानवीय संस्कृति के अध्येताओं के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है।

पाश्चात्य और पौर्वात्य अनुसंधानकर्ता भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति का मूल वेदों में निहारते थे, पर मोहन जोदडो हरप्पा के ध्वंसावशेषों में प्राप्त सामग्री के पश्चात् चिन्तकों की चिन्तन-दिशा ही बदल गई है। और अब यह प्रमाणित हो चुका है कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति से पृथक् है। वैदिक संस्कृति में ईश्वर को सृष्टि का निर्माता माना है, जब कि श्रमणपरम्परा ने विश्व की संरचना में जड और चेतन इन दोनों को प्रधानता दी है। जड और चेतन ये दोनों तत्त्व ही सृष्टि के मूल कारण हैं। सृष्टि की कोई आदि नहीं है, वह तो अनादि है। चक्र की तरह वह सदा चलती रहती है। व्रत निरूपण संसारचक्र से मुक्त होने के लिए किया गया है; जब कि वेदों में व्रतों का जिस रूप में चाहिए उस रूप में निरूपण नहीं है। श्रमण संस्कृति का दिव्य प्रभाव जब द्रुत गति से बढ़ने लगा तब उपनिषदों में और उसके पश्चाद्वर्त्ती वैदिक साहित्य में भी व्रतों के सम्बन्ध में चर्चाएँ होने लगीं। संक्षेप में सारांश यह है कि जैन आगम वेदों पर आधृत नहीं है। वे सर्वथा स्वतंत्र हैं।

पूर्व पंक्तियों में हम यह लिख चुके हैं कि तीर्थंकर अर्थ के रूप में प्रवचन करते हैं। जब जैसा प्रसंग आता है, उस रूप मे वे प्ररूपणा करते हैं। अर्थात्मक दृष्टि से किये गये उपदेशों को उनके प्रमुख शिष्य सूत्र

रूप में संकलन करते हैं। भगवान् महावीर के एकादश गणधर थे। उनमें सभी गणधर अपनी दृष्टि से शब्दरूप में उनकी रचना करते हैं। शाब्दिक दृष्टि से सभी गणधरों की रचना एक सदृश हो यह संभव नहीं है पर अर्थ सभी का एक था। भगवान् महावीर के गणधर ग्यारह थे किन्तु उनके गण नौ थे[2], पहले से सातवें तक गणधर एक-एक गण को वाचना देते थे। आठवें नौवें गणधर की एक वाचना थी और दसवें तथा ग्यारहवें की भी एक वाचना थी। वे गणधर परस्पर सम्मिलित रूप से वाचना देते थे। इसलिए स्थानांग[3] और कल्पसूत्र[4] में यह स्पष्ट बताया है कि ग्यारह गणधरों की नौ वाचनाएँ हुई। नौ गणधर भगवान् महावीर के रहते हुए ही मुक्त हो चुके थे। इन्द्रभूति गौतम और सुधर्मा,ये दोनों भगवान् महावीर के मुक्त होने के पश्चात् विद्यमान थे। ज्यों-ज्यों गणधर मुक्त होते चले गये उनके गण सुधर्मा के गण में सम्मिलित होते गये। आज जो आगम-साहित्य उपलब्ध है उसके रचयिता सुधर्मा हैं पर अर्थ के प्ररूपक भगवान् महावीर ही हैं। किन्तु स्मरण रखना होगा कि उसकी प्रामाणिकता, अर्थ के प्ररूपक सर्वज्ञ होने से ही है।

अनुयोगद्वार में आगम के सुत्तागम अत्थागम और तदुभयागम, ये तीन भेद प्राप्त होते हैं[5]। साथ ही अन्य दृष्टि से आत्मागम अनन्तरागम और परम्परागम, ये तीन रूप भी मिलते हैं[6]। तीर्थंकर अर्थ रूप आगम का उपदेश प्रदान करते हैं। इसलिए अर्थ रूप आगम तीर्थंकरों का आत्मागम है। उन्होंने अर्थागम किसी अन्य से प्राप्त नहीं किया। वह अर्थागम उनका स्वयं का है। उसी अर्थागम को गणधर, तीर्थंकरों से प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर और गणधरों के बीच किसी अन्य तीसरे व्यक्ति का व्यवधान नहीं है। इसलिए वह अर्थागम गणधरों के लिए अनन्तरागम है। उस अर्थागम के आधार से ही गणधर स्वयं सूत्र रूप में रचना करते हैं, अतः सूत्रागम गणधरों के लिए आत्मागम है। गणधरों के जो साक्षात् शिष्य हैं, सूत्रागम गणधरों से सीधा ही प्राप्त करते हैं। उनके बीच में भी किसी तीसरे का व्यवधान नहीं है, अतः उन शिष्यों के लिए सूत्रागम अनन्तरागम हैं। पर अर्थागम परम्परागम से प्राप्त हुआ है, क्योंकि वह अर्थागम अपने धर्मगुरु गणधरों से उन्होंने प्राप्त किया। अर्थागम गणधरों का आत्मागम नहीं क्योंकि उन्होंने तीर्थंकरों से प्राप्त किया। गणधरों के प्रशिष्य और उनकी परम्परा में होने वाले अन्य शिष्य-प्रशिष्यों के लिए सूत्र और अर्थ—दोनों आगम परम्परागम हैं।

श्रमण भगवान् महावीर के पावन प्रवचनों का गणधरों ने सूत्र रूप में जो संकलन और आकलन किया वह संकलन "अंगसाहित्य" के नाम से विश्रुत है। जिनभद्र गणी क्षमा-श्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है कि तप, नियम, और ज्ञानरूपी वृक्ष पर आरूढ अनन्तज्ञानसंपन्न केवलज्ञानी भव्यजनों को उद्बोधन देने हेतु ज्ञान-पुष्पों की वृष्टि करते हैं, उसे गणधर बुद्धि रूपी पट में ग्रहण कर उसका प्रवचन के निमित्त ग्रथन करते हैं[7]। गणधरों में विशिष्ट प्रतिभा होती है। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण होती है। वे बीजबुद्धि आदि ऋद्धियों से संपन्न होते हैं। वे तीर्थंकरों की पुष्पवृष्टि को पूर्णरूप से ग्रहण कर रंगबिरंगी पुष्पमाला की तरह प्रवचन के निमित्त सूत्रमाला ग्रथित करते हैं। बिखरे हुए पुष्पों को ग्रहण करना बहुत कठिन है, किन्तु गूंथी हुई पुष्पमाला को ग्रहण करना सुकर है। वही बात जिनप्रवचन रूपी पुष्पों के सम्बन्ध में भी है। पद, वाक्य,

२. कल्प सूत्र-२०३.

३. स्थानांग. स्था-९-२६

४. कल्पसूत्र सू० २०३

५. अनुयोग द्वार-४७० पृ० १७९.

६. वही० ४७० वही

७. विशेषा० भाष्य. १०९४-९५

प्रकरण, अध्ययन, प्राभृत आदि निश्चित क्रमपूर्वक सूत्ररूप में व्यवस्थित हो तो वह सहज रूप से ग्रहीतव्य होता है। इस तरह समीचीन रूप से सरलता-पूर्वक उसका ग्रहण, गुणन, परावर्तन, धारण, स्मरण, दान, पृच्छा आदि हो सकते हैं। गणधरों ने अविच्छिन्न रचना की है। गणधर होने के कारण इस प्रकार श्रुतरचना करना उनका कार्य है। भाष्यकार ने विविध प्रकार के प्रश्न समुत्पन्न कर उनके समाधान प्रस्तुत किये हैं। तीर्थंकर जिस प्रकार सर्वसाधारण लोगों के लिए विस्तार से विवेचन करते हैं वैसा गणधरों के लिए नहीं करते। वे गणधरों के लिए बहुत ही संक्षेप में अर्थ भाषित करते हैं। गणधर निपुणता के साथ उस अर्थ का सूत्ररूप में विस्तार करते हैं। वे शासनहित के लिए सूत्र का प्रवर्तन करते हैं।

सहज में यह जिज्ञासा उद्बुद्ध हो सकती है कि तीर्थंकर अर्थ का प्ररूपण करते हैं, बिना शब्द के अर्थ किस प्रकार कहा जा सकता है? यदि तीर्थंकर संक्षेप में सूचन ही करते हैं तो जो सूचना दी जाती है वह तो सूत्र ही है! पर उसे अर्थ कहना कहाँ तक उचित है? समाधान करते हुए जिनभद्र ने कहा—अर्हत् पुरुषापेक्षया अर्थात् गणधरों की अपेक्षा से बहुत ही स्वल्प रूप में कहते हैं। वे पूर्णरूप से द्वादशांगी नहीं कहते। द्वादशांगी की अपेक्षा से वह अर्थ है और गणधरों की अपेक्षा से सूत्र है[८]।

तीर्थंकर जब धर्मदेशना प्रदान करते हैं, उनके अपने वैशिष्ट्य के कारण वे भाषात्मक पुद्गल श्रोताओं की अपनी अपनी भाषा में परिवर्तित हो जाते हैं। समवायांग[९] में 'भाषा-अतिशय' के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है—तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में धर्म का आख्यान करते हैं। उनके द्वारा कही हुई अर्ध-मागधी भाषा आर्य-अनार्य, द्विपद-चतुष्पद मृग पशु पक्षी सरीसृप आदि जीवों के हित व कल्याण तथा सुख के लिए उनकी अपनी अपनी भाषाओं में परिणत हो जाती है। उसी कथन का समर्थन औपपातिक[१०] में और आचार्य हेमचन्द्र[११] ने काव्यानुशासन में किया है। संक्षेप में सारांश यह है कि वर्तमान में जो अंग साहित्य है उसके अर्थ के प्ररूपक भगवान् महावीर और सूत्र-रचयिता गणधर सुधर्मा हैं। अंग-साहित्य के बारह भेद हैं जो इस प्रकार हैं—(१) आचार (२) सूत्रकृत् (३) स्थान (४) समवाय (५) भगवती (६) ज्ञाताधर्म कथा (७) उपासकदशा (८) अन्तकृद्दशा (९) अनुत्तरौपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद।

ज्ञातासूत्र : परिचय

अंग साहित्य में ज्ञाताधर्मकथा का छठा स्थान है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में ज्ञात यानी उदाहरण और द्वितीय श्रुतस्कंध में धर्मकथाएँ हैं। इसलिए इस आगम का 'णायाधम्मकहाओ' नाम है। आचार्य अभयदेव ने अपनी टीका में इसी अर्थ को स्पष्ट किया है। तत्त्वार्थभाष्य में 'ज्ञातधर्मकथा' नाम आया है। भाष्यकार ने लिखा है—उदाहरणों के द्वारा जिसमें धर्म का कथन किया है[१२]। जयधवला में नाहधम्म-कहा—'नाथधर्मकथा।' नाम मिलता है। नाथ का अर्थ स्वामी है। नाथधर्मकथा का तात्पर्य है नाथ-तीर्थंकर

---

८. अनुयोग द्वार-४७० पृ० १७९

९. समवायांग सू० ३४

१०. औपपातिक पृ० ११७-१८

११. काव्यानुशासन, अलंकार तिलक १-१

१२. ज्ञाता दृष्टान्ताः तानुपादाय धर्मो यत्र कथ्यते ज्ञातधर्मकथाः। —तत्त्वार्थभाष्य

द्वारा प्रतिपादित धर्मकथा। संस्कृत साहित्य में प्रस्तुत आगम का नाम 'ज्ञातृधर्मकथा' उपलब्ध होता है[13]। आचार्य मलयगिरि[14] व आचार्य अभयदेव[15] ने उदाहरणप्रधान धर्मकथा को ज्ञाताधर्मकथा कहा है। उनकी दृष्टि से प्रथम अध्ययन में ज्ञात है और दूसरे अध्ययन में धर्मकथा है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने कोश में ज्ञातप्रधान धर्म कथाएँ ऐसा अर्थ किया है। पं. वेचरदास जी दोशी[16], डा. जगदीशचन्द्र जैन[17], डा. नेमिचन्द्र शास्त्री[18] का अभिमत है कि ज्ञातपुत्र महावीर की धर्मकथाओं का प्ररूपण होने से प्रस्तुत अंग को उक्त नाम से अभिहित किया गया है।

श्वेतांवर आगम साहित्य के अनुसार भगवान् महावीर के वंश का नाम "ज्ञात" था। कल्पसूत्र[19], आचारांग[20], सूत्रकृतांग[21], भगवती[22], उत्तराध्ययन[23] और दशवैकालिक[24] में उनके नाम के रूप में 'ज्ञात' शब्द का प्रयोग हुआ है। विनयपिटक[25], मज्झिमनिकाय[26], दीघनिकाय[27], सुत्तनिपात[28] आदि बौद्धपिटकों

---

१३. तत्त्वार्थ वार्तिक १।२०, पृ. ७२

१४. ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा: अथवा ज्ञातानि—ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कंधे, धर्मकथा द्वितीयश्रुतस्कंधे यासु ग्रंथपद्धतिषु (ता:) ज्ञाताधर्मकथा:। —नंदी वृत्ति, पत्र २३०-२३१

१५. ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा, दीर्घत्वं संज्ञात्वाद् अथवा—प्रथमश्रुतस्कंधो ज्ञाताभिधायकत्वात् ज्ञातानि, द्वितीयस्तु तथैव धर्मकथा:। —समवायांग पत्र १०८

१६. भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ, टिप्पण पृ. १८०।

१७. प्राकृतसाहित्य का इतिहास

१८. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. १७२

१९. कल्पसूत्र ११०

२०. (क) आचारांग श्रु. २, अ. १५, सू. १००३
(ख) आचारांग श्रु. १, अ. ८, उ. ८, सू. ४४८

२१. (क) सूत्र. उ. १, गा. २२
(ख) सूत्र. १।६।२
(ग) सूत्र. १।६।२४
(घ) सूत्र. २।६।१९

२२. भगवती १५।७९

२३. उत्तरा० ६।१७

२४. दशवै० अ० ५, उ० २, गा० ४९ तथा ६।२५ एवं ६।२१.

२५. विनय पिटक महावग्ग पृ० २४२

२६. मज्झिमनिकाय हिन्दी उपाति—सुत्तन्त पृ० २२२
चूल—दुक्खक्खन्ध सुत्तन्त ,, ५९
चूल—सोरोपम-सुत्तन्त ,, १२४
महा सच्चक सुत्तन्त ,, १४७
अभयराज कुमार सुत्तन्त ,, २३४
देवदह सुत्तन्त ,, ४४१

२७. दीघनिकाय सामञ्जफल सुत्त ,, १८।२१
,, संगीति परियाय सुत्त ,, २८२
,, महापरिनिव्वाण सुत्त ,, १४५
,, पासादिक सुत्त ,, २५२

२८. सुत्तनिपात—सुभिय सुत्त ,, १०८

में भी भगवान् महावीर का उल्लेख "निगंठ नातपुत्त" के रूप में किया गया है।

दिगंवर साहित्य में[29] महावीर का वंश "नाथ" माना है। 'धनंजय नाम माला'[30] में नाथ का उल्लेख है। उत्तर पुराण में [31] भी 'नाथ' वंश का उल्लेख हुआ है। कितने ही मूर्धन्य मनीषियों का अभिमत है कि प्रस्तुत आगम का नाम भगवान् महावीर के वंश को अनुलक्ष्य में लेकर किया गया है। ज्ञातृधर्मकथा या नाथधर्मकथा से तात्पर्य है भगवान् महावीर की धर्मकथा। पाश्चात्य चिन्तक् वेवर[32] का मानना है कि जिस ग्रंथ में ज्ञातृवंशीय महावीर की धर्मकथा हो वह 'नायाधम्मकहा' है। किन्तु समवायांग[33] नंदीसूत्र[34] में आगमों का जो परिचय प्रदान किया गया है उसके आधार से ज्ञातृवंशी महावीर की धर्मकथा यह अर्थ संगत नहीं लगता। वहाँ पर यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञाताधर्मकथा में ज्ञातों (उदाहरणभूत व्यक्तियों) के नगर, उद्यान, आदि का निरूपण किया गया है। प्रस्तुत आगम के प्रथम अध्ययन का नाम "उक्खित्तणाए" (उक्षिप्तज्ञात) है। यहाँ पर ज्ञात का अर्थ उदाहरण ही सही प्रतीत होता है।

इसमें उदाहरणप्रधान धर्मकथाएँ हैं। उन कथाओं में उन धीरवीर साधकों का वर्णन है जो भयंकर उपसर्ग समुपस्थित होने पर भी मेरु की तरह अकंप रहे। इसमें परिमित वाचनाएँ, अनुयोगद्वार, वेढ, छन्द, श्लोक, नियुक्तियाँ संग्रहणियां व प्रतिपत्तियाँ संख्यात संख्यात हैं। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में उन्नीस अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में दस वर्ग हैं। दोनों श्रुतस्कंधों के २९ उद्देशन काल हैं, २९ समुद्देशन काल हैं, ५७३००० पद हैं, संख्यात अक्षर हैं, अनंत गम, अनंत पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर आदि का वर्णन है। इसका वर्तमान में पदपरिमाण ५५०० श्लोक प्रमाण है।

प्रथम श्रुतस्कंध में कितनी ही कथाएँ—ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्वन्धित हैं और कितनी ही कथाएँ कल्पित हैं। प्रथम अध्ययन का मुख्य पात्र मेघकुमार ऐतिहासिक व्यक्ति है। तुंवे आदि की कुछ कथाएँ रूपक के रूप में हैं। उन रूपक-कथाओं का उद्देश्य भी प्रतिवोध प्रदान करना है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में दस वर्ग हैं। उनमें से प्रत्येक धर्मकथा में ५००-५०० आख्यायिकाएँ हैं और एक एक आख्यायिका में ५००-५०० उप आख्यायिकाएँ हैं और एक एक उप-आख्यायिका में ५००-५०० आख्यायि-कोपाख्यायिकाएँ हैं[35] पर वे सारी कथाएँ आज उपलब्ध नहीं है। वह विराट कथासाहित्य आज विच्छिन्न हो चुका है। उसका केवल प्राचीन साहित्य में उल्लेख ही मिलता है। वर्तमान में प्रथम श्रुतस्कंध में १९ कथाएँ और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में २०६ कथाएँ हैं। विश्व के जितने भी धर्मसंस्थापक हुए हैं उन्होंने जन-जन के आध्यात्मिक समुत्कर्ष के लिए धर्मतत्त्व के गंभीर रहस्यों को वताने के लिए आत्मा-परमात्मा, कर्म, जैसे दार्शनिक

---

२९. तिलोयपण्णत्ति ४-५५०, जयधवला पृ० १३५.

३०. धनंजय-नाम-माला, ११५.

३१. उत्तरपुराण पृ. ४५०

३२. Stories from The Dharma of Naya
इं, एं, जि १९, पृ० ६६

३३. समवायांग प्रकीर्णक, समवाय सूत्र, ९४

३४. नंदीसूत्र—८५

३५. नंदीसूत्र, वम्वई, सूत्र ९२, पृ० ३७.

पहलुओं को सुलझाने के लिए कथाओं का उपयोग किया है। वेद, उपनिषद्, त्रिपिटक, कुरान व बाइबिल में कथाएँ व रूपक हैं।

भगवान् महावीर ने भी कथाओं द्वारा बोध प्रदान किया है। प्रस्तुत आगम में आत्मा की उन्नति के क्या हेतु हैं, किन कारणों से आत्मा अधोगत होता है, महिलावर्ग भी उत्कृष्ट आध्यात्मिक उत्कर्ष कर सकता है। आहार का उद्देश्य, संयमी जीवन की कठोर साधना, शुभ परिणाम, अनासक्ति व श्रद्धा का महत्त्व आदि विषयों पर कथाओं के माध्यम से प्रकाश डाला गया है। ये कथाएँ वाद-विवाद के लिए नहीं, जीवन के उत्थान के लिए हैं। ये कथाएँ ईसामसीह की नीतिकथाएँ (पैरबल्स) की तरह हैं, इनमें अनुभव का अमृत है। इन कथाओं की शैली सरल सीधी और सचोट है।

मेघकुमार

प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में मेघकुमार की कथा दी गई है। मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र है। भगवान् महावीर के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचन को श्रवण कर अपनी आठों पत्नियों का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करता है। माता-पिता व अन्य परिजन उसे रोकने का अथक प्रयास करते हैं किन्तु वैराग्य भावना इतनी प्रबल थी कि संसार का कोई भी आकर्षण उसे आकर्षित न कर सका। उसे एक दिन का राज्य भी दिया गया पर वह उसमें भी आसक्त नहीं हुआ। दीक्षा ग्रहण के पश्चात् श्रमण मेघ को रात्रि में सोने के लिए ऐसा स्थान मिला जहाँ सन्त-गण आने-जाने रहते थे। उनके पैरों की टकराहट से उसकी आँखें खुल गईं, पुनः आँखों में नींद आने लगती कि दूसरे मुनि के चरण का स्पर्श हो जाता। फूलों की सुकुमार शय्या पर सोने वाला राजकुमार आज धूल में सो रहा था और पैरों की ठोकरें लगने से उसे नींद नहीं आ रही थी, जिससे सिर भारी हो गया, आँखें लाल हो गईं और सम्पूर्ण शरीर शिथिल हो गया। उसके विचार बदल गये। उसका सम्पूर्ण धैर्य कांच के बर्तन की तरह टूट-टूट कर बिखरने लगा। वह सोचने लगा—प्रतिदिन इस प्रकार पलकें मसलते-मसलते उनींदी रातें बिताना किस प्रकार संभव हो सकेगा? प्रातः होने पर भगवान् महावीर स्वयं मेघकुमार को उसका पूर्वभव सुनाते हैं और कहते हैं—तुमने पूर्वभव में किस तरह कष्ट सहन किया था स्मरण आ रहा है न? सुमेरुप्रभ हाथी के भव में दो दिन और तीन रात तुमने अपना एक पैर खरगोश को बचाने के लिए ऊँचा रखा था। तीन दिन के पश्चात् जब पैर को नीचे रखना चाहा तो अधर में रहने के कारण वह अकड़ गया था। और बैठकर नीचे रखने का तुमने प्रयास किया तो अपने आपको न संभालकर नीचे गिर पड़े। तीन दिन के भूखे और प्यासे होने से तुम उठ नहीं सके पर तुम्हारे मन में अपूर्व शांति थी। वह सुमेरुप्रभ हाथी मरकर तुम मेघ हुए हो। अब जरा से कष्ट से घबरा रहे हो। घबराओ मत, आध्यात्मिक दृष्टि से समभावपूर्वक सहन किये गये कष्टों का अत्यधिक मूल्य है। ये कष्ट जीवन को पवित्र बनाने वाले हैं।

भगवान् महावीर की प्रेरणाप्रद वाणी से मेघकुमार का हृदय प्रबुद्ध हो गया और वह साधकजीवन में आने वाले कष्टों से जूझने के लिए तैयार हो गया।

मेघ के साथ नन्द की तुलना

मेघकुमार के समान ही सद्यःदीक्षित नन्द का वर्णन बौद्ध साहित्य सुत्तनिपात,[35] धम्मपद[36] अट्ठकथा,

३५. सुत्तनिपात—अट्ठकथा, पृ० २७२.
३६. धम्मपद—अट्ठकथा, खण्ड-१ पृ० ५९-१०५.

जातककथा[३७] व थेरगाथा[३८] में प्राप्त होता है। वह भी तथागत बुद्ध के पास अपनी नव विवाहिता पत्नी जनपदकल्याणी को छोड़कर दीक्षा ग्रहण करता है। पर जनपदकल्याणी नन्दा का उसे सतत स्मरण आता रहता है जिससे वह मन ही मन व्यथित होता है। तथागत बुद्ध ने उसके हृदय की बात जान ली और उसे प्रतिबुद्ध करने के लिए वे उसे अपने साथ में लेते हैं। चलते हुए मार्ग में एक बन्दरिया को दिखाते हैं जिसकी कान, नाक और पूंछ कटी हुई थी, जिसके बाल जल कर नष्ट हो गये थे। चमड़ी भी फट चुकी थी। उसमें से रक्त चू रहा था। दीखने में बड़ी बीभत्स थी। बुद्ध ने नन्द से पूछा—नन्द, क्या तुम्हारी पत्नी इस बन्दरीया से अधिक सुन्दर है ? उसने कहा—भगवन् ! वह तो अत्यन्त सुन्दर है।

बुद्ध उसे अपने साथ त्रायस्त्रिंश स्वर्ग में ले गये। बुद्ध को देखकर अप्सराओं ने नमस्कार किया। अप्सराओं की ओर संकेत कर बुद्ध ने नन्द से पूछा—क्या तुम्हारी पत्नी जनपदकल्याणी नंदा इनसे भी अधिक सुन्दर है ? 'नहीं भगवन्, इन अप्सराओं के दिव्य रूप के सामने जनपदकल्याणी नन्दा का रूप तो उस लुंज-पुंज बन्दरी के समान प्रतीत होता है।" तथागत ने मुस्कराते हुए कहा—तो फिर नन्द, क्यों विक्षुब्ध हो रहे हो ? भिक्षुधर्म का पालन करो। यदि तुमने अच्छी तरह से भिक्षुधर्म का पालन किया तो इनसे भी अधिक सुन्दर अप्सराएँ तुम्हें प्राप्त होंगी।' वह दत्तचित्त होकर भिक्षुधर्म का पालन करने लगा। पर उसके मन में नन्दा बसी हुई थी। उसका वैषयिक लक्ष्य मिटा नहीं था। एक बार सारीपुत्र आदि अस्सी भिक्षुओं ने उपहास करते हुए कहा—'तू तो अप्सराओं के लिए श्रमणधर्म का आराधन कर रहा है।' यह सुनकर वह बहुत ही लज्जित हुआ। उसके पश्चात् विषयाभिलाषा से वह मुक्त होकर अर्हत् बना।

मेघकुमार और नन्द की साधना से विचलित होने के निमित्त अलग-अलग हैं। भगवान् महावीर मेघकुमार को पूर्वभव की दारुण वेदना और मानव जीवन का महत्त्व बताकर संयम-साधना में स्थिर करते हैं। तो तथागत बुद्ध नन्द को आगामी भव के रंगीन सुख बताकर स्थिर करते हैं। जातक साहित्य से यह भी परिज्ञात होता है कि नंद अपने प्राप्त भवों में हाथी था[३९]। दोनों के पूर्मभव में हाथी की घटना भी बहुत कुछ समानता लिए हुए है।

प्रथम अध्ययन में आये हुए अनेक व्यक्ति ऐतिहासिक हैं। सम्राट्, श्रेणिक की जीवनगाथाएँ जैन साहित्य में ही नहीं, बौद्ध साहित्य में भी विस्तार से आई हैं[४०]। अभयकुमार, जो श्रेणिक का पुत्र था, प्रबल प्रतिभा का धनी था। जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराएँ उसे अपना अनुयायी मानती हैं[४१]। और उसकी प्रतापपूर्ण प्रतिभा की अनेक घटनाएँ जैन साहित्य में उट्टङ्कित हैं[४२]।

---

३७. जातक सं० १८२.

३८. थेरगाथा—१५७.

३९. संगामावतार जातक-सं १८२ (हिन्दी अनुवाद खं. २ पृ. २४८-२५४)

४०. सुत्तनिपात-पवज्जासुत्त २

(क) बुद्ध चरित सं. ११ श्लो ७२

(ग) विनयपिटक-महावग्गो—पृ. ३५-३८

४१. (i) भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, आवश्यक चूर्णि, धर्मरत्न प्रकरण आदि।

(ii) थेरीगाथा अट्ठकथा ३१-३२, मज्झिमनिकाय-अभयराजकुमार सुत्त, धम्मपद अट्ठकथा आदि।

४२. त्रिपष्ठिशलाकापुरुषचरित्र १०-११

अनुत्तरोपपातिक सूत्र में अभयकुमार के जैनदीक्षा लेने का उल्लेख है।[४३] बौद्ध दीक्षा लेने का उल्लेख थेरा अपदान व थेर गाथा की अट्ठकथा में है।[४४] मज्झिमनिकाय,[४५] संयुक्त निकाय[४६] आदि में उसके जीवनप्रसंग हैं।

राजगृह

प्रथम अध्ययन में राजगृह नगर का भी उल्लेख है जहाँ पर भगवान् महावीर ने अनेक चातुर्मास किये थे[४७] और दो सौ से भी अधिक बार उनके वहाँ समवसरण लगे थे।[४८] राजगृह नगर को प्रत्यक्ष देवलोकभूत व अलकापुरी सदृश कहा है।[४९] तथागत बुद्ध भी अनेक बार राजगृह में आए थे। उन्होंने अपने धर्मप्रचार का केन्द्र बनाने का भी प्रयास किया था। भगवान् महावीर गुणशील, मण्डिकुच्छ, और मुद्गरपाणि आदि उद्यानों में ठहरा करते थे,[५०] जब कि बुद्ध गृद्धकूट पर्वत, कलंदकनिवाप और वेणुवन में ठहरते थे।[५१] राजगृह नगर और उसके सन्निकट नारद ग्राम,[५२] कुक्कुटाराम विहार[५३], गृध्रकूट पहाडी यष्टिवन,[५४] उरुविल्वग्राम प्रभासवन[५५] आदि बुद्ध धर्म से सम्बन्धित थे। राजगृह में एक बौद्ध-संगीति हुई थी।[५६] जब बिम्बिसार बुद्ध का अनुयायी था तब बुद्ध ने राजगृह से वैशाली जाने की इच्छा व्यक्त की। तब राजा ने बुद्ध के लिए सड़क बनवायी और राजगृह से गंगा तक की भूमि को समतल करवाया।[५७]

राजगृह के प्राचीन नाम गिरिव्रज, वसुमती[५८] बार्हद्रथपुरी[५९] मगधपुर[६०] वराह, वृषभ, ऋषिगिरि

४३. अनुत्तरोपपातिक १-१०
४४. खुद्दकनिकाय खण्ड—७ नालंदा, भिक्षुजगदीश कश्यप
४५. मज्झिमनिकाय ७६
४६. संयुक्तनिकाय
४७. कल्पसूत्र ५-१२३
(क) व्याख्या प्रज्ञप्ति ७-४, ५-९ २-५
(ग) आवश्यक ४७३/४९२/५१८
४८. भगवान् महावीर एक अनुशीलन पृ. २४१-४३
४९. पच्चक्खं देवलोगभूया एवं अलकापुरीसंकासा
५०. (क) ज्ञाताधर्म कथा पृ. ४७, (ख) दशाश्रुतस्कंध १०९ पृ. ३६४.
(ग) उपासकदशा ८, पृ. ५१.
५१. मज्झिमनिकाय सारनाथ पृ. २३४
(ख) मज्झिमनिकाय चूलसकलोदायी सुत्तन्त पृ. ३०५
५२. नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर पृ. ४५
५३. वही पृ. ९-१०
५४. महावस्तु ४४१
५५. नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर पृ. १६६
५६. चुल्लवग्ग ११ वां खन्धक
५७. धम्मपदं कामेंट्री ४३९-४०
५८. रामायण १/३२/७
५९. महाभारत, २४-से ४४
६०. वही ,, २०-३०

चैत्यक[61] बिम्बिसारपुरी[62] और कुशाग्रपुर[63] थे। बिम्बिसार के शासनकाल में राजगृह में आग लगजाने से वह जल गई इसलिए राजधानी हेतु नवीन राजगृह का निर्माण करवाया। युवानच्वाङ् का अभिमत है कि कुशागारपुर या कुशाग्रपुर[66] आग में भस्म हो जाने से राजा बिम्बसार श्मशान में गये और नये राजगृह का निर्माण करवाया। फाह्यान का मानना है नये नगर का निर्माण अजातशत्रु ने करवाया, न कि बिम्बसार ने।

चीनी यात्री ह्वेनसांग जब भारत आया था तो वह राजगृह में भी गया था, पर महावीर और बुद्ध युग का विराट् वैभव उस समय नहीं था।[64]

महाभारत में राजगृह को पाँच पहाड़ियों से परिवेष्टित कहा है (१) वैराह (२) वाराह, (३) वृषभ, (४) ऋषिगिरि और (५) चैत्यगिरि[65]। फाह्यान ने भी इस सत्य-तथ्य को स्वीकार किया।[66] युवानच्वाङ् का भी यही अभिमत है।[67] गौतम बुद्ध के समय राजगृह की परिधि तीन मील के लगभग थी।[68] राजनीति के केन्द्र के साथ ही वह धार्मिक केन्द्र भी था। महाभारत के राजगृह की पहाड़ियों को सिद्धों, यतियों और मुनियों का आश्रय भी बताया है।[69] वहाँ पर अनेक सन्तगण ध्यान की साधना करते थे। जैन और बौद्ध साहित्य में उनके उल्लेख हैं। भगवती आदि में गर्म पानी के कुण्डों का वर्णन है। युवान्च्वाङ् ने भी इस बात को स्वीकार किया है। उस पानी से अनेक चर्मरोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाते थे,[70] आज भी वे कुण्ड हैं।

स्वप्न : एक चिन्तन

प्रस्तुत अध्ययन में महारानी धारिणी के स्वप्न का वर्णन है। वह स्वप्न में अपने मुख में हाथी को प्रवेश करते हुए देखती है। जहाँ कहीं भी आगम-साहित्य में कोई भी विशिष्ट पुरुष गर्भ में आता है, उस समय उसकी माता स्वप्न देखती है। स्वप्न न जागते हुए आते हैं, न प्रगाढ निद्रा में आते हैं। किन्तु जब अर्धनिद्रित अवस्था में मानव होता है उस समय उसे स्वप्न आते हैं।[71] अष्टांगहृदय में लिखा है[72]—जब इन्द्रियाँ अपने विषय से निवृत्त होकर प्रशान्त हो जाती हैं और मन इन्द्रियों के विषय में लगा रहता है तब वह स्वप्न देखता है।

---

६१. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्येंट इंडिया पृ. ७०
६२. द लाइफ ऐण्ड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृ. ८७ टिप्पणी
६३. बील, द लाइफ ऑव युवानच्वाङ् पृ. ११३ पोर्जिटर ऐंश्येंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन पृ. १४९
६४. लेग्गे, फाहियान पृ. ८०
६५. महाभारत सभापर्व अध्याय ५४ पंक्ति १२०
६६. फाहियान, गाइल्स लन्दन पृ. ४९
६७. ऑन युवान् च्वाङ्, वाटर्स २, १५३
६८. ऑन युवान् च्वाङ्, वाटर्स २, १५३
६९. एतेषु पर्वतेन्द्रेषु सर्वसिद्धसमालयाः
यतीनामाश्रमश्चैव मुनीनां च महात्मनाम्
वृषभस्य तमालस्य महावीर्यस्य वै तथा
गंधर्वरक्षसां चैव नागानां च तथाऽऽलयाः ॥
महाभारत सभापर्व अ. २१, १२-१४
७०. ऑन युवान् च्वाङ् वाटर्स, २, १५४
७१. भगवती सूत्र १६-६
७२. अष्टांगहृदय निदानस्थान. ९

जैन दर्शन के अनुसार स्वप्न का मूल कारण दर्शनमोहनीय कर्म का उदय है। दर्शनमोह के कारण मन में राग और द्वेष का स्पन्दन होता है, चित्त चंचल बनता है। शब्द आदि विषयों से संबंधित स्थूल और सूक्ष्म विचार-तरंगों से मन प्रकंपित होता है। संकल्प-विकल्प या विषयोन्मुखी वृत्तियाँ इतनी प्रबल हो जाती हैं कि नींद आने पर भी शांति नहीं होती। इन्द्रियाँ सो जाती हैं, किन्तु मन की वृत्तियाँ भटकती रहती हैं। वे अनेकानेक विषयों का चिन्तन करती रहती हैं। वृत्तियों की इस प्रकार की चंचलता ही स्वप्न है।

सिग्मण्ड फ्रायड ने स्वप्न का अर्थ दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति कहा है। उन्होंने स्वप्न के संक्षेपण, विस्तारीकरण, भावान्तरकरण और नाटकीकरण, ये चार प्रकार किये हैं। (१) बहुत विस्तार की घटना को स्वप्न में संक्षिप्त रूप में देखना (२) स्वप्न में घटना को विस्तार से देखना (३) घटना का रूपान्तर हो जाना, किन्तु मूल संस्कार वही है, अभिभावक द्वारा भयभीत करने पर स्वप्न में किसी क्रूर व्यक्ति आदि को देखकर भयभीत होना (४) पूरी घटनाएँ नाटक के रूप में स्वप्न में आना।

चार्ल्स युंग[७३] स्वप्न को केवल अनुभव की प्रतिक्रिया नहीं मानते हैं। वे स्वप्न को मानव के व्यक्तित्व का विकास और भावी जीवन का द्योतक मानते हैं। फ्रायड और युंग के स्वप्न संबंधी विचारों में मुख्य रूप से अन्तर यह है कि फ्रायड यह मानता है कि अधिकांश स्वप्न मानव की कामवासना से सम्बन्धित होते हैं जब कि युंग का मन्तव्य है कि स्वप्नों का कारण मानव के केवल वैयक्तिक अनुभव अथवा उसकी स्वार्थमयी इच्छाओं का दमन मात्र ही नहीं होता अपितु उसके गंभीरतम मन की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी होती हैं। स्वप्न में केवल दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति की बात पूर्ण संगत नहीं है, वह केवल संयोग मात्र ही नहीं है, किन्तु उसमें अभूतपूर्व सत्यता भी रही हुई होती है।

आचार्य जिनसेन ने[७४] स्वस्थ अवस्था वाले और अस्वस्थ अवस्थावाले, ये दो स्वप्न के प्रकार माने हैं। जब शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है तो मन पूर्ण शांत रहता है, उस समय जो स्वप्न दीखते हैं वह स्वस्थ अवस्थावाला स्वप्न है। ऐसे स्वप्न बहुत ही कम आते हैं और प्रायः सत्य होते हैं। मन विक्षिप्त हो और शरीर अस्वस्थ हो उस समय देखे गये स्वप्न असत्य होते हैं। आचार्य ने दोषसमुद्भव और देवसमुद्भव[७५] इस प्रकार स्वप्न के दो भेद भी किये हैं। वात, पित्त कफ प्रभृति शारीरिक विकारों के कारण जो स्वप्न आते हैं वे दोषज हैं। इष्टदेव या मानसिक समाधि की स्थिति में जो स्वप्न आते हैं वे देवसमुद्भव हैं। स्थानांग[७६] और भगवती[७७] में यथातथ्य स्वप्न, (जो स्वप्न में देखा है जागने पर उसी तरह देखना, अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल शुभ-अशुभ फल की प्राप्ति) प्रतानस्वप्न (विस्तार से देखना) चिन्तास्वप्न (मन में रही हुई चिन्ता को स्वप्न में देखना) तद्विपरीत स्वप्न (स्वप्न में देखी हुई घटना का विपरीत प्रभाव) अव्यक्त स्वप्न (स्वप्न में दिखाई देनेवाली वस्तु का पूर्ण ज्ञान न होना), इन पांच प्रकार के स्वप्नों का वर्णन है।

---

७३. हिन्दीविश्वकोश खण्ड-१२ पृ० २६४

७४. ते च स्वप्ना द्विधा म्नातः स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः।
समैस्तु धातुभिः स्व स्व विषमैरितरैर्मता।
तथ्या स्युः स्वस्थसंदृष्टा मिथ्या स्वप्नो विपर्ययात्
जगत्प्रतीतमेतद्धि विद्धि स्वप्नविमर्शनम्॥ महापुराण ४१-५९/६०

७५. वही सर्ग ४१/६१

७६. स्थानांग—५

७७. भगवती—१६-६

प्राचीन भारतीय स्वप्नशास्त्रियों ने स्वप्नों के नौ कारण बतलाये हैं[७८]—

(१) अनुभूत स्वप्न (अनुभव की हुई वस्तु का) (२) श्रुत स्वप्न (३) दृष्ट स्वप्न (४) प्रकृतिविकारजन्य स्वप्न (वात, पित्त, कफ की अधिकता और न्यूनता से) (५) स्वाभाविक स्वप्न (६) चिन्ता-समुत्पन्न स्वप्न (जिस पर पुनः पुनः चिन्तन किया हो) (७) देव प्रभाव से उत्पन्न होनेवाला स्वप्न (८) धर्मक्रिया प्रभावोत्पादित स्वप्न, और (९) पापोदय से आनेवाला स्वप्न। इनमें छह स्वप्न निरर्थक होते हैं और अन्त के तीन स्वप्न शुभाशुभ फल प्रदान करते हैं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण[७९] ने भी विशेषावश्यक भाष्य में इनका उल्लेख किया है।

हम जो स्वप्न देखते है इनमें कोई-कोई सत्य होते हैं। हम पूर्व में बता चुके हैं कि जब इन्द्रियां प्रसुप्त होती हैं और मन जाग्रत होता है तो उसके परदे पर भविष्य में होनेवाली घटनाओं का प्रतिम्बिब गिरता है। मन उन अज्ञात घटनाओं का साक्षात्कार करता है। वह सुषुप्ति और अर्ध-निद्रावस्था में भावी के कुछ अस्पष्ट संकेतों को ग्रहण कर लेता है और वे स्वप्न रूप में दिखायी देते हैं।

स्वप्नशास्त्रियों ने यह भी बताया है कि किस समय देखा गया स्वप्न उत्तम और मध्यम होता है। रात्रि के प्रथम प्रहर में जो स्वप्न दीखते हैं उन का शुभ-अशुभ परिणाम बारह महीने में प्राप्त होता है। द्वितीय प्रहर के स्वप्नों का फल छह महीने में, तृतीय प्रहर के स्वप्नों का फल तीन महीने और चतुर्थ प्रहर में जब मुहूर्त भर रात्रि अवशेष रहती है उस समय जो स्वप्न दिखाई देता है उसका फल दस दिनों में मिलता है। सूर्योदय के समय के स्वप्न का फल बहुत ही शीघ्र मिलता है। जो स्वप्नपंक्ति देखते है या दिन में स्वप्न देखते हैं या मल-मूत्र आदि की व्याधि के कारण जो स्वप्न देखते हैं वे स्वप्न सार्थक नहीं होते। पश्चिम रात्रि में शुभ स्वप्न देखने का एक ही कारण यह भी हो सकता है कि थका हुआ मन तीन प्रहर तक गहरी निद्रा आने के कारण प्रशान्त हो जाता है। उसकी चंचलता मिट जाती है। ताजगी उसमें होती है। और स्थिरता भी। अतः उस समय देखे गये स्वप्न शीघ्र फल प्रदान करते हैं। शुभ स्वप्न देखने के बाद स्वप्नद्रष्टा को नहीं सोना चाहिए। क्योंकि स्वप्नदर्शन के पश्चात् नींद लेने से उस स्वप्न का फल नष्ट हो जाता है। जो अशुभ स्वप्न हों उनको देखने के बाद सो सकते हैं, जिससे उनका अशुभ फल नष्ट हो जाय। शुभ स्वप्न आने के पश्चात् धर्मचिन्तन करना चाहिए।

रात्रि में सोते समय प्रसन्न होना चाहिए। मन में किसी प्रकार की वासनाएँ या उत्तेजनाएँ नहीं होनी चाहिए। नमस्कार महामंत्र जपते हुए या प्रभुस्मरण करते हुए जो निद्रा आती है उसमें अशुभ स्वप्न नहीं आते, उसे अच्छी निद्रा आती है और श्रेष्ठ स्वप्न दिखलायी पड़ते हैं।

प्राचीन आचार्यों ने शुभ और अशुभ स्वप्न की एक सूची[८०] दी है। पर वह सूची पूर्ण हो ऐसी बात नहीं है। उनके अतिरिक्त भी कई तरह के स्वप्न आते हैं। उन स्वप्नों का सही अर्थ जानने के लिए परिस्थिति, वातावरण, और व्यक्ति की अवस्था देखकर ही निर्णय करना चाहिये।

---

७८. अनुभूतः श्रुतो दृष्टः प्रकृतेश्च विकारजः।
स्वभावतः समुद्भूतः चिन्तासंततिसंभवः॥
देवताद्युपदेशोत्थो धर्मकर्मप्रभावजः।
पापोद्रेकसमुत्थश्च स्वप्नः स्यान्नवधा नृणाम्॥
प्रकारैरादिमैः षड्भि—रशुभश्चाशुभोपि वा।
दृष्टो निरर्थको स्वप्नः सत्यस्तु त्रिभिरुत्तरैः। —स्वप्न शास्त्र

७९. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १७०३

८०. भगवती सूत्र १६-६

विशिष्ट व्यक्तियों की माताएँ जो स्वप्न निहारती हैं उनके अन्तर्मानस की उदात्त आकांक्षाएँ उसमें रहती हैं। वे सोचती हैं कि मेरे ऐसा दिव्य भव्य पुत्र हो जो दिग्दिगन्त को अपनी यशोगाथा से गौरवान्वित करे। उसकी पवित्र भावना के कारण इस प्रकार के पुत्र आते भी हैं। यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि स्वप्न वस्तुतः स्वप्न ही है। स्वप्न पर अत्यधिक विश्वास कर यथार्थता से मुँह नहीं मोड़ना चाहिये। केवल स्वप्नद्रष्टा नहीं यथार्थद्रष्टा बनना चाहिए। वह तो केवल सूचना प्रदान करनेवाला है।

दोहदः एक अनुचिन्तन

प्रस्तुत अध्ययन में मेघकुमार की माता धारिणी को यह दोहद उत्पन्न होता है कि आकाश में उमड़ घुमड़ कर घटाएँ आयें, हजार-हजार धारा के रूप में वह बरस पड़ें। आकाश में चारु चपला की चमक हो। चारों ओर हरियाली लहलहा रही हो, रंगबिरंगे फूल महक रहे हों, मेघ की गंभीर गर्जना को सुनकर मयूर केकारव के साथ नृत्य कर रहे हों, और कलकल और छलछल करते हुए नदी-नाले बह रहे हों, मेंढकों की टरटर ध्वनि हो रही हो। उस समय मैं अपने पति सम्राट् श्रेणिक के साथ हस्ती-रत्न पर आरूढ होकर राजगृह नगर के उपवन वैभारगिरि के उपवन में पहुँचकर आनन्द क्रीडा करूँ। पर वह ऋतु वर्षा की नहीं थी जिससे दोहद की पूर्ति हो सके। दोहद की पूर्ति न होने से महारानी मुरझाने लगी। महाराजा श्रेणिक उसके मुरझाने के कारण को समझकर अभयकुमार के द्वारा महारानी के दोहद की पूर्ति करवाते हैं।

दोहद की इस प्रकार की घटनाएँ आगम साहित्य[८१] में अन्य स्थलों पर भी आई हैं। जैनकथासाहित्य में बौद्ध जातकों में[८२] और वैदिक परम्परा के ग्रंथों[८३] में दोहद का अनेक स्थलों पर वर्णन है। यह ज्ञातव्य है कि जब महिला गर्भवती होती हैं तब गर्भ के प्रभाव से उस के अन्तर्मानस में विविध प्रकार की इच्छाएँ उद्‌बुद्ध होती हैं। वे विचित्र और असामान्य इच्छाएँ 'दोहद' 'दोहला' कही जाती हैं। दोहद के लिए संस्कृत साहित्य में 'द्विहृद' भी आया है। 'द्विहृद' का अर्थ है दो हृयद को धारण करनेवाली। गर्भावस्था में मां की इच्छाओं पर गर्भस्थ शिशु का भी प्रभाव होता है। यद्यपि शिशु की इच्छाएँ जिस रूप में चाहिए उस रूप में व्यक्त नहीं होतीं, किन्तु उसका प्रभाव मां की इच्छाओं पर अवश्य ही होता है। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि कंजूस से कंजूस महिला भी गर्भस्थ शिशु के प्रभाव के कारण उदार भावना से दान देती है, धर्म की साधना करती है और धर्मसाधना करनेवाली महिलाएँ भी शिशु के प्रभाव से धर्म-विमुख बन जाती हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि गर्भस्थ शिशु का प्रभाव माँ पर होता है और माँ की विचारधारा का असर शिशु पर भी होता है। जीजाबाई आदि के ऐतिहासिक उदाहरण हमारे सामने हैं जिन्होंने अपने गर्भस्थ शिशु पर शौर्य के संस्कार डाले थे।

दोहद के समय महिला की स्थिति विचित्र बन जाती है। उस समय उसकी भावनाएँ इतनी तीव्र होती हैं कि यदि उसकी भावनाओं की पूर्ति न की जाय तो वह रुग्ण हो जाती है। कई बार तो दोहद की पूर्ति के अभाव में महिलाएँ अपने प्राणों का त्याग भी कर देती हैं। सुश्रुत भारतीय आयुर्वेद का एक शीर्षस्थ ग्रंथ है। उसमें लिखा

---

८१. विपाक सूत्र—३; कहाकोसु सं. १६; गाहा सतसई प्र. शतक गा १-१५,
—३-९०२ ५-७२; श्रेणिक चरित्र; उत्तरा० टीका १३२, आवश्यकचूर्णि २ पृ० १६६
निरियावलिका १, पृ० ९-११, पिण्ड निर्युक्ति ८०; व्यवहारभाष्य १, ३, पृ० १६;

८२. सिमुमार जातक एवं वानर जातक; सुपत्त जातक: थूस जातक, छवक जातक:
निदान कथा;

८३. रघुवंश—स० १४; कथासरित्सागर अ० २२; ३५; तिलकमंजरी पृ० ७५; वेणीसंहार।

है—दोहद के पूर्ण न होने पर जो सन्तान उत्पन्न होती है उसका अवयव विकृत होता है। या तो वह कुबड़ा होगा, लुंज-पुंज, जड़, बौना, वाड़ा, या अंधा होगा, अष्टावक्र की तरह कुरूप होगा। किन्तु दोहद पूर्ण होने पर सन्तान सर्वांगसुन्दर होती है।[८४]

आचार्य हेमचन्द्र के समय तक दोहला माता की मनोरथ-पूर्ति के अर्थ में प्रचलित था। राजस्थान, मध्यप्रदेश उत्तरप्रदेश और दक्षिण भारत के कर्नाटक, आन्ध्र और तमिलनाडु में सातवें माह में साते, सांधे, और सीमन्त के रूप में समारंभ मनाया जाता है। सात महीने में गर्भस्थ शिशु प्रायः शारीरिक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। ऐसा भी माना जाता है कि यदि सात मास में बालक का जन्म हो जाता है और वह जीवित रहता है तो महान् यशस्वी होता है। वासुदेव श्रीकृष्ण को सातवें माह में उत्पन्न हुआ माना जाता है।

सुश्रुत आदि में चार माह में दोहद पूर्ति का समय बताया है। ज्ञातधर्म कथा,[८५] कथा-कोश[८६] और कहाकोसु[८७] आदि ग्रंथों में ऐसे प्रसंग मिलते हैं कि तीसरे, पाँचवें और सातवें माह में दोहद की पूर्ति की गई। क्योंकि उसी समय उसको दोहद उत्पन्न हुए थे। आधुनिक शरीर-शास्त्रियों का भी यह अभिमत है कि अवयव-निर्माण की प्रक्रिया तृतीय मास में पूर्ण हो जाती है, उसके पश्चात् भ्रूण के आवश्यक अंग-प्रत्यंग में पूर्णता आती रहती है।

अंगविज्जा[८८] जैन साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उस ग्रंथ में विविध दृष्टियों से दोहदों के संबंध में गहराई से चिन्तन किया है। जितने भी दोहद उत्पन्न होते हैं उन्हें पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है—शब्दगत, गंधगत, रूपगत, रसगत और स्पर्शगत। क्योंकि ये ही मुख्य इन्द्रियों के विषय हैं और इन्हीं की दोहदों में पूर्ति की जाती है। प्राचीन साहित्य में जितने भी दोहद आये हैं उन सभी का समावेश इन पाँचों में हो जाता है। वैदिक वाङ्मय में, बौद्ध जातक साहित्य में और जैन कथा साहित्य में दोहद उत्पत्ति और उसकी पूर्ति के अनेक प्रसंग मिलते हैं। चरक आदि में भी इस पर विस्तार से चर्चा है।

प्राचीन ग्रंथों के आधार से पाश्चात्य चिन्तक डा० ब्लूमफील्ड[८९] आदि ने दोहद के सम्बन्ध में कुछ चिन्तन किया है।

कला : एक विश्लेषण

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सर्वांगीण विकास हेतु शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक माना गया था। प्राचीन शिक्षापद्धति का उद्देश्य था चरित्र का संगठन, व्यक्तित्व का निर्माण, संस्कृति की रक्षा, सामाजिक

८४. दौहृदविमानात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति। तस्मात् सा यद्यदिच्छेत् तत्तस्य दापयेत्। लब्धदौहृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषञ्च पुत्रं जनयति।

सुश्रुतसंहिता, अ० ३, शरीरस्थानम्-१४

८५. ज्ञातधर्म कथा—१, पृ० १०

८६. कथाकोश पृ० १४

८७. कहाकोसु—सं-४९

८८. अंगविद्या अध्याय ३६

८९. The Dohado or Craving of Pregnant women
—Journal of American Oriental Society. Vol IX Part 1st Page 1-24.

धार्मिक कर्त्तव्यों को सम्यक् प्रकार से पालन करना। जब मेघकुमार आठ वर्ष का हो गया तब शुभ नक्षत्र और श्रेष्ठ लग्न में उसे कलाचार्य के पास ले जाया गया। प्राचीन युग में शिक्षा का प्रारंभ आठ वर्ष में माना गया, क्योंकि तब तक बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाता था। भगवती[९०] और अन्य आगमों में भी इसी उम्र का उल्लेख है। कथाकोश-प्रकरण[९१], ज्ञानपंचमी कथा[९२], कुवलयमाला[९३] आदि में भी इसी उम्र का उल्लेख है। स्मृतियों में पाँच वर्ष की उम्र में शिक्षा देने का उल्लेख है। पर आगमों में आठ वर्ष ही बताया है[९४]।

उस युग में विविध कलाओं का गहराई से अध्ययन कराया जाता था। पुरुषों के लिए बहत्तर कलाएँ और स्त्रियों के लिए चौसठ कलाएँ थीं। केवल ग्रंथों से ही नहीं, उन्हें अर्थ और प्रयोगात्मक रूप से भी सिखलाया जाता था। वे कलाएँ मानव की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के पूर्ण विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी थीं। मानसिक विकास उच्चतम होने पर भी शारीरिक विकास यदि न हो तो उसके अध्ययन में चमत्कृति पैदा नहीं हो सकती।

प्रस्तुत आगम में बहत्तर कलाओं का उल्लेख हुआ है। बहत्तर कलाओं के नाम समवायांग, राजप्रश्नीय, औपपातिक और कल्पसूत्र सुबोधिका टीका में भी प्राप्त होते हैं। पर ज्ञातासूत्र में आई हुई कलाओं के नामों में और उन आगमों में आये हुए नामों में कुछ अन्तर है। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने हेतु हम यहाँ दे रहे हैं।
—ज्ञातासूत्र के अनुसार[९५] (१) लेख (२) गणित (३) रूप (४) नाट्य (५) गीत (६) वादित्र (७) स्वरगत (८) पुष्करगत (९) समताल (१०) द्यूत (११) जनवाद (१३) पाशक (पासा) (१३) अष्टापद (१४) पुरःकाव्य (१५) दकमृत्तिका (१६) अन्नविधि (१७) पानविधि (१८) वस्त्रविधि (१९) विलेपन विधि (२०) शयन विधि (२१) आर्या (२२) प्रहेलिका (२३) मागधिका (२४) गाथा (२५) गीति (२६) श्लोक (२७) हिरण्ययुक्ति (२८) स्वर्णयुक्ति (२९) चूर्णयुक्ति (३०) आभरणविधि (३१) तरुणीप्रतिकर्म (३२) स्त्रीलक्षण (३३) पुरुषलक्षण (३४) हयलक्षण (३५) गजलक्षण (३६) गोलक्षण (३७) कुक्कुटलक्षण (३८) छत्रलक्षण (३९) दण्डलक्षण (४०) असिलक्षण (४१) मणिलक्षण (४२) काकणीलक्षण (४३) वास्तुविद्या (४४) स्कन्धावारमान (४५) नगरमान (४६) व्यूह (४७) प्रतिव्यूह (४८) चार (४९) प्रतिचार (५०) चक्रव्यूह (५१) गरुडव्यूह (५२) शकटव्यूह (५३) युद्ध (५४) नियुद्ध (५५) युद्धनियुद्ध (५६) दृष्टियुद्ध (५७) मुष्टियुद्ध (५८) बाहुयुद्ध (५९) लतायुद्ध (६०) इषुशास्त्र (६१) छरुप्रवाद (६२) धनुर्वेद (६३) हिरण्यपाक (६४) स्वर्णपाक (६५) सूत्रखेड (६६) वस्त्रखेल (६७) नालिका खेल (६८) पत्रच्छेद्य (६९) कटच्छेद्य (७०) सजीव (७१) निर्जीव (७२) शकुनिरुत।

औपपातिक[९६] में पाँचवीं कला 'गीत' है, पच्चीसवीं कला 'गीति' और छप्पनवीं कला 'दृष्टियुद्ध' नहीं है।

९०. भगवती-अभयदेव वृत्ति ११.११, ४२९, पृ० ९९९.
९१. कथाकोश प्रकरण पृ० ८.
९२. ज्ञानपंचमी कहा ६.९२
९३. कुवलयमाला २१, १२-१३,
९४. (क) टी. सी. दासगुप्त 'द जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' पृ० ७४.
(ख) एच. आर. कापडिया 'द जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' पृ० २०६.
९५. ज्ञातासूत्र पृ. ४८ (प्रस्तुत संस्करण)
९६. औपपातिक ४० पत्र १८५.

इनके स्थान पर औपपातिक में (३६) चक्कलक्खणं, (३८) चम्मलक्खणं तथा (४६) वत्थुनिवेसन कलाओं का उल्लेख है।

रायपसेणिय सूत्र[९७] में उन्तीसवीं कला 'चूर्णयुक्ति' नहीं है, (३८) वीं कला 'चक्रलक्षण' विशेष है। छप्पनवीं कला 'दृष्टियुद्ध' के स्थान पर 'यष्टियुद्ध' है। अन्य सभी कलाएँ ज्ञाता धर्म के अनुसार ही हैं।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति[९८] शांतिचन्द्रीयवृत्ति, वक्षस्कार-२ पत्र संख्या १३६-२, १३७-१ में सभी कलाएँ ज्ञातासूत्र की-सी ही हैं, किन्तु संख्या के क्रम में किंचित् अन्तर है।

ज्ञातासूत्र में[९९] आयी हुई बहत्तर कलाओं के नामों में और समवायांग में आई हुई बहत्तर कलाओं के नामों में बहुत अन्तर है। समवायांग की कलासूची यहाँ प्रस्तुत है—

(१) लेहं—लेख लिखने की कला
(२) गणियं—गणित
(२) रूवं—रूप सजाने की कला
(४) नट्टं—नाट्य करने की कला
(५) गीयं—गीत गाने की कला
(६) वाइयं—वाद्य बजाने की कला
(७) सरगयं—स्वर जानने की कला
(८) पुक्खरयं—ढोल आदि वाद्य बजाने की कला
(९) समतालं—ताल देना
(१०) जूयं—जुआ खेलने की कला
(११) जणवायं—वार्तालाप की कला
(१२) पोक्खच्चं—नगर-संरक्षण की कला
(१३) अट्ठावय—पासा खेलने की कला
(१४) दगमट्टियं—पानी और मिट्टी के संमिश्रण से वस्तु बनाने की कला
(१५) अन्नविहिं—अन्न उत्पन्न करने की कला
(१६) पाणविहिं—पानी को उत्पन्न करने तथा शुद्ध करने की कला
(१७) वत्थविहिं—वस्त्र बनाने की कला
(१८) सयणविहिं—शय्या निर्माण करने की कला
(१९) अज्जं—संस्कृत भाषा में कवितानिर्माण की कला।
(२०) पहेलियं—प्रहेलिका निर्माण की कला
(२१) मागहियं—छन्द विशेष बनाने की कला
(२२) गाहं—प्राकृत भाषा में गाथा निर्माण की कला
(२३) सिलोगं—श्लोक बनाने की कला

---

९७. राजप्रश्नीय सूत्र पत्र ३४०.
९८. समवायांग, समवाय-७२.
९९. ज्ञातासूत्र-१.

(२४) गंधजुत्ति—सुगंधित पदार्थ बनाने की कला
(२५) मधुसित्थं—मधुरादि छह रस संबंधी कला
(२६) आभरणविहिं—अलंकार निर्माण व धारण की कला
(२७) तरुणीपडिकम्मं—स्त्री को शिक्षा देने की कला
(२८) इत्थीलक्खणं—स्त्री के लक्षण जानने की कला
(२९) पुरिसलक्खणं—पुरुष के लक्षण जानने की कला
(३०) हयलक्खणं—घोड़े के लक्षण जानने की कला
(३१) गयलक्खणं—हस्ती के लक्षण जानने की कला
(३२) गोणलक्खणं—गाय के लक्षण जानने की कला
(३३) कुक्कुडलक्खणं—कुक्कुट के लक्षण जानने की कला
(३४) मिंढियलक्खणं—मेंढे के लक्षण जानने की कला
(३५) चक्कलक्खणं—चक्र के लक्षण जानने की कला
(३६) छत्तलक्खणं—छत्र लक्षण जानने की कला
(३७) दण्डलक्खणं—दण्ड लक्षण जानने की कला
(३८) असिलक्खणं—तलवार के लक्षण जानने की कला
(३९) मणिलक्खणं—मणि के लक्षण जानने की कला
(४०) कागणिलक्खणं—काकिणी-चक्रवर्ती के रत्न विशेष के लक्षण को जानने की कला
(४१) चम्मलक्खणं—चर्म लक्षण जानने की कला
(४२) चंदलक्खणं—चन्द्र लक्षण जानने की कला
(४३) सूरचरियं—सूर्य आदि की गति जानने की कला
(४४) राहुचरियं—राहु आदि की गति जानने की कला
(४५) गहचरियं—ग्रहों की गति जानने की कला
(४६) सोभागकरं—सौभाग्य का ज्ञान
(४७) दोभागकरं—दुर्भाग्य का ज्ञान
(४८) विज्जागयं—रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान
(४९) मंतगयं—मन्त्रसाधना आदि का ज्ञान
(५०) रहस्सगयं—गुप्त वस्तु को जानने का ज्ञान
(५१) सभासं—प्रत्येक वस्तु के वृत्त का ज्ञान
(५२) चारं—सैन्य का प्रमाण आदि जानना
(५३) पडिचारं—सेना को रणक्षेत्र में उतारने की कला
(५४) वूहं—व्यूह रचने की कला
(५५) पडिवूहं—प्रतिव्यूह रचने की कला
(५६) खंधावारमाणं—सेना के पड़ाव का प्रमाण जानना
(५७) नगरमाणं—नगर का प्रमाण जानने की कला
(५८) वत्थुमाणं—वस्तु का प्रमाण जानने की कला
(५९) खंधावारनिवेसं—सेना का पड़ाव आदि डालने का परिज्ञान

(६०) वत्थुनिवेसं—प्रत्येक वस्तु के स्थापन कराने की कला

(६१) नगरनिवेसं—नगर निर्माण का ज्ञान

(६२) ईसत्थं—ईषत् को महत् करने की कला

(६३) छरुप्पवायं—तलवार आदि की मूठ बनाने की कला

(६४) आससिक्खं—अश्वशिक्षा

(६५) हत्थिसिक्खं—हस्तिशिक्षा

(६६) धणुव्वेयं = धनुर्वेद

(६७) हिरण्यपागं, सुवण्णपागं, मणिपागं धातुपागं—हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक बनाने की कला

(६८) बाहुजुद्धं, दंडजुद्धं मुट्ठिजुद्धं, अट्ठिजुद्धं, जुद्धं, निजुद्धं जुद्धाइजुद्धं—बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध करने की कला

(६९) सुत्ताखेडं, नालियाखेडं, वट्टखेडं, धम्मखेडं, चम्मखेडं—सूत बनाने की कला, नली बनाने की, गेंद खेलने की, वस्तु के स्वभाव जानने की, चमड़ा बनाने आदि की कला

(७०) पत्तच्छेज्जं-कडगच्छेज्जं-पत्रछेदन, वृक्षांग विशेष छेदने की कला

(७१) सजीवं, निज्जीवं—सजीवन, निर्जीवन—संजीवनी विद्या

(७२) सउणरुयं—पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला

कल्पसूत्र की टीकाओं[१००] में बहत्तर कलाओं का वर्णन प्राप्त होता है। वे ज्ञातासूत्र की बहत्तर कलाओं से प्राय: भिन्न हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) लेखन (२) गणित (३) गीत (४) नृत्य (५) वाद्य (६) पठन (७) शिक्षा (८) ज्योतिष (९) छन्द (१०) अलंकार (११) व्याकरण (१२) निरुक्ति (१३) काव्य (१४) कात्यायन (१५) निघण्टु (१६) गजारोहण (१७) अश्वारोहण (१८) आरोहणशिक्षा (१९) शस्त्राभ्यास (२०) रस (२१) यंत्र (२२) मंत्र (२३) विष (२४) खन्ध (२५) गन्धवाद (२६) प्राकृत (२७) संस्कृत (२८) पैशाचिका (२९) अपभ्रंश (६०) स्मृति (३१) पुराण (३२) विधि (६३) सिद्धान्त (३४) तर्क (३५) वैद्यक (३६) वेद (३७) आगम (३८) संहिता (३९) इतिहास (४०) सामुद्रिक (४१) विज्ञान (४२) आचार्य विद्या (४३) रसायन (४४) कपट (४५) विद्यानुवाद दर्शन (४६) संस्कार (४७) धूर्त्त संवलक (४८) मणिकर्म (४९) तरुचिकित्सा (५०) खेचरी कला (५१) अमरी कला (५२) इन्द्रजाल (५३) पातालसिद्धि (५४) यन्त्रक (५५) रसवती (५६) सर्वकरणी (५७) प्रासाद लक्षण (५८) पण (५९) चित्रोपल (६०) लेप (६१) चर्मकर्म (६२) पत्रच्छेद (६३) नखछेद (६४) पत्र परीक्षा (६५) वशीकरण (६६) कष्टघटन (६७) देशभाषा (६८) गारुड (६९) योगांग (७०) धातु कर्म (७१) केवल विधि (७२) शकुनिरुत

आचार्य वात्स्यायन ने "कामसूत्र" में[१०१] चौंसठ कलाओं का वर्णन किया है। उन चौंसठ कलाओं के साथ ज्ञाता सूत्र में आई हुई बहत्तर कलाओं की हम सहज तुलना कर सकते हैं। वे बहत्तर कलाएँ चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत आ सकती हैं। देखिए—

१००. कल्पसूत्र सुबोधिकाटीका

१०१. कामसूत्र विद्यासमुद्देश प्रकरण

काम सूत्र	ज्ञाता सूत्र
(१) गीत	(५) गीत (७) स्वरगत
(२) वादित्र	(६) वादित्र (८) पुष्करगत (९) समताल
(३) नृत्य	(४) नाट्य
(४) आलेख्य	(३) रूप
(५) विशेषकच्छेद्य (पत्रच्छेद्य)	(६८) पत्रच्छेद्य
(६) तंडुल कुसुमवलि विकार	
(७) पुष्पास्तरण (पुष्पशयन)	(२०) शयनविधि ?
(८) दशनवसनांगराग	(३१) तरुणोप्रतिकर्म (१९) विलेपन (३८) वस्त्रविधि
(९) मणि भूमि कर्म	
(१०) शयन रचन	(२०) शयन विधि
(११) उदक वाद्य	
(१२) उदकघात	
(१३) चित्रयोग	
(१४) माल्यग्रंथन	
(१५) शेखरकापीड योजन	
(१६) नेपथ्य प्रयोग	
(१७) कर्णपत्र भंग	
(१८) गंध युक्ति	(२९) चूर्ण युक्ति
(१९) भूषण योजना	(१८) आभरणविधि
(२०) इन्द्रजाल	
(२१) कौचुमार योग	
(२२) विचित्र शाक	(१६) अन्नविधि
(२३) सूचिवान् कर्म	
(२४) वीणा डमरुक वाद्य	(६) वादित्र
(२५) प्रतिमाला	
(२६) हस्तलाघव	(६८) पत्रच्छेद्य (६९) कटच्छेद्य
(२७) पानकरस रागासव योजन	(१७) पान विधि
(२८) सूत्रक्रीडा	(६५) सूत्रखेल (६७) नालिका खेल
(२९) प्रहेलिका	(२२) प्रहेलिका
(३०) दुर्वाचक योग	
(३१) पुस्तक वाचन	
(३२) नाटकाख्यायिका दर्शन	
(३३) काव्य समस्या पूर्ति	
(३४) पट्टिका वेत्रवान विकल्प	

काम सूत्र	ज्ञाता सूत्र
(३५) तक्षकर्म	
(३६) तक्षण	
(३७) वास्तुविधि	(४३) वास्तुविद्या (४५) नगरमान
(३८) रूप्यरत्न परीक्षा	(४०) मणिलक्षण (५१) काकणी लक्षण (२७) हिरण्ययुक्ति (२८) स्वर्णयुक्ति
(३९) धातुवाद	(६३) हिरण्यपाक (६४) स्वर्णपाक (७०) सजीव (७१) निर्जीव
(४०) मणिरागाकर—ज्ञान	
(४१) वृक्षायुर्वेद	
(४२) मेघ कुर्कुट लावक युद्ध विधि	
(४३) शुक सारिका प्रलापन	
(४४) उत्सादन संवाहन केशमार्जन कुशलता	
(४५) अक्षर मुष्टिका कथन	
(४६) म्लेच्छित कलाविकल्प	
(४७) देशभाषा-विज्ञान	
(४८) पुष्पकटिका	
(४९) निमित्तज्ञान	(७२) शुकुनिरत (३२) स्त्रीलक्षण (३३) पुरुषलक्षण (३४) हयलक्षण (३५) गजलक्षण (३६) गोलक्षण (३७) कुक्कुटलक्षण (३८) छत्रलक्षण (२९) दण्ड-लक्षण (४०) असिलक्षण (४१) मसिलक्षण (४२) काकणीलक्षण
(५०) यंत्रमातृका	
(५१) धारणमातृका	
(५२) संपाठ्य	
(५३) मानसी काव्य क्रिया	
(५४) अभिधानकोश	
(५५) छन्द विज्ञान	(२१) आर्या (२६) मागधिका (२४) गाथा (२५) गीति (२६) श्लोक (१४) पुरः काव्य
(५६) क्रिया कल्प	
(५७) छलितक योग	
(५८) वस्त्र गोपन	
(५९) द्यूत विशेष	(१०) द्यूत (११) जनवाद (१२) पाशक (१३) अष्टापद (१२) पाशक
(६०) आकर्ष क्रीडा	
(६१) वालक्रीडन—	

काम सूत्र	ज्ञाता सूत्र
(६२) वैनयिका....................	
(६३) वैजयिका....................	(४६) व्यूह (४७) प्रतिव्यूह (५०) चक्रव्यूह (५१) गरुडव्यूह (५२) शकट व्यूह (५३) युद्ध (५४) नियुद्ध (५५) युद्धातियुद्ध (५६) दृष्टियुद्ध (५७) मुष्टियुद्ध (५८) बाहुयुद्ध (५९) लतायुद्ध (६०) इषुशास्त्र (६१) छरुप्रवाद (६२) धनुर्वेद
(६४) व्यायामिकी	(४४) स्कंधावारमनन

पुरुषों की भांति महिलाओं की कलाओं का भी प्रस्तुत आगम में उल्लेख है। पर यहाँ उनके नाम नहीं बताये गये हैं। जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति[112] में महिलाओं की चौसठ कलाओं के नाम इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

(१) नृत्य (२) औचित्य (३) चित्र (४) वादित्र (५) मंत्र (६) तंत्र (७) ज्ञान (८) विज्ञान (९) दम्भ (१०) जलस्तंभ (११) गतिमान (१२) तालमान (१३) मेघवृष्टि (१४) फलाकृष्टि (१५) आरामरोपण (१६) आकारगोपन (१७) धर्मविचार (१८) शकुनसार (१९) क्रियाकल्प (२०) संस्कृतजल्प (२१) प्रासादनीति (२२) धर्मनीति (२३) वर्णिकावृद्धि (२४) सुवर्णसिद्धि (२५) सुरभितैलकरण (२६) लीलासंचरण (२७) हयगज-परीक्षण (२८) पुरुष-स्त्री लक्षण (२९) हेमरत्नभेद (३०) अष्टादश लिपि परिच्छेद (४१) तत्काल वुद्धि (३२) वस्तुसिद्धि (३३) काम विक्रिया (३४) वैद्यक क्रिया (३५) कुम्भभ्रम (३६) सारिश्रम (६७) अंजन योग (३८) चूर्णयोग (३९) हस्तलाघव (४०) वचनपाटव (४१) भोज्य विधि (४२) वाणिज्य विधि (४३) मुखमण्डन (४४) शालिखण्डन (४५) कथाकथन (४६) पुष्पग्रन्थन (४७) वक्रोक्ति (४८) काव्य शक्ति (४९) स्फारविधि वेश (५०) सर्वभाषा विशेष (५१) अभिधान ज्ञान (५२) भूषणपरिधान (५३) भृत्योपचार (५४) गृहाचार (६५) व्याकरण (५६) परनिराकरण (५७) रन्धन (५८) केशवन्धन (५९) वीणानाद (६०) वितण्डावाद (६१) अंकविचार (६२) लोकव्यवहार (६३) अन्त्याक्षरिका (६४) प्रश्नप्रहेलिका।

केलदि श्रीवसवराजेन्द्र ने "शिवतत्त्वरत्नाकर" में भी चौसठ कलाओं का निर्देश किया है। वे इस प्रकार हैं—(१) इतिहास (२) आगम(३) काव्य (४) अलंकार (५) नाटक (६) गायकत्व (७) कवित्व (८) कामशास्त्र (९) दुरोदर (द्यूत) (१०) देशभाषालिपिज्ञान (११) लिपिकर्म (१२) वाचन (१३) गणक (१४) व्यवहार (१५) स्वरशास्त्र (१६) शकुन (१६) सामुद्रिक (१७) रत्नशास्त्र (१८) गज-अश्व-रथ कौशल (२०) मल्लशास्त्र (२१) सूपकर्म (२२) भूरुहदोहद (वागवानी) (२३) गंधवाद (२४) धातुवाद (२५) रस संबंधी (२६) खनिवाद (२७) विलवाद (२८) अग्निस्तंभ (२९) जल स्तम्भ (३०) वाचःस्तंभन (३१) वयःस्तंभन (३२) वशीकरण (३३) आकर्षण (३४) मोहन (३५) विद्वेषण (३६) उच्चाटन (३७) मारण (३८) कालवंचन (३९) परकायप्रवेश (४०) पादुकासिद्धि (४१) वाक्‌सिद्धि (४२) गुटिकासिद्धि (४३) ऐन्द्रजालिक (४४) अंजन (४५) परदृष्टिवंचन (४६) स्वरवंचन (४७) मणिमंत्र औषधादिकी सिद्धि (४८) चोरकर्म (४९) चित्रक्रिया (५०) लोहक्रिया (५१) अश्मक्रिया (५२) मृत्क्रिया (५३) दारुक्रिया (५४) वेणुक्रिया (५५) चर्मक्रिया (५७) अंवरक्रिया (५७) अदृश्यकरण (५८) दंतिकरण (५९) मृगयाविधि (६०) वाणिज्य (६१) पाशुपाल्य (६२) कृषि (६३) आसवकर्म (६४) मेषादि युद्धकारक कौशल

११२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वृत्ति, वक्षस्कार २, पत्र १३९-२ १४०-१

शुक्राचार्य ने 'नीतिसार ग्रन्थ'[११३] में प्रकारान्तर से चौसठ कलाएँ बताई हैं। किन्तु विस्तारभय से हम यहां उन्हें नहीं दे रहे हैं। शुक्राचार्य का अभिमत है कि कला वह अद्‌भुत शक्ति है कि एक गूंगा व्यक्ति जो वर्णोच्चारण नहीं कर सकता है, उसे कर सके।[११४]

प्राचीन काल में कलाओं के व्यापक अध्ययन के लिए विभिन्न चिन्तकों ने विभिन्न कलाओं पर स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण किया था। अत्यधिक विस्तार से उन कलाओं के संबंध में विश्लेषण भी किया था। जैसे, भरत का 'नाट्य शास्त्र' वात्स्यायन का 'कामसूत्र' चरक और सुश्रुत की संहिताएँ, नल का 'पाक दर्पण', पालकाप्य का 'हस्त्यायुर्वेद', नीलकण्ठ की 'मातंगलीला', श्रीकुमार का 'शिल्परत्न', रुद्रदेव का 'शयनिक शास्त्र' आदि।

अतीत काल में अध्ययन बहुत ही व्यापक होता था। बहत्तर कलाओं में या चौंसठ कलाओं में जीवन की संपूर्ण विधियों का परिज्ञान हो जाता था।

लिपि और भाषा

कलाओं के अध्ययन व अध्यापन के साथ ही उस युग में प्रत्येक व्यक्ति को और विशेषकर समृद्ध परिवार में जन्मे हुए व्यक्तियों को बहुभाषाविद् होना भी अनिवार्य था। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के अतिरिक्त अट्ठारह देशी भाषाओं का परिज्ञान आवश्यक था। प्रस्तुत सूत्र में मेघकुमार के वर्णन में 'अट्ठारसविहिप्पगारदेसीभासा विसारए' यह मूल पाठ है। पर वे अट्ठारह भाषाएँ कौनसी थीं इसका उल्लेख मूल पाठ में नहीं है। औपपातिक आदि में भी इसी तरह का पाठ मिलता है, किन्तु वहाँ पर भी अट्ठारह देशी भाषाओं का निर्देश नहीं है, नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने[११५] प्रस्तुत पाठ पर विवेचन करते हुए अष्टादश लिपियों का उल्लेख किया है, पर अट्ठारह देशी भाषाओं का नहीं। अभयदेव ने विभिन्न देशों में प्रचलित अट्ठारह लिपियों में विशारद लिखा है। समवायांग, प्रज्ञापना, विशेषावश्यकभाष्य की टीका और कल्पसूत्रटीका में अट्ठारह लिपियों के नाम मिलते हैं पर सभी नामों में यत्किंचित् भिन्नता है। हम यहाँ तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले जिज्ञासुओं के लिए उनके नाम प्रस्तुत कर रहे हैं।

समवायांग[११६] के अनुसार

(१) ब्राह्मी (२) यावनी (३) दोषउपरिका (४) खरोष्टिका (५) खरशाविका (पुष्करसारि) (६) पाहारातिगा (७) उच्चत्तरिका (८) अक्षरपृष्टिका (९) भोगवतिका (१०) वैणकिया (११) निण्हविका (१२ अंकलिपि (१३) गणितलिपि (१४) गंधर्वलिपि (भूतलिपि) (१५) आदर्श लिपि (१६) माहेश्वरी (१७) दामिली लिपि (द्रावडी) (१८) पोलिन्दी लिपि

प्रज्ञापना[११७] के अनुसार

(१) ब्राह्मी (२) यावनी (३) दोसापुरिया (४) खरोष्ठी (५) पुक्खरासारिया (६) भोगवइया (भोगवती)

११३. नीतिसार ४-३

११४. शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम् ॥

११५. ज्ञाता सूत्र १ टीका

११६. समवायांग समवाय १८

११७. प्रज्ञापना १।३७

(७) पहराइया (८) अन्तक्खरिया (९) अक्खरपुट्ठिया (१०) वैनयिकी (११) अंकलिपि (१२) निह्नविकी (१३) गणित लिपि (१४) गंधर्व लिपि (१५) आयंस लिपि (१६) माहेश्वरी (१७) दोमिलीलिपि (१८) पौलिन्दी

विशेषावश्यक टीका[११८] के अनुसार

(१) हंस (२) भूत (३) यक्षी (४) राक्षसी (५) उड्डी (६) यवनी (७) तुरुक्की (८) कीरी (९) द्रविडी (१०) सिंघवीय (११) मालविनी (१२) नडि (१३) नागरी (१४) लाट (१५) पारसी (१६) अनिमित्ती (१७) चाणक्की (१८) मूलदेवी

कल्पसूत्र[११९] टीका के अनुसार

(१) लाटी (२) चौडी (३) डाहली (४) कानडी (५) गूजरी (६) सौरहठी (७) मरहठी (८) खुरासानी (९) कोंकणी (१०) मागधी (११) सिंहली (१२) हाडी (१३) कीडी (१४) हम्मीरी (१५) परसी (१५) मसी (१७) मालवी (१८) महायोधी

चीनी भाषा में रचित "फा युअन् चु लिन्" नामक बौद्ध विश्वकोश में तथा "ललित-विस्तरा"[१२०] के अनुसार

(१) ब्राह्मी (२) खरोष्ठी (३) पुष्करसारी (४) अंगलिपि (५) वंगलिपि (६) मगध लिपि (७) मांगल्यलिपि (८) मनुष्यलिपि (९) अंगुलीय लिपि (१०) शकारि लिपी (११) ब्रह्मवल्ली लिपि (१२) द्राविड लिपि (१३) कनारि लिपि (१४) दक्षिण लिपि (१५) उग्रलिपि (१६) संख्या लिपि (१७) अनुलोम लिपि (१८) ऊर्ध्वधनुर्लिपि (१९) दरदलिपि (२०) खास्यलिपि (२१) चीनलिपि (२२) हूणलिपि (२३) मध्याक्षर-विस्तर लिपि (२४) पुष्पलिपि (२५) देवलिपि (२६) नागलिपि (२७) यक्षलिपि (२८) गंधर्व लिपि (२९) किन्नरलिपि (३०) महोरग लिपि (३१) असुर लिपि (३२) गरुडलिपि (३३) मृगचक्रलिपि (३४) चक्रलिपि (३५) वायुमरुलिपि (३६) भौवदेव लिपि (३७) अंतरिक्ष देव लिपि (३८) उत्तरकुरुद्वीपलिपि (३९) अपदगौडादिलिपि (४०) पूर्वविदेहलिपि (४१) उत्क्षेपलिपि (४२) निक्षेपलिपि (४३) विक्षेपलिपि (४४) प्रक्षेपलिपि (४५) सागरलिपि (४६) वज्रलिपि (४७) लेख प्रतिलेखलिपि (४८) अनुद्रुतलिपि (४९) शास्त्रावर्त्त लिपि (५०) गणावर्त्त लिपि (५१) उत्क्षेपावर्त्त लिपि (५२) विक्षेपावर्त्त लिपि (५३) पाद लिखितलिपि (५४) द्विरुत्तरपद संधि लिखित लिपि (५५) दशोत्तरपद संधिलिखित लिपि (५६) अध्याहारिणी लिपि (५७) सर्वरुत्संग्रहिणीलिपि (५८) विद्यानुलोमलिपि (५९) विमिश्रित लिपि (६०) ऋषितपस्तप्त लिपि (६१) धरणीप्रेक्षणलिपि (६२) सर्वौषधनिस्यंद लिपि (६३) सर्वसार संग्रहण लिपि (६४) सर्वभूतरुद्रग्रहणी लिपि।

इन लिपियों के सम्बन्ध में आगमप्रभाकर पुण्यविजय[१२१] जी म० का यह अभिमत था कि इनमें अनेकों नाम कल्पित हैं। इन लिपियों के सम्बन्ध में अभी तक कोई प्राचीन शिलालेख भी उपलब्ध नहीं हुआ है, इससे भी यह प्रतीत होता है कि ये सभी लिपियां प्राचीन समय में ही लुप्त हो गईं। या इन लिपियों का स्थान ब्राह्मी लिपि ने ले लिया होगा। मेरी दृष्टि से अट्ठारह देशीय भाषा और लिपियां ये दोनों पृथक् पृथक् होनी चाहिए।

---

११८. विशेषावश्यक भाष्य गाथा ४६४ की टीका

११९. कल्पसूत्र टीका

१२०. ललितविस्तरा अध्याय १०

१२१. 'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला' पृ. ५

भरत[१२२] के नाट्यशास्त्र में सात भाषाओं का उल्लेख मिलता, है—मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, बहिहका, दक्षिणात्य और अर्धमागधी। जिनदास गणि महत्तर[१२३] ने निशीथ चूर्णि में मगध, मालवा, महाराष्ट्र, लाट, कर्नाटक, द्रविड, गौड, विदर्भ इन आठ देशों की भाषाओं को देशी भाषा कहा है। 'बृहत्कल्प भाष्य' में आचार्य संघदास गणि[१२४] ने भी इन्हीं भाषाओं का उल्लेख किया है। 'कुवलयमाला[१२५] में उद्योतन सूरि ने गोल्ल, मध्यप्रदेश, मगध, अन्तर्वेदि, कीर, ढक्क, सिन्धु, मरू गुर्जर, लाट, मालवा, कर्नाटक, ताइय (ताजिक), कोशल, मरहट्ट और आन्ध्र इन सोलह भाषाओं का उल्लेख किया है। साथ ही सोलह गाथाओं में उन भाषाओं के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। डा. ए. मास्टर[१२६] का सुझाव है कि इन सोलह भाषाओं में औड्र और द्राविडी भाषाएं मिला देने से अट्ठारह भाषाएं, जो देशी हैं, हो जाती हैं।

प्रथम अध्ययन के अध्ययन से महावीरयुगीन समाज और संस्कृति पर भी विशेष प्रकाश पड़ता है। उस समय की, भवन-निर्माण कला, माता-पिता-पुत्र आदि के पारिवारिक सम्बन्ध, विवाहप्रथा, बहुपत्नीप्रथा, दहेज, प्रसाधन, आमोद-प्रमोद, रोग और चिकित्सा, धनुर्विद्या, चित्र और स्थापत्यकला, आभूषण, वस्त्र, शिक्षा और विद्याभ्यास तथा शासनव्यवस्था आदि अनेक प्रकार की सांस्कृतिक सामग्री भी इसमें भरी पड़ी हैं।

द्वितीय अध्ययन में एक कथा हैं—धन्ना राजगृह का एक लब्धप्रतिष्ठ श्रेष्ठी था। चिर प्रतीक्षा के पश्चात् उसको एक पुत्र प्राप्त होता है। श्रेष्ठी ने पंथक नाम के एक सेवक को उसकी सेवा में नियुक्त किया। राजगृह के बाहर एक भयानक खंडहर में विजय चोर रहता था। वह तस्करविद्या में निपुण था। पंथक की दृष्टि चुराकर वह श्रेष्ठीपुत्र देवदत्त को आभूषणों के लोभ से चुरा लेता है और बालक की हत्या कर देता है। वह चोर पकड़ा गया और कारागृह में बन्द कर दिया गया। किसी अपराध में सेठ भी उसी कारागृह में बन्द हो गये, जहाँ पर विजय चोर था। श्रेष्ठी के लिए बढिया भोजन घर से आता। विजय चोर की जबान उस भोजन को देखकर लपलपाती। पर, अपने प्यारे एकलौते पुत्र के हत्यारे को सेठ एक ग्रास भी कैसे दे सकता था? दोनों एक ही बेड़ी में जकड़े हुए थे। जब सेठ की शौचनिवृत्ति के लिए भावना प्रबल हुई तो वह एकाकी जा नहीं सकता था। उसने विजय चोर से कहा। उसने साफ इनकार कर दिगा। अन्त में सेठ को विजय चोर की शर्त स्वीकार करनी पड़ी कि आधा भोजन प्रतिदिन तुम्हें दूंगा। श्रेष्ठीपत्नी ने सुना तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुई। कारागृह से मुक्त होकर श्रेष्ठी घर पहुँचा तो भद्रा ने कहा कि तुमने महान् अपराध किया है। श्रेष्ठी ने अपनी विवशता बताई।

प्रस्तुत कथाप्रसंग को देकर शास्त्रकार ने यह प्रतिपादन किया है कि सेठ को विवशता से पुत्र-घातक को भोजन देना पड़ता था। वैसे साधक को भी संयमनिर्वाह हेतु शरीर को आहार देना पड़ता है, किन्तु उसमें शरीर के प्रति किंचित् भी आसक्ति नहीं होती। श्रमण की आहार के प्रति किस तरह से अनासक्ति होनी चाहिए, कथा के माध्यम से इतना सजीव चित्रण किया गया है। श्रेष्ठी ने जो भोजन तस्कर को प्रदान किया था उसे अपना परम स्नेही और हितैषी समझकर नहीं किन्तु अपने कार्य की सिद्धि के लिए। वैसे ही श्रमण भी ज्ञान दर्शन चारित्र की उपलब्धि के लिए आहार ग्रहण करता है। पिण्डनिर्युक्ति आदि में श्रमण के आहार ग्रहण करने के सम्बन्ध में गहराई से विश्लेषण किया गया है। उस गुरुतम रहस्य को यहां पर कथा के द्वारा सरल रूप से प्रस्तुत किया है।

---

१२२. भरत ३-१७-४८

१२३. निशीथ चूर्णि

१२४. बृहत्कल्प भाष्य—१, १२३१ की वृत्ति

१२५. 'कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन' पृ. २५३-५८

१२६. A. Master-B. SOAS XIII-2, 1950. PP 41315

तृतीय अध्ययन की कथा का सम्बन्ध चम्पा नगरी से है। चंपा नगरी महावीर युग की एक प्रसिद्ध नगरी थी। स्थानांग[127] में दस राजधानियों का उल्लेख है, और दीघनिकाय में जिन छह महानगरियों का वर्णन है उनमें एक चंपा नगरी भी है। औपपातिक में विस्तार से चंपा का निरूपण है। आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक सूत्र की रचना चंपा में ही की थी। सम्राट् श्रेणिक के निधन के पश्चात् उसके पुत्र कुणिक ने चंपा को अपनी राजधानी बनाया था। चंपा उस युग का प्रसिद्ध व्यापारकेन्द्र था। कनिंघम[128] ने भागलपुर से २४ मील पर पत्थरघाट या उसके आसपास चंपा की अवस्थिति मानी है। फाहियान ने पाटलीपुत्र से अट्ठारह योजन पूर्व दिशा में गंगा के दक्षिण तट पर चंपा की अवस्थिति मानी है। महाभारत[129] में चंपा का प्राचीन नाम मालिनी या मालिन मिलता है। जैन बौद्ध और वैदिक परम्परा के साहित्य के अनेक अध्याय चंपा के साथ जुड़े हुए हैं। विनयपिटक (१, १७९) के अनुसार भिक्षुओं को बुद्ध ने पादुका पहनने की अनुमति यहां पर दी थी। सुमंगलविलासिनी के अनुसार महारानी ने नग्गरापोक्खरिणी नामक विशाल तालाव खुदवाया था जिसके तट पर बुद्ध विशाल समूह के साथ बैठे थे। (दीघ निकाय १, १११) राजा चंप ने इसका नाम चंपा रखा था। वहां के दो श्रेष्ठीपुत्रों में पय-पानीवत् प्रेम था। एक दिन उन्होंने उपवन में मयूरी के दो अण्डे देखे। दोनों ने एक-एक अण्डा उठा लिया। एक ने वार-वार अण्डे को हिलाया जिससे वह निर्जीव हो गया। दूसरे ने पूर्ण निष्ठा के साथ रख दिया तो मयूर का बच्चा निकला और कुशल मयूरपालक के द्वारा उसे नृत्यकला में दक्ष बनाया। एक श्रद्धा के अभाव में मोर को प्राप्त न कर सका, दूसरे ने निष्ठा के कारण मयूर को प्राप्त किया। इस रूपक के माध्यम से यह स्पष्ट किया है—संशयात्मा विनश्यति। और दूसरा श्रद्धा के द्वारा सिद्धि प्राप्त करता है—श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्। श्रमणधर्म व श्रावकधर्म की आराधना व साधना पूर्ण निष्ठा के साथ करनी चाहिए। और जो निष्ठा के साथ साधना करता है वह सफलता के उच्च शिखर को स्पर्श करता है। श्रद्धा के महत्त्व को बताने के लिए यह रूपक बहुत ही सटीक है। इस कथा के वर्णन से यह भी पता लगता है कि उस युग में पशुओं पक्षियों को भी प्रशिक्षण दिया जाता था, पशु-पक्षी गण प्रशिक्षित होकर ऐसी कला प्रदर्शित करते थे कि दर्शक मंत्र-मुग्ध हो जाता था।

चतुर्थ अध्ययन की कथा का प्रारंभ वाराणसी से होता है। वाराणसी प्रागैतिहासिक काल से ही भारत की एक प्रसिद्ध नगरी रही है। जैन, बौद्ध और वैदिक परंपराओं के विकास, अभ्युदय एवं समुत्थान के ऐतिहासिक क्षणों को उसने निहारा है। आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक चिन्तन के साथ ही भौतिक सुख-सुविधाओं का पर्याप्त विकास वहां पर हुआ था। वैदिक परंपरा में वाराणसी को पावन तीर्थ[130] माना। शतपथ ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराणों में वाराणसी से सम्बन्धित अनेक अनुश्रुतियाँ हैं। बौद्ध जातकों में वाराणसी के वस्त्र, और चन्दन का उल्लेख[131] है और उसे कपिलवस्तु, बुद्धगया के समान पवित्र स्थान माना है। बुद्ध का और उनकी परंपरा के श्रमणों का वाराणसी से बहुत ही मधुर सम्बंध रहा। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग वहां बिताया[132]। व्याख्याप्रज्ञप्ति में साढ़े पच्चीस आर्य देशों एवं सोलह महाजनपदों में काशी का उल्लेख

---

१२७. स्थानांग १०-७१७

१२८. The Ancient Geography of India. Pages 546-547.

१२९. महाभारत XII, ५६-७, (ख) मत्स्य पुराण ४८, ९७ (ग) वायुपुराण ९९, १०५-६, (घ) हरिवंश पुराण ३२, ४९

१३०. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ४६८

१३१. संपूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रंथ—"काशी की प्राचीन शिक्षापद्धति और पंडित"

१३२. विनयपिटक भा० २ ३५९-६० (ख) मज्झिम० १, १७० (ग) कथावत्थु ९७, ५५९, (घ) सौन्दरनन्दकाव्या ।।। श्लो० १०-११

है।[133] भारत की दस प्रमुख राजधानियों में एक राजधानी वाराणसी भी थी[134]। यूवान् चू आंग ने वाराणसी को देश और नगर दोनों माना है। उसने वाराणसी देश का विस्तार ४००० ली और नगर का विस्तार लंबाई में १८ ली और चौड़ाई में ६ ली बतलाया है[135]। जातक के अनुसार काशी राज्य का विस्तार ३०० योजन था[136]। वाराणसी काशी जनपद की राजधानी थी। प्रस्तुत नगर वरुणा और असी इन दो नदियों के बीच में अवस्थित था, अतः इसका नाम वाराणसी पड़ा। यह निरुक्त नाम है। भगवान् पार्श्वनाथ आदि का जन्म भी इसी नगर में हुआ था।

वाराणसी के बाहर मृत-गंगातीरनामक एक द्रह (ह्रद) था जिसमें रंग बिरंगे कमल के फूल महकते थे। विविध प्रकार की मछलियाँ और कूर्म तथा अन्य जलचर प्राणी थे। दो कूर्मों ने द्रह से बाहर निकलकर अपने अंगोपांग फैला दिये। उसी समय दो शृगाल आहार की अन्वेषणा करते हुए वहाँ पहुँचे। कूर्मों ने शृगालों की पद-ध्वनि सुनी, तो उन्होंने अपने शरीर को समेट लिया। शृगालों ने बहुत प्रयास किया पर वे कूर्मों का कुछ भी न कर सके। लम्बे समय तक प्रतीक्षा करने के बाद एक कूर्म ने अपने अंगोपांगों को फैला दिया जिससे उसे शृगालों ने चीर दिया। जो सिकुड़ा रहा उसका बाल भी बांका न हुआ। उसी तरह जो साधक अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में रखता है उसको किंचित् भी क्षति नहीं होती। सूत्रकृतांग[137] में भी बहुत ही संक्षेप में कूर्म के रूपक को साधक के जीवन के साथ सम्बन्धित किया है।

श्रीमद् भगवद्गीता[138] में भी 'स्थितप्रज्ञ' के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कछुए का दृष्टान्त देते हुए कहा जैसे—वह अपने अंगों को, बाह्य भय उपस्थित होने पर, समेट लेता है वैसे ही साधकों को विषयों से इन्द्रियों को हटा लेना चाहिए। तथागत बुद्ध ने भी साधक जीवन के लिए कूर्म का रूपक प्रयुक्त किया है।

इस तरह कूर्म का रूपक जैन बौद्ध और वैदिक आदि सभी धर्मग्रन्थों में इन्द्रियनिग्रह के लिए दिया गया है। पर यहां कथा के माध्यम से देने के कारण अत्यधिक प्रभावशाली बन गया है।

पांचवें अध्ययन का सम्बन्ध विश्वविश्रुत द्वारका नगरी से है। श्रमण और वैदिक दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में द्वारका की विस्तार से चर्चा है। वह पूर्व पश्चिम में १२ योजन लम्बी और उत्तर दक्षिण में नौ योजन विस्तीर्ण थी। कुबेर द्वारा निर्मित सोने के प्रकार वाली थी, जिस पर पांच वर्णवाली मणियों के कंगूरे थे। बड़ी दर्शनीय थी। उसके उत्तर-पूर्व में रैवतकनामक पर्वत था। उस पर नंदवननामक उद्यान था। कृष्ण वहां के सम्राट थे।[139]

---

१३३. व्याख्या प्रज्ञप्ति १५, पृ० ३८७

१३४. —(क) स्थानांग १०   (ख) निशीथ ९-१९   (ग) दीघनिकाय-महावीरपरिनिव्वाण सुत्त

१३५. यूआन, चुआंग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, भा० २, पृ० ४६-४८

१३६. धजविहेट्ठ जातक-जातक भाग ३ पृ० ४५४

१३७. जहा कुम्मेसअंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे।
—सूत्रकृतांग

१३८. यदा संहरते चायं कूर्मोंगानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।
—श्रीमद्भगवद्गीता २-५८

१३९. ज्ञातासूत्र १-५

बृहत्कल्प[१४०] के अनुसार द्वारका के चारों ओर पत्थर का प्राकार था। त्रिषष्ठिशलाका पुरुष[१४१] चरित्र में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि द्वारका १२ योजन आयामवाली और नौ योजन विस्तृत थी। वह रत्नमयी थी। उसके सन्निकट अट्ठारह हाथ ऊँचा नौ हाथ भूमिगत और बाहर हाथ चौड़ा सभी ओर खाई से घिरा हुआ एक सुन्दर किला था। बड़े सुन्दर प्रासाद थे। राम कृष्ण के प्रासाद के पास प्रभासानामक सभा थी। उसके समीप पूर्व में रैवतक गिरि, दक्षिण में माल्यवान शैल, पश्चिम में सौमनस पर्वत और उत्तर में गन्धमादन गिरि थे। आचार्य हेमचन्द्र[१४२] आचार्य शीलांक[१४३] देवप्रभसूरि[१४४] आचार्य जिनसेन[१४५] आचार्य गुणभद्र[१४६] प्रभृति श्वेतांबर व दिगम्बर परम्परा के ग्रंथकारों ने और वैदिक हरिवंश पुराण,[१४७] विष्णुपुराण[१४८] और श्रीमद् भागवत[१४९] आदि में द्वारका को समुद्र के किनारे माना है। महाभारत में श्रीकृष्ण ने द्वारकागमन के सम्बन्ध में युधिष्ठिर से कहा—मथुरा को छोड़कर हम कुशस्थलीनामक नगरी में आये जो रैवतक पर्वत से उपशोभित थी। वहां दुर्गम दुर्ग का निर्माण किया। अधिक द्वारोंवाली होने से द्वारवती कहलाई।[१५३] महाभारत जनपर्व की टीका[१५०] में नीलकंठ ने कुशावर्त का अर्थ द्वारका किया है।

प्रभुदयाल मित्तल[१५२] ने लिखा है—शूरसेन जनपद से यादवों के आजाने के कारण द्वारका के उस छोटे से राज्य की अत्यधिक उन्नति हुई। वहां पर दुर्भेद्य दुर्ग और विशाल नगर का निर्माण कराया गया और अंधक वृष्णि संघ के एक शक्तिशाली यादव राज्य के रूप में संगठित किया गया। भारत के समुद्र तट का वह सुदृढ़ राज्य विदेशी अनार्यों के आक्रमण के लिए देश का एक सजग प्रहरी बन गया। गुजराती में 'द्वार' का अर्थ बन्दरगाह है। द्वारका या द्वारावती का अर्थ बन्दरगाहों की नगरी है। उन बन्दरगाहों से यादवों ने समुद्रयात्रा कर विराट् सम्पत्ति अर्जित की थी। हरिवंश पुराण[१५३] में लिखा है—द्वारका में निर्धन, भाग्यहीन, निर्बल तन और मलिन मन का कोई भी व्यक्ति नहीं था। वायुपुराण आदि के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि महाराजा रेवत ने समुद्र के मध्य कुशस्थली नगरी बसाई थी। वह आनर्त्त जनपद में थी। वह कुशस्थली श्रीकृष्ण के समय द्वारका या द्वारवती के नाम से पहचानी जाने लगी। घटजातक[१५४] का अभिमत है कि द्वारका के एक ओर विराट् समुद्र अठखेलियां कर रहा था तो दूसरी ओर गगनचुंबी पर्वत था। डा. मलशेखर का भी यही मन्तव्य है कि

---

१४०. बृहत्कल्प भाग २, पृ २५१
१४१. त्रिषष्टि शलाका. पर्व ८. सर्ग ५, पृ. ९२
१४२, त्रिषष्ठि. पर्व ८, सर्ग ५, पृ. ९२
१४३. चउप्पन महापुरिसचरियं पृ.
१४४. पाण्डवचरित्र देवप्रभसूरि रचित
१४५. हरिवंश पुराण ४१/१९१९
१४६. उत्तरपुराण ७१/२०-२३, पृ. ३७६
१४७. हरिवंशपुराण २/५४
१४८. विष्णुपुराण ५/२३/१३
१४९. श्रीमद्भागवत १० अ. ५०/५०
१५०. महाभारत सभापर्व अ. १४
१५१. (क) महाभारत जनपर्व अ. १६० श्लो० ५०/ (ख) अतीत का अनावरण पृ. १६३
१५२. द्वितीय खंड ब्रज का इतिहास पृ. ४७
१५३. हरिवंशपुराण २/५८/६५
१५४. जातक (चतुर्थ खंड) पृ. २८४

पेतवत्थु[१५५] ने द्वारका को कंबोज का एक नगर माना है। डा. मलशेखर[१५६] ने प्रस्तुत कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि संभव है यह कंबोज ही कंसभोज हो जो कि अंधक वृष्णि के दस पुत्रों का देश था। डा. मोतीचन्द[१५७] कंबोज को पामीर प्रदेश मानते हैं और द्वारका को वदरवंशा के उत्तर में अवस्थित दरवाजनगर कहते हैं। रायस डेविड्स[१५८] ने कंबोज को द्वारका की राजधानी लिखा है। उपाध्याय भरतसिंह[१५९] ने लिखा है द्वारका सौराष्ट्र का एक नगर था, संप्रति द्वारका कस्बे से आगे २० मील की दूरी पर कच्छ की खाड़ी में एक छोटा सा टापू है। वहां एक दूसरी द्वारका है जो बेट द्वारका कही जाती है। वांबे गेजेटियर[१६०] में कितने ही विद्वानों ने द्वारिका की अवस्थिति पंजाब में मानने की संभावना की है। डा. अनन्त सहाशिव अल्तेकर[१६१] ने लिखा है—प्राचीन द्वारका समुद्र में डूब गई, अतः द्वारका की अवस्थिति का निर्णय करना कठिन है।

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि द्वारका एक विशिष्ट नगरी थी। वह लंका के सदृश ही स्वर्णपुरी थी। सम्राट् श्रीकृष्ण तीन खण्ड के अधिपति थे। उनकी वह राजधानी थी। थावच्चानामक सेठानी महान् प्रतिभा-सम्पन्न नारी थी। आधुनिक युग में जिस तरह से नारी नेतृत्व करने के लिए उत्सुक रहती है, वह सर्वतंत्र स्वतंत्र होकर संचालन करना पसन्द करती है, वैसे ही थावच्चा घर की मालकिन थी। वह संपूर्ण घर की देखरेख करती थी। उसी के नाम का अनुसरण उसके पुत्र के लिए किया गया। भगवान् अरिष्टनेमि के पावन प्रवचन को श्रवण कर थावच्चा कुमार के अन्तर्मानस में वैराग्य का पयोधि उछालें मारने लगा। उसने अपनी बत्तीस पत्नियों का परित्याग कर संयमसाधना के कठोर महामार्ग पर बढ़ना चाहा। माता के अनेक प्रकार से समझाने और अनुनय करने पर भी अन्त में पुत्र के वैराग्य की विजय हुई। थावच्चा दीक्षोत्सव मनाने के लिए स्वयं सम्राट् कृष्ण के पास पहुँचती है और दीक्षोत्सव के लिए छत्र चामर मांगती है। श्रीकृष्ण ने स्वयं जाकर कुमार की परीक्षा ली। थावच्चा कुमार ने कहा—नाथ, मेरे दो शत्रु हैं। आप यदि उन शत्रुओं से मेरी रक्षा कर सकें तो मैं संयम स्वीकार नहीं करूंगा।

श्रीकृष्ण ने पूछा—वे शत्रु कौन हैं जो तुम्हें परेशान कर रहे हैं? उसने कहा—एक वृद्धावस्था है जो निरन्तर निकट आ रही है और दूसरी मृत्यु है। श्रीकृष्ण ने कहा इन शत्रुओं को पराजित करने का सामर्थ्य मुझमें भी नहीं है। कुमार परीक्षा में खरा उतरा। श्रीकृष्ण ने द्वारका में उद्घोषणा करवाई कि जो कोई भी संयमसाधना के पथ पर बढ़ना चाहे उसके परिवार का भरण पोषण मैं करूंगा। इस उद्घोषणा से एक हजार व्यक्ति थावच्चा कुमार के साथ प्रव्रज्या लेने के लिए प्रस्तुत हुए। श्रीकृष्ण ने अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाया।

प्रस्तुत कथानक में ऐतिहतिक पुरुष श्रीकृष्ण वासुदेव के अन्तर्मानस में अर्हत् धर्म के प्रति कितनी गहरी निष्ठा थी यह स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। एक महिला भी उनके पास सहर्ष पहुँच सकती थी। और अपने हृदय की बात उनसे कह सकती थी। वे प्रत्येक प्रजा की बात को शांति से श्रवण करते और समस्याओं का समाधान करते। इसी अध्याय में अनेक दार्शनिक गुत्थियों को भी सुलझाया गया है। शौचधर्म की मान्यताओं का दिग्दर्शन करते हुए जैनधर्मसम्मत शौचधर्म का प्रतिपादन किया है। जैन दर्शन ने द्रव्य शौच के स्थान पर भाव शौच को महत्व दिया

१५५. पेतवत्थु भाग २, पृ. ९

१५६. The Dictionary of Pali proper Names. भाग १. पृ. ११२६

१५७. Geographical & Economic Studies in Mahabharatha. पृ. ३२-४०

१५८. Buddist India P. 28

१५९. वौद्धकालीन भारतीय भूगोल पृ. ४८७

१६०. वांबे गेजेटियर भा. १. पार्ट. १. पृ. ११ का टिप्पण।

१६१. इण्डियन एण्टिक्वेरी, सन् १९२५, सप्लिमेंट पृ. २५

है। यात्रा, यज्ञ, अव्यावाध, के संबंध में जैन दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। शब्दजाल में उलझाने के लिए ऐसे प्रश्न समुपस्थित किये गये जिसमें सामान्य व्यक्ति उलझ सकता है। किन्तु थावच्चा मुनि ने उन शब्दों का सही अर्थ कर पोथी पंडितों की वाणी मूक बना दी, धर्म का मूल विनय बताया।

इस अध्याय में शैलक राजर्षि का भी वर्णन है, जो उग्र साधना करते हैं। उत्कृष्ट तप:साधना से उनका शरीर व्याधि से ग्रसित हो गया। उनका पुत्र राजा मण्डूक राजर्षि के उपचार के लिए प्रार्थना करता है और संपूर्ण उपचार की व्यवस्था करने से वे पूर्ण रूप से रोगमुक्त भी हो जाते हैं। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि रोग परीषह है, उत्सर्ग मार्ग में श्रमण औषध ग्रहण नहीं करता,पर अपवाद मार्ग में वह औषध का उपयोग भी करता है। गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह श्रमण-श्रमणियों की ऐसे प्रसंग पर सेवा का सुनहरा लाभ ले। जो गृहस्थ उस महान् लाभ से वंचित रहता है वह बहुत बड़ी सेवा की निधि से वंचित रहता है।

जब शैलक राजर्षि साधना की दृष्टि से शिथिल हो जाते हैं तब उनके अन्य शिष्यगण अन्यत्र विहार कर जाते हैं किन्तु पंथक मुनि अपनी अपूर्व सेवा से एक आदर्श शिष्य का उत्तरदायित्व निभाते हैं। शिष्य के द्वारा चरणस्पर्श करते ही गुरु की प्रसुप्त आत्मा जग जाती है। बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण है और वह अत्यन्त प्रेरणादायी भी है।

छठे अध्ययन का संबंध राजगृह नगर से है। इस अध्ययन में कर्मवाद जैसे गुरु गंभीर विषय को रूपक के द्वारा स्पष्ट किया है। गणधर गौतम की जिज्ञासा के समाधान में भगवान् ने तूंबे के उदाहरण से इस बात पर प्रकाश डाला कि मिट्टी के लेप से भारी बना हुआ तुंबा जल में मग्न हो जाता है और लेप हटने से वह पुनः तैरने लगता है। वैसे ही कर्मों के लेप से आत्मा भारी बनकर संसार-सागर में डूबता है और उस लेप से मुक्त होकर ऊर्ध्वगति करता है।

सातवें अध्ययन में धन्ना सार्थवाह की चार पुत्रवधुओं का उदाहरण है। श्रेष्ठी अपनी चार पुत्रवधुओं की परीक्षा के लिए पाँच पाँच शालि के दाने उन्हें देता है। प्रथम पुत्रवधू ने फेंक दिये। दूसरी ने प्रसाद समझकर खा लिये। तीसरी ने उन्हें संभालकर रखा और चौथी ने खेती करवा कर उन्हें खूब बढ़ाया। श्रेष्ठी ने चतुर्थ रोहिणी को गृहस्वामिनी बनाया। वैसे ही गुरु पंच दाने रूप महाव्रत-शाली के दाने शिष्यों को प्रदान करता है। कोई उसे नष्ट कर डालता है, दूसरा उसे खान-पान का साधन बना लेता है। कोई उसे सुरक्षित रखता है और कोई उसे उत्कृष्ट साधना कर अत्यधिक विकसित करता है।

प्रो. टाइमन ने अपनी जर्मन पुस्तक-"बुद्ध और महावीर" में बाइबिल की मैथ्यू और लूक की कथा के साथ प्रस्तुत कथा की तुलना की है। वहाँ पर शालि के दानों के स्थान पर 'टेलेण्ट' शब्द आया है। टेलेण्ट उस युग में प्रचलित एक सिक्का था। एक व्यक्ति विदेश जाते समय अपने दो पुत्रों को दस-दस टेलेण्ट दे गया था। एक ने व्यापार द्वारा उसकी अत्यधिक वृद्धि की। दूसरे ने उन्हें जमीन में रख लिए। लौटने पर पिता प्रथम पुत्र पर बहुत प्रसन्न हुआ।

आठवें अध्ययन में तीर्थंकर मल्ली भगवती का वर्णन है जिन्होंने पूर्व भव में माया का सेवन किया। माया के कारण उनका आध्यात्मिक उत्कर्ष जो साधना के द्वारा हुआ था, उसमें बाधा उपस्थित हो गई। तीर्थंकर सभी पुरुष होते हैं, पर मल्ली भगवती स्त्री हुई। इसे जैन साहित्य में एक आश्चर्य जनक घटना माना है। मल्ली भगवती ने अपने पर मुग्ध होने वाले छहों राजाओं को, शरीर की अशुचिता दिखा कर प्रतिबुद्ध किया। उन्हीं के साथ दीक्षा ग्रहण की। केवल ज्ञान प्राप्त किया। तीर्थ स्थापना कर तीर्थंकर बनीं।

मल्ली भगवती का जन्म मिथिला में हुआ था। मिथिला उस युग की एक सुप्रसिद्ध नगरी थी। जातक[162] की दृष्टि से मिथिला राज्य का विस्तार ३०० योजन था। उसमें १६ सहस्र गाँव थे। सुरुचि जातक से भी मिथिला के विस्तार का पता चलता है। वाराणसी के राजा ने यह निश्चय किया था कि वह अपनी पुत्री का विवाह उसी राजकुमार के साथ करेगा जो एक पत्नीव्रत का पालन करेगा। मिथिला के राजकुमार सुरुचि के साथ विवाह की चर्चा चल रही थी। एक पत्नीव्रत की बात को श्रवण कर वहाँ के मंत्रियों ने कहा-मिथिला का विस्तार ७ योजन है और समुच्चय राष्ट्र का विस्तार ३०० योजन है। हमारा राज्य बड़ा है, अतः राजा के अन्तःपुर में १६०० रानियाँ होनी[163] चाहिए। रामायण में मिथिला को जनकपुरी कहा है। विविध तीर्थ कल्प[164] में इस देश को तिरहुत्ति कहा है। और मिथिला को जगती[165] कहा है। महाभारत वनपर्व (२५४) महावस्तु (पृ. १७२) दिव्यावदान (पृ. ४२४) और रामायण आदिकाण्ड के अनुसार तीरभुक्ति नाम है। यह नेपाल की सीमा पर स्थित है, वर्तमान में यह जनकपुर के नाम से प्रसिद्ध है, इसके उत्तर में मुजफ्फरपुर और दरभंगा के जिले हैं, (लाहा, ज्याग्रेफी आव अर्ली बुद्धिज्म पृ. ३१, कनिंघम ऐश्येंट ज्याग्रेफी ऑव इण्डिया, एस. एस. मजुमदार संस्करण पृ. ७१) इसके पास ही महाराजा जनक के भ्राता कनक थे। उनके नाम से कनकपुर बसा हुआ है। मिथिला से ही जैन श्रमणों की शाखा मैथिलिया[166] निकली है। यहां पर भगवान महावीर ने छह वर्षावास[167] संपन्न किये थे। आठवें गणधर अकंपित की भी यह जन्मस्थली है[168] यहीं पर प्रत्येक बुद्ध नमी को कंकण की ध्वनि को श्रवण कर वैराग्य उत्पन्न हुआ था।[169]

इन्द्र ने नमि राजर्षि को कहा—मिथिला जल रही है और आप साधना की ओर अपने मुस्तैदी कदम उठा रहे हैं, तब नमि ने इन्द्र से कहा—इन्द्र 'महिलाए डज्झमाणीए' ण मे डज्झइ किंचणं' (उत्तरा. ९/१४) उत्तराध्ययन की भांति महाभारत में भी जनक के सम्बन्ध में एक कथा आती है। प्रबल अग्निदाह के कारण भस्मीभूत होते हुए मिथिला को देखकर अनासक्ति से जनक ने कहा—इस जलती हुई नगरी में मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है 'मिथिलायाम् प्रदीप्तायाम् न मे दह्यति किञ्चन।' (महाभारत १२,१७, १८-१९) महाजनक जातक में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। 'मिथिलायाम् दह्यमानाय न मे किञ्चि अदह्यथ (जातक ६, ५४-५५) भगवान् महावीर और बुद्ध के समय मिथिला में गणराज्य था।

चतुर्थ निह्नव ने सामुच्छेदिक वाद का यहां से प्रवर्तन किया था।[170] दशपूर्वधारी आर्य महागिरि का यह मुख्य रूप से विहारस्थल था[171] वाणगंगा और गंडक ये दो नदियां प्रस्तुत नगर को घेरकर बहती हैं।[172] मिथिला एक समृद्ध राष्ट्र था। जिनप्रभ सूरि के समय वहां पर प्रत्येक घर कदलीवन से शोभित था। खीर वहां का प्रिय भोजन था। स्थान-स्थान पर वापी, कूप और तालाब थे। वहां की जनता धर्मनिष्ठ और धर्मशास्त्र-

१६२ जातक (सं ४०६) भाग ४, पृ. २७
१६३ जातक (सं ४८८) भाग ४ पृ. ४, ५२१-२२
१६४ संपइकाले तिरहुत्ति देसोत्ति भण्णई—विविध तीर्थकल्प, पृ. ३२
१६५ वही. पृ. ३२
१६६ वही. पृ. ३२
१६७ कल्पसूत्र २१३, पृ. २९८
१६८ आवश्यकनिर्युक्ति गा. ६४४
१६९ उत्तराध्ययन सुखबोधा, पत्र १३६-१४३
१७० आवश्यकभाष्य गा. १३१
१७१ आवशकनिर्युक्ति गा. ७८२
१७२. विविध तीर्थकल्प पृ० ३२

जाता थी।[133] जातक के अनुसार मिथिला के चार प्रवेशद्वारों में प्रत्येक स्थान पर बाजार थे। (जातक VI पृ. ३३०) नगर वास्तुकला की दृष्टि से अत्यन्त कलात्मक था। वहां के निवासी बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। (जातक ४६ महाभारत २०६) रामायण के अनुसार वह एक मनोरम व स्वच्छ नगर था। सुन्दर सड़कें थीं। व्यापार का बड़ा केन्द्र था। (परमत्थदीपकी आन द थेरगाथा सिंहली संस्करण III २७७-८) वह नगर विज्ञों का केन्द्र था। (आश्वलायन श्रौतसूत्र X ३, १४) अनेक तार्किक यहां पर हुए हैं जिन्होंने तर्कशास्त्र को नई दिशा दी। महान् तार्किक गणेश मण्डनमिश्र और वैष्णव कवि विद्यापति भी यहीं के थे। विदेह राज्य की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पश्चिम में गंडकी और पूर्व में मही नदी तक थी। वर्तमान में नेपाल की सीमा के अन्तर्गत यहां पर मुजफ्फरपुर और दरभंगा के जिले हैं। वहां छोटे नगर जनकपुर को प्राचीन मिथिला कहते हैं। कितने ही विद्वान् सीतामढ़ी के सन्निकट 'मुहिला'[134] नामक स्थान को प्राचीन मिथिला का अपभ्रंश मानते हैं। जैन आगमों में दस राजधानियों में मिथिला भी एक है।[135]

प्रस्तुत अध्ययन में उत्कृष्ट चित्रकला का भी रूप देखने को मिलता है। कलाकार इतने निष्णात होते थे कि किसी व्यक्ति के एक अंग को देखकर ही उसका हूबहू चित्र उट्टंकित कर देते थे। राजा-महाराजा और श्रेष्ठीगणों को चित्रकला अधिक प्रिय थी जिसके कारण विविध प्रकार की चित्रशालाएँ बनाई जाती थीं। प्रस्तुत अध्ययन में कुछ अवान्तर कथाएं भी आई हैं। जब परिव्राजिका चोक्खा राजा जितशत्रु के पास जाती है, जितशत्रु परिव्राजिका से कहता है कि क्या आपने मेरे जैसे अंतःपुर को कहीं निहारा है? परिव्राजिका ने मुस्कराते हुए कहा—तुम कूप मंडूक जैसे हो। और फिर कूपमंडूक की मनोरंजक कथा मूल पाठ में दी गई है।

प्रस्तुत अध्ययन में अर्हन्नक श्रावक की सुदृढ़ धर्मनिष्ठा का उल्लेख है। उस युग में समुद्रयात्रा की जाती थी। व्यापारीगण विविध प्रकार की सामग्री लेकर एक देश से दूसरे देश में पहुंचते थे। इसमें छह राजाओं का परिचय भी दिया गया है। मल्ली भगवती के युग में राज्यव्यवस्था किस प्रकार थी, इसकी भी स्पष्ट जानकारी मिलती है।

नौवें अध्ययन में माकन्दीपुत्र जिनपालित और जिनरक्षित का वर्णन है। उन्होंने अनेक बार समुद्रयात्रा की थी। जब मन में आता तब वे यात्रा के लिए चल पड़ते। बारहवीं बार माता-पिता नहीं चाहते थे कि वे विदेश यात्रा के लिए जांय, पर वे आज्ञा की अवहेलना कर चल दिये। किन्तु भयंकर तूफान से उनकी नौका टूट गई और और वे रत्नद्वीप में रत्नदेवी के चुंगल में फंस गये। शैलक यक्ष ने उनका उद्धार करना चाहा। जिनरक्षित ने वासना से चलचित्त होकर अपने प्राण गंवा दिये और जिनपालित विचलित न होने से सुरक्षित स्थान पर पहुँच गया। इसी प्रकार जो साधक अपनी साधना से विचलित नहीं होता है वही लक्ष्य को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत कथानक से मिलता जुलता कथानक बौद्ध साहित्य के वलाहस्स जातक में है और दिव्यावदान में भी मिलता है। तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि कथानकों में परम्परा के भेद से कुछ अन्तर अवश्य आता है पर कथानक के मूल तत्त्व प्रायः काफी मिलते जुलते हैं। प्रस्तुत कथानक से यह भी पता चलता है कि समुद्रयात्रा सरल और सुगम नहीं थी। अनेक आपत्तियां उस यात्रा में रहीं हुई थीं। उन आपत्तियों से बचने के लिए वे लोग स्तुतिपाठ और मंगलपाठ भी करते थे। विदेशयात्रा के लिए राजा की आज्ञा भी आवश्यक थी। इष्ट स्थान पर पहुँचने पर वे उपहार लेकर वहां के राजा के पास पहुंचते और राजा उनके कर को माफ कर देता था। आर्थिक व्यवस्था में विनिमय का महत्त्वपूर्ण हाथ है। इसलिए व्यापारी व्यापार के विकास हेतु समुद्रयात्रा करते थे।

---

१३३. वहीं० पृ० ३२

१३४. The Ancient Geography of India, पृ० ७१८

१३५. स्थानांग १०/११३

शकुन :

प्रस्तुत अध्ययन में जब जिनपालित और जिनरक्षित समुद्रयात्रा के लिए प्रस्थित होते हैं तब वे शकुन देखते हैं। शकुन का अर्थ 'सूचित करनेवाला' है। जो भविष्य में शुभाशुभ होनेवाला है उसका पूर्वाभास शकुन के द्वारा होता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी प्रत्येक घटनाओं का कुछ न कुछ पूर्वाभास होता है। शकुन कोई अन्धविश्वास या रूढ परम्परा नहीं है। यह एक तथ्य है। अतीत काल में स्वप्नविद्या अत्यधिक विकसित थी।

शकुनदर्शन की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से चलती आरही है। कथा-साहित्य का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि जन्म, विवाह, वहिर्गमन, गृहप्रवेश और अन्यान्य मांगलिक प्रसंगों के अवसर पर शकुन देखने का प्रचलन था। गृहस्थ तो शकुन देखते ही थे, श्रमण भी शकुन देखते थे। सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि गृहस्थों की तो अनेक कामनाएँ होती हैं और उन कामनाओं की पूर्ति के लिए वह शकुन देखें यह उचित माना जा सकता है, पर श्रमण शकुन देखें, यह कहाँ तक उचित है ? उत्तर में निवेदन है कि श्रमण के शकुन देखने का केवल इतना ही उद्देश्य रहा है कि मुझे ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप की विशेष उपलब्धि होगी या नहीं ? मैं जिस गृहस्थ को प्रतिबोध देने जा रहा हूँ—उसमें मुझे सफलता मिलेगी या नहीं ? शकुन को देखकर कार्य की सफलता का सहज परिज्ञान हो जाता है और अपशकुन को देखकर उसमें आनेवाली बाधाएँ भी ज्ञात हो जाती हैं। इसलिए श्रमण के शकुन देखने का उल्लेख आया है। वह स्वयं के लिए उसका उपयोग करे पर गृहस्थों को न बतावे। विशेष जिज्ञासु बृहत्कल्प भाष्य,* निशीथ भाष्य**, आवश्यक चूर्णि*** आदि में श्रमणों के शकुन देखने के प्रसंग देख सकते हैं।

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार एक वस्तु शुभ मानी जाती है और वही वस्तु दूसरी परिस्थितियों में अशुभ भी मानी जाती है। एतदर्थ शकुन विवेचन करनेवाले ग्रंथों में मान्यता-भेद भी दृग्गोचर होता है।

जैन और जैनेतर साहित्य में शकुन के संबंध में विस्तार से विवेचन है, पर हम यहाँ उतने विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही प्राचीन ग्रंथों के आलोक में शुभ और अशुभ शकुन का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं। बाहर जाते समय यदि निम्न शकुन होते हैं तो अशुभ माना जाता है—

(१) पथ में मिलनेवाला पथिक अत्यन्त गंदे वस्त्र धारण किये हो।[१७६]
(२) सामने मिलनेवाले व्यक्ति के सिर पर काष्ठ का भार हो।
(३) मार्ग में मिलनेवाले व्यक्ति के शरीर पर तेल मला हुआ हो।
(४) पथ में मिलनेवाला पथिक वामन या कुब्ज हो।
(५) मार्ग में मिलनेवाली महिला वृद्धा कुमारी हो।

शुभ शकुन इस प्रकार हैं—

(१) घोड़ों का हिनहिनाना (२) छत्र किये हुए मयूर का केकारव[१७७]
(३) बाईं ओर यदि काक पंख फड़फड़ाता हुआ शब्द करे।

---

* (ख) बृहत्कल्प—१.१९२१-२४; १.२८१०-३१
** (ग) निशीथभाष्य—११.७०५४-५५; १९.६०७८-६०९५;
*** (घ) आवश्यकचूर्णि—२ पृ. २१८
१७६. ओघनिर्युक्ति
१७७. (क) पद्मचरित्र ५४, ५७, ६९, ७०, ७२, ८१, ७३

(४) दाहिनी ओर चिंघाड़ते हुए हाथी का शब्द करना और पृथ्वी को प्रताडना।
(५) सूर्य के सम्मुख बैठे हुए कौए द्वारा बहुत तीक्ष्ण शब्द करना।
(६) दाहिनी ओर कौए का पंखों को ढीला कर व्याकुल रूप में बैठना।
(७) रीछ द्वारा भयंकर शब्द।
(८) गीध का पंख फड़फड़ाना।
(९) गर्दभ द्वारा दाहिनी ओर मुड़कर रेंकना।
(१०) सुगंधित हवा का मंद-मंद रूप से प्रवाहित होना।[१७८]
(११) निर्धूम अग्नि की ज्वाला दक्षिणावर्त प्रज्वलित होना।
(१२) नन्दीवर, पूर्णकलश, शंख, पटह, छत्र, चामर, ध्वजा-पताका का साक्षात् कार होना।[१७९]

प्रकीर्णक गणिविद्या[१८०] में लिखा है कि शकुन मुहूर्त से भी प्रबल होता है। जंबूक, चास (नीलकंठ) मयूर, भारद्वाज, नकुल यदि दक्षिण दिशा में दिखलाई दें तो सर्वसंपत्ति प्राप्त होती[१८१] है।

दसवें अध्ययन में चन्द्र के उदाहरण से प्रतिपादित किया है कि जैसे कृष्णपक्ष में चन्द्र की चारु चंद्रिका मंद और मंदतर होती जाती है और शुक्लपक्ष में वही चंद्रिका अभिवृद्धि को प्राप्त होती है वैसे ही चन्द्र के सदृश कर्मों की अधिकता से आत्मा की ज्योति मंद होती है और कर्म की ज्यों-ज्यों न्यूनता होती है त्यों-त्यों उसकी ज्योति अधिकाधिक जगमगाने लगती है। रूपक बहुत ही शानदार है। दार्शनिक गहन विचारधारा को रूपक के द्वारा बहुत ही सरल व सुगम रीति से उपस्थित किया है। यह जिज्ञासा भी गणधर गौतम ने राजगृह में प्रस्तुत की थी और भगवान् ने समाधान दिया था।

ग्यारहवें अध्ययन में समुद्र के सन्निकट दावद्रव नामक वृक्ष होते हैं। उन का उदाहरण देकर आराधक और विराधक का निरूपण किया गया है। जिस प्रकार वह वृक्ष अनुकूल और प्रतिकूल पवन को सहन करता है वैसे ही श्रमणों को अनुकूल और प्रतिकूल वचनों को सहन करना चाहिए। जो सहता है वह आराधक बनता है।

बारहवें अध्ययन में कलुषित जल को शुद्ध बनाने की पद्धति पर प्रकाश डाला है। गटर के गंदे पानी को साफ करने की यह पद्धति आधुनिक युग को फिल्टर पद्धति से प्रायः मिलती है। आज से २५०० वर्ष पूर्व भी यह पद्धति ज्ञात थी। संसार का कोई भी पदार्थ एकान्त रूप से न शुभ है और न अशुभ ही है। प्रत्येक पदार्थ शुभ से अशुभ रूप में और अशुभ से शुभ रूप में परिवर्तित हो सकता है। अतः किसी से घृणा नहीं करनी चाहिए।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य है भगवान् ऋषभ देव और महावीर के अतिरिक्त बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया। यह चातुर्याम धर्म श्रमणों के लिए था, किन्तु गृहस्थों के लिए तो पंच अणुव्रत ही थे। वहाँ पर चार अणुव्रत का उल्लेख नहीं है; किन्तु पाँच अणुव्रत का उल्लेख है।[१८२]

इस कथानक का संबंध चंपानगरी से है।

---

१७८. पद्मचरित—७२, ८४, ८५/२, ९१, ९४, ९५, ९६

१७९. बृहत्कल्पलघुभाष्य—८२-८४

१८०. गह दिणा उ मुहुत्ता मुहुत्ता उ सउणावली।
—प्रकीर्णक गणिविद्या श्लो० ८

१८१. ओघनिर्युक्ति भाष्य १०८

१८२. "विचित्त केवलिपन्नत्त चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ, तमाइक्खइ, जहा जीवा बज्झंति जाव पंच अणुव्वयाइं।"

तेरहवें अध्ययन में दर्दुर का उदाहरण है। नंद मणिकार राजगृह का निवासी था। सत्संग के अभाव में व्रत-नियम की साधना करते हुए भी वह चलित हो गया। उसने चार शालाओं के साथ एक वापिका का निर्माण कराया। उसकी वापिका के प्रति अत्यन्त आसक्ति थी। आसक्ति के कारण आर्तध्यान में वह मृत्यु को वरण करता है और उसी वापी में दर्दुर बनता है। कुछ समय के बाद भगवान् महावीर के आगमन की बात सुनकर जाति-स्मरण प्राप्त करके वह वन्दन करने के लिए चला। पर घोड़े की टाप से घायल हो गया। वहीं पर अनशन पूर्वक प्राणों का परित्याग कर वह स्वर्ग का अधिकारी देव बना।

इस अध्ययन में पुष्करिणी-वापिका का सुन्दर वर्णन है। वह वापिका चतुष्कोण थी और उस में विविध प्रकार के कमल खिल रहे थे। उस पुष्करिणी के चारों ओर उपवन भी थे। उन उपवनों में आधुनिक युग के 'पार्क' के सदृश स्थान-स्थान पर विविध प्रकार की कलाकृतियाँ निर्मित की गई थीं। वहाँ पर सैर सपाटे के लिए जो लोग आते थे उनके लिए नाटक दिखाने की भी व्यवस्था की गई थी। चिकित्सालय का भी निर्माण कराया था। जहाँ पर कुशल चिकित्सक नियुक्त थे। उन्हें वेतन भी मिलता था। उस युग में सोलह महारोग प्रचलित थे— (१) श्वास (२) कास-खांसी (३) ज्वर (४) दाह-जलन (५) कुक्षिशूल (६) भंगदर (७) अर्श-बवासीर (८) अजीर्ण (९) नेत्रशूल (१०) मस्तक शूल (११) भोजन विषयक अरुचि (१२) नेत्र वेदना (१३) कर्ण वेदना (१४) कंडू-खाज (१५) दकोदर—जलोदर (१६) कोढ़। आचारांग[१८३] में १६ महारोगों के नाम दूसरे प्रकार से मिलते हैं। विपाक[१८४], निशीथ भाष्य[१८५] आदि में भी १६ प्रकार की व्याधियों के उल्लेख हैं, पर नामों में भिन्नता है। चरकसंहिता[१८६] में आठ महारोगों का वर्णन है।

इस प्रकार इस अध्ययन में सांस्कृतिक दृष्टि से विपुल सामग्री है जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

चौदहवें अध्ययन में तेतलीपुत्र का वर्णन है। मानव जिस समय सुख के सागर पर तैरता हो उस समय उसे धार्मिक साधना करना पसन्द नहीं होता पर जिस समय दुःख की दावाग्नि में झुलस रहा हो, उस समय धर्म-क्रिया करने के लिए भावना उद्‌बुद्ध होती है। जब तेतली प्रधान का जीवन बहुत ही सुखी था। उस समय उसे धर्म-क्रिया करने की भावना ही नहीं जागृत हुई। पर पोट्टिल देव, जो पूर्वभव में पोट्टिला नामक उसकी धर्मपत्नी थी, उसने वचनबद्ध होने से तेतलीपुत्र को समझाने का प्रयास किया, पर जब वह नहीं समझा तो राजा कनकध्वज के अन्तर्मानस के विचार परिवर्तित कर दिये और प्रजा के भी। वह अपमान को सहन न कर सका। फांसी डालकर मरना चाहा, पर मर न सका। गर्दन में बड़ी शिला बांधकर जल में कूद कर, सूखी घास के ढेर में आग लगाकर, मरने का प्रयास किया, पर मर न सका। अन्त में देव ने प्रतिबोध देकर उसे संयममार्ग ग्रहण करने के लिए उत्प्रेरित किया। संयम ग्रहण कर उसने उत्कृष्ट संयम साधना की।

इस अध्ययन में राजा कनकरथ की अत्यन्त निष्ठुरता का वर्णन है। वह स्वयं ही राज्य का उपभोग करना चाहता है। और उसके मानस में यह क्रूर विचार उद्‌बुद्ध होता है कि कहीं मेरे पुत्र मुझसे राज्य छीन न लें। इसलिए वह अपने पुत्रों को विकलांग कर देता था। एक पिता राज्य के लोभ में इतना अमानवीय कृत्य

---

१८३. आचारांग—६-१-१७३

१८४. विपाक—१, पृ० ७

१८५. निशीथ भाष्य—११/३६४६

१८६. वातव्याधिरपस्मारी, कुष्ठी शोफी तथोदरी।
गुल्मी च मधुमेही च, राजयक्ष्मी च यो नरः।
—चरकसंहिता इन्द्रिय स्थान—९

कर सकता हैं—यह इतिहास का एक काला पृष्ठ है। और इस पृष्ठ की एक वार नहीं अनेक वार पुनरावृत्ति होती रही है। कभी पिता के द्वारा तो कभी पुत्र के द्वारा और कभी भाई के द्वारा। वस्तुतः लोभ का दानव जिसके सिर पर सवार हो जाता है वह उचित अनुचित के विवेक से विहीन हो जाता है।

पन्द्रहवें अध्ययन में नंदीफल का उदाहरण है। नंदीफल विषैले फल थे जो देखने में सुन्दर, मधुर और सुवासित, पर उनकी छाया भी वहुत जहरीली थी। धन्ना सार्थवाह ने अपने सभी व्यक्तियों को सूचित किया कि वे नंदीफल से वचें, पर जिन्होंने सूचना की अवहेलना की वे अपने जीवन से हाथ धो वैठे। धन्य सार्थवाह की तरह तीर्थकर हैं। विपय-भोग रूपी नंदीफल हैं जो तीर्थकरों की आज्ञा की अवहेलना कर उन्हें ग्रहण करते हैं, वे जन्म मरण को प्राप्त करते हैं किन्तु मुक्ति को वरण नहीं कर सकते है।

प्रस्तुत अध्ययन में धन्ना सार्थवाह अपने साथ उन सभी व्यक्तियों को ले जाते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति नाजुक थी, जो स्वयं व्यापार आदि हेतु जा नहीं सकते थे। इसमें पारस्परिक सहयोग की भावना प्रमुख है सार्थसमूह में अनेक मतों के माननेवाले परिव्राजक भी थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय विविध प्रकार के परिव्राजक अपने मत का प्रचार करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान भी जाते थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) चरक जो जूथ वन्द घूमते हुए भिक्षा ग्रहण करते थे और खाते हुए चलते थे। व्याख्या प्रज्ञप्ति में[१८७] चरक परिव्राजक धायी हुई भिक्षा ग्रहण करते और लंगोटी लगाते थे। प्रज्ञापना में[१८८] चरक आदि परिव्राजकों को कपिल का पुत्र कहा है। आचारांग चूर्णि में लिखा[१८९] है—सांख्य चरक के भक्त थे। वे परिव्राजक प्रातःकाल उठकर स्कन्द आदि देवताओं के गृह का परिमार्जन करते, देवताओं पर उपलेपन करते और उनके सामने धूप आदि करते थे। वृहदारण्यक उपनिपद[१९०] में भी चरक का उल्लेख मिलता है। पं. वेचरदास जी दोशी ने चरक को त्रिदण्डी, कच्छनीधारी या कौपीनधारी तापस माना है।

(२) चीरिक—पथ में पड़े हुए वस्त्रों को धारण करने वाला या वस्त्रमय उपकरण रखने वाला।

(३) चर्मखंडिक—चमड़े के वस्त्र और उपकरण रखनेवाला।

(४) भिच्छुंड—(भिक्षोंड) केवल भिक्षा से ही जो जीवननिर्वाह करते हैं, किन्तु गोदुग्ध आदि रस ग्रहण नहीं करते। कितने ही स्थलों पर वुद्धानुयायी को भिक्षुण्ड कहा है।

(५) पण्डुरंग—जो शरीर पर भस्म लगाते हैं। निशीथ चूर्णि[१९१] में गोशालक के शिष्यों को पंडुरभिक्खु लिखा है। अनुयोगद्वार चूर्णि[१९२] में पंडुरंग को ससरक्ख भिक्खुओं का पर्यायवाची माना है। शरीर पर श्वेत भस्म लगाने के कारण इन्हें पंडुरंग या पंडरभिक्षु कहा जाता था। उद्योतनसूरि की दृष्टि से गाय के दही, दूध, गोवर, घी आदि को मांस की भांति समझकर नहीं खाना पंडरभिक्षुओं का धर्म था।

१८७. व्याख्याप्रज्ञप्ति १-२-पृ. ४९
१८८. प्रज्ञापना २०. वृ. १२१४
१८९. (क) आचारांग चूर्णि ८-पृ. २६५
(ख) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति भा. १, पृ. ८७
१९०. वृहद्. उप.
१९१. निशीथ चूर्णि १३, ४४२० (ख) २, १०८५
१९२. अनुयोग द्वार चूर्णि. पृ. १२
(I) जर्नल आफ द ओरियण्टल इन्सटीट्यूट पूना २६, नं. २ पृ. १२०
(II) कुवलयमाला २०६/११

(६) गौतम[१९३]—अपने साथ बैल रखने वाले। बैल को इस प्रकार की शिक्षा देते जो विविध तरह की करामात दिखाकर जन जन के मन को प्रसन्न करते। उससे आजीविका चलाने वाले।

(७) गो-व्रती[१९४]—"रघुवंश" में राजा दिलीप का वर्णन है कि जब गाय खाये तो खाना, पानी पिये तो पानी पीना, वह जब नींद ले तब नींद लेना और वह जब चले तब चलना। इस प्रकार व्रत रखने वाले।

(८) गृहि-धर्मी—गृहस्थधर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाला और सतत गृहस्थ धर्म का चिन्तन करने वाला।

(९) धर्मचिन्तक—सतत धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाला।

(१०) अविरुद्ध[१९५]—किसी के प्रति विरोध न रखने वाला।

अंगुत्तरनिकाय में[१९६] भी अविरुद्धकों का उल्लेख है। प्रस्तुत मत के अनुयायी अन्य बाह्य क्रियाओं के स्थान पर, मोक्ष हेतु, विनय को आवश्यक[१९७] मानते हैं। वे देवगण, राजा, साधु, हाथी, घोड़े, गाय-भैंस-बकरी, गीदड, कौआ, बगुले आदि को देखकर उन्हें भी प्रणाम करते थे[१९८]। सूत्रकृतांग की टीका[१९९] में विनयवादी के बत्तीस भेद किये हैं। आगम साहित्य में विनयवादी परिव्राजकों का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। वैश्यायन जिसने गोशालक पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया था[२००] और मौर्यपुत्र तामली भी विनयवादी था। वह जीवनपर्यंत छठ-छठ तप करता था और सूर्याभिमुख होकर आतापना लेता था। काष्ठ का पात्र लेकर भिक्षा के लिए जाता और भिक्षा में केवल चावल ग्रहण करता था। वह जिसे भी देखता उसे प्रणाम करता था। पूरण तापसी भी विननवादी ही था। बौद्ध साहित्य में पूरण कश्यप को महावीर कालीन छह धर्मनायकों में एक माना[२०१] है। पर हमारी दृष्टि से वह पूर्ण काश्यप से पृथक् होना चाहिये। क्योंकि बौद्ध साहित्य का पूर्ण कश्यप अक्रियावादी भी था और वह नग्न था। और उसके अस्सी हजार अनुयायी थे[२०२]।

११. विरुद्ध—परलोक और अन्य सभी मत-मतान्तरों का विरोध करनेवाला। अक्रियावादियों को 'विरुद्ध' कहा है क्योंकि उनका मन्तव्य अन्य मतवादियों से विरुद्ध[२०३] था। इनके चौरासी भेद भी मिलते हैं[२०४]।

---

१९३. आचारांग चूर्णि २-२-पृ. ३४६

१९४. गावीहि समं निग्गमपवेससयणासणाइ पकरेंति।
भुंजंति जहा गावी तिरिक्खवासं विहविन्ता।

—औपपातिक टीका पृ. १६९

१९५. औपपातिक ३८, पृ. १६९

१९६. अंगुत्तरनिकाय, ३, पृ. १७६

१९७. सूत्रकृतांग १-१२-२ और उसकी टीका

१९८. उत्तराध्ययन टीका १८ पृ. २३०

१९९. सूत्रकृतांग टीका-१-१२ पृ. २०९ (अ)

२००. आवश्यक निर्युक्ति ४९४, (ख) आवश्यक चूर्णि पृ. २९८
(ग) भगवती सूत्र शतक, १४ तृतीय खण्ड, पृ. ३७३-७४

२०१. व्याख्याप्रज्ञप्ति ३-१

२०२ वही. ३-२

२०३. दीघनिकाय—सामयफल सुत्र, २

२०४. बौद्ध पर्व (मराठी) प्र. १०, पृ. १२७

अज्ञानवादी मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान को निष्फल मानते थे। बौद्ध ग्रन्थों में 'पकुध कच्चायन' को अक्रियावादी कहा है[२०५]।

(१२) वृद्ध—वृद्धावस्था में संन्यास ग्रहण करने में विश्वास वाले। ऋषभदेव के समय में उत्पन्न होने के कारण ये सभी लिंगियों में आदिलिंगी कहे जाते हैं। इसलिए इन्हें वृद्ध कहा है।

(१३) श्रावक—धर्मशास्त्र श्रवण करने वाला ब्राह्मण। 'श्रावक' शब्द जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में विशेष रूप से प्रचलित रहा है। वह वर्तमान में भी जैन और बौद्ध उपासकों के अर्थ में व्यवहृत होता है। यह वैदिक परम्परा के ब्राह्मणों के लिए कब प्रयुक्त हुआ, यह चिन्तनीय हैं। श्रमण भगवान् महावीर के समय तीन सौ तिरेसठ पाखण्ड-मत प्रचलित थे। उन अन्य तीर्थों में ''वृद्ध' और 'श्रावक' ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[२०८] औपपातिक में विशिष्ट साधना में लगे हुए अन्य तीर्थिकों का वर्णन करते हुए लिखा है कि कितने ही साधक दो पदार्थ खाकर, कितने ३-४-५ पदार्थ खाकर जीवन निर्वाह करते थे। उनमें वृद्ध और श्रावक का भी उल्लेख[२०९] है। अंगुत्तरनिकाय[२१०] में भी वृद्ध, श्रावक का वर्णन है। उस वर्णन से भी यह परिज्ञात होता है कि वृद्ध श्रावक के प्रति जो उद्‌गार व्यक्त किये गये हैं वह चिन्तन करने के लिए उत्प्रेरित करते हैं। जो हिंसा करने वाला, चोरी, अब्रह्म का सेवन करने वाला, असत्य प्रलापी, सुरा, मेरय प्रभृति मादक वस्तुएँ ग्रहण करने वाला होता है उस निगण्ठ वृद्ध श्रावक—देवधम्मिक में ये पांच बातें होती है। वह इसी प्रकार होता है जैसे नरक में डाल दिया गया हो! चरक, शाक्य, आदि के साथ वृद्ध श्रावक का उल्लेख है जिससे यह ज्ञात होता है कि उस समय का कोई विशिष्ट सम्प्रदाय होना चाहिए। पर प्रश्न यह है वृद्ध श्रावक यह श्रमण संस्कृति का उपजीवी है या ब्राह्मण संस्कृति का? प्राचीन ग्रन्थों में केवल नाम का उल्लेख हुआ है, पर उस सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। जैन साहित्य के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि वृद्ध श्रावक का उत्स जैन परम्परा में है। बाद में चलकर वह ब्राह्मण परम्परा में अंतर्निहित हो गया। वृद्ध श्रावक का अर्थ दो तरह से चिन्तन करते हैं—पहले में वृद्ध और श्रावक इस तरह पदच्छेद कर वृद्ध और श्रावक दोनों को पृथक्-पृथक् माना है। दूसरे में वृद्ध श्रावक को एक ही मानकर एक ही सम्प्रदाय का स्वीकार किया है। औपपातिक[२११] सूत्र की वृत्ति में वृद्ध अर्थात् तापस श्रावक—ब्राह्मण, तापसों को वृद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् ऋषभदेव ने चार सहस्र व्यक्तियों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की थी। किन्तु आहार के अभाव में वे श्रमण धर्म से च्युत होकर तापस बने। भगवान् ऋषभदेव के तीर्थ प्रवर्तन के पूर्व ही तापस परम्परा प्रारम्भ हो गई थी। इसलिए उन्हें वृद्ध कहते हैं। वैदिक परम्परा में आश्रम-व्यवस्था थी। उसमें पचहत्तर वर्ष के पश्चात् संन्यास ग्रहण करते थे। वृद्धावस्था में संन्यास ग्रहण करने के कारण भी वे वृद्ध कहलाते थे।

---

२०५. (क) अनुयोगद्वार सूत्र २० (ख) औपपातिक सूत्र ३७, पृ. ६९
(ग) ज्ञाताधर्मकथा टीका, १५, पृ. १९४

२०६. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. ११९

१०७. हिस्टारिकल कलीनिंग्स, B. C. Laha.

२०८. अण्णतीर्थिकाश्चरक-परिव्राजक-शाक्याजीविक-वृद्धश्रावकप्रभृतयः। निशीथसभाष्य चूर्णि, भाग २, पृ. ११८।

२०९. औपपातिक सूत्र ३।

२१०. अंगुत्तरनिकाय (हिन्दी अनुवाद) भाग २, पृ. ४५२।

२११. वृद्धाः तापसा वृद्धकाल एव दीक्षाभ्युपगमात्, आदिदेवकालोत्पन्नत्वेन च सकललिंगिनामाद्यत्वात्, श्रावका-धर्मशास्त्रश्रवणाद् ब्राह्मणाः अथवा वृद्ध-श्रावका ब्राह्मणाः। औपपातिक सू. ३८ वृत्ति

ब्राह्मणों को श्रावक इसीलिए कहते हैं कि वे पहले श्रावक ही थे। बाद में ब्राह्मण की संज्ञा से सन्निहित हुए। आचारांग[२१२] चूर्णि आदि में लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव जब श्रमण बन गये और भरत का राज्याभिषेक हो गया, श्रावकधर्म की जब उत्पत्ति हुई तो श्रावक बहुत ही ऋजु स्वभाव के धर्मप्रिय थे, किसी को भी हिंसा करते देखते तो उनका हृदय दया से द्रवित हो उठता और उनके मुख से स्वर फूट पड़ते,—इन जीवों को मत मारो, मत मारो, "मा हन" इस उपदेश के आधार से 'माहण' ही बाद में 'ब्राह्मण' हो गये।

सम्भव है पहले श्रमण और श्रावक दोनों के लिए "माहण" शब्द का प्रयोग होता रहा हो।

एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि वृद्ध श्रावक का अर्थ ब्राह्मण क्यों किया जाय? भगवान् महावीर के समय हजारों की संख्या में पार्श्वापत्य श्रावक विद्यमान थे। वे वृद्ध श्रावक कहे जा सकते हैं। पर उत्तर में निवेदन है कि आगमसाहित्य में जहां पर भी 'वुड्ढ सावय' शब्द व्यवहृत हुआ है वहां 'निगण्ठ' शब्द भी आया है। निर्ग्रन्थ-परम्परा दोनों के लिए व्यवहृत होती थी। इसलिए वृद्ध श्रावक पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि वृद्ध श्रावक केवल गृहस्थों के लिए ही नहीं आया है साधु संन्यासी व गृहस्थ दोनों के लिए आया है। जैसे 'शावय' शब्द उस परम्परा के संन्यासी व गृहस्थ दोनों के लिए आता है वैसे ही निर्ग्रन्थ शब्द भी दोनों के लिए आता है, एक के लिए उपासक के साथ में आता है। आगम साहित्य के मंथन से[२१३] यह भी स्पष्ट है कि वृद्ध श्रावक भगवान् महावीर के समय पूर्ण रूप से वैदिक परम्परा की क्रियाओं का पालन करते थे। उनकी कोई भी क्रिया जैन परम्परा की धार्मिक क्रिया से मेल नहीं खाती थी। आज भले ही श्रावक शब्द ब्राह्मण परम्परा में प्रचलित न हो पर अतीत काल में था। भगवान् ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत उन श्रावकों से प्रतिदिन **"जितो भवान् वर्द्धते भीस्तस्मात् माहन माहन"**="आप पराजित हो रहे हैं, भय बढ़ रहा है, अतः आत्मगुणों का हनन न हो। अतः सावधान रहो।" इसे श्रवण कर अन्तर्मुखी होकर चिन्तन के सागर में डुबकी लगाने लगते। निरन्तर ऊर्ध्वमुखी चिन्तन होने से अनासक्ति की भावना निरन्तर बढ़ती रहती। माहन का उच्चारण करने वाले वे महान् माहन थे। सम्राट् भरत चक्रवर्ती ने उन श्रावकों के स्वाध्याय हेतु (१) संसारदर्शन, (२) संस्थानपरामर्शन (३) तत्वबोध (४) विद्याप्रबोध[२१४] इन चार आर्यवेदों का निर्माण किया। वे वेद नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ तक चलते रहे। उसके पश्चात् सुलस और याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषियों के द्वारा अन्य वेदों की रचना की गई। "वृद्ध श्रावक" शब्द ब्राह्मण परम्परा का ही सूचक है। यद्यपि इसका प्रादुर्भाव श्रमण परम्परा में हुआ, किन्तु बाद में चलकर वह वैदिक परम्परा के सम्प्रदायविशेष के लिए व्यवहृत होने लगा। मेरी दृष्टि से वृद्ध और श्रावक ये दो पृथक् न होकर एक ही होना चाहिए।

(१४) **रक्तपट**—लाल वस्त्रधारी परिव्राजक।

इस प्रकार ये शब्द इतिहास और परम्परा के संवाहक हैं। कितने ही शब्द अतीत काल में अत्यन्त गरिमामय रहे हैं और उनका बहुत अधिक प्रचलन भी था, किन्तु समय की अनगिनत परतों के कारण उसकी अर्थ-व्यंजना दूर होती चली गई और वे शब्द आज रहस्यमय बन गये हैं। इसलिए उन शब्दों के अर्थ के अनुसन्धान की आवश्यकता है।

सोलहवें अध्ययन में पाण्डवपत्नी द्रौपदी को पद्मनाभ अपहरण कर हस्तिनापुर नगर से अमरकंका ले आता है। हस्तिनापुर कुरुजांगल जनपद की राजधानी थी। हस्तिनापुर के अधिपति श्रेयांस ने ऋषभदेव को सर्वप्रथम आहार दान दिया[२१५] था। महाभारत के[२१६] अनुसार सुहोत्र के पुत्र राजा हस्ती ने इस नगर को

२१२. आचारांग चूर्णि पृ. ५।
२१३. अनुयोगद्वार २०. और २६।
२१४. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र १-६-२४७-२५३।
२१५. ऋषभदेव एक परिशीलन, पृ. १६९ (ख) आवश्यक निर्युक्ति. (गा०) ३४५।
२१६. महाभारत, आदि पर्व ९५-३४-२४३।

बसाया था। अतः उसका नाम हस्तिनापुर पड़ा। महाभारत काल में वह कौरवों की राजधानी थी।[217] अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को वहां का राजा बनाया था।[218] विविध तीर्थ कल्प के अभिमतानुसार ऋषभदेव के पुत्र कुरु थे। उनके एक पुत्र हस्ती थे, उन्होंने हस्तिनापुर बसाया[219] था। विष्णुकुमार मुनि ने बलि द्वारा हवन किये जाने वाले ७०० मुनियों की रक्षा की थी। सनत्कुमार, महापद्म, सुभौम और परशुराम का जन्म इसी नगर में हुआ था। इसी नगर में कार्तिक श्रेष्ठी ने मुनिसुव्रत स्वामी के पास संयम लिया था और सौधर्मेन्द्र पद प्राप्त किया[220] था। शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ इन तीनों तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों की जन्मभूमि होने का गौरव भी इसी नगर को है। पौराणिक दृष्टि से इस नगर का अत्यधिक महत्त्व रहा है। वसुदेव हिण्डी में इसे ब्रह्मस्थल कहा[221] है। इसके अपर नाम गजपुर और नागपुर भी थे। वर्तमान में हस्तिनापुर गंगा के दक्षिण तट पर मेरठ से २२ मील दूर उत्तर-पश्चिम कोण में तथा दिल्ली से छप्पन मील दूर दक्षिण-पूर्व में विद्यमान है। पाली साहित्य में इसका नाम हस्तीपुर या हस्तिनीपुर आता है। जैनाचार्य श्री नंदिषेण रचित "अजितशांति" नामक स्तवन में इस नगरी के लिए गयपुर, गजपुर, नागाह्वय, नागसाह्वय, नागपुर, हत्थिणउर, हत्थिणाउर, हत्थिणापुर, हस्तिनीपुर आदि पर्यायवाचक शब्दों का उल्लेख किया गया है। इसी हस्तिनापुर नगर से द्रौपदी को धातकीखंड क्षेत्र की अमरकंका नगरी में ले जाया जाता है। श्रीकृष्ण पांडवों के साथ वहां पर पहुँचते हैं और द्रौपदी को, पद्मनाभ को पराजित कर पुनः ले आते हैं। श्रीकृष्ण पांडवों की एक हरकत से अप्रसन्न होकर कुन्ती की प्रार्थना से समुद्र तट पर नवीन मथुरा बसा कर वहां रहने की अनुमति देते हैं। इसमें पांडवों की दीक्षा और मुक्ति लाभ का वर्णन है। प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में द्रौपदी के पूर्वभव का वर्णन है जिसमें उसने नागश्री के भव में धर्मरुचि अनगार को कड़ुवे तूंबे का आहार दिया था और जिसके फलस्वरूप अनेक भवों में उसे जन्म लेना पड़ा। इसमें कच्छुल नारद की करतूतों का भी परिचय है।

इस अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दुर्भावना के साथ जहर का दान देने से बहुत लम्बी भव-परम्परा बढ़ गई। दान सद्भावना के साथ और ऐसे पदार्थ का देना चाहिए जो हितप्रद हो। दूसरी बात, निदान साधक-जीवन का शल्य है। सुव्रती होने के लिए शल्यरहित होना चाहिए। एतदर्थ ही उमास्वति ने निःशल्यो व्रती[222] लिखा है। माया, निदान और मिथ्यादर्शन ये तीन शल्य हैं जिनके कारण व्रतों के पालन में एकाग्रता नहीं आ पाती। ये शल्य अन्तर में पीड़ा उत्पन्न करते हैं। वह साधक को व्याकुल और बेचैन बनाता है। इन शल्यों से तीव्र कर्मबन्ध होता है। सुकुमालिका साध्वी ने अपनी उत्कृष्ट साधना को भौतिक पदार्थों को प्राप्त करने के लिए नष्ट कर दिया।

इस अध्ययन में सांस्कृतिक दृष्टि से यह बात भी महत्वपूर्ण है कि उस युग में मर्दन के लिए ऐसे तेल तैयार किए जाते थे जिन के निर्माण में सौ स्वर्ण मुद्राएं और हजार स्वर्ण मुद्राएं व्यय होती थीं। शतपाक तेल में सौ प्रकार की ऐसी जड़ी बूटियों का उपयोग होता था और सहस्रपाक में हजार औषधियों का। ये शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त लाभप्रद होते थे। स्नान के लिए उष्णोदक, शीतोदक और गंधोदक आदि का उपयोग होता था।

प्रस्तुत अध्ययन में गंगा महानदी को नौका के द्वारा पार करने का उल्लेख है। गंगा भारत की सब से

२१७. महाभारत, आदिपर्व १००-१२-२४४।
२१८. महाभारत, प्रस्थान पर्व १-८-२४५।
२१९. विविध तीर्थकल्प में हस्तिनापुर कल्प, पृ. २७।
२२०. जयवाणी पृ. २८३-९४।
२२१. वसुदेवहिण्डी पृ. १६५।
२२२. तत्त्वार्थ सूत्र ७-१३

बड़ी नदी है। उसे देवताओं की नदी माना है।[२२३] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार वह देवाधिष्ठित[२२४] है। आगमों में अनेक स्थलों पर गंगा को महानदी माना है।[२२५] स्थानांग आदि में गंगा को महार्णव कहा है।[२२६] आचार्य अभयदेव ने महार्णव शब्द को उपमावाचक माना है।[२२७] विशाल जलराशि के कारण वह समुद्र के समान है। पुराणकार ने गंगा को समुद्ररूपिणी कहा [२२८] है। वैदिक दृष्टि से गंगा में नौ सौ नदियाँ मिलती हैं[२२९] और जैन दृष्टि से चौहद हजार[२३०] जिनमें यमुना, सरयू, कोशी, मही, गंडकी ब्रह्मपुत्र आदि बड़ी नदियाँ भी संमिलित हैं। प्राचीन युग में गंगा अत्यन्त विशाल थी। समुद्र में प्रवेश करते समय गंगा का पाट साढे बासठ योजन चौड़ा [२३१] था। और वह पाँच कोस गहरी थी। आज गंगा उतनी विशाल नहीं है। गंगा और उसकी सहायक नदियों से अनेक विशालकाय नहरें निकल चुकी हैं। आधुनिक सर्वेक्षण के अनुसार गंगा १५५७ मील लम्बे मार्ग को तयकर बंग सागर में मिलती है। वह वर्षाकालीन बाढ़ से १७,००,००० घन फुट पानी का प्रति सेकण्ड प्रस्राव करती है[२३२]। इस अध्ययन के प्रमुख पात्र श्रीकृष्ण, पाण्डव, द्रौपदी आदि जैन और वैदिक आदि परंपरा के बहुचर्चित और आदरणीय व्यक्ति रहे हैं जिनके जीवन प्रसंगों से सम्बन्धित अनेक विराटकाय ग्रंथ विद्यमान हैं। प्रस्तुत अध्ययन में श्रीकृष्ण के नरसिंह रूप का भी वर्णन है। नरसिंहावतार की चर्चा श्रीमद् भागवत में है जो विष्णु के एक अवतार थे, पर श्रीकृष्ण ने कभी नरसिंह का रूप धारण किया हो, ऐसा प्रसंग वैदिक परंपरा के ग्रंथों में देखने में नहीं आया, यहां पर उसका सजीव चित्रण हुआ है।

सत्रहवें अध्ययन में जंगली अश्वों का उल्लेख है। कुछ व्यापारी हस्तिशीर्ष नगर से व्यापार हेतु नौकाओं में परिभ्रमण करते हुए कालिक द्वीप में पहुँचते हैं। वहाँ वे चांदी, स्वर्ण और हीरे की खदानों के साथ श्रेष्ठ नस्ल के घोड़े देखते हैं। इसके पूर्व अध्ययनों में भी समुद्रयात्रा के उल्लेख आये हैं। ज्ञाता में पोत्तपट्टन और जलपत्तन शब्द व्यवहृत हुए हैं जो समुद्री बन्दरगाह के अर्थ में हैं, वहां पर विदेशी माल उतरता था। कहीं-कहीं पर वेलातट और पोतस्थान शब्द मिलते हैं। पोतवहन शब्द जहाज के लिए आया है। उस युग में जहाज दो तरह के होते थे। एक माल ढोनेवाले, दूसरे यात्रा के लिए। बन्दरगाह तक हाथी या शकट पर चढ़कर लोग जाते थे। समुद्रयात्रा में प्रायः तूफान आने पर जहाज डगमगाने लगते। किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाते, क्योंकि उस समय नौकाओं में दिशासूचक यंत्र नहीं थे। इसलिए आसन्न संकट से बचने के लिए इन्द्र, स्कंद आदि देवताओं का स्मरण भी करते थे। पर यह स्पष्ट है कि भारतीय व्यापारी अत्यन्त कुशलता के साथ समुद्री व्यापार करना जानते थे। उन्हें सामुद्रिक मार्गों का भी परिज्ञान था। वाहन अल्प थे और आजकल की तरह सुदृढ और विराटकाय भी नहीं थे। इसलिए हवाओं

२२३ (क) स्कंदपुराण, काशीखण्ड २९ अध्याय:
(ख) अमरकोष १/१०/३१
२२४, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ४ वक्षस्कार
२२५. (क) स्थानांग ५/३
(ख) समवायांग २४ वां समवाय
(ग) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ४ वक्षस्कार
(घ) निशीथ सूत्र १२/४२
(ङ) बृहत्कल्प सूत्र ४/३२
२२६. (क) स्थानांग ५/२/१
(ख) निशीथ १२/४२
(ग) बृहत्कल्प ४/३२
२२७. (क) स्थानांग वृत्ति ५/२/१
(ख) बृहत्कल्पभाष्य टीका ५६/१६
२२८. स्कंदपुराण काशीखंड २९ अ०
२२९. हारीत १/७
२३०. जम्बू० ४ वक्षस्कार
२३१. वही०
२३२. हिन्दी विश्वकोष, नागरी प्रचारिणी सभा।

की प्रतिकूलता से जहाजों को अत्यधिक खतरा रहता था। तथापि वे निर्भीकता से एक देश से दूसरे देश में घूमा करते थे। ये व्यापारी भी बहुमूल्य पदार्थों को लेकर हस्तिशीर्ष नगर पहुँचे और राजा से उन श्रेष्ठ अश्वों के सम्बन्ध में बताया। राजा अपने अनुचरों के साथ घोड़ों को लाने का वणिकों को आदेश देता है। व्यापारी अश्वों को पकड़ लाने के लिए वल्लकी, भ्रामरी, कच्छभी, बंभा, पट्भ्रमरी विविध प्रकार की वीणाएँ, विविध प्रकार के चित्र, सुगंधित पदार्थ, गुडिया-मत्स्यंका शक्कर, मत्स्यसंडिका, पुष्पोत्तर और पद्मोत्तर प्रकार की शर्कराएं और विविध प्रकार के वस्त्र आदि के साथ पहुँचे और उन लुभावने पदार्थों से उन घोड़ों को अपने अधीन किया। स्वतंत्रता से घूमनेवाले घोड़े पराधीन बन गये। इसी तरह जो साधक विषयों के अधीन होते हैं वे भी पराधीनता के पंक में निमग्न हो जाते हैं। विषयों की आसक्ति साधक को पथभ्रष्ट करदेती है।

प्रस्तुत अध्ययन में गद्य के साथ पद्य भी प्रयुक्त हुए हैं। बीस गाथाएं हैं। जिनमें पुन: उसी बात को उद्बोधन के रूप में दुहराया गया है।

अट्ठारहवें अध्ययन में सुषमा श्रेष्ठी-कन्या का वर्णन है। वह धन्ना सार्थवाह की पुत्री थी। उसकी देखभाल के लिए चिलात दासीपुत्र को नियुक्त किया गया। वह बहुत ही उच्छृंखल था। अत: उसे निकाल दिया गया। वह अनेक व्यसनों के साथ तस्कराधिपति बन गया। सुषमा का अपहरण किया। श्रेष्ठी और उसके पुत्रों ने उसका पीछा किया। उन्हें अटवी में चिलात द्वारा मारी गई सुषमा का मृत देह प्राप्त हुआ। वे अत्यंत क्षुधा पिपासा से पीडित हो चुके थे। अत: सुषमा के मृत देह का भक्षण कर अपने प्राणों को बचाया। सुषमा के शरीर का मांस खाकर उन्होंने अपने जीवन की रक्षा की। उन्हें किंचिद् मात्र भी उस आहार के प्रति राग नहीं था। उसी तरह षट्काय के रक्षक श्रमण-श्रमणियाँ भी संयमनिर्वाह के लिए आहार का उपयोग करते हैं, रसास्वादन हेतु नहीं। असह्य क्षुधा वेदना होने पर आहार ग्रहण करना चाहिए। आहार का लक्ष्य संयम-साधना है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी इसी प्रकार मृत कन्या के मांस को भक्षण कर जीवित रहने का वर्णन प्राप्त होता है[२३३]। विशुद्धिमग्ग और शिक्षा समुच्चय में भी श्रमण को इसी तरह आहार लेना चाहिये यह बताया गया है। मनुस्मृति आपस्तम्बधर्म सूत्र (२.४.९.१३) वासिष्ठ (६:२०.२१) बोधायन धर्म सूत्र (२.७.३१ ३२) में संन्यासियों के आहार संबंधी चर्चा इसी प्रकार मिलती है।

प्रस्तुत अध्ययन के अनुसार तस्करों के द्वारा ऐसी मंत्रशक्ति का प्रयोग किया जाता था, जिससे संगीन ताले अपने आप खुल जाते थे। इससे यह भी ज्ञात होता है कि महावीरयुग में ताले आदि का उपयोग धनादि की रक्षा के लिए होता था। विदेशी यात्री मेगास्तनीज, ह्वेनसांग, फाहियान, आदि ने अपने यात्राविवरणों में लिखा है कि भारत में कोई भी ताला आदि का उपयोग नहीं करता था, पर आगम साहित्य में ताले के जो वर्णन मिलते हैं वे अनुसंधित्सुओं के लिए अन्वेषणा की अपेक्षा रखते हैं।

उन्नीसवें अध्ययन में पुण्डरीक और कण्डरीक की कथा है। जब राजा महापद्म श्रमण बने तब उनका ज्येष्ठपुत्र पुण्डरीक राज्य का संचालन करने लगा और कण्डरीक युवराज बना। पुन: महापद्म मुनि वहां आये तो कण्डरीक ने श्रमणधर्म स्वीकार किया। कुछ समय बाद कण्डरीक मुनि वहां आये। उस समय वे दाहज्वर से ग्रसित थे। महाराजा पुण्डरीक ने औषधि उपचार करवाया। स्वस्थ होने पर भी जब कंडरीक मुनि वहीं जमे रहे। तब राजा ने निवेदन किया कि श्रमण मर्यादा की दृष्टि से आपका विहार करना उचित है। किन्तु कण्डरीक के मन में भोगों के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो चुकी थी। वे कुछ समय परिभ्रमण कर पुन: वहां आ गये। पुण्डरीक के समझाने पर भी वे न समझे तब कण्डरीक को राज्य सौंपकर पुण्डरीक ने कण्डरीक का श्रमणवेष स्वयं धारण कर

२३३. संयुक्तनिकाय, २, पृ० ९७

लिया। तीन दिन की साधना से पुण्डरीक तेतीस सागर की स्थिति का उपभोग करने वाला सर्वार्थसिद्धि विमान में देव बना और कण्डरीक भोगों में आसक्त होकर तीन दिन में आयु पूर्ण कर तेतीस सागर की स्थिति में सातवें नरक का मेहमान बना। जो साधक वर्षों तक उत्कृष्ट साधना करते रहे किन्तु बाद में यदि वह साधना से च्युत हो जाता है तो उसकी दुर्गति हो जाती है और जिसका अन्तिम जीवन पूर्ण साधना में गुजरता है वह स्वल्प काल में भी सद्गति को वरण कर लेता है।

इस तरह प्रथम श्रुतस्कंध में विविध दृष्टान्तों के द्वारा अहिंसा, अस्वाद, श्रद्धा, इन्द्रियविजय प्रभृति आध्यात्मिक तत्वों का बहुत ही संक्षेप व सरल शैली में वर्णन किया गया है। कथावस्तु की वर्णनशैली अत्यन्त चित्ताकर्षक है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी जो शोधार्थी शोध करना चाहते हैं, उनके लिए पर्याप्त सामग्री है। उस समय की परिस्थिति, रीति रिवाज, खान-पान सामाजिक स्थितियां और मान्यताओं का विशद विश्लेषण भी इस आगम में प्राप्त होता है। शैली की दृष्टि से धर्मनायकों का यह आदर्श रहा है। भाषा और रचना शैली की अपेक्षा जीवननिर्माण की शैली का प्रयोग करने में वे दक्ष रहे हैं। आधुनिक कलारसिक आगम की धर्मकथाओं में कला को देखना अधिक पसन्द करते हैं। आधुनिक कहानियों के तत्त्वों से और शैली से उनकी समता करना चाहते हैं। पर वे भूल जाते हैं कि ये कथाएं बोधकथाएं हैं। इनमें जीवननिर्माण की प्रेरणा है, न कि कला के लिए कला-प्रदर्शन। यदि वे बोध प्राप्त करने की दृष्टि से इन कथाओं का पारायण करेंगे तो उन्हें इनमें बहुत कुछ मिल सकेगा।

रामकृष्ण परमहंस ने कहा था कि दूध में जामन डालने के पश्चात् उस दूध को छूना नहीं चाहिए। और न कुछ समय तक उस दूध को हिलाना चाहिए। जो दूध जामन डालने के पश्चात् स्थिर रहता है वही बढ़िया जमता है। इसी तरह साधक की साधना में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। दो अण्डे वाले रूपक में यह बात स्पष्ट की गई है और यह भी बताया गया है कि साधक को शीघ्रता भी नहीं करनी चाहिए। शीघ्रता करने से उसी तरह हानि होती हैं जैसे कूर्म की कथा में बताया गया है। उत्कृष्ट साधना के शिखर पर आरूढ व्यक्ति जरासी असावधानी से नीचे गिर सकता है, जैसे शैलक राजर्षि। इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि शिष्य का क्या कर्तव्य होना चाहिए ? गुरु साधना से स्खलित हो जाये तथापि शिष्य को स्वयं जागृत रहकर गुरु की शुश्रूषा करनी चाहिए, जैसे पंथक ने स्वयं का भी उद्धार किया और गुरु का भी।

मल्ली भगवती ने भोग के कंटकाकीर्ण पथ पर बढ़ने वाले और रूप लावण्य के पीछे दीवाने बने हुए राजाओं को विशुद्ध सदाचार का मार्ग प्रदर्शित किया। शरीर के अन्दर में रही हुई गन्दगी को बताया और उनके हृदय का परिवर्तन किया। बौद्ध भिक्षुणी शुभा पर एक कामुक व्यक्ति मुग्ध हो गया था। भिक्षुणी ने अपने नाखूनों से अपने नेत्र निकालकर उसके हाथ में थमा दिये और कहा—जिन नेत्रों पर तुम मुग्ध हो वे नेत्र तुम्हें समर्पित कर रही हूँ। पर उस कथा से भी मल्ली भगवती की कथा अधिक प्रभावशाली है। प्रस्तुत आगम में जो कथाएं आई हैं, उनमें कहीं पर भी सांप्रदायिकता या संकुचितता नहीं है। यद्यपि ये कथाएं जैन श्रमण श्रमणियों को लक्ष्य में लेकर कही गई हैं, पर ये सार्वभौमिक हैं। सभी धर्म और सम्प्रदायों के अनुयायियों के लिए परम उपयोगी हैं। सभी धर्म संप्रदायों का अंतिम लक्ष्य षड्रिपुओं को जीतना और मोक्ष प्राप्त करना है और मोक्ष प्राप्त करने के लिए ऐश्वर्य के प्रति विरक्ति, इन्द्रियों का दमन व शमन आवश्यक है। यही इन कथाओं का हार्द है।

हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि ज्ञातासूत्र के द्वितीय श्रुत स्कंध में धर्मकथाएँ हैं। इसमें चमरेन्द्र, बलीन्द्र, धरणेन्द्र, पिशाचेन्द्र, महाकालेन्द्र, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र आदि की अग्रमहिषियों के रूप में उत्पन्न होनेवाली साध्वियो की कथाएं हैं। इनमें से अधिकांश साध्वियाँ भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित हुई थीं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन साध्वियों का अत्यधिक महत्त्व है। इस श्रुतस्कंध में पार्श्वकालीन श्रमणियों के नाम उपलब्ध हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) काली (२) राजी (३) रजनी (४) विद्युत (५) मेघा, ये आमलकप्पा नगर की थीं। और इन्होंने

आर्या पुष्पचूला के पास दीक्षा ग्रहण की थी। (६) शुंभा (७) निशुंभा (८) रंभा (९) निरंभा और (१०) मदना ये श्रावस्ती की थीं और पार्श्वनाथ के उपदेश से दीक्षा ग्रहण की थी। (११) इला (१२) सतेरा (१३) सौदामिनी (१४) इन्द्रा (१५) घना और (१६) विद्युता ये वाराणसी की थीं और श्रेष्ठियों की लड़कियां थीं। इन्होंने भी पार्श्वनाथ के उपदेश से दीक्षा ग्रहण की थी। (१७) रुचा (१८) सुरुचा (१९) रुचांशा (२०) रुचकावती (२१) रुचकान्ता (२२) रुचप्रभा ये चम्पा नगरी की थीं। इन्होंने भी पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षा ग्रहण की थी। (२३) कमला (२४) कमलप्रभा (२५) उत्पला (२६) सुदर्शना (२७) रूपवती (२८) बहुरूपा (२९) सुरूपा (३०) सुभगा (३१) पूर्णा (३२) बहुपुत्रिका (३३) उत्तमा (३४) भारिका (३५) पद्मा (३६) वसुमती (३७) कनका (३८) कनकप्रभा (३९) अवतंसा (४०) केतुमती (४१) वज्रसेना (४२) रतिप्रिया (४३) रोहिणी (४४) नौमिका (४५) ह्री (४६) पुष्पवती (४७) भुजगा (४८) भुजंगवती (४९) माकच्छा (५०) अपराजिता (५१) सुघोषा (५२) विमला (५३) सुस्वरा (५४) सरस्वती ये बत्तीस कुमारिकाएं नागपुर की थीं। भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से साधना के पथ पर अपने कदम बढ़ाये थे।

एक बार भगवान् पार्श्व साकेत नगरी में पधारे। वहाँ बत्तीस कुमारिकाओं ने दीक्षा ग्रहण की। भगवान् पार्श्व अरक्खुरी नगरी में पधारे। उस समय (८७) सूर्यप्रभा (८८) आतपा (८९) अर्चिमाली (९०) प्रभंकरा आदि ने त्यागमार्ग को ग्रहण किया। एक बार भगवान् पार्श्व मथुरा पधारे। उस समय (९१) चन्द्रप्रभा (९२) दोषणाभा (९३) अर्चिमाली और (९४) प्रभंकरा ने दीक्षा ग्रहण की। भगवान् श्रावस्ती पधारे जहाँ पर (९५) पद्मा और (९६) शिवा ने संयम मार्ग की ओर कदम बढ़ाया। भगवान् पार्श्व हस्तिनापुर पधारे। उस समय (९७) सती और (९८) अंजू ने श्रमणधर्म स्वीकार किया। भगवान् कांपिल्यपुर पधारे, वहाँ पर (९९) रोहिणी और (१००) नवमिका ने प्रव्रज्या ग्रहण की। भगवान् साकेत नगर में पुनः पधारे तो वहाँ पर (१०१) अचला और (१०२) अप्सरा ने दीक्षा ग्रहण की। एक बार भगवान् वाराणसी पधारे। उस समय (१०३) कृष्णा (१०४) कृष्णराजि, ने और राजगृह में (१०५) रामा और (१०६) रामरक्षिता ने श्रावस्ती में (१०७) वसु और (१०८) वसुगुप्ता ने कौशांबी में (१०९) वसुमित्रा (११०) वसुंधरा ने दीक्षा ग्रहण की थी। ये सभी साध्वियां चारित्र की विराधक हो गई थीं। विराधना के कारण सभी देवियों के रूप में उत्पन्न हुई, पर देवियों का आयुष्य पूर्णकर ये महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगी और वहाँ से विशुद्ध चारित्र का आराधन कर मोक्ष जाएँगी।

व्याख्यासाहित्य

ज्ञातासूत्र कथाप्रधान आगम होने से यह बहुत सरल माना गया यद्यपि इस आगम की भाषा बहुत ही क्लिष्ट, साहित्यिक और समासबहुल है। तथापि विषय सरल होने से इस पर व्याख्याएं बहुत कम लिखी गई हैं। इस पर न निर्युक्ति लिखी गई, न भाष्य का निर्माण किया गया और न चूर्णि ही लिखी गई। सर्वप्रथम इस पर आचार्य अभयदेव ने संस्कृत भाषा में वृत्ति लिखी। यह वृत्ति मूलसूत्र को स्पर्श कर लिखी हुई है। इस वृत्ति में शब्दार्थ की प्रधानता है। प्रारंभ में भगवान् महावीर को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् चम्पा नगरी का परिचय देकर पूर्णभद्र चैत्य का परिचय दिया है। श्रेणिक सम्राट् के पुत्र कोणिक का उल्लेख करके गणधर सुधर्मा का परिचय दिया गया है। प्रस्तुत सूत्र के नाम का स्पष्टीकरण किया गया है। प्रथम श्रुतस्कंध में उन्नीस ही अध्ययनों के कठिन शब्दों के अर्थ स्पष्ट करके प्रत्येक अध्ययन के अन्त में होने वाले विशेष अर्थ को प्रकट किया है।

वृत्तिकार ने प्रथम अध्ययन का सार बताते हुए लिखा—अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले शिष्य को सही मार्ग पर लाने के लिए समय पर उपालंभ भी देना चाहिए। द्वितीय अध्ययन के प्रान्त में लिखा—बिना आहार के मोक्ष की साधना के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए शरीर को आहार देना चाहिए। तृतीय अध्ययन का

सार प्रस्तुत किया है कि विज्ञों को जिन-वचन के प्रति किंचित् मात्र भी संदेह नहीं करना चाहिए। संदेह अनर्थ का मूल है। जिनके अन्तर्मानस में शंकाएं होती हैं वे सदा निराशा के सागर में झूलते रहते हैं। उन्हें सफलता देवी के दर्शन नहीं होते। इसी तरह सभी अध्ययनों का व्यंजनार्थ प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में धर्मकथाओं से ही धर्मार्थ का प्रतिपादन किया है। वृत्तिकार ने इसका विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। सर्वं सुगमं और शेषं सूत्रसिद्धम् इतना ही लिखा गया है। इस वृत्ति का श्लोक प्रमाण ३८०० है। यह वृत्ति सं० ११२० में विजयादशमी को अणहिलपुर पाटन में पूर्ण हुई। आचार्य अभयदेव ने अपने गुरु का नाम जिनेश्वर बताया है। और यह भी बताया है कि इस वृत्ति का संशोधन द्रोणाचार्य ने किया है। वृत्ति की प्रशस्ति से यह भी पता चलता है कि इसकी अनेक वाचनाएं वृत्तिकार के समय प्रचलित थीं।

लक्ष्मीकल्लोल गणि ने वि० सं० १५९६ में ज्ञाताधर्मकथा वृत्ति का निर्माण किया था। आधुनिक युग में पूज्य श्री घासीलाल जी म० ने संस्कृत में सविस्तर टीका लिखी है। ज्ञातासूत्र पर प्राचीन टब्बे भी मिलते हैं। वे टब्बे धर्मसिंह मुनि के लिखे हुए हैं। ज्ञातासूत्र पर सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद आचार्य श्री अमोलक ऋषि म० का प्राप्त होता है। पं० शोभाचन्द्र जी भारिल का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। पं० बेचरदास जी दोशी का गुजराती छायानुवाद भी प्रकाशित हुआ है। एक से आठ अध्ययन तक गुजराती अनुवाद भावनगर से भी प्रकाशित हुआ है।

स्थानकवासी समाज एक जागरूक समाज है। वह आगमों के प्रति पूर्ण निष्ठावान् है। समय के अनुसार आगमों के विवेचन की ओर उसका लक्ष्य रहा है। जिस समय टब्बा युग आया उस समय आचार्य श्रीधर्मसिंह जी ने सत्ताईस आगमों पर बालावबोध टब्बे लिखे, जो टब्बे मूलस्पर्शी, और शब्दार्थ को स्पष्ट करनेवाले हैं। जिस समय अनुवाद युग आया उस समय आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी म० ने आगमबत्तीसी का अनुवाद किया। उसके बाद श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य श्री आत्माराम जी म० ने भी अनेक आगमों के हिन्दी अनुवाद और उन पर विस्तृत विवेचन लिखा। पूज्य श्री घासीलाल जी म० ने अत्यन्त विस्तार के साथ संस्कृत में टीकाएं लिखीं और वे हिन्दी और गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित भी हुई। और यों अनेक स्थलों से आगम साहित्य प्रकाशित हुआ तथापि आधुनिक संस्करण की मांग निरन्तर बनी रही। कितने ही प्रबुद्ध चिन्तकों ने व प्रतिभासम्पन्न मनीषियों ने आकाशी उड़ाने बहुत भरीं। उन्होंने रूपरेखाएं भी प्रस्तुत कीं। पर आगमों के जैसे चाहिए वैसे उत्कृष्ट जन-साधारणोपयोगी संस्करण प्रकाशित नहीं कर सके। केवल उनकी उड़ान, उड़ान ही रही। परम हर्ष का विषय है कि मेरे परम श्रद्धेय सदगुरुवर्य अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. के स्नेही साथी युवाचार्य श्रीमधुकर मुनिजी ने इस भगीरथ कार्य को अपने हाथों में लिया। उन्होंने मूर्धन्य मनीषियों के सहयोग से इस कार्य को सम्पन्न करने का दृढ संकल्प किया है, जिसके फलस्वरूप आचारांग सूत्र का शानदार संस्करण दो जिल्दों में प्रबुद्ध पाठकों के कर कमलों में पहुंचा। निष्पक्ष विद्वानों ने उसके संपादन और विवेचन की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। उसके पश्चात् उपासकदशांग का भी श्रेष्ठतम प्रकाशन हुआ।

उसी ग्रन्थमाला की लड़ी की कड़ी में ज्ञातासूत्र का सर्वश्रेष्ठ संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इस संस्करण की यह विशेषता है कि इसमें विभिन्न प्रतियों के आधार से विशुद्ध पाठ लेने का प्रयास किया गया है। मूल पाठ के साथ ही हिन्दी में अनुवाद दिया गया है। जहां कहीं आवश्यक हुआ वहां विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में सारपूर्ण विवेचन भी दिये गये हैं। इस आगम के सम्पादक और विवेचक हैं जैनजगत के तेजस्वी नक्षत्र, साहित्यमनीषी, संपादनकलामर्मज्ञ पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, जिन्होंने आज तक शताधिक ग्रंथों का संपादन किया है। वे एक यशस्वी संपादक के रूप में जाने माने और पहचाने जाते हैं। संपादन के साथ ही शताधिक साधु-साध्वियों एवं भावदीक्षित व्यक्तियों और विद्यार्थियों को आगम, धर्म, दर्शन पढ़ाते रहे हैं। इस रूप में भी

वे एक विश्रुत आगममर्मज्ञ हैं। उन्होंने प्रस्तुत आगम का बहुत ही सुन्दर संपादन किया है। अनुवाद और विवेचन की भाषा सरल, सरस व सुबोध हैं, शैली मन को लुभाने वाली है। विवेचन में ऐसे अनेक रहस्य उद्घाटित किये हैं जो पाठकों को अभिनव चिन्तन प्रदान करने वाले हैं। उनकी विलक्षण प्रतिभा सर्वत्र मुखरित हुई है।

श्रद्धेय युवाचार्यश्री के दिशानिर्देशन में यह संपादन हुआ है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस संपादन का सर्वत्र समादर होगा।

प्रस्तुत संस्करण की यह विशेषता है कि इसमें अनेक परिशिष्ट दिये गए हैं। विशिष्ट स्थलों एवं व्यक्तियों की अक्षरानुक्रम से नामावली दी गई है। साथ ही आगम में आये हुए 'जाव' शब्द की आवश्यकतानुसार पूर्ति भी की गई है। इस प्रकार अनेक नवीन विशेषताओं को लिए हुए यह आगम अवश्य ही जन-जन के मन को मुग्ध करेगा।

प्रस्तावना को मैं और भी अधिक विस्तार के साथ लिखना चाहता था, पर अन्य लेखनकार्य में अत्यधिक व्यस्त होने से तथा साधनाभाव से जितना लिखना चाहता था नहीं लिख सका, तथापि जो कुछ लिखा है उससे प्रबुद्ध पाठकों को ज्ञातासूत्र के सम्बन्ध में जानने को कुछ प्राप्त हो सकेगा, ऐसी आशा है। आज आवश्यकता है आगमसाहित्य पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करने की। आगमसाहित्य में भरपूर सामग्री भरी पड़ी है। उस पर यदि कोई शोधकार्य करना चाहे तो बहुत कुछ किया जा सकता है। शोधार्थियों के लिए यह विषय अभी प्रायः अछूता सा पड़ा है। एक-एक आगम पर अनेक शोधप्रबन्ध तैयार हो सकते हैं। वैदिक और बौद्ध ग्रन्थों के साथ उन सभी प्रसंगों की व स्थितियों की तुलना भी हो सकती है। समय मिला तो कभी यह कार्य करने की मेरी प्रबल भावना है। मुज्ञेषु किं बहुना।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर (राज.)
दि. २५-११-१९८०

विषयानुक्रम

प्रथम अध्ययन : उत्क्षिप्तज्ञात

द्वितीय अध्ययन : संघाट

तृतीय अध्ययन : अंडक

चतुर्थ अध्ययन : कूर्म

पञ्चम अध्ययन : शैलक

षष्ठ अध्ययन : तुम्बक

सप्तम अध्ययन : रोहिणीज्ञात

आठवां अध्ययन : मल्ली

नवम अध्ययन : माकंदी

दशम अध्ययन : चन्द्र

ग्यारहवाँ अध्ययन : दावद्रव

वारहवाँ अध्ययन : उदकज्ञात

तेरहवाँ अध्ययन : दर्दुरज्ञात

चौदहवाँ अध्ययन : तेतलिपुत्र

पन्द्रहवाँ अध्ययन : नन्दीफल

सोलहवाँ अध्ययन : द्रौपदी

सत्तरहवाँ अध्ययन : आकीर्ण

अठारहवाँ अध्ययन : सुंसुमा

उन्नीसवाँ अध्ययन : पुण्डरीक

द्वितीय श्रुतस्कन्ध-१-१० वर्ग



पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइयं छट्ठं अंगं

नायाधम्मकहाओ

पंचमगणधर-श्रीमत्सुधर्मस्वामि-विरचितं षष्ठम् अङ्गम्

ज्ञाताधर्मकथा-सूत्रम्

प्रथम अध्ययन : उत्क्षिप्तज्ञात

सार : संक्षेप

प्रथम अध्ययन में राजगृह नगर (मगध) के अधिपति महाराज श्रेणिक के सुपुत्र मेघकुमार का आदर्श जीवन अंकित किया गया है, किन्तु इसका नाम 'उक्खित्तणाए' है। यह नाम इस अध्ययन में वर्णित एवं मेघ के पूर्वभव में घटित एक महत्त्वपूर्ण घटना पर आधारित है। उस घटना ने एक हाथी जैसे पशु को मानव और फिर अतिमानव-सिद्ध परमात्मा के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

आत्मा अनादि-अनन्त चिन्मय तत्त्व है। राग-द्वेष आदि विकारों से ग्रस्त होने के कारण वह विभिन्न अवस्थाओं में जन्म-मरण करता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना ही संसरण या संसार कहलाता है। कभी अधोगति के पाताल में तो कभी उच्च गति के शैल-शिखर पर वह आरूढ होता है। इस चढ़ाव-उतार का मूल कारण स्वयं आत्मा ही है। सत् संयोग मिलने पर आत्मा जब अपने सच्चे स्वरूप को समझ लेता है तब अनुकूल पुरुषार्थ करके अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करके अनन्त-असीम आत्मिक वैभव को अधिगत कर लेता है-शाश्वत एवं अव्याबाध सुख का स्वामी बन जाता है। मेघकुमार के जीवन में यही घटित हुआ।

प्रस्तुत अध्ययन में मेघकुमार के तीन भवों-जन्मों का दिग्दर्शन कराया गया है और दो भावी भवों का उल्लेख है। अतीत तीसरे भव में वह जंगली हाथी था। जंगल में दावानल सुलगता है। प्राणरक्षा के लिए वह इधर-उधर भागता दौड़ता है। भूखा-प्यासा वह पानी पीने के विचार से कीचड़-भरे तालाब में प्रवेश करता है। पानी तक पहुँचने से पहले ही कीचड़ में फँस जाता है। उबरने का प्रयत्न करता है पर परिणाम विपरीत होता है-अधिकाधिक कीचड़ में धंसता जाता है। विवश, लाचार, असहाय हो जाता है। संयोगवश, उसी समय एक दूसरा तरुण हाथी, जो उसका पूर्व वैरी था, वहाँ आ पहुँचता है और वैर का स्मरण करके अपने तीखे दन्त-शूलों से प्रहार करके उसकी जीवन-लीला समाप्त कर देता है। कलुषित परिणामों-आर्त्तध्यान-के कारण हाय-हाय करता हुआ वह प्राणत्याग करके पुनः हाथी के रूप में—पशुगति में उत्पन्न होता है। वन-चर उसका नाम 'मेरुप्रभ' रखते हैं।

संयोग की बात, जंगल में पुनः दावानल का प्रकोप होता है। सारा जंगल धांय-धांय कर आग की लपटों से व्याप्त हो जाता है। मेरुप्रभ फिर अपने यूथ-झुंड के साथ इधर-उधर भागता-दौड़ता और प्राणरक्षा करता है। किन्तु इस बार दावानल का लोमहर्षक दृश्य देखकर अतीत भव का एक धुंधला-अस्पष्ट-सा चित्र उसके कल्पना-नेत्रों में उभरता है। वह विचारों की गहराई में उतरता है और उसे शुभ अध्यवसाय, लेश्याविशुद्धि एवं ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस ज्ञान से अपने पूर्वभवों को जाना जा सकता है।

मेरुप्रभ हाथी को जातिस्मरण से पूर्व जन्म की घटना विदित हो गई। दावानल का भी स्मरण हो आया। तब उसने बार-बार उत्पन्न होने वाली इस विपदा से छुटकारा पाने के लिए एक मंडल—घास-फूस, पेड़-पौधों से रहित, साफ-सफाचट मैदान तैयार किया।

कुछ काल व्यतीत होने पर फिर ग्रीष्म ऋतु में दावानल का प्रकोप हुआ। इस वार वचाव का स्थान तैयार था—वनाया हुआ वह मंडल। मेरुप्रभ उसी ओर भागा। जंगल के सभी प्रकार के जानवर मंडल में ठसाठस भर गए थे। जातिगत वैरभाव त्याग कर शेर, हिरण, भेड़िया, शशक आदि सभी एक दूसरे से सटे वैठे थे। मेरुप्रभ भी थोड़ीसी जगह देख कर खड़ा हो गया।

अचानक मेरुप्रभ के शरीर में खुजली उठी। उसने शरीर खुजलाने के लिए पैर ऊपर उठाया ही था कि अन्य वलवान् प्राणियों द्वारा धक्का खाता हुआ एक शशक, पैर उठाने से खाली हुई जगह में आ घुसा।

अव मेरुप्रभ हाथी के सामने वड़ी विकट समस्या थी। पैर जमीन पर टेकता है तो शशक की चटनी वन जाती है। पैर उठाये रक्खे तो कव तक? दावानल जल्दी शान्त नहीं होता। फिर भारी भरकम शरीर! उसे तीन पैरों पर कैसे सँभाले! एक ओर आत्मरक्षा की चिन्ता तो दूसरी ओर जीवदया की प्रबल भावना! वड़ी असमंजस की स्थिति थी। परन्तु श्रेष्ठ आत्मा अपने हित और सुख का विघात करके भी दूसरे के हित और सुख के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। आखिर आत्मरक्षा के समक्ष भूतदया की विजय हुई। मेरुप्रभ ने स्वयं घोर कष्ट सहन करके भी शशक की अनुकम्पा के लिए अपना पैर अधर ही उठा रक्खा। इस प्रशस्त अनुकम्पा की वदौलत मेरुप्रभ का संसार परीत हो गया—अनन्त जन्म-मरण का चक्र अति सीमित हो गया और उसने मनुष्यायु का वन्ध किया।

मेरुप्रभ ने अढ़ाई अहो-रात्र तक अपना पैर उठाए रक्खा। जव दावानल जंगल को भस्मसात् करके शान्त हो गया, वुझ गया और दूसरे प्राणी आहार-पानी की खोज में इधर-उधर चले गए, शशक भी चला गया तो मेरुप्रभ ने अपना पैर पृथ्वी पर टेकना चाहा। परन्तु अढ़ाई दिन तक एक सा अधर रहने के कारण पैर अकड़ गया था। अतएव पैर जमाने के प्रयत्न में वह स्वयं ऐसा गिर गया जैसे विद्युत् के प्रबल आघात से पर्वत का शिखर टूट कर गिर पड़ा हो।

उस समय मेरुप्रभ की उम्र सौ वर्ष की थी। जरा से जर्जरित था। भूखा-प्यासा होने से अतिशय दुर्बल, अशक्त और पराक्रम- हीन हो गया था। वह उठ नहीं सका और तीन दिन तक दुस्सह वेदना सहन करके अन्त में प्राण त्याग करके मगधसम्राट् श्रेणिक की महारानी धारिणी के उदर में शिशु के रूप में जन्मा।

शिशु जव गर्भ में था तव महारानी धारिणी को असमय में पंचरंगी मेघों से युक्त वर्षा ऋतु के दृश्य को देखने का दोहद उत्पन्न हुआ। अभय कुमार के प्रयत्न से, दैवी सहायता से, विक्रिया द्वारा वर्षा ऋतु का सर्जन किया गया। प्रस्तुत अध्ययन में वर्षा ऋतु का जो शव्दचित्र अंकित किया गया है, वह अतिशय भव्य और हृदयग्राही है। सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण की गंभीरता का उससे स्पष्ट परिचय मिलता है। वर्षाऋतु का हूवहू दृश्य नेत्रों के सामने आ खड़ा होता है। उस प्रसंग की भाषा भी धारा-प्रवाहमयी, आह्लादजनक और मनोरम है। पढ़ते-पढ़ते ऐसा अनुभव होने लगता है जैसे किसी उत्कृष्ट काव्य का पारायण कर रहे हैं। इस प्रकार के सरस पाठ आगमों में विरले ही मिलते हैं।

मेघ संबंधी माता के दोहद के कारण, यथासमय जन्म लेनेवाले वालक का नाम भी मेघ ही रक्खा जाता है।

सम्राट् के पुत्र के लालन-पालन के विषय में कहना ही क्या! वड़े प्यार से उसका पालन-पोषण-संगोपन हुआ। आठ वर्ष की उम्र होने पर उसे कला-शिक्षण के लिए कलाचार्य के सिपुर्द कर

दिया गया। कलाचार्य ने पुरुष की बहत्तर कलाओं की शिक्षा दी। उन कलाओं का नामोल्लेख इस प्रसंग में किया गया है। कलाकुशल मेघ के अंग-अंग खिल उठे। वह अठारह देशी भाषाओं में प्रवीण, गीत-नृत्य में निपुण और युद्ध-कला में भी निष्णात हो गया। तत्पश्चात् आठ राज-कुमारियों के साथ, एक ही दिन, उसका विवाह किया गया। इस प्रकार राजकुमार मेघ उत्तम राजसी भोग-उपभोग भोगने लगा।

कुछ काल के पश्चात् जनपद-विहार करते-करते और जगत् के जीवों को शाश्वत एवं पारमार्थिक सुख तथा कल्याण का पथ प्रदर्शित करते हुए भगवान् महावीर का राजगृह नगर में पदार्पण हुआ। राजा-प्रजा सभी धर्मदेशना श्रवण करने के लिए प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए। मेघकुमार को जब भगवान् के समवसरण का वृत्तान्त विदित हुआ तो वह भी कहां पीछे रहने वाला था। आत्मा में जब एक बार सच्ची जागृति आ जाती है, अपने असीम आन्तरिक वैभव की झांकी मिल जाती है, आत्मा जब एक बार भी स्व-संवेदन के अद्‌भुत, अपूर्व अमृत-रस का आस्वादन कर लेता है, तब संसार का उत्तम से उत्तम वैभव और उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भोग भी उसे बालू के कवल के समान नीरस, निस्वाद और फीके जान पड़ते हैं। राजकुमार मेघ का विवेक जागृत हो चुका था। वह भी भगवान् की उपासना के लिए पहुँचा। धर्मदेशना श्रवण की। भगवान् का एक-एक बोल मानो अमृत का एक-एक बिन्दु था। उसका पान करते ही उसके आह्लाद की सीमा न रही। आत्मा लोकोत्तर आलोक से उद्‌भासित हो उठी। उसने अपने-आपको भगवत्-चरणों में समर्पित कर दिया। सम्राट् के लाड़ले नौजवान पुत्र ने भिक्षु बनने का सुदृढ़ संकल्प कर लिया।

मेघ माता-पिता की अनुमति प्राप्त करने उनके पास पहुँचा। दीक्षा की बात सुनते ही माता धारिणी देवी तो बेहोश होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ी और पिता श्रेणिक सम्राट् चकित रह गए। उन्होंने मेघकुमार को प्रथम तो अनेक प्रकार के सांसारिक प्रलोभन देकर ललचाना चाहा। जब उनका कुछ भी असर न हुआ तो साधु-जीवन की कठोरता, भयंकरता एवं दुस्साध्यता का वर्णन किया। यह सब भी जब विफल हुआ तो माता-पिता समझ गए—'सूरदास की कारी कमरिया चढ़े न दूजो रंग।'

आखिर माता-पिता ने अनमने भाव से एक दिन के लिए राज्यासीन होने का आग्रह किया, जिसे मेघ ने मौनभाव से स्वीकार कर लिया। बड़े ठाठ-बाट से राज्याभिषेक हुआ। राजकुमार मेघ अब सम्राट् मेघ बन गए। मगर उनका संकल्प कब बदलने वाला था! तत्काल ही उन्होंने संयम ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की और उपकरणों की मांग की। एक लाख स्वर्ण-मोहरों से पात्र एवं एक लाख से वस्त्र खरीदे गए। एक लाख मोहरें देकर शिरोमुंडन के लिए नाई बुलवाया गया। बड़े ऐश्वर्य के साथ दीक्षा हो गई। सम्राट् ने स्वेच्छापूर्वक भिक्षुक-जीवन अंगीकार कर लिया। इस प्रकार की महान् क्रान्ति करने का सामर्थ्य सिर्फ धर्म में ही है। संसार के अन्य किसी वाद में नहीं।

'समयं गोयम! मा पमायए' सूत्र अत्यन्त सारपूर्ण है। जीवन का तलस्पर्शी और व्यापक अनुभव इसमें समाया है। मनुष्य एक क्षण के लिए असावधान होता है—गफलत में पड़ता है कि अन्तरतर में छिपे-दबे विकार आक्रमण कर बैठते हैं। बड़ी से बड़ी उंचाई पर से उसे नीचे गिरा देते हैं। मेघ मुनि के जीवन में कुछ ऐसा ही घटित हुआ।

दीक्षा की पहली रात थी। ज्येष्ठानुक्रम—वड़े-छोटे के क्रम से संस्तारक (विछौने) विछाए गये। मेघ मुनि उस समय सब से छोटे थे। उनका विस्तर द्वार के पास लगा, जहाँ से मुनियों का आवागमन था। आते-जाते मुनियों के पैरों की धूल उनके शरीर पर गिरती, कभी पैरों की टक्कर लगती। फूलों की सेज पर सोने वाले मेघ मुनि को ऐसी स्थिति में निद्रा कैसे आती? वड़े कष्ट में वह रात व्यतीत हुई, मगर उन्होंने प्रातः ही उपाश्रय छोड़कर वापिस राजमहल में लौट जाने का विचार कर लिया। अलवत्ता भगवान् महावीर की अनुमति लेकर ही ऐसा करने का निश्चय किया। प्रातः काल जब वे अनुमति लेने भगवान् के निकट पहुँचे तो अन्तर्यामी भगवान् ने उनके मनोभाव को पहले ही प्रकट कर दिया। साथ ही पूर्व के हाथी के भवों में सहन की गई घोरातिघोर व्यथाओं का विस्तृत वर्णन सुनाया। कहा-'अव तुम इतना-सा कष्ट भी सहन नहीं कर सकते?'

भगवान् के वचन सुनते ही मेघ मुनि को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे स्पष्ट रूप से अपने पूर्वभवों को देखने-जानने लगे। अपनी स्खलना-दुर्वलता के लिए पश्चात्ताप करने लगे। बोले—'भंते! आज से दो नेत्र छोड़कर यह समग्र शरीर श्रमण निर्ग्रन्थों की सेवा के लिए समर्पित है।'

मेघ मुनि ने पुनः दीक्षा अंगीकार करके अपनी स्खलना के लिए प्रायश्चित्त किया। ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। भिक्षु-प्रतिमाएँ अंगीकार कीं, गुणरत्नसंवत्सर तपश्चरण किया। इन तपश्चर्याओं से उनका शरीर निर्बल हो गया किन्तु आत्मा अतिशय वलशाली वन गई। समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर वे विजय नामक अनुत्तर विमान में देव के रूप में जन्मे। वहाँ से च्यवन कर मनुष्य-भव धारण करके अन्त में कैवल्य प्राप्त करके वे शाश्वत सुख-मुक्ति के भागी होंगे। विस्तृत विवेचन जानने के लिए पाठक इस अध्ययन का स्वयं अध्ययन करें।

पढमं अज्झयणं: उक्खित्तणाए

प्रारम्भ—

१—तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नामं नयरी होत्था, वण्णओ[1]।

उस काल में अर्थात् इस अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में और उस समय में अर्थात् कूणिक राजा के समय में चम्पा नामक नगरी थी। उसका वर्णन उववाई सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिए।

२—तीसे णं चम्पाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए पुण्णभद्दे नामं चेइए होत्था, वण्णओ[2]।

उस चम्पा नगरी के बाहर, उत्तरपूर्व दिक्-कोण में अर्थात् ईशान भाग में, पूर्णभद्र नामक चैत्य था। उसका भी वर्णन उववाई सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिए।

३—तत्थ णं चम्पाए णयरीए कोणिओ नामं राया होत्था, वण्णओ[3]।

चम्पा नगरी में कूणिक नामक राजा था। उसका भी वर्णन उववाई सूत्र से जान लेना चाहिए।

आर्य सुधर्मा

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मे नामं थेरे जाइसंपन्ने, कुलसंपन्ने, बल-रूप-विणय-णाण-दंसण-चरित्त-लाघव-संपन्ने ओयंसी, तेयंसी, वच्चंसी, जसंसी, जियकोहे, जियमाणे, जियमाए, जियलोहे, जियइंदिए, जियनिद्दे, जियपरिसहे, जीवियास-मरण-भयविप्पमुक्के, तवप्पहाणे, गुणप्पहाणे, एवं करण-चरण-निग्गह-णिच्छय-अज्जव-मद्दव-लाघव-खंति-गुत्ति-मुत्ति-विज्जा-मंत-बंभ-वेय-नय-नियम-सच्च-सोय-णाण-दंसण-चरित्तप्पहाणे, ओराले, घोरे, घोरव्वए घोरतवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्त-विउलतेउलेस्से चोद्दसपुव्वी, चउनाणोवगए, पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहंसुहेणं विहरमाणे, जेणेव चम्पा नयरी, जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हइ; ओगिण्हित्ता संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विरहति।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य आर्य सुधर्मा नामक स्थविर थे। वे जातिसम्पन्न-उत्तम मातृपक्ष वाले थे, कुलसम्पन्न-उत्तम पितृपक्ष वाले थे, उत्तम संहनन से उत्पन्न बल से युक्त थे, अनुत्तर विमानवासी देवों की अपेक्षा भी अधिक रूपवान् थे, विनयवान्, चार ज्ञानवान्, क्षायिक सम्यक्त्ववान्, लाघववान् (द्रव्य से अल्प उपधि वाले और भाव से ऋद्धि रस एवं साता रूप तीन गौरवों से रहित) थे, ओजस्वी अर्थात् मानसिक तेज से सम्पन्न या चढ़ते परिणाम वाले, तेजस्वी अर्थात् शारीरिक कान्ति से देदीप्यमान, वचस्वी-सगुण वचन वाले, यशस्वी, क्रोध को जीतने वाले,

१. औपपातिक सूत्र १, २. औप० सूत्र २, ३. औप० सूत्र ६

मान को जीतने वाले, माया को जीतने वाले, लोभ को जीतने वाले, पाँचों इन्द्रियों को जीतने वाले, निद्रा को जीतने वाले, परीषहों को जीतने वाले, जीवित रहने की कामना और मृत्यु के भय से रहित, तप:प्रधान अर्थात् अन्य मुनियों की अपेक्षा अधिक तप करने वाले या उत्कृष्ट तप करने वाले, गुणप्रधान अर्थात् गुणों के कारण उत्कृष्ट या उत्कृष्ट संयम-गुण वाले, करणप्रधान-पिण्डविशुद्धि आदि करण-सत्तरी में प्रधान,चरणप्रधान-महाव्रत आदि चरणसत्तरी में प्रधान, निग्रहप्रधान-अनाचार में प्रवृत्ति न करने के कारण उत्तम, तत्त्व का निश्चय करने में प्रधान, इसी प्रकार आर्जवप्रधान, मार्दवप्रधान, लाघव-प्रधान, अर्थात् क्रिया करने के कौशल में प्रधान, क्षमाप्रधान, गुप्तिप्रधान, मुक्ति (निर्लोभता) में प्रधान, देवता-अधिष्ठित प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं में प्रधान, मंत्रप्रधान अर्थात् हरिणगमेषी आदि देवों से अधिष्ठित विद्याओं में प्रधान, ब्रह्मचर्य अथवा समस्त कुशल अनुष्ठानों में प्रधान, वेदप्रधान अर्थात् लौकिक एवं लोकोत्तर आगमों में निष्णात, नयप्रधान, नियमप्रधान—भाँति-भाँति के अभिग्रह धारण करने में कुशल, सत्यप्रधान, शौचप्रधान, ज्ञानप्रधान, दर्शनप्रधान, चारित्रप्रधान, उदार अर्थात् अपनी उग्र तपश्चर्या से समीपवर्ती अल्पसत्त्व वाले मनुष्यों को भय उत्पन्न करने वाले, घोर अर्थात् परीषहों, इन्द्रियों और कषायों आदि आन्तरिक शत्रुओं का निग्रह-करने में कठोर, घोरव्रती अर्थात् महाव्रतों को आदर्श रूप से पालन करने वाले, घोर तपस्वी, उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, शरीर-संस्कार के त्यागी, विपुल तेजोलेश्या को अपने शरीर में ही समाविष्ट करके रखने वाले, चौदह पूर्वों के ज्ञाता, चार ज्ञानों के धनी, पाँच सौ साधुओं से परिवृत, अनुक्रम से चलते हुए, एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विचरण करते हुए, सुखे-सुखे विहार करते हुए, जहाँ चम्पा नगरी थी और जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, उसी जगह आये। आकर यथोचित अवग्रह को ग्रहण किया, अर्थात् उपाश्रय की याचना करके उसमें स्थित हुए। अवग्रह को ग्रहण करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

५—तए णं चंपाए नयरीए परिसा निग्गया। कोणिओ निग्गओ। धम्मो कहिओ। परिसा जामेव दिसं पाउब्भूआ, तामेव दिसिं पडिगया।

तत्पश्चात् चम्पा नगरी से परिषद् (जनसमूह) निकली। कूणिक राजा भी (वन्दना करने के लिए) निकला। सुधर्मा स्वामी ने धर्म का उपदेश दिया। उपदेश सुनकर परिषद् जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा में लौट गई।

जम्बू स्वामी

६—तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स जेट्ठे अंतेवासी अज्जजंबूणामं अणगारे कासवगोत्तेणं सत्तुस्सेहे जाव [समचउरंस-संठाण-संठिए, वइररिसहनाराय-संघयणे, कणग-पुलग-निघस-पम्हगोरे, उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, उराले, घोरे, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोरबंभ-चेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्त-विउलतेउलेस्से] अज्जसुहमस्स थेरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

उस काल और उस समय में आर्य सुधर्मा अनगार के ज्येष्ठ शिष्य आर्य जम्बू नामक अनगार थे, जो काश्यप गोत्रीय और सात हाथ ऊँचे शरीर वाले, [समचौरस संस्थान तथा वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन वाले थे, कसौटी पर खींची हुई स्वर्णरेखा के सदृश, तथा कमल के गर्भ के समान गौरवर्ण थे। उग्र तपस्वी, कर्मवन को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान तेजोमय तप वाले, तप्ततपस्वी—अपनी

आत्मा को तपोमय बनाने वाले, महातपस्वी—प्रशस्त और दीर्घ तप वाले, उदार-प्रधान, घोर कषायादि शत्रुओं के उन्मूलन में कठोर, घोरगुण—दूसरों के लिए दुरनुचर मूलोत्तर गुणों से सम्पन्न, उग्रतपस्वी, अन्यों के लिए कठिन ब्रह्मचर्य में लीन, शारीरिक संस्कारों का त्याग करने वाले—शरीर के प्रति सर्वथा ममत्वहीन, सैकड़ों योजनों में स्थित वस्तु को भस्म कर देने वाली विस्तीर्ण तेजोलेश्या को शरीर में ही लीन रखने वाले—विपुल तेजोलेश्या का प्रयोग न करने वाले] आर्य सुधर्मा से न बहुत दूर, न बहुत समीप अर्थात् उचित स्थान पर, ऊपर घुटने और नीचा मस्तक रखकर ध्यानरूपी कोष्ठ में स्थित होकर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

जम्बू स्वामी की जिज्ञासा

७—तए णं से अज्जजंबूणामे अणगारे जायसड्ढे, जायसंसए, जायकोउहल्ले, संजातसड्ढे, संजात-संसए, संजातकोउहल्ले, उप्पन्नसड्ढे, उप्पन्नसंसए, उप्पन्नकोउहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे, समुप्पन्नसंसए, समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेति। उट्ठाए उट्ठित्ता जेणामेव अज्जसुहम्मे थेरे तेणामेव उवागच्छति। उवागच्छित्ता अज्जसुहम्मे थेरे तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ। करेत्ता वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता अज्जसुहम्मस्स थेरस्स णच्चासन्ने नातिदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहं पंजलिउडे विणएणं पज्जुवासमाणे एवं वयासी।

तत्पश्चात् आर्य जम्बू नामक अनगार को तत्त्व के विषय में श्रद्धा (जिज्ञासा) हुई, संशय हुआ, कुतूहल हुआ, विशेष रूप से श्रद्धा हुई, विशेष रूप से संशय हुआ और विशेष रूप से कुतूहल हुआ। श्रद्धा उत्पन्न हुई, संशय उत्पन्न हुआ और कुतूहल उत्पन्न हुआ। विशेष रूप से श्रद्धा उत्पन्न हुई, विशेष रूप से संशय उत्पन्न हुआ और विशेष रूप से कुतूहल हुआ। तब वह उत्थान करके उठ खड़े हुए और उठ करके जहाँ आर्य सुधर्मा स्थविर थे, वहीं आये। आकर आर्य सुधर्मा स्थविर की तीन बार दक्षिण दिशा से आरम्भ करके प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वाणी से स्तुति की और काया से नमस्कार किया। स्तुति और नमस्कार करके आर्य सुधर्मा स्थविर से न बहुत दूर और न बहुत समीप-उचित स्थान पर स्थित होकर, सुनने की इच्छा करते हुए सन्मुख दोनों हाथ जोड़कर विनयपूर्वक पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले।

विवेचन—श्रद्धा का अर्थ यहाँ इच्छा है। जम्बू स्वामी को तत्त्व जानने की इच्छा हुई, क्योंकि श्रीवर्धमान स्वामी ने जैसे पाँचवें अङ्ग का अर्थ कहा है, उसी प्रकार छठे अङ्ग का अर्थ कहा है या नहीं ? इस प्रकार का संशय उत्पन्न हुआ। संशय उत्पन्न होने का कारण यह था कि 'पंचम अङ्ग में समस्त पदार्थों का स्वरूप बतला दिया गया है तो फिर छठे अङ्ग में क्या कहा होगा ?' इस प्रकार का कुतूहल हुआ। इस प्रकार श्रद्धा, संशय और कुतूहल में कार्यकारण भाव है। अर्थात् कुतूहल से संशय का जन्म हुआ और संशय ने श्रद्धा—जानने की इच्छा उत्पन्न की।

जात का अर्थ सामान्य रूप से होना, संजात का अर्थ विशेष रूप से होना, उत्पन्न का अर्थ सामान्य रूप से उत्पन्न होना और समुत्पन्न का अर्थ विशेष रूप से उत्पन्न होना है।

८—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं, आइगरेणं, तित्थयरेणं, सयंसंबुद्धेणं,
पुरिसुत्तमेणं, पुरिससीहेणं, पुरिसवरपुंडरीएणं, पुरिसवर—गंधहत्थिणा,
लोगुत्तमेणं लोगनाहेणं, लोगहिएणं, लोगपईवेणं, लोग-पज्जोयगरेणं,

अभयदएणं, सरणदएणं, चक्खुदएणं, मग्गदएणं, बोहिदएणं, धम्मदएणं,

धम्मदेसएणं, धम्मनायगेणं, धम्मसारहिणा, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टिणा,

अप्पडिहयवरनाणदंसणधरेणं, वियट्टछउमेणं, जिणेणं, जावएणं[1] तिन्नेणं, तारएणं, मुत्तेणं, मोअगेणं, बुद्धेणं, बोहएणं, सव्वन्नेणं, सव्वदरिसणेणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिअं सासयं ठाणमुवगएणं, पंचमस्स अंगस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, छट्ठस्स णं भंते ! अंगस्स णायाधम्मकहाणं के अट्ठे पन्नत्ते ?

श्री जम्बू स्वामी ने श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया—भगवन् ! यदि श्रुतधर्म की आदि करने वाले, गुरूपदेश के बिना स्वयं ही बोध को प्राप्त, पुरुषों में उत्तम, कर्म-शत्रु का विनाश करने में पराक्रमी होने के कारण पुरुषों में सिंह के समान, पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान, पुरुषों में गन्धहस्ती के समान, अर्थात् जैसे गन्धहस्ती की गन्ध से ही अन्य हस्ती भाग जाते हैं, उसी प्रकार जिनके पुण्य-प्रभाव से ही ईति, भीति आदि का विनाश हो जाता है, लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक का हित करने वाले, लोक में प्रदीप के समान, लोक में विशेष उद्योत करने वाले, अभय देने वाले, शरणदाता, श्रद्धा रूप नेत्र के दाता, धर्ममार्ग के दाता, बोधिदाता, देशविरति और सर्वविरति रूप धर्म के दाता, धर्म के उपदेशक, धर्म के नायक, धर्म के सारथि, चारों गतियों का अन्त करने वाले धर्म के चक्रवर्त्ती अथवा सम्पूर्ण भरत क्षेत्र में धर्म सम्बन्धी चक्रवर्त्ती—सर्वोत्कृष्ट, कहीं भी प्रतिहत न होने वाले केवल ज्ञान-दर्शन के धारक, घातिकर्म रूप छद्म के नाशक, रागादि को जीतने वाले और उपदेश द्वारा अन्य प्राणियों को जिताने वाले, संसार-सागर से स्वयं तिरे हुए और दूसरों को तारने वाले, स्वयं कर्मबन्धन से मुक्त और उपदेश द्वारा दूसरों को मुक्त करने वाले, स्वयं बोध-प्राप्त और दूसरों को बोध देने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव-उपद्रवरहित, अचल-चलन आदि क्रिया से रहित, अरुज-शारीरिक व्याधि की वेदना से रहित, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति—पुनरागमन से रहित सिद्धिगति नामक शाश्वत स्थान को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने पाँचवें अंग का यह (जो आपने कहा) अर्थ कहा है, तो भगवन् ! छठे अंग ज्ञाताधर्मकथा का क्या अर्थ कहा है ?

सुधर्मा स्वामी का समाधान

९—जंबु त्ति, तए णं अज्जसुहम्मे थेरे अज्जजंबूणामं अणगारं एवं वयासी—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव[2] संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स दो सुयक्खंधा पण्णत्ता, तंजहा—णायाणि य धम्मकहाओ य।

'हे जम्बू !' इस प्रकार सम्बोधन करके आर्य सुधर्मा स्थविर ने आर्य जम्बू नामक अनगार से इस प्रकार कहा—जम्बू ! यावत् सिद्धिस्थान को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने छठे अङ्ग ज्ञाता-धर्मकथा के दो श्रुतस्कन्ध प्ररूपण किये हैं। वे इस प्रकार हैं— ज्ञात (उदाहरण) और धर्मकथा।

१०—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स दो सुयक्खंधा पण्णत्ता, तंजहा—णायाणि य धम्मकहाओ य, पढमस्स णं भंते ! सुयक्खंधस्स समणेणं जाव[3] संपत्तेणं णायाणं कइ अज्झयणा पण्णत्ता ?

---

१. पाठान्तर-जाणएणं (ज्ञायक) २-३—सूत्र ८

जम्बू स्वामी पुनः प्रश्न करते हैं—भगवन् ! यदि यावत् सिद्धिस्थान को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने छठे अंग के दो श्रुतस्कन्ध प्ररूपित किये हैं—ज्ञात और धर्मकथा, तो भगवन् ! ज्ञात नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के यावत् सिद्धिस्थान को प्राप्त श्रमण भगवान् ने कितने अध्ययन कहे हैं ?

११—एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव[1] संपत्तेणं णायाणं एगूणवीसं-अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—

उक्खित्तणाए, संघाडे, अंडे, कुम्मे य, सेलगे।
तुंबे य, रोहिणी, मल्ली, माइंदी, चंदिमाइ य ॥१॥
दावद्दवे, उदगणाए, मंडुक्के, तेयली, वि य।
णंदिफले, अमरकंका, आइण्णे, सुसमाइ य ॥२॥
अवरे य पुंडरीए, णामा एगूणवीसइमे।

हे जम्बू ! यावत् सिद्धिस्थान को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने ज्ञात नामक श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययन कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) उत्क्षिप्त ज्ञात (२) संघाट (३) अंडक (४) कूर्म (५) शैलक (६) रोहिणी (७) मल्ली (८) माकंदी (९) चन्द्र (१०) दावद्रववृक्ष (११) तुम्ब (१२) उदक (१३) मंडूक (१४) तेतलीपुत्र (१५) नन्दीफल (१६) अमरकंका (द्रौपदी) (१७) आकीर्ण (१८) सुषमा (१९) पुण्डरीक-कुण्डरीक यह उन्नीस ज्ञात अध्ययनों के नाम है।

१२—जइ णं भंते ! समणेणं जाव[1] संपत्तेणं णायाणं एगूणवीसं अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—उक्खित्तणाए जाव पुंडरीए य, पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

भगवन् ! यदि श्रमण यावत् सिद्धिस्थान को प्राप्त भगवान् महावीर ने ज्ञात-श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययन कहे हैं, यथा—उत्क्षिप्तज्ञात यावत् पुण्डरीक, तो भगवन् ! प्रथम अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?

१३—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे, भारहे वासे, दाहिणड्ढभरहे, रायगिहे णामं णयरे होत्था, वण्णओ[2]। गुणसीले चेइए, वण्णओ[3]।

हे जम्बू ! उस काल और उस समय में, इसी जम्बूद्वीप में, भारतवर्ष में, दक्षिणार्ध भरत में राजगृह नामक नगर था। उसका वर्णन उववाई सूत्र में वर्णित चम्पा नगरी के समान जान लेना चाहिए। राजगृह के ईशान कोण में गुणशील नामक उद्यान था। उसका वर्णन भी औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।

१४—तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था महया हिमवंत० वण्णओ[4]। तस्स णं सेणियस्स रण्णो णंदा णामं देवी होत्था सुकुमालपाणिपाया वण्णओ[5]।

उस राजगृह नगर में श्रेणिक नामक राजा था। वह महाहिमवंत पर्वत के समान था, इत्यादि वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए। उस श्रेणिक राजा की नन्दा नामक देवी थी। वह सुकुमार हाथों-पैरों वाली थी इत्यादि वर्णन भी औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।

१—सूत्र ८

१. सूत्र ८, २. औप. सूत्र १, ३. औप. सूत्र २, ४. औप. सूत्र ६, ५. औप. सूत्र ७

अभयकुमार

१५—तस्स णं सेणियस्स पुत्ते णंदा देवीए अत्तए अभए णामं कुमारे होत्था; अहीण जाव [अहीण-पडिपुण्ण-पंचिंदियसरीरे लक्खण-वंजण-गुणोववेए माणुम्माण-पमाण-पडिपुण्ण-सुजाय-सव्वंग-सुंदरंगे, ससिसोमाकारे कंते पियदंसणे सुरूवे, साम-दंड-भेय-उवप्पयाण-णीति-सुप्पउत्तणय-विहण्णू, ईहापोह-मग्गण-गवेसण-अत्थसत्थमई, विसारए, उप्पत्तियाए, वेणइयाए, कम्मइयाए, पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेए, सेणियस्स रण्णो बहुसु कज्जेसु य, कुडुंबेसु य, मंतेसु य, गुज्झेसु य, रहस्सेसु य, णिच्छएसु य, आपुच्छणिज्जे, पडिपुच्छणिज्जे, मेढी, पमाणं, आहारे, आलंबभूए, पमाणभूए, आहारभूए, चक्खुभूए, सव्वकज्जेसु य, सव्वभूमियासु य लद्धपच्चए, विइण्णवियारे, रज्जधुरचिंतए यावि होत्था। सेणियस्स रण्णो रज्जं च, रट्ठं य, कोसं च, कोट्ठागारं च, वाहणं च, पुरं च, अंतेउरं च, सयमेव समुपेक्खमाणे-समुपेक्खमाणे विहरइ।

श्रेणिक राजा का पुत्र और नन्दा देवी का आत्मज अभय नामक कुमार था। वह शुभ लक्षणों से युक्त तथा स्वरूप से परिपूर्ण पाँचों इंद्रियों से युक्त शरीरवाला था। यावत् (स्वस्तिक चक्र आदि लक्षणों एवं तिलक आदि व्यजनों के गुणों से युक्त था। मान-उन्मान और प्रमाण से परिपूर्ण तथा सुन्दर सर्वांगों से सुशोभित था। चन्द्रिका के समान सौम्य तथा कमनीय था। देखने वालों को उसका रूप प्रियकर लगता था) वह सुरूप था। साम, दंड, भेद एवं उपप्रदान नीति में निष्णात तथा व्यापार नीति की विधि का ज्ञाता था। ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा तथा अर्थशास्त्र में कुशल था। औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी, इन चार प्रकार की बुद्धियों से युक्त था। वह श्रेणिक राजा के लिए बहुत-से कार्यों में, कौटुम्बिक कार्यों में, मंत्रणा में, गुह्य कार्यों में, रहस्यमय मामलों में, निश्चय करने में, एक बार और बार-बार पूछने योग्य था, अर्थात् श्रेणिक राजा इन सब विषयों में अभय कुमार की सलाह लिया करता था। वह सब के लिए मेढ़ी (खलिहान में गाड़ा हुआ स्तंभ, जिसके चारों ओर घूम-घूम कर बैल धान्य को कुचलते हैं) के समान था, पृथ्वी के समान आधार था, रस्सी के समान आलम्बन रूप था, प्रमाणभूत था, आधारभूत था, चक्षुभूत था, सब और सब स्थानों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला था। सब को विचार देने वाला था। तथा राज्य की धुरा को धारण करने वाला था। वह स्वयं ही राज्य (शासन) राष्ट्र (देश) कोश, कोठार (अन्नभंडार) बल (सेना) और वाहन—(सवारी के योग्य हाथी अश्व आदि) पुर (नगर) और अन्तःपुर की देखभाल करता रहता था।

विवेचन—पानी का एक कुंड लबालब भरा हुआ हो और उसमें पुरुष को बिठाने पर एक द्रोण (प्राचीन नाप) पानी बाहर निकले तो वह पुरुष मान-संगत कहलाता है। तराजू पर तोलने पर यदि अर्ध भार प्रमाण तुले तो वह उन्मान-संगत कहलाता है। अपने अंगुल से एक सौ आठ अंगुल ऊँचा हो तो वह प्रमाण-संगत कहलाता है।

अभयकुमार जहाँ शरीरसौष्ठव से सम्पन्न था वहीं अतिशय बुद्धिशाली भी था। सूत्र में उसे चार प्रकार की बुद्धियों से युक्त बतलाया गया है। चार प्रकार की बुद्धियों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) औत्पत्तिकी बुद्धि—सहसा उत्पन्न होने वाली सूझ-बूझ। पूर्व में कभी नहीं देखे, सुने अथवा जाने किसी विषय को एकदम समझ लेना, कोई विषम समस्या उपस्थित होने पर तत्क्षण

उसका समाधान खोज लेने वाली बुद्धि ।

(२) वैनयिकी-विनय से प्राप्त होने वाली बुद्धि ।

(३) कर्मजा—कोई भी कार्य करते-करते, चिरकालीन अभ्यास से जो दक्षता प्राप्त होती है वह कर्मजा, कार्मिकी अथवा कर्मसमुत्था बुद्धि कही जाती है ।

(४) पारिणामिकी—उम्र के परिपाक से-जीवन के विभिन्न अनुभवों से प्राप्त होने वाली बुद्धि ।

मतिज्ञान मूल में दो प्रकार का है-श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित । जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के पूर्वकालिक संस्कार के आधार से-निमित्त से उत्पन्न होता है किन्तु वर्त्तमान में श्रुतनिरपेक्ष होता है, वह श्रुतनिश्रित कहा जाता है । जिसमें श्रुतज्ञान के संस्कार की तनिक भी अपेक्षा नहीं रहती वह अश्रुतनिश्रित :मतिज्ञान कहलाता है । उल्लिखित चारों प्रकार की बुद्धियां इसी विभाग के अन्तर्गत हैं । चारों बुद्धियों को सोदाहरण विस्तृत रूप से समझने के लिए नन्दीसूत्र देखना चाहिए ।

महारानी धारिणी

१६—तस्स णं सेणियस्स रण्णो धारिणीणामं देवी होत्था, सुकुमालपाणि-पाया अहीणपंचिंदियसरीरा लक्खण-वंजण-गुणोववेया माणुम्माण-प्पमाण-सुजाय-सव्वंगसुंदरंगी ससिसोमाकार-कंत-पियदंसणा सुरूवा करयल-परिमित-तिवलिय-वलियमज्झा कोमुइ-रयणियर-विमल-पडिपुण्ण-सोमवयणा कुंडलुल्लिहिय-गंडलेहा, सिंगारागार-चारुवेसा संगय-गय-हसिय-भणिय-विहिय-विलास-सललिय-संलाव-निउण-जुत्तोवयारकुसला पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा सेणियस्स रण्णो इट्ठा जाव [कंता पिया मणुण्णा मणामा धेज्जा वेसासिया सम्मया बहुमया अणुमया भंडकरंडगसमाणा तेल्लकेला इव सुसंगोविया चेलपेडा इव सुसंपरिगिहीया रयणकरंडगो विव सुसारक्खिया, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाला, मा णं चोरा, मा णं वाइय-पित्तिय-सिंभिय-सन्निवाइय विविहा रोगायंका फुसंतु त्ति कट्टु सेणिएणं रण्णा सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं पच्चणुभवमाणी विहरइ ।

उस श्रेणिक राजा की धारिणी नामक देवी (रानी) थी । उसके हाथ और पैर बहुत सुकुमार थे । उसके शरीर में पाँचों इन्द्रियाँ अहीन-शुभ लक्षणों से सम्पन्न और प्रमाणयुक्त थीं । वह शंख चक्र आदि शुभ लक्षणों तथा मसा तिल आदि व्यंजनों के गुणों से अथवा लक्षणों, व्यंजनों और गुणों से युक्त थी, माप तोल और नाप से बराबर थी, उसके सभी अंग सुंदर थे, चन्द्रमा के सदृश सौम्य आकृति वाली, कमनीय, प्रियदर्शना और सुरूपवती थी । उसका मध्यभाग इतना पतला था कि मुट्ठी में आ सकता था, प्रशस्त त्रिवली से युक्त था और उसमें वलि पड़े हुए थे । उसका मुख-मंडल कार्तिकी पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान निर्मल, परिपूर्ण और सौम्य था । उसकी गंडलेखा-कपोल-पत्रवल्ली कुंडलों से शोभित थी । उसका सुशोभन वेष शृंगार रस का स्थान-सा प्रतीत होता था उसकी चाल, हास्य, भाषण, शारीरिक और नेत्रों की चेष्टाएं-सभी कुछ संगत था । वह पारस्परिक वार्तालाप करने में भी निपुण थी । दर्शक के चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाली, दर्शनीय, रूपवती और अतीव रूपवती थी । वह श्रेणिक राजा की वल्लभा थी, यावत् [कान्त, प्रिय, मनोज्ञ अतीव मनोहर, धैर्य का स्थान, विश्वासपात्र, सम्मत, बहुमत, अनुमत अर्थात् अतीव मान्य, आभूषणों तथा वस्त्रों के पिटारे के समान,

यत्नपूर्वक सुरक्षित, मृत्तिकापात्र के समान सार-संभालपूर्वक गृहीत, रत्नों की पेटी के समान सम्हाली हुई, इसे सर्दी न लग जाए, गर्मी न लग जाए, डांस मच्छर कष्ट न पहुँचाएँ, सर्प न डस जाए, चोर न उठा ले जाएँ, वात-पित्त-कफ अथवा सन्निपात जनित विविध प्रकार के रोग या आतंक—सहसा उत्पन्न होने वाले या मारणान्तिक रोग न हो जाएं, इस प्रकार की सावधानी से सार-संभाल की जाती हुई वह महारानी धारिणी श्रेणिक राजा के साथ विपुल भोगों का अनुभव करती हुई] सुख भोगती हुई रहती थी।

धारिणी का स्वप्नदर्शन

१७—तए णं सा धारिणी देवी अण्णया कयाइ तंसि तारिसगंसि छक्कट्ठक-लट्ठमट्ठसंठिय-खंभुग्गय-वरसालभंजिय-उज्जलमणिकणगरयण—थूभिय-विडंगजालद्धचंदणिज्जूहकंतरकणयालिचंदसालिया-विभत्तिकलिए, सरसच्छधाऊवलवण्णरइए, बाहिरओ दूमियघट्ठमट्ठे, अब्भिंतरओ पसत्त-सुइलिहियचित्त-कम्मे, णाणाविहपंचवण्णमणिरयणकोट्टिमतले, पउमलया-फुल्लवल्लि-वरपुप्फजाइ-उल्लोयचित्तियतले, चंदणवरकणगकलस—सुविणिम्मियपडिपुंजियसरसपउमसोहंतदारभाए, पयरगालंबंतमणिमुत्तदाम-सुविरइयदारसोहे, सुगंध-वरकुसुम-मउयपम्हलसयणोवयारे, मणहिययनिव्वुइकरे, कप्पूर-लवंग-मलय-चंदण-कालागुरु-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूवडज्झंतसुरभिमघमघंतगंधुद्धयाभिरामे, सुगंधवरगंधिए गंध-वट्टिभूए, मणिकिरणपणासियंधयारे, किं बहुणा ? जुइगुणेहिं सुरवरविमाणवेलंबियवरघरए;

तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि, सालिंगणवट्टिए उभओ विब्बोयणे, दुहओ उन्नए, मज्झेण य गंभीरे, गंगापुलिणवालुयाउद्दालसालिसए, उयचियखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छिन्ने, अत्थरय-मलय-नवतय-कुसत्त-लिंब-सीहकेसरपच्चुत्थए, सुविरइयरयत्ताणे रत्तंसुयसंवुए, सुरम्मे, आइणग-रुय-बूर-णवणीय-तुल्लफासे;

पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि सुत्त—जागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी एगं, महं, सत्तुस्सेहं. रययकूडसन्निहं, नहयलंसि सोमं सोमाकारं लीलायंतं जंभायमाणं मुहमइगयं गयं पासित्ता णं पडिबुद्धा।

वह धारिणी देवी किसी समय अपने उत्तम भवन में शय्या पर सो रही थी। वह भवन कैसा था? उसके बाह्य आलन्दक या द्वार पर तथा मनोज्ञ, चिकने, सुंदर आकार वाले और ऊँचे खंभों पर अतीव उत्तम पुतलियाँ बनी हुई थीं। उज्ज्वल मणियों, कनक और कर्केतन आदि रत्नों के शिखर, कपोत-पाली, गवाक्ष, अर्ध-चंद्राकार सोपान, निर्यूहक (दरवाजे के दोनों ओर निकले हुए काष्ठ) अंतर या निर्यूहकों के बीच का भाग, कनकाली तथा चन्द्रमालिका (घर के ऊपर की शाला), आदि घर के विभागों की सुन्दर रचना से युक्त था। स्वच्छ गेरु से उसमें उत्तम रंग किया हुआ था। बाहर से उसमें सफेदी की गई थी, कोमल पाषाण से घिसाई की गई थी, अतएव वह चिकना था। उसके भीतरी भाग में उत्तम और शुचि चित्रों का आलेखन किया गया था। उसका फर्श तरह-तरह की पंचरंगी मणियों और रत्नों से जड़ा हुआ था। उसका ऊपरी भाग (छत) पद्म के आकार की लताओं से, पुष्पप्रधान बेलों से तथा उत्तम पुष्पजाति-मालती आदि से चित्रित था। उसके द्वार-भागों में चन्दन-चर्चित, मांगलिक, घट सुन्दर ढंग से स्थापित किए हुए थे। वे सरस कमलों से सुशोभित थे। प्रतरक—स्वर्णमय आभूषणों से एवं मणियों तथा मोतियों की लंबी लटकने वाली मालाओं से उसके द्वार सुशोभित हो रहे थे। उसमें सुगंधित और श्रेष्ठ पुष्पों से कोमल और रुएँदार शय्या का उपचार किया गया था। वह मन एवं हृदय को आनन्दित करने वाला था। कपूर, लौंग, मलयज चन्दन, कृष्ण अगर, उत्तम कुन्दुरुक्क (चीड़ा) तुरुष्क (लोभान) और अनेक सुगंधित द्रव्यों से बने हुए धूप के

जलने से उत्पन्न हुई मघमघाती गंध से रमणीय था। उसमें उत्तम चूर्णों की गंध भी विद्यमान थी। सुगंध की अधिकता के कारण वह गंध-द्रव्य की ही वट्टी जैसा प्रतीत होता था। मणियों की किरणों के प्रकाश से वहाँ का अंधकार गायब हो गया था। अधिक क्या कहा जाय? वह अपनी चमक-दमक से तथा गुणों से उत्तम देवविमान को भी पराजित करता था।

इस प्रकार के उत्तम भवन में एक शय्या बिछी थी। उस पर शरीर-प्रमाण उपधान बिछा था। उसमें दोनों ओर—सिरहाने और पाँयते की जगह तकिए लगे थे। वह दोनों तरफ ऊँची और मध्य में झुकी हुई थी-गंभीर थी। जैसे गंगा के किनारे की बालू में पाँव रखने से पाँव धँस जाता है, उसी प्रकार उसमें धँस जाता था। कसीदा काढ़े हुए क्षौम दुकूल का चद्दर बिछा हुआ था। वह आस्तरक, मलक, नवत, कुशक्त, लिम्ब और सिंहकेसर नामक आस्तरणों से आच्छादित था। जब उसका सेवन नहीं किया जाता था तब उसपर सुन्दर बना हुआ रजस्त्राण पड़ा रहता था—उस पर मसहरी लगी हुई थी, वह अति रमणीय थी। उसका स्पर्श आजिनक (चर्म का वस्त्र) रुई, बूर नामक वनस्पति और मक्खन के समान नरम था।

ऐसी सुन्दर शय्या पर मध्य रात्रि के समय धारिणी रानी, जब न गहरी नींद में थी और न जाग ही रही थी, बल्कि बार-बार हल्की-सी नींद ले रही थी-ऊँघ रही थी, तब उसने एक महान्, सात हाथ ऊंचा, रजतकूट-चांदी के शिखर के सदृश श्वेत, सौम्य, सौम्याकृति, लीला करते हुए, जँभाई लेते हुए हाथी को आकाशतल से अपने मुख में प्रवेश करते देखा। देखकर वह जाग गई।

स्वप्ननिवेदन

१८—तए णं सा धारिणी देवी अयमेयारूवं उरालं, कल्लाणं सिवं धन्नं मंगल्लं सस्सिरीयं महासुमिणं पासित्ता णं पडिबुद्धा समाणी हट्ठतुट्ठा चित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया धाराहयकलंवपुप्फगंपिव समूससियरोमकूवा तं सुमिणं ओगिण्हइ। ओगिण्हइत्ता सयणिज्जाओ उट्ठेति, उट्ठेइत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता अतुरियमचवलम-संभंताए अविलंबियाए रायहंससरिसीए गईए जेणामेव से सेणिए राया तेणामेव उवागच्छइ। उवा-गच्छित्ता सेणियं रायं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहि मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरियाहिं, हिययगमणिज्जाहिं, हिययपल्हायणिज्जाहि मिय-महुर-रिभिय-गंभीर-सस्सिरीयाहिं गिराहिं संलवमाणी संलवमाणी पडिवोहेइ। पडिबोहेत्ता सेणिएणं रन्ना अब्भणुन्नाया समाणी णाणामणि-कणग-रयण-भत्तिचित्तंसि भद्दासणंसि निसीयइ। निसीइत्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया करयलपरिग्गहिअं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु, सेणियं रायं एवं वयासी।

तत्पश्चात् वह धारिणी देवी इस प्रकार के इस स्वरूप वाले, उदार प्रधान, कल्याणकारी, शिव-उपद्रव का नाश करने वाले, धन्य-धन प्राप्ति कराने वाले, मांगलिक-पाप विनाशक एवं सुशोभित महास्वप्न को देखकर जागी। उसे हर्ष और संतोष हुआ। चित्त में आनन्द हुआ। मन में प्रीति उत्पन्न हुई। परम प्रसन्नता हुई। हर्ष के वशीभूत होकर उसका हृदय विकसित हो गया। मेघ की धाराओं का आघात पाए कदम्ब के फूल के समान उसे रोमांच हो आया। उसने स्वप्न का विचार किया। विचार करके शय्या से उठी और उठकर पादपीठ से नीचे उतरी. नीचे उतर मानसिक त्वरा से रहित, शारीरिक चपलता से रहित, स्खलना से रहित, विलम्ब-रहित राजहंस जैसी गति से जहाँ श्रेणिक राजा था, वहीं आई। आकर श्रेणिक राजा को इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मणाम

(मन को अतिशय प्रिय), उदार-श्रेष्ठ स्वर एवं उच्चार से युक्त, कल्याण-समृद्धिकारक, शिव-निर्दोष होने के कारण निरुपद्रव, धन्य, मंगलकारी, सश्रीक-अलंकारों से सुशोभित, हृदय को प्रिय लगने वाली, हृदय को आह्लाद उत्पन्न करने वाली, परिमित अक्षरों वाली, मधुर-स्वरों से मीठी, रिभित-स्वरों की घोलना वाली, शब्द और अर्थ की गंभीरता वाली और गुण रूपी लक्ष्मी से युक्त वाणी बार-बार बोल कर श्रेणिक राजा को जगाती है। जगाकर श्रेणिक राजा की अनुमति पाकर विविध प्रकार के मणि, सुवर्ण और रत्नों की रचना से चित्र-विचित्र भद्रासन पर बैठती है। बैठ कर आश्वस्त-चलने के श्रम से रहित होकर, विश्वस्त-क्षोभरहित होकर, सुखद और श्रेष्ठ आसन पर बैठी हुई वह दोनों करतलों से ग्रहण की हुई और मस्तक के चारों ओर घूमती हुई अंजलि को मस्तक पर धारण करके श्रेणिक राजा से इस प्रकार कहती है —

१९—एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! अज्ज तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टिए जाव[1] नियगवयणमइवयंतं गयं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा। तं एयस्स णं देवाणुप्पिया ! उरालस्स जाव [कल्लाणस्स सिवस्स धण्णस्स मंगल्लस्स सस्सिरीयस्स] सुमिणस्स के मन्ने कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ ?।

देवानुप्रिय ! आज मैं उस पूर्ववर्णित शरीर-प्रमाण तकिया वाली शय्या पर सो रही थी, तब यावत् अपने मुख में प्रवेश करते हुए हाथी को स्वप्न में देख कर जागी हूँ। हे देवानुप्रिय ! इस उदार यावत् [कल्याणकारी, उपद्रवों का अन्त करने वाले, मांगलिक एवं सश्रीक-सुशोभन] स्वप्न का क्या फल-विशेष होगा ?

२०—तए णं सेणिए राया धारिणीए देवीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ-जाव [चित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवस-विसप्पमाण] हियए धाराहय-नीव-सुरभिकुसुम-चंचुमालइयतणू ऊससियरोमकूवे तं सुमिणं उग्गिण्हइ। उग्गिण्हित्ता ईहं पविसति, पविसित्ता अप्पणो साभाविएणं मइपुव्वएणं बुद्धिविन्नाणेणं तस्स सुमिणस्स अत्थोग्गहं करेइ। करित्ता धारिणिं देविं ताहिं जाव[2] हिययपल्हायणिज्जाहिं मिउमहुररिभियगंभीरसस्सिरियाहिं वग्गूहिं अणुवूहेमाणे अणुवूहेमाणे एवं वयासी।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा धारिणी देवी से इस अर्थ को सुनकर तथा हृदय में धारण करके हर्षित हुआ, [सन्तुष्ट हुआ, उसका चित्त आनन्दित हो उठा, मन में प्रीति उत्पन्न हुई, अतीव सौमनस्य प्राप्त हुआ, हर्ष के कारण उसकी छाती फूल गई] मेघ की धाराओं से आहत कदंब वृक्ष के सुगंधित पुष्प के समान उसका शरीर पुलकित हो उठा—उसे रोमांच हो आया। उसने स्वप्न का अवग्रहण किया—सामान्य रूप से विचार किया। अवग्रहण करके विशेष अर्थ के विचार रूप ईहा में प्रवेश किया। ईहा में प्रवेश करके अपने स्वाभाविक मतिपूर्वक बुद्धिविज्ञान से अर्थात् औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों से उस स्वप्न के फल का निश्चय किया। निश्चय करके धारिणी देवी से हृदय को आह्लाद उत्पन्न करने वाली मृदु, मधुर, रिभित, गंभीर और सश्रीक वाणी से बार-बार प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा।

श्रेणिक द्वारा स्वप्नफल कथन

२१—उराले णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणे दिट्ठे, कल्लाणे णं तुमे देवाणुप्पिए सुमिणे दिट्ठे,

---

१. सूत्र १७ २. सूत्र १८

सिवे धन्ने मंगल्ले सस्सिरीए णं तुमे देवाणुप्पिए ! सुमिणे दिट्ठे, आरोग्ग-तुट्ठि-दीहाउय-कल्लाण-मंगल्ल-कारए णं तुमे देवी सुमिणे दिट्ठे । अत्थलाभो ते देवाणुप्पिए, पुत्तलाभो ते देवाणुप्पिए रज्जलाभो भोगसोक्खलाभो ते देवाणुप्पिए।

एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाण य राइंदियाण विइक्कंताणं अम्हं कुलकेउं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलवडिंसयं कुलतिलकं कुलकित्तिकरं, कुलवित्तिकरं कुलणंदिकरं कुलजसकरं कुलाधारं कुलपायवं कुलविवद्धणकरं सुकुमालपाणिपायं जाव[1] दारयं पयाहिसि ।

'देवानुप्रिये ! तुमने उदार-प्रधान स्वप्न देखा है, देवानुप्रिये ! तुमने कल्याणकारी स्वप्न देखा है, देवानुप्रिये ! तुमने शिव-उपद्रव विनाशक, धन्य-धन की प्राप्ति कराने वाला, मंगलमय—सुखकारी और सश्रीक—सुशोभन स्वप्न देखा है। देवी ! आरोग्य, तुष्टि, दीर्घायु, कल्याण और मंगल करने वाला स्वप्न तुमने देखा है। देवानुप्रिये ! इस स्वप्न को देखने से तुम्हें अर्थ का लाभ होगा, देवानुप्रिये ! तुम्हें पुत्र का लाभ होगा, देवानुप्रिये ! तुम्हें राज्य का लाभ होगा, भोग का तथा सुख का लाभ होगा।

निश्चय ही देवानुप्रिये ! तुम पूरे नव मास और साढ़े सात रात्रि-दिन व्यतीत होने पर हमारे कुल की ध्वजा के समान, कुल के लिए दीपक के समान, कुल में पर्वत के समान किसी से पराभूत न होने वाला, कुल का भूषण, कुल का तिलक, कुल की कीर्त्ति बढ़ाने वाला, कुल की आजीविका बढ़ाने वाला, कुल को आनन्द प्रदान करने वाला, कुल का यश बढ़ाने वाला, कुल का आधार, कुल में वृक्ष के समान आश्रयणीय, और कुल की वृद्धि करने वाला तथा सुकोमल हाथ-पैर वाला पुत्र (यावत्) प्रसव करोगी।'

२२—से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुपत्ते सूरे वीरे विक्कंते विच्छिन्नविपुलबलवाहणे रज्जवती राया भविस्सइ। तं उराले णं तुमे देवीए सुमिणे दिट्ठे, जाव[2] आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाणकारए णं तुमे देवी ! सुमिणे दिट्ठे त्ति कट्टु भुज्जो भुज्जो अणुवूहेइ।

'वह बालक बाल्यावस्था को पार करके, कला आदि के ज्ञान में परिपक्व होकर, यौवन को प्राप्त होकर, शूर-वीर और पराक्रमी होगा। वह विस्तीर्ण और विपुल सेना तथा वाहनों का स्वामी होगा। राज्य का अधिपति राजा होगा। अतएव, देवि ! तुमने आरोग्यकारी तुष्टिकारी, दीर्घायुकारी और कल्याणकारी स्वप्न देखा है।' इस प्रकार कहकर राजा बार-बार उसकी प्रशंसा करने लगा।

२३—तए णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठ जाव[3] हियया करयलपरिग्गहियं जाव सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी।

तत्पश्चात् वह धारिणी देवी श्रेणिक राजा के इस प्रकार कहने पर हर्षित एवं सन्तुष्ट हुई। उसका हृदय आनन्दित हो गया। वह—दोनों हाथ जोड़कर आवर्त्त करके और मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार बोली—

२४—एवमेयं देवाणुप्पिया ! तहमेयं अवितहमेयं असंदिद्धमेयं इच्छियमेयं देवाणुप्पिया ! पडिच्छियमेयं इच्छियपडिच्छियमेयं, सच्चे णं एसमट्ठे जं णं तुब्भे वयह त्ति कट्टु तं सुमिणं सम्मं

---

१. औप सूत्र १४३   २. प्र. अ. सूत्र २१   ३. प्र. अ. २०

पडिच्छइ। पडिच्छित्ता सेणिएणं रण्णा अब्भणुण्णाया समाणी णाणामणिकणगरयणभत्तिचित्ताओ भद्दासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेत्ता जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सयंसि सयणिज्जंसि निसीअइ। निसीइत्ता एवं वयासी—

देवानुप्रिय! आपने जो कहा है सो ऐसा ही है। आपका कथन सत्य है, असत्य नहीं है, यह कथन संशय रहित है। देवानुप्रिय! आपका कथन मुझे इष्ट है, अत्यन्त इष्ट है, और इष्ट तथा अत्यन्त इष्ट है। आपने मुझसे जो कहा है सो यह अर्थ सत्य है। इस प्रकार कहकर धारिणी देवी स्वप्न को भलीभांति अंगीकार करती है। अंगीकार करके राजा श्रेणिक की आज्ञा पाकर नाना प्रकार के मणि, सुवर्ण और रत्नों की रचना से विचित्र भद्रासन से उठती है। उठकर जिस जगह अपनी शय्या थी, वहीं आती है। आकर शय्या पर बैठती है और बैठकर इस प्रकार (मन ही मन) कहती है—सोचती है—

२५—मा मे से उत्तमे पहाणे मंगल्ले सुमिणे अन्नेहिं पावसुमिणेहिं पडिहम्मिहि त्ति कट्टु देवय-गुरुजणसंबद्धाहिं पसत्थाहिं धम्मियाहिं कहाहिं सुमिणजागरियं पडिजागरमाणी विहरइ।

'मेरा यह स्वरूप से उत्तम और फल से प्रधान तथा मंगलमय स्वप्न, अन्य अशुभ स्वप्नों से नष्ट न हो जाय' ऐसा सोचकर धारिणी देवी, देव और गुरुजन संबंधी प्रशस्त धार्मिक कथाओं द्वारा अपने शुभ स्वप्न की रक्षा करने के लिए जागरण करती हुई विचरने लगी।

स्वप्नपाठकों का आह्वान

२६—तए णं सेणिए राया पच्चूसकालसमयंसि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! बाहिरियं उवट्ठाणसालं अज्ज सविसेसं परमरम्मं गंधोदगसित्त-सुइय-संमज्जिओवलित्तं पंचवन्न-सरस-सुरभि-मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं कालागरु-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-डज्झंतमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं करेह कारवेह य; करित्ता य कारवित्ता य एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने प्रभात काल के समय कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और बुला कर इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो! आज बाहर की उपस्थान शाला (सभाभवन) को शीघ्र ही विशेष रूप से परम रमणीय, गंधोदक से सिंचित, साफ-सुथरी, लीपी हुई, पांच वर्णों के सरस सुगंधित एवं बिखरे हुए फूलों के समूह रूप उपचार से युक्त, कालागुरु, कुंदुरुक्क, तुरुष्क (लोभान) तथा धूप के जलाने से महकती हुई, गंध से व्याप्त होने के कारण मनोहर, श्रेष्ठ सुगंध के चूर्ण से सुगंधित तथा सुगंध की गुटिका (वट्टी) के समान करो। मेरी यह आज्ञा वापिस सौंपो अर्थात् आज्ञानुसार कार्य हो जाने की सूचना दो!

विवेचन—प्राचीन काल में सेवकों को समाज में कितना सन्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था यह बात जैन शास्त्रों से भली भांति विदित होती है। उन्हें 'कौटुम्बिक पुरुष' अर्थात् परिवार का सदस्य समझा जाता था और महामहिम मगधसम्राट् श्रेणिक जैसे पुरुष भी उन्हें 'देवानुप्रिय' कहकर संबोधन करते थे। यह ध्यान देने योग्य है।

२७—तए णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा जाव[1] पच्चप्पिणंति।

१. प्र. अ. सूत्र २०

तत्पश्चात् वे कौटुम्बिक पुरुष श्रेणिक राजा द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर हर्षित हुए। उन्होंने आज्ञानुसार कार्य करके आज्ञा वापिस सौंपी।

२८—तए णं सेणिए राया कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियंमि, अह पंडुरे पभाए, रत्तासोगप्पगास-किंसुय-सुयमुह-गुंजद्धराग-बंधुजीवग-पारावयचलण-नयण-परहुय-सुरत्तलोयण-जासुमिणकुसुम-जलियजलण-तवणिज्जकलस-हिंगुलयनियर-रूवाइरेगरेहन्तसस्सिरीए दिवागरे अहकमेण उदिए, तस्स दिणकरपरंपरावयारपारद्धम्मि अंधयारे, बालातवकुंकुमेणं खइए व्व जीवलोए, लोयणविसआणुआस-विगसंत-विसददंसियम्मि लोए, कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते सयणिज्जाओ उट्ठेति।

तत्पश्चात् स्वप्न वाली रात्रि के बाद दूसरे दिन रात्रि प्रकाशमान प्रभात रूप हुई। प्रफुल्लित कमलों के पत्ते विकसित हुए, काले मृग के नेत्र निद्रारहित होने से विकस्वर हुए। फिर वह प्रभात पाण्डुर-श्वेत वर्ण वाला हुआ। लाल अशोक की कान्ति, पलाश के पुष्प, तोते की चोंच, चिरमी के अर्धभाग, दुपहरी के पुष्प, कबूतर के पैर और नेत्र, कोकिला के नेत्र, जासोद के फूल, जाज्वल्यमान अग्नि, स्वर्णकलश तथा हिंगलू के समूह की लालिमा से भी अधिक लालिमा से जिसकी श्री सुशोभित हो रही है, ऐसा सूर्य क्रमशः उदित हुआ। सूर्य की किरणों का समूह नीचे उतरकर अंधकार का विनाश करने लगा। बाल—सूर्य रूपी कुंकुम से मानो जीवलोक व्याप्त हो गया। नेत्रों के विषय का प्रचार होने से विकसित होने वाला लोक स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा। सरोवरों में स्थित कमलों के वन को विकसित करने वाला, तथा सहस्र किरणों वाला दिवाकर तेज से जाज्वल्यमान हो गया। ऐसा होने पर राजा श्रेणिक शय्या से उठा।

विवेचन—जब सूर्य उदीयमान होता है और जब उदित हो जाता है तब उसके प्रकाश के स्वरूप में किस-किस प्रकार का परिवर्त्तन होता है—उसके प्रकाश के रंगों में किस क्रम से उलट-फेर होता है, प्रस्तुत सूत्र में उसका चित्र उपस्थित किया गया है। नैसर्गिक वर्णन का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

२९—उट्ठित्ता जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अट्टणसालं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता अणेगवायाम-जोग-वग्गण-वामद्दण-मल्लजुद्धकरणेहिं संते परिस्सन्ते, सयपागेहिं सहस्सपागेहिं सुगंधवरतेल्लमाइएहिं पीणणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं मदणिज्जेहिं विहणिज्जेहिं, सव्विंदियगायपल्हायणिज्जेहिं अब्भंगएहिं अब्भंगिए समाणे, तेल्लचम्मंसि पडिपुण्णपाणिपाय-सुकुमालकोमलतलेहिं पुरिसेहिं छेएहिं दक्खेहि पट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं निउणेहिं निउणसिप्पोवगएहिं जियपरिस्समेहिं अब्भंगण-परिमद्दणुव्वट्टण-करणगुणनिम्माएहिं अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए संवाहिए समाणे अवगयपरिस्समे नरिंदे अट्टणसालाओ पडिणिक्खमइ।

शय्या से उठकर राजा श्रेणिक जहाँ व्यायामशाला थी, वहीं आता है। आकर व्यायामशाला में प्रवेश करता है। प्रवेश करके अनेक प्रकार के व्यायाम, योग्य (भारी पदार्थों को उठाना), वल्गन (कूदना), व्यामर्दन (भुजा आदि अंगों को परस्पर मरोड़ना), कुश्ती तथा करण (बाहुओं को विशेष प्रकार से मोड़ना), रूप कसरत से श्रेणिक राजा ने श्रम किया और खूब श्रम किया, अर्थात् सामान्यतः शरीर का और विशेषतः प्रत्येक अङ्गोपांग का व्यायाम किया। तत्पश्चात् शतपाक तथा सहस्रपाक आदि श्रेष्ठ सुगंधित तेल आदि अभ्यंगनों से, जो प्रीति उत्पन्न करने वाले अर्थात् रुधिर

आदि धातुओं को सम करने वाले, जठराग्नि को दीप्त करने वाले, दर्पणीय अर्थात् शरीर का वल बढ़ाने वाले, मदनीय (कामवर्धक), वृंहणीय (मांसवर्धक) तथा समस्त इन्द्रियों को एवं शरीर को आह्लादित करने वाले थे, राजा श्रेणिक ने अभ्यंगन कराया। फिर मालिश किये शरीर के चर्म को, परिपूर्ण हाथ-पैर वाले तथा कोमल तल वाले, छेक (अवसर के ज्ञाता), दक्ष (चटपट कार्य करने वाले), पट्ठे (वलशाली), कुशल (मर्दन करने में चतुर), मेधावी (नवीन कला को ग्रहण करने में समर्थ), निपुण (क्रीड़ा करने में कुशल), निपुण शिल्पी (मर्दन के सूक्ष्म रहस्यों के ज्ञाता), परिश्रम को जीतने वाले, अभ्यंगन मर्दन और उद्वर्तन करने के गुणों से पूर्ण पुरुषों द्वारा अस्थियों को सुखकारी, मांस को सुखकारी, त्वचा को सुखकारी तथा रोमों को सुखकारी—इस प्रकार चार तरह की संवाधना से (मर्दन से) श्रेणिक के शरीर का मर्दन किया गया। इस मालिश और मर्दन से राजा का परिश्रम दूर हो गया—थकावट मिट गई। वह व्यायामशाला से बाहर निकला।

३०—पडिणिक्खमित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ। अणुपविसित्ता समंतजालाभिरामे विचित्तमणि-रयणकोट्टिमतले रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि णाणामणि-रयणभत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहनिसन्ने,

सुहोदगेहिं पुप्फोदगेहिं गंधोदएहिं,सुद्धोदएहि य पुणो पुणो कल्लाणगपवरमज्जणविहीए मज्जिए तत्थ कोउयसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणगपवरमज्जणावसाणे पम्हल-सुकुमालगंधकासाइयलूहियंगे अहत-सुमहग्घ-दूसरयणसुसंवुए सरससुरभिगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते सुइमालावन्नगविलेवणे आविद्धमणि-सुवण्णे कप्पियहारद्धहार-तिसर-पालंब-पलंबमाणकडिसुत्त-सुकयसोहे पिणद्धगेविज्जे अंगुलेज्जग-ललियंग-ललियकयाभरणे णाणामणि-कडग-तुडिय-थंभियभुए अहियरूवसस्सिरीए कुंडलुज्जोइयाणणे मउडदित्त-सिरए हारोत्थयसुकय-रइयवच्छे पालंब-पलंबमाण-सुकय-पडउत्तरिज्जे मुद्दियापिंगलंगुलीए णाणामणि-कणग-रयण-विमलमहरिह–निउणोविय–मिसिमिसंत–विरइय-सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ-लट्ठ–संठिय-पसत्थ-आविद्ध-वीरवलए, किं बहुणा ? कप्परुक्खए चेव सुअलंकियविभूसिए नरिंदे सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं उभओ चउचामरवालवीइयंगे मंगल-जयसद्दकयालोए अणेगगणनायग-दंडनायग-राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-मंति--महामंति--गणग-दोवारिय--अमच्च--चेड-पीढमद्द-नगर--निगम--सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संधिवालसद्धिं संपरिवुडे धवलमहामेहनिग्गए विव गहगणदिप्पंतरिक्खतारागणाण मज्झे ससि व्व पियदंसणे नरवई मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ। पडिनिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाण-साला तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे संनिसन्ने।

व्यायामशाला से बाहर निकलकर श्रेणिक राजा जहां मज्जनगृह (स्नानागार) था, वहाँ आता है। आकर मज्जनगृह में प्रवेश करता है। प्रवेश करके चारों ओर जालियों से मनोहर, चित्र-विचित्र मणियों और रत्नों के फर्श वाले तथा रमणीय स्नानमंडप के भीतर विविध प्रकार के मणियों और रत्नों की रचना से चित्र-विचित्र स्नान करने के पीठ-बाजौठ-पर सुखपूर्वक बैठा।

उसने पवित्र स्थान से लाए हुए शुभ जल से, पुष्पमिश्रित जल से, सुगंध मिश्रित जल से और शुद्ध जल से बार-बार कल्याणकारी—आनन्दप्रद और उत्तम विधि से स्नान किया। उस कल्याण-कारी और उत्तम स्नान के अंत में रक्षा पोटली आदि सैंकड़ों कौतुक किये गए। तत्पश्चात् पक्षी के पंख के समान अत्यन्त कोमल, सुगंधित और कषाय रंग से रंगे हुए वस्त्र से शरीर को पोंछा। कोरा,

बहुमूल्य और श्रेष्ठ वस्त्र धारण किया। सरस और सुगंधित गोशीर्ष चन्दन से शरीर पर विलेपन किया। शुचि पुष्पों की माला पहनी। केसर आदि का लेपन किया। मणियों के और स्वर्ण के अलंकार धारण किये। अठारह लड़ों के हार, नौ लड़ों के अर्धहार, तीन लड़ों के छोटे हार तथा लम्बे लटकते हुए कटिसूत्र से शरीर की सुन्दर शोभा बढ़ाई। कंठ में कंठा पहना। उंगलियों में अंगूठियाँ धारण की। सुन्दर अंग पर अन्यान्य सुन्दर आभरण धारण किये। अनेक मणियों के बने कटक और त्रुटिक नामक आभूषणों से उसके हाथ स्तंभित से प्रतीत होने लगे। अतिशय रूप के कारण राजा अत्यन्त सुशोभित हो उठा। कुंडलों के कारण उसका मुखमंडल उद्दीप्त हो गया। मुकुट से मस्तक प्रकाशित होने लगा। वक्ष-स्थल हार से आच्छादित होने के कारण अतिशय प्रीति उत्पन्न करने लगा। लम्बे लटकते हुए दुपट्टे से उसने सुन्दर उत्तरासंग किया। मुद्रिकाओं से उसकी उंगलियाँ पीली दीखने लगीं। नाना भांति की मणियों, सुवर्ण और रत्नों से निर्मल, महामूल्यवान्, निपुण कलाकारों द्वारा निर्मित, चमचमाते हुए, सुरचित, भली-भांति मिली हुई सन्धियों वाले, विशिष्ट प्रकार के, मनोहर, सुन्दर आकार वाले और प्रशस्त वीर-वलय धारण किए। अधिक क्या कहा जाय ? मुकुट आदि आभूषणों से अलंकृत और वस्त्रों से विभूषित राजा श्रेणिक कल्पवृक्ष के समान दिखाई देने लगा। कोरंट वृक्ष के पुष्पों की माला वाला छत्र उसके मस्तक पर धारण किया गया। आजू-बाजू चार चामरों से उसका शरीर बींजा जाने लगा। राजा पर दृष्टि पड़ते ही लोग 'जय-जय' का मांगलिक घोष करने लगे। अनेक गणनायक (प्रजा में बड़े), दंडनायक (कटक के अधिपति), राजा (माडंविक राजा), ईश्वर (युवराज अथवा ऐश्वर्यशाली), तलवर (राजा द्वारा प्रदत्त स्वर्ण के पट्टे वाले), मांडलिक (कतिपय ग्रामों के अधिपति), कौटुम्बिक (कतिपय कुटुम्बों के स्वामी), मंत्री, महामंत्री, ज्योतिषी, द्वारपाल, अमात्य, चेट (पैरों में पास रहने वाले सेवक) पीठमर्द (सभा से समीप रहने वाले सेवक मित्र), नागरिक लोग, व्यापारी, सेठ, सेनापति, सार्थवाह, दूत और सन्धिपाल—इन सब से घिरा हुआ, ग्रहों के समूह में देदीप्यमान तथा नक्षत्रों और ताराओं के बीच चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन राजा श्रेणिक मज्जनगृह से इस प्रकार निकला जैसे उज्ज्वल महामेघों में से चन्द्रमा निकला हो। मज्जनगृह से निकलकर जहाँ बाह्य उपस्थानशाला (सभा) थी, वहीं आया और पूर्व दिशा की ओर मुख करके श्रेष्ठ सिंहासन पर आसीन हुआ।

३१—तए णं से सेणिए राया अप्पणो अदूरसामंते उत्तरपुरच्छिमे दिसिभागे अट्ठ भद्दासणाइं सेयवत्थपच्चुत्थुयाइं सिद्धत्थमंगलोवयारकयसंतिकम्माइं रयावेइ। रयावित्ता णाणामणिरयणमंडियं अहियपेच्छणिज्जरूवं महग्घवरपट्टणुग्गयं सण्हबहुभत्तिसयचित्तट्ठाणं ईहामिय-उसभ-तुरय-णर-मगर-विहग-वालग-किन्नर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलय-भत्तिचित्तं सुखचियवरकणगपवर-पेरंत-देसभागं अब्भिंतरियं जवणियं अंछावेइ, अंछावेत्ता अच्छरग-मउअमसूरग-उत्थइयं धवलवत्थ-पच्चत्थुयं विसिट्ठं अंगसुहफासयं सुमउयं धारिणीए देवीए भद्दासणं रयावेइ। रयावेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ। सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अट्ठंगमहानिमित्तसुत्तत्थपाढए विविहसत्थ-कुसले सुविणपाढए सद्दावेह, सद्दावेत्ता एयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह।

३१—तत्पश्चात् श्रेणिक राजा अपने समीप ईशान कोण में श्वेत वस्त्र से आच्छादित तथा सरसों के मांगलिक उपचार से जिनमें शान्तिकर्म किया गया है, ऐसे आठ भद्रासन रखवाता है। रखवा करके नाना मणियों और रत्नों से मंडित, अतिशय दर्शनीय, बहुमूल्य और श्रेष्ठ नगर में बनी हुई, कोमल एवं सैकड़ों प्रकार की रचना वाले चित्रों का स्थानभूत, ईहामृग (भेड़िया), वृषभ, अश्व, नर, मगर

पक्षी, सर्प, किन्नर, रुरु जाति के मृग, अष्टापद, चमरी गाय, हाथी, वनलता और पद्मलता आदि के चित्रों से युक्त, श्रेष्ठ स्वर्ण के तारों से भरे हुए सुशोभित किनारों वाली जवनिका (पर्दा) सभा के भीतरी भाग में बँधवाई। जवनिका बँधवाकर उसके भीतरी भाग में धारिणी देवी के लिए एक भद्रासन रखवाया। वह भद्रासन आस्तरक (खोली) और कोमल तकिया से ढंका था। श्वेत वस्त्र उस पर बिछा हुआ था। सुन्दर था। स्पर्श से अंगों को सुख उत्पन्न करने वाला था और अतिशय मृदु था। इस प्रकार आसन बिछवाकर राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलवाया। बुलवाकर इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो! अष्टांग महानिमित्त-ज्योतिष के सूत्र और अर्थ के पाठक तथा विविध शास्त्रों में कुशल स्वप्नपाठकों (स्वप्न शास्त्र के पंडितों) को शीघ्र ही बुलाओ, और बुला कर शीघ्र ही इस आज्ञा को वापिस लौटाओ।

३२—तए णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा हट्ठ जाव[1] हियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं देवो तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता सेणियस्य रण्णो अंतियाओ पडिनिक्खमंति। पडिनिक्खमित्ता रायगिहस्स नगरस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव सुमिणपाढगगिहाणि तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सुमिणपाढए सद्दावेंति।

तत्पश्चात् वे कौटुम्बिक पुरुष श्रेणिक राजा द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर हर्षित यावत् आनन्दित—हृदय हुए। दोनों हाथ जोड़कर दसों नखों को इकट्ठा करके मस्तक पर घुमा कर अंजलि जोड़ कर 'हे देव! ऐसा ही हो' इस प्रकार कह कर विनय के साथ आज्ञा के वचनों को स्वीकार करते हैं और स्वीकार करके श्रेणिक राजा के पास से निकलते हैं। निकल कर राजगृह के बीचों बीच होकर जहाँ स्वप्नपाठकों के घर थे, वहाँ पहुंचते हैं और पहुंच कर स्वप्न पाठकों को बुलाते है।

३३—तए णं ते सुमिणपाढगा सेणियस्स रन्नो कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठतुट्ठ जाव[2] हियया ण्हाया कयबलिकम्मा जाव कयकोउयमंगलपायच्छित्ता अप्प-महग्घाभरणालंकियसरीरा हरियालिय-सिद्धत्थयकयमुद्धाणा सएहिं सएहिं गिहेहिंतो पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता रायगिहस्स मज्झंमज्झेण जेणेव सेणियस्स रन्नो भवणवडेंसगदुवारे तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता एगयओ मिलंन्ति। मिलित्ता सेणियस्स रन्नो भवणवडेंसगदुवारेणं अणुपविसंति। अणुपविसित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सेणिये राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सेणियं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति। सेणिएणं रन्ना अच्चिय-वंदिय-पूइय-माणिय-सक्कारिय-सम्माणिया समाणा पत्तेयं पत्तेयं पुव्वन्नत्थेसु महासणेसु निसीयंति।

तत्पश्चात् वे स्वप्नपाठक श्रेणिक राजा के कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा बुलाये जाने पर हृष्ट-तुष्ट यावत् आनन्दितहृदय हुए। उन्होंने स्नान किया, कुल देवता का पूजन किया, यावत् कौतुक (मसी तिलक आदि) और मंगल प्रायश्चित्त (सरसों, दही चावल आदि का प्रयोग) किया। अल्प किन्तु बहुमूल्य आभरणों से शरीर को अलंकृत किया, मस्तक पर दूर्वा तथा सरसों मंगल निमित्त धारण किये। फिर अपने-अपने घरों से निकले। निकल कर राजगृह के बीचोंबीच होकर श्रेणिक राजा के मुख्य महल के द्वार पर आये। आकर सब एक साथ मिले। एक साथ मिलकर श्रेणिक

१. सूत्र १८ २. सूत्र १८

राजा के मुख्य महल के द्वार के भीतर प्रवेश किया। प्रवेश करके जहाँ बाहरी उपस्थानशाला थी और जहाँ श्रेणिक राजा था, वहाँ आये। आकर श्रेणिक राजा को जय और विजय शब्दों से वधाया। श्रेणिक राजा ने चन्दनादि से उनकी अर्चना की, गुणों की प्रशंसा करके वन्दन किया, पुष्पों द्वारा पूजा की, आदरपूर्ण दृष्टि से देख कर एवं नमस्कार करके मान किया, फल—वस्त्र आदि देकर सत्कार किया और अनेक प्रकार की भक्ति करके सन्मान किया। फिर वे स्वप्नपाठक पहले से बिछाए हुए भद्रासनों पर अलग-अलग बैठे।

३४—तए णं सेणिए राया जवणियंतरियं धारिणिं देविं ठवेइ, ठवेत्ता पुप्फ-फल-पडिपुण्णहत्थे परेणं विणएणं ते सुमिणपाढए एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! धारिणी देवी अज्ज तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि जाव[1] महासुमिणं पासित्ता णं पडिबुद्धा। तं एयस्स णं देवाणुप्पिया! उरालस्स जाव[2] सस्सिरीयस्स महासुमिणस्स के मन्ने कल्लाणे फलवित्तिविसेसे भविस्सइ?

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने जवनिका के पीछे धारिणी देवी को बिठलाया। फिर हाथों में पुष्प और फल लेकर अत्यन्त विनय के साथ उन स्वप्नपाठकों से इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो! आज उस प्रकार की उस (पूर्ववर्णित) शय्या पर सोई हुई धारिणी देवी यावत् महास्वप्न देखकर जागी है। तो देवानुप्रियो! इस उदार यावत् सश्रीक महास्वप्न का क्या कल्याणकारी फल विशेष होगा?

स्वप्नपाठकों द्वारा फलादेश

३५—तए णं ते सुमिणपाढगा सेणियस्स रण्णो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ जाव[3] हियया तं सुमिणं सम्मं ओगिण्हंति। ओगिण्हित्ता ईहं अणुपविसंति, अणुपविसित्ता अन्नमन्नेणं सद्धिं संचालेंति, संचालित्ता तस्स सुमिणस्स लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा सेणियस्स रण्णो पुरओ सुमिणसत्थाइं उच्चारेमाणा उच्चारेमाणा एवं वयासी—

तत्पश्चात् वे स्वप्नपाठक श्रेणिक राजा का यह कथन सुनकर और हृदय में धारण करके हृष्ट, तुष्ट, आनन्दितहृदय हुए। उन्होंने उस स्वप्न का सम्यक् प्रकार से अवग्रहण किया। अवग्रहण करके ईहा (विचारणा) में प्रवेश किया; प्रवेश करके परस्पर एक-दूसरे के साथ विचार-विमर्श किया। विचारविमर्श करके स्वप्न का अपने आपसे अर्थ समझा, दूसरों का अभिप्राय जानकर विशेष अर्थ समझा, आपस में उस अर्थ की पूछताछ की, अर्थ का निश्चय किया, और फिर तथ्य अर्थ का (अन्तिम रूप से) निश्चय किया। वे स्वप्नपाठक श्रेणिक राजा के सामने स्वप्नशास्त्रों का बार-बार उच्चारण करते हुए इस प्रकार बोले--

३६—एवं खलु अम्हं सामी! सुमिणसत्थंसि बायालीसं सुमिणा, तीसं महासुमिणा बावत्तरिं सव्वसुमिणा दिट्ठा। तत्थ णं सामी! अरहंतमायरो वा, चक्कवट्टिमायरो वा अरहंतंसि वा चक्कवट्टिंसि वा गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महासुमिणाणं इमे चोद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झन्तिः—

तंजहा गय-उसभ-सीह-अभिसेय—दाम-ससि-दिणयरं झयं कुंभं।
पउमसर-सागर-विमाण—भवण-रयणुच्चय-सिहिं च॥

१-२. प्र. अ. सूत्र २१ ३. प्र. अ. सूत्र २०

'हे स्वामिन् ! हमारे स्वप्नशास्त्र में बयालीस स्वप्न और तीस महास्वप्न-कुल मिलाकर ७२ स्वप्न हमने देखे हैं। अरिहंत की माता और चक्रवर्ती की माता, जब अरिहन्त और चक्रवर्ती गर्भ में आते हैं तो तीस महास्वप्नों में से चौदह महास्वप्न देखकर जागती हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) हाथी (२) वृषभ (३) सिंह (४) अभिषेक (५) पुष्पों की माला (६) चन्द्र (७) सूर्य (८) ध्वजा (९) पूर्ण कुंभ (१०) पद्मयुक्त सरोवर (११) क्षीरसागर (१२) विमान अथवा भवन (१३) रत्नों की राशि और (१४) अग्नि।

विवेचन-तीर्थंकर प्रायः देवलोक से च्यवन करके मनुष्य लोक में अवतरित होते हैं। कोई-कोई कभी रत्नप्रभा पृथ्वी से निकल कर भी जन्म लेते हैं। स्वर्ग से आकर जन्म लेने वाले तीर्थंकर की माता को स्वप्न में विमान दिखाई देता है और रत्नप्रभा पृथ्वी से आकर जन्मने वाले तीर्थंकर की माता भवन देखती है। इसी कारण बारहवें स्वप्न में 'विमान अथवा भवन' ऐसा विकल्प बतलाया गया है।

३७—वासुदेवमायरो वा वासुदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसण्हं महासुमिणाणं अन्नतरे सत्त महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झन्ति। बलदेवमायरो वा बलदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसण्हं महासुमिणाणं अण्णयरे चत्तारि महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति। मंडलियमायरो वा मंडलियंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसण्हं महासुमिणाणं अन्नयरं एगं महासुमिणं पासित्ता ण पडिबुज्झन्ति।

जब वासुदेव गर्भ में आते हैं तो वासुदेव की माता इन चौदह महास्वप्नों में से किन्हीं भी सात महास्वप्नों को देखकर जागृत होती हैं। जब बलदेव गर्भ में आते हैं, तो बलदेव की माता इन चौदह महास्वप्नों में से किन्हीं चार महास्वप्नों को देखकर जागृत होती है। जब मांडलिक राजा गर्भ में आता है तो मांडलिक राजा की माता इन चौदह महास्वप्नों में से कोई एक महास्वप्न देखकर जागृत होती है।

३८—इमे य णं सामी ! धारिणीए देवीए एगे महासुमिणे दिट्ठे। तं उराले णं सामी ! धारिणीए देवीए सुमिणे दिट्ठे। जाव[1] आरोग्गतुट्ठिदीहाउकल्लाणमंगल्लकारए णं सामी ! धारिणीए देवीए सुमिणे दिट्ठे। अत्थलाभो सामी ! सोक्खलाभो सामी ! भोगलाभो सामी ! पुत्तलाभो सामी ! रज्जलाभो, सामी ! एवं खलु सामी ! धारिणी देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं जाव दारगं पयाहिसि। से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुपत्ते सूरे वीरे विक्कंते वित्थिन्नविउलबल-वाहणे रज्जवती राया भविस्सइ, अणगारे वा भावियप्पा। तं उराले णं सामी ! धारिणीए देवीए सुमिणे दिट्ठे जाव[2] आरोग्गतुट्ठि जाव दिट्ठे त्ति कट्टु भुज्जो भुज्जो अणुबूहेंति।

स्वामिन् ! धारिणी देवी ने इन महास्वप्नों में से एक महास्वप्न देखा है; अतएव स्वामिन् ! धारिणी देवी ने उदार स्वप्न देखा है, यावत् आरोग्य, तुष्टि, दीर्घायु, कल्याण और मंगलकारी, स्वामिन् ! धारिणी देवी ने स्वप्न देखा है। स्वामिन् ! इससे आपको अर्थ लाभ होगा। स्वामिन् ! सुख का लाभ होगा। स्वामिन् ! भोग का लाभ होगा, पुत्र का तथा राज्य कालाभ होगा। इस प्रकार स्वामिन् ! धारिणी देवी पूरे नौ मास व्यतीत होने पर यावत् पुत्र को जन्म देगी। वह पुत्र बाल-वय को

१-२. प्र. अ. सूत्र २१

करके, गुरु की साक्षी मात्र से, अपने ही बुद्धिवैभव से समस्त कलाओं का ज्ञाता होकर, युवावस्था को पार करके संग्राम में शूर, आक्रमण करने में वीर और पराक्रमी होगा। विस्तीर्ण और विपुल बल-वाहनों का स्वामी होगा : राज्य का अधिपति राजा होगा अथवा अपनी आत्मा को भावित करने वाला अनगार होगा। अतएव हे स्वामिन्! धारिणी देवी ने उदार-स्वप्न देखा है यावत् आरोग्यकारक तुष्टिकारक आदि पूर्वोक्त विशेषणों वाला स्वप्न देखा है। इस प्रकार कह कर स्वप्नपाठक वार-बार उस स्वप्न की सराहना करने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में स्वप्नपाठकों द्वारा फलादेश में कथित 'रज्जवती राया भविस्सइ, अणगारे वा भावियप्पा' यह वाक्यांश ध्यान देने योग्य है। इससे यह तो स्पष्ट है ही कि अतिशय पुण्यशाली आत्मा ही मानवजीवन में अनगार-अवस्था प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त इससे यह भी विदित होता है कि बालक के माता-पिता को राजा बनने वाले पुत्र को पाकर जितना हर्ष होता था, मुनि बनने वाले बालक को प्राप्त करके भी उतने ही हर्ष का अनुभव होता था। तत्कालीन समाज में धर्म की प्रतिष्ठा कितनी अधिक थी, उस समय का वातावरण किस प्रकार धर्ममय था, यह तथ्य इस सूत्र से समझा जा सकता है।

३९—तए णं सेणिए राया तेसिं सुमिणपाढगाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ जाव[1] हियए करयल जाव एवं वयासी—

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा उन स्वप्नपाठकों से इस कथन को सुनकर और हृदय में धारण करके हृष्ट, तुष्ट एवं आनन्दितहृदय हो गया और हाथ जोड़ कर इस प्रकार बोला—

४०—एवमेयं देवाणुप्पिया! जाव[2] जन्नं तुब्भे वदह त्ति कट्टु तं सुमिणं सम्मं पडिच्छइ। पडिच्छित्ता ते सुमिणपाढए विपुलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-गंध-मल्लालंकारेण य सक्कारेइ संमाणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलयइ। दलइत्ता पडिविसज्जेइ।

देवानुप्रियो! जो आप कहते हो सो वैसा ही है— आपका भविष्य-कथन सत्य है; इस प्रकार कहकर उस स्वप्न के फल को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करके उन स्वप्नपाठकों का विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, और वस्त्र, गंध, माला एवं अलंकारों से सत्कार करता है, सन्मान करता है। सत्कार—सन्मान करके जीविका के योग्य—जीवन निर्वाह के योग्य प्रीतिदान देता है और दान देकर विदा करता है।

४१—तए णं से सेणिए राया सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता जेणेव धारिणी देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धारिणिं देविं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए! सुमिणसत्थंसि बायालीसं सुमिणा जाव[2] एगं महासुमिणं जाव[3] भुज्जो भुज्जो अणुवूहइ।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा सिंहासन से उठा और जहाँ धारिणी देवी थी, वहां आया। आकर धारिणी देवी से इस प्रकार बोला—'हे देवानुप्रिये! स्वप्नशास्त्र में बयालीस स्वप्न और तीस महास्वप्न कहे हैं, उनमें से तुमने एक महास्वप्न देखा है।' इत्यादि स्वप्नपाठकों के कथन के अनुसार सब कहता है और बार-बार स्वप्न की अनुमोदना करता है।

१. प्र. अ. सूत्र १८ २. प्र. अ. ३६-३७ ३. प्र. अ. सूत्र ३६-३७

४२—तए णं धारिणी देवी सेणियस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ जाव[1] हियया तं सुमिणं सम्मं पडिच्छइ। पडिच्छित्ता जेणेव सए वासघरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता ण्हाया कयबलिकम्मा जाव विपुलाहिं जाव विहरइ।

तत्पश्चात् धारिणी देवी, श्रेणिक राजा का यह कथन सुनकर और हृदय में धारण करके हृष्ट-तुष्ट हुई, यावत् आनन्दितहृदय हुई। उसने उस स्वप्न को सम्यक् प्रकार से अंगीकार किया। अंगीकार करके अपने निवासगृह में आई। आकर स्नान करके तथा बलिकर्म अर्थात् कुलदेवता की पूजा करके यावत् विपुल भोग भोगती हुई विचरने लगी।

धारिणी देवी का दोहद

४३—तए णं तीसे धारिणीए देवीए दोसु मासेसु वीइक्कंतेसु तइए मासे वट्टमाणे तस्स गब्भस्स दोहलकालसमयंसि अयमेयारूवे अकालमेहेसु दोहले पाउब्भवित्था।

तत्पश्चात् दो मास व्यतीत हो जाने पर जब तीसरा मास चल रहा था तब उस गर्भ के दोहदकाल (दोहले का समय—गर्भिणी स्त्री की इच्छा विशेष का समय) के अवसर पर धारिणी देवी को इस प्रकार का अकाल-मेघ का दोहद उत्पन्न हुआ।

४४—धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ, सपुन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयत्थाओ णं ताओ, कयपुन्नाओ, कयलक्खणाओ, कयविहवाओ, सुलद्धे तासिं माणुस्सए जम्म-जीवियफले, जाओ णं मेहेसु अब्भुग्गएसु अब्भुज्जएसु अब्भुन्नएसु अब्भुट्ठिएसु सगज्जिएसु सविज्जुएसु सफुसिएसु सथणिएसु धंतधोतरुप्पपट्ट-अंक-संख-चंद-कुंद-सालि-पिट्ठरासि-समप्पभेसु

चिउर-हरियालभेय-चंपग—सण—कोरंट—सरिसय-पउमरय-समप्पभेसु

लक्खारस-सरसरत्तकिंसुय-जासुमण-रत्तबंधुजीवग-जातिहिंगुलय-सरसकुंकुम-उरब्भ-ससरुहिर-इंदगोवगसमप्पभेसु,

बरहिण-नीलगुलिय-सुग-चास-पिच्छ - भिंगपत्त-सासग-नीलुप्पलनियर -नवसिरीस-कुसुम-णवस-द्दलसमप्पभेसु,

जच्चंजण-भिंगभेय-रिट्ठग-भमरावलि-गवल-गुलिय-कज्जल-समप्पभेसु,

फुरंतविज्जुयसगज्जिएसु वायवस-विपुलगगणचवलपरिसक्किरेसु निम्मलवर-वारिधारापगलिय-पयंडमारुयसमाहय-समोत्थरंत—उवरि उवरितुरियवासं पवासिएसु, धारापहकरणिवायनिव्वावियमेइणितले हरियगणकंचुए, पल्लविंयपायवगणेसु, वल्लिवियाणेसु पसरिएसु, उन्नएसु सोभग्गमुवागएसु, नगेसु नएसु वा, वेभारगिरिप्पवायतड-कडगविमुक्केसु उज्झरेसु, तुरियपहावियपलोट्टफेणाउलं सकलुसं जलं वहंतीसु गिरिनदीसु, सज्ज-ज्जुण-नीव-कुडय-कंदल-सिलिंधकलिएसु उववणेसु, मेह-रसिय-हट्ठतुट्ठ-चिट्ठिय-हरिसवसपमुक्ककंठकेकारवं मुयंतेसु बरहिणेसु, उउ-वस-मयजणिय-तरुणसहयरि-पणच्चिएसु, नवसुरभिसिलिंध-कुडयकंदल-कलंबगंधद्धणिं मुयंतेसु उववणेसु, परहुयरुयरिभितसंकुलेसु उद्दायंत-रत्तइंद-गोवयथोवयकारुन्नविलवितेसु ओणयतणमंडिएसु दद्दुरयपंपिएसु संपिंडिय-दरिय-भमर-महुकरिपहकर-परिलित-मत्तछप्पय-कुसुमा-सवलोलमधुरगुंजंतदेसभाएसु उववणेसु, परिसामियचंद-सूर-गहगण-पणट्ठनक्खत्त-तारगपहे इंदाउहबद्धचिंधपट्टंसि अंबरतले उड्डीणबलागपंतिसोभंतमेहविंदे, कारंडग-

१. प्र. अ. सूत्र १८,

चक्कवाय-कलहंस-उस्सुयकरे संपत्ते पाउसम्मि काले, ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ताओ, किं ते ?

वरपायपत्त-णेउर-मणिमेहल-हार-रइयउचियकडग-खुड्डय-विचित्तवरवलयथंभियभुयाओ, कुंडलउज्जोयियाणणाओ, रयणभूसियंगाओ, नासानीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वण्णफरिससंजुत्तं हयलालापेलवाइरेयं धवलकणयखचियन्तकम्मं आगासफलिहसरिसप्पभं अंसुअं पवरपरिहियाओ, दुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जाओ, सव्वोउयसुरभिकुसुमपवरमल्लसोभितसिराओ, कालागरु-धूवधूवियाओ, सिरिसमाणवेसाओ, सेयणगगंधहत्थिरयणं दुरूढाओ समाणीओ, सकोरिंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं चंदप्पभ-वइर-वेरुलिय-विमलदंडसंख-कुंद-दगरय-अमयमहिय—फेणपुंजसंनिगासचउचामर-वालवीजियंगीओ, सेणिएणं रन्ना सद्धिं हत्थिखंधवरगएणं, पिट्ठओ समणुगच्छमाणीओ चउरंगिणीए सेणाए, महया हयाणीएणं, गयाणीएणं रहाणीएणं, पायत्ताणीएणं, सव्विड्ढीए सव्वज्जुईए जाव [सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वपुप्फ-गंध-मल्लालंकारेण सव्वतुडिय-सद्द-सण्णिणाएणं, महया इड्ढीए महया जुईए महया बलेण महया समुदएण महया वरतुडिय-जमगसमग-प्पवाइएणं संख-पणव-पडह-भेरि-झल्लरि-खरमुहि-हुडुक्क-मुरय-मुइंग-दुंदुहि-निग्घोसणादियरवेणं रायगिहं नगरं सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आसित्तसित्तसुचियसंमज्जिओवलित्तं जाव पंचवण्ण-सरस-सुरभिमुक्क-पुप्फपुंजोवयारकलियं कालागरु-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-डज्झंत-सुरभिमघमघंत-गंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं अवलोएमाणीओ, नागरजणेणं अभिणंदिज्जमाणीओ, गुच्छ-लया-रुक्ख-गुम्म-वल्लि-गुच्छ-ओच्छाइयं सुरम्मं वेभारगिरिकडगपायमूलं सव्वओ समंता आहिंडेमाणीओ आहिंडेमाणीओ दोहलं विणियंति। तं जइ णं अहमवि मेहेसु अब्भुवगएसु जाव दोहलं विणिज्जामि।

जो माताएँ अपने अकाल-मेघ के दोहद को पूर्ण करती हैं, वे माताएँ धन्य हैं, वे पुण्यवती हैं, वे कृतार्थ हैं। उन्होंने पूर्व जन्म में पुण्य का उपार्जन किया है, वे कृतलक्षण हैं, अर्थात् उनके शरीर के लक्षण सफल हैं। उनका वैभव सफल है, उन्हें मनुष्य संबंधी जन्म और जीवन का फल प्राप्त हुआ है, अर्थात् उनका जन्म और जीवन सफल है। आकाश में मेघ उत्पन्न होने पर, क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने पर, उन्नति को प्राप्त होने पर, बरसने की तैयारी होने पर, गर्जना युक्त होने पर, विद्युत् से युक्त होने, पर छोटी-छोटी बरसती हुई बूंदों से युक्त होने पर, मंद-मंद ध्वनि से युक्त होने पर, अग्नि जला कर शुद्ध की हुई चांदी के पतरे के समान, अङ्क नामक रत्न, शंख, चन्द्रमा, कुन्द पुष्प और चावल के आटे के समान शुक्ल वर्ण वाले,

चिकुर नामक रंग, हरताल के टुकड़े, चम्पा के फूल, सन के फूल (अथवा सुवर्ण), कोरंट-पुष्प, सरसों के फूल और कमल के रज के समान पीत वर्ण वाले,

लाख के रस, सरस रक्तवर्ण किंशुक के पुष्प, जासु के पुष्प, लाल रंग के बंधुजीवक के पुष्प, उत्तम जाति के हिंगलू, सरस कंकु, बकरा और खरगोश के रक्त और इन्द्रगोप (सावन की डोकरी) के समान लाल वर्ण वाले,

मयूर, नीलम मणि, नीली गुलिका (गोली) तोते के पंख, चाष पक्षी के पंख, भ्रमर के पंख, सासक नामक वृक्ष या प्रियंगुलता, नीलकमलों के समूह, ताजा शिरीष-कुसुम और घास के समान नील वर्ण वाले,

उत्तम अंजन, काले भ्रमर या कोयला, रिष्टरत्न, भ्रमरसमूह, भैंस के सींग, काली गोली और कज्जल के समान काले वर्ण वाले,

इस प्रकार पाँचों वर्णों वाले मेघ हों, विजली चमक रही हो, गर्जना की ध्वनि हो रही हो, विस्तीर्ण आकाश में वायु के कारण चपल वने हुए वादल इधर-उधर चल रहे हों, निर्मल श्रेष्ठ जल-धाराओं से गलित, प्रचंड वायु से आहत, पृथ्वीतल को भिगोने वाली वर्षा निरन्तर वरस रही हो, जल-धारा के समूह से भूतल शीतल हो गया हो, पृथ्वी रूपी रमणी ने घास रूपी कंचुक को धारण किया हो, वृक्षों का समूह पल्लवों से सुशोभित हो गया हो, वेलों के समूह विस्तार को प्राप्त हुए हों, उन्नत भू-प्रदेश, सौभाग्य को प्राप्त हुए हों, अर्थात् पानी से धुलकर साफ-सुथरे हो गए हों, अथवा पर्वत और कुण्ड सौभाग्य को प्राप्त हुए हों, वैभारगिरि के प्रपात तट और कटक से निर्झर निकल कर वह रहे हों, पर्वतीय नदियों में तेज वहाव के कारण उत्पन्न हुए फेनों से युक्त जल वह रहा हो, उद्यान सर्ज, अर्जुन, नीप और कुटज नामक वृक्षों के अंकुरों से और छत्राकार (कुकुरमुत्ता) से युक्त हो गया हो, मेघ की गर्जना के कारण हृष्ट-तुष्ट होकर नाचने की चेष्टा करने वाले मयूर हर्ष के कारण मुक्त कंठ से केकारव कर रहे हों, और वर्षा ऋतु के कारण उत्पन्न हुए मद से तरुण मयूरियाँ नृत्य कर रही हों, उपवन (घर के समीपवर्ती वाग) शिलिंध्र, कुटज. कंदल और कदंम्व वृक्षों के पुष्पों की नवीन और सौरभयुक्त गंध की तृप्ति धारण कर रहे हों, अर्थात् उत्कट सुगंध से सम्पन्न हो रहे हों, नगर के वाहर के उद्यान कोकिलाओं के स्वरघोलना वाले शब्दों से व्याप्त हों और रक्तवर्ण इन्द्रगोप नामक कीड़ों से शोभायमान हो रहे हों, उनमें चातक करुण स्वर से वोल रहे हों, वे नमे हुए तृणों (वनस्पति) से सुशोभित हों, उनमें मेंढक उच्च स्वर से आवाज कर रहे हों, मदोन्मत्त भ्रमरों और भ्रमरियों के समूह एकत्र हो रहे हों, तथा उन उद्यान-प्रदेशों में पुष्प-रस के लोलुप एवं मधुर गुंजार करने वाले मदोन्मत्त भ्रमर लीन हो रहे हों, आकाशतल में चन्द्रमा, सूर्य और ग्रहों का समूह मेघों से आच्छादित होने के कारण श्याम वर्ण का दृष्टिगोचर हो रहा हो, इन्द्रधनुष रूपी ध्वजपट फरफरा रहा हो, और उसमें रहा हुआ मेघसमूह वगुलों की कतारों से शोभित हो रहा हो, इस भांति कारंडक, चक्रवाक और राजहंस पक्षियों को मानस-सरोवर की ओर जाने के लिए उत्सुक वनाने वाला वर्षाऋतु का समय हो। ऐसे वर्षाकाल में जो माताएँ स्नान करके, वलिकर्म करके, कौतुक मंगल और प्रायश्चित्त करके (वैभारगिरि के प्रदेशों में अपने पति के साथ विहार करती हैं, वे धन्य हैं।)

धारिणी देवी ने इसके पश्चात् क्या विचार किया यह वतलाते हैं—वे माताएं धन्य हैं जो पैरों में उत्तम नूपुर धारण करती हैं, कमर में करधनी पहनती हैं, वक्षस्थल पर हार पहनती हैं, हाथों में कड़े तथा उंगलियों में अगूठियाँ पहनती हैं, अपने वाहुओं को विचित्र और श्रेष्ठ वाजूवन्दों से स्तंभित करती हैं, जिनका अंग रत्नों से भूषित हो, जिन्होंने ऐसा वस्त्र पहना हो जो नासिका के निश्वास की वायु से भी उड जाय अर्थात् अत्यन्त वारीक हो, नेत्रों को हरण करने वाला हो, उत्तम वर्ण और स्पर्श वाला हो, घोड़े के मुख से निकलने वाले फेन से भी कोमल और हल्का हो, उज्ज्वल हो, जिसकी किनारियाँ सुवर्ण के तारों से वुनी गई हों, श्वेत होने के कारण जो आकाश एवं स्फटिक के समान शुभ्र कान्ति वाला हो और श्रेष्ठ हो। जिन माताओं का मस्तक समस्त ऋतुओं संवंधी सुगंधी पुष्पों और फूलमालाओं से सुशोभित हो, जो कालागुरु आदि की उत्तम धूप से धूपित हों और जो लक्ष्मी के समान वेष वाली हों। इस प्रकार सजधज करके जो सेचनक नामक गंधहस्ती पर आरूढ़ होकर, कोरंट-पुष्पों की माला से सुशोभित छत्र को धारण करती हैं। चन्द्रप्रभ, वज्र और वैडूर्य रत्न

के निर्मल दंड वाले एवं शंख, कुन्दपुष्प, जलकण और अमृत का मंथन करने से उत्पन्न हुए फेन के समूह के समान उज्ज्वल, श्वेत चार चामर जिनके ऊपर ढोरे जा रहे हैं, जो हस्ती-रत्न के स्कंध पर (महावत के रूप में) राजा श्रेणिक के साथ बैठी हों। उनके पीछे-पीछे चतुरंगिणी सेना चल रही हो, अर्थात् विशाल अश्वसेना गजसेना, रथसेना और पैदल सेना हो। छत्र आदि राजचिह्नों रूप समस्त ऋद्धि के साथ, आभूषणों आदि की कान्ति के साथ, यावत् [समस्त बल, समुदय, आदर, विभूति, विभूषा एवं संभ्रम के साथ, समस्त प्रकार के पुष्पों के सौरभ, मालाओं और अलंकारों के साथ, समस्त वाद्यों के शब्दों की ध्वनि के साथ, महान् ऋद्धि, द्युति, बल तथा समुदाय के साथ, एक ही साथ बजाए जाते हुए वाद्यों के शब्दों के साथ, शंख पणव, पटह भेरी, झालर, खरमुखी, हुडुक्क, मुरज, मृदंग एवं दुंदुभि] वाद्यों के निर्घोषशब्द के साथ, राजगृह नगर के शृंगाटक (सिंघाड़े के आकार के मार्ग) त्रिक (जहाँ तीन मार्ग मिलें), चतुष्क (चौक), चत्वर (चबूतरा) चतुर्मुख (चारों ओर द्वार वाले देवकुल आदि), महापथ (राजमार्ग) तथा सामान्य मार्ग में गंधोदक एक बार छिड़का हो, अनेक बार छिड़का हो, शृंगाटक आदि को शुचि किया हो, झाड़ा हो, गोबर आदि से लीपा हों, यावत् पांच वर्णों के ताजा सुगंधमय बिखरे हुए पुष्पों के समूह के उपचार से युक्त किया हो, काले अगर, श्रेष्ठ कुंदरु, लोभान तथा धूप को जलाने से फैली हुई सुगंध से मघमघा रहा हो, उत्तम चूर्ण के गंध से सुगंधित किया हो, और मानो गंधद्रव्यों की गुटिका ही हो, ऐसे राजगृह नगर को देखती जा रही हों। नागरिक जन अभिनन्दन कर रहे हों। गुच्छों, लताओं, वृक्षों, गुल्मों (झाड़ियों) एवं वेलों के समूहों से व्याप्त, मनोहर वैभारपर्वत के निचले भागों के समीप, चारों ओर सर्वत्र भ्रमण करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं (वे माताएं धन्य हैं।) तो मैं भी इस प्रकार मेघों का उदय आदि होने पर अपने दोहद को पूर्ण करना चाहती हूँ।

धारिणी की चिन्ता

४५—तए णं सा धारिणी देवी तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि असंपन्नदोहला असंपुन्न-दोहला असंमाणियदोहला सुक्का भुक्खा णिम्मंसा ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा पमइलदुब्बला किलंता ओमंथियवयण-नयणकमला पंडुइयमुही करयलमलिय व्व चंपगमाला णित्तेया दीणविवण्णवयणा जहोचियपुप्फ-गंध-मल्लालंकार-हारं अणभिलसमाणी कीडारमणकिरियं च परिहावेमाणी दीणा दुम्मणा निराणंदा भूमिगयदिट्ठीया ओहयमणसंकप्पा जाव झियायइ।

तत्पश्चात् वह धारिणी देवी उस दोहद के पूर्ण न होने के कारण, दोहद के सम्पन्न न होने के कारण, दोहद के सम्पूर्ण न होने के कारण, मेघ आदि का अनुभव न होने से दोहद के सम्मानित न होने के कारण, मानसिक संताप द्वारा रक्त का शोषण हो जाने से शुष्क हो गई। भूख से व्याप्त हो गई। मांस रहित हो गई। जीर्ण एवं जीर्ण शरीर वाली, स्नान का त्याग करने से मलीन शरीर वाली, भोजन त्याग देने से दुबली तथा श्रान्त हो गई। उसने मुख और नयन रूपी कमल नीचे कर लिए, उसका मुख फीका पड़ गया। हथेलियों मे मसली हुई चम्पक-पुष्पों की माला के समान निस्तेज हो गई। उसका मुख दीन और विवर्ण हो गया, यथोचित पुष्प, गंध, माला, अलंकार और हार के विषय में रुचिरहित हो गई, अर्थात् उसने इन सबका त्याग कर दिया। जल आदि की क्रीडा और चौपड़ आदि खेलों का परित्याग कर दिया। वह दीन, दुखी मन वाली, आनन्दहीन एवं भूमि की तरफ दृष्टि किये हुए बैठी रही। उसके मन का संकल्प-हौंसला नष्ट हो गया। वह यावत् आर्त्तध्यान में डूब गई।

४६—तए णं तीसे धारिणीए देवीए अंगपडियारियाओ अब्भितरियाओ दासचेडीयाओ धारिणिं देविं ओलुग्गं जाव झियायमाणिं पासंति, पासित्ता एवं वयासी—'किं णं तुमे देवाणुप्पिये ! ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा जाव झियायसि ?'

तत्पश्चात् उस धारिणी देवी की अंगपरिचारिकाएं शरीर की सेवा-शुश्रूषा करने वाली आभ्यंतर दासियाँ धारणी देवी को जीर्ण-सी एवं जीर्ण शरीर वाली, यावत् आर्तध्यान करती हुई देखती हैं। देखकर इस प्रकार कहती हैं—'हे देवानुप्रिये ! तुम जीर्ण जैसी तथा जीर्ण शरीर वाली क्यों हो रही हो ? यावत् आर्त्तध्यान क्यों कर रही हो ?'

४७—तए णं सा धारिणी देवी ताहिं अंगपडियारियाहिं अब्भितरियाहिं दासचेडियाहिं एवं वुत्ता समाणी नो आढाति, णो य परियाणाति, अणाढायमाणी अपरियाणमाणी तुसिणीया संचिट्ठइ।

तत्पश्चात् धारिणी देवी अंगपरिचारिका आभ्यंतर दासियों द्वारा इस प्रकार कहने पर (अन्यमनस्क होने से) उनका आदर नहीं करती और उन्हें जानती भी नहीं—उनकी बात पर ध्यान नहीं देती। नहीं आदर करती और नहीं जानती हुई वह मौन ही रहती है।

४८—तए णं ताओ अंगपडियारियाओ अब्भितरियाओ दासचेडियाओ धारिणिं देविं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—'किं णं तुमे देवाणुप्पिये ! ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा जाव झियायसि ?'

तब वह अंगपरिचारिका आभ्यन्तर दासियाँ दूसरी बार और तीसरी बार इस प्रकार कहने लगीं—हे देवानुप्रिये ! क्यों तुम जीर्ण-सी जीर्ण शरीर वाली हो रही हो, यहाँ तक कि आर्त्तध्यान कर रही हो ?

४९—तए णं धारिणी देवी ताहिं अंगपडियारियाहिं अब्भितरियाहिं दासचेडियाहिं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ता समाणी णो आढाइ, णो परियाणाइ, अणाढायमाणी अपरियाणमाणी तुसिणीया संचिट्ठइ।

तत्पश्चात् धारिणी देवी अंगपरिचारिका आभ्यन्तर दासियों द्वारा दूसरी बार और तीसरी बार भी इस प्रकार कहने पर न आदर करती है और न जानती है, अर्थात् उनकी बात पर ध्यान नहीं देती, न आदर करती हुई और न जानती हुई वह मौन रहती है।

५०—तए णं ताओ अंगपडियारियाओ अब्भितरियाओ दासचेडियाओ धारिणीए देवीए अणाढाइज्जमाणीओ अपरिजाणिज्जमाणीओ (अपरियाणमाणीओ) तहेव संभंताओ समाणीओ धारिणीए देवीए अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति ! उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं जाव कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेन्ति। वद्धावइत्ता एवं वयासी—"एवं खलु सामी ! किं पि अज्ज धारिणी देवी ओलुग्गसरीरा जाव अट्टज्झाणोवगया झियायति।"

तत्पश्चात् वे अंगपरिचारिका आभ्यन्तर दासियाँ धारिणी देवी द्वारा अनादृत एवं अपरिज्ञात की हुई, उसी प्रकार संभ्रान्त (व्याकुल) होती हुई धारिणी देवी के पास से निकलती हैं और निकल-कर श्रेणिक राजा के पास आती हैं। आकर दोनों हाथों को इकट्ठा करके यावत् मस्तक पर अंजलि करके जय-विजय से वधाती हैं और वधा कर इस प्रकार कहती हैं—'स्वामिन्। आज धारिणी देवी जीर्ण जैसी, जीर्ण शरीर वाली होकर यावत् आर्त्तध्यान से युक्त होकर चिन्ता में डूब रही हैं।'

५१—तए णं से सेणिए राया तासिं अंगपडियारियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म तहेव संभंते समाणे सिग्घं तुरिअं चवलं वेइयं जेणेव धारिणी देवी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता धारिणिं देविं ओलुग्गं ओलुग्गसरीरं जाव अट्टज्झाणोवगयं झियायमाणिं पासइ। पासित्ता एवं वयासी—"किं णं तुमे देवाणुप्पिए! ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा जाव अट्टज्झाणोवगया झियायसि?"

तब श्रेणिक राजा उन अंगपरिचारिकाओं से यह सुनकर, मन में धारण करके, उसी प्रकार व्याकुल होता हुआ, त्वरा के साथ, एवं अत्यन्त शीघ्रता से जहाँ धारिणी देवी थी, वहाँ आता है। आकर धारिणी देवी को जीर्ण-जैसी जीर्ण शरीर वाली यावत् आर्त्तध्यान से युक्त-चिन्ता करती देखता है। देखकर इस प्रकार कहता है—'देवानुप्रिये! तुम जीर्ण जैसी, जीर्ण शरीर वाली यावत् आर्त्तध्यान से युक्त होकर क्यों चिन्ता कर रही हो?'

५२—तए णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणी नो आढाइ, जाव तुसिणीया संचिट्ठति।

धारिणी देवी, श्रेणिक राजा के इस प्रकार कहने पर भी आदर नहीं करती—उत्तर नहीं देती, यावत् मौन रहती है।

५३—तए णं से सेणिए राया धारिणिं देविं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वदासी—'किं णं तुमे देवाणुप्पिए! ओलुग्गा जाव झियायसि?'

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने धारिणी देवी से दूसरी बार और फिर तीसरी बार भी इसी प्रकार कहा—देवानुप्रिये! तुम जीर्ण-सी होकर यावत् चिन्तित क्यों हो?

५४—तए णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रण्णा दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ता समाणी णो आढाति, णो परिजाणाति, तुसिणीया संचिट्ठइ।

तत्पश्चात् धारिणी देवी, श्रेणिक राजा के दूसरी बार और तीसरी बार भी इस प्रकार कहने पर आदर नहीं करती और नहीं जानती—मौन रहती है।

५५—तए णं सेणिए राया धारिणिं देविं सवहसावियं करेइ, करित्ता एवं वयासी—'किं णं तुमं देवाणुप्पिए! अहमेयस्स अट्ठस्स अणरिहे सवणयाए? ता णं तुमं ममं अयमेयारूवं मणोमाणसियं दुक्खं रहस्सीकरेसि?'

तब श्रेणिक राजा, धारिणी देवी को शपथ दिलाता है और शपथ दिलाकर कहता है 'देवानुप्रिये! क्या मैं तुम्हारे मन की बात सुनने के लिए अयोग्य हूँ, जिससे तुम अपने मन में रहे हुए मानसिक दुःख को छिपाती हो?

दोहद-निवेदन

५६—तए णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रण्णा सवहसाविया समाणी सेणियं रायं एवं वदासी—'एवं खलु सामी! मम तस्स उरालस्स जाव महासुमिणस्स तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अयमेयारूवे अकालमेहेसु दोहले पाउब्भूए—'धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयत्थाओ णं ताओ अम्मयाओ, जाव[1] वेभारगिरिपायमूलं आहिंडमाणीओ डोहलं विणिन्ति। तं जइ णं अहमवि जाव

१. प्र. अ. सूत्र ४४

डोहलं विणिज्जामि। तए णं हं सामी ! अयमेयारूवंसि अकाल-दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि ओलुग्गा जाव अट्टज्झाणोवगया झियायामि।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा द्वारा शपथ सुनकर धारिणी देवी ने श्रेणिक राजा से इस प्रकार कहा—स्वामिन् ! मुझे वह उदार आदि पूर्वोक्त विशेषणों वाला महास्वप्न आया था। उसे आए तीन मास पूरे हो चुके हैं, अतएव इस प्रकार का अकाल-मेघ संबंधी दोहद उत्पन्न हुआ है कि वे माताएँ धन्य हैं और वे माताएं कृतार्थ हैं, यावत् जो वैभार पर्वत की तलहटी में भ्रमण करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं। अगर मैं भी अपने दोदह को पूर्ण करूं तो धन्य होऊँ। इस कारण हे स्वामिन्। मैं इस प्रकार के इस दोहद के पूर्ण न होने से जीर्ण जैसी, जीर्ण शरीर वाली हो गई हूँ; यावत् आर्त्तध्यान करती हुई चिन्तित हो रही हूँ। स्वामिन् ! जीर्ण-सी-यावत् आर्त्तध्यान से युक्त होकर चिन्ता-ग्रस्त होने का यही कारण है।

५७—तए णं से सेणिए राया धारिणीए देवीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म धारिणिं देविं एवं वदासी—'मा णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओलुग्गा जाव झियाहि, अहं णं तहा करिस्सामि जहा णं तुब्भं अयमेयारूवस्स अकालदोहलस्स मणोरहसंपत्ती भविस्सइ' त्ति कट्टु धारिणिं देविं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं वग्गूहिं समासासेइ। समासासित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाहिमुहे सन्निसन्ने। धारिणीए देवीए एयं अकालदोहलं बहूहिं आएहि य उवाएहि य उप्पत्तियाहि य वेणइयाहि य कम्मियाहि य पारिणामियाहि य चउव्विहाहिं बुद्धीहिं अणुचिंतेमाणे अणुचिंतेमाणे तस्स दोहलस्स आयं वा उवायं वा ठिइं वा उप्पत्तिं वा अविंदमाणे ओहयमणसंकप्पे जाव झियायइ।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने धारिणी देवी से यह बात सुनकर और समझ कर, धारिणी देवी से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिये ! तुम जीर्ण शरीर वाली मत होओ, यावत् चिन्ता मत करो। मैं वैसा करूंगा अर्थात् कोई ऐसा उपाय करूंगा जिससे तुम्हारे इस अकाल-दोहद की पूर्ति हो जायगी।' इस प्रकार कहकर श्रेणिक ने धारिणी देवी को इष्ट (प्रिय) कान्त (इच्छित), प्रिय-प्रीति उत्पन्न करने वाली, मनोज्ञ (मनोहर) और मणाम (मन को प्रिय) वाणी से आश्वासन दिया। आश्वासन देकर जहाँ बाहर की उपस्थानशाला थी, वहाँ आया। आकर श्रेष्ठ सिंहासन पर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठा। धारिणी देवी के इस अकाल—दोहद की पूर्ति करने के लिए बहुतेरे आयों (लाभों) से, उपायों से, औत्पत्तिकी बुद्धि से, वैनयिक बुद्धि से, कार्मिक बुद्धि से, पारिणामिकी बुद्धि से—इस प्रकार चारों तरह की बुद्धि से बार-बार विचार करने लगा। परन्तु विचार करने पर भी उस दोहद के लाभ को, उपाय को, स्थिति को और निष्पत्ति को समझ नहीं पाता, अर्थात् दोहद पूर्त्ति का कोई उपाय नहीं सूझता। अतएव श्रेणिक राजा के मन का संकल्प नष्ट हो गया और वह भी यावत् चिन्ताग्रस्त हो गया।

अभयकुमार का आगमन

५८—तयाणंतरं अभए कुमारे ण्हाए कयबलिकम्मे जाव सव्वालंकारविभूसिए पायवंदए पहारेत्थ गमणाए।

तदनन्तर अभयकुमार स्नान करके, बलिकर्म (गृहदेवता का पूजन) करके, यावत् [कौतुक, मंगल एवं प्रायश्चित्त करके] समस्त अलंकारों से विभूषित होकर श्रेणिक राजा के चरणों में वन्दना

करने के लिए जाने का विचार करता है—रवाना होता है।

५९—तए णं से अभयकुमारे जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता सेणियं रायं ओहयमणसंकप्पं जाव पासइ। पासइत्ता अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए (पत्थिए) मणोगते संकप्पे समुप्पज्जित्था।

तत्पश्चात् अभयकुमार श्रेणिक राजा के समीप आता है। आकर श्रेणिक राजा को देखता है कि उनके मन के संकल्प को आघात पहुँचा है। यह देखकर अभयकुमार के मन में इस प्रकार का यह आध्यात्मिक अर्थात् आत्मा संबंधी, चिन्तित, प्रार्थित (प्राप्त करने को इष्ट) और मनोगत-मन में रहा हुआ संकल्प उत्पन्न होता है—

६०—अन्नया य ममं सेणिए राया एज्जमाणं पासति, पासइत्ता आढाति, परिजाणाति, सक्कारेइ, सम्माणेइ, आलवति, संलवति, अद्धासणेणं उवणिमंतेति मत्थयंसि अग्घाति। इयाणि ममं सेणिए राया णो आढाति, णो परियाणइ, णो सक्कारेइ, णो सम्माणेइ, णो इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं ओरालाहिं वग्गूहिं आलवति, संलवति, नो अद्धासणेणं उवणिमंतेति, णो मत्थयंसि अग्घाति य, किं पि ओहयमणसंकप्पे झियायति। तं भवियव्वं णं एत्थ कारणेणं। तं सेयं खलु मे सेणियं रायं एयमट्ठं पुच्छित्तए। एवं संपेहेइ, संपेहित्ता जेणामेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावइत्ता एवं वयासी—

'अन्य समय श्रेणिक राजा मुझे आता देखते थे तो देखकर आदर करते, जानते, वस्त्रादि से सत्कार करते, आसनादि देकर सन्मान करते तथा आलाप-संलाप करते थे, आधे आसन पर बैठने के लिए निमंत्रण करते और मेरे मस्तक को सूंघते थे। किन्तु आज श्रेणिक राजा मुझे न आदर दे रहे हैं, न आया जान रहे हैं, न सत्कार करते हैं, न इष्ट कान्त प्रिय मनोज्ञ और उदार वचनों से आलाप-संलाप करते हैं, न अर्ध आसन पर बैठने के लिए निमंत्रित करते हैं और न मस्तक को सूंघते हैं। उनके मन के संकल्प को कुछ आघात पहुंचा है, अतएव चिन्तित हो रहे हैं। इसका कोई कारण होना चाहिए। मुझे श्रेणिक राजा से यह बात पूछना श्रेय (योग्य) है।' अभयकुमार इस प्रकार विचार करता है और विचार कर जहाँ श्रेणिक राजा थे, वहीं आता है। आकर दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक पर आवर्त्त करके, अंजलि करके जय-विजय से बधाता है। बधाकर इस प्रकार कहता है—

६१—तुब्भे णं ताओ! अन्नया ममं एज्जमाणं पासित्ता आढाह, परिजाणह, जाव मत्थयंसि अग्घायह, आसणेणं उवणिमंतेह, इयाणिं ताओ! तुब्भे ममं नो आढाह जाव नो आसणेणं उवणिमंतेह। किं पि ओहयमणसंकप्पा जाव झियायह। तं भवियव्वं ताओ! एत्थ कारणेणं। तओ तुब्भे मम ताओ! एयं कारणं अगूहेमाणा असंकेमाणा अनिण्हवेमाणा अपच्छाएमाणा जहाभूतमवितहमसंदिद्धं एयमट्ठमाइक्खह। तए णं हं तस्स कारणस्स अंतगमणं गमिस्सामि।

हे तात! आप अन्य समय मुझे आता देखकर आदर करते, जानते, यावत् मेरे मस्तक को सूंघते थे और आसन पर बैठने के लिए निमंत्रित करते थे, किंतु तात! आज आप मुझे आदर नहीं दे रहे हैं, यावत् आसन पर बैठने के लिए निमंत्रित नहीं कर रहे हैं और मन का संकल्प नष्ट

होने के कारण कुछ चिन्ता कर रहे हैं। तो इसका कोई कारण होना चाहिए। तो हे तात ! आप इस कारण को छिपाए विना, इष्टप्राप्ति में शंका रक्खे विना, अपलाप किये विना, दवाये विना, जैसा का तैसा, सत्य एवं संदेहरहित कहिए। तत्पश्चात् मैं उस कारण का पार पाने का प्रयत्न करूंगा, अर्थात् आपकी चिन्ता के कारण को दूर करूंगा।

६२—तए णं सेणिए राया अभएणं कुमारेणं एवं वुत्ते समाणे अभयं कुमारं एवं वयासी-एवं खलु पुत्ता ! तव चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए तस्स गब्भस्स दोसु मासेसु अइक्कंतेसु तइयमासे वट्टमाणे दोहलकालसमयंसि अयमेयारूवे दोहले पाउब्भवित्था-धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव विणिंति। तए णं अहं पुत्ता ! धारिणीए देवीए तस्स अकालदोहलस्स बहूहिं आएहि य उवाएहिं जाव उप्पत्तिं अविंदमाणे ओहयमणसंकप्पे जाव झियायामि, तुमं आगयं पि न याणामि। तं एतेणं कारणेणं अहं पुत्ता ! ओहयमणसंकप्पे जाव झियामि।

अभयकुमार के इस प्रकार कहने पर श्रेणिक राजा ने अभयकुमार से इस प्रकार कहा—पुत्र ! तुम्हारी छोटी माता धारिणी देवी की गर्भस्थिति हुए दो मास बीत गए और तीसरा मास चल रहा है। उसमें दोहद-काल के समय उसे इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ है—वे माताएँ धन्य हैं, इत्यादि सब पहले की भांति ही कह लेना चाहिए, यावत् जो अपने दोहद को पूर्ण करती हैं। तब हे पुत्र ! मैं धारिणी देवी के उस अकाल-दोहद के आयों (लाभ), उपायों एवं उपपत्ति को अर्थात् उसकी पूर्ति के उपायों को नहीं समझ पाया हूँ। इससे मेरे मन का संकल्प नष्ट हो गया है और मैं चिन्ता-युक्त हो रहा हूँ। इसी से मुझे तुम्हारा आना भी नहीं जान पड़ा। अतएव पुत्र ! मैं इसी कारण नष्ट हुए मनःसंकल्प वाला होकर चिन्ता कर रहा हूँ।

अभय का आश्वासन

६३—तए णं से अभयकुमारे सेणियस्स रन्नो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ जाव[1] हियए सेणियं रायं एवं वयासी—'मा णं तुब्भे ताओ ! ओहयमणसंकप्पा जाव झियायह। अहं णं तहा करिस्सामि, जहा णं मम चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए अयमेयारूवस्स अकालदोहलस्स मणोरहसंपत्ती भविस्सइ' त्ति कट्टु सेणियं रायं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं जाव [पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं वग्गूहिं] समासासेइ।

तत्पश्चात् वह अभयकुमार, श्रेणिक राजा से यह अर्थ सुनकर और समझ कर हृष्ट-तुष्ट और आनन्दित-हृदय हुआ। उसने श्रेणिक राजा से इस भाँति कहा-हे तात ! आप भग्न-मनोरथ होकर चिन्ता न करें। मैं वैसा (कोई उपाय) करूंगा, जिससे मेरी छोटी माता धारिणी देवी के इस अकाल-दोहद के मनोरथ की पूर्ति होगी। इस प्रकार कह कर (अभयकुमार ने) इष्ट कांत [यावत् प्रिय, मनोज्ञ एवं मनोहर वचनों से] श्रेणिक राजा को सान्त्वना दी।

६४—तए णं सेणिए राया अभएणं कुमारेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे जाव अभयकुमारं सक्कारेति संमाणेति, सक्कारित्ता संमाणित्ता पडिविसज्जेति।

---

१. प्र. अ. १८

श्रेणिक राजा, अभयकुमार के इस प्रकार कहने पर हृष्ट-तुष्ट हुआ। वह अभयकुमार का सत्कार करता है, सन्मान करता है। सत्कार-सन्मान करके विदा करता है।

६५—तए णं से अभयकुमारे सक्कारिय-सम्माणिए पडिविसज्जिए समाणे सेणियस्स रन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमइ। पडिनिक्खमित्ता जेणामेव सए भवणे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणे निसन्ने।

तब (श्रेणिक राजा द्वारा) सत्कारित एवं सन्मानित होकर विदा किया हुआ अभयकुमार श्रेणिक राजा के पास से निकलता है। निकल कर जहाँ अपना भवन है, वहाँ आता है। आकर वह सिंहासन पर बैठ गया।

अभय की देवाराधना

६६—तए णं तस्स अभयकुमारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव [चिंतिए, पत्थिए मणोगए संकप्पे] समुप्पज्जित्था—नो खलु सक्का माणुस्सएणं उवाएणं मम चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए अकालडोहलमणोरहसंपत्ति करेत्तए, णन्नत्थ दिव्वेणं उवाएणं। अत्थि णं मज्झ सोहम्मकप्पवासी पुव्वसंगतिए देवे महिड्ढीए जाव [महज्जुइए महापरक्कमे महाजसे महब्बले महाणुभावे] महासोक्खे। तं सेयं खलु मम पोसहसालाए पोसहियस्स बंभचारिस्स उम्मुक्कमणि-सुवण्णस्स ववगयमाला-वन्नग-विलेवणस्स निक्खित्तसत्थ-मुसलस्स एगस्स अबीयस्स दब्भसंथारोवगयस्स अट्ठमभत्तं परिगिण्हित्ता पुव्वसंगतियं देवं मणसि करेमाणस्स विहरित्तए। तते णं पुव्वसंगतिए देवे मम चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए अयमेयारूवे अकालमेहेसु डोहलं विणिहिइ।

तत्पश्चात् अभयकुमार को इस प्रकार का यह आध्यात्मिक (आंतरिक) विचार, चिन्तन, प्रार्थित या मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—दिव्य अर्थात् देव संबंधी उपाय के बिना केवल मानवीय उपाय से मेरी छोटी माता धारिणी देवी के अकाल-दोहद के मनोरथ की पूर्ति होना शक्य नहीं है। सौधर्म कल्प में रहने वाला देव मेरा पूर्व का मित्र है, जो महान् ऋद्धिधारक यावत् [महान् द्युतिवाला, महापराक्रमी, महान् यशस्वी, महान् बलशाली, महानुभाव] महान् सुख भोगने वाला है। तो मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि मैं पौषधशाला में पौषध ग्रहण करके, ब्रह्मचर्य धारण करके, मणि-सुवर्ण आदि के अलंकारों का त्याग करके, माला वर्णक और विलेपन का त्याग करके, शस्त्र-मूसल आदि अर्थात् समस्त आरम्भ-समारम्भ को छोड़ कर, एकाकी (राग-द्वेष से रहित) और अद्वितीय (सेवक आदि की सहायता से रहित) होकर, डाभ के संथारे पर स्थित होकर, अष्टमभक्त-तेला की तपस्या ग्रहण करके, पहले के मित्र देव का मन में चिन्तन करता हुआ स्थित रहूँ। ऐसा करने से वह पूर्व का मित्र देव (यहाँ आकर) मेरी छोटी माता धारिणी देवी के अकाल-मेघों संबंधी दोहद को पूर्ण कर देगा।

६७—एवं संपेहेइ, संपेहित्ता जेणेव पोसहसाला तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोसहसालं पमज्जति, पमज्जित्ता उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता दब्भसंथारगं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता दब्भसंथारगं दुरूहइ, दुरूहित्ता अट्ठमभत्तं परिगिण्हइ, परिगिण्हित्ता पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी जाव पुव्वसंगतियं देवं मणसि करेमाणे करेमाणे चिट्ठइ।

[illegible] है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है।

[illegible] है। [illegible] है।

भेद का कथन

[illegible] । [illegible] । [illegible] ।

[illegible] है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है।—

[illegible] १ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible] ५ [illegible] ६ [illegible] ७ [illegible] ८ [illegible] ९ [illegible] १० [illegible] ११ [illegible] १२ [illegible] १३ [illegible] १४ [illegible] १५ [illegible] १६ [illegible]

१. [illegible]

अहासुहुमे पोग्गले परिगिण्हति, परिगिण्हइत्ता अभयकुमारमणुकंपमाणे देवे पुव्वभवजणियनेह-पीइ-बहुमाण-जायसोगे, तओ विमाणवरपुण्डरियाओ रयणुत्तमाओ धरणियलगमणतुरियसंजणितगयणपयारो वाघुण्णित-विमल-कणग-पयरग-वडिंसग-मउडुक्कडाडोवदंसणिज्जो, अणेगमणि-कणग-रयण-पहकरपरि-मंडित-भत्तिचित्त-विणिउत्तमणुगुणजणियहरिसे, पेंखोलमाण-वरललित-कुंडलुज्जलियवयणगुणजनित-सोमरूवे, उदितो विव कोमुदीनिसाए सणिच्छरंगारउज्जलियमज्झभागत्थे णयणाणंदो, सरयचंदो, दिव्वोसहिपज्जलुज्जलियदंसणाभिरामो उउलच्छिसमत्तजायसोहे पइट्ठगंधुद्धुयाभिरामो मेरुरिव नगवरो, विगुव्वियविचित्तवेसे, दीवसमुद्दाणं असंखपरिमाणनामधेज्जाणं मज्झंकारेणं वीइवयमाणो, उज्जोयंतो पभाए विमलाए जीवलोगं, रायगिहं पुरवरं च अभयस्स य पासं ओवयति दिव्वरूवधारी।

(१) कर्केतन रत्न (२) वज्र रत्न (३) वैडूर्य रत्न (४) लोहिताक्ष रत्न (५) मसारगल्ल रत्न (६) हंसगर्भ रत्न (७) पुलक रत्न (८) सौगंधिक रत्न (९) ज्योतिरस रत्न (१०) अंक रत्न (११) अंजन रत्न (१२) रजत रत्न (१३) जातरूप रत्न (१४) अंजनपुलक रत्न (१५) स्फटिक रत्न और (१६) रिष्ट रत्न—इन रत्नों के यथा-बादर अर्थात् असार पुद्‌गलों का परित्याग करता है; परित्याग करके यथासूक्ष्म अर्थात् सारभूत पुद्‌गलों को ग्रहण करता है। ग्रहण करके (उत्तर वैक्रिय शरीर बनाता है।) फिर अभयकुमार पर अनुकंपा करता हुआ, पूर्वभव में उत्पन्न हुई स्नेहजनित प्रीति और गुणानुराग के कारण (वियोग का विचार करके) वह खेद करने लगा। फिर उस देव ने उत्तम रचना वाले अथवा उत्तम रत्नमय विमान से निकलकर पृथ्वीतल पर जाने के लिए शीघ्र ही गति का प्रचार किया, अर्थात् वह शीघ्रतापूर्वक चल पड़ा। उस समय चलायमान होते हुए, निर्मल स्वर्ण के प्रतर जैसे कर्णपूर और मुकुट के उत्कट आडम्बर से वह दर्शनीय लग रहा था। अनेक मणियों, सुवर्ण और रत्नों के समूह से शोभित और विचित्र रचना वाले पहने हुए कटिसूत्र से उसे हर्ष उत्पन्न हो रहा था। हिलते हुए श्रेष्ठ और मनोहर कुण्डलों से उज्ज्वल हुई। मुख की दीप्ति से उसका रूप बड़ा ही सौम्य हो गया। कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि में, शनि और मंगल के मध्य में स्थित और उदयप्राप्त शारदनिशाकर के समान वह देव दर्शकों के नयनों को आनन्द दे रहा था। तात्पर्य यह है कि शनि और मंगलग्रह के समान चमकते हुए दोनों कुण्डलों के बीच उसका मुख शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान शोभायमान हो रहा था। दिव्य ओषधियों (जड़ी-बूंटियों) के प्रकाश के समान मुकुट आदि के तेज से देदीप्यमान, रूप से मनोहर, समस्त ऋतुओं की लक्ष्मी से वृद्धिगत शोभा वाले तथा प्रकृष्ट गंध के प्रसार से मनोहर मेरु पर्वत के समान वह देव अभिराम प्रतीत होता था। उस देव ने ऐसे विचित्र वेष की विक्रिया की। असंख्य-संख्यक और असंख्य नामों वाले द्वीपों और समुद्रों के मध्य में होकर जाने लगा। अपनी विमल प्रभा से जीवलोक को तथा नगरवर राजगृह को प्रकाशित करता हुआ दिव्य रूपधारी देव अभयकुमार के पास आ पहुँचा।

७०—तए णं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने दसद्धवन्नाइं सखिंखिणियाइं पवरवत्थाइं परिहिए—(एक्को ताव एसो गमो, अण्णो वि गमो—) ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए सीहाए उद्धुयाए जइणाए छेयाए दिव्वाए देवगतिए जेणामेव जंबुद्दीवे दीवे, भारहे वासे, जेणामेव दाहिणड्ढभरए रायगिहे नगरे पोसहसालाए अभए कुमारे तेणामेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता अंतरिक्खपडिवन्ने दसद्धवन्नाइं सखिंखिणियाइं पवरवत्थाइं परिहिए—अभयं कुमारं एवं वयासी।

तत्पश्चात् दस के आधे अर्थात् पाँच वर्ण वाले तथा घुंघरू वाले उत्तम वस्त्रों को धारण किये हुए वह देव आकाश में स्थित होकर (अभयकुमार से इस प्रकार बोला—)

यह एक प्रकार का गम-पाठ है। इसके स्थान पर दूसरा भी पाठ है। वह इस प्रकार है—

वह देव उत्कृष्ट, त्वरा वाली, चपल-कायिक चपलता वाली, अति उत्कर्ष के कारण चंड—भयानक, दृढ़ता के कारण सिंह जैसी, गर्व की प्रचुरता के कारण उद्धत, शत्रु को जीतने से जय करने वाली, छेक अर्थात् निपुणता वाली और दिव्य देवगति से जहाँ जम्बूद्वीप था, भारतवर्ष था और जहाँ दक्षिणार्धभरत था, उसमें भी राजगृह नगर था और जहाँ पौषधशाला में अभयकुमार था, वहीं आता है। आकर के आकाश में स्थित होकर पाँच वर्ण वाले एवं घुंघरू वाले उत्तम वस्त्रों को धारण किये हुए वह देव अभयकुमार से इस प्रकार कहने लगा—

७१—'अहं णं देवाणुप्पिया! पुव्वसंगतिए सोहम्मकप्पवासी देवे महड्ढिए, जं णं तुमं पोसहसालाए अट्ठमभत्तं पगिण्हित्ता णं ममं मणसि करेमाणे चिट्ठसि, तं एस णं देवाणुप्पिया! अहं इहं हव्वमागए। संदिसाहि णं देवाणुप्पिया! किं करेमि? किं दलामि? किं पयच्छामि? किं वा ते हिय-इच्छितं?'

'हे देवानुप्रिय! मैं तुम्हारा पूर्वभव का मित्र सौधर्मकल्पवासी महान् ऋद्धि का धारक देव हूँ। क्योंकि तुम पौषधशाला में अष्टमभक्त तप ग्रहण करके मुझे मन में रखकर स्थित हो अर्थात् मेरा स्मरण कर रहे हो, इसी कारण हे देवानुप्रिय! मैं शीघ्र यहाँ आया हूँ। हे देवानुप्रिय! बताओ तुम्हारा क्या इष्ट कार्य करूं? तुम्हें क्या दूँ? तुम्हारे किसी संबंधी को क्या दूँ? तुम्हारा मनोवांछित क्या है?'

७२—तए णं से अभए कुमारे तं पुव्वसंगतियं देवं अंतलिक्खपडिवन्नं पासइ। पासित्ता हट्ठतुट्ठे पोसहं पारेइ, पारित्ता करयल० अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

एवं खलु देवाणुप्पिया! मम चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए अयमेयारूवे अकालडोहले पाउब्भूते-धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ! तहेव पुव्वगमेणं जाव विणिज्जामि। तं णं तुमं देवाणुप्पिया! मम चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए अयमेयारूवं अकालदोहलं विणेहि।

तत्पश्चात् अभयकुमार ने आकाश में स्थित पूर्वभव के मित्र उस देव को देखा। देखकर वह हृष्ट-तुष्ट हुआ। पौषध को पारा-पूर्ण किया। फिर दोनों हाथ मस्तक पर जोड़ कर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिय! मेरी छोटी माता धारिणी देवी को इस प्रकार का अकाल-दोहद उत्पन्न हुआ है कि वे माताएँ धन्य हैं जो अपने अकाल मेघ-दोहद को पूर्ण करती हैं यावत् मैं भी अपने दोहद को पूर्ण करूँ।' इत्यादि पूर्व के समान सब कथन यहाँ समझ लेना चाहिए। सो हे देवानुप्रिय। तुम मेरी छोटी माता धारिणी देवी के इस प्रकार के दोहद को पूर्ण कर दो।'

अकाल-मेघविक्रिया

७३—तए णं से देवे अभएणं कुमारेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे अभयकुमारं एवं वयासी—'तुमं णं देवाणुप्पिया! सुणिव्वुयवीसत्थे अच्छाहि। अहं णं तव चुल्लमाउयाए धारिणीए देवीए

अयमेयारूवं डोहलं विणेमीति' कट्टु, अभयस्स कुमारस्स अंतियाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमित्ता उत्तरपुरच्छिमे णं वेभारपव्वए वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णति, समोहण्णइत्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरति, जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णति, समोहण्णित्ता खिप्पामेव सगज्जियं सविज्जुयं सफुसियं तं पंचवण्णमेहणिणाओवसोहियं दिव्वं पाउससिरिं विउव्वेइ। विउव्वेइत्ता जेणेव अभए कुमारे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अभयं कुमारं एवं वयासी।

तत्पश्चात् वह देव अभयकुमार के ऐसा कहने पर हर्षित और संतुष्ट होकर अभयकुमार से बोला—देवानुप्रिय ! तुम निश्चिन्त रहो और विश्वास रक्खो। मैं तुम्हारी लघु माता धारिणी देवी के इस प्रकार के इस दोहद की पूर्ति किए देता हूँ।' ऐसा कहकर अभयकुमार के पास से निकलता है। निकलकर उत्तरपूर्व दिशा में, वैभार गिरि पर जाकर वैक्रिय समुद्घात करता है। समुद्घात करके संख्यात योजन प्रमाण वाला दंड निकालता है, यावत् दूसरी वार भी वैक्रियसमुद्घात करता है और गर्जना से युक्त, बिजली से युक्त और जल बिन्दुओं से युक्त पाँच वर्ण वाले मेघों की ध्वनि से शोभित दिव्य वर्षा ऋतु की शोभा की विक्रिया करता है। विक्रिया करके जहाँ अभयकुमार था, वहाँ आता है। आकर अभयकुमार से इस प्रकार कहता है—

७४—एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए तव पियट्ठयाए सगज्जिया सफुसिया सविज्जुया दिव्वा पाउससिरी विउव्विया। तं विणेउ णं देवाणुप्पिया ! तव चुल्लमाउया धारिणी देवी अयमेयारूवं अकालडोहलं।

देवानुप्रिय ! मैंने तुम्हारे प्रिय के लिए—प्रसन्नता की खातिर गर्जनायुक्त, बिन्दुयुक्त और विद्युत्युक्त दिव्य वर्षालक्ष्मी की विक्रिया की है। अतः हे देवानुप्रिय ! तुम्हारी छोटी माता धारिणी देवी अपने दोहद की पूर्ति करे।

दोहदपूर्ति

७५—तए णं से अभयकुमारे तस्स पुव्वसंगतियस्स देवस्स सोहम्मकप्पवासिस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे सयाओ भवणाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणामेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता करयल० अंजलिं कट्टु एवं वयासी।

तत्पश्चात् अभयकुमार उस सौधर्मकल्पवासी पूर्व के मित्र देव से यह बात सुन-समझ कर हर्षित एवं संतुष्ट होकर अपने भवन से बाहर निकलता है। निकलकर जहाँ श्रेणिक राजा बैठा था, वहाँ आता है। आकर मस्तक पर दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार कहता है—

७६—'एवं खलु ताओ ! मम पुव्वसंगतिएणं सोहम्मकप्पवासिणा देवेणं खिप्पामेव सगज्जिया सविज्जुया (सफुसिया) पंचवन्नमेहनिनाओवसोहिआ दिव्वा पाउससिरी विउव्विया। तं विणेउ णं मम चुल्लमाउया धारिणी देवी अकालदोहलं।'

हे तात ! मेरे पूर्वभव के मित्र सौधर्मकल्पवासी देव ने शीघ्र ही गर्जनायुक्त बिजली से युक्त और (बूँदों सहित) पाँच रंगों के मेघों की ध्वनि से सुशोभित दिव्य वर्षाऋतु की शोभा की विक्रिया की है। अतः मेरी लघु माता धारिणी देवी अपने अकाल-दोहद को पूर्ण करें।

७७—तए णं से सेणिए राया अभयस्स कुमारस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! रायगिहं नयरं सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आसित्तसित्त जाव सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूयं करेह। करित्ता य मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।' तते णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव पच्चप्पिणन्ति।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा, अभयकुमार से यह बात सुनकर और हृदय में धारण करके हर्षित व संतुष्ट हुआ। यावत् उसने कौटुम्बिक पुरुषों (सेवकों) को बुलवाया। बुलवाकर इस भाँति कहा— देवानुप्रियो ! शीघ्र ही राजगृह नगर में शृंगाटक (सिंघाड़े की आकृति के मार्ग), त्रिक (जहाँ तीन रास्ते मिलें वह मार्ग), चतुष्क (चौक) और चबूतरे आदि को सींच कर, यावत् उत्तम सुगंध से सुगंधित करके गंध की वट्टी के समान करो। ऐसा करके मेरी आज्ञा वापिस सौंपो। तत्पश्चात् वे कौटुम्बिक पुरुष आज्ञा का पालन करके यावत् उस आज्ञा को वापिस सौंपते हैं, अर्थात् आज्ञानुसार कार्य हो जाने की सूचना देते हैं।

७८—तए णं से सेणिए राया दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हय-गय-रह-जोहपवरकलितं चाउरंगिणिं सेन्नं सन्नाहेह, सेयणयं च गंधहत्थिं परिकप्पेह।'

ते वि तहेव जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा दूसरी बार कौटुम्बिक पुरुषों को बुलवाता है और बुलवाकर इस प्रकार कहता है—देवानुप्रियो ! शीघ्र ही उत्तम अश्व, गज, रथ तथा योद्धाओं (पदातियों) सहित चतुरंगी सेना को तैयार करो और सेचनक नामक गंधहस्ती को भी तैयार करो।'

वे कौटुम्बिक पुरुष भी आज्ञा पालन करके यावत् आज्ञा वापिस सौंपते हैं।

७९—तए णं से सेणिए राया जेणेव धारिणी देवी तेणामेव उवागच्छति। उवागच्छित्ता धारिणिं देविं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिए ! सगज्जिया जाव [सविज्जुया सफुसिया दिव्वा] पाउससिरी पाउब्भूता, तं णं तुमं देवाणुप्पिए ! एयं अकालदोहलं विणेहि।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा जहाँ धारिणी देवी थी, वहीं आया। आकर धारिणी देवी से इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रिये ! इस प्रकार तुम्हारी अभिलाषा अनुसार गर्जना की ध्वनि, बिजली तथा बूंदाबादी से युक्त दिव्य वर्षा की सुषमा प्रादुर्भूत हुई है। अतएव देवानुप्रिये ! तुम अपने अकाल-दोहद को सम्पन्न करो।

८०—तए णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा, जेणामेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ। अणुपविसित्ता अंतो अंतेउरंसि ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ता किं ते वरपायपत्तणेउर जाव (मणिमेहल-हार-रइय-ओविय-कडग-खुड्डय-विचित्त-वरवलयथंभियभुया) आगासफलिहसमप्पभं अंसुयं नियत्था, सेयणयं गंधहत्थिं दुरूढा समाणी अमयमहियफेणपुंजसण्णिगासाहिं सेयचामरवालवीयणीहिं वीइज्जमाणी वीइज्जमाणी संपत्थिया।

तत्पश्चात् वह धारिणी देवी श्रेणिक राजा के इस प्रकार कहने पर हृष्ट-तुष्ट हुई और जहाँ स्नानगृह था, उसी ओर आई। आकर स्नानगृह में प्रवेश किया। प्रवेश करके अन्तःपुर के अन्दर स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक, मंगल और प्रायश्चित्त किया। फिर क्या किया ? सो कहते हैं—पैरों में उत्तम नूपुर पहने, (कमर में मणिजटित करधनी, वक्षस्थल पर हार, हाथों में कड़े, उंगलियों में अँगूठियाँ धारण कीं, बाजूबंधों से उसकी भुजाएं स्तब्ध हो गईं,] यावत् आकाश तथा स्फटिक मणि के समान प्रभा वाले वस्त्रों को धारण किया। वस्त्र धारण करके सेचनक नामक गंधहस्ती पर आरूढ़ होकर, अमृतमंथन से उत्पन्न हुए फेन के समूह के समान श्वेत चामर के बालों रूपी वीजने से विजाती हुई रवाना हुई।

८१—तए णं से सेणिए राया ण्हाए कयबलिकम्मे जाव (कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे) सस्सिरीए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं चउचामराहिं वीइज्जमाणे धारिणिं देविं पिट्ठओ अणुगच्छइ।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक, मंगल प्रायश्चित्त किया, अल्प किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को सुशोभित किया। सुसज्जित होकर, श्रेष्ठ गंधहस्ती के स्कंध पर आरूढ़ होकर, कोरंट वृक्ष के फूलों की माला वाले छत्र को मस्तक पर धारण करके, चार चामरों से विंजाते हुए धारिणी देवी का अनुगमन किया।

८२—तए णं सा धारिणी देवी सेणिएणं रण्णा हत्थिखंधवरगएणं पिट्ठतो पिट्ठतो समणुगम्ममाणमग्गा, हय-गय-रह-जोह-कलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडा महया भड-चडगर-वंद-परिक्खित्ता सव्विड्ढीए सव्वजुईए जाव[1] दुंदुभिनिग्घोसनादितरवेणं रायगिहे नगरे सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर जाव (चउम्मुह) महापहपहेसु नागरजणेणं अभिनंदिज्जमाणा अभिनंदिज्जमाणा जेणामेव वेभारगिरिपव्वए तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता वेभारगिरिकडगतडपायमूले आरामेसु य उज्जाणेसु य, काणणेसु य, वणेसु य, वणसंडेसु य, रुक्खेसु य, गुच्छेसु य, गुम्मेसु य, लयासु य, वल्लीसु य, कंदरासु य, दरीसु य, चुंढीसु य, दहेसु य, कच्छेसु य, नदीसु य, संगमेसु य, विवरएसु य, अच्छमाणी य, पेच्छमाणी य, मज्जमाणी य, पत्ताणि य, पुप्फाणि य, फलाणि य, पल्लवाणि य, गिण्हमाणी य, माणेमाणी य, अग्घायमाणी य, परिभुंजमाणी य, परिभाएमाणी य, वेभारगिरिपायमूले दोहलं विणेमाणी सव्वओ समंता आहिंडति। तए णं धारिणी देवी विणीतदोहला संपुन्नदोहला संपन्नदोहला जाया यावि होत्था।

श्रेष्ठ हाथी के स्कंध पर बैठे हुए श्रेणिक राजा धारिणी देवी के पीछे-पीछे चले। धारिणी देवी अश्व, हाथी, रथ और योद्धाओं की चतुरंगी सेना से परिवृत थी। उसके चारों ओर महान् सुभटों का समूह घिरा हुआ था। इस प्रकार सम्पूर्ण समृद्धि के साथ, सम्पूर्ण द्युति के साथ, यावत् दुंदुभि के निर्घोष के साथ राजगृह नगर के शृंगाटक, त्रिक चतुष्क और चत्वर आदि में होकर यावत् चतुर्मुख राजमार्ग में होकर निकली। नागरिक लोगों ने पुनः पुनः उसका अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् वह जहाँ वैभारगिरि पर्वत था, उसी ओर आई। आकर वैभारगिरि के कटकतट में और

---

१. प्र. अ. सूत्र ४८

तलहटी में, दम्पतियों के क्रीड़ास्थान आरामों में, पुष्प-फल से सम्पन्न उद्यानों में, सामान्य वृक्षों से युक्त काननों में, नगर से दूरवर्त्ती वनों में, एक जाति के वृक्षों के समूह वाले वनखण्डों में, वृक्षों में, वृन्ताकी आदि के गुच्छाओं में, बांस की झाड़ी आदि गुल्मों में, आम्र आदि की लताओं अर्थात् पौधों में नागरवेल आदि की वल्लियों में, गुफाओं में, दरी (शृगाल आदि के रहने के गड़हों में), चुण्डी (विना खोदे आप ही बने जल की तलैया) में, ह्रदों-तालाबों में, अल्प जल वाले कच्छों में, नदियों में, नदियों के संगमों में और अन्य जलाशयों में, अर्थात् इन सबके आसपास खड़ी होती हुई, वहाँ के दृश्यों को देखती हुई, स्नान करती हुई, पत्रों पुष्पों फलों और पल्लवों (कौंपलों) को ग्रहण करती हुई, स्पर्श करके उनका मान करती हुई, पुष्पादिक को सूंघती हुई, फल आदि का भक्षण करती हुई और दूसरों को बाँटती हुई, वैभारगिरि के समीप की भूमि में अपना दोहद पूर्ण करती हुई चारों ओर परिभ्रमण करने लगी। इस प्रकार धारिणी देवी ने दोहद को दूर किया, दोहद को पूर्ण किया और दोहद को सम्पन्न किया।

८३—तए णं सा धारिणी देवी सेयणगगंधहत्थिं दुरूढा समाणी सेणिएणं हत्थिखंधवरगएणं पिट्ठओ पिट्ठओ समणुगम्ममाणमग्गा हयगय जाव[1] रहेणं जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं जेणामेव सए भवणे तेणामेव उवागच्छति। उवागच्छित्ता विउलाइं माणुस्साइं भोगभोगाइं जाव (पच्चणुभवमाणी) विहरति।

तत्पश्चात् धारिणी देवी सेचनक नामक गंधहस्ती पर आरूढ हुई। श्रेणिक राजा श्रेष्ठ हाथी के स्कंध पर बैठकर उसके पीछे-पीछे चलने लगे। अश्व हस्ती आदि से घिरी हुई वह जहाँ राजगृह नगर है, वहाँ आती है। राजगृह नगर के बीचोंबीच होकर जहाँ अपना भवन है, वहाँ आती है। वहाँ आकर मनुष्य सम्बन्धी विपुल भोग भोगती हुई विचरती है।

देव का विसर्जन

८४—तए णं से अभयकुमारे जेणामेव पोसहसाला तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता पुव्वसंगतियं देवं सक्कारेइ, सम्माणेइ। सक्कारित्ता सम्माणित्ता पडिविसज्जेति।

तत्पश्चात् वह अभयकुमार जहाँ पौषधशाला है, वहीं आता है। आकर पूर्व के मित्र देव का सत्कार-सन्मान करके उसे विदा करता है।

८५—तए णं से देवे सगज्जियं पंचवण्णं महोवसोहियं दिव्वं पाउससिरिं पडिसाहरति, पडिसाहरित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए, तामेव दिसिं पडिगए।

तत्पश्चात् अभयकुमार द्वारा विदा किया हुआ वह देव गर्जना से युक्त पंचरंगी मेघों से सुशोभित दिव्य वर्षा-लक्ष्मी का प्रतिसंहरण करता है, अर्थात् उसे समेट लेता है। प्रतिसंहरण करके जिस दिशा से प्रकट हुआ था, उसी दिशा में चला गया, अर्थात् अपने स्थान पर गया।

गर्भ की सुरक्षा

८६—तए णं सा धारिणी देवी तंसि अकालदोहलंसि विणीयंसि संमाणियडोहला तस्स

१. प्र. अ. सूत्र ८२

गब्भस्स अणुकंपणट्ठाए जयं चिट्ठति, जयं आसयति, जयं सुवति, आहारं पि य णं आहारेमाणी णाइतित्तं णातिकडुयं णातिकसायं णातिअंबिलं णातिमहुरं जं तस्स गब्भस्स हियं मियं पत्थयं देसे य काले य आहारं आहारेमाणी णाइचिंतं, णाइसोगं, णाइदेण्णं, णाइमोहं, णाइभयं, णाइपरित्तासं, ववगयचिंता-सोय-मोह-भय-परित्तासा उडु-भयमाण-सुहेहिं भोयण-च्छायण-गंध-मल्लालंकारेहिं तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहति ।

तत्पश्चात् धारिणी देवी ने अपने उस अकाल दोहद के पूर्ण होने पर दोहद को सम्मानित किया। वह उस गर्भ की अनुकम्पा के लिए, गर्भ को बाधा न पहुँचे इस प्रकार यतना-सावधानी से खड़ी होती, यतना से बैठती और यतना से शयन करती। आहार करती तो ऐसा आहार करती जो अधिक तीखा न हो, अधिक कटुक न हो, अधिक कसैला न हो, अधिक खट्टा न हो, और अधिक मीठा भी न हो। देश और काल के अनुसार जो उस गर्भ के लिए हितकारक (बुद्धि-आयुष्य आदि का कारण) हो, मित (परिमित एवं इन्द्रियों को अनुकूल) हो, पथ्य (आरोग्यकारक) हो। वह अति चिन्ता न करती, अति शोक न करती, अति दैन्य न करती, अति मोह न करती, अति भय न करती और अति त्रास न करती। अर्थात् चिन्ता, शोक, दैन्य, मोह, भय और त्रास से रहित होकर सब ऋतुओं में सुखप्रद भोजन, वस्त्र, गंध, माला और अलंकार आदि से सुखपूर्वक उस गर्भ को वहन करने लगी।

मेघकुमार का जन्म

८७—तए णं सा धारिणी देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण राइंदियाणं वीइक्कंताणं अद्धरत्तकालसमयंसि सुकुमालपाणिपायं जाव[1] सव्वंगसुंदरंगं दारयं पयाया ।

तत्पश्चात् धारिणी देवी ने नौ मास परिपूर्ण होने पर और साढ़े सात रात्रि-दिवस बीत जाने पर, अर्धरात्रि के समय, अत्यन्त कोमल हाथ-पैर वाले यावत् परिपूर्ण इन्द्रियों से युक्त शरीर वाले, लक्षणों और व्यंजनों से सम्पन्न, मान-उन्मान-प्रमाण से युक्त एवं सर्वांग-सुन्दर शिशु का प्रसव किया।

८८—तए णं ताओ अंगपडियारियाओ धारिणिं देविं नवण्हं मासाणं जाव[2] दारयं पयायं पासंति। पासित्ता सिग्घं तुरियं चवलं वेइयं, जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सेणियं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति। वद्धावित्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी।

तत्पश्चात् दासियों ने देखा कि धारिणी देवी ने नौ मास पूर्ण हो जाने पर यावत् पुत्र को जन्म दिया है। देख कर हर्ष के कारण शीघ्र, मन से त्वरा वाली, काय से चपल एवं वेग वाली वे दासियाँ श्रेणिक राजा के पास आती हैं। आकर श्रेणिक राजा को जय-विजय शब्द कह कर वधाई देती हैं। वधाई देकर, दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक पर आवर्तन करके अंजलि करके इस प्रकार कहती हैं।

८९—एवं खलु देवाणुप्पिया! धारिणी देवी णवण्हं मासाणं जाव[3] दारगं पयाया। तं णं अम्हे देवाणुप्पियाणं पियं णिवेएमो, पियं भे भवउ।

---

१. सूत्र १५ २. सूत्र ८७ ३. सूत्र ८७

तए णं से सेणिए राया तासिं अंगपडियारियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० ताओ अंगपडियारियाओ महुरेहिं वयणेहिं विपुलेण य पुप्फगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारित्ता सम्माणित्ता मत्थयधोयाओ करेति, पुत्ताणुपुत्तियं वित्तिं कप्पेति, कप्पित्ता पडिविसज्जेति।

हे देवानुप्रिय! धारिणी देवी ने नौ मास पूर्ण होने पर यावत् पुत्र का प्रसव किया है। सो हम देवानुप्रिय को प्रिय (समाचार) निवेदन करती हैं। आपको प्रिय हो!

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा उन दासियों के पास से यह अर्थ सुन कर और हृदय में धारण करके हृष्ट-तुष्ट हुआ। उसने उन दासियों का मधुर वचनों से तथा विपुल पुष्पों गंधों मालाओं और आभूषणों से सत्कार-सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके उन्हें मस्तकधौत किया अर्थात् दासीपन से मुक्त कर दिया। उन्हें ऐसी आजीविका कर दी कि उनके पुत्र पौत्र आदि तक चलती रहे। इस प्रकार आजीविका करके विपुल द्रव्य देकर विदा किया।

विवेचन—प्राचीन काल में इस देश में दासप्रथा और दासीप्रथा प्रचलित थी। दास-दासियों की स्थिति लगभग पशुओं जैसी थी। उनका क्रय-विक्रय होता था। बाजार लगते थे। जीवन-पर्यन्त उन्हें गुलाम होकर रहना पड़ता था। उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। कोई विशिष्ट हर्ष का प्रसंग हो और स्वामी प्रसन्न हो जाय तभी दासता अथवा दासीपन से उनको मुक्ति मिलती थी। राजा श्रेणिक का प्रसन्न होकर दासियों को दासीपन से मुक्त कर देना इसी प्रथा का सूचक है।

जन्मोत्सव

९०—तए णं से सेणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति। सद्दावित्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! रायगिहं नगरं आसित्त जाव (सम्मज्जिओवलित्तं सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आसित्त-सित्त-सुइ-सम्मट्ठ-रत्थंतरावण-वीहियं मंचाइमंचकलियं णाणाविहराग-ऊसिय-ज्झय-पडागाइपडाग-मंडियं लाउल्लोइयमहियं गोसीस-सरस-रत्तचंदण-दद्दर-दिण्णपंचंगुलितलं उवचियचंदणकलसं चंदणघड-सुकय-तोरण-पडिदुवारदेसभायं आसित्तो-सत्तविउल-वट्ट-वग्घारिय-मल्लदाम-कलावं पंचवण्ण-सरस-सुरभिमुक्क-पुप्फपुंजोवयार-कलियं कालागुरु-पवर-कुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-डज्झंत-मघमघेंत-गंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवर-गंधियं गंधवट्टिभूयं नड-नट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-कहकहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-अणेगतालायर)-परिगीयं करेह कारवेह य। करित्ता चारगपरिसोहणं करेह। करित्ता माणुम्माण-वद्धणं करेह। करित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। जाव पच्चिप्पिणंति।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाता है। बुलाकर इस प्रकार आदेश देता है—देवानुप्रियो! शीघ्र ही राजगृह नगर में सुगंधित जल छिड़को, यावत् उसका सम्मार्जन एवं लेपन करो, शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख और राजमार्गों में सिंचन करो, उन्हें शुचि करो, रास्ते, बाजार, वीथियों को साफ करो, उन पर मंच और मंचों पर मंच बनाओ, तरह-तरह की ऊंची ध्वजाओं, पताकाओं और पताकाओं पर पताकाओं से शोभित करो, लिपा-पुता करो, गोशीर्ष चन्दन तथा सरस रक्तचन्दन के पाँचों उंगलियों वाले हाथे लगाओ, चन्दन-चर्चित कलशों से उपचित करो, स्थान-स्थान पर द्वारों पर चन्दन-घटों के तोरणों का निर्माण कराओ, विपुल गोलाकार मालाएं लटकाओ, पांचों रंगों के ताजा और सुगंधित फूलों को बिखेरो, काले अगर, श्रेष्ठ कुंदरुक, लोभान

तथा धूप इस प्रकार जलाओ कि उनकी सुगंध से सारा वातावरण मघमघा जाय, श्रेष्ठ सुगंध के कारण नगर सुगंध की गुटिका जैसा बन जाए, नट, नर्तक जल्ल, मल्ल, मौष्टिक (मुक्केबाज) विडंवक (विदूषक) कथाकार, प्लवक (तैराक) नृत्यकर्ता, आइक्खग—शुभाशुभ फल बताने वाले, बांस पर चढ़ कर खेल दिखाने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, तूणा-वीणा बजाने वाले, तालियां पीटने वाले आदि लोगों से युक्त करो एवं सर्वत्र (मंगल) गान कराओ। कारागार से कैदियों को मुक्त करो। तोल और नाप की वृद्धि करो। यह सब करके मेरी आज्ञा वापिस सौंपो।

यावत् कौटुम्बिक पुरुष राजाज्ञा के अनुसार कार्य करके आज्ञा वापिस देते हैं।

९१—तए णं से सेणिए राया अट्ठारससेणीप्पसेणीओ सद्दावेति। सद्दावित्ता एवं वदासी—'गच्छह णं तुब्मे देवाणुप्पिया! रायगिहे नगरे अब्भिंतरबाहिरिए उस्सुक्कं उक्करं अभडप्पवेसं अदंडिमकुडंडिमं अधरिमं अधारणिज्जं अणुद्धुयमुइंगं अमिलायमल्लदामं गणियावरणाडइज्जकलियं अणेगतालायराणुचरितं पमुइयपक्कीलियाभिरामं जहारिहं ठिइवडियं दसदिवसियं करेह कारवेह य। करित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।'

ते वि करेन्ति, करित्ता तहेव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा कुंभकार आदि जाति रूप अठारह श्रेणियों को और उनके उपविभाग रूप अठारह प्रश्रेणियों को बुलाता है। बुलाकर इस प्रकार कहता है—देवानुप्रियो! तुम जाओ और राजगृह नगर के भीतर और बाहर दस दिन की स्थितिपतिका (कुल मर्यादा के अनुसार होने वाली पुत्रजन्मोत्सव की विशिष्ट रीति) कराओ। वह इस प्रकार है—दस दिनों तक शुल्क (चुंगी) लेना बंद किया जाय, गायों वगैरह का प्रतिवर्ष लगने वाला कर माफ किया जाय, कुटुंबियों-किसानों आदि के घर में बेगार लेने आदि के लिए राजपुरुषों का प्रवेश निषिद्ध किया जाय, दंड (अपराध के अनुसार लिया जाने वाला द्रव्य) न लिया जाय, किसी को ऋणी न रहने दिया जाय, अर्थात् राजा की तरफ से सब का ऋण चुका दिया जाय, किसी देनदार को पकड़ा न जाय, ऐसी घोषणा कर दो। तथा सर्वत्र मृदंग आदि बाजे बजवाओ। चारों ओर विकसित ताजा फूलों की मालाएँ लटकाओ। गणिकाएँ जिनमें प्रधान हों ऐसे पात्रों से नाटक करवाओ। अनेक तालाचरों (प्रेक्षाकारियों) से नाटक करवाओ। ऐसा करो कि लोग हर्षित होकर क्रीड़ा करें। इस प्रकार यथायोग्य दस दिन की स्थितिपतिका करो-कराओ और मेरी यह आज्ञा मुझे वापिस सौंपो।

राजा श्रेणिक का यह आदेश सुनकर वे इसी प्रकार करते हैं और राजाज्ञा वापिस करते हैं।

९२—तए णं से सेणिए राया बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने सइएहि य साहस्सिएहि य सयसाहस्सिएहि य जाएहिं दाएहिं भागेहिं दलयमाणे दलयमाणे पडिच्छेमाणे पडिच्छेमाणे एवं च णं विहरति।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा बाहर की उपस्थानशाला (सभाभवन) में, पूर्व की ओर मुख करके, श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठा और सैंकड़ों हजारों और लाखों के द्रव्य से याग (पूजन) किया एवं दान दिया। उसने अपनी आय में से अमुक भाग दिया। और प्राप्त होने वाले द्रव्य को ग्रहण करता हुआ विचरने लगा।

अनेक संस्कार

९३—तए णं तस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जातकम्मं करेन्ति, करित्ता बितियदिवसे जागरियं करेन्ति, करित्ता ततियदिवसे चंदसूरदंसणियं करेन्ति, करित्ता एवामेव निव्वत्ते असुइजातकम्मकरणे संपत्ते बारसाहदिवसे विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेन्ति, उवक्खडावित्ता मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परिजणं बलं च बहवे गणणायग—दंडणायग जाव (राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-मंति-महामंति-गणग-दोवारिय-अमच्च-चेड-पीठमद्द-नगर-निगम-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संधिवाले) आमंतेति।

तत्पश्चात् उस बालक के माता-पिता ने पहले दिन जातकर्म (नाल काटना आदि) किया। दूसरे दिन जागरिका (रात्रि जागरण) किया। तीसरे दिन चन्द्र-सूर्य का दर्शन कराया। इस प्रकार अशुचि जातकर्म की क्रिया सम्पन्न हुई। फिर बारहवां दिन आया तो विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम वस्तुएँ तैयार करवाईं। तैयार करवाकर मित्र, बन्धु आदि ज्ञाति, पुत्र आदि निजक जन, काका आदि स्वजन, श्वसुर आदि सम्बन्धी जन, दास आदि परिजन, सेना, और बहुत से गणनायक, दंडनायक यावत् [राजा, राजकुमार, तलवर, मांडबिक, कौटुम्बिक, मंत्री, महामंत्री, गणक, दौवारिक, अमात्य, चेट, पीठमर्द, नगरवासी, निगमवासी, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, दूत और संधिपाल इन सब] को आमंत्रण दिया।

९४—तओ पच्छा ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सव्वालंकार-विभूसिया महइमहालयंसि भोयणमंडवंसि तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं मित्तणाइ०[1] गणणायग जाव सद्धिं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभाएमाणा परिभुंजेमाणा एवं च णं विहरइ।

उसके पश्चात् स्नान किया, बलिकर्म किया, मणितिलक आदि कौतुक किया, यावत् समस्त अलंकारों से विभूषित हुए। फिर बहुत विशाल भोजन-मंडप में, उस अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन का मित्र, ज्ञाति आदि तथा गणनायक आदि के साथ आस्वादन, विस्वादन, परस्पर विभाजन और परिभोग करते हुए विचरने लगे।

नामकरणसंस्कार

९५—जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूया तं मित्तनाइनियग-सयणसंबंधिपरिजण०[2] गणणायग०[3] विपुलेणं पुप्फ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेंति, संमाणेंति, सक्कारित्ता सम्माणित्ता एवं वयासी—'जम्हा णं अम्हं इमस्स दारगस्स गब्भत्थस्स चेव समाणस्स अकाल-मेहेसु डोहले पाउब्भूए, तं होउ णं अम्हं दारए मेहे नामेणं मेहकुमारे।' तस्स दारगस्स अम्मापियरो अयमेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेन्ति।

इस प्रकार भोजन करने के पश्चात् शुद्ध जल से आचमन (कुल्ला) किया। हाथ-मुख धोकर स्वच्छ हुए, परम शुचि हुए। फिर उन मित्र, ज्ञाति निजक, स्वजन, सम्बन्धीजन, परिजन आदि तथा गणनायक आदि का विपुल वस्त्र, गंध, माला और अलंकार से सत्कार किया, सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके इस प्रकार कहा—क्योंकि हमारा यह पुत्र जब गर्भ में स्थित था, तब इसकी

१-२-३. सूत्र ९३

माता को अकाल-मेघ सम्बन्धी दोहद हुआ था। अतएव हमारे इस पुत्र का नाम मेघकुमार होना चाहिए। इस प्रकार माता-पिता ने गौण अर्थात् गुणनिष्पन्न नाम रक्खा।

मेघकुमार का लालन-पालन

९६—तए णं से मेहकुमारे पंचधाईपरिग्गहिए। तंजहा-खीरधाईए, मंडणधाईए, मज्जणधाईए, कीलावणधाईए, अंकधाईए। अन्नाहि य बहूहिं खुज्जाहिं चिलाइयाहिं वामणि-वडभि-बब्बरि-बउसि-जोणियाहिं पल्हविय-ईसिणिय-धोरुगिणि-लासिय-लउसिय-दमिलि-सिंहलि-आरबि-पुलिंदि-पक्कणि-बहलि-मुरुंडि-सबरि-पारसीहिं णाणादेसीहिं विदेसपरिमंडियाहिं इंगित-चिंतिय-पत्थिय-वियाणियाहिं सदेसनेवत्थगहियवेसाहिं निउणकुसलाहिं विणीयाहिं चेडियाचक्कवाल-वरिसधर-कंचुइअ-महयरगवंद-परिक्खित्ते हत्थाओ हत्थं संहरिज्जमाणे, अंकाओ अंकं परिभुज्जमाणे, परिगिज्जमाणे, चालिज्जमाणे, उवलालिज्जमाणे, रम्मंसि मणिकोट्टिमतलंसि परिमिज्जमाणे परिमिज्जमाणे णिव्वायणिव्वाघायंसि गिरिकन्दरमल्लीणे व चंपगपायवे सुहंसुहेणं वड्डइ।

तत्पश्चात् मेघकुमार पांच धायों द्वारा ग्रहण किया गया—पाँच धाएँ उसका पालन-पोषण करने लगीं। वे इस प्रकार थीं—(१) क्षीरधात्री—दूध पिलाने वाली धाय, (२) मंडनधात्री—वस्त्राभूषण पहनाने वाली धाय (३) मज्जनधात्री—स्नान कराने वाली धाय, (४) क्रीड़ापनधात्री—खेल खिलाने वाली धाय और (५) अंकधात्री—गोद में लेने वाली धाय। इनके अतिरिक्त वह मेघकुमार अन्यान्य कुब्जा (कुबड़ी) चिलातिका (चिलात-किरात नामक अनार्य देश में उत्पन्न), वामन (बौनी), वडभी (बड़े पेट वाली) बर्बरी (बर्बर देश में उत्पन्न), बकुश देश की, योनक देश की, पल्हविक देश की, ईसिनिक, धोरुकिन ल्हासक देश की, लकुस देश की, द्रविड देश की, सिंहल देश की, अरब देश की, पुलिंद देश की, पक्कण देश की, पारस देश की, बहल देश की, मुरुंड देशकी, शबर देश की, इस प्रकार नाना देशों की, परदेश-अपने देश से भिन्न राजगृह को सुशोभित करने वाली, इंगित (मुख आदि की चेष्टा), चिन्तित (मानसिक विचार) और प्रार्थित (अभिलषित) को जानने वाली, अपने-अपने देश के वेष को धारण करने वाली, निपुणों में भी अतिनिपुण, विनययुक्त दासियों के द्वारा तथा स्वदेशीय दासियों द्वारा और वर्षधरों (प्रयोग द्वारा नपुंसक बनाए हुए पुरुषों), कंचुकियों और महत्तरकों (अन्तःपुर के कार्य की चिन्ता रखने वालों) के समुदाय से घिरा रहने लगा। वह एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जाता, एक की गोद से दूसरे की गोद में जाता, गा-गाकर बहलाया जाता, उंगली पकड़कर चलाया जाता, क्रीड़ा आदि से लालन-पालन किया जाता एवं रमणीय मणिजटित फर्श पर चलाया जाता हुआ वायुरहित और व्याघातरहित गिरिगुफा में स्थित चम्पक वृक्ष के समान सुखपूर्वक बढ़ने लगा।

९७—तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो अणुपुव्वेणं नामकरणं च पज्जेमणं च एवं चंकमणगं च चोलोवणयं च महया महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं करिंसु।

तत्पश्चात् उस मेघकुमार के माता-पिता ने अनुक्रम से नामकरण, पालने में सुलाना, पैरों से चलाना, चोटी रखना, आदि संस्कार बड़ी-बड़ी ऋद्धि और सत्कारपूर्वक मानवसमूह के साथ सम्पन्न किए।

कलाशिक्षण

९८—तए णं तं मेहकुमारं अम्मापियरो सातिरेगट्ठवासजायगं चेव (गब्भट्ठमे वासे) सोहणंसि तिहिकरणमुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेन्ति। तते णं से कलायरिए मेहं कुमारं लेहाइयाओ गणितप्पहाणाओ सउंणरुतपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ अ अत्थओ अ करणओ य सेहावेति, सिक्खावेति।

तत्पश्चात् मेघकुमार जब कुछ अधिक आठ वर्ष का हुआ अर्थात् गर्भ से आठ वर्ष का हुआ तब माता-पिता ने शुभ तिथि, करण और मुहूर्त में कलाचार्य के पास भेजा। तत्पश्चात् कलाचार्य ने मेघकुमार को, गणित जिनमें प्रधान है ऐसी, लेख आदि शकुनिरुत (पक्षियों के शब्द) तक की बहत्तर कलाएँ सूत्र से, अर्थ से और प्रयोग से सिद्ध करवाईं तथा सिखलाईं।

९९—तंजहा—(१) लेहं (२) गणियं (३) रूवं (४) नट्टं (५) गीयं (६) वाइयं (७) सरगयं (८) पोक्खरगयं (९) समतालं (१०) जूयं (११) जणवायं (१२) पासयं (१३) अट्ठावयं (१४) पोरेकच्चं (१५) दगमट्टियं (१६) अन्नविहिं (१७) पाणविहिं (१८) वत्थविहिं (१९) विलेवणविहिं (२०) सयणविहिं (२१) अज्जं (२२) पहेलियं (२३) मागहियं (२४) गाहं (२५) गीइयं (२६) सिलोयं (२७) हिरण्णजुत्तिं (२८) सुवन्नजुत्तिं (२९) चुन्नजुत्तिं (३०) आभरणविहिं (३१) तरुणीपडिकम्मं (३२) इत्थिलक्खणं (३३) पुरिसलक्खणं (३४) हयलक्खणं (३५) गयलक्खणं (३६) गोणलक्खणं (३७) कुक्कुडलक्खणं (३८) छत्तलक्खणं (३९) डंडलक्खणं (४०) असिलक्खणं (४१) मणिलक्खणं (४२) कागणिलक्खणं (४३) वत्थुविज्जं (४४) खंधारमाणं (४५) नगरमाणं (४६) वूहं (४७) पडिवूहं (४८) चारं (४९) पडिचारं (५०) चक्कवूहं (५१) गरुलवूहं (५२) सगडवूहं (५३) जुद्धं (५४) निजुद्धं (५५) जुद्धातिजुद्धं (५६) अट्ठिजुद्धं (५७) मुट्ठिजुद्धं (५८) वाहुजुद्धं (५९) लयाजुद्धं (६०) ईसत्थं (६१) छरुप्पवायं (६२) धणुव्वेयं (६३) हिरन्नपागं (६४) सुवन्नपागं (६५) सुत्तखेडं (६६) वट्टखेडं (६७) नालियाखेडं (६८) पत्तच्छेज्जं (६९) कडगच्छेज्जं (७०) सज्जीवं (७१) निज्जीवं (७२) सउणरुअमिति।

वह कलाएँ इस प्रकार हैं—(१) लेखन (२) गणित (३) रूप बदलना (४) नाटक (५) गायन (६) वाद्य बजाना (७) स्वर जानना (८) वाद्य सुधारना (९) समान ताल जानना (१०) जुआ खेलना (११) लोगों के साथ वाद-विवाद करना (१२) पासों से खेलना (१३) चौपड़ खेलना (१४) नगर की रक्षा करना (१५) जल और मिट्टी के संयोग से वस्तु का निर्माण करना (१६) धान्य निपजाना (१७) नया पानी उत्पन्न करना, पानी को संस्कार करके शुद्ध करना एवं उष्ण करना (१८) नवीन वस्त्र बनाना, रंगना, सीना और पहनना (१९) विलेपन की वस्तु को पहचानना, तैयार करना, लेप करना आदि (२०) शय्या बनाना, शयन करने की विधि जानना आदि (२१) आर्या छंद को पहचानना और बनाना (२२) पहेलियाँ बनाना और बूझना (२३) मागधिका अर्थात् मगध देश की भाषा में गाथा आदि बनाना (२४) प्राकृत भाषा में गाथा आदि बनाना (२५) गीति छंद बनाना (२६) श्लोक (अनुष्टुप् छंद) बनाना (२७) सुवर्ण बनाना, उसके आभूषण बनाना, पहनना आदि (२८) नई चांदी बनाना, उसके आभूषण बनाना, पहनना आदि (२९) चूर्ण-गुलाल अबीर आदि

बनाना और उनका उपयोग करना (३०) गहने घड़ना, पहनना आदि (३१) तरुणी की सेवा करना-प्रसाधन करना (३२) स्त्री के लक्षण जानना (३३) पुरुष के लक्षण जानना (३४) अश्व के लक्षण जानना (३५) हाथी के लक्षण जानना (३६) गाय-बैल के लक्षण जानना (३७) मुर्गों के लक्षण जानना (३८) छत्र-लक्षण जानना (३९) दंड-लक्षण जानना (४०) खड्ग-लक्षण जानना (४१) मणि के लक्षण जानना (४२) काकणी रत्न के लक्षण जानना (४३) वास्तुविद्या-मकान-दुकान आदि इमारतों की विद्या (४४) सेना के पड़ाव के प्रमाण आदि जानना (४५) नया नगर बसाने आदि की कला (४६) व्यूह-मोर्चा बनाना (४७) विरोधी के व्यूह के सामने अपनी सेना का मोर्चा रचना (४८) सैन्यसंचालन करना (४९) प्रतिचार-शत्रुसेना के समक्ष अपनी सेना को चलाना (५०) चक्रव्यूह—चाक के आकार में मोर्चा बनाना (५१) गरुड़ के आकार का व्यूह बनाना (५२) शकटव्यूह रचना (५३) सामान्य युद्ध करना (५४) विशेष युद्ध करना (५५) अत्यन्त विशेष युद्ध करना (५६) अट्ठि (यष्टि या अस्थि) से युद्ध करना (५७) मुष्टियुद्ध करना (५८) बाहुयुद्ध करना (५९) लतायुद्ध करना (६०) बहुत को थोड़ा और थोड़े को बहुत दिखलाना (६१) खड्ग की मूठ आदि बनाना (६२) धनुष-बाण संबंधी कौशल होना (६३) चांदी का पाक बनाना (६४) सोने का पाक बनाना (६५) सूत्र का छेदन करना (६६) खेत जोतना (६७) कमल के नाल का छेदन करना (६८) पत्र छेदन करना (६९) कड़ा कुंडल आदि का छेदन करना (७०) मृत (मूर्छित) को जीवित करना (७१) जीवित को मृत (मृततुल्य) करना और (७२) काक घूक आदि पक्षियों की बोली पहचानना।

विवेचन—भारतवर्ष की प्रमुख तीनों धर्मपरम्पराओं के साहित्य में कलाओं के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। वैदिक परम्परा के रामायण, महाभारत, शुक्रनीति, वाक्यपदीय आदि प्रधान ग्रंथों में, बौद्ध परम्परा के ललितविस्तर में कलाओं का वर्णन किया गया है। किन्तु इनकी संख्या सर्वत्र समान नहीं है। कहीं कलाओं की संख्या ६४ बतलाई गई है तो क्षेमेन्द्र ने अपने कलाविलास ग्रन्थ में सौ से भी अधिक का वर्णन किया है। बौद्ध साहित्य में इनकी संख्या ८६ कही गई है। जैनसाहित्य में भी कलाओं की संख्या यद्यपि सर्वत्र समान नहीं है तथापि प्रायः पुरुषों के लिए ७२ और महिलाओं के लिए ६४ कलाओं का ही उल्लेख मिलता है। संख्या में यह जो भिन्नता है वह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि कलाओं का संबंध शिक्षण के साथ है और एक का दूसरी में समावेश हो जाना साधारण बात है।

ध्यान देने योग्य तो यह है कि कलाओं का चयन कितनी दूरदृष्टि से किया गया है। कलाओं के नामों को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि इनका अध्ययन सूत्र से, अर्थ के साथ तथा अभ्यासपूर्वक करने से जीवन में किस प्रकार की जागृति उत्पन्न हो जाती है। ये कलाएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को स्पर्श करती हैं, इनके अध्ययन से जीवन की परिपूर्णता प्राप्त होती है। इनमें शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास की क्षमता निहित है। गीत, नृत्य जैसे मनोरंजन के विषयों की भी उपेक्षा नहीं की गई है। कारीगरी संबंधी समस्त शाखाओं का समावेश किया गया है तो युद्ध संबंधी बारीकियां भी शामिल की गई हैं। इनमें गणित विषय को प्रधान माना गया है।

स्पष्ट है कि प्राचीन काल की शिक्षापद्धति जीवन के सर्वांगीण विकास में अत्यन्त सहायक थी। इन कलाओं के स्वरूप को सन्मुख रखकर आज की शिक्षानीति निर्धारित की जाए तो वह बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

उस युग में कलाशिक्षक का कितना सन्मान समाज में था, यह तथ्य भी प्रस्तुत सूत्र से प्रकट होता है।

कलाचार्य को प्रीतिदान

१००—तए णं से कलायरिए मेहं कुमारं लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणिरुअपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सिहावेति, सिक्खावेति, सिहावेत्ता सिक्खावेत्ता अम्मापिऊणं उवणेति।

तए णं मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो तं कलायरियं महुरेहिं वयणेहिं विपुलेणं वत्थ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेंति, सम्माणेंति, सक्कारित्ता सम्माणित्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयंति। दलइत्ता पडिविसज्जेन्ति।

तत्पश्चात् वह कलाचार्य, मेघकुमार को गणित प्रधान, लेखन से लेकर शकुनिरुत पर्यन्त बहत्तर कलाएँ सूत्र (मूल पाठ) से, अर्थ से और प्रयोग से सिद्ध कराता है तथा सिखलाता है। सिद्ध करवाकर और सिखलाकर माता-पिता के पास वापिस ले जाता है।

तब मेघकुमार के माता-पिता ने कलाचार्य का मधुर वचनों से तथा विपुल वस्त्र, गंध, माला और अलंकारों से सत्कार किया, सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके जीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान दिया। प्रीतिदान देकर उसे विदा किया।

१०१—तए णं मेहे कुमारे बावत्तरिकलापंडिए णवंगसुत्तपडिबोहिए अट्ठारस-विहिप्पगार-देसीभासा-विसारए गीइरई गंधव्वनट्टकुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी अलं भोगसमत्थे साहसिए वियालचारी जाए यावि होत्था।

तब मेघकुमार बहत्तर कलाओं में पंडित हो गया। उसके नौ अंग—दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, जिह्वा, त्वचा और मन बाल्यावस्था के कारण जो सोये-से थे अर्थात् अव्यक्त चेतना वाले थे, वे जागृत से हो गए। वह अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में कुशल हो गया। वह गीति में प्रीति वाला, गीत और नृत्य में कुशल हो गया। वह अश्वयुद्ध, रथयुद्ध और बाहुयुद्ध करने वाला बन गया। अपनी बाहुओं से विपक्षी का मर्दन करने में समर्थ हो गया। भोग भोगने का सामर्थ्य उसमें आ गया। साहसी होने के कारण विकालचारी—आधी रात में भी चल पड़ने वाला बन गया।

मेघकुमार का पाणिग्रहण

१०२—तए णं तस्स मेहकुमारस्स अम्मापियारो मेहं कुमारं बावत्तरिकलापंडितं जाव वियालचारीजायं पासंति। पासित्ता अट्ठ पासायवडिंसए कारेन्ति अब्भुग्गयमुसियपहसिए विव मणि-कणग-रयण-भत्तिचित्ते, वाउद्धूतविजयवेजयंती-पडागा-छत्ताइच्छत्तकलिए, तुंगे, गगणतलमभिलंघमाण-सिहरे, जालंतररयणपंजरुम्मिल्लियव्व मणिकणगथूभियाए, वियसियसयपत्तपुंडरीए, तिलयरयणद्ध-चंदच्चिए नानामणिमयदामालंकिए, अंतो बहिं च सण्हे तवणिज्जरुइलवालुयापत्थरे, सुहफासे सस्सिरीयरूवे पासादीए जाव (दरिसणिज्जे अभिरूवे) पडिरूवे।

तत्पश्चात् मेघकुमार के माता-पिता ने मेघकुमार को बहत्तर कलाओं में पंडित यावत् विकालचारी हुआ देखा। देख कर आठ उत्तम प्रासाद बनवाए। वे प्रासाद बहुत ऊँचे थे। अपनी उज्ज्वल कान्ति के समूह से हँसते हुए से प्रतीत होते थे। मणि, सुवर्ण और रत्नों की रचना से विचित्र थे। वायु से फहराती हुई और विजय को सूचित करने वाली वैजयन्ती पताकाओं से तथा छत्रातिच्छत्रों (एक दूसरे के उपर रहे हुए छत्रों) से युक्त थे। वे इतने ऊँचे थे कि उनके शिखर आकाशतल का उल्लंघन करते थे। उनकी जालियों के मध्य में रत्नों के पंजर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो उनके नेत्र हों। उनमें मणियों और कनक की भूमिकाएँ (स्तूपिकाएँ) थीं। उनमें साक्षात् अथवा चित्रित किये हुए शतपत्र और पुण्डरीक कमल विकसित हो रहे थे। वे तिलक रत्नों एवं अर्द्ध चन्द्रों—एक प्रकार के सोपानों से युक्त थे, अथवा भित्तियों में चन्दन आदि के आलेख (हाथे) से चर्चित थे। नाना प्रकार की मणिमय मालाओं से अलंकृत थे। भीतर और बाहर से चिकने थे। उनके आंगन में सुवर्णमय रुचिर वालुका बिछी थी। उनका स्पर्श सुखप्रद था। रूप बड़ा ही शोभन था। उन्हें देखते ही चित्त में प्रसन्नता होती थी। यावत् [वे महल दर्शनीय सुन्दर एवं] प्रतिरूप थे—अत्यन्त मनोहर थे।

१०३—एगं च णं महं भवणं कारेंति—अणेगखंभसयसंनिविट्ठं लीलट्ठिय-सालभंजियागं अब्भुग्गय--सुकय-वइरवेइया-तोरण--वररइय-सालभंजिया-सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ-लट्ठ-संठित--पसत्थ-वेरुलिय-खंभ-नाणामणि-कणग-रयणखचितउज्जलं बहुसम-सुविभत्त-निचिय-रमणिज्ज-भूमिभागं ईहामिय० जाव[1] भत्तिचित्तं खंभुग्गय-वइरवेइयापरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजुयलजुत्तं पिव अच्चीसहस्स-मालणीयं रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सस्सिरीयरूवं कंचण-रयणथूभियागं नाणाविहपंचवन्नघंटा-पडाग-परिमंडियग्गसिरं धवलमरीचिकवयं विणिम्मुयंतं लाउल्लोइयमहियं जाव[2] गंधवट्टिभूयं पासादीयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं।

और एक महान् भवन (मेघकुमार के लिए) बनवाया गया। वह अनेक सैकडों स्तंभों पर बना हुआ था। उसमें लीलायुक्त अनेक पुतलियाँ स्थापित की हुई थीं। उसमें ऊँची और सुनिर्मित वज्ररत्न की वेदिका थी और तोरण थे। मनोहर निर्मित पुतलियों सहित उत्तम, मोटे एवं प्रशस्त वैडूर्य रत्न के स्तंभ थे, वे विविध प्रकार के मणियों सुवर्ण तथा रत्नों से खचित होने के कारण उज्ज्वल दिखाई देते थे। उनका भूमिभाग बिल्कुल सम, विशाल, पक्का और रमणीय था। उस भवन में ईहा-मृग, वृषभ, तुरग, मनुष्य मकर आदि के चित्र चित्रित किए हुए थे। स्तंभों पर बनी वज्ररत्न की वेदिका से युक्त होने के कारण रमणीय दिखाई पड़ता था। समान श्रेणी में स्थित विद्याधरों के युगल यंत्र द्वारा चलते दीख पड़ते थे। वह भवन हजारों किरणों से व्याप्त और हजारों चित्रों से युक्त होने से देदीप्यमान और अतीव देदीप्यमान था। उसे देखते ही दर्शक के नयन उसमें चिपक से जाते थे। उसका स्पर्श सुखप्रद था और रूप शोभा सम्पन्न था। उसमें सुवर्ण, मणि एवं रत्नों की स्तूपिकाएं बनी हुई थीं। उसका प्रधान शिखर नाना प्रकार की, पाँच वर्णों की एवं घंटाओं सहित पताकाओं से सुशोभित था। वह चहुँ ओर देदीप्यमान किरणों के समूह को फैला रहा था। वह लिपा था, धुला था और चंदोवे से युक्त था। यावत् वह भवन गंध की वर्ती जैसा जान पड़ता था। वह चित्त को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप था—अतीत मनोहर था।

१-२. प्र. अ. सूत्र ३१

१०४—तए णं तस्स मेहकुमारस्स अम्मापियरो मेहं कुमारं सोहणंसि तिहि-करण-नक्खत्त-मुहुत्तंसि सरिसियाणं सरिसव्वयाणं सरिसत्तयाणं सरिसलावन्न-रूव-जोव्वण-गुणोववेयाणं सरिसएहिन्तो रायकुलेहिन्तो आणिअल्लियाणं पसाहणट्ठंग-अविहवबहु-ओवयणमंगल-सुजंपियाहिं अट्ठहिं रायवरकण्णाहिं सद्धिं एगदिवसेणं पाणिं गिण्हाविसु।

तत्पश्चात् मेघकुमार के माता-पिता ने मेघकुमार का शुभ तिथि, करण नक्षत्र और मुहूर्त में, शरीरपरिमाण से सदृश, समान उम्र वाली, समान त्वचा (कान्ति) वाली, समान लावण्य वाली, समान रूप (आकृति) वाली, समान यौवन और गुणों वाली तथा अपने कुल के समान राजकुलों से लाई हुई आठ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ, एक ही दिन—एक ही साथ, आठों अंगों में अलंकार धारण करने वाली सुहागिन स्त्रियों द्वारा किये मंगलगान एवं दधि अक्षत आदि मांगलिक पदार्थों के प्रयोग द्वारा पाणिग्रहण करवाया।

प्रीतिदान

१०५—तए णं तस्स मेहस्स अम्मापियरो इमं एयारूवं पीइदाणं दलयइ-अट्ठहिरण्णकोडीओ, अट्ठ सुवण्णकोडीओ, गाहानुसारेण भाणियव्वं जाव[1] पेसणकारियाओ, अन्नं च विपुलं धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-संतसारसावतेज्जं अलाहि जाव आसत्तमाओ कुल-वंसाओ पकामं दाउं पकामं भोत्तुं पकामं परिभाएउं।

तत्पश्चात् मेघकुमार के माता-पिता ने (उन आठ कन्याओं को) इस प्रकार प्रीतिदान दिया—आठ करोड़ हिरण्य (चांदी), आठ करोड़ सुवर्ण, आदि गाथाओं के अनुसार समझ लेना चाहिए, यावत् आठ-आठ प्रेक्षणकारिणी (नाटक करने वाली) अथवा पेषणकारिणी (पीसने वाली), तथा और भी विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मोती, शंख, मूंगा, रक्त रत्न (लाल) आदि उत्तम सारभूत द्रव्य दिया, जो सात पीढ़ी तक दान देने के लिए, भोगने के लिए, उपयोग करने के लिए और बंटवारा करके देने के लिए पर्याप्त था।

१०६—तए णं से मेहे कुमारे एगमेगाए भारियाए एगमेगं हिरण्णकोडिं दलयति, एगमेगं सुवन्नकोडिं दलयति, जाव एगमेगं पेसणकारिं दलयति, अन्नं च विपुलं धणकणग जाव परिभाएउं दलयति।

तत्पश्चात् उस मेघकुमार ने प्रत्येक पत्नी को एक-एक करोड़ हिरण्य दिया, एक-एक करोड़ सुवर्ण दिया। यावत् एक-एक प्रेक्षणकारिणी या पेषणकारिणी दी। इसके अतिरिक्त अन्य विपुल धन कनक आदि दिया, जो यावत् दान देने, भोगोपभोग करने और बंटवारा करने के लिए सात पीढ़ियों तक पर्याप्त था।

विवेचन—इस विवाह-प्रसंग पर दी गई वस्तुओं की सूची को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गृहस्थी के उपयोग में आने वाली समस्त वस्तुएँ दी गई थीं, जिससे वे विना किसी परेशानी के अपना काम चला सकें, उन्हें परमुखप्रेक्षी नहीं होना पड़े।

१०७—तए णं से मेहे कुमारे उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं वरतरुणिसंप-

१. टीकाकार के मतानुसार ये गाथाएँ उपलब्ध नहीं हैं। अन्य ग्रन्थों से दूसरी गाथाएँ उन्होंने उद्धृत की हैं। देखिए टीका पृ. ४७ (सिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति-संस्करण)।

उत्तेहिं बत्तीसइबद्धएहिं नाडएहिं उवगिज्जमाणे उवगिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-विउले माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभवमाणे विरहति।

तत्पश्चात् मेघकुमार श्रेष्ठ प्रासाद के ऊपर रहा हुआ, मानो मृदंगों के मुख फूट रहे हों, इस प्रकार उत्तम स्त्रियों द्वारा किये हुए, बत्तीसबद्ध नाटकों द्वारा गायन किया जाता हुआ तथा क्रीड़ा करता हुआ, मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध की विपुलता वाले मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को भोगता हुआ रहने लगा।

भगवान का आगमन

१०८—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणामेव रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए जाव[1] विहरति।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर अनुक्रम से चलते हुए, एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हुए, सुखे-सुखे विहार करते हुए, जहाँ राजगृह नगर था और जहाँ गुणशील नामक चैत्य था, यावत् [वहाँ पधारे। पधार कर यथोचित स्थान ग्रहण किया। ग्रहण करके] ठहरे।

१०९—तए णं से रायगिहे नगरे सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु महया बहुजणसद्देति वा (जणवूहे ति वा, जणवोले ति वा, जणकलकले ति वा, जणुम्मीति वा, जणुक्कलिया ति वा, जणसन्निवाए ति वा,) जाव[2] बहवे उग्गा भोगा जाव[3] रायगिहस्स नगरस्स मज्झंमज्झेणं एगदिसिं एगाभिमुहा निग्गच्छंति। इमं च णं मेहे कुमारे उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुयंगमत्थएहिं जाव माणुस्सए कामभोगे भुंजमाणे रायमग्गं च आलोएमाणे एवं च णं विरहति।

तत्पश्चात् राजगृह नगर में शृंगाटक-सिंघाड़े के आकार के मार्ग, तिराहे, चौराहे, चत्वर चतुर्मुख, पथ, महापथ आदि में बहुत से लोगों का शोर होने लगा। यावत् [लोग इकट्ठे होने लगे, लोग अव्यक्त और व्यक्त वाणी में बातें करने लगे, भीड़ हो गई, लोग इधर-उधर से आकर एक स्थान पर जमा होने लगे] बहुतेरे उग्रकुल के, भोग कुल के तथा अन्य सभी लोग यावत् राजगृह नगर के मध्य भाग में होकर एक ही दिशा में, एक ही ओर मुख करके निकलने लगे। उस समय मेघकुमार अपने प्रासाद पर था। मानों मृदंगों का मुख फूट रहा हो, इस प्रकार गायन किया जा रहा था। यावत् मनुष्य संबंधी कामभोग भोग रहा था और राजमार्ग का अवलोकन करता-करता विचर रहा था।

मेघकुमार की जिज्ञासा

११०—तए णं से मेहे कुमारे ते बहवे उग्गे भोगे जाव[4] एगदिसाभिमुहे पासति पासित्ता कंचुइज्जपुरिसं सद्दावेति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'किं णं भो देवाणुप्पिया ! अज्ज रायगिहे नगरे इंदमहेति वा, खंदमहेति वा, एवं रुद्द-सिव-वेसमण-नाग-जक्ख-भूय-नई-तलाय-रुक्ख-चेतिय-पव्वय-उज्जाण-गिरिजत्ताइ वा ? जओ णं बहवे उग्गा भोगा जाव[5] एगदिसिं एगाभिमुहा णिग्गच्छंति ?'

तब वह मेघकुमार उन बहुतेरे उग्रकुलीन भोगकुलीन यावत् सब लोगों को एक ही दिशा में

१. प्र. अ. सूत्र ४ २-३-४-५. औप. सूत्र २७

मुख किये जाते देखता है। देखकर कंचुकी पुरुष को बुलाता है और बुलाकर इस प्रकार कहता है—हे देवानुप्रिय! क्या आज राजगृह नगर में इन्द्र-महोत्सव है? स्कंद (कार्त्तिकेय) का महोत्सव है? या रुद्र, शिव, वैश्रमण (कुबेर), नाग, यक्ष, भूत, नदी, तड़ाग, वृक्ष, चैत्य, पर्वत, उद्यान या गिरि (पर्वत) की यात्रा है? जिससे बहुत से उग्र-कुल तथा भोग-कुल आदि के सब लोग एक ही दिशा में और एक ही ओर मुख करके निकल रहे हैं?'

कंचुकी का निवेदन

१११—तए णं से कंचुइज्जपुरिसे समणस्स भगवओ महावीरस्स गहियागमणपवित्तीए मेहं कुमारं एवं वयासी—नो खलु देवाणुप्पिया! अज्ज रायगिहे नयरे इंदमहेति वा जाव गिरिजत्ताओ वा, जं णं एए उग्गा जाव[1] एगदिसिं एगाभिमुहा निग्गच्छंति, एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे इहमागते, इह संपत्ते, इह समोसढे, इह चेव रायगिहे नयरे गुणसिलए चेइए अहापडि० जाव विरहति।

तब उस कंचुकी पुरुष ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के आगमन का वृत्तान्त जानकर मेघकुमार को इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय! आज राजगृह नगर में इन्द्रमहोत्सव या यावद् गिरि-यात्रा आदि नहीं है कि जिसके निमित्त यह उग्रकुल के, भोगकुल के तथा अन्य सब लोग एक ही दिशा में, एकाभिमुख होकर जा रहे हैं। परन्तु देवानुप्रिय! श्रमण भगवान् महावीर धर्म-तीर्थ की आदि करने वाले, तीर्थ की स्थापना करने वाले यहाँ आये हैं। पधार चुके है, समवसृत हुए हैं और इसी राजगृह नगर में, गुणशील चैत्य में यथायोग्य अवग्रह की याचना करके यावत् विचर रहे हैं।

११२—तए णं से मेहे कंचुइज्जपुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह।'

तह त्ति उवणेंति।

तत्पश्चात् मेघकुमार कंचुकी पुरुष से यह बात सुनकर एवं हृदय में धारण करके, हृष्ट-तुष्ट होता हुआ कौटुम्बिक पुरुषों को बुलवाता है और बुलवाकर इस प्रकार कहता है—हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही चार घंटाओं वाले अश्वरथ को जोत कर उपस्थित करो।

वे कौटुम्बिक पुरुष 'बहुत अच्छा' कह कर रथ जोत लाते हैं।

मेघ की भगवत्-उपासना

११३—तए णं से मेहे ण्हाए जाव[2] सव्वालंकारविभूसिए चाउग्घंटं आसरहं दुरूढे समाणे सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं महया भड-चड गर-विंद-परियाल-संपरिवुडे रायगिहस्स नगरस्स मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति। निग्गच्छित्ता जेणामेव गुणसिलए चेइए तेणामेव उवागच्छति। उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स छत्तातिछत्तं पडागातिपडागं विज्जाहरचारणे जंभए य

१-२. औप. सूत्र २७

देवे ओवयमाणे उप्पयमाणे पासति। पासित्ता चाउग्घंटाओ आसरहाओ पच्चोरुहति। पच्चोरुहित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छति। तंजहा—

(१) सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए।

(२) अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए।

(३) एगसाडियउत्तरासंगकरणेणं।

(४) चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं।

(५) मणसो एगत्तीकरणेणं। जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छति। उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति। करित्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स णच्चासन्ने णाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे पंजलियउडे अभिमुहे विणएणं पज्जुवासइ।

तत्पश्चात् मेघकुमार ने स्नान किया। [कौतुक, मंगल, प्रायश्चित्त आदि किया] सर्व अलंकारों से विभूषित हुआ। फिर चार घंटा वाले अश्वरथ पर आरूढ हुआ। कोरंट वृक्ष के फूलों की माला वाले छत्र को धारण किया। सुभटों के विपुल समूह वाले परिवार से घिरा हुआ, राजगृह नगर के बीचों बीच होकर निकला। निकलकर जहाँ गुणशील नामक चैत्य था, वहाँ आया। आकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के छत्र पर छत्र और पताकाओं पर पताका आदि अतिशयों को देखा तथा विद्याधरों, चारण मुनियों और जृंभक देवों को नीचे उतरते एवं ऊपर चढ़ते देखा। यह सब देखकर चार घंटा वाले अश्वरथ से नीचे उतरा। उतर कर पाँच प्रकार के अभिगम करके श्रमण भगवान् महावीर के सन्मुख चला। वह पाँच अभिगम इस प्रकार हैं—

(१) पुष्प, पान आदि सचित्त द्रव्यों का त्याग।

(२) वस्त्र, आभूषण आदि अचित्त द्रव्यों का अत्याग।

(३) एक शाटिका (दुपट्टे) का उत्तरासंग।

(४) भगवान् पर दृष्टि पड़ते ही दोनों हाथ जोड़ना।

(५) मन को एकाग्र करना।

यह अभिग्रह करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आया। आकर श्रमण भगवान् महावीर को दक्षिण दिशा से आरम्भ करके (तीन वार) प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके भगवान् को स्तुति रूप वन्दन किया और काय से नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके श्रमण भगवान् महावीर के अत्यन्त समीप नहीं और अति दूर भी नहीं ऐसे समुचित स्थान पर बैठकर, धर्मोपदेश सुनने की इच्छा करता हुआ, नमस्कार करता हुआ, दोनों हाथ जोड़े, सन्मुख रह कर, विनयपूर्वक प्रभु की उपासना करने लगा।

भगवान् की देशना

११४—तए णं समणे भगवं महावीरे मेहकुमारस्स तीसे य महतिमहालियाए परिसाए मज्झगए विचित्तं धम्ममाइक्खइ, जहा जीवा बज्झंति, मुच्चंति, जह य संकिलिस्संति। धम्मकहा

भाणियव्वा, जाव[1] परिसा पडिगया।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने मेघकुमार को और उस महती परिषद् को, परिषद् के मध्य में स्थित होकर विचित्र प्रकार के श्रुतधर्म और चारित्र धर्म का कथन किया। जिस प्रकार जीव कर्मों से बद्ध होते हैं, जिस प्रकार मुक्त होते हैं और जिस प्रकार संक्लेश को प्राप्त होते हैं, यह सब धर्मकथा औपपातिक सूत्र के अनुसार कह लेनी चाहिए। यावत् धर्मदेशना सुनकर परिषद् अर्थात् जन-समूह वापिस लौट गया।

प्रव्रज्या का संकल्प

११५—तए णं मेहे कुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'सद्दहामि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं, एवं पत्तयामि णं, रोएमि णं, अब्भुट्ठेमि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते! इच्छियमेयं भंते! पडिच्छियमेयं भंते! इच्छियपडिच्छियमेयं भंते! से जहेव तं तुब्भे वदह। जं नवरं देवाणुप्पिया! अम्मापियरो आपुच्छामि, तओ पच्छा मुंडे भवित्ता णं पव्वइस्सामि।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।'

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के पास से मेघकुमार ने धर्म श्रवण करके और उसे हृदय में धारण करके, हृष्टतुष्ट होकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दाहिनी ओर से आरम्भ करके, प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा— 'भगवन्! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, उसे सर्वोत्तम स्वीकार करता हूँ। मैं उस पर प्रतीति करता हूँ। मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन रुचता है, अर्थात् जिनशासन के अनुसार आचरण करने की अभिलाषा करता हूँ, भगवन्! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन को अंगीकार करना चाहता हूँ, भगवन्! यह ऐसा ही है (जैसा आप कहते हैं), यह उसी प्रकार का है, अर्थात् सत्य है। भगवन्! मैंने इसकी इच्छा की है, पुनः पुनः इच्छा की है, भगवन्! यह इच्छित और पुनः पुनः इच्छित है। यह वैसा ही है जैसा आप कहते हैं। विशेष बात यह है कि हे देवानुप्रिय! मैं अपने माता-पिता की आज्ञा ले लूँ, तत्पश्चात् मुण्डित होकर दीक्षा ग्रहण करूंगा।'

भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय! जिससे तुझे सुख उपजे वह कर, उसमें विलम्ब न करना।'

विवेचन—धर्म मुख्यतः श्रवण का नहीं किन्तु आचरण का विषय है। अतएव धर्मश्रवण का फल तदनुकूल आचरण होना चाहिए। राजकुमार मेघ ने पहली बार धर्मदेशना श्रवण की और उसमें उसके आचरण की बलवती प्रेरणा जाग उठी। बड़े ही भावपूर्ण एवं दृढ शब्दों में वह निर्ग्रन्थधर्म के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा निवेदन करता है, सामान्य पाठक को उसके उद्गारों में पुनरुक्ति का आभास हो सकता है, किन्तु यह पुनरुक्ति दोष नहीं है, उसकी तीव्रतर भावना, प्रगाढ श्रद्धा और धर्म के प्रति सम्पूर्ण समर्पण की गहरी लालसा की अभिव्यक्ति है।

मेघ जब भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण करने का विचार प्रकट करता है तो भगवान् उसी मध्यस्थ

१. औप. ७१-७९

भाव का परिचय देते हैं जो उनके जीवन में निरन्तर परिव्याप्त रहता था। एक राजकुमार और वह भी मगध का राजकुमार शिष्यत्व अंगीकार करने को लालायित है, इससे भी भगवान् का समभाव अखंडित ही रहता है। गुरु के लिए शिष्य बनाने का प्रयोजन क्या है? शिष्य बनाने से गुरु की एकान्त और एकाग्र साधना में कुछ न कुछ व्याघात ही उत्पन्न हो सकता है। फिर भी साधु दो कारणों से किसी व्यक्ति को शिष्य रूप में दीक्षित और स्वीकृत करते हैं—

(१) साधु विचार करता है कि यह भव्य आत्मा संसार-सागर से तिरने का अभिलाषी है। इसे पथप्रदर्शन की आवश्यकता है। पथप्रदर्शन के बिना बेचारा भटक जाएगा। इस प्रकार के विचार से, करुणापूर्वक, अपनी साधना में विक्षेप सहन करके भी उसे शिष्य रूप में ग्रहण कर लेते हैं।

(२) दूसरा कारण है शासन की निरन्तर प्रवृत्ति। गुरु-शिष्य की परम्परा चालू रहने से भगवान् का शासन चिरकाल तक चालू रहता है इस परम्परा के बिना शासन चालू नहीं रह सकता।

यही कारण है कि भगवान् ने प्रथम तो 'जहासुहं देवाणुप्पिया' कहकर मेघकुमार की इच्छा पर ही दीक्षित होना छोड़ दिया, फिर 'मा पडिबंधं करेह' कह कर दीक्षित होने के लिए हल्का संकेत भी कर दिया।

माता-पिता के समक्ष संकल्पनिवेदन

११६—तए णं से मेहे कुमारे समणं भगवं महावीरं वंदति, नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता जेणामेव चाउग्घंटे आसरहे तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहित्ता महया भडचडगरपहकरेणं रायगिहस्स नगरस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव सए भवणे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चाउग्घंटाओ आसरहाओ पच्चोरुहइ। पच्चोरुहित्ता जेणामेव अम्मापियरो तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता अम्मापिऊणं पायवडणं करेइ। करित्ता एवं वयासी—'एवं खलु अम्मयाओ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे णिसंते, से वि य मे धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए।'

तत्पश्चात् मेघकुमार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन किया, अर्थात् उनकी स्तुति की, नमस्कार किया, स्तुति-नमस्कार करके जहाँ चार घंटाओं वाला अश्वरथ था, वहाँ आया। आकर चार घंटाओं वाले अश्व-रथ पर आरूढ हुआ। आरूढ होकर महान् सुभटों और बड़े समूह वाले परिवार के साथ राजगृह के बीचों-बीच होकर अपने घर आया। चार घंटाओं वाले अश्व-रथ से उतरा। उतरकर जहाँ उसके माता-पिता थे, वहीं पहुंचा। पहुंच कर माता-पिता के पैरों में प्रणाम किया। प्रणाम करके उसने इस प्रकार कहा—'हे माता-पिता! मैंने श्रमण भगवान् महावीर के समीप धर्म श्रवण किया है और मैंने उस धर्म की इच्छा की है, बार-बार इच्छा की है। वह मुझे रुचा है।'

११७—तए णं तस्स मेहस्स अम्मापियरो एवं वयासी—'धन्नो सि तुमं जाया! संपुन्नो सि तुमं जाया! कयत्थो सि तुमं जाया! जं णं तुमे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे णिसंते, से वि य ते धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए।'

तब मेघकुमार के माता-पिता इस प्रकार बोले—'पुत्र! तुम धन्य हो, पुत्र! तुम पूरे पुण्यवान् हो, हे पुत्र! तुम कृतार्थ हो कि तुमने श्रमण भगवान् महावीर के निकट धर्म श्रवण किया है और वह धर्म तुम्हें इष्ट, पुनः पुनः इष्ट और रुचिकर भी हुआ है।'

११८—तए णं से मेहे कुमारे अम्मापियरो दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-एवं खलु अम्मयाओ ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे निसंते । से वि य णं मे धम्मे इच्छिए, पडिच्छिए, अभिरुइए । तं इच्छामि णं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता णं आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ।

तत्पश्चात् मेघकुमार माता-पिता से दूसरी बार और तीसरी बार इस प्रकार कहने लगा'—हे माता-पिता ! मैंने श्रमण भगवान् महावीर से धर्म श्रवण किया है । उस धर्म की मैंने इच्छा की है, बार-बार इच्छा की है, वह मुझे रुचिकर हुआ है । अतएव हे माता-पिता ! मैं आपकी अनुमति प्राप्त करके श्रमण भगवान् महावीर के समीप मुण्डित होकर, गृहवास त्याग कर अनगारिता की प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता हूँ-मुनिदीक्षा लेना चाहता हूँ ।

माता का शोक

११९—तए णं सा धारिणी देवी तमणिट्ठं अकंतं अप्पियं अमणुन्नं अमणामं असुयपुव्वं फरुसं गिरं सोच्चा णिसम्म इमेणं एयारूवेणं मणोमाणसिएणं महया पुत्तदुक्खेणं अभिभूता समाणी सेयागय-रोमकूव-पगलंत-विलीणगाया सोयभरपवेवियंगी णित्तेया दीणविमणवयणा करयल-मलिय व्व कमलमाला तक्खण-ओलुग्ग-दुब्बलसरीरा लावन्नसुन्न-निच्छाय-गयसिरीया पसिढिलभूसण-पडंतखुम्मिय-संचुन्नियधवलवलय-पब्भट्ठउत्तरिज्जा सूमालविकिन्नकेसहत्था मुच्छावसणट्ठचेयगरुई परसुनियत्त व्व चंपगलया निव्वत्तमहिम व्व इंदलट्ठी विमुक्कसंधिबंधणा कोट्टिमतलंसि सव्वंगेहिं धसत्ति पडिया ।

तब धारिणी देवी इस अनिष्ट (अनिच्छित), अप्रिय, अमनोज्ञ (अप्रशस्त) और अमणाम (मन को न रुचने वाली), पहले कभी न सुनी हुई, कठोर वाणी को सुनकर और हृदय में धारण करके महान् पुत्र-वियोग के मानसिक दुःख से पीडित हुई । उसके रोमकूपों में पसीना आकर अंगों से पसीना झरने लगा । शोक की अधिकता से उसके अंग कांपने लगे । वह निस्तेज हो गई । दीन और विमनस्क हो गई । हथेली से मली हुई कमल की माला के समान हो गई । 'मैं प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता हूँ' यह शब्द सुनने के क्षण में ही वह दुखी और दुर्बल हो गई । वह लावण्यरहित हो गई, कान्तिहीन हो गई, श्रीविहीन हो गई, शरीर दुर्बल होने से उसके पहने हुए अलंकार अत्यन्त ढ़ीले हो गये, हाथों में पहने हुए उत्तम वलय खिसक कर भूमि पर जा पड़े और चूर-चूर हो गये । उसका उत्तरीय वस्त्र खिसक गया । सुकुमार केशपाश बिखर गया । मूर्च्छा के वश होने से चित्त नष्ट हो गया—वह बेहोश हो गई । परशु से काटी हुई चंपकलता के समान तथा महोत्सव सम्पन्न हो जाने के पश्चात् इन्द्रध्वज के समान (शोभाहीन) प्रतीत होने लगी । उसके शरीर के जोड़ ढ़ीले पड़ गये । ऐसी अवस्था होने से वह धारिणी देवी सर्व अंगों से धस्-धड़ाम से पृथ्वीतल (फर्श) पर गिर पड़ी ।

माता-पुत्र का संवाद

१२०—तए णं सा धारिणी देवी ससंभमोवत्तियाए तुरियं कंचणभिंगार-मुहविणिग्गय-सीयलजल-विमलधाराए परिसिंचमाणा निव्वावियगायलट्ठी उक्खेवण-तालविंट-वीयणग-जणियवाएणं सफुसिएणं अंतेउरपरिजणेणं आसासिया समाणी मुत्तावलिसन्निगासपवडंतअंसुधाराहिं सिंचमाणी

पओहरे कलुणविमणदीना रोयमाणी कंदमाणी तिप्पमाणी सोयमाणी विलवमाणी मेहं कुमारं एवं वयासी—

तत्पश्चात् वह धारिणी देवी, संभ्रम के साथ शीघ्रता से सुवर्णकलश के मुख से निकली हुई शीतल जल की निर्मल धारा से सिंचन की गई अर्थात् उस पर ठंडा जल छिड़का गया। अतएव उसका शरीर शीतल हो गया। उत्क्षेपक (एक प्रकार के वाँस के पंखे) से, तालवृन्त (ताड़ के पत्ते के पंखे) से तथा वीजनक (जिसकी डंडी अंदर से पकड़ी जाय, ऐसे वांस के पंखे) से उत्पन्न हुई तथा जलकणों से युक्त वायु से अन्तःपुर के परिजनों द्वारा उसे आश्वासन दिया गया। तव वह होश में आई। तव धारिणी देवी मोतियों की लड़ी के समान अश्रुधार से अपने स्तनों को सींचने-भिगोने लगी। वह दयनीय, विमनस्क और दीन हो गई। वह रुदन करती हुई, क्रन्दन करती हुई, पसीना एवं लार टपकाती हुई, हृदय में शोक करती हुई और विलाप करती हुई मेघकुमार से इस प्रकार कहने लगी—

१२१—तुमं सि णं जाया! अम्हं एगे पुत्ते इट्ठे कंते पिए मणुन्ने मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए वहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे रयणे रयणभूए जीवियउस्सासए, हिययाणंदजणणे उंबरपुप्फं व दुल्लभे सवणयाए किमंग पुण पासणयाए? णो खलु जाया! अम्हे इच्छामो खणमवि विप्पओगं सहित्तए। तं भुंजाहि ताव जाया! विपुले माणुस्सए कामभोगे जाव ताव वयं जीवामो। तओ पच्छा अम्हेहिं कालगएहिं परिणयवए वड्ढिय-कुलवंस-तंतु-कज्जम्मि निरावयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्ससि।

'हे पुत्र! तू हमारा इकलौता वेटा है। तू हमें इष्ट है, कान्त है, प्रिय है, मनोज्ञ है, मणाम है तथा धैर्य और विश्राम का स्थान है। कार्य करने में सम्मत (माना हुआ) है, वहुत कार्य करने में वहुत माना हुआ है और कार्य करने के पश्चात् भी अनुमत है। आभूषणों की पेटी के समान (रक्षण करने योग्य) है। मनुष्यजाति में उत्तम होने के कारण रत्न है। रत्न रूप है। जीवन के उच्छ्वास के समान है। हमारे हृदय में आनन्द उत्पन्न करने वाला है। गूलर के फूल के समान तेरा नाम श्रवण करना भी दुर्लभ है तो फिर दर्शन की तो वात ही क्या है। हे पुत्र! हम क्षण भर के लिए भी तेरा वियोग नहीं सहन करना चाहते। अतएव हे पुत्र! प्रथम तो जवतक हम जीवित हैं, तवतक मनुष्य सम्वन्धी विपुल काम-भोगों को भोग। फिर जव हम कालगत हो जाएँ और तू परिपक्व उम्र का हो जाय—तेरी युवावस्था पूर्ण हो जाय, कुल-वंश (पुत्र-पौत्र आदि) रूप तंतु का कार्य वृद्धि को प्राप्त हो जाय, जव सांसारिक कार्य की अपेक्षा न रहे, उस समय तू श्रमण भगवान् महावीर के पास मुण्डित होकर, गृहस्थी का त्याग करके प्रव्रज्या अंगीकार कर लेना।'

१२२—तए णं से मेहे कुमारे अम्मापिऊहिं एवं वुत्ते समाणे अम्मापियरं एवं वयासी— 'तहेव णं तं अम्मयाओ! जहेव णं तुम्हे ममं एवं वदह-तुमं सि णं जाया! अम्हं एगे पुत्ते, तं चेव जाव निरावयक्खे समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइस्ससि—एवं खलु अम्मयाओ माणुस्सए भवे अधुवे अणियए असासए वसणसउवद्दवाभिभूते विज्जुलयाचंचले अणिच्चे जलबुब्बुयसमाणे कुसग्गजलबिन्दुसन्निभे संझब्भराग-सारिसे सुविणदंसणोवमे सडण-पडण-विद्धंसणधम्मे पच्छा पुरं च

णं अवस्सविप्पजहणिज्जे से के णं जाणइ अम्मयाओ ! के पुव्विं गमणाए ? के पच्छा गमणाए ? तं इच्छामि णं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए।

तत्पश्चात् माता-पिता के इस प्रकार कहने पर मेघकुमार ने माता-पिता से कहा—'हे माता-पिता ! आप मुझसे यह जो कहते हैं कि—हे पुत्र ! तुम हमारे इकलौते पुत्र हो, इत्यादि सब पूर्ववत् कहना चाहिए, यावत् सांसारिक कार्य से निरपेक्ष होकर श्रमण भगवान् महावीर के समीप प्रव्रजित होना—सो ठीक है, परन्तु हे माता-पिता ! यह मनुष्यभव ध्रुव नहीं है अर्थात् सूर्योदय के समान नियमित समय पर पुनः पुनः प्राप्त होने वाला नहीं है, नियत नहीं है अर्थात् इस जीवन में उलटफेर होते रहते हैं, यह अशाश्वत है अर्थात् क्षण-विनश्वर है, तथा सैंकड़ों व्यसनों एवं उपद्रवों से व्याप्त है, बिजली की चमक के समान चंचल है, अनित्य है, जल के बुलबुले के समान है, दूब की नोंक पर लटकने वाले जलबिन्दु के समान है, सन्ध्यासमय के बादलों की लालिमा के सदृश है, स्वप्नदर्शन के समान है—अभी है और अभी नहीं है, कुष्ठ आदि से सड़ने, तलवार आदि से कटने और क्षीण होने के स्वभाव वाला है तथा आगे या पीछे अवश्य ही त्याग करने योग्य है। हे माता-पिता ! इसके अतिरिक्त कौन जानता है कि कौन पहले जाएगा (मरेगा) और कौन पीछे जाएगा ? अतएव हे माता-पिता ! मैं आपकी आज्ञा प्राप्त करके श्रमण भगवान् महावीर के निकट यावत् प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता हूँ।'

१२३—तए णं तं मेहं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी—'इमाओ ते जाया ! सरिसियाओ सरिसत्तयाओ सरिसव्वयाओ सरिसलावन्नरूवजोव्वणगुणोववेयाओ सरिसेहिन्तो रायकुलेहिन्तो आणियल्लियाओ भारियाओ, तं भुंजाहि णं जाया ! एताहि सद्धिं विपुले माणुस्सए कामभोगे, तओ पच्छा भुत्तभोगे समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइस्ससि।'

तत्पश्चात् माता-पिता ने मेघकुमार से इस प्रकार कहा—'हे पुत्र ! यह तुम्हारी भार्याएँ समान शरीर वाली, समान त्वचा वाली, समान वय वाली, समान, लावण्य, रूप, यौवन और गुणों से सम्पन्न तथा समान राजकुलों से लाई हुई हैं। अतएव हे पुत्र ! इनके साथ विपुल मनुष्य संबंधी कामभोगों को भोगो। तदनन्तर भुक्तभोग होकर श्रमण भगवान् महावीर के निकट यावत् दीक्षा ले लेना।

१२४—तए णं से मेहे कुमारे अम्मापियरं एवं वयासी——'तहेव णं अम्मयाओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वयह—'इमाओ ते जाया ! सरिसियाओ जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स पव्वइस्ससि'—एवं खलु अम्मयाओ ! माणुस्सगा कामभोगा असुई असासया वंतासवा पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा दुरुस्सासनीसासा दुरुयमुत्त-पुरीस-पूय-बहुपडिपुण्णा उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाणग-वंत-पित्त-सुक्क-सोणितसंभवा अधुवा अणियया असासया सडण-पडण-विद्धंसणधम्मा पच्छा पुरं च णं अवस्सविप्पजहणिज्जा। से के णं अम्मयाओ ! जाणंति के पुव्विं गमणाए ? के पच्छा गमणाए ? तं इच्छामि णं अम्मयाओ ! जाव पव्वइत्तए।'

तत्पश्चात् मेघकुमार ने माता-पिता से इस प्रकार कहा—'हे माता-पिता ! आप मुझे यह जो कहते हैं कि—'हे पुत्र ! तेरी ये भार्याएँ समान शरीर वाली हैं इत्यादि, यावत् इनके साथ भोग भोगकर श्रमण भगवान् महावीर के समीप दीक्षा ले लेना; सो ठीक है, किन्तु हे माता-पिता ! मनुष्यों

के ये कामभोग अर्थात् कामभोग के आधारभूत नर-नारियों के शरीर अशुचि हैं, अशाश्वत हैं, इनमें से वमन झरता है, पित्त झरता है, कफ झरता है, शुक्र झरता है तथा शोणित (रुधिर) झरता है। ये गंदे उच्छ्वास-निःश्वास वाले हैं, खराब मूत्र, मल और पीव से परिपूर्ण हैं, मल, मूत्र, कफ, नासिका-मल, वमन, पित्त, शुक्र और शोणित से उत्पन्न होने वाले हैं। यह ध्रुव नहीं, नियत नहीं, शाश्वत नहीं हैं, सड़ने, पड़ने और विध्वंस होने के स्वभाव वाले हैं और पहले या पीछे अवश्य ही त्याग करने योग्य हैं। हे माता-पिता ! कौन जानता है कि पहले कौन जायगा और पीछे कौन जायगा ? अतएव हे माता-पिता ! मैं यावत् अभी दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ।'

१२५—तए णं तं मेहं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी—'इमे ते जाया ! अज्जय-पज्जय-पिउपज्जयागए सुबहु हिरन्ने य सुवन्नेय कंसे य दूसे य मणिमोत्तिए य संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-संतसारसावतिज्जे य अलाहि जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पगामं दाउं, पगामं भोत्तुं पगामं परिभाएउं, तं अणुहोहि ताव जाव जाया ! विपुलं माणुस्सगं इड्डिसक्कारसमुदयं, तओ पच्छा अणुभूयकल्लाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पव्वइस्ससि।

तत्पश्चात् माता-पिता ने मेघकुमार से इस प्रकार कहा—'हे पुत्र ! तुम्हारे पितामह, पिता के पितामह और पिता के प्रपितामह से आया हुआ यह बहुत-सा हिरण्य, सुवर्ण, कांसा, दूष्य-वस्त्र, मणि, मोती, शंख, सिला, मूंगा, लाल-रत्न आदि सारभूत द्रव्य विद्यमान हैं। यह इतना है कि सात पीढ़ियों तक भी समाप्त न हो। इसका तुम खूब दान करो, स्वयं भोग करो और बांटो। हे पुत्र ! यह जितना मनुष्य सम्बन्धी ऋद्धि-सत्कार का समुदाय है, उतना सब तुम भोगो। उसके बाद अनुभूत-कल्याण होकर तुम श्रमण भगवान् महावीर के समक्ष दीक्षा ग्रहण कर लेना।

१२६—तए णं से मेहे कुमारे अम्मापियरं एवं वयासी—'तहेव णं अम्मयाओ ! जं णं तं वदह –'इमे ते जाया ! अज्जग-पज्जग-पिउपज्जयागए जाव तओ पच्छा अणुभूयकल्लाणे पव्वइस्ससि' एवं खलु अम्मयाओ ! हिरन्ने य सुवण्णे य जाव सावतेज्जे अग्गिसाहिए चोरसाहिए रायसाहिए दाइयसाहिए मच्चुसाहिए अग्गिसामन्ने जाव मच्चुसामन्ने सडण-पडण-विद्धंसणधम्मे पच्छा पुरं च णं अवस्सविप्पजहणिज्जे, से के णं जाणइ अम्मयाओ ! के जाव गमणाए ? तं इच्छामि णं जाव पव्व-इत्तए।'

तत्पश्चात् मेघकुमार ने माता-पिता से कहा—हे माता-पिता ! आप जो कहते हैं सो ठीक है कि—'हे पुत्र ! यह दादा, पड़दादा और पिता के पड़दादा से आया हुआ यावत् उत्तम द्रव्य है, इसे भोगो और फिर अनुभूत-कल्याण होकर दीक्षा ले लेना'—'परन्तु हे माता-पिता ! यह हिरण्य सुवर्ण यावत् स्वापतेय (द्रव्य) सब अग्निसाध्य है—इसे अग्नि भस्म कर सकती है, चोर चुरा सकता है, राजा अपहरण कर सकता है, हिस्सेदार बंटवारा कर सकते हैं और मृत्यु आने पर वह अपना नहीं रहता है। इसी प्रकार यह द्रव्य अग्नि के लिए समान है, अर्थात् जैसे द्रव्य उसके स्वामी का है, उसी प्रकार अग्नि का भी है और इसी तरह चोर, राजा, भागीदार और मृत्यु के लिए भी सामान्य है। यह सड़ने, पड़ने और विध्वस्त होने का स्वभाव वाला है। (मरणके) पश्चात् या पहले अवश्य त्याग करने योग्य है। हे माता-पिता ! किसे ज्ञात है कि पहले कौन जायगा और पीछे कौन जायगा ? अतएव मैं यावत् दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ।'

१२७—तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो जाहे नो संचाएइ मेहं कुमारं बहूहिं विसयाणुलोमाहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य सन्नवणाहि य विन्नवणाहि य, आघवित्तए वा पन्नवित्तए वा, सन्नवित्तए वा ताहे विसयपडिकूलाहिं संजमभउव्वेयकारियाहिं पन्नवणाहिं पन्नवेमाणा एवं वयासी—

तत्पश्चात् मेघकुमार के माता-पिता जब मेघकुमार को विषयों के अनुकूल आख्यापना (सामान्य रूप से प्रतिपादन करने वाली वाणी) से, प्रज्ञापना (विशेष रूप से प्रतिपादन करने वाली वाणी) से, संज्ञापना (संबोधन करने वाली वाणी) से, विज्ञापना (अनुनय-विनय करने वाली वाणी) से, समझाने, बुझाने, संबोधित करने और मनाने में समर्थ नहीं हुए, तब विषयों के प्रतिकूल तथा संयम के प्रति भय और उद्वेग उत्पन्न करने वाली प्रज्ञापना से इस प्रकार कहने लगे—

१२८—एस णं जाया ! निग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलिए पडिपुन्ने णेयाउए संसुद्धे सल्लगत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे निज्जाणमग्गे निव्वाणमग्गे सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे, अहीव एगंतदिट्ठीए, खुरो इव एगंतधाराए, लोहमया इव जवा चावेयव्वा, वालुयाकवले इव निर-स्साए, गंगा इव महानदी पडिसोयगमणा, महासमुद्दो इव भुयाहिं दुत्तरे, तिक्खं कमियव्वं, गरुअं लंबेयव्वं, असिधार व्व संचरियव्वं ।

हे पुत्र ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य (सत्पुरुषों के लिए हितकारी) है, अनुत्तर (सर्वोत्तम) है, कैवलिक-सर्वज्ञकथित अथवा अद्वितीय है, प्रतिपूर्ण अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने वाले गुणों से परिपूर्ण है, नैयायिक अर्थात् न्याययुक्त या मोक्ष की ओर ले जाने वाला है, संशुद्ध अर्थात् सर्वथा निर्दोष है, शल्यकर्त्तन अर्थात् माया आदि शल्यों का नाश करने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्तिमार्ग (पापों के नाश का उपाय) है, निर्याण का (सिद्धि क्षेत्र का) मार्ग है, निर्वाण का मार्ग है और समस्त दुःखों को पूर्णरूपेण नष्ट करने का मार्ग है । जैसे सर्प अपने भक्ष्य को ग्रहण करने में निश्चल दृष्टि रखता है, उसी प्रकार इस प्रवचन में दृष्टि निश्चल रखनी पड़ती है । यह छुरे के समान एक धार वाला है, अर्थात् इसमें दूसरी धार के समान अपवाद रूप क्रियाओं का अभाव है । इस प्रवचन के अनुसार चलना लोहे के जौ चबाना है । यह रेत के कवल के समान स्वादहीन है—विषय सुख से रहित है । इसका पालन करना गंगा नामक महानदी के सामने पूर में तिरने के समान कठिन है, भुजाओं से महासमुद्र को पार करना है, तीखी तलवार पर आक्रमण करने के समान है । महाशिला जैसी भारी वस्तुओं को गले में बाँधने के समान है । तलवार की धार पर चलने के समान है ।

१२९—णो खलु कप्पइ जाया ! समणाणं निग्गंथाणं आहाकम्मिए वा, उद्देसिए वा, कीयगडे वा, ठविए वा, रइयए वा, दुब्भिक्खभत्ते वा, कंतारभत्ते वा, वद्दलियाभत्ते वा, गिलाण-भत्ते वा, मूलभोयणे वा, कंदभोयणे वा, फलभोयणे वा, बीयभोयणे वा, हरियभोयणे वा भोत्तए वा पायए वा । तुमं च णं जाया ! सुहसमुचिए णो चेव णं दुहसमुचिए । णालं सीयं, णालं उण्हं, णालं खुहं, णालं पिवासं, णालं वाइयपित्तियसिंभियसन्निवाइयविविहे रोगायंके उच्चावए गाम-कंटए बावीसं परीसहोवसग्गे उदिन्ने सम्मं अहियासित्तए । भुंजाहि ताव जाया ! माणुस्सए कामभोगे, तओ पच्छा भुत्तभोगी समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइस्ससि ।

हे पुत्र ! निर्ग्रन्थ श्रमणों को आधाकर्मी, औद्देशिक, क्रीतकृत (खरीद कर बनाया हुआ),

स्थापित (साधु के लिए रख छोड़ा हुआ), रचित (मोदक आदि के चूर्ण को पुनः साधु के लिए मोदक आदि रूप में तैयार किया हुआ), दुर्भिक्षभक्त (साधु के लिए दुर्भिक्ष के समय बनाया हुआ भोजन), कान्तारभक्त (साधु के निमित्त अरण्य में बनाया आहार), वर्दलिका भक्त (वर्षा के समय उपाश्रय में आकर बनाया भोजन), ग्लानभक्त (रुग्ण गृहस्थ नीरोग होने की कामना से दे, वह भोजन), आदि दूषित आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

इसी प्रकार मूल का भोजन, कंद का भोजन, फल का भोजन, शालि आदि बीजों का भोजन अथवा हरित का भोजन करना भी नहीं कल्पता है।

इसके अतिरिक्त हे पुत्र ! तू सुख भोगने योग्य है, दुःख सहने योग्य नहीं है। तू सर्दी सहने में समर्थ नहीं है, गर्मी सहने में समर्थ नहीं है। भूख नहीं सह सकता, प्यास नहीं सह सकता, वात, पित्त, कफ और सन्निपात से होने वाले विविध रोगों (कोढ़ आदि) को तथा आतंकों (अचानक मरण उत्पन्न करने वाले शूल आदि) को, ऊँचे-नीचे इन्द्रिय-प्रतिकूल वचनों को, उत्पन्न हुए बाईस परीषहों को और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार सहन नहीं कर सकता। अतएव हे लाल ! तू मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को भोग। बाद में भुक्तभोग होकर श्रमण भगवान् महावीर के निकट प्रव्रज्या अंगीकर करना।

१३०—तए णं से मेहे कुमारे अम्मापिऊहिं एवं वुत्ते समाणे अम्मापियरं एवं वयासी—'तहेव णं तं अम्मयाओ ! जं णं तुब्भे ममं एवं वयह—'एस णं जाया ! निग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे० पुणरवि तं चेव जाव तओ पच्छा भुत्तभोगी समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइस्ससि।' एवं खलु अम्मयाओ ! निग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं कापुरिसाणं इहलोगपडिबद्धाणं परलोग-निप्पिवासाणं दुरणुचरे पाययजणस्स, णो चेव णं धीरस्स। निच्छियववसियस्स एत्थं किं दुक्करं करणयाए ? तं इच्छामि णं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए।

तत्पश्चात् माता-पिता के इस प्रकार कहने पर मेघकुमार ने माता-पिता से इस प्रकार कहा—हे माता-पिता ! आप मुझे यह जो कहते हैं सो ठीक है कि—हे पुत्र ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, सर्वोत्तम है, आदि पूर्वोक्त कथन यहाँ दोहरा लेना चाहिए; यावत् बाद में भुक्तभोग होकर प्रव्रज्या अंगीकार कर लेना। परन्तु हे माता-पिता ! इस प्रकार यह निर्ग्रन्थ प्रवचन क्लीब-हीन संहनन वाले, कायर-चित्त की स्थिरता से रहित, कुत्सित, इस लोक सम्बन्धी विषयसुख की अभिलाषा करने वाले, परलोक के सुख की इच्छा न करने वाले सामान्य जन के लिए ही दुष्कर है। धीर एवं दृढ संकल्प वाले पुरुष को इसका पालन करना कठिन नहीं है। इसका पालन करने में कठिनाई क्या है ? अतएव हे माता-पिता ! आपकी अनुमति पाकर मैं श्रमण भगवान् महावीर के निकट प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।

एक दिवस का राज्य

१३१—तए णं तं मेहं कुमारं अम्मापियरो जाहे नो संचाइंति बहूहिं विसयाणुलोमाहि य विसयपडिकूलाहि य आघवणाहि य पन्नवणाहि य सन्नवणाहि य विन्नवणाहि य आघवित्तए वा, पन्नवित्तए वा, सन्नवित्तए वा विन्नवित्तए वा, ताहे अकामए चेव मेहं कुमारं एवं वयासी—'इच्छामो ताव जाया ! एगदिवसमवि ते रायसिरिं पासित्तए।'

तत्पश्चात् जब माता-पिता मेघकुमार को विषयों के अनुकूल और विषयों के प्रतिकूल बहुत-सी आख्यापना, प्रज्ञापना और विज्ञापना से समझाने, बुझाने, सम्बोधन करने और विज्ञप्ति करने में समर्थ न हुए, तब इच्छा के बिना भी मेघकुमार से इस प्रकार बोले—'हे पुत्र ! हम एक दिन भी तुम्हारी राज्यलक्ष्मी देखना चाहते हैं। अर्थात् हमारी इच्छा है कि तुम एक दिन के लिए राजा बन जाओ।'

१३२—तए णं से मेहे कुमारे अम्मापियरमणुवत्तमाणे तुसिणीए संचिट्ठइ।

तब मेघकुमार माता-पिता (की इच्छा) का अनुसरण करता हुआ मौन रह गया।

राज्याभिषेक

१३३—तए णं सेणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! मेहस्स कुमारस्स महत्थं महग्घं महरिहं विउलं रायाभिसेयं उवट्ठवेह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव (महत्थं महग्घं महरिहं विउलं रायाभिसेयं) उवट्ठवेन्ति।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों-सेवकों को बुलवाया और बुलवा कर ऐसा कहा—'देवानुप्रियो ! मेघकुमार का महान् अर्थ वाले, बहुमूल्य एवं महान् पुरुषों के योग्य विपुल राज्याभिषेक (के योग्य सामग्री) तैयार करो।' तत्पश्चात् कौटुम्बिक पुरुषों ने यावत् (महार्थ, बहुमूल्य, महान् पुरुषों के योग्य, विपुल) राज्याभिषेक की सब सामग्री तैयार की।

१३४—तए णं सेणिए राया बहूहिं गणणायग-दंडणायगेहि य जाव[1] संपरिवुडे मेहं कुमारं अट्ठसएणं सोवन्नियाणं कलसाणं, एवं रुप्पमयाणं कलसाणं, मणिमयाणं कलसाणं, सुवण्ण-रुप्पमयाणं कलसाणं, सुवन्न-मणिमयाणं कलसाणं, रुप्प-मणिमयाणं कलसाणं, सुवन्न-रुप्प-मणिमयाणं कलसाणं भोमेज्जाणं कलसाणं सव्वोदएहिं सव्वमट्टियाहिं सव्वपुप्फेहिं सव्वगंधेहिं सव्वमल्लेहिं सव्वोसहिहि य, सिद्धत्थ-एहि य, सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबलेणं जाव दुंदुमि-निग्घोस-णादियरवेणं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचइ, अभिसिंचित्ता करयल जाव परिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने बहुत से गणनायकों एवं दंडनायकों आदि से परिवृत होकर मेघकुमार को, एक सौ आठ सुवर्ण कलशों, इसी प्रकार एक सौ आठ चाँदी के कलशों, एक सौ आठ मणिमय कलशों, एक सौ आठ स्वर्ण-रजत के कलशों, एक सौ आठ स्वर्ण-मणि के कलशों, एक सौ आठ रजत-मणि के कलशों, एक सौ आठ स्वर्ण-रजत-मणि के कलशों और एक सौ आठ मिट्टी के कलशों—इस प्रकार आठ सौ चौसठ कलशों में सब प्रकार का जल भरकर तथा सब प्रकार की मृत्तिका से, सब प्रकार के पुष्पों से, सब प्रकार के गंधों से, सब प्रकार की मालाओं से, सब प्रकार की औषधियों से तथा सरसों से उन्हें परिपूर्ण करके, सर्व समृद्धि, द्युति तथा सर्व सैन्य के साथ, दुंदुभि के निर्घोष की प्रतिध्वनि के शब्दों के साथ उच्चकोटि के राज्याभिषेक से अभिषिक्त किया। अभिषेक करके श्रेणिक राजा ने दोनों हाथ जोड़ कर [मस्तक पर अंजलि घुमाकर] यावत् इस प्रकार कहा—

१३५ 'जय जय णंदा ! जय जय भद्दा ! जयणंदा ! भद्दं ते, अजियं जिणेहि, जियं पालयाहि,

१. प्र. अ. सूत्र ३०

जियमज्झे वसाहि, अजियं जिणेहि सत्तुपक्खं, जियं च पालेहि मित्तपक्खं, जाव इंदो इव देवाणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाणं चंदो इव ताराणं, भरहो इव मणुयाणं रायगिहस्स नगरस्स अन्नेसिं च बहूणं गामागरनगर जाव खेड-कब्बड-दोणमुह-मडंब-पट्टण-आसम-निगम-संवाह-संनिवेसाणं आहेवच्चं जाव पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महयाहय-नट्ट-गीत-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घण-मुइंग-पडुप्पवाइयरवेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहराहि' त्ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजंति।

तए णं से मेहे राया जाए महया जाव[1] विहरइ।

'हे नन्द ! तुम्हारी जय हो, जय हो। हे भद्र ! तुम्हारी जय हो, जय हो। हे जगन्नन्द (जगत् को आनन्द देने वाले) ! तुम्हारा भद्र (कल्याण) हो। तुम न जीते हुए को जीतो और जीते हुए का पालन करो। जितों-आचारवानों-के मध्य में निवास करो। नहीं जीते हुए शत्रुपक्ष को जीतो। जीते हुए मित्रपक्ष का पालन करो। यावत् देवों में इन्द्र, असुरों में चमरेन्द्र, नागों में धरण, ताराओं में चन्द्रमा एवं मनुष्यों में भरत चक्री की भांति राजगृह नगर का तथा दूसरे बहुतेरे ग्रामों, आकरों, नगरों यावत् [खेट, कर्वट, द्रोणमुख, मडंब, पट्टन, आश्रम, निगम, संवाह—] और सन्निवेशों का आधिपत्य यावत् [नेतृत्व आदि करते हुए विविध वाद्यों, गीत, नाटक आदि का उपभोग करते हुए] विचरण करो।' इस प्रकार कहकर श्रेणिक राजा ने जय-जयकार किया।

तत्पश्चात् मेघ राजा हो गया और पर्वतों में महाहिमवन्त की तरह शोभा पाने लगा।

१३६ तए णं तस्स मेहस्स रण्णो अम्मापियरो एवं वयासी—'भण जाया ! किं दलयामो ? किं पयच्छामो ? किं वा ते हियइच्छिए सामत्थे (मंते) ?

तत्पश्चात् माता-पिता ने राजा मेघ से इस प्रकार कहा—'हे पुत्र ! बताओ, तुम्हारे किस अनिष्ट को दूर करें अथवा तुम्हारे इष्ट-जनों को क्या दें ? तुम्हें क्या दें ? तुम्हारे चित्त में क्या चाह-विचार है ?

संयमोपकरण की मांग

१३७ तए णं से मेहे राया अम्मापियरं एवं वयासी—'इच्छामि णं अम्मयाओ ! कुत्तियावणाओ रयहरणं पडिग्गहं च उवणेह, कासवयं च सद्दावेह।'

तब राजा मेघ ने माता-पिता से इस प्रकार कहा—'हे माता-पिता ! मैं चाहता हूँ कि कुत्रिकापण (जिसमें सब जगह की सब वस्तुएं मिलती हैं, उस अलौकिक देवाधिष्ठित दुकान) से रजोहरण और पात्र मंगवा दीजिए और काश्यप-नापित को बुलवा दीजिए।

१३८ तए णं से सेणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ। सद्दावेत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सिरिघराओ तिन्नि सयसहस्साइं गहाय दोहिं सयसहस्सेहिं कुत्तियावणाओ रयहरणं पडिग्गहगं च उवणेह, सयसहस्सेणं कासवयं सद्दावेह।'

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा सिरिघराओ तिन्नि

---

१. औपपातिक सूत्र १४

सयसहस्साइं गहाय कुत्तियावणाओ दोहिं सयसहस्सेहिं रयहरणं पडिग्गहं च उवणेन्ति, सयसहस्सेणं कासवयं सद्दावेन्ति।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलवाया। बुलवाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! तुम जाओ, श्रीगृह (खजाने) से तीन लाख स्वर्ण-मोहरें लेकर दो लाख से कुत्रिकापण से रजोहरण और पात्र ले आओ तथा एक लाख देकर नाई को बुला लाओ।

तत्पश्चात् वे कौटुम्बिक पुरुष, राजा श्रेणिक के ऐसा कहने पर हृष्ट-तुष्ट होकर श्रीगृह से तीन लाख मोहरें लेकर कुत्रिकापण से, दो लाख से रजोहरण और पात्र लाये और एक लाख मोहरें देकर उन्होंने नाई को बुलवाया।

दीक्षा की तैयारी

१३९ तए णं से कासवए तेहिं कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविए समाणे हट्ठे जाव [हट्ठतुट्ठ-चित्त-माणंदिए जाव हरिसवसविसप्पमाणहियए] ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावे-साइं वत्थाइं मंगलाइं पवरपरिहिए अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे जेणेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता सेणियं रायं करयलमंजलिं कट्टु एवं वयासी—'संदिसह णं देवाणुप्पिया ! जं मए करणिज्जं।'

तए णं से सेणिए राया कासवयं एवं वयासी—गच्छाहि णं तुमं देवाणुप्पिया ! सुरभिणा गंधोदएणं णिक्के हत्थपाए पक्खालेह। सेयाए चउप्फालाए पोत्तीए मुहं बंधेत्ता मेहस्स कुमारस्स चउरंगुलवज्जे णिक्खमणपाउग्गे अग्गकेसे कप्पेहि।

तत्पश्चात् कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा बुलाया गया वह नाई हृष्ट-तुष्ट हुआ यावत् उसका हृदय आनन्दित हुआ। उसने स्नान किया, वलिकर्म (गृहदेवता का पूजन) किया, मषी-तिलक आदि कौतुक, दही दूर्वा आदि मंगल एवं दुःस्वप्न का निवारण रूप प्रायश्चित्त किया। साफ और राजसभा में प्रवेश करने योग्य मांगलिक और श्रेष्ठ वस्त्र धारण किये। थोड़े और बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को विभूषित किया। फिर जहाँ श्रेणिक राजा था, वहाँ आया। आकर, दोनों हाथ जोड़ कर श्रेणिक राजा से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिय ! मुझे जो करना है, उसकी आज्ञा दीजिए।'

तव श्रेणिक राजा ने नाई से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय ! तुम जाओ और सुगंधित गंधोदक से अच्छी तरह हाथ-पैर धो लो। फिर चार तह वाले श्वेत वस्त्र से मुँह वाँधकर मेघकुमार के वाल दीक्षा के योग्य चार अंगुल छोड़कर काट दो।'

१४० तए णं से कासवए सेणिएणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ जाव हियए जाव पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता सुरभिणा गंधोदएणं हत्थपाए पक्खालेइ, पक्खालित्ता सुद्धवत्थेणं मुहं बंधति, बंधित्ता परेणं जत्तेणं मेहस्स कुमारस्स चउरंगुलवज्जे णिक्खमणपाउग्गे अग्गकेसे कप्पइ।

तत्पश्चात् वह नापित श्रेणिक राजा के ऐसा कहने पर हृष्ट-तुष्ट और आनन्दितहृदय हुआ। उसने यावत् श्रेणिक राजा का आदेश स्वीकार किया। स्वीकार करके सुगंधित गंधोदक से हाथ-पैर धोए। हाथ-पैर धोकर शुद्ध वस्त्र से मुँह वाँधा। वाँधकर वड़ी सावधानी से मेघकुमार के चार अंगुल छोड़कर दीक्षा के योग्य केश काटे।

१४१ तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स माया महरिहेणं हंसलक्खणेणं पडसाडएणं अग्गकेसे पडिच्छइ। पडिच्छित्ता सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेति, पक्खालित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चाओ दलयति, दलइत्ता सेयाए पोत्तीए बंधेइ, बंधित्ता रयणसमुग्गयंसि पक्खिवइ, पक्खिवित्ता मंजूसाए पक्खिवइ, पक्खिवित्ता हार-वारिधार-सिन्दुवार-छिन्नमुत्तावलि-पगासाइं अंसूइं विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी रोयमाणी रोयमाणी कंदमाणी कंदमाणी विलवमाणी विलवमाणी एवं वयासी—'एस णं अम्हं मेहस्स कुमारस्स अब्भुदएसु य उस्सवेसु य पसवेसु य तिहीसु य छणेसु य जन्नेसु य पव्वणीसु य अपच्छिमे दरिसणे भविस्सइ त्ति कट्टु उस्सीसामूले ठवेइ।

उस समय मेघकुमार की माता ने उन केशों को बहुमूल्य और हंस के चित्र वाले उज्ज्वल वस्त्र में ग्रहण किया। ग्रहण करके उन्हें सुगंधित गंधोदक से धोया। फिर सरस गोशीर्ष चन्दन उन पर छिड़का। छिड़क कर उन्हें श्वेत वस्त्र में बाँधा। बाँध कर रत्न की डिबिया में रखा। रख कर उस डिबिया को मंजूषा (पेटी) में रखा। फिर जल की धार, निर्गुंडी के फूल एवं टूटे हुए मोतियों के हार के समान अश्रु धारा प्रवाहित करती-करती-रोती-रोती, आक्रन्दन करती-करती और विलाप करती-करती इस प्रकार कहने लगी—'मेघकुमार के केशों का यह दर्शन राज्य प्राप्ति आदि अभ्युदय के अवसर पर, उत्सव (प्रियसमागम) के अवसर पर, प्रसव (पुत्रजन्म आदि) के अवसर पर, तिथियों के अवसर पर, इन्द्रमहोत्सव आदि के अवसर पर, नागपूजा आदि के अवसर पर तथा कार्तिकी पूर्णिमा आदि पर्वों के अवसर पर हमें अन्तिम दर्शन रूप होगा। तात्पर्य यह है कि इन केशों का दर्शन, केशरहित मेघकुमार का दर्शन रूप होगा।' इस प्रकार कहकर धारिणी ने वह पेटी अपने सिरहाने के नीचे रख ली।

१४२ तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेन्ति। मेहं कुमारं दोच्चं पि तच्चं पि सेयपीयएहिं कलसेहिं ण्हावेन्ति, ण्हावेत्ता पम्हलसुकुमालाए गंधकासाइयाए गायाइं लूहेन्ति, लूहित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपति, अणुलिंपित्ता नासानीसासवाय-वोज्झं जाव [वरपट्टणुग्गयं कुसलणरपसंसितं अस्सलालापेलवं छेयायरियकणगखचियंतकम्मं] हंसलक्खणं पडगसाडगं नियंसेन्ति, नियंसित्ता हारं पिणद्धंति, पिणद्धित्ता अद्धहारं पिणद्धंति, पिणद्धित्ता एगावलिं मुत्तावलिं कणगावलिं रयणावलिं पालंबं पायपलंबं कडगाइं तुडिगाइं केऊराइं अंगयाइं दसमुद्दियाणंतयं कडिसुत्तयं कुंडलाइं चूडामणिं रयणुक्कडं मउडं पिणद्धंति, पिणद्धित्ता दिव्वं सुमणदामं पिणद्धंति, पिणद्धित्ता दद्दरमलयसुगंधिए गंधे पिणद्धंति।

तत्पश्चात् मेघकुमार के माता-पिता ने उत्तराभिमुख सिंहासन रखवाया। फिर मेघकुमार को दो-तीन वार श्वेत और पीत अर्थात् चाँदी और सोने के कलशों से नहलाया। नहला कर रुएँदार और अत्यन्त कोमल गंधकाषाय(सुगंधित कषायले रंग से रंगे) वस्त्र से उसके अंग पौंछे। पौंछकर सरस गोशीर्ष चन्दन से शरीर पर विलेपन किया। विलेपन करके नासिका के निश्वास की वायु से भी उड़ने योग्य—अति बारीक [श्रेष्ठ पट्टन में निर्मित, कुशल जनों द्वारा प्रशंसित, अश्व के मुख से निकलने वाले फेन के समान कोमल, कुशल कारीगरों ने जिनके किनारे स्वर्ण-खचित किये हैं] तथा हंस-लक्षण वाला (हंस के चिह्न वाला अथवा हंस के सदृश श्वेत) वस्त्र पहनाया। पहनाकर अठारह लड़ों का हार पहनाया, नौ लड़ों का अर्द्धहार पहनाया, फिर एकावली, मुक्तावली, कनकावली,

रत्नावली, प्रालंब (कंठी) पादप्रलम्ब (पैरों तक लटकने वाला आभूषण), कड़े, तुटिक (भुजा का आभूषण), केयूर, अंगद, दसों उंगलियों में दस मुद्रिकाएँ, कंदोरा, कुंडल, चूड़ामणि तथा रत्नजटित मुकुट पहनाये। यह सब अलंकार पहनाकर पुष्पमाला पहनाई। फिर दर्दर में पकाए हुए चंदन के सुगंधित तेल की गंध शरीर पर लगाई।

विवेचन—दर्दर-मिट्टी के घड़े का मुँह कपड़े से बाँध कर अग्नि की आँच से तपाकर तैयार किया गया तेल अत्यन्त सुगंधयुक्त होता है और उसका गुणकारी तत्त्व प्रायः सुरक्षित रहता है।

१४३ तए णं तं मेहं कुमारं गंठिम-वेढिम-पूरिम-संघाइमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खगं पिव अलंकियविभूसियं करेन्ति।

तत्पश्चात् मेघकुमार को सूत से गूंथी हुई, पुष्प आदि से वेढ़ी हुई वांस की सलाई आदि से पूरित की गई तथा वस्तु के योग से परस्पर संघात रूप की हुई-इस तरह चार प्रकार की पुष्पमालाओं से कल्पवृक्ष के समान अलंकृत और विभूषित किया।

२४४ तए णं से सेणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अणेगखंभसयसन्निविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं ईहामिग-उसभ-तुरय-नर-मगर-विहग-वालग-किन्नर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलय-भत्तिचित्तं घंटावलिमहुर-मणहरसरं सुभ-कंत-दरिसणिज्जं निउणोचियमिसिमिसंतमणि-रयणघंटियाजालपरिक्खित्तं खंभुग्गयवइरवेइयापरिगया-भिरामं विज्जाहरजमलजंतजुत्तं पिव अच्चीसहस्समालणीयं रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेस्सं सुहफासं सस्सिरीयरूवं सिग्घं तुरियं चवलं वेइयं पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं उवट्ठवेह।'

तत्पश्चात् राजा श्रेणिक ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और बुलाकर कहा-देवानुप्रियो! तुम शीघ्र ही एक शिविका तैयार करो जो अनेक सैकड़ों स्तंभों से बनी हो, जिसमें क्रीड़ा करती हुई पुतलियाँ बनी हों, ईहामृग (भेड़िया), वृषभ, तुरग-घोड़ा, नर, मगर, विहग, सर्प, किन्नर, रुरु (काले मृग), सरभ (अष्टापद), चमरी गाय, कुञ्जर, वनलता और पद्मलता आदि के चित्रों की रचना से युक्त हो, जिससे घंटिओं के समूह के मधुर और मनोहर शब्द हो रहे हों, जो शुभ, मनोहर और दर्शनीय हो, जो कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित देदीप्यमान मणियों और रत्नों की घुंघरुओं के समूह से व्याप्त हो, स्तंभ पर बनी हुई वेदिका से युक्त होने के कारण जो मनोहर दिखाई देती हो, जो चित्रित विद्याधर-युगलों से शोभित हो, चित्रित सूर्य की हजार किरणों से शोभित हो, इस प्रकार हजारों रूपों वाली, देदीप्यमान, अतिशय देदीप्यमान, जिसे देखते नेत्रों को तृप्ति न हो, जो सुखद स्पर्श वाली हो, सश्रीक स्वरूप वाली हो, शीघ्र त्वरित चपल और अतिशय चपल हो, अर्थात् जिसे शीघ्रतापूर्वक ले जाया जाय और जो एक हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाती हो।

१४५ तए णं ते कोडुंबियपुरिसा हट्ठतुट्ठा जाव उवट्ठवेन्ति। तए णं से मेहे कुमारे सीयं दुरूहइ, दुरूहित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने।

वे कौटुम्बिक पुरुष हृष्ट-तुष्ट होकर यावत् शिविका (पालकी) उपस्थित करते हैं। तत्पश्चात्

मेघकुमार शिविका पर आरूढ हुआ और सिंहासन के पास पहुँचकर पूर्वदिशा की ओर मुख करके बैठ गया।

१४६ तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स माया ण्हाया कयबलिकम्मा जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सीयं दुरूहति। दुरूहित्ता मेहस्स कुमारस्स दाहिणे पासे भद्दासणंसि निसीयति।

तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अंबधाई रयहरणं च पडिग्गहं च गहाय सीयं दुरूहइ, दुरूहित्ता मेहस्स कुमारस्स वामे पासे भद्दासणंसि निसीयति।

तत्पश्चात् जो स्नान कर चुकी है, बलिकर्म कर चुकी है यावत् अल्प और बहुमूल्य आभरणों से शरीर को अलंकृत कर चुकी है, ऐसी मेघकुमार की माता उस शिविका पर आरूढ हुई। आरूढ होकर मेघकुमार के दाहिने पार्श्व में, भद्रासन पर बैठी।

तत्पश्चात् मेघकुमार की धायमाता रजोहरण और पात्र लेकर शिविका पर आरूढ होकर मेघकुमार के बायें पार्श्व में भद्रासन पर बैठ गई।

१४७ तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स पिट्ठओ एगा वरतरुणी सिंगारागारचारुवेसा संगय-गय-हसिय-भणिय-चेट्ठिय-विलास-संलावुल्लाव-निउणजुत्तोवयारकुसला, आमेलग-जमल-जुयल-वट्टिय-अब्भुन्नय-पीण-रइय-संठियपओहरा, हिम-रययकुन्देन्दुपगासं सकोरंटमल्लदामधवलं आयवत्तं गहाय सलीलं ओहारेमाणी ओहारेमाणी चिट्ठइ।

तत्पश्चात् मेघकुमार के पीछे शृंगार के आगार रूप, मनोहर वेष वाली, सुन्दर गति, हास्य, वचन, चेष्टा, विलास, संलाप (पारस्परिक वार्तालाप) उल्लाप (वर्णन) करने में कुशल, योग्य उपचार करने में कुशल, परस्पर मिले हुए, समश्रेणी में स्थित, गोल, ऊँचे, पुष्ट, प्रीतिजनक और उत्तम आकार के स्तनों वाली एक उत्तम तरुणी, हिम (बर्फ) चाँदी कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान प्रकाश वाले, कोरंट के पुष्पों की माला से युक्त धवल छत्र को हाथों में थामकर लीलापूर्वक खड़ी हुई।

१४८ तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स दुवे वरतरुणीओ सिंगारागारचारुवेसाओ जाव कुसलाओ सीयं दुरूहंति, दुरूहित्ता मेहस्स कुमारस्स उभओ पासं नाणामणि-कणग-रयण-महरिहत-वणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ सुहुमवरदीहवालाओ संख-कुंद-दग-रयअ-महियफेणपुंजसन्निगासाओ चामराओ गहाय सलीलं ओहारेमाणीओ ओहारेमाणीओ चिट्ठंति।

तत्पश्चात् मेघकुमार के समीप शृंगार के आगार के समान, सुन्दर वेष वाली, यावत् उचित उपचार करने में कुशल दो श्रेष्ठ तरुणियाँ शिविका पर आरूढ़ हुईं। आरूढ़ होकर मेघकुमार के दोनों पार्श्वों में, विविध प्रकार के मणि सुवर्ण रत्न और महान् जनों के योग्य, अथवा बहुमूल्य तपनीयमय (रक्तवर्ण सुवर्ण, वाले) उज्ज्वल एवं विचित्र दंडी वाले, चमचमाते हुए, पतले उत्तम और लम्बे वालों वाले, शंख कुन्दपुष्प जलकण रजत एवं मंथन किये हुए अमृत के फेन के समूह सरीखे (श्वेत वर्ण वाले) दो चामर धारण करके लीलापूर्वक वींजती-वींजती हुई खड़ी हुईं।

१४९ तए णं तस्स मेहकुमारस्स एगा वरतरुणी सिंगारागारचारुवेसा जाव कुसला सीयं

जाव दुरूहइ। दुरूहित्ता मेहस्स कुमारस्स पुरतो पुरत्थिमेणं चंदप्पभ-वइर-वेरुलिय-विमलदंडं तालविंटं गहाय चिट्ठइ।

तत्पश्चात् मेघकुमार के समीप शृंगार के आगार रूप यावत् उचित उपचार करने में कुशल एक उत्तम तरुणी यावत् शिविका पर आरूढ हुई। आरूढ होकर मेघकुमार के पास पूर्व दिशा के सन्मुख चन्द्रकान्त मणि वज्ररत्न और वैडूर्यमय निर्मल दंडी वाले पंखे को ग्रहण करके खड़ी हुई।

१५० तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स एगा वरतरुणी जाव सुरूवा सीयं दुरूहइ, दुरूहित्ता मेहस्स कुमारस्स पुव्वदक्खिणेणं सेयं रययामयं विमलसलिलपुन्नं मत्तगयमहामुहाकिइसमाणं भिंगारं गहाय चिट्ठइ।

तत्पश्चात् मेघकुमार के समीप एक उत्तम तरुणी यावत् सुन्दर रूप वाली शिविका पर आरूढ़ हुई। आरूढ़ होकर मेघकुमार से पूर्वदक्षिण-आग्नेय-दिशा में श्वेत रजतमय निर्मल जल से परिपूर्ण, मदमाते हाथी के बड़े मुख के समान आकृति वाले भृंगार (झारी) को ग्रहण करके खड़ी हुई।

१५१ तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स पिया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सरिसयाणं सरिसत्तयाणं सरिसव्वयाणं एगाभरणगहियनिज्जोयाणं कोडुंबियवरतरुणाणं सहस्सं सद्दावेह।' जाव सद्दावेन्ति।

तए णं कोडुंबियवरतरुणपुरिसा सेणियस्स रन्नो कोडुंबियपुरिसेहिं सद्दाविया समाणा हट्ठा ण्हाया जाव एगाभरणगहियनिज्जोया जेणामेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता सेणियं रायं एवं वयासी—'संदिसह णं देवाणुप्पिया! जं णं अम्हेहिं करणिज्जं।

तत्पश्चात् मेघकुमार के माता-पिता ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुला कर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! शीघ्र ही एक सरीखे, एक सरीखी त्वचा (कान्ति) वाले, एक सरीखी उम्र वाले तथा एक सरीखे आभूषणों से समान वेष धारण करने वाले एक हजार उत्तम तरुण कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाओ।' यावत् उन्होंने एक हजार पुरुषों को बुलाया।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा के कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा बुलाये गये वे एक हजार श्रेष्ठ तरुण सेवक हृष्ट-तुष्ट हुए। उन्होंने स्नान किया, यावत् एक से आभूषण पहन कर समान पोशाक पहनी। फिर जहाँ श्रेणिक राजा था, वहाँ आये। आकर श्रेणिक राजा से इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय! हमें जो करने योग्य है, उसके लिए आज्ञा दीजिए।

१५२ तए णं से सेणिए तं कोडुंबियवरतरुणसहस्सं एवं वयासी—'गच्छह णं देवाणुप्पिया! मेहस्स कुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं परिवहेह।

तए णं तं कोडुंबियवरतरुणसहस्सं सेणिएणं रण्णा एवं वुत्तं संतं हट्ठं तुट्ठं तस्स मेहस्स कुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं परिवहति।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने उन एक हजार उत्तम तरुण कौटुम्बिक पुरुषों से कहा—

देवानुप्रियो ! तुम जाओ और हजार पुरुषों द्वारा वहन करने योग्य मेघकुमार की पालकी को वहन करो ।

तत्पश्चात् वे उत्तम तरुण हजार कौटुम्बिक पुरुष श्रेणिक राजा के इस प्रकार कहने पर हृष्ट-तुष्ट हुए और हजार पुरुषों द्वारा वहन करने योग्य मेघकुमार की शिविका को वहन करने लगे ।

१५३ तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरूढस्स समाणस्स इमे अट्ठट्ठमंगलया तप्पढमयाए पुरतो अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया । तंजहा—(१) सोत्थिय (२) सिरिवच्छ (३) नंदियावत्त (४) वद्धमाणग (५) भद्दासण (६) कलस (७) मच्छ (८) दप्पणया जाव[1] बहवे अत्थत्थिया जाव कामत्थिया भोगत्थिया लाभत्थिया किब्बिसिया कारोडिया कारवाहिया संखिया चक्किया नंगलिया मुहमंगलिया वद्धमाणा पूसमाणया खंडियगणा ताहिं इट्ठाहिं जाव[2] अणवरयं अभिणंदंता य एवं वयासी ।

तत्पश्चात् पुरुषसहस्रवाहिनी शिविका पर मेघकुमार के आरूढ होने पर, उसके सामने सर्वप्रथम यह आठ मंगलद्रव्य अनुक्रम से चले अर्थात् चलाये गये । वे इस प्रकार हैं—(१) स्वस्तिक (२) श्रीवत्स (३) नंदावर्त्त (४) वर्धमान (सिकोरा या पुरुषारूढ पुरुष या पाँच स्वस्तिक या विशेष प्रकार का प्रासाद), (५) भद्रासन (६) कलश (७) मत्स्य और (८) दर्पण । बहुत से धन के अर्थी (याचक) जन, कामार्थी, भोगार्थी, लाभार्थी भांड आदि, कापालिक अथवा ताम्बूलवाहक, करों से पीडित, शंख बजाने वाले, चाक्रिक—चक्र नामक शस्त्र हाथ में लेने वाले या कुंभार-तेली आदि, लांगलिक—गले में हल के आकार का स्वर्णाभूषण पहनने वाले, मुखमांगलिक—मीठी-मीठी बातें करने वाले, वर्धमान—अपने कंधे पर पुरुष को बिठाने वाले, पूष्यमानव—मागध—स्तुतिपाठक, खण्डिकगण—छात्रसमुदाय उसका इष्ट प्रिय मधुर वाणी से अभिनन्दन करते कहने लगे ।

१५४ 'जय जय णंदा ! जय जय भद्दा ! जयणंदा ! भद्दं ते, अजियाइं जिणाहि इंदियाइं, जियं च पालेहि समणधम्मं, जियविग्घोऽवि य वसाहि तं देव ! सिद्धिमज्झे, निहणाहि रागद्दोसमल्ले तवेणं धिइधणियबद्धकच्छे, मद्दाहि य अट्ठकम्मसत्तू झाणेणं उत्तमेणं सुक्केणं अप्पमत्तो, पावय वितिमिरमणुत्तरं केवलं नाणं, गच्छ य मोक्खं परमपयं सासयं च अयलं हंता परीसहचमुं णं अभीओ परीसहोवसग्गाणं, धम्मे ते अविग्घं भवउ' त्ति कट्टु पुणो पुणो मंगलजयजयसद्दं पउंजंति ।

हे नन्द ! जय हो, जय हो, हे भद्र, जय हो, जय हो ! हे जगत् को आनन्द देने वाले ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम नहीं जीती हुई पाँच इन्द्रियों को जीतो और जीते हुए (प्राप्त किये) साधुधर्म का पालन करो । हे देव ! विघ्नों को जीत कर सिद्धि में निवास करो । धैर्यपूर्वक कमर कस कर, तप के द्वारा राग-द्वेष रूपी मल्लों का हनन करो । प्रमादरहित होकर उत्तम शुक्ल ध्यान के द्वारा आठ कर्म रूपी शत्रुओं का मर्दन करो । अज्ञानान्धकार से रहित सर्वोत्तम केवल ज्ञान को प्राप्त करो । परीषह रूपी सेना का हनन करके, परीषहों और उपसर्गों से निर्भय होकर शाश्वत एवं अचल परमपद रूप मोक्ष को प्राप्त करो । तुम्हारे धर्मसाधन में विघ्न न हो । इस प्रकार कह कर वे पुनः पुनः मंगलमय 'जयजय' शब्द का प्रयोग करने लगे ।

---

१. औप. ६४-६८, २. प्र. अ. १८.

१५५ तए णं से मेहे कुमारे रायगिहस्स नगरस्स मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ। निग्गच्छित्ता जेणेव गुणसिलए चेइए तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ पच्चोरुहइ।

तत्पश्चात् मेघकुमार राजगृह के बीचों बीच होकर निकला। निकल कर जहाँ गुणशील चैत्य था, वहाँ आया। आकर पुरुषसहस्रवाहिनी पालकी से नीचे उतरा।

१५६ तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो मेहं कुमारं पुरओ कट्टु जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेन्ति। करित्ता वंदंति, नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी:—

'एस णं देवाणुप्पिया! मेहे कुमारे अम्हं एके पुत्ते इट्ठे कंते जाव पिये मणुण्णे मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे रयणे रयणभूए जीवियऊसासए हिययणंदिजणए उंबरपुप्फमिव दुल्लहे सवणयाए किमंग पुण दरिसणयाए? से जहानामए उप्पलेइ वा, पउमेइ वा, कुमुदेइ वा, पंके जाए जले संवड्ढिए नोवलिप्पइ पंकरएणं, णोवलिप्पइ जलरएणं, एवामेव मेहे कुमारे कामेसु जाए भोगेसु संवुड्ढे, नोवलिप्पइ कामरएणं, नोवलिप्पइ भोगरएणं, एस णं देवाणुप्पिया! संसार-भउव्विग्गे, भीए जम्मणजरमरणाणं, इच्छइ देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। अम्हे णं देवाणुप्पियाणं सिस्सभिक्खं दलयामो। पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया! सिस्सभिक्खं।

तत्पश्चात् मेघकुमार के माता-पिता मेघकुमार को आगे करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आते हैं। आकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन वार दक्षिण तरफ से आरंभ करके प्रदक्षिणा करते हैं। करके वन्दन करते है, नमस्कार करते हैं। वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहते हैं—

हे देवानुप्रिय! यह मेघकुमार हमारा इकलौता पुत्र है। यह हमें इष्ट है, कान्त है, प्रिय, मनोज्ञ, मणाम—विश्वासपात्र, सम्मत, वहुमत, अनुमत, आभूषणों के पिटारे के समान, रत्न, रत्न जैसा, प्राणों के समान और उच्छ्वास के समान है। हृदय को आनन्द प्रदान करने वाला है। गूलर के पुष्प के समान इसका नाम श्रवण करना भी दुर्लभ है तो दर्शन की बात ही क्या है? जैसे उत्पल (नील कमल), पद्म (सूर्य विकासी कमल) अथवा कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) कीच में उत्पन्न होता है और जल में वृद्धि पाता है, फिर भी पंक की रज से अथवा जल की रज (कण) से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार मेघकुमार कामों में उत्पन्न हुआ और भोगों में वृद्धि पाया है, फिर भी काम-रज से लिप्त नहीं हुआ, भोगरज से लिप्त नहीं हुआ। हे देवानुप्रिय! यह मेघकुमार संसार के भय से उद्विग्न हुआ है और जन्म जरा मरण से भयभीत हुआ है। अतः देवानुप्रिय (आप) के समीप मुंडित होकर, गृहत्याग करके साधुत्व की प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता है। हम देवानुप्रिय को शिष्यभिक्षा देते हैं। हे देवानुप्रिय! आप शिष्यभिक्षा अंगीकार कीजिए।

१५७ तए णं से समणे भगवं महावीरे मेहस्स कुमारस्स अम्मापिऊहिं एवं वुत्ते समाणे एयमट्ठं सम्मं पडिसुणेइ।

तए णं से मेहे कुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमइ। अवक्कमित्ता सयमेव आभरण-मल्लालंकारं ओमुयइ।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने मेघकुमार के माता-पिता द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर इस अर्थ (बात) को सम्यक् प्रकार से स्वीकार किया।

तत्पश्चात् मेघकुमार श्रमण भगवान् महावीर के पास से उत्तरपूर्व अर्थात् ईशान दिशा के भाग में गया। जाकर स्वयं ही आभूषण, माला और अलंकार (वस्त्र) उतार डाले।

१५८ तए णं से मेहकुमारस्स माया हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरण-मल्लालंकारं पडिच्छइ। पडिच्छित्ता हार-वारिधार-सिंदुवार-छिन्नमुत्तावलिपगासाइं अंसूणि विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी रोयमाणी रोयमाणी कंदमाणी कंदमाणी विलवमाणी विलवमाणी एवं वयासी:—

'जइयव्वं जाया! घडियव्वं जाया! परक्कमियव्वं जाया! अस्सिं च णं अट्ठे नो पमाएयव्वं। अम्हं पि णं एसेव मग्गे भवउ' त्ति कट्टु मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

तत्पश्चात् मेघकुमार की माता ने हंस के लक्षण वाले अर्थात् धवल और मृदुल वस्त्र में आभूषण, माल्य और अलंकार ग्रहण किये। ग्रहण करके हार, जल की धारा, निर्गुंडी के पुष्प और टूटे हुए मुक्तावली-हार के समान अश्रु टपकाती हुई, रोती-रोती, आक्रन्दन करती-करती और विलाप करती-करती इस प्रकार कहने लगी—

'हे लाल! प्राप्त चारित्रयोग में यतना करना, हे पुत्र! अप्राप्त चारित्रयोग के लिए घटना करना—प्राप्त करने का यत्न करना, हे पुत्र! पराक्रम करना। संयम—साधना में प्रमाद न करना, हमारे लिए भी यही मार्ग हो, अर्थात् भविष्य में हमें भी संयम अंगीकार करने का सुयोग प्राप्त हो।'

इस प्रकार कह कर मेघकुमार के माता-पिता ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन नमस्कार किया। वन्दन नमस्कार करके जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में लौट गये।

प्रव्रज्याग्रहण

१५९ तए णं से मेहे कुमारे सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ। करित्ता जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

'आलित्ते णं भंते! लोए, पलित्ते णं भंते! लोए, आलित्तपलित्ते णं भंते! लोए जराए मरणेण य। से जहानामए केई गाहावई आगारंसि झियायमाणंसि जे तत्थ भंडे भवइ अप्पभारे मोल्लगुरुए, तं गहाय आयाए एगंतं अवक्कमइ,-एस मे णित्थारिए समाणे पच्छा पुरा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ। एवामेव मम वि एगे आयाभंडे इट्ठे कंते पिए मणुन्ने मणामे, एस मे णित्थारिए समाणे संसारवोच्छेयकरे भविस्सइ। तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाहिं सयमेव पव्वावियं, सयमेव मुंडावियं, सेहावियं, सिक्खावियं, सयमेव आयार-गोयर-विणय-वेणइय-चरण-करण-जाया-मायावत्तियं धम्ममाइक्खियं।'

तत्पश्चात् मेघकुमार ने स्वयं ही पंचमुष्टि लोच किया। लोच करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आया। आकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन वार दाहिनी ओर से आरम्भ करके प्रदक्षिणा की। फिर वन्दन-नमस्कार किया और कहा—

भगवन् ! यह संसार जरा और मरण से (जरा-मरण रूप अग्नि से) आदीप्त है, यह संसार प्रदीप्त है। हे भगवन् ! यह संसार आदीप्त-प्रदीप्त है। जैसे कोई गाथापति अपने घर में आग लग जाने पर, उस घर में जो अल्प भार वाली और बहुमूल्य वस्तु होती है उसे ग्रहण करके स्वयं एकान्त में चला जाता है। वह सोचता है कि—'अग्नि में जलने से बचाया हुआ यह पदार्थ मेरे लिए आगे-पीछे हित के लिए, सुख के लिए, क्षमा (समर्थता) के लिए, कल्याण के लिए और भविष्य में उपयोग के लिए होगा। इसी प्रकार मेरा भी यह एक आत्मा रूपी भांड (वस्तु) है, जो मुझे इष्ट है, कान्त है, प्रिय है, मनोज्ञ है और अतिशय मनोहर है। इस आत्मा को मैं निकाल लूंगा—जरा मरण की अग्नि में भस्म होने से बचा लूंगा, तो यह संसार का उच्छेद करने वाला होगा। अतएव मैं चाहता हूँ कि देवानुप्रिय (आप) स्वयं ही मुझे प्रव्रजित करें—मुनिवेष प्रदान करें, स्वयं ही मुझे मुंडित करें-मेरा लोच करें, स्वयं ही प्रतिलेखन आदि सिखावें, स्वयं ही सूत्र और अर्थ प्रदान करके शिक्षा दें, स्वयं ही ज्ञानादिक आचार, गोचरी, विनय, वैनयिक (विनय का फल), चरणसत्तरी, करणसत्तरी, संयम-यात्रा और मात्रा (भोजन का परिमाण) आदि स्वरूप वाले धर्म का प्ररूपण करें।

विवेचन—मूलपाठ में आए चरणसत्तरी और करणसत्तरी का तात्पर्य है चरण के सत्तर भेद और करण के सत्तर भेद। साधु जिन नियमों का निरन्तर सेवन करते हैं, उनको चरण या चरणगुण कहते हैं और प्रयोजन होने पर जिनका सेवन किया जाता है वे करण या करणगुण कहलाते हैं। चरण के सत्तर भेद इस प्रकार हैं—

वय-समणधम्म-संजम-वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइतियं तव-कोहनिग्गहाइ चरणमेयं॥

—ओघनिर्युक्तिभाष्य, गाथा २.

अर्थात् पाँच महाव्रत, दस प्रकार का क्षमा आदि श्रमणधर्म, सत्तरह प्रकार का संयम, आचार्य आदि का दस प्रकार का वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्यगुप्तियाँ तीन ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना, बारह प्रकार का तप, चार प्रकार का कषायनिग्रह।

करण के सत्तर भेद इस प्रकार हैं—

पिंडविसोही समिई, भावण-पडिमा य इंदियनिरोहो।
पडिलेहण-गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु॥

—ओघनिर्युक्तिभाष्य, गाथा ३.

आहार, वस्त्र, पात्र और शय्या (उपाश्रय) की विशुद्ध गवेषणा, पाँच समितियाँ, अनित्यता आदि बारह भावना, बारह प्रतिमाएँ, पाँच इन्द्रियनिग्रह, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ और चार प्रकार के अभिग्रह।

१६० तए णं समणे भगवं महावीरे सयमेव पव्वावेइ, सयमेव आयार जाव धम्ममाइक्खइ—'एवं देवाणुप्पिया ! गंतव्वं चिट्ठियव्वं णिसीयव्वं तुयट्टियव्वं भुंजियव्वं भासियव्वं, एवं उट्ठाए उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे णो पमाएयव्वं।'

तए णं से मेहे कुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए इमं एयारूवं धम्मियं उवएसं

णिसम्म सम्मं पडिवज्जइ। तमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, जाव उट्ठाए उठ्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमइ।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने मेघकुमार को स्वयं ही प्रव्रज्या प्रदान की और स्वयं ही यावत् आचार-गोचर आदि धर्म की शिक्षा दी। वह इस प्रकार—हे देवानुप्रिय! इस प्रकार—पृथ्वी पर युग मात्र दृष्टि रखकर चलना चाहिए, इस प्रकार—निर्जीव भूमि पर खड़ा होना चाहिए, इस प्रकार—भूमि को प्रमार्जन करके बैठना चाहिए, इस प्रकार—सामायिक का उच्चारण करके शरीर की प्रमार्जना करके शयन करना चाहिए, इस प्रकार—वेदना आदि कारणों से निर्दोष आहार करना चाहिए, इस प्रकार—हित मित और मधुर भाषण करना चाहिए। इस प्रकार—अप्रमत्त एवं सावधान होकर प्राण (विकलेन्द्रिय), भूत (वनस्पतिकाय), जीव (पंचेन्द्रिय) और सत्त्व (शेष एकेन्द्रिय) की रक्षा करके संयम का पालन करना चाहिए। इस विषय में तनिक भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

तत्पश्चात् मेघकुमार ने श्रमण भगवान् महावीर के निकट इस प्रकार का धर्म सम्बन्धी यह उपदेश सुनकर और हृदय में धारण करके सम्यक् प्रकार से उसे अंगीकार किया। वह भगवान् की आज्ञा के अनुसार गमन करता, उसी प्रकार बैठता यावत् उठ-उठ कर अर्थात् प्रमाद और निद्रा त्याग करके प्राणों भूतों, जीवों और सत्त्वों की यतना करके संयम का आराधन करने लगा।

मेघकुमार का उद्वेग

१६१ जं दिवसं च णं मेहे कुमारे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, तस्स णं दिवसस्स पच्चावरण्हकालसमयंसि समणाणं निग्गंथाणं अहाराइणियाए सेज्जासंथारएसु विभज्ज-माणेसु मेहकुमारस्स दारमूले सेज्जासंथारए जाए यावि होत्था।

तए णं समणा निग्गंथा पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्माणु-जोगचिंताए य उच्चारस्स य पासवणस्स य अइगच्छमाणा य निग्गच्छमाणा य अप्पेगइया मेहं कुमारं हत्थेहिं संघट्टेंति, एवं पाएहिं, सीसे पोट्टे कायंसि, अप्पेगइया ओलंडेन्ति, अप्पेगइया पोलंडेन्ति, अप्पेगइया पायरयरेणुगुंडियं करेन्ति। एवं महालियं च णं रयणिं मेहे कुमारे णो संचाएइ खणमवि अच्छिं निमीलित्तए।

जिस दिन मेघकुमार ने मुंडित होकर गृहवास त्याग कर चारित्र अंगीकार किया, उसी दिन के सन्ध्याकाल में, रात्निक क्रम से अर्थात् दीक्षापर्याय के अनुक्रम से, श्रमण निर्ग्रन्थों के शय्या—संस्तारकों का विभाजन करते समय, मेघकुमार का शय्या—संस्तारक द्वार के समीप हुआ।

तत्पश्चात् श्रमण निर्ग्रन्थ अर्थात् अन्य मुनि रात्रि के पहले और पिछले समय में वाचना के लिए, पृच्छना के लिए, परावर्तन (श्रुत की आवृत्ति) के लिए, धर्म के व्याख्यान का चिन्तन करने के लिए, उच्चार (बड़ी नीति) के लिए एवं प्रस्रवण (लघुनीति) के लिए प्रवेश करते थे और बाहर निकलते थे। उनमें से किसी-किसी साधु के हाथ का मेघकुमार के साथ संघट्टन हुआ, इसी प्रकार किसी के पैर की, मस्तक से और किसी के पैर की पेट से टक्कर हुई। कोई-कोई मेघकुमार को लांघ कर निकले और किसी किसी ने दो-तीन बार लांघा। किसी-किसी ने अपने पैरों की रज से उसे भर दिया या पैरों के वेग से उड़ी हुई रज से वह भर गया। इस प्रकार लम्बी रात्रि में मेघकुमार क्षण भर भी आंख न बन्द कर सका।

१६२ तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव [चिंतिए पत्थिए मणोगते संकप्पे] समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अहं सेणियस्स रन्नो पुत्ते, धारिणीएं देवीए अत्तए मेहे जाव[1] सवणयाए, तं जया णं अहं अगारमज्झे वसामि, तया णं मम समणा निग्गंथा आढायंति, परिजाणंति, सक्कारेंति, संमाणेंति, अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं आइक्खंति, इट्ठाहिं कंताहिं वग्गूहिं आलवेन्ति, संलवेन्ति, जप्पभिइं च णं अहं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, तप्पभिइं च णं मम समणा नो आढायंति जाव नो संलवन्ति। अदुत्तरं च णं मम समणा निग्गंथा राओ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि वायणाए पुच्छणाए जाव[2] महालियं च णं रत्ति नो संचाएमि अच्छि निमिलावेत्तए। तं सेयं खलु मज्झं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव[3] तेयसा जलंते समणं भगवं महावीरं आपुच्छित्ता पुणरवि अगारमज्झे वसित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ। संपेहित्ता अट्टदुहट्टवसट्ट-माणसगए णिरयपडिरूवियं च णं तं रयणि खवेइ, खवित्ता कल्लं पाउप्पभायाए सुविमलाए रयणीए[4] जाव तेयसा जलंते जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करित्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जाव[5] पज्जुवासइ।

तब मेघकुमार के मन में इस प्रकार का अध्यवसाय [चिन्तन, प्रार्थित एवं मानसिक संकल्प] उत्पन्न हुआ—मैं श्रेणिक राजा का पुत्र और धारिणी देवी का आत्मज (उदरजात) मेघकुमार हूँ। यावत् [इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ मणाम हूँ, मेरा दर्शन तो दूर] गूलर के पुष्प के समान मेरा नाम श्रवण करना भी दुर्लभ है। जब मैं घर में रहता था, तब श्रमण, निर्ग्रन्थ मेरा आदर करते थे, 'यह कुमार ऐसा है' इस प्रकार जानते थे, सत्कार-सन्मान करते थे, जीवादि पदार्थों को, उन्हें सिद्ध करने वाले हेतुओं को, प्रश्नों को, कारणों को और व्याकरणों (प्रश्न के उत्तरों) को कहते थे और वार-वार कहते थे। इष्ट और मनोहर वाणी से मेरे साथ आलाप-संलाप करते थे। किन्तु जब से मैंने मुंडित होकर, गृहवास से निकलकर साधु-दीक्षा अंगीकार की है, तब से लेकर साधु मेरा आदर नहीं करते, यावत् आलाप-संलाप नहीं करते। तिस पर भी वे श्रमण निर्ग्रन्थ पहली और पिछली रात्रि के समय वाचना पृच्छना आदि के लिए जाते-आते मेरे संस्तारक को लांघते हैं और मैं इतनी लम्बी रात भर में आँख भी न मीच सका। अतएव कल रात्रि के प्रभात रूप होने पर यावत् तेज से जाज्वल्यमान होने पर (सूर्योदय के पश्चात्) श्रमण भगवान् महावीर से आज्ञा लेकर पुनः गृहवास में वसना ही मेरे लिए अच्छा है।' मेघकुमार ने ऐसा विचार किया। विचार करके आर्त्त ध्यान के कारण दुःख से पीडित और विकल्प-युक्त मानस को प्राप्त होकर मेघकुमार ने वह रात्रि नरक की भांति व्यतीत की। रात्रि व्यतीत करके प्रभात होने पर, सूर्य के तेज से जाज्वल्यमान होने पर, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आया। आकर तीन वार आदक्षिण प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके भगवान् को वन्दन किया, नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके यावत् (न बहुत निकट, न बहुत दूर-समुचित स्थान पर स्थित होकर विनय-पूर्वक) भगवान् की पर्युपासना करने लगा।

विवेचन—साधु-संस्था साम्यवाद की सजीव प्रतीक है। उसमें गृहस्थावस्था की सम्पन्नता-असम्पन्नता के आधार पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं होता। आगमों में उल्लेख मिलता है कि चक्रवर्त्ती सम्राट् के दास का भी दास यदि पहले दीक्षित हो चुका है और उसके पश्चात् स्वयं चक्रवर्त्ती दीक्षित होता है तो वह उस पर्यायज्येष्ठ पूर्वावस्था के दास के दास को भी उसी प्रकार

१. प्र. अ. सूत्र १५६. २. प्र. अ. सूत्र १६१, ३-४ प्र. अ. सूत्र २८, ५. प्र. अ. सूत्र ११३,

वन्दन-नमस्कार करता है जैसे अन्य ज्येष्ठ मुनियों को। इस प्रकार साधु की दृष्टि में भौतिक सम्पत्ति का मूल्य नहीं होता, केवल आत्मिक वैभव—रत्नत्रय का ही महत्त्व होता है। इसी नीति के अनुसार मेघ मुनि को सोने के लिए स्थान दिया गया था।

१६३ तए णं 'मेहा' इ समणे भगवं महावीरे मेहं कुमारं एवं वयासी—'से णूणं तुमं मेहा! राम्रो पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि समणेहिं निग्गंथेहिं वायणाए पुच्छणाए जाव[1] महालियं च णं राइं णो संचाएमि मुहुत्तमवि अच्छि निमिलावेत्तए' तए णं तुब्भं मेहा! इमे एयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था—'जया णं अहं अगारमज्झे वसामि तया णं मम समणा निग्गंथा आढायंति जाव[2] परियाणंति, जप्पभिइं च णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयामि, तप्पभिइं च णं मम समणा णो आढायंति, जाव[3] नो परियाणंति। अदुत्तरं च णं समणा निग्गंथा राओ अप्पेगइया वायणाए जाव पाय-रय-गुंडियं करेन्ति। तं सेयं खलु मम कल्लं पाउप्पभायाए समणं भगवं महावीरं आपुच्छित्ता पुणरवि आगारमज्झे आवसित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेसि। संपेहित्ता अट्टदुहट्टवसट्ट-माणसे जाव णिरयपडिरूवियं च णं तं रयणिं खवेसि। खवित्ता जेणामेव अहं तेणामेव हव्वमागए। से नूणं मेहा! एस अट्ठे समट्ठे?'

'हंता अट्ठे समट्ठे।'

तत्पश्चात् 'हे मेघ' इस प्रकार सम्बोधन करके श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने मेघकुमार से इस प्रकार कहा—'हे मेघ! तुम रात्रि के पहले और पिछले काल के अवसर पर, श्रमण निर्ग्रन्थों के वाचना पृच्छना आदि के लिए आवागमन करने के कारण, लम्बी रात्रि पर्यन्त थोड़ी देर के लिए भी आँख नहीं मीच सके। मेघ! तव तुम्हारे मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—जब मैं गृहवास में निवास करता था, तव श्रमण निर्ग्रन्थ मेरा आदर करते थे यावत् मुझे जानते थे; परन्तु जव से मैंने मुंडित होकर, गृहवास से निकल कर साधुता की दीक्षा ली है, तव से श्रमण निर्ग्रन्थ न मेरा आदर करते हैं, न मुझे जानते हैं। इसके अतिरिक्त श्रमण रात्रि में कोई वाचना के लिए यावत् (पृच्छना आदि के लिए) जाते-आते मेरे विस्तर को लांघते हैं यावत् मुझे पैरों की रज से भरते हैं। अतएव मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि कल प्रभात होने पर श्रमण भगवान् महावीर से पूछ कर मैं पुनः गृहवास में वसने लगूं।' तुमने इस प्रकार विचार किया है। विचार करके आर्त्तध्यान के कारण दुःख से पीडित एवं संकल्प—विकल्प से युक्त मानस वाले होकर नरक की तरह (वेदना में) रात्रि व्यतीत की है। रात्रि व्यतीत करके शीघ्रतापूर्वक मेरे पास आए हो। हे मेघ! यह अर्थ समर्थ है—मेरा यह कथन सत्य है?

मेघकुमार ने उत्तर दिया—जी हाँ, यह अर्थ समर्थ है—प्रभो! आपका कथन यथार्थ है।

प्रतिबोध: पूर्वभवकथन

१६४ एवं खलु मेहा! तुमं इओ तच्चे अईए भवग्गहणे वेयड्ढगिरिपायमूले वणयरेहिं णिव्वत्तियणामधेज्जे सेए संखदलउज्जल-विमल-निम्मल-दहिघण-गोखीरफेण-रयणियर (दगरय-रययणियर) प्पयासे सत्तुस्सेहे णवायए दसपरिणाहे सत्तंगपइट्ठिए सोमे समिए सुरूवे पुरतो उदग्गे समूसियसिरे सुहासणे पिट्ठओ वराहे अइयाकुच्छी अलंबकुच्छी पलंबलंबोदराहरकरे धणुपट्ठागिइ-

१. प्र. अ. सूत्र १६१ २-३ प्र. अ. सूत्र १६१,

विसिट्ठपुट्ठे अल्लीण-पमाणजुत्त-वट्टिया-पीवर-गत्तावरे अल्लीण-पमाणजुत्तपुच्छे पडिपुन्न-सुचारु-कुम्मचलणे पंडुर-सुविसुद्ध-निद्ध-णिरुवहय-विसतिनहे छद्दंते सुमेरुप्पभे नामं हत्थिराया होत्था।

भगवान् बोले—हे मेघ ! इससे पहले अतीत तीसरे भव में वैताढ्य पर्वत के पादमूल में (तलहटी में) तुम गजराज थे। वनचरों ने तुम्हारा नाम 'सुमेरुप्रभ' रक्खा था। उस सुमेरुप्रभ का वर्ण श्वेत था। संख के दल (चूर्ण) के समान उज्ज्वल, विमल, निर्मल, दही के थक्के के समान, गाय के दूध के फेन के समान (या गाय के दूध और समुद्र के फेन के समान) और चन्द्रमा के समान (या जलकण और चाँदी के समूह के समान) रूप था। वह सात हाथ ऊँचा और नौ हाथ लम्बा था। मध्यभाग दस हाथ के परिमाण वाला था। चार पैर, सूंड, पूंछ और जननेन्द्रिय—यह सात अंग प्रतिष्ठित अर्थात् भूमि को स्पर्श करते थे। सौम्य, प्रमाणोपेत अंगों वाला, सुन्दर रूप वाला, आगे से ऊँचा, ऊँचे मस्तक वाला, शुभ या सुखद आसन (स्कन्ध आदि) वाला था। उसका पिछला भाग वराह (शूकर) के समान नीचे झुका हुआ था। इसकी कूंख बकरी की कूंख जैसी थी और वह छिद्रहीन थी—उसमें गड़हा नहीं पड़ा था तथा लम्बी नहीं थी। वह लम्बे उदर वाला, लम्बे होठ वाला और लम्बी सूंड वाला था। उसकी पीठ खींचे हुए धनुष के पृष्ठ जैसी आकृति वाली थी। उसके अन्य अवयव भली भांति मिले हुए, प्रमाणयुक्त, गोल एवं पुष्ट थे। पूंछ चिपकी हुई तथा प्रमाणोपेत थी। पैर कछुए जैसे परिपूर्ण और मनोहर थे। बीसों नाखून श्वेत, निर्मल, चिकने और निरुपहत थे। छह दाँत थे।

१६५ तत्थ णं तुमं मेहा ! बहूहिं हत्थीहि य हत्थिणीहि य लोट्टएहि य लोट्टियाहि य कलभेहि य कलभियाहि य सद्धिं संपरिवुडे हत्थिसहस्सणायए देसए पागट्ठी पट्ठवए जूहवई वंदपरिवड्ढए अन्नेसिं च बहूणं एकल्लाणं हत्थिकलभाणं आहेवच्चं जाव पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसर-सेणावच्चं कारेमाणो पालेमाणे विहरसि।

हे मेघ ! वहाँ तुम बहुत से हाथियों, हथनियों लोट्टकों (कुमार अवस्था वाले हाथियों), लोट्टिकाओं, कलभों (हाथी के बच्चों) और कलभिकाओं से परिवृत होकर एक हजार हाथियों के नायक, मार्गदर्शक, अगुवा, प्रस्थापक (काम में लगाने वाले) यूथपति और यूथ की वृद्धि करने वाले थे। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-से अकेले हाथी के बच्चों का आधिपत्य करते हुए स्वामित्व, नेतृत्व करते हुए एवं उनका पालन-रक्षण करते हुए विचरण कर रहे थे।

१६६ तए णं तुमं मेहा ! णिच्चप्पमत्ते सइं पललिए कंदप्परई मोहणसीले अवितण्हे कामभोगतिसिए बहूहिं हत्थीहि य जाव संपरिवुडे वेयड्ढगिरिपायमूले गिरीसु य, दरीसु य, कुहरेसु य, कंदरासु य, उज्झरेसु य, निज्झरेसु य, वियरएसु य, गड्डासु य, पल्ललेसु य, चिल्ललेसु य, कडएसु य, कडयपल्ललेसु य, तडीसु य, वियडीसु य, टंकेसु य, कूडेसु य, सिहरेसु य, पब्भारेसु य, मंचेसु य, मालेसु य, काणणेसु य, वणेसु य, वणसंडेसु य, वणराईसु य, नदीसु य, नदीकच्छेसु य, जूहेसु य, संगमेसु य, वावीसु य, पोक्खरिणीसु य, दीहियासु य, गुंजालियासु य, सरेसु य, सरपंतियासु य, सरसरपंतियासु य, वणयरेहिं दिन्नवियारे बहूहिं हत्थीहि य जाव सद्धिं संपरिवुडे बहुविहतरुपल्लव-पउरपाणिय-तणे निब्भए निरुव्विग्गे सुहंसुहेणं विहरसि।

हे मेघ ! तुम निरन्तर मस्त, सदा क्रीडापरायण, कंदर्परति-क्रीडा करने में प्रीति वाले,

मैथुनप्रिय, कामभोग से अतृप्त और कामभोग की तृष्णा वाले थे। बहुत-से हाथियों वगैरह से परिवृत होकर वैताढ्य पर्वत के पादमूल में, पर्वतों में, दरियों (विशेष प्रकार की गुफाओं) में, कुहरों (पर्वतों के अन्तरों) में, कंदराओं में, उज्झरों (प्रपातों) में, झरनों में, विदरों (नहरों) में, गड्‌हों में, पल्वलों (तलैयों) में, चिल्ललों (कीचड़ वाली तलैयों) में, कटक (पर्वतों के तटों) में, कटपल्लवों (पर्वत की समीपवर्त्ती तलैयों) में, तटों में, अटवी में, टंकों (विशेष प्रकार के पर्वतों) में, कूटों (नीचे चौड़े और ऊपर सँकड़े पर्वतों) में, पर्वत के शिखरों पर, प्राग्भारों (कुछ झुके हुए पर्वतों के भागों) में, मंचों (नदी आदि को पार करने के लिए पाटा डाल कर बनाए हुए कच्चे पुलों) पर, काननों में, वनों (एक जाति के वृक्षों वाले बगीचों) में, वनखंडों (अनेक जातीय वृक्षों वाले प्रदेशों) में, वनों की श्रेणियों में, नदियों में, नदीकक्षों (नदी के समीपवर्त्ती वनों) में, यूथों (वानर आदिकों के निवास स्थानों) में, नदियों के संगमस्थलों में, वापियों (चौकोर बावड़ियों) में, पुष्करणियों (गोल या कमलों वाली बावड़ियों) में, दीर्घिकाओं (लम्बी बावड़ियों) में, गुंजालिकाओं (वक्र बावड़ियों) में, सरोवरों में, सरोवरों की पंक्तियों में, सरः-सर पंक्तियों (जहाँ एक सर से दूसरे सर में पानी जाने का मार्ग बना हो ऐसे सरों की पंक्तियों) में, वनचरों द्वारा तुम्हें विचार (विचरण करने की छूट) दी गई थी। ऐसे तुम बहुसंख्यक हाथियों आदि के साथ, नाना प्रकार के तरुपल्लवों, पानी और घास का उपभोग करते हुए निर्भय, और उद्वेगरहित होकर सुख के साथ विचरते थे—रहते थे।

१६७ तए ण तुमं मेहा ! अन्नया कयाई पाउस-वरिसारत्त-सरय-हेमंत-वसंतेसु कमेण पंचसु उऊसु समइक्कंतेसु, गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलमासे, पायवघंससमुट्ठिएणं सुक्कतण-पत्त-कयवर-मारुत-संजोगदीविएणं महाभयंकरेणं हुयवहेणं वणदवजालासंपलित्तेसु वणंतेसु, धूमाउलासु दिसासु, महावायवेगेणं संघट्टिएसु, छिन्नजालेसु आवयमाणेसु, पोल्लरुक्खेसु अंतो अंतो झियायमाणेसु, मयकुहियविणिविट्ठकिमियकद्दमनदीवियरगजिण्णपाणीयंतेसु वणतेसु भिंगारक-दीण-कंदिय-रवेसु, खर-फरुस-अणिट्ठ-रिट्ठवाहित-विद्दुमग्गेसु दुमेसु, तण्हावस-मुक्क-पक्ख-पयडियजिब्भ-तालुयअसंपुडिततुंड-पक्खिसंघेसु ससंतेसु, गिम्ह-उम्ह-उण्हवाय-खरफरुसचंडमारुय--सुक्कतण-पत्तकयवरवाउलि-भमंतदित्त-संभंतसावयाउल-मिगतण्हाबद्धचिण्हपट्टेसु गिरिवरेसु, संवट्टिएसु तत्थ-मिय-पसव-सिरीसवेसु, अवदा-लियवयणविवरणिल्लालियग्गजीहे, महंततुंबइयपुन्नकन्ने, संकुचियथोर-पीवरकरे, ऊसियलंगूले, पीणा-इयविरसरडियसद्देणं फोडयंतेव अंबरतलं, पायदद्दरएणं कंपयंतेव मेइणितलं, विणिम्मुयमाणे य सीयारं, सव्वओ समंता वल्लिवियाणाइं छिंदमाणे, रुक्खसहस्साइं तत्थ सुबहूणि णोल्लायंते, विणट्ठरट्ठे व्व णरवरिन्दे, वायाइद्धे व्व पोए, मंडलवाए व्व परिब्भमंते, अभिक्खणं अभिक्खणं लिंडणियरं पमुंचमाणे पमुंचमाणे, बहूहिं हत्थीहि य जाव[1] सद्धिं दिसोदिसिं विप्पलाइत्था।

तत्पश्चात् एक बार कदाचित् प्रावृट्, वर्षा, शरद, हेमन्त और वसन्त, इन पाँच ऋतुओं के क्रमशः व्यतीत हो जाने पर ग्रीष्म ऋतु का समय आया। तब ज्येष्ठ मास में, वृक्षों की आपस की रगड़ से उत्पन्न हुई तथा सूखे घास, पत्तों और कचरे से एवं वायु के वेग से प्रदीप्त हुई अत्यन्त भयानक अग्नि से उत्पन्न वन के दावानल की ज्वालाओं से वन का मध्य भाग सुलग उठा। दिशाएँ धुएँ से व्याप्त हो गईं। प्रचण्ड वायु-वेग से अग्नि की ज्वालाएँ टूट जाने लगीं और चारों ओर गिरने लगीं। पोले वृक्ष भीतर ही भीतर जलने लगे। वन-प्रदेशों के नदी-नालों का जल मृत मृगादिक के शवों से

१. प्र. अ. १६५

सड़ने लगा, खराब हो गया। उनका कीचड़ कीड़ों से व्याप्त हो गया। उनके किनारों का पानी सूख गया। भृंगारक पक्षी दीनता पूर्वक आक्रन्दन करने लगे। उत्तम वृक्षों पर स्थित काक अत्यन्त कठोर और अनिष्ट शब्द कांव-कांव करने लगे। उन वृक्षों के अग्रभाग अग्निकणों के कारण मूंगे के समान लाल दिखाई देने लगे। पक्षियों के समूह प्यास से पीडित होकर पंख ढ़ीले करके, जिह्वा एवं तालु को बाहर निकाल करके तथा मुँह फाड़कर सांसें लेने लगे। ग्रीष्मकाल की उष्णता, सूर्य के ताप, अत्यन्त कठोर एवं प्रचंड वायु तथा सूखे घास के पत्तों और कचरे से युक्त ववंडर के कारण भाग-दौड़ करने वाले, मदोन्मत्त एवं घबराए सिंह आदि श्वापदों के कारण पर्वत आकुल-व्याकुल हो उठे। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो उन पर्वतों पर मृगतृष्णा रूप पट्टबंध बँधा हो। त्रास को प्राप्त मृग, अन्य पशु और सरीसृप इधर-उधर तड़फने लगे।

इस भयानक अवसर पर, हे मेघ! तुम्हारा अर्थात् तुम्हारे पूर्वभव के सुमेरुप्रभ नामक हाथी का मुख-विवर फट गया। जिह्वा का अग्रभग बाहर निकल आया। बड़े-बड़े दोनों कान भय से स्तब्ध और व्याकुलता के कारण शब्द ग्रहण करने में तत्पर हुए। वड़ी और मोटी सूंड सिकुड़ गई। उसने पूंछ ऊँची करली। पीना (मड्डा) के समान विरस अर्राटे के शब्द-चीत्कार से वह आकाशतल को फोड़ता हुआ सा, सीत्कार करता हुआ, चहुँ ओर सर्वत्र वेलों के समूह को छेदता हुआ, त्रस्त और बहुसंख्यक सहस्रों वृक्षों को उखाड़ता हुआ, राज्य से भ्रष्ट हुए राजा के समान, वायु से डोलते हुए जहाज के समान और बवंडर (वगडूंरे) के समान इधर-उधर भ्रमण करता हुआ एवं वार-वार लींड़ी त्यागता हुआ, बहुत-से हाथियों [हथनियों, लोट्टकों, लोट्टिकाओं, कलभों तथा कलभिकाओं] के साथ दिशाओं और विदिशाओं में इधर-उधर भागदौड़ करने लगा।

१६८—तत्थ णं तुमं मेहा! जुन्ने जराजज्जरियदेहे आउरे झंझिए पिवासिए दुब्बले किलंते नट्ठसुइए मूढदिसाए सयाओ जूहाओ विप्पहूणे वणदवजालापारद्धे उण्हेण य, तण्हाए य, छुहाए य परब्भाहए समाणे भीए तत्थे तसिए उव्विग्गे संजायभए सव्वओ समंता आधावमाणे परिधावमाणे एगं च णं महं सरं अप्पोदयं पंकबहुलं अतित्थेणं पणियपाए उइन्नो।

हे मेघ! तुम वहाँ जीर्ण, जरा से जर्जरित देह वाले, व्याकुल, भूखे, प्यासे, दुवले, थके-मांदे, वहिरे तथा दिङ्मूढ होकर अपने यूथ (झुंड)से बिछुड़ गये। वन के दावानल की ज्वालाओं से पराभूत हुए। गर्मी से, प्यास से और भूख से पीडित होकर भय से घवड़ा गए, त्रस्त हुए। तुम्हारा आनन्द-रस शुष्क हो गया। इस विपत्ति से कैसे छुटकारा पाँऊ, ऐसा विचार करके उद्विग्न हुए। तुम्हें पूरी तरह भय उत्पन्न हो गया। अतएव तुम इधर-उधर दौड़ने और खूब दौड़ने लगे। इसी समय अल्प जलवाला और कीचड़ की अधिकता वाला एक बड़ा सरोवर तुम्हें दिखाई दिया। उसमें पानी पीने के लिए बिना घाट के ही तुम उतर गये।

१६९—तत्थ णं तुमं मेहा! तीरमइगए पाणियं असंपत्ते अंतरा चेव सेयंसि विसन्ने।

तत्थ णं तुमं मेहा! पाणियं पाइस्सामि त्ति कट्टु हत्थं पसारेसि, से वि य ते हत्थे उदगं न पावेइ। तए णं तुमं मेहा! पुणरवि कायं पच्चुद्धरिस्सामि त्ति कट्टु बलियतरायं पंकंसि खुत्ते।

हे मेघ! वहाँ तुम किनारे से तो दूर चले गये, परन्तु पानी तक न पहुँच पाये और बीच ही में कीचड़ में फंस गये।

हे मेघ ! 'मैं पानी पीऊँ' ऐसा सोचकर वहाँ तुमने अपनी सूंड फैलाई, मगर तुम्हारी सूंड भी पानी न पा सकी। तब हे मेघ ! तुमने पुनः 'शरीर को कीचड़ से बाहर निकालू" ऐसा विचार कर जोर मारा तो कीचड़ में और गाड़े फँस गये।

१७०—तए णं तुमं मेहा ! अन्नया कयाइ एगे चिरनिज्जूढे गयवरजुवाणए सयाओ जूहाओ कर-चरण-दंतमुसल-प्पहारेहिं विप्परद्धे समाणे तं चेव महद्दहं पाणीयं पाएउं समोयरेइ।

तए णं से कलभए तुमं पासति, पासित्ता तं पुव्ववेरं समरइ। समरित्ता आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे जेणेव तुमं तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता तुमं तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं तिक्खुत्तो पिट्ठओ उच्छुभइ। उच्छुभित्ता पुव्ववेरं निज्जाएइ। निज्जाइत्ता हट्ठतुट्ठे पाणियं पियइ। पिइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

तत्पश्चात् हे मेघ ! एक बार कभी तुमने एक नौजवान श्रेष्ठ हाथी को सूंड, पैर और दाँत रूपी मूसलों से प्रहार करके मारा था और अपने झुंड में से बहुत समय पूर्व निकाल दिया था। वह हाथी पानी पीने के लिए उसी सरोवर में उतरा।

उस नौजवान हाथी ने तुम्हें देखा। देखते ही उसे पूर्व वैर का स्मरण हो आया। स्मरण आते ही उसमें क्रोध के चिह्न प्रकट हुए। उसका क्रोध बढ़ गया। उसने रौद्र रूप धारण किया और वह क्रोधाग्नि से जल उठा। अतएव वह तुम्हारे पास आया। आकर तीक्ष्ण दाँत रूपी मूसलों से तीन बार तुम्हारी पीठ बींध दी और बींध कर पूर्व वैर का बदला लिया। बदला लेकर हृष्ट-तुष्ट होकर पानी पीया। पानी पीकर जिस दिशा से प्रकट हुआ था—आया था, उस दिशा में वापिस लौट गया।

१७१—तए णं तव मेहा ! सरीरगंसि वेयणा पाउब्भवित्था उज्जला विउला तिउला कक्खडा जाव [पगाढा चंडा दुक्खा] दुरहियासा, पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए यावि विहरित्था।

तए णं तुमं मेहा ! तं उज्जलं जाव [विउलं कक्खडं पगाढं चंडं दुक्खं] दुरहियासं सत्तराइंदियं वेयणं वेएसि; सवीसं वाससयं परमाउं पालइत्ता अट्टवसट्टदुहट्टे कालमासे कालं किच्चा इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे गंगाए महाणदीए दाहिणे कूले विंझगिरिपायमूले एगेणं मत्तवर-गंधहत्थिणा एगाए गयवरकरेणूए कुच्छिंसि गयकलभए जणिए। तए णं सा गयकलभिया णवण्हं मासाणं वसंतमासम्मि तुमं पयाया।

तत्पश्चात् हे मेघ ! तुम्हारे शरीर में वेदना उत्पन्न हुई। वह वेदना ऐसी थी कि तुम्हें तनिक भी चैन न थी, वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त थी और त्रितुला थी (मन वचन काय की तुलना करने वाली थी, अर्थात् उस वेदना में तुम्हारे तीनों योग तन्मय हो रहे थे)। वह वेदना कठोर यावत् बहुत ही प्रचण्ड थी, दुस्सह थी। उस वेदना के कारण तुम्हारा शरीर पित्त-ज्वर से व्याप्त हो गया और शरीर में दाह उत्पन्न हो गया। उस समय तुम इस बुरी हालत में रहे।

तत्पश्चात् हे मेघ ! तुम उस उज्ज्वल-बेचैन बना देने वाली यावत् [विपुल, कर्कश, प्रगाढ. प्रचंड, दुःखमय एवं दुस्सह वेदना को सात-दिन रात पर्यन्त भोग कर, एकसौ बीस वर्ष की आयु भोगकर, आर्त्त ध्यान के वशीभूत एवं दुःख से पीडित हुए। तुम काल मास में (मृत्यु के अवसर पर) काल

करके, इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में, दक्षिणार्ध भरत में, गंगा नामक महानदी के दक्षिणी किनारे पर, विन्ध्याचल के समीप एक मदोन्मत्त श्रेष्ठ गंधहस्ती से, एक श्रेष्ठ हथिनी की कूंख में हाथी के बच्चे के रूप में उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् उस हथिनी ने नौ मास पूर्ण होने पर वसन्त मास में तुम्हें जन्म दिया।

१७२—तए णं तुमं मेहा ! गब्भवासाओ विप्पमुक्के समाणे गयकलभए यावि होत्था, रत्तुप्पलरत्तसूमालए जासुमणा-रत्तपारिजत्तय-लक्खारस-सरसकुंकुम-संझब्भरागवन्ने इट्ठे णियस्स जूहवइणो गणियायारकणेरु-कोत्थ-हत्थी अणेगहत्थिसयसंपरिवुडे रम्मेसु गिरिकाणणेसु सुहंसुहेणं विहरसि।

तत्पश्चात् हे मेघ ! तुम गर्भावास से मुक्त होकर गजकलभक (छोटे हाथी) भी हो गए। लाल कमल के समान लाल और सुकुमार हुए। जवाकुसुम, रक्त वर्ण पारिजात नामक वृक्ष के पुष्प, लाख के रस, सरस कुंकुम और सन्ध्याकालीन बादलों के रंग के समान रक्तवर्ण हुए। अपने यूथपति के प्रिय हुए। गणिकाओं जैसी युवती हथिनियों के उदर-प्रदेश में अपनी सूंड डालते हुए काम-क्रीडा में तत्पर रहने लगे। इस प्रकार सैंकड़ों हाथियों से परिवृत होकर तुम पर्वत के रमणीय काननों में सुखपूर्वक विचरने लगे।

१७३—तए णं तुमं मेहा ! उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुपत्ते जूहवइणा कालधम्मुणा संजुत्तेणं तं जूहं सयमेव पडिवज्जसि।

हे मेघ ! तुम बाल्यावस्था को पार करके यौवन को प्राप्त हुए। फिर यूथपति के कालधर्म को प्राप्त होने पर—मर जाने पर, तुम स्वयं ही उस यूथ को वहन करने लगे अर्थात् यूथपति हो गये।

१७४—तए णं तुमं मेहा ! वणयरेहिं निव्वत्तियनामधेज्जे जाव[1] चउदंते मेरुप्पभे हत्थिरयणे होत्था। तत्थ णं तुमं मेहा ! सत्तंगपइट्ठिए तहेव जाव[2] पडिरूवे। तत्थ णं तुमं मेहा सत्तसइयस्स जूहस्स आहेवच्चं जाव[3] अभिरमेत्था।

तत्पश्चात् हे मेघ ! वनचरों ने तुम्हारा नाम मेरुप्रभ रक्खा। तुम चार दाँतों वाले हस्तिरत्न हुए। हे मेघ ! तुम सात अंगों से भूमि का स्पर्श करने वाले, आदि पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त यावत् सुन्दर रूप वाले हुए। हे मेघ ! तुम वहां सात सौ हाथियों के यूथ का अधिपतित्व, स्वामित्व, नेतृत्व आदि करते हुए तथा उनका पालन करते हुए अभिरमण करने लगे।

हस्ती-भव में जातिस्मरण

१७५—तए णं तुमं अन्नया कयाइ गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूल वणदव-जालापलित्तेसु वणंतेसु सुधूमाउलासु दिसासु जाव[4] मंडलवाए व्व परिब्भमंते भीए तत्थे जाव[5] संजायभए बहूहिं हत्थीहिं य जाव कलभियाहिं य सद्धिं संपरिवुडे सव्वओ समंता दिसोदिसिं विप्पलाइत्था।

---

१. प्र. अ. सूत्र १६४ २. प्र. अ. १६४ ३. प्र. अ. १६५ ४. प्र. अ. १६७
५. प्र. अ. १६८

तए णं तव मेहा ! तं वणदवं पासित्ता अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव[1] समुप्पज्जित्था—'कहिं णं मन्ने मए अयमेयारूवे अग्गिसंभवे अणुभूयपुव्वे।' तए णं तव मेहा ! लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं, अज्झवसाणेणं सोहणेणं, सुभेणं परिणामेणं, तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं, ईहापोह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जाइसरणे समुप्पज्जित्था।

तब एक बार कभी ग्रीष्म काल के अवसर पर ज्येष्ठ मास में, वन के दावानल की ज्वालाओं से वन-प्रदेश जलने लगे। दिशाएँ धूम से व्याप्त हो गईं। उस समय तुम बवण्डर की तरह इधर-उधर भागदौड़ करने लगे। भयभीत हुए, व्याकुल हुए और बहुत डर गए। तब बहुत से हाथियों यावत् हथिनियों आदि के साथ, उनसे परिवृत होकर, चारों ओर एक दिशा से दूसरी दिशा में भागे।

हे मेघ ! उस समय उस वन के दावानल को देखकर तुम्हें इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन एवं मानसिक विचार उत्पन्न हुआ—'लगता है जैसे इस प्रकार की अग्नि की उत्पत्ति मैंने पहले भी कभी अनुभव की है।' तत्पश्चात् हे मेघ ! विशुद्ध होती हुई लेश्याओं, शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम और जातिस्मरण को आवृत करने वाले (मतिज्ञानावरण) कर्मों का क्षयोपशम होने से ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए तुम्हें संज्ञी जीवों को प्राप्त होने वाला जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ।

१७६—तए णं तुमं मेहा ! एयमट्ठं सम्मं अभिसमेसि—'एवं खलु मया अईए दोच्चे भवग्गहणे इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले जाव[2] सुहसुहेणं विहरइ, तत्थ णं मया अयमेयारूवे अग्गिसंभवे समणुभूए।' तए णं तुमं मेहा ! तस्सेव दिवसस्स पच्चावरण्हकाल-समयंसि नियएणं जूहेणं सद्धिं समन्नागए यावि होत्था। तए णं तुमं मेहा ! सत्तुस्सेहे जाव[3] सन्निजाइस्सरणे चउद्दंते मेरुप्पभे नाम हत्थी होत्था।

तत्पश्चात् मेघ ! तुमने यह अर्थ—वृत्तान्त सम्यक् प्रकार से जान लिया कि—'निश्चय ही मैं व्यतीत हुए दूसरे भव में, इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भरतक्षेत्र में, वैताढ्य पर्वत की तलहटी में सुखपूर्वक विचरता था। वहाँ इस प्रकार का महान् अग्नि का संभव-प्रादुर्भाव मैंने अनुभव किया है।' तदनन्तर हे मेघ ! तुम उस भव में उसी दिन के अन्तिम प्रहर तक अपने यूथ के साथ विचरण करते थे। हे मेघ ! उसके बाद शत्रु हाथी की मार से मृत्यु को प्राप्त होकर दूसरे भव में सात हाथ ऊँचे यावत् जातिस्मरण से युक्त, चार दाँत वाले मेरुप्रभ नामक हाथी हुए।

१७७—तए णं तुज्झं मेहा ! अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'तं सेयं खलु मम इयाणिं गंगाए महानदीए दाहिणिल्लंसि कूलंसि विंझगिरिपायमूले दवग्गिसंजायकारणट्ठा सएणं जूहेणं महालयं मंडलं घाइत्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेसि। संपेहित्ता सुहं सुहेणं विहरसि।

तत्पश्चात् हे मेघ ! तुम्हें इस प्रकार का अध्यवसाय-चिन्तन, संकल्प उत्पन्न हुआ कि—'मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि इस समय गंगा महानदी के दक्षिणी किनारे पर विन्ध्याचल की तलहटी में, दावानल से रक्षा करने के लिए अपने यूथ के साथ एक बड़ा मंडल बनाऊँ।' इस प्रकार विचार करके तुम सुखपूर्वक विचरने लगे।

---

१. प्र. अ. १६२ २. प्र. अ. १६६ ३. प्र. अ. १६४

मंडल-निर्माण

१७८—तए णं तुमं मेहा ! अन्नया पढमपाउसंसि महावुट्ठिकायंसि सन्निवइयंसि गंगाए महानदीए अदूरसामंते बहूहिं हत्थीहिं जाव[1] कलभियाहि य सत्तहि य हत्थिसएहिं संपरिवुडे एगं महं जोयणपरिमंडलं महइमहालयं मंडलं घाएसि। जं तत्थ तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा कंटए वा लया वा वल्ली वा खाणुं वा रुक्खे वा खुवे वा, तं सव्वं तिक्खुत्तो आहुणिय आहुणिय पाएण उट्ठवेसि, हत्थेणं गेण्हसि, एगंते पाडेसि।

तए णं तुमं मेहा ! तस्सेव मंडलस्स अदूरसामंते गंगाए महानईए दाहिणिल्ले कूले विंझगिरिपायमूले गिरिसु य जाव[2] विहरसि।

तत्पश्चात् हे मेघ ! तुमने एक वार कभी प्रथम वर्षाकाल में खूब वर्षा होने पर गंगा महानदी के समीप वहुत-से हाथियों यावत् हथिनियों से अर्थात् सात सौ हाथियों से परिवृत होकर एक योजन परिमित बड़े घेरे वाला विशाल मंडल वनाया। उस मंडल में जो कुछ भी घास, पत्ते, काष्ठ, कांटे, लता, वेलें, ठूंठ, वृक्ष या पौधे आदि थे, उन सवको तीन वार हिला कर पैर से उखाड़ा, सूंड से पकड़ा और एक ओर ले जाकर डाल दिया।

हे मेघ ! तत्पश्चात् तुम उसी मंडल के समीप गंगा महानदी के दक्षिणी किनारे, विन्ध्याचल के पादमूल में, पर्वत आदि पूर्वोक्त स्थानों में विचरण करने लगे।

१७९—तए णं मेहा ! अन्नया कयाइ मज्झिमए वरिसारत्तंसि महावुट्ठिकायंसि संनिवइयंसि जेणेव से मंडले तेणेव उवागच्छसि। उवागच्छित्ता दोच्चं पि मंडलं घाएसि। एवं चरिमे वासारत्तंसि महावुट्ठिकायंसि सन्निवइयमाणंसि जेणेव से मंडले तेणेव उवागच्छसि; उवागच्छित्ता तच्चं पि मंडलघायं करेसि। जं तत्थ तणं वा जाव[3] सुहसुहेणं विहरसि।

तत्पश्चात् हे मेघ ! किसी अन्य समय मध्य वर्षा ऋतु में खूब वर्षा होने पर तुम उस स्थान पर गए जहाँ मंडल था। वहाँ जाकर दूसरी वार उस मंडल को ठीक तरह साफ किया। इसी प्रकार अन्तिम वर्षा-रात्रि में भी घोर वृष्टि होने पर जहाँ मंडल था, वहाँ गए। जाकर तीसरी वार उस मंडल को साफ किया। वहाँ जो भी घास, पत्ते, काष्ठ, कांटे, लता, वेलें, ठूंठ, वृक्ष या पौधे उगे थे, उन सवको उखाड़कर सुखपूर्वक विचरण करने लगे।

१८०—अह मेहा ! तुमं गइंदभावम्मि वट्टमाणो कमेणं नलिणिवणविवहणगरे हेमंते कुंद-लोद्ध-उद्धत-तुसारपउरम्मि अइवकंते, अहिणवे गिम्हसमयंसि पत्ते, वियट्टमाणो वणेसु वणकरेणु-विविह-दिण्ण-कयपसवघाओ तुमं उउय-कुसुम कयचामर-कन्नपूर-परिमंडियाभिरामो मयवस-विगसंत-कड-तडकिलिन्न-गंधमदवारिणा सुरभिजणियगंधो करेणुपरिवारिओ उउ-समत्त-जणियसोभो काले दिणयरकरपयंडे परिसोसिय-तरुवर-सिहर-भीमतर-दंसणिज्जे भिंगाररवंतभेरवरवे णाणाविहपत्त-कट्ठ-तण-कयवरुद्धत-पइमारु-याइद्धनहयल-दुमगणे वाउलियादारुणयरे तण्हावस-दोसदूसिय-भमंत-विविह-सावय-समाउले भीमदरिसणिज्जे वट्टंते दारुणम्मि गिम्हे मारुयवसपसर-पसरियवियंभिएणं अब्भहिय-भीम-भेरव-रव-प्पगारेणं महुधारा-पडिय-सित्त-उद्धायमाण-धगधगंत-सद्दुद्धुएणं दित्ततरसफु-

---

१. प्र. अ. १६५ २. प्र. अ. १६६ ३. प्र. अ. १७८

लिंगेणं धूममालाउलेणं सावय-सयंतकरणेणं अब्भहियवणदवेणं जालालोवियनिरुद्धधूमंधकारभीओ आयवालोयमहंततुंबइयपुन्नकन्नो आकुंचियथोर-पीवरकरो भयवस-भयंतदित्तनयणो वेगेण महामेहो व्व पवणोल्लियमहल्लरूवो, जेणेव कओ ते पुरा दवग्गिभयभीयहियएणं अवगयतणप्पएसरुक्खो रुक्खो-द्देसो दवग्गिसंताणकारणट्ठाए जेणेव मंडले तेणेव पहारेत्थ गमणाए। एक्को ताव एस गमो।

हे मेघ ! तुम गजेन्द्र पर्याय में वर्त्त रहे थे कि अनुक्रम से कमलिनियों के वन का विनाश करने वाला, कुंद और लोध्र के पुष्पों की समृद्धि से सम्पन्न तथा अत्यन्त हिम वाला हेमन्त ऋतु व्यतीत हो गया और अभिनव ग्रीष्म काल आ पहुँचा। उस समय तुम वनों में विचरण कर रहे थे। वहाँ क्रीड़ा करते समय वन की हथिनियाँ तुम्हारे ऊपर विविध प्रकार के कमलों एवं पुष्पों का प्रहार करती थीं। तुम उस ऋतु में उत्पन्न पुष्पों के बने चामर जैसे कर्ण के आभूषणों से मंडित और मनोहर थे। मद के कारण विकसित गंडस्थलों को आर्द्र करने वाले तथा झरते हुए सुगन्धित मदजल से तुम सुगन्धमय बन गये थे। हथनियों से घिरे रहते थे। सब तरह से ऋतुसम्बन्धी शोभा उत्पन्न हुई थी। उस ग्रीष्म-काल में सूर्य की प्रखर किरणें पड़ रही थीं। उस ग्रीष्म ऋतु ने श्रेष्ठ वृक्षों के शिखरों को अत्यन्त शुष्क बना दिया था। वह बड़ा ही भयंकर प्रतीत होता था। शब्द करने वाले भृंगार नामक पक्षी भयानक शब्द कर रहे थे। पत्र, काष्ठ, तृण और कचरे को उड़ाने वाले प्रतिकूल पवन से आकाशतल और वृक्षों का समूह व्याप्त हो गया था। वह बवण्डरों के कारण भयानक दीख पड़ता था। प्यास के कारण उत्पन्न वेदनादि दोषों से ग्रस्त हुए और इसी कारण इधर-उधर भटकते हुए श्वापदों (शिकारी जंगली पशुओं) से युक्त था। देखने में ऐसा भयानक ग्रीष्म ऋतु, उत्पन्न हुए दावानल के कारण और अधिक दारुण हो गया।

वह दावानल, वायु के संचार के कारण फैला हुआ और विकसित हुआ था। उसके शब्द का प्रकार अत्यधिक भयंकर था। वृक्षों से गिरने वाले मधु की धाराओं से सिञ्चित होने के कारण वह अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हुआ था, धधकने की ध्वनि से परिव्याप्त था। वह अत्यन्त चमकती हुई चिनगारियों से युक्त और धूम की कतार से व्याप्त था। सैकड़ों श्वापदों के प्राणों का अन्त करने वाला था। इस प्रकार तीव्रता को प्राप्त दावानल के कारण वह ग्रीष्म ऋतु अत्यन्त भयंकर दिखाई देती थी।

हे मेघ ! तुम उस दावानल की ज्वालाओं से आच्छादित हो गये, रुक गये—इच्छानुसार गमन करने में असमर्थ हो गये। धुएँ के कारण उत्पन्न हुए अन्धकार से भयभीत हो गये। अग्नि के ताप को देखने से तुम्हारे दोनों कान अरघट्ट के तुंब के समान स्तब्ध रह गये। तुम्हारी मोटी और बड़ी सूंड सिकुड़ गई। तुम्हारे चमकते हुए नेत्र भय के कारण इधर-उधर फिरने—देखने लगे। जैसे वायु के कारण महामेघ का विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार वेग के कारण तुम्हारा स्वरूप विस्तृत दिखाई देने लगा। पहले दावानल के भय से भीतहृदय होकर दावानल से अपनी रक्षा करने के लिए, जिस दिशा में तृण के प्रदेश (मूल आदि) और वृक्ष आदि हटाकर सफाचट प्रदेश बनाया था और जिधर वह मंडल बनाया था, उधर ही जाने का तुमने विचार किया। वहीं जाने का निश्चय किया।

यह एक गम है; अर्थात् किसी-किसी आचार्य के मतानुसार इस प्रकार का पाठ है।

(दूसरा गम इस प्रकार है, अर्थात् अन्य आचार्य के मतानुसार पूर्वोक्त पाठ के स्थान पर यह पाठ है जो आगे दिया जा रहा है—)

१८१—तए णं तुमं मेहा ! अन्नया कयाइं कमेणं पंचसु उउसु समइक्कंतेसु गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूले मासे पायव-संघंस-समुट्ठिएणं जाव संवट्टिएसु मिय-पसु-पक्खि-सिरीसिवेसु दिसोदिसिं विप्पलायमाणेसु तेहिं बहूहिं हत्थीहि य सद्धिं जेणेव मंडले तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

हे मेघ ! किसी अन्य समय पाँच ऋतुएँ व्यतीत हो जाने पर ग्रीष्मकाल के अवसर पर, ज्येष्ठ मास में, वृक्षों की परस्पर की रगड़ से उत्पन्न हुए दावानल के कारण यावत् अग्नि फैल गई और मृग, पशु पक्षी तथा सरीसृप आदि भाग दौड़ करने लगे। तब तुम बहुत-से हाथियों आदि के साथ जहाँ वह मंडल था, वहाँ जाने के लिए दौड़े।

१८२—तत्थ णं अण्णे बहवे सीहा य, वग्घा य, विगया, दीविया, अच्छा य, रिछतरच्छा य, पारासरा य, सरभा य, सियाला, विराला, सुणहा, कोला, ससा, कोकंतिया, चित्ता, चिल्लला, पुव्वपविट्ठा अग्गिभयविद्दुया एगयओ बिलधम्मेणं चिट्ठंति।

तए णं तुमं मेहा ! जेणेव से मंडले तेणेव उवागच्छिसि, उवागच्छित्ता तेहिं बहूहिं सीहेहिं जाव चिल्ललएहिं य एगयओ बिलधम्मेणं चिट्ठसि।

उस मंडल में अन्य बहुत से सिंह, बाघ, भेड़िया, द्वीपिक (चीते), रीछ, तरच्छ, पारासर, शरभ, शृगाल, विडाल, श्वान, शूकर, खरगोश, लोमड़ी, चित्र और चिल्लल आदि पशु अग्नि के भय से घबरा कर पहले ही आ घुसे थे और एक साथ बिलधर्म से रहे हुए थे अर्थात् जैसे एक बिल में बहुत से मकोड़े ठसाठस भरे रहते हैं, उसी प्रकार उस मंडल में भी पूर्वोक्त प्राणी ठसाठस भरे थे।

तत्पश्चात् हे मेघ ! तुम जहाँ मंडल था, वहाँ आये और आकर उन बहुसंख्यक सिंह यावत् चिल्ललक आदि के साथ एक जगह बिलधर्म से ठहर गये।

अनुकम्पा का फल

१८३—तए णं तुमं मेहा ! पाएणं गत्तं कंडुइस्सामि त्ति कट्टु पाए उक्खित्ते, तंसि च णं अंतरंसि अन्नेहिं बलवंतेहिं सत्तेहिं पणोलिज्जमाणे पणोलिज्जमाणे ससए अणुपविट्ठे।

तए णं तुमं मेहा ! गायं कंडुइत्ता पुणरवि पायं पडिनिक्खमिस्सामि त्ति कट्टु तं ससयं अणुपविट्ठं पाससि, पासित्ता पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए जीवाणुकंपयाए सत्ताणुकंपयाए से पाए अंतरा चेव संधारिए, नो चेव णं णिक्खित्ते।

तए णं तुमं मेहा ! ताए पाणाणुकंपयाए जाव सत्ताणुकंपयाए संसारे परित्तीकए, माणुस्साउए निबद्धे।

तत्पश्चात् हे मेघ ! तुमने 'पैर से शरीर खुजाऊँ' ऐसा सोचकर एक पैर ऊपर उठाया। इसी समय उस खाली हुई जगह में, अन्य बलवान् प्राणियों द्वारा प्रेरित-धकियाया हुआ एक शशक प्रविष्ट हो गया।

तब हे मेघ ! तुमने पैर खुजा कर सोचा कि मैं पैर नीचे रक्खूँ, परन्तु शशक को पैर की जगह में घुसा हुआ देखा। देखकर द्वीन्द्रियादि प्राणों की अनुकम्पा से, वनस्पति रूप भूतों की अनुकम्पा से, पंचेन्द्रिय जीवों की अनुकम्पा से तथा वनस्पति के सिवाय शेष चार स्थावर सत्त्वों की अनुकम्पा से वह पैर अधर ही उठाए रखा, नीचे नहीं रखा।

हे मेघ ! तब उस प्राणानुकम्पा यावत् (भूतानुकम्पा, जीवानुकम्पा तथा) सत्त्वानुकम्पा से तुमने संसार परीत किया और मनुष्यायु का बन्ध किया।

विवेचन—साधारणतया प्राण, भूत, जीव और सत्त्व शब्द एकार्थक हैं तथापि प्रत्येक शब्द की एक विशिष्ट प्रकृति होती है और उस पर गहराई से विचार करने पर एकार्थक शब्द भी भिन्न-भिन्न अर्थ वाले प्रतीत होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं रूढ़ि अथवा परिभाषा के अनुसार भी शब्दों का विशिष्ट अर्थ नियत होता है। प्राण, भूत आदि शब्दों का यहाँ जो विशिष्ट अर्थ किया गया है वह शास्त्रीय रूढ़ि के आधार पर समझना चाहिए। ऐसा न किया जाय तो सूत्र में प्रयुक्त 'भूयानुकम्पाए' आदि तीन शब्द निरर्थक हो जाएँगे। किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आगमों में क्वचित् विभिन्न देशीय शिष्यों की सुगमता के लिए पर्यायवाचक शब्दों का प्रयोग भी उपलब्ध होता है।

जीवानुकम्पा एक शुभ भाव है—पुण्य रूप परिणाम है और वह शुभकर्म के बन्ध का कारण होता है। यही कारण है जिससे मेरुप्रभ हाथी ने मनुष्यायु का बन्ध किया जो एक शुभ कर्म-प्रकृति है।

शशक एक कोमल काया वाला छोटे कद का प्राणी है—भोला और भद्र। उसे देखते ही सहज रूप में प्रीति उपजती है। आगमोक्त विभाजन के अनुसार शशक पंचेन्द्रिय होने से जीव की गणना में आता है। उसकी अनुकम्पा जीवानुकम्पा कही जा सकती है। हाथी के चित्त में उसी के प्रति अनुकम्पा उत्पन्न हुई थी। फिर मूल पाठ में प्राणानुकम्पा, भूतानुकम्पा और सत्त्वानुकम्पा के उत्पन्न होने का उल्लेख कैसे आ गया? इस प्रश्न का समाधान यह प्रतीत होता है कि शशक के निमित्त से अनुकम्पा का जो भाव उत्पन्न हुआ, वह शशक तक ही सीमित नहीं रहा-विकसित हो गया, व्यापक बनता गया और समस्त प्राणियों तक फैल गया। उसी व्यापक दया-भावना की अवस्था में हाथी ने मनुष्यायु का बंध किया।

१८४—तए णं से वणदवे अड्ढाइज्जाइं राइंदियाइं तं वणं झामेइ, झामेत्ता निट्ठिए, उवरए, उवसंते, विज्झाए यावि होत्था।

तत्पश्चात् वह दावानल अढ़ाई अहोरात्र पर्यन्त उस वन को जला कर पूर्ण हो गया, उपरत हो गया, उपशान्त हो गया और बुझ गया।

१८५—तए णं ते बहवे सीहा य जाव चिल्लला य तं वणदवं निट्ठियं जाव विज्झायं पासंति, पासित्ता अग्गिभयविप्पमुक्का तण्हाए य छुहाए य परब्भाहया समाणा तओ मंडलाओ पडिनिक्खमंति। पडिनिक्खमित्ता सव्वओ समंता विप्पसरित्था।

तब उन बहुत से सिंह यावत् चिल्ललक आदि पूर्वोक्त प्राणियों ने उस वन-दावानल को पूरा हुआ यावत् बुझा हुआ देखा और देखकर वे अग्नि के भय से मुक्त हुए। वे प्यास एवं भूख से पीड़ित होते हुए उस मंडल से बाहर निकले और निकल कर सब दिशाओं और विदिशाओं में फैल गये।

१८६—तए णं तुमं मेहा ! जुन्ने जराजज्जरियदेहे सिढिलवलितयापिणिद्धगत्ते दुब्बले किलंते

जुंजिए पिवासिए अत्थामे अबले अपरक्कमे अचंकमणे वा ठाणुखंडे वेगेण विप्पसरिस्सामि त्ति कट्टु पाए पसारेमाणे विज्जुहए विव रययगिरिपब्भारे धरणियलंसि सव्वंगेहि य सन्निवइए।

हे मेघ ! उस समय तुम जीर्ण, जरा से जर्जरित शरीर वाले, शिथिल एवं सलों वाली चमड़ी से व्याप्त गात्र वाले, दुर्बल, थके हुए, भूखे-प्यासे, शारीरिक शक्ति से हीन, सहारा न होने से निर्बल, सामर्थ्य से रहित और चलने-फिरने की शक्ति से रहित एवं ठूंठ की भाँति स्तब्ध रह गये। 'मैं वेग से चलूँ' ऐसा विचार कर ज्यों ही पैर पसारा कि विद्युत् से आघात पाये हुए रजतगिरि के शिखर के समान सभी अंगों से तुम धड़ाम से धरती पर गिर पड़े।

पुनर्जन्म

१८७—तए णं तव मेहा ! सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला जाव (विउला कक्खडा पगाढा चंडा दुक्खा दुरहियासा। पित्तज्जरपरिगयसरीरे) दाहवक्कंतिए यावि विहरसि। तए णं तुमं मेहा ! तं उज्जलं जाव दुरहियासं तिन्नि राइंदियाइं वेयणं वेएमाणे विहरित्ता एगं वाससयं परमाउं पालइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रायगिहे नयरे सेणियस्स रन्नो धारिणीए देवीए कुच्छिंसि कुमारत्ताए पच्चायाए।

तत्पश्चात् हे मेघ ! तुम्हारे शरीर में उत्कट [विपुल, कर्कश—कठोर, प्रगाढ़, दुःखमय और दुस्सह] वेदना उत्पन्न हुई। शरीर पित्तज्वर से व्याप्त हो गया और शरीर में जलन होने लगी। तुम ऐसी स्थिति में रहे। तब हे मेघ ! तुम उस उत्कट यावत् दुस्सह वेदना को तीन रात्रि-दिवस पर्यन्त भोगते रहे। अन्त में सौ वर्ष की पूर्ण आयु भोगकर इसी जम्बू द्वीप नामक द्वीप में भारतवर्ष में राजगृह नगर में श्रेणिक राजा की धारिणी देवी की कूंख में कुमार के रूप में उत्पन्न हुए।

मृदु उपालंभ

१८८—तए णं तुमं मेहा ! आणुपुव्वेणं गब्भवासाओ निक्खंते समाणे उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुपत्ते मम अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए। तं जइ जाव तुमे मेहा ! तिरिक्खजोणिय-भावमुवागए णं अप्पडिलद्ध-सम्मत्तरयणलंभे णं से पाए पाणाणुकंपयाए जाव अंतरा चेव संधारिए, नो चेव णं णिक्खित्ते, किमंग पुण तुमं मेहा ! इयाणिं विपुलकुलसमुब्भवे णं निरुवहय-सरीर-दंतलद्धपंचिंदिए णं एवं उट्ठाण-बल-वीरिय-पुरिसगार-परक्कम-संजुत्ते णं मम अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे समणाणं निग्गंथाणं राओ पुव्वरत्तावरत्तकाल-समयंसि वायणाए जाव धम्माणुओगचिंताए य उच्चारस्स वा पासवणस्स वा अइगच्छमाणाण य निग्गच्छमाणाण य हत्थसंघट्टणाणि य पायसंघट्टणाणि य जाव रयरेणुगुंडणाणि य नो सम्मं सहसि खमसि, तितिक्खसि, अहियासेसि ?

तत्पश्चात् हे मेघ ! तुम अनुक्रम से गर्भवास से बाहर आये—तुम्हारा जन्म हुआ। बाल्यावस्था से मुक्त हुए और युवावस्था को प्राप्त हुए। तब मेरे निकट मुंडित होकर गृहवास से (मुक्त हो) अनगार हुए। तो हे मेघ ! जब तुम तिर्यंचयोनि रूप पर्याय को प्राप्त थे और जब तुम्हें सम्यक्त्व-रत्न का लाभ भी नहीं हुआ था, उस समय भी तुमने प्राणियों की अनुकम्पा से प्रेरित होकर

यावत् अपना पैर अधर ही रक्खा था, नीचे नहीं टिकाया था, तो फिर हे मेघ ! इस जन्म में तो तुम विशाल कुल में जन्मे हो, तुम्हें उपघात से रहित शरीर प्राप्त हुआ है । प्राप्त हुई पाँचों इन्द्रियों का तुमने दमन किया है और उत्थान (विशिष्ट शारीरिक चेष्टा), वल (शारीरिक शक्ति), वीर्य (आत्मवल) पुरुषकार (विशेष प्रकार का अभिमान) और पराक्रम (कार्य को सिद्ध करने वाले पुरुषार्थ) से युक्त हो और मेरे समीप मुंडित होकर गृहवास का त्याग कर अगेही बने हो, फिर भी पहली और पिछली रात्रि के समय श्रमण निर्ग्रन्थ वाचना के लिए यावत् धर्मानुयोग के चिन्तन के लिए तथा उच्चार-प्रस्रवण के लिए आते-जाते थे, उस समय तुम्हें उनके हाथ का स्पर्श हुआ, पैर का स्पर्श हुआ, यावत् रजकणों से तुम्हारा शरीर भर गया, उसे तुम सम्यक् प्रकार से सहन न कर सके ! विना क्षुब्ध हुए सहन न कर सके ! अदीनभाव से तितिक्षा न कर सके ! और शरीर को निश्चल रख कर सहन न कर सके !

१८९—तए णं तस्स मेहस्स अणगारस्स, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सुभेहिं परिणामेहिं, पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं, तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहावोह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जाइसरणे समुप्पन्ने। एयमट्ठं सम्मं अभिसमेइ।

तत्पश्चात् मेघकुमार अनगार को श्रमण भगवान् महावीर के पास से यह वृत्तान्त सुन-समझ कर, शुभ परिणामों के कारण, प्रशस्त अध्यवसायों के कारण, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं के कारण और जातिस्मरण को आवृत करने वाले ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के कारण, ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए, संज्ञी जीवों को प्राप्त होने वाला जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । उससे मेघ मुनि ने अपना पूर्वोक्त वृत्तान्त सम्यक् प्रकार से जान लिया ।

पुनः प्रव्रज्या

१९०—तए णं से मेहे कुमारे समणेणं भगवया महावीरेणं संभारियपुव्वभवे दुगुणाणीयसंवेगे आणंदंसुपुन्नमुहे हरिसवसेणं धाराहयकदंबकं पिव समुस्ससियरोमकूवे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—'अज्जप्पभिई णं भंते ! मम दो अच्छीणि मोत्तूणं अवसेसे काए समणाणं निग्गंथाणं निसट्ठे' त्ति कट्टु पुणरवि समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! इयाणिं सयमेव दोच्चं पि पव्वावियं, सयमेव मुंडावियं जाव[1] सयमेव आयारगोयरं जायामायावत्तियं धम्ममाइक्खियं।'

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा मेघकुमार को पूर्व वृत्तान्त स्मरण करा देने से दुगुना संवेग प्राप्त हुआ । उसका मुख आनन्द के आँसुओं से परिपूर्ण हो गया । हर्ष के कारण मेघधारा से आहत कदंवपुष्प की भाँति उसके रोमांच विकसित हो गये । उसने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन किया, नमस्कार किया । वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'भंते ! आज से मैंने अपने दोनों नेत्र छोड़ कर शेष समस्त शरीर श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए समर्पित किया ।' इस प्रकार कह कर मेघकुमार ने पुनः श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया । वन्दन-

१. सूत्र प्र. अ. १५९

नमस्कार करके इस भाँति कहा—'भगवन् ! मेरी इच्छा है कि अब आप स्वयं ही दूसरी बार मुझे प्रव्रजित करें, स्वयं ही मुंडित करें, यावत् स्वयं ही ज्ञानादिक आचार, गोचर-गोचरी के लिए भ्रमण, यात्रा—पिण्डविशुद्धि आदि संयमयात्रा तथा मात्रा—प्रमाणयुक्त आहार ग्रहण करना, इत्यादि स्वरूप वाले श्रमणधर्म का उपदेश दें।'

१९१—तए णं समणे भगवं महावीरे मेहं कुमारं सयमेव पव्वावेइ जाव जायामायावत्तियं धम्ममाइक्खइ—'एवं देवाणुप्पिया ! गंतव्वं, एवं चिट्ठियव्वं, एवं णिसीयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं, एवं भुंजियव्वं, एवं भासियव्वं, उट्ठाय उट्ठाय पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमियव्वं।'

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने मेघकुमार को स्वयमेव पुनः दीक्षित किया, यावत् स्वयमेव यात्रा-मात्रा रूप धर्म का उपदेश दिया। कहा—'हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार गमन करना चाहिए अर्थात् युगपरिमित भूमि पर दृष्टि रख कर चलना चाहिए। इस प्रकार अर्थात् पृथ्वी का प्रमार्जन करके खड़ा होना चाहिए, इस प्रकार अर्थात् भूमि का प्रमार्जन करके बैठना चाहिए, इस प्रकार अर्थात् शरीर एवं भूमि का प्रमार्जन करके शयन करना चाहिए, इस प्रकार अर्थात् निर्दोष आहार करना चाहिए और इस प्रकार अर्थात् भाषासमितिपूर्वक बोलना चाहिए। सावधान रह-रह कर प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की रक्षा रूप संयम में प्रवृत्त रहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मुनि को प्रत्येक क्रिया यतना के साथ करना चाहिए।'

१९२—तए णं से मेहे समणस्स भगवओ महावीरस्स अयमेयारूवं धम्मियं उवएसं सम्मं पडिच्छइ, पडिच्छित्ता तह चिट्ठइ जाव संजमेणं संजमइ।

तए णं से मेहे अणगारे जाए इरियासमिए, अणगारवन्नओ भाणियव्वो।

तत्पश्चात् मेघ मुनि ने श्रमण भगवान् महावीर के इस प्रकार के इस धार्मिक उपदेश को सम्यक् प्रकार से अंगीकार किया। अंगीकार करके उसी प्रकार वर्त्ताव करने लगे यावत् संयम में उद्यम करने लगे।

तब मेघ ईर्यासमिति आदि से युक्त अनगार हुए। यहाँ औपपातिक सूत्र के अनुसार अनगार का समस्त वर्णन कहना चाहिए।

विवेचन—औपपातिक सूत्र में वर्णित अनगार के स्वरूप का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

'ईर्या आदि पांचों समितियों के अतिरिक्त मनसमिति, वचनसमिति, कायसमिति से युक्त, तीन गुप्तियों से गुप्त, इन्द्रियों का गोपन करने वाला—इन्द्रियविषयों में राग-द्वेषरहित, गुप्तियों (नव वाड़ों) सहित ब्रह्मचर्यपालक, त्यागी, लज्जाशील, धन्य, क्षमाशील, जितेन्द्रिय, शोभित (शोधित), निदानविहीन, उत्कंठा-कुतूहल की वृत्ति से रहित, अक्रोधी, श्रमणधर्म में सम्यक् प्रकार से रत, दान्त और निर्ग्रन्थप्रवचन को सन्मुख रख कर विचरने वाला जो होता है वही सच्चा साधु है।'

१९३—तए णं से मेहे अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयारूवाणं थेराणं सामाइयमाइयाणि एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थ-छट्ठ-ट्ठम-दसम-दुवालसेहिं मास-द्धमासखमणेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् उन मेघ मुनि ने श्रमण भगवान् महावीर के निकट रह कर तथाप्रकार के स्थविर मुनियों से सामायिक से आरम्भ करके ग्यारह अंगशास्त्रों का अध्ययन किया। अध्ययन करके बहुत से उपवास, बेला, तेला, चौला, पंचौला आदि से तथा अर्धमासखमण एवं मासखमण आदि तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए वे विचरने लगे।

विहार और प्रतिमावहन

१९४—तए णं समणे भगवं महावीरे रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर से, गुणसिलक चैत्य से निकले। निकल कर बाहर जनपदों में विहार करने लगे—विचरने लगे।

१९५—तए णं से मेहे अणगारे अन्नया कयाइ समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।'

तत्पश्चात् उन मेघ अनगार ने किसी अन्य समय श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'भगवन्! मैं आपकी अनुमति पाकर एक मास की मर्यादा वाली भिक्षुप्रतिमा को अंगीकार करके विचरने की इच्छा करता हूँ।'

भगवान् ने कहा—'देवानुप्रिय! तुम्हें जैसे सुख उपजे वैसा करो। प्रतिबन्ध, अर्थात् इच्छित कार्य का विघात न करो—विलम्ब न करो।'

१९६—तए णं से मेहे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुन्नाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। मासियं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं सम्मं काएणं फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, किट्टेइ, सम्मं काएण फासित्ता पालित्तला सोहेत्ता तीरेत्ता किट्टेत्ता पुणरवि समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर द्वारा अनुमति पाए हुए मेघ अनगार एक मास की भिक्षु-प्रतिमा अंगीकार करके विचरने लगे। एक मास की भिक्षुप्रतिमा को यथासूत्र—सूत्र के अनुसार, कल्प (आचार) के अनुसार, मार्ग (ज्ञानादि मार्ग या क्षायोपशमिक भाव) के अनुसार सम्यक् प्रकार से काय से ग्रहण किया, निरन्तर सावधान रहकर उसका पालन किया, पारणा के दिन गुरु को देकर शेष बचा भोजन करके शोभित किया, अथवा अतिचारों का निवारण करके शोधन किया, प्रतिमा का काल पूर्ण हो जाने पर भी किंचित् काल अधिक प्रतिमा में रहकर तीर्ण किया, पारणा के दिन प्रतिमा सम्बन्धी कार्यों का कथन करके कीर्त्तन किया। इस प्रकार समीचीन रूप से काया से स्पर्श करके, पालन करके, शोभित या शोधित करके, तीर्ण करके एवं कीर्त्तन करके पुनः श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमकार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—

१९७—'इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे दोमासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

जहा पढमाए अभिलावो तहा दोच्चाए तच्चाए चउत्थाए पंचमाए छम्मासियाए सत्तमासियाए पढमसत्तराइंदियाए दोच्चसत्तराइंदियाए तइय सत्तराइंदियाए अहोराइंदियाए वि एगराइंदियाए वि।

'भगवन् ! आपकी अनुमति प्राप्त करके मैं दो मास की दूसरी भिक्षुप्रतिमा अंगीकार करके विचरना चाहता हूँ।'

भगवान् ने कहा— 'देवानुप्रिय ! जैसे सुख उपजे वैसा करो। प्रतिबन्ध मत करो।'

जिस प्रकार पहली प्रतिमा में आलापक कहा है, उसी प्रकार दूसरी प्रतिमा दो मास की, तीसरी तीन मास की, चौथी चार मास की, पाँचवीं पाँच मास की, छठी छह मास की, सातवीं सात की, फिर पहली अर्थात् आठवीं सात अहोरात्र की, दूसरी अर्थात् नौवीं भी सात अहोरात्र की, तीसरी अर्थात् दसवीं भी सात अहोरात्र की, और ग्यारहवीं तथा बारहवीं प्रतिमा एक-एक अहोरात्र की कहना चाहिए। (मेघ मुनि ने इन सब प्रतिमाओं का यथाविधि पालन किया।)

उग्र तपश्चरण

१९८—तए णं से मेहे अणगारे बारस भिक्खुपडिमाओ सम्मं काएणं फासेत्ता पालेत्ता सोहेत्ता तीरेत्ता किट्टेत्ता पुणरवि वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

तत्पश्चात् मेघ अनगार ने बारहों भिक्षुप्रतिमाओं का सम्यक् प्रकार से काय से स्पर्श करके, पालन करके, शोधन करके, तीर्ण करके और कीर्तन करके पुनः श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा— 'भगवन् ! मैं आपकी आज्ञा प्राप्त करके गुणरत्नसंवत्सर नामक तपश्चरण अंगीकार करना चाहता हूँ।'

भगवान् बोले—'हे देवानुप्रिय ! जैसे सुख उपजे वैसा करो। प्रतिबन्ध मत करो।'

विवेचन—गुणरत्नसंवत्सर नामक तप में तेरह मास और सत्तरह दिन उपवास के होते हैं और तिहत्तर दिन पारणा के। इस प्रकार सोलह मास में इस तप का अनुष्ठान किया जाता है। तपस्या का यंत्र इस प्रकार है:—

मास	तप	तपोदिन	पारणादिवस	कुल दिन
१	उपवास	१५	१५	३०
२	बेला	२०	१०	३०
३	तेला	२४	८	३२
४	चौला	२४	६	३०

५	पंचोला	२५	५	३०
६	छह उपवास	२४	४	२८
७	सात उपवास	२१	३	२४
८	आठ उपवास	२४	३	२७
९	नौ उपवास	२७	३	३०
१०	दस उपवास	३०	३	३३
११	ग्यारह उपवास	३३	३	३६
१२	बारह उपवास	२४	२	२६
१३	तेरह उपवास	२६	२	२८
१४	चौदह उपवास	२८	२	३०
१५	पंद्रह उपवास	३०	२	३२
१६	सोलह	३२	२	३४
		४०७	७३	४८०

जिस मास में जितने दिन कम हैं, उसमें अगले मास में से उतने दिन अधिक समझ लेने चाहिए। इसी प्रकार जिस मास में अधिक हैं, उसके दिन अगले मास में सम्मिलित कर देने चाहिए।

१९९—तए णं से मेहे अणगारे पढमं मासं चउत्थं चउत्थेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडएणं।

दोच्चं मासं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडएणं। तच्चं मासं अट्ठमं-अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं, दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडएणं।

चउत्थं मासं दसमंदसमेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमूहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडएणं। पंचमं मासं दुवालसमंदुवालसमेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडएणं। एवं खलु एएणं अभिलावेणं छट्ठे चोद्दसमंचोद्दसमेणं, सत्तमे सोलसमंसोलसमेणं, अट्ठमे अट्ठारसमं अट्ठारसमेणं, नवमे वीसतिमंवीसतिमेणं, दसमे बावीसइमंबावीसइमेणं, एक्कारसमे चउवीसइमंचउवीसइमेणं, बारसमे छव्वीसइमंछव्वीसइमेणं, तेरसमे अट्ठावीसइमंअट्ठावीसइमेणं. चोद्दसमे तीसइमंतीसइमेणं, पंचदसमे बत्तीसइमंबत्तीसइमेणं, सोलसमे मासे चउत्तीसइमंचउत्तीसइमेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुएणं सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे राइं वीरासणेण य अवाउडएणं य।

तत्पश्चात् मेघ अनगार पहले महीने में निरन्तर चतुर्थभक्त अर्थात् एकान्तर उपवास की तपस्या के साथ विचरने लगे। दिन में उत्कट (गोदोहन) आसन से रहते और आतापना लेने की भूमि में सूर्य के सन्मुख आतापना लेते। रात्रि में प्रावरण (वस्त्र) से रहित होकर वीरासन से स्थित रहते थे।

इसी प्रकार दूसरे महीने निरन्तर षष्ठभक्त तप—बेला, तीसरे महीने अष्टमभक्त (तेला) तथा चौथे मास में दशम भक्त (चौला) तप करते हुए विचरने लगे। दिन में उत्कट आसन से स्थित रहते, सूर्य के सामने, आतापना भूमि में आतापना लेते और रात्रि में प्रावरण रहित होकर वीरासन से रहते।

पाँचवें मास में द्वादशम—द्वादशम (पंचोले-पंचोले) का निरन्तर तप करने लगे। दिन में उकडू आसन से स्थित होकर, सूर्य के सन्मुख, आतापना भूमि में आतापना लेते और रात्रि में प्रावरण-रहित होकर वीरासन से रहते थे ।

इसी प्रकार आलापक के साथ छठे मास में छह-छह उपवास का, सातवें मास में सात-सात उपवास का, आठवें मास में आठ-आठ उपवास का, नौवें मास में नौ-नौ मास का, दसवें मास में दस-दस उपवास का, ग्यारहवें मास में ग्यारह-ग्यारह उपवास का, बारहवें मास में बारह-बारह उपवास का, तेरहवें मास में तेरह-तेरह उपवास का, चौदहवें मास में चौदह-चौदह उपवास का, पंन्द्रहवें मास में पन्द्रह-पन्द्रह उपवास का और सोलहवें मास में सोलह-सोलह उपवास का निरन्तर तप करते हुए विचरने लगे। दिन में उकडू आसन से सूर्य के सन्मुख आतापनाभूमि में आतापना लेते थे और रात्रि में प्रावरणरहित होकर वीरासन से स्थित रहते थे।

विवेचन—दोनों पैर पृथ्वी पर टेक कर सिंहासन या कुर्सी पर बैठा जाय और बाद में सिंहासन या कुर्सी हटा ली जाय तो जो आसन बनता है वह वीरासन कहलाता है।

२००—तए णं से मेहे अणगारे गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं अहासुत्तं जाव[1] सम्मं काएण फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, किट्टेइ, अहासुत्तं अहाकप्पं जाव किट्टेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता बहूहिं छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

इस प्रकार मेघ अनगार ने गुणरत्नसंवत्सर नामक तपःकर्म का सूत्र के अनुसार, कल्प के अनुसार तथा मार्ग के अनुसार सम्यक् प्रकार से काय द्वारा स्पर्श किया, पालन किया, शोधित या शोभित किया तथा कीर्तित किया। सूत्र के अनुसार और कल्प के अनुसार यावत् कीर्तन करके श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन किया, नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके बहुत से षष्ठभक्त, अष्टमभक्त, दशमभक्त, द्वादशमभक्त आदि तथा अर्धमासखमण एवं मासखमण आदि विचित्र प्रकार के तपश्चरण करके आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।

२०१—तए णं से मेहे अणगारे तेणं उरालेणं विपुलेणं सस्सिरीएणं पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं धन्नेणं मंगल्लेणं उदग्गेणं उदारएणं उत्तमेणं महाणुभावेणं तवोकम्मेणं सुक्के भुक्खे लुक्खे निम्मंसे निस्सोणिए किडिकिडियाभूए अट्ठिचम्मावणद्धे किसे धमणिसंतए जाए यावि होत्था।

जीवंजीवेणं गच्छइ, जीवंजीवेणं चिट्ठइ, भासं भासित्ता गिलायइ, भासं भासमाणे गिलायइ, भासं भासिस्सामि त्ति गिलायइ।

तत्पश्चात् मेघ अनगार उस उराल-प्रधान, विपुल-दीर्घकालीन होने के कारण विस्तीर्ण, सश्रीक—शोभासम्पन्न, गुरु द्वारा प्रदत्त अथवा प्रयत्नसाध्य, बहुमानपूर्वक गृहीत, कल्याणकारी-नीरोगताजनक, शिव-मुक्ति के कारण, धन्य-धन प्रदान करने वाले, मांगल्य-पापविनाशक, उदग्र-तीव्र, उदार-निष्काम होने के कारण औदार्य वाले, उत्तम-अज्ञानान्धकार से रहित और महान् प्रभाव वाले

१. प्र. अ. सूत्र १९६

तपःकर्म से शुष्क-नीरस शरीर वाले, भूखे, रूक्ष, मांस रहित और रुधिररहित हो गए। उठते-बैठते उनके हाड़ कड़कड़ाने लगे। उनकी हड्डियाँ केवल चमड़े से मढ़ी रह गईं। शरीर कृश और नसों से व्याप्त हो गया।

वह अपने जीव के बल से ही चलते एवं जीव के बल से ही खड़े रहते। भाषा बोलकर थक जाते, बात करते-करते थक जाते, यहाँ तक कि 'मैं बोलूंगा' ऐसा विचार करते ही थक जाते थे। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त उग्र तपस्या के कारण उनका शरीर अत्यन्त ही दुर्बल हो गया था।

२०२—से जहानामए इंगालसगडियाइ वा, कट्ठसगडियाइ वा, पत्तसगडियाइ वा, तिल-सगडियाइ वा, एरंडकट्ठसगडियाइ वा, उण्हे दिन्ना सुक्का समाणी ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, एवामेव मेहे अणगारे ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, उवचिए तवेणं, अवचिए मंससोणिएणं, हुयासणे इव भासरासिपरिच्छन्ने, तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठइ।

जैसे कोई कोयले से भरी गाड़ी हो, लकड़ियों से भरी गाड़ी हो, सूखे पत्तों से भरी गाड़ी हो, तिलों (तिल के डंठलों) से भरी गाड़ी हो, अथवा एरंड के काष्ठ से भरी गाड़ी हो, धूप में डाल कर सुखाई हुई हो, अर्थात् कोयला, लकड़ी पत्ते आदि खूब सुखा लिये गये हों और फिर गाड़ी में भरे गये हों, तो वह गाड़ी खड़खड़ की आवाज करती हुई चलती है और आवाज करती हुई ठहरती है, उसी प्रकार मेघ अनगार हाड़ों की खड़खड़ाहट के साथ चलते थे, और खड़खड़ाहट के साथ खड़े रहते थे। वह तपस्या से तो उपचित-वृद्धिप्राप्त थे, मगर मांस और रुधिर से अपचित-ह्रास को प्राप्त हो गये थे। वह भस्म के समूह से आच्छादित अग्नि की तरह तपस्या के तेज से देदीप्यमान थे। वह तपस्तेज की लक्ष्मी से अतीव शोभायमान हो रहे थे।

२०३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव[1] पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे, जेणामेव रायगिहे नगरे जेणामेव गुणसिलए चेइए तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर धर्म की आदि करने वाले, तीर्थ की स्थापना करने वाले, यावत् अनुक्रम से चलते हुए, एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पार करते हुए, सुख-पूर्वक विहार करते हुए, जहाँ राजगृह नगर था और जहाँ गुणशील चैत्य था, उसी जगह पधारे। पधार कर यथोचित अवग्रह (उपाश्रय) की आज्ञा लेकर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

समाधिमरण

२०४—तए णं तस्स मेहस्स अणगारस्स राओ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव (चिंतिए, पत्थिए मणोगए संकप्पे) समुप्पज्जित्था :—

'एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं तहेव जाव[2] भासं भासिस्सामि त्ति गिलामि, तं अत्थि ता मे

---

१. प्र. अ. सूत्र ८. २. प्र. अ. सूत्र २०१.

उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार-परक्कमे सद्धा धिई संवेगे तं जाव ता मे अत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार-परक्कमे सद्धा धिई संवेगे जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ताव मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव[1] तेयसा जलंते सूरे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुन्नायस्स समाणस्स सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहित्ता गोयमाइए समणे निग्गंथे निग्गंथीओ य खामेत्ता तहारूवेहिं कडाईहिं थेरेहिं सद्धिं विउलं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहित्ता सयमेव मेहघणसन्निगासं पुढविसिलापट्टयं पडिलेहित्ता संलेहणाझूसणाए झूसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंख-माणस्स विहरित्तए।

तत्पश्चात् उन मेघ अनगार को रात्रि में, पूर्व रात्रि और पिछली रात्रि के समय अर्थात् मध्य रात्रि में धर्म-जागरण करते हुए इस प्रकार का अध्यवसाय [चिन्तन, प्रार्थित एवं मानसिक संकल्प] उत्पन्न हुआ—

'इस प्रकार मैं इस प्रधान तप के कारण, इत्यादि पूर्वोक्त सब कथन यहाँ कहना चाहिए, यावत् 'भाषा बोलूंगा' ऐसा विचार आते ही थक जाता हूँ।' तो अभी मुझ में उठने की शक्ति है, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम श्रद्धा धृति और संवेग है, तो जब तक मुझ में उत्थान, कार्य करने की शक्ति, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम, श्रद्धा, धृति और संवेग है तथा जब तक मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर गंधहस्ती के समान जिनेश्वर विचर रहे हैं, तब तक, कल रात्रि के प्रभात रूप में प्रकट होने पर यावत् सूर्य के तेज से जाज्वल्यमान होने पर अर्थात् सूर्योदय होने पर मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना और नमस्कार करके, श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा लेकर स्वयं ही पांच महाव्रतों को पुनः अंगीकार करके गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों तथा निर्ग्रन्थियों से क्षमा याचना करके तथारूपधारी एवं योगवहन आदि क्रियाएँ जिन्होंने की हैं ऐसे स्थविर साधुओं के साथ, धीरे-धीरे, विपुलाचल पर आरूढ होकर स्वयं ही सघन मेघ के सदृश (कृष्णवर्ण,) पृथ्वीशिलापट्टक का प्रतिलेखन करके, संलेखना स्वीकार करके, आहार-पानी का त्याग करके, पादपोपगमन अनशन धारण करके मृत्यु की भी आकांक्षा न करता हुआ विचरूँ।

विवेचन—समाधिमरण अनशन के तीन प्रकार हैं—(१) भक्तप्रत्याख्यान, (२) इंगितमरण और (३) पादपोपगमन। जिस समाधिमरण में साधक स्वयं शरीर की सार-संभाल करता है और दूसरों की भी सेवा स्वीकार कर सकता है वह भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है। इंगितमरण स्वीकार करने वाला स्वयं तो शरीर की सेवा करता है किन्तु किसी अन्य की सहायता अंगीकार नहीं करता। भक्तप्रत्याख्यान की अपेक्षा इसमें अधिक साहस और धैर्य की आवश्यकता होती है। किंतु पादपोपगमन समाधिमरण तो साधक की चरम सीमा की कसौटी है। उसमें शरीर की सार-संभाल न स्वयं की जाती है, न दूसरों के द्वारा कराई जाती है। उसे अंगीकार करने वाला साधक समस्त शारीरिक चेष्टाओं का परित्याग करके पादप-वृक्ष की कटी हुई शाखा के समान निश्चेष्ट, निश्चल, निस्पंद हो जाता है। अत्यन्त धैर्यशाली, सहनशील और साहसी साधक ही इस समाधिमरण को स्वीकार करते हैं।

समाधिमरण साधनामय जीवन की चरम और परम परिणति है, साधना के भव्य प्रासाद

१. प्र. अ. सूत्र २८

पर स्वर्ण-कलश आरोपित करने के समान है। जीवन-पर्यन्त आन्तरिक शत्रुओं के साथ किए गए संग्राम में अन्तिम रूप से विजय प्राप्त करने का महान् अभियान है। इस अभियान के समय वीर साधक मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त हो जाता है—

संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम्।

जिनका मन संसार में—संसार के राग-रंग में उलझा होता है उन्हें ही मृत्यु भयंकर जान पड़ती है, परन्तु जिनकी अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञान और वैराग्य से वासित होती है, उनके लिए वह आनन्द का कारण बन जाती है।

साधक की विचारणा तो विलक्षण प्रकार की होती है। वह विचार करता है—

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपञ्जरे।
भिद्यमाने न भेत्तव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः।

सैकड़ों कीड़ों के समूहों से व्याप्त शरीर रूपी पींजरे का नाश होता है तो भले हो। इसके विनाश में मुझे भयभीत होने की क्या आवश्यकता है! इससे मेरा क्या बिगड़ता है! यह जड़ शरीर मेरा नहीं है। मेरा असली शरीर ज्ञान है—मैं ज्ञानविग्रह हूँ। वह मुझ से कदापि पृथक् नहीं हो सकता।

समाधिमरण के काल में होने वाली साधक की भावना को व्यक्त करने के लिए कहा गया है—

एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवमदीणमनसो अप्पाणमणुसासइ॥
एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
संजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्खपरम्परा।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरिअं॥

मैं एकाकी हूँ। मेरे सिवाय मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी अन्य का नहीं हूँ। इस प्रकार के विचार से प्रेरित होकर, दीनता का परित्याग करके अपनी आत्मा को अनुशासित करे। यह भी सोचे—ज्ञान और दर्शनमय एक मात्र शाश्वत आत्मा ही मेरा है। इसके अतिरिक्त संसार के समस्त पदार्थ मुझ से भिन्न हैं—संयोग से प्राप्त हो गए हैं और बाह्य पदार्थों के इस संयोग के कारण ही जीव को दुःखों की परम्परा प्राप्त हुई है—अनादिकाल से एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा जो दुःख उपस्थित होता रहता है, उसका मूल और मुख्य कारण पर पदार्थों के साथ आत्मा का संयोग ही है। अब इस परम्परा का अन्त करने के लिए मैंने मन, वचन, काय से इस संयोग का त्याग कर दिया है।

इस प्रकार की आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर साधक समाधिमरण अंगीकार करता है। किन्तु मानवजीवन अत्यन्त दुर्लभ है। आगम में चार दुर्लभ उपलब्धियाँ कही गई हैं। मानव

जीवन उनमें परिगणित है। देवता भी इस जीवन की कामना करते हैं। अतएव निष्कारण, जब मन में उमंग उठी तभी इसका अन्त नहीं किया जा सकता। संयमशील साधक मनुष्यशरीर के माध्यम से आत्महित सिद्ध करता है और उसी उद्देश्य से इसका संरक्षण भी करता है। परंतु जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि जिस ध्येय की पूर्त्ति के लिए शरीर का संरक्षण किया जाता है, उस ध्येय की पूर्त्ति उससे न हो सके, बल्कि उस ध्येय की पूर्त्ति में बाधक बन जाए तब उसका परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर होता है। प्राणान्तकारी कोई उपसर्ग आ जाए, दुर्भिक्ष के कारण जीवन का अन्त समीप जान पड़े, वृद्धावस्था अथवा असाध्य रोग उत्पन्न हो जाए तो इस अवस्था में हाय-हाय करते हुए—आर्त्तध्यान के वशीभूत होकर प्राण त्यागने की अपेक्षा समाधिपूर्वक स्वेच्छा से शरीर को त्याग देना ही उचित है। शरीर हमें त्यागे इसकी अपेक्षा यही बेहतर है कि हम स्वयं शरीर को त्याग दें। ऐसा करने से पूर्ण शान्ति और अखण्ड समभाव बना रहता है।

समाधिमरण अंगीकार करने से पूर्व साधक को यदि अवसर मिलता है तो वह उसके लिए तैयारी कर लेता है। वह तैयारी संलेखना के रूप में होती है। काय और कषायों को कृश और कृशतर करना संलेखना है। कभी-कभी यह तैयारी बारह वर्ष पहले से प्रारंभ हो जाती है।

ऐसी स्थिति में समाधिमरण को आत्मघात समझना विचारहीनता है। पर-घात की भाँति आत्मघात भी जिनागम के अनुसार घोर पाप है—नरक का कारण है। आत्मघात कषाय के तीव्र आवेश में किया जाता है जब कि समाधिमरण कषायों की उपशान्ति होने पर उच्चकोटि के समभाव की अवस्था में ही किया जा सकता है।

मेघ मुनि का शरीर जब संयम में पुरुषार्थ करने में सहायक नहीं रहा तब उन्होंने पादपोपगमन समाधिमरण ग्रहण किया और उस जर्जरित देह से जीवन का अन्तिम लाभ प्राप्त किया।

२०५—एवं संपेहेइ संपेहित्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव[२] जलंते जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ।

मेघ मुनि ने इस प्रकार विचार किया। विचार करके दूसरे दिन रात्रि के प्रभात रूप में परिणत होने पर यावत् सूर्य के जाज्वल्यमान होने पर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ पहुंचे। पहुँच कर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दाहिनी ओर से आरम्भ करके प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वंदना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके न बहुत समीप और न बहुत दूर योग्य स्थान पर रह कर भगवान् की सेवा करते हुए, नमस्कार करते हुए, संन्मुख विनय के साथ दोनों हाथ जोड़कर उपासना करने लगे अर्थात् बैठ गए।

२०६—मेहे त्ति समणे भगवं महावीरे मेहं अणगारं एवं वयासी—'से णूणं तव मेहा ! राओ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव (चिंतिए,

२. प्र. अ. सूत्र २८

पत्थिए मणोगए संकप्पे) समुप्पज्जित्था—एवं खलु अहं इमेणं ओरालेणं जाव जेणेव अहं तेणेव हव्वमागए। से णूणं मेहा ! अट्ठे समट्ठे ?'

'हंता अत्थि।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

'हे मेघ' इस प्रकार संबोधन करके श्रमण भगवान् महावीर ने मेघ अनगार से इस भाँति कहा—'निश्चय ही हे मेघ ! रात्रि में, मध्यरात्रि के समय, धर्म जागरणा जागते हुए तुम्हें इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ है कि—इस प्रकार निश्चय ही मैं इस प्रधान तप के कारण दुर्बल हो गया हूं, इत्यादि पूर्वोक्त यहाँ कह लेना चाहिए यावत् तुम तुरन्त मेरे निकट आए हो। हे मेघ ! क्या यह अर्थ समर्थ है ? अर्थात् यह बात सत्य है ?

मेघ मुनि बोले—जी हाँ, यह अर्थ समर्थ है।'

तब भगवान् ने कहा—'देवानुप्रिय ! जैसे सुख उपजे वैसा करो। प्रतिबंध न करो।

२०७—तए णं से मेहे अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुन्नाए समाणे हट्ठ जाव हियए उट्ठाए, उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेइ, आरुहित्ता गोयमाइ समणे निग्गंथे निग्गंथीओ य खामेइ, खामेत्ता य तहारूवेहिं कडाईहिं थेरेहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहइ, दुरूहित्ता सयमेव मेहघणसन्निगासं पुढविसिलापट्टयं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता दब्भसंथारगं संथरइ, संथरित्ता दब्भसंथारगं दुरूहइ, दुरूहित्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी :—

'नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं जाव[1] संपत्ताणं, णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव[2] संपाविउकामस्स मम धम्मायरियस्स। वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए, पासउ मे भगवं तत्थगए इहगयं' त्ति कट्टु वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी :—'

तत्पश्चात् मेघ अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके हृष्ट-तुष्ट हुए। उनके हृदय में आनन्द हुआ। वह उत्थान करके उठे और उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दक्षिण दिशा से आरम्भ करके प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके स्वयं ही पाँच महाव्रतों का उच्चारण किया और गौतम आदि साधुओं को तथा साध्वियों को खमाया। खमा कर तथारूप (चारित्रवान्) और योगवहन आदि किये हुए स्थविर सन्तों के साथ धीरे-धीरे विपुल नामक पर्वत पर आरूढ हुए। आरूढ होकर स्वयं ही सघन मेघ के समान पृथ्वी-शिलापट्टक की प्रतिलेखना की। प्रतिलेखना करके दर्भ का संथारा बिछाया और उस पर आरूढ हो गये। पूर्व दिशा के सन्मुख पद्मासन से बैठकर, दोनों हाथ जोड़कर और उन्हें मस्तक से स्पर्श करके (अंजलि करके) इस प्रकार बोले—

'अरिहन्त भगवन्तों को यावत् सिद्धि को प्राप्त सब तीर्थंकरों को नमस्कार हो। मेरे धर्माचार्य

१-२. प्र. अ. सूत्र २८

यावत् सिद्धिगति को प्राप्त करने के इच्छुक श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार हो। वहाँ (गुणशील चैत्य में) स्थित भगवान् को यहाँ (विपुलाचल पर) स्थित मैं वन्दना करता हूँ। वहाँ स्थित भगवान् यहाँ स्थित मुझको देखें। इस प्रकार कहकर भगवान् को वंदना की; नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—

२०८—पुव्विं पि य णं मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए, मुसावाए अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे कोहे माणे माया लोहे पेज्जे दोसे कलहे अब्भक्खाणे पेसुन्ने परपरिवाए अरइ-रई मायामोसे मिच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाए।

इयाणिं पि य णं अहं तस्सेव अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जाव मिच्छादंसणसल्लं पच्चक्खामि। सव्वं असण-पाण-खाइम-साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए। जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं जाव[1] (मणुण्णं मणामं थेज्जं वेस्सासियं सम्मयं बहुमयं अणुमयं भंडकरंडगसमाणं, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं चोरा, मा णं वाला, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाइय-पित्तिय-सेंभिय-सण्णिवाइय) विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतीति कट्टु एयं पि य णं चरमेहिं ऊसासनिस्सासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु संलेहणा झूसणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालं अणवकंखमाणे विहरइ।

पहले भी मैंने श्रमण भगवान् महावीर के निकट समस्त प्राणातिपात का त्याग किया है, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (मिथ्या दोषारोपण करना), पैशुन्य (चुगली), परपरिवाद (पराये दोषों का प्रकाशन), धर्म में अरति, अधर्म में रति, मायामृषा (वेष बदल कर ठगाई करना) और मिथ्या दर्शनशल्य, इन सब अठारह पापस्थानों का प्रत्याख्यान किया है।

अब भी मैं उन्हीं भगवान् के निकट सम्पूर्ण प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ, यावत् मिथ्यादर्शनशल्य का प्रत्याख्यान करता हूँ। तथा सब प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चारों प्रकार के आहार का आजीवन प्रत्याख्यान करता हूँ। और यह शरीर, जो इष्ट है, कान्त (मनोहर) है और प्रिय है, उसे यावत् [मनोज्ञ, मणाम (अतीव मनोज्ञ) धैर्यपात्र, विश्वासपात्र, सम्मत, बहुमत, अनुमत, आभूषणों का पिटारा जैसा है, इसे शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, चोर, सर्प, डांस, मच्छर आदि की बाधा न हो, वात पित्त एवं कफ संबंधी] विविध प्रकार के रोग, शूलादिक आतंक, बाईस परीषह और उपसर्ग स्पर्श करते हैं, अतएव इस शरीर का भी मैं अन्तिम श्वासोच्छ्वास पर्यन्त परित्याग करता हूँ।'

इस प्रकार कहकर संलेखना को अंगीकार करके, भक्तपान का त्याग करके, पादपोपगमन समाधिमरण अंगीकार कर मृत्यु की भी कामना न करते हुए मेघ मुनि विचरने लगे।

२०९—तए णं ते थेरा भगवंतो मेहस्स अणगारस्स अगिलाए वेयावडियं करेन्ति।

तब वह स्थविर भगवन्त ग्लानिरहित होकर मेघ अनगार की वैयावृत्य करने लगे।

---

१. संक्षिप्तपाठ—पियं जाव विविहा.

२१०—तए णं से मेहे अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जित्ता बहुपडिपुन्नाइं दुवालसवरिसाइं सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झोसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते उद्धियसल्ले समाहिपत्ते आणुपुव्वेणं कालगए।

तत्पश्चात् वह मेघ अनगार श्रमण भगवान् महावीर के तथारूप स्थविरों के सन्निकट सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करके, लगभग बारह वर्ष तक चारित्र पर्याय का पालन करके, एक मास की संलेखना के द्वारा आत्मा (अपने शरीर) को क्षीण करके, अनशन से साठ भक्त छेद कर अर्थात् तीस दिन उपवास करके, आलोचना-प्रतिक्रमण करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्यों को हटा कर समाधि को प्राप्त होकर अनुक्रम से कालधर्म को प्राप्त हुए।

२११—तए णं थेरा भगवन्तो मेहं अणगारं अणुपुव्वेणं कालगयं पासेन्ति। पासित्ता परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेंति, करित्ता मेहस्स आयारभंडयं गेण्हंति। गेण्हित्ता विउलाओ पव्वयाओ सणियं सणियं पच्चोरुहंति। पच्चोरुहित्ता जेणामेव गुणसिलए चेइए, जेणामेव समणे भगवं महावीरे तेणामेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी :—

तत्पश्चात् मेघ अनगार के साथ गये हुए स्थविर भगवंतों ने मेघ अनगार को क्रमशः कालगत देखा। देखकर परिनिर्वाणनिमित्तक (मुनि के मृत देह को परठने के कारण से किया जाने वाला) कायोत्सर्ग किया। कायोत्सर्ग करके मेघ मुनि के उपकरण ग्रहण किये और विपुल पर्वत से धीरे-धीरे नीचे उतरे। उतर कर जहाँ गुणशील चैत्य था और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे वहीं पहुँचे। पहुँच कर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोले:—

२१२—'एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी मेहे अणगारे पगइभद्दए जाव (पगइउवसंते पगइ-पतणुकोह-माण-माया-लोहे मिउमद्दवसंपण्णे अल्लीणे) विणीए। से णं देवाणुप्पिएहिं अब्भणुन्नाए समाणे गोयमाइए समणे निग्गंथे निग्गंथीओ य खामेत्ता अम्हेहिं सद्धिं विउलं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहइ। दुरूहित्ता सयमेव मेघघणसन्निगासं पुढविसिलापट्टयं पडिलेहेइ। पडिलेहित्ता भत्तपाण-पडियाइक्खित्ते अणुपुव्वेणं कालगए। एस णं देवाणुप्पिया! मेहस्स अणगारस्स आयारभंडए।'

आप देवानुप्रिय के अन्तेवासी (शिष्य) मेघ अनगार स्वभाव से भद्र और यावत् [स्वभावतः उपशान्त, स्वभावतः मंद क्रोध, मान, माया, लोभ वाले, अतिशय मृदु, संयमलीन एवं] विनीत थे। वह देवानुप्रिय (आप) से अनुमति लेकर गौतम आदि साधुओं और साध्वियों को खमा कर हमारे साथ विपुल पर्वत पर धीरे-धीरे आरूढ हुए। आरूढ होकर स्वयं ही सघन मेघ के समान कृष्णवर्ण पृथ्वीशिलापट्टक का प्रतिलेखन किया। प्रतिलेखन करके भक्त-पान का प्रत्याख्यान कर दिया और अनुक्रम से कालधर्म को प्राप्त हुए। हे देवानुप्रिय! यह हैं मेघ अनगार के उपकरण।

पुनर्जन्म-निरूपण

२१३—भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं

वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पियाणं अन्तेवासी मेहे णामं अणगारे, से णं मेहे अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए ? कहिं उववन्ने ?

'भगवन् !' इस प्रकार कह कर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा-'देवानुप्रिय के अन्तेवासी मेघ अनगार थे। भगवन् ! वह मेघ अनगार काल-मास में अर्थात् मृत्यु के अवसर पर काल करके किस गति में गये ? और किस जगह उत्पन्न हुए ?

२१४—'गोयमाइ' समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—'एवं खलु गोयमा ! मम अन्तेवासी मेहे णामं अणगारे पगइभद्दए जाव[1] विणीए। से णं तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ। अहिज्जित्ता बारस भिक्खु-पडिमाओ गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं काएणं फासेत्ता जाव[2] किट्टेता मए अब्भणुन्नाए समाणे गोयमाइ थेरे खामेइ। खामित्ता तहारूवेहिं जाव (कडासणेहिं) विउलं पव्वयं दुरूहइ। दुरूहित्ता दब्भसंथारगं संथरइ। संथरित्ता दब्भसंथारोवगए सयमेव पंचमहव्वए उच्चारेइ। बारस वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कन्ते उद्धियसल्ले समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिम-सूर-गहगण-नक्खत्त-तारा-रूवाणं बहूइं जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं, बहूइं जोयणसहस्साइं, बहूइं जोयणसयसहस्साइं, बहूइं जोयणकोडीओ, बहूइं जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाण-सणंकुमार-माहिद-बंभ-लंतग-महासुक्क-सहस्सारा-णय-पाणया-रण-च्चुए तिन्नि य अट्ठारसुत्तरे गेवेज्जविमाणावाससए वीइवइत्ता विजए महाविमाणे देवत्ताए उववण्णे।

'हे गौतम !' इस प्रकार कह कर श्रमण भगवान् महावीर ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—हे गौतम ! मेरा अन्तेवासी मेघ नामक अनगार प्रकृति से भद्र यावत् विनीत था। उसने तथारूप स्थविरों से सामायिक से प्रारम्भ करके ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। अध्ययन करके बारह भिक्षु-प्रतिमाओं का और गुणरत्नसंवत्सर नामक तप का काय से स्पर्श करके यावत् कीर्त्तन करके, मेरी आज्ञा लेकर गौतम आदि स्थविरों को खमाया। खमाकर तथारूप यावत् स्थविरों के साथ विपुल पर्वत पर आरोहण किया। दर्भ का संथारा बिछाया। फिर दर्भ के संथारे पर स्थित होकर स्वयं ही पांच महाव्रतों का उच्चारण किया। बारह वर्ष तक साधुत्व-पर्याय का पालन करके एक मास की संलेखना से अपने शरीर को क्षीण करके, साठ भक्त अनशन से छेदन करके, आलोचना-प्रतिक्रमण करके, शल्यों को निर्मूल करके, समाधि को प्राप्त होकर, काल-मास में मृत्यु को प्राप्त करके, ऊपर चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारा रूप ज्योतिषचक्र से बहुत योजन, बहुत सैकड़ों योजन, बहुत हजारों योजन, बहुत लाखों योजन, बहुत करोड़ों योजन और बहुत कोड़ाकोड़ी योजन लांघकर, ऊपर जाकर सौधर्म ईशान सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मलोक लान्तक महाशुक्र सहस्रार आनत प्राणत आरण और अच्युत देवलोकों को तथा तीन सौ अठारह नवग्रैवेयक के विमानावासों को लांघ कर वह विजय नामक अनुत्तर महाविमान में देव के रूप में उत्पन्न हुआ है।

२१५—तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं मेहस्स वि देवस्स तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

१. प्र. अ. सूत्र २१२ २. प्र. अ. सूत्र १९६

उस विजयनामक अनुत्तर विमान में किन्हीं-किन्हीं देवों की तेतीस सागरोपम की स्थिति कही है। उनमें मेघ नामक देव की भी तेतीस सागरोपम की स्थिति है।

२१६—एस णं भंते ! मेहे देवे ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं, ठिइक्खएणं, भवक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?

गौतम स्वामी ने पुनः प्रश्न किया—भगवन् ! वह मेघ देव देवलोक से आयु का अर्थात् आयु कर्म के दलिकों का क्षय करके, आयुकर्म की स्थिति का वेदन द्वारा क्षय करके तथा भव का अर्थात् देवभव के कारणभूत कर्मों का क्षय करके तथा देवभव के शरीर का त्याग करके अथवा देवलोक से च्यवन करके किस गति में जाएगा ? किस स्थान पर उत्पन्न होगा ?

अन्त में सिद्धि

२१७—गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, बुज्झिहिइ, मुच्चिहिइ, परिनिव्वाहिइ, सव्वदुक्खाणमंतं काहिइ।

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! महाविदेह वर्ष में (जन्म लेकर) सिद्धि प्राप्त करेगा—समस्त मनोरथों को सम्पन्न करेगा, केवलज्ञान से समस्त पदार्थों को जानेगा, समस्त कर्मों से मुक्त होगा और परिनिर्वाण प्राप्त करेगा, अर्थात् कर्मजनित समस्त विकारों से रहित हो जाने के कारण स्वस्थ होगा और समस्त दुःखों का अन्त करेगा।

२१८—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थयरेणं जाव संपत्तेणं अप्पोपालंभनिमित्तं पढमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि ॥

॥ पढमं अज्झयणं समत्तं ॥

श्री सुधर्मा स्वामी अपने प्रधान शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं—इस प्रकार हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने, जो प्रवचन की आदि करने वाले, तीर्थ की संस्थापना करने वाले यावत् मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, आप्त (हितकारी) गुरु को चाहिए कि अविनीत शिष्य को उपालंभ दे, इस प्रयोजन से प्रथम ज्ञाताध्ययन का यह अर्थ कहा है। ऐसा मैं कहता हूँ—अर्थात् तीर्थङ्कर भगवान् ने जैसा फर्माया है, वैसा ही मैं तुमसे कहता हूँ !

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

द्वितीय अध्ययन : संघाट

सार : संक्षेप

साधना के क्षेत्र में प्रबल से प्रबल बाधा आसक्ति है। आसक्ति वह मनोभाव है, जो आत्मा को पर-पदार्थों की ओर लालायित बनाता है, आकर्षित करता है और आत्मानन्द की ओर से विमुख करता है। साधना में एकाग्रता के साथ तल्लीन रहने के लिए आसक्ति को त्याग देना आवश्यक है। स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द जब इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा ग्रहण करता अर्थात् जानता है, तब मन उस जानने के साथ राग-द्वेष का विष मिला देता है। इस कारण आत्मा में 'यह इष्ट है, यह अनिष्ट है' इस प्रकार का विकल्प उत्पन्न होता है। इष्ट प्रतीत होने पर उस विषय को प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो जाता है। उसका समत्वयोग खण्डित हो जाता है, समाधिभाव विलीन हो जाता है और वैराग्य नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में साधक अपनी मर्यादा से पतित हो जाता है और कभी-कभी उसके पतन की सीमा नहीं रहती।

आसक्ति के इन खतरों को ध्यान में रख कर शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार से आसक्ति-त्याग का उपदेश दिया है। अपने से प्रत्यक्ष पृथक् दीखने वाले पदार्थों की बात जाने दीजिए, अपने शरीर के प्रति भी आसक्त न रहने का विधान किया है। कहा है—

अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं।

मुनिजन अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते।

कहा जा सकता है—यदि शरीर के प्रति ममता नहीं है तो आहार-पानी आदि द्वारा उसका पोषण-संरक्षण क्यों करते हैं? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही इस अध्ययन की रचना की गई है और एक सुन्दर उदाहरण द्वारा समाधान किया गया है। दृष्टान्त का संक्षेप इस प्रकार है—

राजगृह नगर में धन्य सार्थवाह था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। धन्य समृद्धिशाली था, प्रतिष्ठाप्राप्त था किन्तु निस्सन्तान था। उसकी पत्नी ने अनेक देवताओं की मान्यता-मनौती की, तब उसे एक पुत्र की प्राप्ति हुई। दैवी कृपा का फल समझ कर उसका नाम 'देवदत्त' रक्खा गया।

देवदत्त कुछ बड़ा हुआ तो एक दिन भद्रा ने उसे नहला-धुलाकर और अनेक प्रकार के आभूषणों से सिंगार कर अपने दास-चेटक पंथक को खेलाने के लिए दे दिया। पंथक उसे ले गया और उसे एक स्थान पर बिठलाकर स्वयं गली के बालकों के साथ खेलने लगा। देवदत्त का उसे ध्यान ही न रहा। इस बीच राजगृह का विख्यात निर्दय और नृशंस चोर विजय घूमता-घामता वहाँ जा पहुँचा और आभूषण-सज्जित बालक देवदत्त को उठाकर चल दिया। नगर से बाहर लेजाकर उसके आभूषण उतार लिए और उसे एक कुए में फेंक दिया। बालक के प्राण-पखेरू उड़ गए।

जब पंथक को बालक का ध्यान आया तो वह नदारद था। इधर-उधर ढूंढने पर भी वह

कैसे मिलता ! रोता-रोता पंथक घर गया। धन्य सार्थवाह ने भी खोज की किन्तु जब बालक का कुछ भी पता न लगा तब वह नगर-रक्षकों (पुलिस-दल) के पास पहुँचा । नगररक्षक खोजते-खोजते वहीं जा पहुँचे जहाँ वह अन्धकूप था—जिसमें बालक का शव पड़ा था। शव को देखकर सब के मुख से अचानक 'हाय-हाय' शब्द निकल पड़ा।

पैरों के निशान देखते-देखते नगर-रक्षक आगे बढ़े तो विजय चोर पास के सघन झाड़ियों वाले प्रदेश में (मालुकाकच्छ में) छिपा मिल गया। पकड़ा, खूब मार मारी, नगर में घुमाया और कारागार में डाल दिया।

कुछ समय के पश्चात् किसी के चुगली खाने पर, एक साधारण अपराध पर धन्य सार्थवाह को भी उसी कारागार में बन्द किया गया। विजय चोर और धन्य सार्थवाह-दोनों को एक साथ बेड़ी में डाल दिया।

सार्थवाहपत्नी भद्रा ने धन्य के लिए विविध प्रकार का भोजन-पान कारागार में भेजा। धन्य सार्थवाह जब उसका उपभोग करने बैठा तो विजय चोर ने उसका कुछ भाग मांगा। किन्तु धन्य अपने पुत्रघातक शत्रु को आहार-पानी कैसे खिला-पिला सकता था ? उसने देने से इन्कार कर दिया।

कुछ समय पश्चात् धन्य सार्थवाह को मल-मूत्र विसर्जन की बाधा उत्पन्न हुई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विजय चोर और धन्य एक साथ बेड़ी में जकड़े थे। एक के बिना दूसरा चल-फिर नहीं सकता था। मल-मूत्र विसर्जन के लिए दोनों का साथ जाना अनिवार्य था। जब सार्थवाह ने विजय चोर से साथ चलने को कहा तो वह अकड़ गया। बोला—तुमने भोजन किया है, तुम्हीं जाओ। मैं भूखा-प्यासा मर रहा हूँ, मुझे बाधा नहीं है। मैं नहीं जाता।'

धन्य विवश हो गया। थोड़े समय तक उसने बाधा रोकी, पर कब तक रोकता ? अन्ततः अनिच्छापूर्वक भी उसे विजय चोर को आहार-पानी में से कुछ भाग देने का वचन देना पड़ा। अन्य कोई मार्ग नहीं था। जब दूसरी बार भोजन आया तो धन्य ने उसका कुछ भाग विजय चोर को दिया।

दास चेटक पंथक आहार लेकर कारागार जाता था। उसे यह देखकर दुःख हुआ। घर जाकर उसने भद्रा सार्थवाही को यह घटना सुनाई। कहा—'सार्थवाह आपके भेजे भोजन-पान का हिस्सा विजय चोर को देते हैं।' यह जान कर भद्रा के क्रोध का पार न रहा। पुत्र की क्रूरतापूर्वक हत्या करने वाले पापी चोर को भोजन-पान देकर उसका पालन-पोषण करना ! माता का हृदय घोर वेदना से व्याप्त हो गया। प्रतिदिन यही क्रम चलने लगा।

कुछ काल के पश्चात् धन्य सार्थवाह को कारागार से मुक्ति मिली। जब वह घर पहुँचा तो सभी ने उसका स्वागत-सत्कार किया किन्तु उसकी पत्नी भद्रा ने बात भी नहीं की। वह पीठ फेर कर उदास, खिन्न बैठी रही। यह देखकर सार्थवाह बोला—भद्रे, क्या तुम्हें मेरी कारागार से मुक्ति अच्छी नहीं लगी ? क्या कारण है कि तुम विमुख होकर अपनी अप्रसन्नता प्रकट कर रही हो ?

तथ्य से अनजान भद्रा ने कहा—मुझे प्रसन्नता, आनन्द और सन्तोष कैसे हो सकता है जब कि आपने मेरे लाडले बेटे के हत्यारे वैरी—विजय चोर को आहार-पानी में से हिस्सा दिया है ?

धन्य सार्थवाह भद्रा के कोप का कारण समझ गया। समग्र परिस्थिति समझाते हुए उसने स्पष्टीकरण किया—देवानुप्रिये ! मैंने उस वैरी को हिस्सा तो दिया है मगर धर्म समझ कर, कर्त्तव्य समझ कर, न्याय अथवा प्रत्युपकार समझ कर नहीं दिया, केवल मल-मूत्र की बाधानिवृत्ति में सहायक बने रहने के उद्देश्य से ही दिया है।

यह स्पष्टीकरण सुनकर भद्रा को सन्तोष हुआ। वह प्रसन्न हुई। विजय चोर अपने घोर पापों का फल भुगतने के लिए नरक का अतिथि बना। धन्य सार्थवाह कुछ समय पश्चात् धर्मघोष स्थविर से मुनिदीक्षा अंगीकार करके अन्त में स्वर्ग-वासी हुआ।

तात्पर्य यह है कि जैसे धन्य सार्थवाह ने ममता या प्रीति के कारण विजय चोर को आहार नहीं दिया किन्तु शारीरिक बाधा की निवृत्ति के लिए दिया, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ मुनि शरीर के प्रति आसक्ति के कारण आहार-पानी से उसका पोषण नहीं करते, मात्र शरीर की सहायता से सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र की रक्षा एवं वृद्धि के उद्देश्य से ही उसका पालन-पोषण करते हैं। विस्तार के लिए देखिए पूरा अध्ययन।

बीयं अज्झयणं : संघाडे

श्री जम्बू की जिज्ञासा

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं पढमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, बिइयस्स णं भंते ! नायज्झयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते !

श्री जम्बू स्वामी, श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न करते हैं—'भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने प्रथम ज्ञाताध्ययन का यह (आपके द्वारा प्रतिपादित पूर्वोक्त) अर्थ कहा है, तो हे भगवन् ! द्वितीय ज्ञाताध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?

श्री सुधर्मा द्वारा समाधान

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं नयरे होत्था, वन्नओ ।[1] तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए राया होत्था महया० वण्णओ ।[2] तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गुणसिलए नामं चेइए होत्था, वन्नओ ।[3]

श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए, द्वितीय अध्ययन के अर्थ की भूमिका प्रतिपादित करते हैं—हे जम्बू ! उस काल—चौथे आरे के अन्त में और उस समय में—जब भगवान् इस भूमि पर विचरते थे, राजगृह नामक नगर था। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार कह लेना चाहिए। उस राजगृह नगर में श्रेणिक राजा था। वह महान् हिमवन्त पर्वत के समान था, इत्यादि वर्णन भी औपपातिक सूत्र से समझ लेना चाहिए। उस राजगृह नगर से बाहर उत्तरपूर्व दिशा में ईशान कोण में—गुणशील नामक चैत्य था। उसका वर्णन भी औपपातिक सूत्र के अनुसार ही कह लेना चाहिए।

३—तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे पडिय-जिण्णुज्जाणे यावि होत्था, विणट्ठदेवकुले परिसाडियतोरणघरे नाणा-विहगुच्छ-गुम्म-लया-वल्लि-वच्छ-च्छाइए अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था ।

उस गुणशील चैत्य से न बहुत दूर न अधिक समीप, एक भाग में गिरा हुआ जीर्ण उद्यान था। उस उद्यान का देवकुल विनष्ट हो चुका था। उस के द्वारों आदि के तोरण और दूसरे गृह भग्न हो गये थे। नाना प्रकार के गुच्छों, गुल्मों (बांस आदि की झाड़ियों) अशोक आदि की लताओं, ककड़ी आदि की बेलों तथा आम्र आदि के वृक्षों से वह उद्यान व्याप्त था। सैकड़ों वन्य पशुओं के कारण वह भय उत्पन्न करता था—भयंकर जान पड़ता था।

४—तस्स णं जिन्नुज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे भग्गकूवए यावि होत्था ।

उस जीर्ण उद्यान के बहुमध्यदेश भाग में—बीचों-बीच एक टूटा-फूटा बड़ा कूप भी था।

१. औपपातिकसूत्र, ३. २. औप० सूत्र ६. ३. औप० २.

५—तस्स णं भग्गकूवस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे मालुयाकच्छए यावि होत्था, किण्हे किण्होभासे जाव [नीले नीसोभासे हरिए हरिओभासे सीए सीओभासे णिद्धे णिद्धोभासे तिव्वे तिव्वोभासे, किण्हे किण्हच्छाए नीले नीलच्छाए हरिए हरियच्छाए, सीए सीयच्छाए, णिद्धे णिद्धच्छाए, तिव्वे तिव्वच्छाए, घण-कडिअकडिच्छाए] रम्मे महामेहनिउरंबभूए बहूहिं रुक्खेहि य गुच्छेहि य गुम्मेहि य लयाहि य वल्लीहि य तणेहि य कुसेहि य खाणुएहि य संछन्ने पलिच्छन्ने अंतो झुसिरे बाहिं गंभीरे अणेगवालसयसंकणिज्जे यावि होत्था।

उस भग्न कूप से न अधिक दूर न अधिक समीप, एक जगह एक बड़ा मालुकाकच्छ था। वह अंजन के समान कृष्ण वर्ण वाला था और कृष्ण-प्रभा वाला था—देखने वालों को कृष्ण वर्ण ही दिखाई देता था, यावत् [मयूर की गर्दन के समान नील था, नील प्रभा वाला था, तोते की पूँछ के समान हरित और हरित प्रभा वाला था। वल्ली आदि से व्याप्त होने के कारण शीत स्पर्श वाला था और शीत स्पर्श वाला ही प्रतीत होता था। वह रूक्ष नहीं बल्कि स्निग्ध था एवं स्निग्ध ही प्रतीत होता था। उसके वर्णादि गुण प्रकर्षवान् थे। वह कृष्ण होते हुए कृष्ण छाया वाला, इसी प्रकार नील, नील छाया वाला, हरित, हरित छाया वाला, शीत, शीत छाया वाला, तीव्र, तीव्र छाया वाला, और अत्यन्त सघन छाया वाला था] रमणीय और महामेघों के समूह जैसा था। वह बहुत-से वृक्षों, गुच्छों गुल्मों, लताओं, बेलों, तृणों, कुशों (दर्भ) और ठूंठों से व्याप्त था और चारों ओर से आच्छादित था। वह अन्दर से पोला अर्थात् विस्तृत था और बाहर से गंभीर था, अर्थात् अन्दर दृष्टि का संचार न हो सकने के कारण सघन था। अनेक सैकड़ों हिंसक पशुओं अथवा सर्पों के कारण शंकाजनक था।

विवेचन—मालुक, वृक्ष की एक जाति है। उसके फल में एक ही गुठली होती है। अथवा मालुक का अर्थ ककड़ी, फूटककड़ी आदि भी होता है। उनकी झाड़ी मालुकाकच्छ कहलाती है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी वस्तु का असली वर्ण अन्य प्रकार का होता है किन्तु बहुत समीपता अथवा बहुत दूरी के कारण वह वर्ण अन्य—भिन्न प्रकार का भासित—प्रतीत होता है। मालुकाकच्छ के विषय में ऐसा नहीं था। वह जिस वर्ण का था उसी वर्ण का जान पड़ता था। यही प्रकट करने के लिए यहाँ कहा गया है कि वह कृष्ण वर्ण वाला और कृष्णप्रभा वाला था, आदि।

६—तत्थ णं रायगिहे नगरे धण्णे नामं सत्थवाहे अड्ढे दित्ते जाव [विच्छिण्ण-विउल-सयणासण-भवण-जाण-वाहणा-इण्णे बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूए बहुधण-बहुजायरूव-रयए आओग-पओग-संपउत्ते विच्छड्डिय-] विउलभत्तपाणे। तस्स णं धन्नस्स सत्थवाहस्स भद्दा नामं भारिया होत्था, सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा लक्खण-वंजणगुणोववेया माणुम्माणप्पमाण-पडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगी ससिसोमागारा कंता पियदंसणा सुरूवा करयलपरिमियतिवलियमज्झा कुंडलुल्लिहियगंडलेहा कोमुइरयणियरपडिपुण्णसोमवयणा सिंगारागारचारुवेसा जाव [संगय-गय-हसिय-भणिय-विहिय-विलास-सललिय-संलाव-निउण-जुत्तोवयार-कुसला पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा] पडिरूवा वंझा अवियाउरी जाणुकोप्परमाया यावि होत्था।

राजगृह नगर में धन्य नामक सार्थवाह था। वह समृद्धिशाली था, तेजस्वी था, [उसके यहाँ विस्तीर्ण एवं विपुल शय्या, आसन, यान तथा वाहन थे, बहुसंख्यक दास, दासी, गायें, भैंसें तथा

बकरियाँ थीं, बहुत धन सोना एवं चांदी थी, उसके यहाँ खूब लेन-देन होता था] घर में बहुत-सा भोजन-पानी तैयार होता था

उस धन्य सार्थवाह की पत्नी का नाम भद्रा था। उसके हाथ पैर सुकुमार थे। पाँचों इन्द्रियाँ हीनता से रहित परिपूर्ण थीं। वह स्वस्तिक आदि लक्षणों तथा तिल मसा आदि व्यंजनों के गुणों से युक्त थी। मान, उन्मान और प्रमाण से परिपूर्ण थी। अच्छी तरह उत्पन्न हुए—सुन्दर सब अवयवों के कारण वह सुन्दरांगी थी। उसका आकार चन्द्रमा के समान सौम्य था। वह अपने पति के लिए मनोहर थी। देखने में प्रिय लगती थी। सुरूपवती थी। मुट्ठी में समा जाने वाला उसका मध्य भाग (कटिप्रदेश) त्रिवलि से सुशोभित था। कुंडलों से उसके गंडस्थलों की रेखा घिसती रहती थी। उसका मुख पूर्णिमा के चन्द्र के समान सौम्य था। वह शृंगार का आगार थी। उसका वेष सुन्दर था। यावत् [उसकी चाल, उसका हँसना तथा बोलना सुसंगत था—मर्यादानुसार था, उसका विलास, आलाप-संलाप, उपचार—सभी कुछ संस्कारिता के अनुरूप था। उसे देखकर प्रसन्नता होती थी। वह वस्तुतः दर्शनीय थी, सुन्दर थी] वह प्रतिरूप थी—उसका रूप प्रत्येक दर्शक को नया-नया ही दिखाई देता था। मगर वह वन्ध्या थी, प्रसव करने के स्वभाव से रहित थी। जानु (घुटनों) और कूर्पर (कोहनी) की ही माता थी, अर्थात् सन्तान न होने से जानु और कूर्पर ही उसके स्तनों का स्पर्श करते थे। या उसकी गोद में जानु और कूर्पर ही स्थित होते थे—पुत्र नहीं।

७—तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स पंथए नामं दासचेडे होत्था, सव्वंगसुंदरंगे मंसोवचिए बालकीलावणकुसले यावि होत्था।

उस धन्य सार्थवाह का पंथक नामक एक दास-चेटक था। वह सर्वांग-सुन्दर था, मांस से पुष्ट था और बालकों को खेलाने में कुशल था।

८—तए णं से धण्णे सत्थवाहे रायगिहे नयरे बहूणं नगरनिगमसेट्ठिसत्थवाहाणं अट्ठारसण्ह य सेणिप्पसेणीणं बहुसु कज्जेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य जाव[1] चक्खुभूए यावि होत्था। नियगस्स वि य णं कुडुंबस्स बहुसु य कज्जेसु जाव चक्खुभूए यावि होत्था।

वह धन्य सार्थवाह राजगृह नगर में बहुत से नगर के व्यापारियों श्रेष्ठियों और सार्थवाहों के तथा अठारहों श्रेणियों (जातियों) और प्रश्रेणियों (उपजातियों) के बहुत से कार्यों में, कुटुम्बों में—कुटुम्ब सम्बन्धी विषयों में और मंत्रणाओं में यावत् चक्षु के समान मार्गदर्शक था और अपने कुटुम्ब में भी बहुत से कार्यों में यावत् चक्षु के समान था।

९—तत्थ णं रायगिहे नगरे विजए नामं तक्करे होत्था, पावे चंडालरूवे भीमतररुद्दकम्मे आरुसिय-दित्त-रत्त-नयणे खर-फरुस-महल्ल-विगय-बीभत्थदाढिए असंपुडियउट्ठे उद्धय-पइन्न-लंबंत-मुद्धए भमर-राहुवन्ने निरणुक्कोसे निरणुतावे दारुणे पइभए निसंसइए निरणुकंपे अहिव्व एगंतदिट्ठिए, खुरे व एगंतधाराए, गिद्धे व आमिसतल्लिच्छे अग्गिमिव सव्वभक्खी, जलमिव सव्वगाही, उक्कंचण-माया-नियडि- कूडकवड-साइ- संपओगबहुले, चिरनगरविणट्ठ-दुट्ठसीलायारचरित्ते, जूयपसंगी, मज्ज-

१. प्र. अ. सूत्र १५.

पसंगी भोज्जपसंगी, मंसपसंगी, दारुणे, हियपदारए, साहसिए, संधिच्छेयए, उवहिए, विस्संभघाई, आलीयगतित्थभेय-लहुहत्थसंपउत्ते, परस्स दव्वहरणम्मि निच्चं अणुबद्धे, तिव्ववेरे,

रायगिहस्स नगरस्स बहूणि अइगमणाणि य निग्गमणाणि य दाराणि य अवदाराणि य छिंडिओ य खंडिओ य नगरनिद्धमणाणि य संवट्टणाणि य निव्वट्टणाणि य जूयखलयाणि य पाणागाराणि य वेसागाराणि य तद्दारट्ठाणाणि (तक्करट्ठाणाणि) य तक्करघराणि य सिंघाडगाणि य तियाणि य चउक्काणि य चच्चराणि य नागघराणि य भूयघराणि य जक्खदेउलाणि य सभाणि य पवाणि य पाणियसालाणि य सुन्नघराणि य आभोएमाणे आभोएमाणे मग्गमाणे गवेसमाणे, बहुजणस्स छिद्देसु य विसमेसु य विहुरेसु य वसणेसु य अब्भुदएसु य उस्सवेसु य पसवेसु य तिहीसु य छणेसु य जन्नेसु य पव्वणीसु य मत्तपमत्तस्स य वक्खित्तस्स य वाउलस्स य सुहियस्स स दुक्खियस्स य विदेसत्थस्स य विप्पवसियस्स य मग्गं च छिद्दं च विरहं च अन्तरं च मग्गमाणे गवेसमाणे एवं च णं विहरइ।

उस राजगृह में विजय नामक एक चोर था। वह पाप कर्म करने वाला, चाण्डाल के समान रूप वाला, अत्यन्त भयानक और क्रूर कर्म करने वाला था। क्रुद्ध हुए पुरुष के समान देदीप्यमान और लाल उसके नेत्र थे। उसकी दाढ़ी या दाढ़ें अत्यन्त कठोर, मोटी, विकृत और वीभत्स (डरावनी) थी। उसके होठ आपस में मिलते नहीं थे, अर्थात् दांत बड़े और बाहर निकले हुए थे और होठ छोटे थे। उसके मस्तक के केश हवा से उड़ते रहते थे, बिखरे रहते थे और लम्बे थे। वह भ्रमर और राहु के समान काला था। वह दया और पश्चात्ताप से रहित था। दारुण (रौद्र) था और इसी कारण भय उत्पन्न करता था। वह नृशंस—नरसंघातक था। उसे प्राणियों पर अनुकम्पा नहीं थी। वह साँप की भाँति एकान्त दृष्टि वाला था, अर्थात् किसी भी कार्य के लिए पक्का निश्चय कर लेता था। वह छुरे की तरह एक धार वाला था, अर्थात् जिसके घर चोरी करने का निश्चय करता उसी में पूरी तरह संलग्न हो जाता था। वह गिद्ध की तरह मांस का लोलुप था और अग्नि के समान सर्वभक्षी था अर्थात् जिसकी चोरी करता, उसका सर्वस्व हरण कर लेता था। जल के समान सर्वग्राही था, अर्थात् नजर पर चढ़ी सब वस्तुओं का अपहरण कर लेता था। वह उत्कंचन में (हीन गुण वाली वस्तु को अधिक मूल्य लेने के लिए उत्कृष्ट गुण वाली बनाने में) वंचन (दूसरों को ठगने) में, माया (पर को धोखा देने की बुद्धि) में, निकृति (बगुला के समान ढोंग करने में), कूट में अर्थात् तोल-नाप को कम-ज्यादा करने में और कपट करने में अर्थात् वेष और भाषा को बदलने में अति निपुण था। सातिसंप्रयोग में अर्थात् उत्कृष्ट वस्तु में मिलावट करने में भी निपुण था या अविश्वास करने में चतुर था। वह चिरकाल से नगर में उपद्रव कर रहा था। उसका शील, आचार और चरित्र अत्यन्त दूषित था। वह द्यूत से आसक्त था, मदिरापान में अनुरक्त था, अच्छा भोजन करने में गृद्ध था और मांस में लोलुप था। लोगों के हृदय को विदारण कर देने वाला, साहसी अर्थात् परिणाम का विचार न करके कार्य करने वाला, सेंध लगाने वाला, गुप्त कार्य करने वाला, विश्वासघाती और आग लगा देने वाला था। तीर्थ रूप देवद्रोणी (देवस्थान) आदि का भेदन करके उसमें से द्रव्य हरण करने वाला और हस्तलाघव वाला था। पराया द्रव्य हरण करने में सदैव तैयार रहता था। तीव्र वैर वाला था।

वह विजय चोर राजगृह नगर के बहुत से प्रवेश करने के मार्गों, निकलने के मार्गों, दरवाजों, पीछे की खिड़कियों, छेड़ियों, किलों की छोटी खिड़कियों, मोरियों, रास्ते मिलने की जगहों, रास्ते

अलग-अलग होने के स्थानों, जुआ के अखाड़ों, मदिरापान के अड्डों, वेश्या के घरों, उनके घरों के द्वारों (चोरों के अड्डों) चोरों के घरों, शृंगाटकों—सिंघाड़े के आकार के मार्गों, तीन मार्ग मिलने के स्थानों, चौकों, अनेक मार्ग मिलने के स्थानों, नागदेव के गृहों, भूतों के गृहों, यक्षगृहों, सभास्थानों, प्याउओं, दुकानों और शून्यगृहों को देखता फिरता था। उनकी मार्गणा करता था—उनके विद्यमान गुणों का विचार करता था, उनकी गवेषणा करता था, अर्थात् थोड़े जनों का परिवार हो तो चोरी करने में सुविधा हो, ऐसा विचार किया करता था। विषम-रोग की तीव्रता, इष्ट जनों के वियोग, व्यसन-राज्य आदि की ओर से आये हुए संकट, अभ्युदय-राज्यलक्ष्मी आदि के लाभ, उत्सवों, प्रसव-पुत्रादि के लाभ, मदन त्रयोदशी आदि तिथियों, क्षण-बहुत लोकों के भोज आदि प्रसंगों, यज्ञ-नाग आदि की पूजा, कौमुदी आदि पर्वणी में, अर्थात् इन सब प्रसंगों पर बहुत से लोग मद्यपान से मत्त हो गए हों, प्रमत्त हुए हों, अमुक कार्य में व्यस्त हों, विविध कार्यों में आकुल-व्याकुल हों, सुख में हों, दुःख में हों, परदेश गये हों, परदेश जाने की तैयारी में हों, ऐसे अवसरों पर वह लोगों के छिद्र का, विरह (एकान्त) का और अन्तर (अवसर) का विचार करता और गवेषणा करता रहता था।

१०—बहिया वि य णं रायगिहस्स नगरस्स आरामेसु य, उज्जाणेसु य वावि-पोक्खरिणी-दीहिया-गुंजालिया-सरेसु य सरपंतिसु य सरसरपंतियासु य जिण्णुज्जाणेसु य भग्गकूवएसु य मालुया-कच्छएसु य सुसाणेसु य गिरिकन्दर-लेण-उवट्ठाणेसु य बहुजणस्स छिद्देसु य जाव अन्तरं मग्गमाणे गवेसमाणे एवं च णं विहरइ।

वह विजय चोर राजगृह नगर के बाहर भी आरामों में अर्थात् दम्पती के क्रीड़ा करने के लिए माधवीलतागृह आदि जहाँ बने हों ऐसे बगीचों में, उद्यानों में अर्थात् पुष्पों वाले वृक्ष जहाँ हों और लोग जहाँ जाकर उत्सव मनाते हों ऐसे बागों में, चौकोर बावड़ियों में, कमल वाली पुष्करिणियों में, दीर्घिकाओं (लम्बी बावड़ियों) में, गुंजालिकाओं (बांकी बावड़ियों) में, सरोवरों में, सरोवरों की पंक्तियों में, सर-सर पंक्तियों (एक तालाब का पानी दूसरे तालाब में जा सके, ऐसे सरोवरों की पंक्तियों) में, जीर्ण उद्यानों में, भग्न कूपों में, मालुकाकच्छों की झाड़ियों में, श्मशानों में, पर्वत की गुफाओं में, लयनों अर्थात् पर्वतस्थित पाषाणगृहों में तथा उपस्थानों अर्थात् पर्वत पर स्थित पाषाण-मंडपों में उपर्युक्त बहुत लोगों के छिद्र आदि देखता रहता था।

११—तए णं तीसे भद्दाए भारियाए अन्नया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकाल-समयंसि कुडुंबजाग-रियं जागरमाणीए अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव (चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे) समुप्पज्जित्था—

'अहं धन्नेण सत्थवाहेण सद्धिं बहूणि वासाणि सद्द-फरिस-रस-गंध-रूवाणि माणुस्सयाइं कामभोगाइं पच्चणुभवमाणी विहरामि। नो चेव णं अहं दारगं वा दारिगं वा पयायामि।

तं धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाव [संपुण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयत्थाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयपुण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयलक्खणाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयविहवाओ णं ताओ अम्मयाओ] सुलद्धे णं माणुस्सए जम्मजीवियफले तासिं अम्मयाणं, जासिं मन्ने णियगकुच्छि-संभूयाइं थणदुद्धलुद्धयाइं महुरसमुल्लावगाइं मम्मणपयंपियाइं थणमूला कक्खदेसभागं अभिसरमाणाइं मुद्धयाइं थणयं पिबंति। तओ य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊणं उच्छंगे निवेसियाइं देन्ति समुल्लावए पिए सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभणिए।

तं अहं णं अधन्ना अपुन्ना अलक्खणा अकयपुन्ना एत्तो एगमवि न पत्ता ।'

धन्य सार्थवाह की भार्या भद्रा एक बार कदाचित् मध्यरात्रि के समय कुटुम्ब सम्बन्धी चिन्ता कर रही थी कि उसे इस प्रकार का विचार [चिन्तन, अभिलाष एवं मानसिक संकल्प] उत्पन्न हुआ—

बहुत वर्षों से मैं धन्य सार्थवाह के साथ शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध और रूप यह पांचों प्रकार के मनुष्य सम्बन्धी कामभोग भोगती हुई विचर रही हूँ, परन्तु मैंने एक भी पुत्र या पुत्री को जन्म नहीं दिया।

वे माताएँ धन्य हैं, यावत् [वे माताएँ प्रशस्त पुण्य वाली हैं, वे माताएँ कृतार्थ हैं—पूर्ण मनोरथ वाली हैं, वस्तुतः उन माताओं ने पुण्य उपार्जन किया है, उन माताओं के लक्षण सार्थक हुए हैं, और वे माताएँ वैभवशालिनी हैं] उन माताओं को मनुष्य-जन्म और जीवन का प्रशस्त—भला फल प्राप्त हुआ है, जो माताएँ, मैं मानती हूँ कि, अपनी कूंख से उत्पन्न हुए, स्तनों का दूध पीने में लुब्ध, मीठे बोल बोलने वाले, तुतला-तुतला कर बोलने वाले और स्तन के मूल से कांख के प्रदेश की ओर सरकने वाले मुग्ध बालकों को स्तनपान कराती हैं। और फिर कमल के समान कोमल हाथों से उन्हें पकड़ कर अपनी गोद में बिठलाती हैं और बार-बार अतिशय प्रिय वचन वाले मधुर उल्लाप देती हैं।

मैं अधन्य हूँ, पुण्यहीन हूँ, कुलक्षणा हूँ और पापिनी हूँ कि इनमें से एक भी (विशेषण) न पा सकी।

१२—तं सेयं मम कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव[1] जलंते धण्णं सत्थवाहं आपुच्छित्ता धण्णेणं सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी सुबहुं विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेत्ता सुबहुं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारं गहाय बहूहिं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधी-परिजण-महिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा जाइं इमाइं रायगिहस्स नगरस्स बहिया णागाणि य भूयाणि य जक्खाणि य इंदाणि य खंदाणि य रुद्दाणि य सिवाणि य वेसमणाणि य तत्थ णं बहूणं नागपडिमाण य जाव वेसमणपडिमाण य महरिहं पुप्फच्चणियं करेत्ता जाणुपायपडियाए एवं वइत्तए:—जइ णं अहं देवाणुप्पिया ! दारगं वा दारिगं वा पयायामि, तो णं अहं तुब्भं जायं च दायं च भायं च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु उवाइयं उवाइत्तए।

अतएव मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि कल रात्रि के प्रभात रूप में प्रकट होने पर और सूर्योदय होने पर धन्य सार्थवाह से पूछ कर, धन्य सार्थराह की आज्ञा प्राप्त करके मैं बहुत-सा अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार तैयार कराके बहुत-से पुष्प वस्त्र गंधमाला और अलंकार ग्रहण करके, बहुसंख्यक मित्रों, ज्ञातिजनों, निजजनों, स्वजनों सम्बन्धियों और परिजनों की महिलाओं के साथ—उनसे परिवृत होकर, राजगृह नगर के बाहर जो नाग, भूत, यक्ष, इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव और वैश्रमण आदि देवों के आयतन हैं और उनमें जो नाग की प्रतिमा यावत् वैश्रमण की प्रतिमाएँ हैं, उनकी बहुमूल्य पुष्पादि से पूजा करके घुटने और पैर झुका कर अर्थात् उनको नमस्कार करके इस प्रकार कहूँ—'हे देवानुप्रिय ! यदि मैं एक भी पुत्र या पुत्री को जन्म दूंगी तो मैं तुम्हारी पूजा करूँगी, पर्व के दिन दान दूंगी, भाग—द्रव्य के लाभ का हिस्सा दूंगी और तुम्हारी अक्षय-निधि की वृद्धि करूंगी।' इस प्रकार अपनी इष्ट वस्तु की याचना करूँ।

१—प्र. अ. सूत्र १८

१३—एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कल्लं जाव[1] जलंते जेणामेव धण्णे सत्थवाहे तेणामेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता एवं वयासी—एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! तुब्भेहिं सद्धिं बहूइं वासाइं जाव[2] देन्ति समुल्लावए सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभणिए। तं णं अहं अहन्ना अपुन्ना अकयलक्खणा, एत्तो एगमवि न पत्ता। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिा! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी विउलं असणं ४ जाव अणुवड्ढेमि, उवाइयं करेत्तए।

भद्रा ने इस प्रकार विचार किया। विचार करके दूसरे दिन यावत् सूर्योदय होने पर जहां धन्य सार्थवाह थे, वहीं आई। आकर इस प्रकार बोली—

देवानुप्रिय! मैंने आपके साथ बहुत वर्षों तक कामभोग भोगे हैं, किन्तु एक भी पुत्र या पुत्री को जन्म नहीं दिया। अन्य स्त्रियाँ वार-बार अति मधुर वचन वाले उल्लाप देती हैं—अपने बच्चों की लोरियाँ गाती हैं, किन्तु मैं अधन्य, पुण्य-हीन और लक्षणहीन हूँ, जिससे पूर्वोक्त विशेषणों में से एक भी विशेषण न पा सकी। तो हे देवानुप्रिय! मैं चाहती हूँ कि आपकी आज्ञा पाकर विपुल अशन आदि तैयार कराकर नाग आदि की पूजा करूं यावत् उनकी अक्षय निधि की वृद्धि करूं, ऐसी मनौती मनाऊँ। (पूर्व सूत्र के अनुसार यहाँ भी सब कह लेना चाहिए)।

पति की अनुमति

१४—तए णं धण्णे सत्थवाहे भद्दं भारियं एवं वयासी—ममं पि य णं खलु देवाणुप्पिए! एस चेव मणोरहे—कहं णं तुमं दारगं दारियं वा पयाएज्जासि?' भद्दाए सत्थवाहीए एयमट्ठं अणुजाणाइ।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने भद्रा भार्या से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिये! निश्चय ही मेरा भी यही मनोरथ है कि किसी प्रकार तुम पुत्र या पुत्री का प्रसव करो—जन्म दो। इस प्रकार कह कर भद्रा सार्थवाही को उस अर्थ की अर्थात् नाग, भूत, यक्ष आदि की पूजा करने की अनुमति दे दी।

देवों की पूजा

१५—तए णं सा भद्दा सत्थवाही धण्णेणं सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठ जाव[3] हयहियया विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेइ। उवक्खडावेत्ता सुबहुं पुप्फ-गंध-वत्थ-मल्लालंकारं गेण्हइ। गेण्हित्ता सयाओ गिहाओ निग्गच्छइ। निग्गच्छित्ता रायगिहं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ। निग्गच्छित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहुं पुप्फ जाव मल्लालंकारं ठवेइ। ठवित्ता पुक्खरिणिं ओगाहेइ। ओगाहित्ता जलमज्जणं करेइ, जलकीडं करेइ, करित्ता ण्हाया कयबलिकम्मा उल्लपडसाडिगा जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव (पउमाइं कुमुयाइं णलिणाइं सुभगाइं सोगंधियाइं पोंडरीयाइं महापोंडरीयाइं सयवत्ताइं) सहस्सपत्ताइं ताइं गिण्हइ। गिण्हित्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ। पच्चोरुहित्ता तं सुबहुं पुप्फगंधमल्लं गेण्हइ। गेण्हित्ता जेणामेव नागघरए य जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता तत्थ णं नागपडिमाण य जाव

१. प्र. अ. सूत्र २८. २. द्वि. अ. सूत्र ११. ३. प्र. अ. सूत्र १८

वेसमणपडिमाण य आलोए पणामं करेइ, ईसिं पच्चुन्नमइ। पच्चुन्नमित्ता लोमहत्थगं परामुसइ। परामुसित्ता नागपडिमाओ य जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थेणं पमज्जइ, उदगधाराए अब्भुक्खेइ। अब्भुक्खित्ता पम्हलसुकुमालाए गंधकासाईए गायाइं लूहेइ। लूहित्ता महरिहं वत्थारुहणं च मल्लारुहणं च गंधारुहणं च चुन्नारुहणं च वन्नारुहणं च करेइ। करित्ता धूवं डहइ, डहित्ता जाणुपायपडिया पंजलिउडा एवं वयासी—'जइ णं अहं दारगं वा दारिगं वा पयायामि तो णं अहं जायं य जाव अणुवड्ढेमि त्ति कट्टु, उवाइयं करेइ, करित्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता विपुलं असणपाणखाइम-साइमं आसाएमाणी जाव (विसाएमाणी परिभाएमाणी परिभुंजेमाणी एवं च णं) विहरइ। जिमिया जाव (भुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा परम-) सुइभूया जेणेव सए गिहे तेणेव उवागया।

तत्पश्चात् वह भद्रा सार्थवाही धन्य सार्थवाह से अनुमति प्राप्त करके हृष्ट तुष्ट यावत् प्रफुल्लितहृदय होकर विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार कराती है। तैयार कराकर बहुत-से गंध, वस्त्र, माला और अलंकारों को ग्रहण करती है और फिर अपने घर से बाहर निकलती है। राजगृह नगर के बीचों-बीच होकर निकलती है। निकलकर जहाँ पुष्करिणी थी, वहीं पहुंचती है। वहां पहुँच कर उसने पुष्करिणी के किनारे बहुत-से पुष्प, गंध, वस्त्र, मालाएँ और अलंकार रख दिए। रख कर पुष्करिणी में प्रवेश किया, जलमज्जन किया, जलक्रीडा की, स्नान किया और बलिकर्म किया। तत्पश्चात् ओढ़ने-पहनने के दोनों गीले वस्त्र धारण किये हुए भद्रा सार्थवाही ने वहाँ जो उत्पल-कमल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुंडरीक, महापुंडरीक, शतपत्र और सहस्र-पत्र-कमल थे उन सबको ग्रहण किया। फिर पुष्करिणी से बाहर निकली। निकल कर पहले रक्खे हुए बहुत-से पुष्प, गंध माला आदि लिए और उन्हें लेकर जहाँ नागगृह था यावत् वैश्रमणगृह था, वहाँ पहुँची। पहुँच कर उनमें स्थित नाग की प्रतिमा यावत् वैश्रमण की प्रतिमा पर दृष्टि पड़ते ही उन्हें नमस्कार किया। कुछ नीचे झुकी। मोर-पिच्छी लेकर उससे नाग-प्रतिमा यावत् वैश्रमण-प्रतिमा का प्रमार्जन किया। जल की धार छोड़ कर अभिषेक किया। अभिषेक करके रुंएँदार और कोमल कषाय-रंग वाले सुगंधित वस्त्र से प्रतिमा के अंग पोंछे। पोंछकर बहुमूल्य वस्त्रों का आरोहण किया—वस्त्र पहनाए, पुष्पमाला पहनाई, गंध का लेपन किया, चूर्ण चढ़ाया और शोभाजनक वर्ण का स्थापन किया, यावत् धूप जलाई। तत्पश्चात् घुटने और पैर टेक कर, दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—

'अगर मैं पुत्र या पुत्री को जन्म दूंगी तो मैं तुम्हारी याग—पूजा करूंगी, यावत् अक्षय निधि की वृद्धि करूंगी।' इस प्रकार भद्रा सार्थवाही मनौती करके जहाँ पुष्करिणी थी, वहाँ आई और विपुल अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम आहार का आस्वादन करती हुई यावत् विचरने लगी। भोजन करने के पश्चात् शुचि होकर अपने घर आ गई।

पुत्र-प्राप्ति

१६—अदुत्तरं च णं भद्दा सत्थवाही चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुन्नमासिणीसु विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडेइ, उवक्खडित्ता बहवे नागा य जाव[1] वेसमणा य उवायमाणी नमंसमाणी जाव एवं च णं विहरइ।

१. द्वि. अ. सूत्र १२

तए णं सा भद्दा सत्थवाही अन्नया कयाइ केणइ कालंतरेणं आवन्नसत्ता जाया यावि होत्था।

तत्पश्चात् भद्रा सार्थवाही चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन तैयार करती। तैयार करके वहुत से नाग यावत् वैश्रमण देवों की मनौती करती—भोग चढ़ाती थी और उन्हें नमस्कार किया करती थी।

तत्पश्चात् वह भद्रा सार्थवाही कुछ समय व्यतीत हो जाने पर एकदा कदाचित् गर्भवती हो गई।

१७—तए णं तीसे भद्दाए सत्थवाहीए दोसु मासेसु वीइक्कंतेसु तइए मासे वट्टमाणे इमेयारूवे दोहले पाउब्भूए—धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाव[1] कयलक्खणाओ णं ताओ अम्मयाओ, जाओ णं विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं सुबहुयं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारं गहाय मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियण-महिलियाहि य सद्धि संपरिवुडाओ रायगिहं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति। निग्गच्छित्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता पोक्खरिणिं ओगाहिंति, ओगाहित्ता ण्हायाओ कयवलिकम्माओ सव्वालंकारविभूसियाओ विपुलं असण-पाण खाइम-साइमं आसाएमाणीओ जाव (विसाएमाणीओ परिभाएमाणीओ) पडिभुंजेमाणीओ दोहलं विणेन्ति। एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कल्लं जाव[2] जलंते जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! मम तस्स गब्भस्स जाव (दोसु मासेसु वीइक्कंतेसु तइए मासे वट्टमाणे इमेयारूवे दोहले पाउब्भूए-धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाव दोहलं) विणेन्ति; तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! तुब्भेहि अब्भणुन्नाया समाणी जाव विहरित्तए।

'अहासुहं देवाणुप्पिए! मा पडिबंधं करेह।'

तत्पश्चात् भद्रा सार्थवाही को (गर्भवती हुए) दो मास वीत गये। तीसरा मास चल रहा था, तव इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ—'वे माताएँ धन्य हैं, यावत् [पुण्यशालिनी हैं, कृतार्थ हैं] तथा वे माताएँ शुभ लक्षण वाली हैं, जो विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम—यह चार प्रकार का आहार तथा वहुत-सारे पुष्प, वस्त्र, गंध और माला तथा अलंकार ग्रहण करके मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्वन्धी और परिजनों की स्त्रियों के साथ परिवृत होकर राजगृह नगर के बीचोंबीच होकर निकलती हैं। निकल कर जहाँ पुष्करिणी है वहाँ आती हैं, आकर पुष्करिणी में अवगाहन करती हैं, अवगाहन करके स्नान करती हैं, वलिकर्म करती हैं और सव अलंकारों से विभूषित होती हैं। फिर विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार का आस्वादन करती हुई, विशेष आस्वादन करती हुई, विभाग करती हुई तथा परिभोग करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं।' इस प्रकार भद्रा सार्थवाही ने विचार किया। विचार करके कल—दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय होने पर धन्य सार्थवाह के पास आई। आकर धन्य सार्थवाह से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय! मुझे उस गर्भ के प्रभाव से ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ है कि वे माताएँ धन्य हैं और सुलक्षणा हैं जो अपने दोहद को पूर्ण करती हैं, आदि। अतएव हे देवानुप्रिय! आपकी आज्ञा हो तो मैं भी दोहद पूर्ण करना चाहती हूँ।

सार्थवाह ने कहा—हे देवानुप्रिये! जिस प्रकार सुख उपजे वैसा करो। उस में ढ़ील मत करो।

---

१. द्वि. अ. सूत्र ११ २. प्र. अ. सूत्र २८

१८—तए णं सा भद्दा सत्थवाही धण्णेणं सत्थवाहेणं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठा जाव विउलं असणपाणखाइमसाइमं जाव उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता ण्हाया जाव (कयबलिकम्मा) उल्लपडसाडगा जेणेव णागघरए जाव[1] धूवं दहइ। दहित्ता पणामं करेइ, पणामं करेत्ता जेणेव पोक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता तए णं ताओ मित्तनाइ जाव नगरमहिलाओ भद्दं सत्थवाहिं सव्वालंकार-विभूसियं करेइ।

तए णं सा भद्दा सत्थवाही ताहिं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजण-णगरमहिलियाहिं सद्धि तं विउलं असणपाणखाइमसाइमं जाव परिभुंजेमाणी य दोहलं विणेइ। विणित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह से आज्ञा पाई हुई भद्रा सार्थवाही हृष्ट-तुष्ट हुई। यावत् विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार करके यावत् स्नान तथा बलिकर्म करके यावत् पहनने और ओढ़ने का गीला वस्त्र धारण करके जहाँ नागायतन आदि थे, वहाँ आई। यावत् धूप जलाई तथा बलिकर्म एवं प्रणाम किया। प्रणाम करके जहाँ पुष्करिणी थी, वहाँ आई। आने पर उन मित्र, ज्ञाति यावत् नगर की स्त्रियों ने भद्रा सार्थवाही को सर्व आभूषणों से अलंकृत किया।

तत्पश्चात् भद्रा सार्थवाही ने उन मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी, परिजन एवं नगर की स्त्रियों के साथ विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम का यावत् परिभोग करके अपने दोहद को पूर्ण किया। पूर्ण करके जिस दिशा से वह आई थी, उसी दिशा में लौट गई।

पुत्र-प्रसव

१९—तए णं सा भद्दा सत्थवाही संपुन्नडोहला जाव[2] तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहइ।

तएणं सा भद्दा सत्थवाही णवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाण राइंदियाणं सुकुमाल-पाणि-पायं जाव सव्वंगसुंदरंगं दारगं पयाया।

तत्पश्चात् भद्रा सार्थवाही दोहद पूर्ण करके सभी कार्य सावधानी से करती तथा पथ्य भोजन करती हुई यावत् उस गर्भ को सुखपूर्वक वहन करने लगी।

तत्पश्चात् उस भद्रा सार्थवाही ने नौ मास सम्पूर्ण हो जाने पर और साढ़े सात दिन-रात व्यतीत हो जाने पर सुकुमार हाथों-पैरों वाले बालक का प्रसव किया।

देवदत्त-नामकरण

२०—तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे जातकम्मं करेन्ति, करित्ता तहेव जाव[3] विउलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडावेंति, उवक्खडावित्ता तहेव मित्तनाइ० भोयावेत्ता अय-मेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फण्णं नामधेज्जं करेंति—'जम्हा णं अम्हं इमे दारए बहूणं नागपडिमाण य जाव[4] वेसमणपडिमाण य उवाइयलद्धे णं तं होउ णं अम्हं इमे दारए देवदिन्ननामेणं।'

तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो जायं च दायं च भायं च अक्खयनिहिं च अणुवड्ढेन्ति।

तत्पश्चात् उस बालक के माता-पिता ने पहले दिन जातकर्म नामक संस्कार किया। करके उसी प्रकार यावत् [दूसरे दिन जागरण, तीसरे दिन चन्द्र-सूर्यदर्शन, आदि लोकाचार किया। सूतक

१. द्वि. अ. सूत्र १५ २. प्र. अ. सूत्र ८६ ३. प्र. अ. सूत्र ९३-९५. ४. द्वि अ. सूत्र १२.

सम्बन्धी अशुचि दूर हो जाने पर वारहवें दिन विपुल] अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार तैयार करवाया। तैयार करवाकर उसी प्रकार मित्र ज्ञाति जनों आदि को भोजन कराकर इस प्रकार का गौण अर्थात् गुणनिष्पन्न नाम रक्खा—क्योंकि हमारा यह पुत्र बहुत-सी नाग-प्रतिमाओं यावत् [भूत, यक्ष, इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव] तथा वैश्रमण प्रतिमाओं की मनौती करने से उत्पन्न हुआ है, इस कारण हमारा यह पुत्र 'देवदत्त' नाम से हो, अर्थात् इसका नाम 'देवदत्त' रक्खा जाय।

तत्पश्चात् उस वालक के माता-पिता ने उन देवताओं की पूजा की, उन्हें दान दिया, प्राप्त धन का विभाग किया और अक्षय निधि की वृद्धि की अर्थात् मनौती के रूप में पहले जो संकल्प किया था उसे पूरा किया।

पुत्र का अपहरण

२१—तए णं से पंथए दासचेडए देवदिन्नस्स दारगस्स वालग्गाही जाए। देवदिन्नं दारयं कडीए गेण्हइ, गेण्हित्ता बहूहिं डिंभएहिं य डिंभगाहि य दारएहि य दारियाहि य कुमारेहि य कुमारियाहि य सद्धिं संपरिवुडे अभिरमइ।

तत्पश्चात् वह पंथक नामक दास चेटक देवदत्त वालक का वालग्राही (बच्चों को खेलाने वाला) नियुक्त हुआ। वह वालक देवदत्त को कमर में ले लेता और लेकर बहुत-से बच्चों, बच्चियों, वालकों, वालिकाओं, कुमारों और कुमारिकाओं के साथ, उनसे परिवृत होकर खेलता रहता था।

२२—तए णं सा भद्दा सत्थवाही अन्नया कयाइं देवदिन्नं दारयं ण्हायं कयवलिकम्मं कयकोउय-मंगलपायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं करेइ। पंथयस्स दासचेडयस्स हत्थयंसि दलयइ।

तए णं पंथए दासचेडए भद्दाए सत्थवाहीए हत्थाओ देवदिन्नं दारयं कडीए गेण्हइ, गेण्हित्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमित्ता बहूहिं डिंभएहि य डिंभियाहि य जाव [दारएहिं दारियाहि कुमारेहिं] कुमारयाहि य सद्धिं संपरिवुडे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता देवदिन्नं दारगं एगंते ठावेइ। ठावित्ता बहूहिं डिंभएहि य जाव कुमारियाहि य सद्धिं संपरिवुडे पमत्ते यावि होत्था विहरइ।

तत्पश्चात् भद्रा सार्थवाही ने किसी समय स्नान किये हुए, वलिकर्म, कौतुक, मंगल और प्रायश्चित्त किये हुए तथा समस्त अलंकारों से विभूषित हुए देवदत्त वालक को, दास चेटक पंथक के हाथ में सौंपा।

पंथक दास चेटक ने भद्रा सार्थवाही के हाथ से देवदत्त वालक को लेकर अपनी कटि में ग्रहण किया। ग्रहण करके वह अपने घर से वाहर निकला। वाहर निकल कर बहुत-से वालकों, वालिकाओं, बच्चों, बच्चिओं, कुमारों और कुमारिकाओं से परिवृत होकर राजमार्ग में आया। आकर देवदत्त वालक को एकान्त में—एक ओर विठला दिया। विठला कर बहुसंख्यक वालकों यावत् कुमारिकाओं के साथ, (देवदत्त की ओर से) असावधान होकर खेलने लगा—खेलने में मगन हो गया।

हत्या

२३—इमं च णं विजए तक्करे रायगिहस्स नगरस्स बहूणि वाराणि य अवदाराणि य तहेव

जाव[1] आभोएमाणे मग्गेमाणे गवेसेमाणे जेणेव देवदिन्ने दारए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता देवदिन्नं दारगं सव्वालंकारविभूसियं पासइ। पासित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स आभरणालंकारेसु मुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववन्ने पंथयं दासचेडं पमत्तं पासइ। पासित्ता दिसालोयं करेइ। करेत्ता देवदिन्नं दारयं गेण्हइ। गेण्हित्ता कक्खंसि अल्लियावेइ। अल्लियावित्ता उत्तरिज्जेणं पिहेइ। पिहेत्ता सिग्घं तुरियं चवलं वेइयं रायगिहस्स नगरस्स अवदारेणं निग्गच्छइ। निग्गच्छित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे, जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता देवदिन्नं दारयं जीवियाओ ववरोवेइ। ववरोवित्ता आभरणालंकारं गेण्हइ। गेण्हित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरयं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीवियविप्पजढं भग्गकूवए पक्खिवइ। पक्खिवित्ता जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता मालुयाकच्छयं अणुपविसइ। अणुपविसित्ता निच्चले निप्फंदे तुसिणीए दिवसं खिवेमाणे चिट्ठइ।

इसी समय विजय चोर राजगृह नगर के बहुत-से द्वारों एवं अपद्वारों आदि को यावत् पूर्वोक्त कथनानुसार देखता हुआ, उनकी मार्गणा करता हुआ, गवेषणा करता हुआ, जहाँ देवदत्त बालक था, वहाँ आ पहुँचा। आकर देवदत्त बालक को सभी आभूषणों से भूषित देखा। देखकर बालक देवदत्त के आभरणों और अलंकारों में मूर्छित (आसक्त-विवेकहीन) हो गया, ग्रथित (लोभ से ग्रस्त) हो गया, गृद्ध (आकांक्षायुक्त) हो गया और अध्युपपन्न (उनमें अत्यन्त तन्मय) हो गया। उसने दास चेटक पंथक को बेखबर देखा और चारों ओर दिशाओं का अवलोकन किया—इधर-उधर देखा। फिर बालक देवदत्त को उठाया और उठाकर कांख में दबा लिया। ओढ़ने के कपड़े से उसे छिपा लिया—ढक लिया। फिर शीघ्र, त्वरित, चपल और उतावल के साथ राजगृह नगर के अपद्वार से बाहर निकल गया। निकल कर जहाँ पूर्ववर्णित जीर्ण उद्यान और जहाँ टूटा-फूटा कुआ था, वहाँ पहुँचा। वहाँ पहुँच कर देवदत्त बालक को जीवन से रहित कर दिया। उसे निर्जीव करके उसके सब आभरण और अलंकार ले लिये। फिर बालक देवदत्त के प्राणहीन और चेष्टाहीन एवं निर्जीव शरीर को उस भग्न कूप में पटक दिया। इसके बाद वह मालुकाकच्छ में घुस गया और निश्चल अर्थात् गमनागमनरहित, निस्पन्द-हाथों-पैरों को भी न हिलाता हुआ, और मौन रहकर दिन समाप्त होने की राह देखने लगा।

विवेचन—बालक निसर्ग से ही सुन्दर और मनोमोहक होते हैं। उनका निर्विकार भोला चेहरा मन को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। मगर खेद है कि विवेकहीन माता-पिता उनके प्राकृतिक सौन्दर्य से सन्तुष्ट न होकर उन्हें आभूषणों से सजाते हैं। इसमें अपनी श्रीमंताई प्रकट करने का अहंकार भी छिपा रहता है। किन्तु वे नहीं जानते कि ऊपर से लादे हुए आभूषणों से सहज सौन्दर्य विकृत होता है और साथ ही बालक के प्राण संकट में पड़ते हैं।

कैसे-कैसे मनोरथों और कितनी-कितनी मनौतियों के पश्चात् जन्मे हुए बालक को आभूषणों की बदौलत प्राण गँवाने पड़े।

आधुनिक युग में तो मनुष्य के प्राण हरण करना सामान्य-सी बात हो गई है। आभूषणों के कारण अनेकों को प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। फिर भी आश्चर्य है कि लोगों का, विशेषतः महिलावर्ग का आभूषण-मोह छूट नहीं सका है। प्रस्तुत घटना का शास्त्र में उल्लेख होना बहुत उपदेशप्रद है।

---

१. द्वि. अ. सूत्र ९.

२४—तए णं से पंथए दासचेडे तओ मुहुत्तंतरस्स जेणेव देवदिन्ने दारए ठविए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता देवदिन्नं दारयं तंसि ठाणंसि अपासमाणे रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे देवदिन्नदारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। करित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे, जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—'एवं खलु सामी! भद्दा सत्थवाही देवदिन्नं दारयं ण्हायं जाव[1] मम हत्थंसि दलयइ। तए णं अहं देवदिन्नं दारयं कडीए गिण्हामि। गिण्हित्ता जाव[2] मग्गणगवेसणं करेमि, तं न णज्जइ णं सामी! देवदिन्ने दारए केणइ णीए वा अवहिए वा अवखित्ते वा। पायवडिए धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं निवेदेइ।

तत्पश्चात् वह पंथकनामक दास चेटक थोड़ी देर बाद जहाँ बालक देवदत्त को बिठलाया था, वहाँ पहुँचा। पहुँचने पर उसने देवदत्त बालक को उस स्थान पर न देखा। तब वह रोता, चिल्लाता विलाप करता हुआ सब जगह उसकी ढूंढ़-खोज करने लगा। मगर कहीं भी उसे बालक देवदत्त की खबर न लगी, छींक वगैरह का शब्द न सुनाई दिया, न पता चला। तब वह जहाँ अपना घर था और जहाँ धन्य सार्थवाह था, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर धन्य सार्थवाह से इस प्रकार कहने लगा—स्वामिन्! भद्रा सार्थवाही ने स्नान किए हुए, बलिकर्म किये हुए, कौतुक, मंगल, प्रायश्चित्त किए हुए और सभी अलंकारों से विभूषित बालक को मेरे हाथ में दिया था। तत्पश्चात् मैंने बालक देवदत्त को कमर में ले लिया। लेकर (बाहर ले गया, एक जगह बिठलाया। थोड़ी देर बाद वह दिखाई नहीं दिया) यावत् सब जगह उसकी ढूंढ़-खोज की, परन्तु नहीं मालूम स्वामिन्! कि देवदत्त बालक को कोई मित्रादि अपने घर ले गया है, चोर ने उसका अपहरण कर लिया है अथवा किसी ने ललचा लिया है?' इस प्रकार धन्य सार्थवाह के पैरों में पड़कर उसने यह वृत्तान्त निवेदन किया।

२५—तए णं से धण्णे सत्थवाहे पंथयदासचेडगस्स एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म तेण य महया पुत्तसोएणाभिभूए समाणे परसुणियत्ते व चंपगपायवे धसत्ति धरणीयलंसि सव्वंगेहिं सन्निवइए।

धन्य सार्थवाह पंथक दास चेटक की यह बात सुनकर और हृदय में धारण करके महान् पुत्र-शोक से व्याकुल होकर, कुल्हाड़े से काटे हुए चम्पक वृक्ष की तरह पृथ्वी पर सब अंगों से धड़ाम से गिर पड़ा—मूर्छित हो गया।

गवेषणा

२६—तए णं से धण्णे सत्थवाहे तओ मुहुत्तंतरस्स आसत्थे पच्छागयपाणे देवदिन्नस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। देवदिन्नस्स दारगस्स कत्थइ सुइं व वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता महत्थं पाहुडं गेण्हइ। गेण्हित्ता जेणेव नगरगुत्तिया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता तं महत्थं पाहुडं उवणेइ, उवणइत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! मम पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए देवदिन्ने नामं दारए इट्ठे[3] जाव उंबरपुप्फं पिव दुल्लहे सवणयाए किमंग पुण पासणयाए?

१-द्वि. अ. सूत्र २२. २-द्वि. अ. २२. ३. प्र. अ. सूत्र १२१

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह थोड़ी देर बाद आश्वस्त हुआ—होश में आया, उसके प्राण मानों वापिस लौटे, उसने देवदत्त बालक की सब ओर ढूंढ़-खोज की, मगर कहीं भी देवदत्त बालक का पता न चला, छींक आदि का शब्द भी न सुन पड़ा और न समाचार मिला। तब वह अपने घर पर आया। आकर बहुमूल्य भेंट ली और जहाँ नगररक्षक—कोतवाल आदि थे, वहाँ पहुँच कर वह बहुमूल्य भेंट उनके सामने रखी और इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो! मेरा पुत्र और भद्रा भार्या का आत्मज देवदत्त नामक बालक हमें इष्ट है, यावत् [कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोरम, मनोहर है] गूलर के फूल के समान उसका नाम श्रवण करना भी दुर्लभ है तो फिर दर्शन का तो कहना ही क्या है!

२७—तए णं सा भद्दा देवदिन्नं ण्हायं सव्वालंकारविभूसियं पंथगस्स हत्थे दलयइ, जाव पायवडिए तं मम निवेदेइ। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया। देवदिन्नदारगस्स सव्वओ समंता मग्गण-गवेसणं कयं (करित्तए-करेह)।

धन्य सार्थवाह ने आगे कहा—भद्रा ने देवदत्त को स्नान करा कर और समस्त अलंकारों से विभूषित करके पंथक के हाथ में सौंप दिया। यावत् पंथक ने मेरे पैरों में गिर कर मुझसे निवेदन किया। (किस प्रकार पंथक बालक को बाहर ले गया, उसे एक स्थान पर बिठाकर स्वयं खेल में बेभान हो गया, इत्यादि पिछला सब वृत्तान्त यहाँ दोहरा लेना चाहिए) तो हे देवानुप्रियो! मैं चाहता हूँ कि आप देवदत्त बालक की सब जगह मार्गणा गवेषणा करें।

विवेचन—यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धन्य सार्थवाह नगररक्षकों के समक्ष अपने पुत्र के गुम हो जाने की फरियाद लेकर जाता है तो बहुमूल्य भेंट साथ ले जाता है और नगररक्षकों के सामने वह भेंट रखकर फरियाद करता है। अन्यत्र भी आगमिक कथाओं में इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि रिश्वत का रोग आधुनिक युग की देन नहीं है, यह प्राचीन काल में भी था और सभी समयों में इसका अस्तित्व रहा है। अन्यथा ऐसे विषय में भेंट की क्या आवश्यकता थी? गुम हुए बालक को खोजना नगररक्षकों का कर्त्तव्य है। राजा अथवा शासन की ओर से उनकी नियुक्ति ही इस कार्य के लिए थी।

धन्य कोई सामान्य जन नहीं था, सार्थवाह था! सार्थवाह का समाज में उच्च एवं प्रतिष्ठित स्थान होता है। जब उस जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति को भी भेंट (रिश्वत) देनी पड़ी तो साधारण जनों की क्या स्थिति होती होगी, यह समझना कठिन नहीं।

२८—तए णं ते नगरगोत्तिया धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलिय-सरासणवट्टिया जाव (पिणद्धगेविज्जा आविद्धविमलवरचिंधपट्टा) गहियाउहपहरणा धण्णेणं सत्थवाहेणं सद्धिं रायगिहस्स नगरस्स बहूणि अइगमणाणि य जाव[1] पवासु य मग्गणगवेसणं करेमाणा रायगिहाओ नयराओ पडिणिक्खमंति। पडिणिक्खमित्ता जेणेव जिण्णुज्जाणे जेणेव भग्गकूवए तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरगं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीवविप्पजढं पासंति। पासित्ता हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु देवदिन्नं दारयं भग्गकूवाओ उत्तारेंति। उत्तारित्ता धण्णस्स सत्थवाहस्स हत्थे णं दलयंति।

१. द्वि. अ. सूत्र ९

तत्पश्चात् उन नगररक्षकों ने धन्य सार्थवाह के ऐसा कहने पर कवच (वख्तर) तैयार किया, उसे कसों से बाँधा और शरीर पर धारण किया। धनुष रूपी पट्टिका पर प्रत्यंचा चढ़ाई अथवा भुजाओं पर पट्टा बांधा। आयुध (शस्त्र) और प्रहरण (दूर से चलाए जाने वाले तीर आदि) ग्रहण किये। फिर धन्य सार्थवाह के साथ राजगृह नगर के बहुत-से निकलने के मार्गों यावत् [दरवाजों, पीछे की खिड़कियों, छेड़ियों, किले की छोटी खिड़कियों, मोरियों, रास्ते मिलने की जगहों, रास्ते अलग-अलग होने के स्थानों, जुआ के अखाड़ों, मदिरापान के स्थानों, वेश्या के घरों, उनके घरों के द्वारों (चोरों के अड्डों) चोरों के घरों, शृंगाटकों—सिंघाड़े के आकार के मार्गों, तीन मार्ग मिलने के स्थानों, चौकों, अनेक मार्ग मिलने के स्थानों, नागदेव के गृहों, भूतों के गृहों, यक्षगृहों, सभास्थानों, प्याउओं आदि में तलाश करते-करते राजगृह नगर से बाहर निकले। निकल कर जहां जीर्ण उद्यान था और जहाँ भग्न कूप था, वहाँ आये। आकर उस कूप में निष्प्राण, निश्चेष्ट एवं निर्जीव देवदत्त का शरीर देखा, देख कर 'हाय, हाय' 'अहो अकार्य !' इस प्रकार कह कर उन्होंने देवदत्त कुमार को उस भग्न कूप से बाहर निकाला और धन्य सार्थवाह के हाथों में सौंप दिया।

विजय चोर का निग्रह

२९—तए णं ते नगरगुत्तिया विजयस्स तक्करस्स पयमग्गमणुगच्छमाणा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता मालुयाकच्छयं अणुपविसंति, अणुपविसित्ता विजयं तक्करं ससक्खं सहोढं सगेवेज्जं जीवग्गाहं गिण्हंति। गिण्हित्ता अट्ठि-मुट्ठि-जाणु-कोप्पर-पहारसंभग्गमहियगत्तं करेन्ति। करित्ता अवाउडबंधणं करेन्ति। करित्ता देवदिन्नस्स दारगस्स आभरणं गेण्हंति। गेण्हित्ता विजयस्स तक्करस्स गीवाए बंधंति, बंधित्ता मालुयाकच्छयाओ पडिनिक्खमंति। पडिणिक्खमित्ता जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता रायगिहं नगरं अणुपविसंति। अणुपविसित्ता रायगिहे नगरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-महापह-पहेसु कसप्पहारे य लयप्पहारे य छिवापहारे य निवाएमाणा निवाएमाणा छारं च धूलिं च कयवरं च उवरिं पक्किरमाणा पक्किरमाणा महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा एवं वदंति :—

तत्पश्चात् वे नगररक्षक विजय चोर के पैरों के निशानों का अनुसरण करते हुए मालुकाकच्छ में पहुँचे। उसके भीतर प्रविष्ट हुए। प्रविष्ट होकर विजय चोर को पंचों की साक्षीपूर्वक, चोरी के माल के साथ, गर्दन में बाँधा और जीवित पकड़ लिया। फिर अस्थि (हड्डी की लकड़ी) मुष्टि, घुटनों और कोहनियों पर प्रहार करके उसके शरीर को भग्न और मथित कर दिया—ऐसी मार मारी कि उसका सारा शरीर ढीला पड़ गया। उसकी गर्दन और दोनों हाथ पीठ की तरफ बाँध दिए। फिर बालक देवदत्त के आभरण कब्जे में किये। तत्पश्चात् विजय चोर को गर्दन से बाँधा और मालुकाकच्छ से बाहर निकले। निकल कर जहाँ राजगृह नगर था, वहाँ आये। वहाँ आकर राजगृह नगर में प्रविष्ट हुए और नगर के त्रिक, चतुष्क, चत्वर एवं महापथ आदि मार्गों में कोड़ों के प्रहार, छड़ियों के प्रहार, छिव (कंवा) के प्रहार करते-करते और उसके ऊपर राख, धूल और कचरा डालते हुए तेज आवाज से घोषित करते हुए इस प्रकार कहने लगे—

३०—'एस णं देवाणुप्पिया ! विजए नामं तक्करे जाव[1] गिद्धे विव आमिसभक्खी बालघायए,

१. द्वि. अ. सूत्र ९

बालमारए, तं नो खलु देवाणुप्पिया ! एयस्स केइ राया वा रायपुत्ते वा रायमच्चे वा अवरज्झइ। एत्थट्ठे अप्पणो सयाइं कम्माइं अवरज्झंति' त्ति कट्टु जेणामेव चारगसाला तेणामेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता हडिबंधणं करेन्ति, करित्ता भत्तपाणनिरोहं करेंति, करित्ता तिसंझं कसप्पहारे य जाव[1] निवाएमाणा निवाएमाणा विहरंति।

'हे देवानुप्रियो ! (लोगो !) यह विजय नामक चोर है। यह गीध के समान मांसभक्षी, बालघातक है, बालक का हत्यारा है। हे देवानुप्रियो ! कोई राजा, राजपुत्र अथवा राजा का अमात्य इसके लिए अपराधी नहीं है—कोई निष्कारण ही इसे दंड नहीं दे रहा है। इस विषय में इसके अपने किये कुकर्म ही अपराधी हैं।' इस प्रकार कह कर जहाँ चारकशाला (कारागार) थी, वहाँ पहुँचे, वहाँ पहुँच कर उसे बेड़ियों से जकड़ दिया। भोजन-पानी बंद कर दिया। तीनों संध्याकालों में—प्रातः, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय, चाबुकों, छड़ियों और कंबा आदि के प्रहार करने लगे।

देवदत्त का अन्तिम संस्कार

३१—तए णं से धण्णे सत्थवाहे मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणेणं सद्धिं रोयमाणे कंदमाणे जाव (विलवमाणे) देवदिन्नस्स दारगस्स सरीरस्स महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं नीहरणं करेंति। करित्ता बहूइं लोइयाइं मयगकिच्चाइं करेंति, करित्ता केणइ कालंतरेणं अवगयसोए जाए यावि होत्था।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, संबंधी और परिवार के साथ रोते-रोते, आक्रंदन करते-करते, यावत् विलाप करते-करते बालक देवदत्त के शरीर का महान् ऋद्धि सत्कार के समूह के साथ नीहरण किया, अर्थात् अग्नि-संस्कार के लिए श्मशान में ले गया। अनेक लौकिक मृतककृत्य—मृतक संबंधी अनेक लोकाचार किये। तत्पश्चात् कुछ समय व्यतीत हो जाने पर वह उस शोक से रहित हो गया।

धन्य सार्थवाह का निग्रह

३२—तए णं से धण्णे सत्थवाहे अन्नया कयाइ लहुसयंसि रायावराहंसि संपलत्ते जाए यावि होत्था। तए णं ते नगरगुत्तिया धण्णं सत्थवाहं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव चारगे तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता चारगं अणुपवेसंति, अणुपवेसित्ता विजएणं तक्करेणं सद्धिं एगयओ हडिबंधणं करेंति।

तत्पश्चात् किसी समय धन्य सार्थवाह को चुगलखोरों ने छोटा-सा राजकीय अपराध लगा दिया। तब नगररक्षकों ने धन्य सार्थवाह को गिरफ्तार कर लिया। गिरफ्तार करके कारागार में ले गये। ले जाकर कारागार में प्रवेश किया और प्रवेश करके विजय चोर के साथ एक ही बेड़ी में बाँध दिया।

---

१. द्वि. अ. सूत्र २९

धन्य के घर से भोजन

३३—तए णं सा भद्दा भारिया कल्लं जाव[1] जलंते विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडेइ, उवक्खडित्ता भोयणपिडयं करेइ, करित्ता भायणाइं पक्खिवइ, पक्खिवित्ता लंछियमुद्दियं करेइ। करित्ता एगं च सुरभिवारिपडिपुण्णं दगवारयं करेइ। करित्ता पंथयं दासचेडं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिया ! इमं विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं गहाय चारगसालाए धन्नस्स सत्थवाहस्स उवणेहि।'

भद्रा भार्या ने अगले दिन यावत् सूर्य के जाज्वल्यमान होने पर विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन तैयार किया। भोजन तैयार करके भोजन रखने का पिटक (बाँस की छाबड़ी) ठीकठाक किया और उसमें भोजन के पात्र रख दिये। फिर उस पिटक को लांछित और मुद्रित कर दिया, अर्थात् उस पर रेखा आदि के चिह्न बना दिए और मोहर लगा दी। सुगंधित जल से परिपूर्ण छोटा-सा घड़ा तैयार किया। फिर पंथक दासचेटक को आवाज दी और कहा—हे देवानुप्रिय ! तू जा। यह विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम लेकर कारागार में धन्य सार्थवाह के पास ले जा।

३४—तए णं से पंथए भद्दाए सत्थवाहीए एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे तं भोयणपिडयं तं च सुरभि-वरवारिपडिपुण्णं दगवारयं गेण्हइ। गेण्हित्ता सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ। पडिनिक्खमित्ता रायगिहे नगरे मज्झंमज्झेणं जेणेव चारगसाला, जेणेव धन्ने सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता भोयणपिडयं ठावेइ, ठावेत्ता उल्लंछइ, उल्लंछित्ता भायणाइं गेण्हइ। गेण्हित्ता भायणाइं धोवेइ, धोवित्ता हत्थसोयं दलयइ, दलइत्ता धण्णं सत्थवाहं तेणं विपुलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं परिवेसेइ।

तत्पश्चात् पंथक ने भद्रा सार्थवाही के इस प्रकार कहने पर हृष्ट-तुष्ट होकर उस भोजन-पिटक को और उत्तम सुगंधित जल से परिपूर्ण घट को ग्रहण किया। ग्रहण करके अपने घर से निकला। निकल कर राजगृह के मध्य मार्ग में होकर जहाँ कारागार था और जहाँ धन्य सार्थवाह था, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर भोजन का पिटक रख दिया। उसे लांछन और मुद्रा से रहित किया, अर्थात् उस पर बना हुआ चिह्न हटाया और मोहर हटा दी। फिर भोजन के पात्र लिए, उन्हें धोया और फिर हाथ धोने का पानी दिया। तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह को वह विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन परोसा।

भोजन में से विभाग

३५—तए णं से विजए तक्करे धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—'तुमं णं देवाणुप्पिया ! मम एयाओ विपुलाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ संविभागं करेहि।'

तए णं से धण्णे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं वयासी—'अवियाइं अहं विजया ! एयं विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं कायाणं वा सुणगाणं वा दलएज्जा, उक्कुरुडियाए वा णं छड्डेज्जा, नो चेव णं

---

१. प्र. अ सूत्र २८

तव पुत्तघायगस्स पुत्तमारगस्स अरिस्स वेरियस्स पडिणीयस्स पच्चामित्तस्स एत्तो विपुलाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ संविभागं करेज्जामि।'

उस समय विजय चोर ने धन्य सार्थवाह से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! तुम मुझे इस विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन में से संविभाग करो—हिस्सा दो।'

तब धन्य सार्थवाह ने उत्तर में विजय चोर से इस प्रकार कहा—हे विजय ! भले ही मैं यह विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम काकों और कुत्तों को दे दूंगा अथवा उकरड़े में फेंक दूंगा परन्तु तुझ पुत्रघातक, पुत्रहन्ता, शत्रु, वैरी (सानुबन्ध वैर वाले), प्रतिकूल आचरण करने वाले एवं प्रत्यमित्र—प्रत्येक बातों में विरोधी को इस अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य में से संविभाग नहीं करूंगा।

३६—तए णं धण्णे सत्थवाहे तं विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं आहारेइ। आहारित्ता तं पंथयं पडिविसज्जेइ। तए णं से पंथए दासचेडे तं भोयणपिडगं गिण्हइ, गिण्हित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

इसके बाद धन्य सार्थवाह ने उस विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का आहार किया। आहार करके पंथक को लौटा दिया-रवाना कर दिया। पंथक दास चेटक ने भोजन का वह पिटक लिया और लेकर जिस ओर से आया था, उसी ओर लौट गया।

३७—तए णं तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स तं विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं आहारियस्स समाणस्स उच्चार-पासवणे णं उव्वाहित्था।

तए णं से धण्णे सत्थवाहे विजयं तक्करं एवं वयासी-एहि ताव विजया ! एगंतमवक्कमामो, जेण अहं उच्चारपासवणं परिट्ठवेमि।

तए णं से विजए तक्करे धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी-तुब्भं देवाणुप्पिया ! विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं आहारियस्स अत्थि उच्चारे वा पासवणे वा, मम णं देवाणुप्पिया ! इमेहिं बहूहिं कसप्पहारेहि य जाव लयापहारेहि य तण्हाए य छुहाए य परब्भवमाणस्स णत्थि केइ उच्चारे वा पासवणे वा, तं छंदेणं तुमं देवाणुप्पिया ! एगंते अवक्कमित्ता उच्चारपासवणं परिट्ठवेहि।

विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन करने के कारण धन्य सार्थवाह को मल-मूत्र की बाधा उत्पन्न हुई।

तब धन्य सार्थवाह ने विजय चोर से कहा—विजय ! चलो, एकान्त में चलें, जिससे मैं मल-मूत्र का त्याग कर सकूं।

तब विजय चोर ने धन्य सार्थवाह से कहा— देवानुप्रिय ! तुमने विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम का आहार किया है, अतएव तुम्हें मल और मूत्र की बाधा उत्पन्न हुई है। देवानुप्रिय ! मैं तो इन बहुत चाबुकों के प्रहारों से यावत् लता के प्रहारों से तथा प्यास और भूख से पीडित हो रहा हूं। मुझे मल-मूत्र की बाधा नहीं है। देवानुप्रिय ! जाने की इच्छा हो तो तुम्हीं एकान्त में जाकर मल-मूत्र का त्याग करो। (मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूंगा)।

३८. तए णं धण्णे सत्थवाहे विजएणं तक्करेणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं से धण्णे सत्थवाहे मुहुत्तंतरस्स बलियतरागं उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जमाणे विजयं तक्करं एवं वयासी-एहि ताव विजया! जाव अवक्कमामो।

तए णं से विजए धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—'जइ णं तुमं देवाणुप्पिया! तओ विपुलाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ संविभागं करेहि, ततो हं तुम्हेहिं सद्धिं एगंतं अवक्कमामि।'

धन्य सार्थवाह विजय चोर के इस प्रकार कहने पर मौन रह गया। इसके बाद, थोड़ी देर में धन्य सार्थवाह उच्चार-प्रस्रवण की अति तीव्र बाधा से पीडित होता हुआ विजय चोर से फिर कहने लगा—'विजय, चलो, यावत् एकान्त में चलें।

तब विजय चोर ने धन्य सार्थवाह से कहा—'देवानुप्रिय! यदि तुम उस विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम में से संविभाग करो अर्थात् मुझे हिस्सा देना स्वीकार करो तो मैं तुम्हारे साथ एकान्त में चलूँ।

३९. तए णं से धण्णे सत्थवाहे विजयं एवं वयासी-'अहं णं तुब्भं तओ विउलाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ संविभागं करिस्सामि।'

तए णं से विजए धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ। तए णं से विजए धण्णेणं सद्धिं एगंते अवक्कमेइ, उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ, आयंते चोक्खे परमसुइभूए तमेव ठाणं उवसंकमित्ता णं विहरइ।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने विजय से कहा—मैं तुम्हें उस विपुल अशन, पान खादिम और स्वादिम में से संविभाग करूंगा—हिस्सा दूंगा।

तत्पश्चात् विजय ने धन्य सार्थवाह के इस अर्थ को स्वीकार किया। फिर विजय, धन्य सार्थवाह के साथ एकान्त में गया। धन्य सार्थवाह ने मल-मूत्र का परित्याग किया। फिर जल से स्वच्छ और परम शुचि हुआ। लौट कर अपने उसी स्थान पर आ गया।

४०. तए णं सा भद्दा कल्लं जाव[1] जलंते विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं जाव[2] परिवेसेइ। तए णं से धण्णे सत्थवाहे विजयस्स तक्करस्स तओ विउलाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ संविभागं करेइ। तए णं से धण्णे सत्थवाहे पंथयं दासचेडं विसज्जेइ।

तत्पश्चात् भद्रा सार्थवाही ने दूसरे दिन सूर्य के देदीप्यमान होने पर विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार करके (पहले की तरह) पंथक के साथ भेजा। यावत् पंथक ने धन्य को जिमाया। तब धन्य सार्थवाह ने विजय चोर को उस विपुल, अशन, पान, खादिम और स्वादिम में से भाग दिया। तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने पंथक दास चेटक को रवाना कर दिया।

भद्रा का कोप

४१. तए णं से पंथए भोयणपिडयं गहाय चारगाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता रायगिहं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गेहे, जेणेव भद्दा भारिया, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता भद्दं

१. प्र. अ. सूत्र २८ २. द्वि. अ. सूत्र ३३-३४.

सत्थवाहिं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिए ! धण्णे सत्थवाहे तव पुत्तघायगस्स जाव[1] पच्चामित्तस्स ताओ विउलाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ संविभागं करेइ।

तए णं सा भद्दा सत्थवाही पंथयस्स दासचेडयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा आसुरत्ता रुट्ठा जाव [कुविया] मिसिमिसेमाणा धण्णस्स सत्थवाहस्स पओसमावज्जइ।

पंथक भोजन-पिटक लेकर कारागार से बाहर निकला। निकलकर राजगृह नगर के बीचोंबीच होकर जहाँ अपना घर था और जहाँ भद्रा भार्या थी वहाँ पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने भद्रा सार्थवाही से कहा—देवानुप्रिये ! धन्य सार्थवाह ने तुम्हारे पुत्र के घातक यावत् [पुत्रहन्ता, शत्रु, वैरी (सानुबन्ध वैर वाले), प्रतिकूल आचरण करने वाले] दुश्मन को उस विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम में से हिस्सा दिया है।

तब भद्रा सार्थवाही दास-चेटक पंथक के मुख से यह अर्थ सुनकर तत्काल लाल हो गई रुष्ट हुई [कुपित हुई] यावत् मिसमिसाती हुई धन्य सार्थवाह पर प्रद्वेष करने लगी।

धन्य का छुटकारा

४२—तए णं धण्णे सत्थवाहे अन्नया कयाइं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि- परिजणेणं सएण य अत्थसारेणं रायकज्जाओ अप्पाणं मोयावेइ। मोयावित्ता चारगसालाओ पडिनिक्खमइ। पडिनिक्खमित्ता जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता अलंकारियकम्मं करेइ। करित्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता अहधोयमट्टियं गेण्हइ। गेण्हित्ता पोक्खरिणिं ओगाहेइ। ओगाहित्ता जलमज्जणं करेइ। करित्ता ण्हाए कयबलिकम्मे जाव (कयकोउयमंगल-पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए) रायगिहं नगरं अणुपविसइ। अणुपविसित्ता रायगिहस्स नगरस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह को किसी समय मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिवार के लोगों ने अपने (धन्य सार्थवाह के) सारभूत अर्थ से—जुर्माना चुका करके राजदंड से मुक्त कराया। मुक्त होकर वह कारागार से बाहर निकला। निकल कर जहाँ आलंकरिक सभा (हजामत बनवाना, नाखून कटवाना आदि शरीर-शृंगार करने की नाई की दुकान) थी, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर आलंकारिक—कर्म किया। फिर जहाँ पुष्करिणी थी, वहाँ गया। जाकर नीचे की धोने की मिट्टी ली और पुष्करिणी में अवगाहन किया, जल से मज्जन किया, स्नान किया, बलिकर्म किया, यावत् [कौतुक, मंगल प्रायश्चित्त किया] फिर राजगृह में प्रवेश किया। राजगृह नगर के मध्य में होकर जहाँ अपना घर था, वहाँ जाने के लिए रवाना हुआ।

धन्य का सत्कार

४३—तए णं धण्णं सत्थवाहं एज्जमाणं पासित्ता रायगिहे नगरे बहवे नियग-सेट्ठि-सत्थवाह-पभइओ आढंति, परिजाणंति, सक्कारेंति, सम्माणेंति, अब्भुट्ठेंति, सरीरकुसलं पुच्छंति।

१. द्वि. अ. सूत्र ३५.

तए णं से धण्णे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता जावि य से तत्थ वाहिरिया परिसा भवइ, तंजहा—दासाइ वा, पेस्साइ वा, भियगाइ वा, भाइल्लगाइ वा, से वि य णं धण्णं सत्थवाहं एज्जंतं पासइ, पासित्ता पायवडियाए खेमकुसलं पुच्छति।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह को आता देखकर राजगृह नगर के वहुत-से आत्मीय जनों, श्रेष्ठीजनों तथा सार्थवाह ग्रादि ने उसका ग्रादर किया, सन्मान से बुलाया, वस्त्र ग्रादि से सत्कार किया, नमस्कार ग्रादि करके सन्मान किया, खड़े होकर मान किया ग्रौर शरीर की कुशल पूछी।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह अपने घर पहुँचा। वहाँ जो वाहर की सभा थी, जैसे—दास (दासीपुत्र), प्रेष्य (काम-काज के लिए वाहर भेजे जाने वाले नौकर), भृतक (जिनका वाल्यावस्था से पालन-पोषण किया हो) और व्यापार के हिस्सेदार, उन्होंने भी धन्य सार्थवाह को आता देखा। देख कर पैरों में गिर कर क्षेम, कुशल की पृच्छा की।

४४—जावि य से तत्थ अब्भंतरिया परिसा भवइ, तंजहा—मायाइ वा, पियाइ वा, भायाइ वा, भगिणीइ वा, सावि य णं धण्णं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता आसणाओ अब्भुट्ठेइ। अब्भुट्ठेत्ता कंठाकंठियं अवयासिय वाहप्पमोक्खणं करेइ।

वहाँ जो आभ्यन्तर सभा थी, जैसे कि माता, पिता, भाई वहिन आदि, उन्होंने भी धन्य सार्थवाह को आता देखा। देखकर वे आसन से उठ खड़े हुए, उठकर गले से गला मिलाकर उन्होंने हर्ष के आँसू वहाये।

भद्रा के कोप का उपशमन

४५—तए णं से धण्णे सत्थवाहे जेणेव भद्दा भारिया तेणेव उवागच्छइ। तए णं सा भद्दा सत्थवाही धण्णं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता णो आढाइ, नो परियाणाइ, अणाढायमाणी अपरिजाणमाणी तुसिणीया परम्मुही संचिट्ठइ।

तए णं से धण्णे सत्थवाहे भद्दं भारियं एवं वयासी—किं णं तुब्भं देवाणुप्पिए, न तुट्ठी वा, न हरिसे वा, नाणंदे वा? जं मए सएणं अत्थसारेणं रायकज्जाओ अप्पाणं विमोइए।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह भद्रा भार्या के पास गया। भद्रा सार्थवाही ने धन्य सार्थवाह को अपनी ओर आता देखा। देखकर न उसने आदर किया, न मानो जाना। न आदर करती हुई और न जानती हुई वह मौन रह कर और पीठ फेर कर (विमुख होकर) वैठी रही।

तव धन्य सार्थवाह ने अपनी पत्नी भद्रा से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिये! मेरे आने से तुम्हें सन्तोष क्यों नहीं है? हर्ष क्यों नहीं है? आनन्द क्यों नहीं है? मैंने अपने सारभूत अर्थ से राजकार्य (राजदंड) से अपने आपको छुड़ाया है।

४६—तए णं भद्दा धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—'कहं णं देवाणुप्पिया! मम तुट्ठी वा जाव (हरिसे वा) आणंदे वा भविस्सइ, जेणं तुमं मम पुत्तघायगस्स जाव पच्चामित्तस्स तओ विपुलाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ संविभागं करेसि?

तब भद्रा ने धन्य सार्थवाह से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिये ! मुझे क्यों सन्तोष, हर्ष और आनन्द होगा, जब कि तुमने मेरे पुत्र के घातक यावत् वैरी तथा प्रत्यमित्र (विजय चोर) को उस विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन में से संविभाग किया—हिस्सा दिया।

४७—तए णं से भद्दं एवं वयासी—'नो खलु देवाणुप्पिए ! धम्मो त्ति वा, तवो त्ति वा, कयपडिकयाइ वा, लोगजत्ता इ वा, नायए ति वा, घाडियए ति वा, सहाए ति वा, सुहि त्ति वा, तओ विपुलाओ असणपाणखाइमसाइमाओ संविभागे कए, नन्नत्थ सरीरचिन्ताए।

तए णं सा भद्दा धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठा—जाव [चित्तमाणंदिया जाव हरिसवसविसप्पमाणहियया) आसणाओ अब्भुट्ठेइ, कंठाकंठि अवयासेइ, खेमकुसलं पुच्छइ, पुच्छित्ता ण्हाया जाव पायच्छित्ता विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ।

तब धन्य सार्थवाह ने भद्रा से कहा—'देवानुप्रिये ! धर्म समझ कर, तप समझ कर, किये उपकार का बदला समझ कर, लोकयात्रा-लोक दिखावा समझ कर, न्याय समझ कर या उसे अपना नायक समझ कर, सहचर समझ कर, सहायक समझ कर अथवा सुहृद (मित्र) समझ कर, मैंने उस विपुल, अशन, पान, खादिम और स्वादिम में से संविभाग नहीं किया है। सिवाय शरीर चिन्ता (मल-मूत्र की बाधा) के और किसी प्रयोजन से संविभाग नहीं किया।'

धन्य सार्थवाह के इस स्पष्टीकरण से भद्रा हृष्ट-तुष्ट हुई, [आनन्दितचित्त हुई, हर्ष से उसका हृदय विकसित हो गया] वह आसन से उठी, उसने धन्य सार्थवाह को कंठ से लगाया और उसका कुशल-क्षेम पूछा। फिर स्नान किया, वह यावत् प्रायश्चित्त (तिलक आदि) किया और पाँचों इन्द्रियों के विपुल भोग भोगती हुई रहने लगी।

विजय चोर की अधम गति

४८—तए णं से विजए तक्करे चारगसालाए तेहि बंधेहिं वहेहिं कसप्पहारेहि य जाव[1] तण्हाए य छुहाए य परज्झवमाणे कालमासे कालं किच्चा नरएसु नेरइयत्ताए उववन्ने। से णं तत्थ नेरइए जाए काले कालोभासे जाव (गंभीरलोमहरिसे भीमे उत्तासणए परमकण्हे वण्णेणं। से णं तत्थ निच्चं भीए, निच्चं तत्थे, निच्चं तसिए निच्चं परमऽसुहसंबद्धं नरगगति-) वेयणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ।

से णं तओ उव्वट्टित्ता अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसारकंतारं अणुपरियट्टिस्सइ।

तत्पश्चात् विजय चोर कारागार में बन्ध, वध, चाबुकों के प्रहार (लता प्रहार कंबा प्रहार) यावत् प्यास और भूख से पीडित होता हुआ, मृत्यु के अवसर पर काल करके नारक रूप से नरक में उत्पन्न हुआ। नरक में उत्पन्न हुआ वह काला और अतिशय काला दीखता था, [गंभीर, लोमहर्षक, भयावह त्रासजनक एवं वर्ण से काला था। वह नरक में सदैव भयभीत, सदैव त्रस्त और सदैव घबराया हुआ रहता था। सदैव अत्यन्त अशुभ [नरक सम्बन्धी] वेदना का अनुभव कर रहा था।

वह नरक से निकल कर अनादि अनन्त दीर्घ मार्ग या दीर्घकाल वाले चतुर्गति रूप संसार—कान्तार में पर्यटन करेगा।

१. द्वि. अ. सूत्र २९

४९—एवामेव जंबू ! जे णं अम्हं निग्गंथो वा निग्गन्थी वा आयरिय-उवज्झायाणं अन्तिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे विपुलमणि-मुत्तिय-धण-कणग-रयण-सारे णं लुब्भइ से वि य एवं चेव।

श्री सुधर्मा स्वामी अब तक के कथानक का उपसंहार करते हुए जम्बू स्वामी से कहते हैं—हे जम्बू ! इसी प्रकार हमारा जो साधु या साध्वी, आचार्य या उपाध्याय के पास मुण्डित होकर, गृहत्याग कर, साधुत्व की दीक्षा अंगीकार करके विपुल मणि मौक्तिक धन, कनक और सारभूत रत्नों में लुब्ध होता है, वह भी ऐसा ही होता है—उसकी दशा भी विजय चोर जैसी होती है।

स्थविर-आगमन

५०. तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा नामं थेरा भगवंतो जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना जाव[1] पुव्वानुपुव्विं चरमाणा जाव[2] गामाणुगामं दूइज्जमाणा सुहंसुहेणं विहरमाणा जेणेव रायगिहे नगरे जेणेव गुणसिलए चेइए जाव [तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता] अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। परिसा निग्गया, धम्मो कहिओ।

उस काल और उस समय में धर्मघोष नामक स्थविर भगवन्त जाति (मातृपक्ष) से सम्पन्न कुल (पितृपक्ष) से सम्पन्न, यावत् [बल, रूप, विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं लाघव (द्रव्य और भाव से लघुता) से सम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वचस्वी, यशस्वी, क्रोध मान माया लोभ के विजेता, निद्रा और परीषहों को जीत लेने वाले, जीवन की कामना और मरण के भय से ऊपर उठे हुए, तपस्वी, गुणवान्, चरण-करण तथा यतिधर्मों का सम्पूर्ण रूप से पालन करने वाले, उदार, उग्रव्रती, उग्र-तपस्वी, उग्र ब्रह्मचारी, शरीर के प्रति अनासक्त, विपुल तेजोलेश्या को संक्षिप्त कर अपने अन्दर ही समाये हुए, चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता, चार ज्ञानों के धनी, पाँच सौ अनगारों के साथ] अनुक्रम से चलते हुए, [ग्रामानुग्राम विचरते हुए और सुखपूर्वक विहार करते हुए] जहाँ राजगृह नगर था और जहाँ गुणशील चैत्य था, [वहाँ आये। आकर] यथायोग्य उपाश्रय की याचना करके संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे—रहे। उनका आगमन जानकर परिषद् निकली। धर्मघोष स्थविर ने धर्मदेशना दी।

धन्य की पर्युपासना

५१, तए णं तस्स धण्णस्स सत्थवाहस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव [चिन्तिए पत्थिए मणोगए संकप्पे] समुप्पज्जित्था—'एवं खलु भगवंतो जाइसंपन्ना इहमागया, इहं संपत्ता, तं गच्छामि णं थेरे भगवंते वंदामि नमंसामि।'

एवं संपेहि, संपेहित्ता ण्हाए जाव [कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते] सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए पायविहार-चारेणं जेणेव गुणसिले चेइए, जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता वंदइ, नमंसइ। तए णं थेरा धण्णस्स विचित्तं धम्ममाइक्खंति।

---

१. प्र. अ. ४

२. प्र. अ. ४

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह को बहुत से लोगों से यह अर्थ (वृत्तान्त) सुनकर और समझ कर ऐसा अध्यवसाय, अभिलाष, चिन्तन एवं मानसिक संकल्प उत्पन्न हुआ—'उत्तम जाति से सम्पन्न स्थविर भगवान् यहाँ आये हैं, यहाँ प्राप्त हुए हैं—आ पहुँचे हैं। तो मैं जाऊँ, स्थविर भगवान् को वन्दन करूँ, नमस्कार करूँ।'

इस प्रकार विचार करके धन्य ने स्नान किया, [बलिकर्म किया, कौतुक मंगल प्रायश्चित्त किया] यावत् शुद्ध—साफ तथा सभा में प्रवेश करने योग्य उत्तम मांगलिक वस्त्र धारण किये। फिर पैदल चल कर जहाँ गुणशील चैत्य था और जहाँ स्थविर भगवान् थे, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर उन्हें वन्दना की, नमस्कार किया। तत्पश्चात् स्थविर भगवान् ने धन्य सार्थवाह को विचित्र धर्म का उपदेश दिया, अर्थात् ऐसे धर्म का उपदेश दिया जो जिनशासन के सिवाय अन्यत्र सुलभ नहीं है।

धन्य की प्रव्रज्या और स्वर्गप्राप्ति

५२. तए णं से धण्णे सत्थवाहे धम्मं सोच्चा एवं वयासी—सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं। [पत्तियामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं। रोएमि णं भंते! निग्गंथं पावयणं। अब्भुट्ठेमि णं भंते! निग्गंथं पावयणं। एवमेयं भंते! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते। इच्छियमेयं भंते! पडिच्छियमेयं भंते! इच्छिय-पडिच्छियमेयं भंते! से जहेयं तुब्भे वयहत्ति कट्टु थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता] जाव पव्वइए। जाव बहूणि वासाणि सामण्ण-परियागं पाउणित्ता, भत्तं पच्चक्खाइत्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेइ, छेदित्ता कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने।

तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता। तत्थ णं धण्णस्स देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता।

से णं धण्णे देवे ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ जाव[1] सव्वदुक्खाणमंतं करिहिइ।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने धर्मोपदेश सुनकर इस प्रकार कहा—'हे भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ

[भगवन्! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर प्रतीति करता हूं।

भगवन्! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर रुचि करता हूं।

भगवन्! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन का अनुसरण करने के लिए उद्यत होता हूं।

भगवन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन ऐसा ही है, भगवन्! यह सत्य है, भगवन्! यह असत्य नहीं है। भगवन्! यह मुझे इष्ट है, भगवन्! यह मुझे पुनः पुनः इष्ट है, यह मुझे इष्ट और पुनः पुनः इष्ट है। भगवन्! निर्ग्रन्थप्रवचन ऐसा ही है जैसा आप कहते हैं।' इस प्रकार कह कर धन्य सार्थवाह ने स्थविर भगवन्तों को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके] यावत् वह प्रव्रजित हो गया। यावत् बहुत वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय पाल कर, आहार का प्रत्याख्यान करके एक मास की संलेखना

१. प्र. अ. २१७.

करके, अनशन से साठ भक्तों को त्याग कर, कालमास में काल करके सौधर्म देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

सौधर्म देवलोक में किन्हीं-किन्हीं देवों की चार पल्योपम की स्थिति कही है। धन्यनामक देव की भी चार पल्योपम की स्थिति (आयुष्यमर्यादा) कही है।

वह धन्यनामक देव आयु के दलिकों का क्षय करके, आयुकर्म की स्थिति का क्षय करके तथा भव (देवभव के कारणभूत गति आदि कर्मों) का क्षय करके देह का त्याग करके अनन्तर ही अर्थात् बीच में अन्य कोई भव किये विना ही महाविदेह क्षेत्र में (मनुष्य होकर) सिद्धि प्राप्त करेगा यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेगा।

उपसंहार

५३—जहा णं जंबू ! धण्णेणं सत्थवाहेणं नो धम्मो त्ति वा जाव[1] विजयस्स तक्करस्स तओ विपुलाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ संविभागे कए नन्नत्थ सरीरसारक्खणट्ठाए, एवामेव जंबू ! जे णं अम्हं निग्गंथे वा निग्गंथी वा जाव पव्वइए समाणे ववगयण्हाणुम्मद्दण-पुप्फ-गंध-मल्लालंकार-विभूसे इमस्स ओरालियसरीरस्स नो वण्णहेउं वा, रूवहेउं वा, विसयहेउं वा असण-पाण-खाइम-साइमं आहारमाहारेइ, नन्नत्थ णाण-दंसण-चरित्ताणं वहणयाए। से णं इह लोए चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावगाण य साविगाण य अच्चणिज्जे जाव (वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं) पज्जुवासणिज्जे भवइ। परलोए वि य णं नो बहूणि हत्थच्छेयणाणि य कन्नच्छेयणाणि य नासाछेयणाणि य एवं हिययउप्पाडणाणि य वसणुप्पाडणाणि य उल्लंबणाणि य पाविहिइ। अणाईयं च णं अणवदग्गं दीहं जाव (अद्धं चाउरंतं संसारकंतारं) वीइवइस्सइ, जहा से धण्णे सत्थवाहे।

श्री सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! जैसे धन्य सार्थवाह ने 'धर्म है' ऐसा समझ कर या तप, प्रत्युपकार, मित्र आदि मान कर विजय चोर को उस विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम में से संविभाग नहीं किया था, सिवाय शरीर की रक्षा करने के, अर्थात् धन्य सार्थवाह ने केवल शरीररक्षा के लिए ही विजय को अपने आहार में से हिस्सा दिया था, धर्म या उपकार आदि समझ कर नहीं। इसी प्रकार हे जम्बू ! हमारा जो साधु या साध्वी यावत् प्रव्रजित होकर स्नान, उपमर्दन, पुष्प, गंध, माला, अलंकार आदि शृंगार का त्याग करके अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार करता है सो इस औदारिक शरीर के वर्ण के लिए, रूप के लिए या विषय-सुख के लिए नहीं करता। ज्ञान, दर्शन और चारित्र को वहन करने के सिवाय उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता। वह साधुओं साध्वियों श्रावकों और श्राविकाओं द्वारा इस लोक में अर्चनीय [वन्दनीय, नमस्करणीय, पूजनीय, सत्करणीय, और सन्माननीय होता है। उसे भव्यजन कल्याणमय, मंगलमय, देवस्वरूप और चैत्यस्वरूप मानकर वन्दन करते हैं] वह सर्व प्रकार से उपासनीय होता है। परलोक में भी वह हस्तछेदन (हाथों का काटा जाना), कर्णछेदन और नासिकाछेदन को तथा इसी प्रकार हृदय के उत्पाटन (उखाड़ना) एवं वृषणों (अंडकोषों) के उत्पाटन और उद्बन्धन (ऊँचा बाँध कर

---

१. द्वि. अ. ४७

लटकाना—फाँसी) आदि कष्टों को प्राप्त नहीं करेगा। वह अनादि अनन्त दीर्घमार्ग वाले संसार रूपी अटवी को पार करेगा, जैसे धन्य सार्थवाह ने किया।

५४—एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव दोच्चस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

इस प्रकार हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने द्वितीय ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है।

विवेचन—व्याख्याकारों ने इस अध्ययन के दृष्टान्त की योजना इस प्रकार की है—उदाहरण में जो राजगृह नगर कहा है, उसके स्थान पर मनुष्य क्षेत्र समझना चाहिए। धन्य सार्थवाह साधु का प्रतीक है। विजय चोर के समान साधु का शरीर है। पुत्र देवदत्त के स्थान पर अनन्त अनुपम आनन्द का कारणभूत संयम समझना चाहिए। जैसे पंथक के प्रमाद से देवदत्त का घात हुआ, उसी प्रकार शरीर की प्रमाद रूप अशुभ प्रवृत्ति से संयम का घात होता है। देवदत्त के आभूषणों के स्थान पर इन्द्रिय-विषय समझना चाहिए। इन विषयों के प्रलोभन में पड़ा हुआ मनुष्य संयम का घात कर डालता है। हडिबंधन के समान जीव और शरीर का अभिन्न रूप से रहना समझना चाहिए। राजा के स्थान पर कर्मफल समझना चाहिए। कर्म की प्रकृतियाँ राजपुरुषों के समान हैं। अल्प अपराध के स्थान पर मनुष्यायु के बंध के हेतु समझने चाहिए। उच्चार प्रस्रवण की जगह प्रत्युपेक्षण आदि क्रियाएँ समझना चाहिए अर्थात् जैसे आहार न देने से विजय चोर उच्चार—प्रस्रवण के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ उसी प्रकार यह शरीर आहार के बिना प्रत्युपेक्षण आदि क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं होता। पंथक के स्थान पर मुग्ध साधु समझना चाहिए। भद्रा सार्थवाही को आचार्य के स्थान पर जानना चाहिए। किसी मुग्ध (भोले) साधु के मुख से जब आचार्य किसी साधु का अशनादि से शरीर का पोषण करना सुनते हैं, तब वह उस साधु को उपालंभ देते हैं। जब वह साधु बतलाता है कि मैंने विषयभोग आदि के लिए शरीर का पोषण नहीं किया, परन्तु ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना के लिए शरीर को आहार दिया है, तब गुरु को संतोष हो जाता है। कहा भी है—

सिवसाहणेसु आहार-विरहिओ जं न वट्टए देहो ।
तम्हा धण्णो व्व विजयं, साहू तं तेण पोसेज्जा ।।

अर्थात्—निराहार शरीर मोक्ष के कारणों-प्रतिलेखन आदि क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं होता, अतएव जिस भाव से धन्य सार्थवाह ने विजय चोर का पोषण किया, उसी भावना से साधु शरीर का पोषण करे।

।। द्वितीय अध्ययन समाप्त ।।

तृतीय अध्ययन : अंडक

सार-संक्षेप

तृतीय अध्ययन का मुख्य स्वर है—जिन-प्रवचन में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा न करना। 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं' अर्थात् वीतराग और सर्वज्ञ ने जो तत्त्व प्रतिपादित किया है, वही सत्य है, उसमें शंका के लिए कोई अवकाश नहीं है। कषाय और अज्ञान के कारण ही असत्य बोला जाता है, जिसमें ये दोनों दोष नहीं उसके वचन असत्य हो ही नहीं सकते।

इस प्रकार की सुदृढ श्रद्धा के साथ मुक्ति-साधना के पथ पर अग्रसर होने वाला साधक ही अपनी साधना में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकता है। उसकी श्रद्धा उसे अपूर्व शक्ति प्रदान करती है और उस श्रद्धा के बल पर वह सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करता हुआ अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता जाता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग या लक्षण 'निश्शंकितता' कहा गया है।

इसके विपरीत जिसके अन्तःकरण में अपने लक्ष्य अथवा लक्ष्यप्राप्ति के साधनों में दृढ विश्वास नहीं होता, जिसका चित्त डांवाडोल होता हैं, जिसकी मनोवृत्ति ढुलमुल होती है, प्रथम तो उसमें आन्तरिक बल उत्पन्न ही नहीं होता और यदि वह हो तो भी वह उसका पूरी तरह उपयोग नहीं कर सकता। इस प्रकार अधूरे बल और अधूरे मनोयोग से कार्य की पूर्ण सिद्धि नहीं हो सकती। लौकिक कार्य हो अथवा लोकोत्तर, सर्वत्र पूर्ण श्रद्धा, समग्र उत्साह और परिपूर्ण मनोयोग को उसमें लगा देना आवश्यक है। सम्पूर्ण सफलता- प्राप्ति की यह अनिवार्य शर्त है।

प्रस्तुत तृतीय अध्ययन में यही तथ्य उदाहरण द्वारा और फिर उपसंहार रूप में साक्षात् रूप से प्रस्तुत किया गया है। दो पात्रों के द्वारा श्रद्धा का सुफल और अश्रद्धा का दुष्परिणाम दिखलाया गया है। संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है—

चम्पा नगरी में दो सार्थवाह पुत्र रहते थे। जिनदत्तपुत्र और सागरदत्तपुत्र, इन्हीं संज्ञाओं से उनका उल्लेख किया गया है, उनके स्वयं के नामों का कोई उल्लेख नहीं है। दोनों अभिन्नहृदय मित्र थे। प्रायः साथ ही रहते थे। विदेशयात्रा हो या दीक्षाग्रहण, सभी प्रसंगों में साथ रहने का उन्होंने संकल्प किया था। किन्तु चित्तवृत्ति दोनों की एक दूसरे से विपरीत थी।

एक बार दोनों साथी देवदत्ता गणिका को साथ लेकर चम्पा नगरी के सुभूमिभाग उद्यान में गए। वहाँ स्नान करके, भोजन-पानी से निवृत्त होकर, संगीत-नृत्य आदि द्वारा मनोरंजन, आमोद प्रमोद करके उद्यान में परिभ्रमण करने लगे। उद्यान से लगा हुआ सघन झाड़ियों वाला एक प्रदेश—मालुकाकच्छ वहाँ था। वे मालुकाकच्छ की ओर गए ही थे कि एक मयूरी घबराहट और बेचैनी के साथ ऊपर उड़ी और निकट के एक वृक्ष की शाखा पर बैठ कर केका-रव करने लगी। यह दृश्य देखकर सार्थवाहपुत्रों को सन्देह हुआ। वे आगे बढ़े तो उन्हें दो अंडे दिखाई दिए।

सार्थवाहपुत्रों ने दोनों अंडे उठा लिये और अपने घर ले गए—दोनों ने एक-एक बांट लिया।

सागरदत्त का पुत्र शंकाशील था। उसने उस अंडे को ले जाकर अपने घर के पहले के अंडों के साथ रख दिया, जिससे उसकी मयूरियाँ अपने अंडों के साथ उसका भी पोषण करती रहें। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में घरों में भी मोर पाले जाते थे।

शंकाशीलता के कारण सागरदत्तपुत्र से रहा नहीं गया। वह उस अंडे के पास गया और विचार करने लगा-कौन जाने यह अंडा निपजेगा अथवा नहीं? इस प्रकार शंका, कांक्षा और विचिकित्सा से ग्रस्त होकर उसने अंडे को उलटा, पलटा, उलट फेर कर कानों के पास ले गया, उसे बजाया। वारंवार ऐसा करने से अंडा निर्जीव हो गया। उसमें से बच्चा नहीं निकला।

इसके विपरीत जिनदत्तपुत्र श्रद्धासम्पन्न था। उसने विश्वास रक्खा। वह अंडा मयूर-पालकों को सौंप दिया। यथासमय बच्चा हुआ। उसे नाचना सिखलाया गया। अनेक सुन्दर कलाएं सिखलाई गईं। जिनदत्तपुत्र यह देखकर अत्यन्त हर्षित हुआ। नगर भर में उस मयूर-पोत की प्रसिद्धि हो गई। जिनदत्तपुत्र उसकी बदौलत हजारों-लाखों की बाजियाँ जीतने लगा।

यह है अश्रद्धा और श्रद्धा का परिणाम। जो साधक श्रद्धावान् रहकर साधना में प्रवृत्त होता है, उसे इस भव में मान-सन्मान की और परभव में मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत अश्रद्धालु साधक इस भव में निन्दा-गर्हा का तथा परभवों में अनेक प्रकार के संकटों, दुःखों, पीडाओं और व्यथाओं का पात्र बनता है।

तच्चं अज्झयणं : अंडे

जम्बू स्वामी का प्रश्न

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं दोच्चस्स अज्झयणस्स णायाधम्मकहाणं अयमट्ठे पन्नत्ते, तइअस्स अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

श्री जम्बू स्वामी अपने गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न करते हैं—भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ फर्माया है तो तीसरे अध्ययन का क्या अर्थ फर्माया है ?

सुधर्मा स्वामी का उत्तर

२—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था, वन्नओ[1] । तीसे णं चंपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए सुभूमिभाए नामं उज्जाणे होत्था । सव्वोउय-पुप्फ-फलसमिद्धे सुरम्मे नंदणवणे इव सुह-सुरभि-सीयल-च्छायाए समणुबद्धे ।

श्री सुधर्मा उत्तर देते हैं—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में चम्पा नामक नगरी थी । उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार समझना चाहिए । उस चम्पा नगरी से बाहर उत्तरपूर्व दिशा—ईशान कोण में सुभूमिभाग नामक एक उद्यान था । वह सभी ऋतुओं में फूलों-फलों से सम्पन्न रहता था और रमणीक था । नन्दन-वन के समान शुभ था या सुखकारक था तथा सुगंधयुक्त और शीतल छाया से व्याप्त था ।

मयूरी के अंडे

३—तस्स णं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरओ एगदेसम्मि मालुयाकच्छए होत्था, वण्णओ[2] । तत्थ णं एगा वणमऊरी दो पुट्ठे परियागए पिट्टुंडी पंडुरे निव्वणे निरुवहए भिन्नमुट्ठिप्प-माणे मऊरीअंडए पसवइ । पसवित्ता सएणं पक्खवाएणं सारक्खमाणी संगोवेमाणी संविट्ठेमाणी विहरइ ।

उस सुभूमिभाग उद्यान के उत्तर में, एक प्रदेश में, एक मालुकाकच्छ था, अर्थात् मालुका नामक वृक्षों का वनखण्ड था । उसका वर्णन पूर्ववत्[3] कहना चाहिए । उस मालुकाकच्छ में एक श्रेष्ठ मयूरी ने पुष्ट, पर्यायागत—अनुक्रम से प्रसवकाल को प्राप्त, चावलों के पिंड के समान श्वेत वर्ण वाले, व्रण अर्थात् छिद्र या घाव से रहित, वायु आदि के उपद्रव से रहित तथा पोली मुट्ठी के बराबर, दो मयूरी के अंडों का प्रसव किया । प्रसव करके वह अपने पांखों की वायु से उनकी रक्षा करती, उनका संगोपन-सारसंभाल करती और संवेष्टन—पोषण करती हुई रहती थी ।

४—तत्थ णं चंपाए नयरीए दुवे सत्थवाहदारगा परिवसंति; तंजहा—जिणदत्तपुत्ते य सागर-दत्तपुत्ते य सहजायया सहवड्ढियया सहपंसुकीलियया सहदारदरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया अन्नमन्नमणु

१. औप. सूत्र १ २. द्वि. अ. सूत्र ५ ३. द्वितीय अध्य. सूत्र ५

व्वयया अन्नमण्णच्छंदाणुवत्तया अन्नमन्नहियइच्छियकारया अन्नमन्नेसु गिहेसु किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

उस चम्पानगरी में दो सार्थवाह-पुत्र निवास करते थे। वे इस प्रकार थे—जिनदत्त का पुत्र और सागरदत्त का पुत्र। वे दोनों साथ ही जन्मे थे, साथ ही बड़े हुए थे, साथ ही धूल में खेले थे, साथ ही दारदर्शी-विवाहित हुए थे अथवा एक साथ रहते हुए एक—दूसरे के द्वार को देखने वाले थे—साथ-साथ घर में प्रवेश करते थे। दोनों का परस्पर अनुराग था। एक, दूसरे का अनुसरण करता था, एक, दूसरे की इच्छा के अनुसार चलता था। दोनों एक दूसरे के हृदय का इच्छित कार्य करते थे और एक दूसरे के घरों में कृत्य-नित्यकृत्य और करणीय—नैमित्तिक कार्य—कभी-कभी करने योग्य कृत्य करते हुए रहते थे।

मित्रों की प्रतिज्ञा

५—तए णं तेसिं सत्थवाहदारगाणं अन्नया कयाइं एगयओ सहियाणं समुवागयाणं सन्निसन्नाणं सन्निविट्ठाणं इमेयारूवे मिहोकहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था—'जण्णं देवाणुप्पिया! अम्हं सुहं वा दुक्खं वा पव्वज्जा वा विदेसगमणं वा समुप्पज्जइ, तण्णं अम्हेहिं एगयओ समेच्चा णित्थरियव्वं।' ति कट्टु अन्नमन्नमेयारूवं संगारं पडिसुणेन्ति। पडिसुणेत्ता सकम्मसंपउत्ता जाया यावि होत्था।

तत्पश्चात् वे सार्थवाह पुत्र किसी समय इकट्ठे हुए, एक के घर में आये और एक साथ बैठे थे, उस समय उनमें आपस में इस प्रकार वार्तालाप हुआ—'हे देवानुप्रिय! जो भी हमें सुख, दुःख, प्रव्रज्या अथवा विदेश-गमन प्राप्त हो, उस सब का हमें एक दूसरे के साथ ही निर्वाह करना चाहिए।' इस प्रकार कह कर दोनों ने आपस में इस प्रकार की प्रतिज्ञा अंगीकार की। प्रतिज्ञा अंगीकार करके अपने-अपने कार्य में लग गये।

गणिका देवदत्ता

६—तत्थ णं चंपाए नयरीए देवदत्ता नामं गणिया परिवसइ, अड्ढा जाव (दित्ता वित्ता वित्थिन्न-विउल-भवण-सयणासण-जाण-वाहणा बहुधण-जायरूव-रयया आओग-पओगसंपउत्ता विच्छड्डियपउर-भत्तपाणा चउसट्ठिकलापंडिया चउसट्ठिगणियागुणोववेया अउणत्तीसं विसेसे रममाणी एक्कवीस-रइगुणप्पहाणा बत्तीसपुरिसोवयार-कुसला णवंगसुत्तपडिबोहिया अट्ठारस-देसीभासाविसारया सिंगारागारचारुवेसा संगय-गय-हसिय-भणिय-विहियविलास-ललियसंलाव-निउणजुत्तोवयारकुसला ऊसियझया सहस्सलंभा विइन्नछत्त-चामर-बालवियणिया कन्नीरहप्पयाया यावि होत्था, बहूणं गणिया-सहस्साणं आहेवच्चं जाव (पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणा-ईसर-सेणावच्चं कारेमाणी पालेमाणी महयाऽऽहय-नट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-तालघण-मुइंग-पडुप्पवाइयरवेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी) विहरइ।

उस चम्पानगरी में देवदत्तानामक गणिका निवास करती थी। वह समृद्ध थी, [तेजस्विनी थी, प्रख्यात थी। उसके यहाँ विस्तीर्ण और विपुल भवन, शय्या, आसन, रथ आदि यान और अश्व आदि वाहन थे। स्वर्ण और चांदी आदि धन की बहुतायत थी। लेन-देन किया करती थी। उसके यहाँ इतना बहुत भोजन-पान तैयार होता था कि जीमने के पश्चात् भी बहुत-सा बच रहता था,

अत:] वह वहुत भोजन पान वाली थी। चौसठ कलाओं में पंडिता थी। गणिका के चौसठ गुणों से युक्त थी। उनतीस प्रकार की विशेष क्रीडाएँ करने वाली थी। कामक्रीडा के इक्कीस गुणों में कुशल थी। वत्तीस प्रकार के पुरुष के उपचार करने में कुशल थी। उसके सोते हुए नौ अंग (दो कान, दो नेत्र, दो नासिकापुट, जिह्वा, त्वचा और मन) जाग्रत हो चुके थे अर्थात् वह युवावस्था को प्राप्त थी। अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में निपुण थी। वह ऐसा सुन्दर वेष धारण करती थी, मानो शृंगार रस का स्थान हो। सुन्दर गति, उपहास, वचन, चेष्टा, विलास (नेत्रों की चेष्टा) एवं ललित संलाप (वात-चीत) करने में कुशल थी। योग्य उपचार (व्यवहार) करने में चतुर थी। उसके घर पर ध्वजा फहराती थी। एक हजार देने वाले को प्राप्त होती थी, अर्थात् उसका एक दिन का शुल्क एक हजार रुपया था। राजा के द्वारा उसे छत्र, चामर और वाल व्यजन (विशेष प्रकार का चामर) प्रदान किया गया था। वह कर्णीरथनामक वाहन पर आरूढ होकर आती जाती थी, यावत् एक हजार गणिकाओं का आधिपत्य करती हुई रहती थी। (वह उनका नेतृत्व, स्वामित्व, पालकत्व एवं अग्रेसरत्व करती थी। सभी को अपनी आज्ञा के अनुसार चलाती थी। वह उनकी सेनाध्यक्षा थी। उनका पालन-पोषण करती थी। नृत्य, गीत और वाद्यों में मस्त रहती थी। तंत्री, तल, ताल, घन, मृदंग आदि वाजों की ध्वनि में डूवी वह देवदत्ता विपुल भोग भोग रही थी)।

गणिका के साथ विहार

७—तए णं तेसिं सत्थवाहदारगाणं अन्नया कयाइ पुव्वावरण्हकाल-समयंसि जिमियभुत्तुत्तरागयाणं समाणाणं आयंताणं चोक्खाणं परमसुइभूयाणं सुहासणवरगयाणं इमेयारूवे मिहोकहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था-तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! कल्लं जाव[1] जलंते विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेत्ता तं विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं धूव-पुप्फ-गंध-वत्थं गहाय देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुभवमाणाणं विहरित्तए' त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेन्ति, पडिसुणित्ता कल्लं पाउब्भूए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेन्ति, सद्दावित्ता एवं वयासी—

तत्पचात् वे सार्थवाहपुत्र किसी समय मध्याह्नकाल में भोजन करने के अनन्तर, आचमन करके, हाथ-पैर धोकर स्वच्छ होकर, परम पवित्र होकर सुखद आसनों पर वैठे। उस समय उन दोनों में आपस में इस प्रकार की वात-चीत हुई—'हे देवानुप्रिय ! अपने लिए यह अच्छा होगा कि कल यावत् सूर्य के देदीप्यमान होने पर विपुल अशन, पान खादिम और स्वादिम तथा धूप, पुष्प, गंध और वस्त्र साथ में लेकर, देवदत्ता गणिका के साथ, सुभूमिभागनामक उद्यान में उद्यान की शोभा का अनुभव करते हुए विचरें।' इस प्रकार—कहकर दोनों ने एक दूसरे की वात स्वीकार की। स्वीकार करके दूसरे दिन सूर्योदय होने पर कौटुम्विक पुरुषों (सेवकों) को वुलाकर इस प्रकार कहा—

८—गच्छह णं देवाणुप्पिया ! विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडेह। उवक्खडित्ता तं विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं धूव-पुप्फं गहाय जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे, जेणेव नंदा पुक्खरिणी तेणामेव उवागच्छह। उवागच्छित्ता णंदापुक्खरिणीओ अदूरसामंते थूणामंडवं आहणह।' आहणित्ता आसित्त-संमज्जिओवलित्तं जाव [पंचवण्ण-सरससुरभि-मुक्क-पुप्फपुंजोवयारकलियं कालागरु-पवर-

---

१. प्र. अ. २८

कुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-डज्झंत-सुरभि-मघमघंत-गंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवर-गंधगंधियं गंधवट्टिभूयं] करेह। करित्ता अम्हें पडिवालेमाणा चिट्ठह' जाव चिट्ठंति।

देवानुप्रियो ! तुम जाओ और विपुल अशन पान, खादिम और स्वादिम तैयार करो। तैयार करके उस विपुल अशन, पान खादिम और स्वादिम को तथा धूप, पुष्प आदि को लेकर जहाँ सुभूमिभागनामक उद्यान है और जहाँ नन्दा पुष्कारिणी है, वहाँ जाओ। जाकर नन्दा पुष्करिणी के समीप स्थूणामण्डप (वस्त्र से आच्छादित मंडप) तैयार करो। जल सींच कर, झाड़-बुहार कर, लीप कर यावत् [पाँच वर्णों के सरस सुगंधित एवं बिखरे हुए फूलों के समूह रूप उपचार से युक्त, काले अगर, कुंदुरुक्क, तुरुष्क (लोभान) तथा धूप के जलाने से महकती हुई उत्तम गंध से व्याप्त होने के कारण मनोहर, श्रेष्ठ सुगंध के चूर्ण से सुगंधित तथा सुगंध की वट्टी के समान] बनाओ। यह सब करके हमारी बाट-राह देखना।' यह सुनकर कौटुम्बिक पुरुष आदेशानुसार कार्य करके यावत् उनकी बाट देखने लगे।

९—तए णं सत्थवाहदारगा दोच्चंपि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव लहुकरणजुत्तजोइयं समखुर-वालिहाण-समलिहियतिक्खग्गसिंगएहिं रययामय-सुत्तरज्जुय-पवरकंचण-खचिय-णत्थपग्गहोवग्गहिएहिं नीलुप्पलकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणि-रयण-कंचण-घंटियाजालपरिक्खित्तं पवरलक्खणोववेयं जुत्तमेव पवहणं उवणेह।' ते वि तहेव उवणेन्ति।

तत्पश्चात् सार्थवाहपुत्रों ने दूसरी बार (दूसरे) कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और बुलाकर कहा—शीघ्र ही एक समान खुर और पूंछ वाले, एक-से चित्रित तीखे सींगों के अग्रभाग वाले, चाँदी की घंटियों वाले, स्वर्णजटित सूत की डोरी की नाथ से बँधे हुए तथा नील कमल की कलंगी से युक्त श्रेष्ठ जवान बैल जिसमें जुते हों, नाना प्रकार की मणियों, की रत्नों की और स्वर्ण की घंटियों के समूह से युक्त तथा श्रेष्ठ लक्षणों वाला रथ ले आओ।' वे कौटुम्बिक पुरुष आदेशानुसार रथ उपस्थित करते हैं।

१०—तए णं ते सत्थवाहदारगा ण्हाया जाव [कयबलिकम्मा कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ता अप्पमहग्घाभरणालंकिय-] सरीरा पवहणं दुरूहंति। दुरूहित्ता जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहं तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता पवहणाओ पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता देवदत्ताए गणियाए गिहं अणुपविसेन्ति।

तए णं सा देवदत्ता गणिया सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता ते सत्थवाहदारए एवं वयासी—'संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमिहागमणप्पओयणं ?'

तत्पश्चात् उन सार्थवाहपुत्रों ने स्नान किया, यावत् [बलिकर्म किया, कौतुक, मंगल प्रायश्चित्त किया, थोड़े और बहुमूल्य अलंकारों से शरीर को अलंकृत किया और वे रथ पर आरूढ हुए। रथ पर आरूढ होकर जहाँ देवदत्ता गणिका का घर था, वहाँ आये। आकर वाहन (रथ) से नीचे उतरे और देवदत्ता गणिका के घर में प्रविष्ट हुए।

उस समय देवदत्ता गणिका ने सार्थवाहपुत्रों को आता देखा। देखकर वह हृष्ट-तुष्ट होकर आसन से उठी और उठकर सात-आठ कदम सामने गई। सामने जाकर उसने सार्थवाहपुत्रों से इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो ! आज्ञा दीजिए, आपके यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ?

११—तए णं ते सत्थवाहदारगा देवदत्तं गणियं एवं वयासी—'इच्छामो णं देवाणुप्पिए ! तुम्हेहिं सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुब्भवमाणा विहरित्तए।'

तए णं सा देवदत्ता तेसिं सत्थवाहदारगाणं एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता ण्हाया कयबलि-कम्मा जाव सिरिसमाणवेसा जेणेव सत्थवाहदारगा तेणेव समागया।

तत्पश्चात् सार्थवाह पुत्रों ने देवदत्ता गणिका से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिये ! हम तुम्हारे साथ सुभूमिभागनामक उद्यान की श्री का अनुभव करते हुए विचरना चाहते हैं।'

गणिका देवदत्ता ने उन सार्थवाहपुत्रों का यह कथन स्वीकार किया। स्वीकार करके स्नान किया, मंगलकृत्य किया। यावत् लक्ष्मी के समान श्रेष्ठ वेष धारण किया। जहाँ सार्थवाह पुत्र थे वहाँ आ गई।

१२—तए णं ते सत्थवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए सद्धिं जाणं दुरूहंति, दुरूहित्ता चंपाए नयरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे, जेणेव नंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता पवहणाओ पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता णंदापोक्खरिणिं ओगाहिंति। ओगाहित्ता जलमज्जणं करेंति, जलकीडं करेंति, ण्हाया देवदत्ताए सद्धिं पच्चुत्तरंति। जेणेव थूणामंडवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता थूणामंडवं अणुपविसित्ता सव्वालंकारविभूसिया आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए सद्धिं तं विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं धूवपुप्फगंधवत्थं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभाएमाणा परिभुंजेमाणा एवं च णं विहरंति। जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा देवदत्ताए सद्धिं विपुलाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् वे सार्थवाहपुत्र देवदत्ता गणिका के साथ यान पर आरूढ हुए और चम्पा नगरी के बीचों बीच होकर जहाँ सुभूमिभाग उद्यान था और जहाँ नन्दा पुष्करिणी थी, वहाँ पहुँचे। वहाँ पहुँच कर यान (रथ) से नीचे उतरे। उतर कर नंदा पुष्करिणी में अवगाहन किया। अवगाहन करके जल-मज्जन किया, जल-क्रीड़ा की, स्नान किया और फिर देवदत्ता के साथ बाहर निकले। जहाँ स्थूणामंडप था वहाँ आये। आकर स्थूणामंडप में प्रवेश किया। सब अलंकारों से विभूषित हुए, आश्वस्त (स्वस्थ) हुए, विश्वस्त (विश्रान्त) हुए, श्रेष्ठ आसन पर बैठे। देवदत्ता गणिका के साथ उस विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तथा धूप, पुष्प गंध और वस्त्र का उपभोग करते हुए, विशेष रूप से आस्वादन करते हुए, विभाग करते हुए एवं भोगते हुए विचरने लगे। भोजन के पश्चात् देवदत्ता के साथ मनुष्य संबंधी विपुल काम-भोग भोगते हुए विचरने लगे।

१३—तए णं सत्थवाहदारगा पुव्वावरण्हकालसमयंसि देवदत्ताए गणियाए सद्धिं थूणामंडवाओ पडिणिक्खमंति। पडिणिक्खमित्ता हत्थसंगेल्लीए सुभूमिभागे बहुसु आलिघरएसु य कयलीघरेसु य लयाघरएसु य अच्छणघरएसु य पेच्छणघरएसु य पसाहणघरएसु य मोहणघरएसु य सालघरएसु य जालघरएसु य कुसुमघरएसु य उज्जाणसिरिं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् वे सार्थवाहपुत्र दिन के पिछले प्रहर में देवदत्ता गणिका के साथ स्थूणामंडप से वाहर निकलकर हाथ में हाथ डालकर, सुभूमिभाग में बने हुए आलिनामक वृक्षों के गृहों में, कदली-गृहों में, लतागृहों में, आसन (बैठने के) गृहों में, प्रेक्षणगृहों में, मंडन करने के गृहों में, मोहन (मैथुन) गृहों में, साल वृक्षों के गृहों में, जाली वाले गृहों में तथा पुष्पगृहों में उद्यान की शोभा का अनुभव करते हुए घूमने लगे।

मयूरी का उद्वेग

१४—तए णं ते सत्थवाहदारगा जेणेव मालुयाकच्छए तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तए णं सा वणमऊरी ते सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासइ। पासित्ता भीया तत्था महया महया सद्देणं केकारवं विणिम्मुयमाणी विणिम्मुयमाणी मालुयाकच्छाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमित्ता एगंसि रुक्ख-डालयंसि ठिच्चा ते सत्थवाहदारए मालुयाकच्छयं च अणिमिसाए दिट्ठीए पेहमाणी चिट्ठइ।

तत्पश्चात् वे सार्थवाहदारक जहाँ मालुकाकच्छ था, वहाँ जाने के लिए प्रवृत्त हुए। तब उस वनमयूरी ने सार्थवाहपुत्रों को आता देखा। देखकर वह डर गई और घबरा गई। वह जोर-जोर से आवाज करके केकारव करती हुई मालुकाकच्छ से वाहर निकली। निकल कर एक वृक्ष की डाली पर स्थित होकर उन सार्थवाहपुत्रों को तथा मालुकाकच्छ को अपलक दृष्टि से देखने लगी।

१५—तए णं सत्थवाहदारगा अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'जह णं देवाणुप्पिया! एसा वणमऊरी अम्हे एज्जमाणा पासित्ता भीया तत्था तसिया उव्विग्गा पलाया महया महया सद्देणं जाव[1] अम्हे मालुयाकच्छयं च पेच्छमाणी पेच्छमाणी चिट्ठइ, तं भवियव्वमेत्थ कारणेणं' ति कट्टु मालुयाकच्छयं अंतो अणुपविसंति। अणुपविसित्ता तत्थ णं दो पुट्ठे परियागए[2] जाव पासित्ता अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—

तब उन सार्थवाहपुत्रों ने आपस में एक दूसरे को बुलाया और बुलाकर इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय! यह वनमयूरी हमें आता देखकर भयभीत हुई, स्तब्ध रह गई, त्रास को प्राप्त हुई, उद्विग्न हुई, भाग (उड़) गई और जोर-जोर की आवाज करके यावत् हम लोगों को तथा मालुकाकच्छ को पुनः पुनः देख रही है, अतएव इसका कोई कारण होना चाहिए।' इस प्रकार कह कर वे मालुका-कच्छ के भीतर घुसे। घुस कर उन्होंने वहाँ दो पुष्ट और अनुक्रम से वृद्धि प्राप्त मयूरी-अंडे यावत् देखें, देख कर एक दूसरे को आवाज देकर इस प्रकार कहा—

अंडों का अपहरण

१६—'सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं इमे वणमऊरीअंडए साणं जाइमंताणं कुक्कुडियाणं अंडएसु य पक्खिवावित्तए। तए णं ताओ जातिमंताओ कुक्कुडियाओ एए अंडए सए य अंडए सएणं पक्खवाएणं सारक्खमाणीओ संगोवेमाणीओ विहरिस्संति। तए णं अम्हं एत्थ दो कीलावणगा मऊरी-पोयगा भविस्संति।' त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता सए सए दासचेडे सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! इमे अंडए गहाय सयाणं जाइमंताणं कुक्कुडीणं अंडएसु पक्खिवह।' जाव ते वि पक्खिवेंति।

१. तृ. अ. सूत्र १४. २, तृ. अ. सूत्र ३

हे देवानुप्रिय ! वनमयूरी के इन अंडों को अपनी उत्तम जाति की मुर्गी के अंडों में डलवा देना अपने लिए अच्छा रहेगा । ऐसा करने से अपनी जातिवन्त मुर्गियाँ इन अंडों का और अपने अंडों का अपने पंखों की हवा से रक्षण करती और संभालती रहेंगी । तो हमारे दो क्रीडा करने के मयूरी-वालक हो जाएँगे ।' इस प्रकार कहकर उन्होंने एक दूसरे की वात स्वीकार की । स्वीकार करके अपने-अपने दासपुत्रों को बुलाया । बुलाकर इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो ! तुम जाओ । इन अंडों को लेकर अपनी उत्तम जाति की मुर्गियों के अंडों में डाल (मिला) दो ।' उन दासपुत्रों ने उन दोनों अंडों को मुर्गियों के अंडों में मिला दिया ।

१७—तए णं ते सत्थवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुभवमाणा विहरित्ता तमेव जाणं दुरूढा समाणा जेणेव चंपानयरी जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहे तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छित्ता देवदत्ताए गिहं अणुपविसंति । अणुपविसित्ता देवदत्ताए गणियाए विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयंति । दलइत्ता सक्कारेंति, सक्कारित्ता संमाणेंति, सम्माणिता देवदत्ताए गिहाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सयाइं सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छित्ता सकम्मसंपउत्ता जाया यावि होत्था ।

तत्पश्चात् वे सार्थवाहपुत्र देवदत्ता गणिका के साथ सुभूमिभाग उद्यान में, उद्यान की शोभा का अनुभव करते हुए विचरण करके उसी यान पर आरूढ हो कर जहाँ चम्पा नगरी थी और जहाँ देवदत्ता गणिका का घर था, वहाँ आये । आकर देवदत्ता गणिका के घर में प्रवेश किया । प्रवेश करके देवदत्ता गणिका को विपुल जीविका के योग्य प्रीतिदान दिया । प्रीतिदान देकर उसका सत्कार सन्मान किया । सत्कार सन्मान करके दोनों देवदत्ता के घर से वाहर निकल कर जहाँ अपने-अपने घर थे, वहाँ आये । आकर अपने कार्य में संलग्न हो गये ।

शंकाशील सागरदत्तपुत्र

१८—तए णं जे से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाहदारए से णं कल्लं जाव[1] जलंते जेणेव से वणमऊरीअंडए तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता तंसि मऊरीअंडयंसि संकिए कंखिए विइगिच्छासमावन्ने भेयसमावन्ने कलुससमावन्ने—'किं णं ममं एत्थ कीलावणमऊरीपोयए भविस्सइ, उदाहु णो भविस्सइ ?' त्ति कट्टु तं मऊरीअंडयं अभिक्खणं अभिक्खणं उव्वत्तेइ, परियत्तेइ, आसारेइ, संसारेइ, चालेइ, फंदेइ, घट्टेइ, खोभेइ, अभिक्खणं अभिक्खणं कण्णमूलंसि टिट्टियावेइ । तए णं से मऊरीअंडए अभिक्खणं अभिक्खणं उव्वत्तिज्जमाणे जाव टिट्टियावेज्जमाणे पोच्चडे जाए यावि होत्था ।

तत्पश्चात् उनमें जो सागरदत्त का पुत्र सार्थवाहदारक था, वह कल (दूसरे दिन) सूर्य के देदीप्यमान होने पर जहां वनमयूरी का अंडा था, वहां आया । आकर उस मयूरी-अंडे में शंकित हुआ, अर्थात् वह सोचने लगा कि यह अंडा निपजेगा या नहीं ? उसके फल की आकांक्षा करने लगा कि कव इससे अभीष्ट फल की प्राप्ति होगी ? विचिकित्सा को प्राप्त हुआ अर्थात् मयूरी-बालक हो जाने पर भी इससे क्रीडा रूप फल प्राप्त होगा या नहीं, इस प्रकार फल में संदेह करने लगा । भेद को प्राप्त हुआ, अर्थात् सोचने लगा कि इस अंडे में बच्चा है भी या नहीं ? कलुषता अर्थात् बुद्धि की

१-प्र. अ. २८

मलिनता को प्राप्त हुआ। अतएव वह विचार करने लगा कि मेरे इस अंडे में से क्रीडा करने का मयूरी-बालक उत्पन्न होगा अथवा नहीं होगा ?

इस प्रकार विचार करके वह वार-वार उस अंडे को उद्वर्त्तन करने लगा अर्थात् नीचे का भाग ऊपर करके फिराने लगा, घुमाने लगा, आसारण करने लगा अर्थात् एक जगह से दूसरी जगह रखने लगा, संसारण करने लगा अर्थात् वार-वार स्थानान्तरित करने लगा, चलाने लगा, हिलाने लगा, घट्टन—हाथ से स्पर्श करने लगा, क्षोभण—भूमि को खोद कर उसमें रखने लगा और वार-वार उसे कान के पास ले जाकर बजाने लगा। तदनन्तर वह मयूरी-अंडा वार-वार उद्वर्त्तन करने से यावत् [परिवर्त्तन करने से, आसारण-संसारण करने से, चलाने, हिलाने, स्पर्श करने से, क्षोभण करने से] बजाने से पोचा हो गया—निर्जीव हो गया।

१९—तए णं से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाहदारए अन्नया कयाइं जेणेव से मऊरीअंडए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता तं मऊरीअंडयं पोच्चडमेव पासइ। पासित्ता 'अहो णं ममं एस कीलावणए ण जाए' त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए।

सागरदत्त का पुत्र सार्थवाहदारक किसी समय जहाँ मयूरी का अंडा था वहाँ आया। आकर उस मयूरी—अंडे को उसने पोचा देखा। देखकर 'ओह ! यह मयूरी का वच्चा मेरी क्रीडा करने के योग्य न हुआ' ऐसा विचार करके खेदखिन्नचित्त होकर चिन्ता करने लगा। उसके सब मनोरथ विफल हो गए।

शंकाशीलता का कुफल

२०—एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरिय-उवज्झायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंचमहव्वएसु, छज्जीवनिकाएसु, निग्गंथे पावयणे संकिए जाव [कंखिए वितिगिंछस-मावण्णे] कलुससमावन्ने से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं सावगाणं साविगाणं हीलणिज्जे खिंसणिज्जे गरिहणिज्जे परिभवणिज्जे, परलोए वि य णं आगच्छइ बहूणि दंडणाणि य जाव [बहूणि मुंडणाणि य बहूणि तज्जणाणि य बहूणि तालणाणि य बहूणि अंदुबंधणाणि य बहूणि घोलणाणि य बहूणि माइमरणाणि य बहूणि पिइमरणाणि य बहूणि भाइमरणाणि य बहूणि भगिणीमरणाणि य बहूणि भज्जामरणाणि य बहूणि पुत्तमरणाणि य बहूणि धूयमरणाणि य बहूणि सुण्हामरणाणि य,

बहूणि दारिद्दाणं बहूणं दोहग्गाणं बहूणं अप्पियसंवासाणं बहूणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्ख-दोमणस्साणं आभागी भविस्सति, अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो] अणुपरियट्टिस्सइ।

आयुष्मान् श्रमणो ! इस प्रकार जो साधु या साध्वी आचार्य या उपाध्याय के समीप प्रव्रज्या ग्रहण करके पाँच महाव्रतों के विषय में अथवा षट् जीवनिकाय के विषय में अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन के विषय में शंका करता है [कांक्षा-परदर्शन की या लौकिक फल की अभिलाषा करता है, या क्रिया के फल में सन्देह करता है] या कलुषता को प्राप्त होता है, वह इसी भव में बहुत-से साधुओं, साध्वियों, श्रावकों और श्राविकाओं के द्वारा हीलना करने योग्य-गच्छ से पृथक् करने योग्य, मन से निन्दा करने योग्य, लोक-निन्दनीय, समक्ष में ही गर्हा (निन्दा) करने योग्य और परिभव (अनादर)

के योग्य होता है। पर भव में भी वह बहुत दंड पाता है यावत् [वह बार-बार मूंडा जाता है, बार-बार तर्जना और ताड़ना का भागी होता है, बार-बार बेड़ियों में जकड़ा जाता है, बार-बार घोलना पाता है, उसे बार-बार मातृमरण, पितृमरण, भ्रातृमरण, भगिनीमरण, पत्नीमरण, पुत्रमरण, पुत्रीमरण और पुत्रवधूमरण का दुःख भोगना पड़ेगा।

वह बहुत दरिद्रता, अत्यन्त दुर्भाग्य, अतीव इष्ट वियोग, अत्यन्त दुःख एवं दुर्मनस्कता का भाजन बनेगा। अनादि अनन्त दीर्घ मार्ग वाले चार गतिरूप संसार-कान्तार में] परिभ्रमण करेगा।

श्रद्धा का सुफल

२१—तए णं से जिणदत्तपुत्ते जेणेव से मऊरीअंडए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता तंसि मऊरीअंडयंसि निस्संकिए, 'सुवत्तए णं मम एत्थ कीलावणए मऊरीपोयए भविस्सइ' त्ति कट्टु तं मऊरीअंडयं अभिक्खणं अभिक्खणं नो उव्वत्तेइ[1] जाव नो टिट्टियावेइ। तए णं से मऊरीअंडए अणुव्वत्तिज्जमाणे जाव अटिट्टियाविज्जमाणे तेणं कालेणं तेणं समएणं उब्भिन्ने मऊरीपोयए एत्थ जाए।

(इससे विपरीत) जिनदत्त का पुत्र जहाँ मयूरी का अंडा था, वहाँ आया। आकर उस मयूरी के अंडे के विषय में निःशंक रहा। 'मेरे इस अंडे में से क्रीडा करने के लिए बढ़िया गोलाकार मयूरी-बालक होगा' इस प्रकार निश्चय करके, उस मयूरी के अंडे को उसने बार-बार उलटा-पलटा नहीं यावत् बजाया नहीं [हिलाया-डुलाया, छुआ नहीं] आदि। इस कारण उलट-पलट न करने से और न बजाने से उस काल और उस समय में अर्थात् समय का परिपाक होने पर वह अंडा फूटा और मयूरी के बालक का जन्म हुआ।

२२—तए णं से जिणदत्तपुत्ते तं मऊरीपोययं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठे मऊरपोसए सद्दावेइ। सद्दावित्ता एवं वयासी—तुब्भे णं देवाणुप्पिया! इमं मऊरपोययं बहूहिं मऊरपोसणपाउग्गेहिं दव्वेहिं अणुपुव्वेणं सारक्खमाणा संगोवेमाणा संवड्ढेह, नट्टुल्लगं च सिक्खावेह।

तए णं ते मऊरपोसगा जिणदत्तस्स पुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता तं मऊरपोययं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता तं मऊरपोयगं जाव नट्टुल्लगं सिक्खावेंति।

तत्पश्चात् जिनदत्त के पुत्र ने उस मयूरी के बच्चे को देखा। देख कर हृष्ट-तुष्ट होकर मयूर-पोषकों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो! तुम मयूर के इस बच्चे को अनेक मयूर को पोषण देने योग्य पदार्थों से, अनुक्रम से संरक्षण करते हुए और संगोपन करते हुए बड़ा करो और नृत्यकला सिखलाओ।

तब उन मयूरपोषकों ने जिनदत्त के पुत्र की यह बात स्वीकार की। उस मयूर-बालक को ग्रहण किया। ग्रहण करके जहाँ अपना घर था वहाँ आये। आकर इस मयूर-बालक को यावत् नृत्यकला सिखलाने लगे।

---

१. तृ. अ. १८

२३—तए णं से मऊरपोयए उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुपत्ते लक्खण-वंजणगुणोववेए माणुम्माण-पमाणपडिपुण्ण-पक्ख-पेहुण-कलावे विचित्तपिच्छे सयचंदए नीलकंठए नच्चणसीलए एगाए चप्पुडियाए कयाए समाणीए अणेगाइं नट्टुल्लगसयाइं केकारवसयाणि य करेमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् मयूरी का वह बच्चा बचपन से मुक्त हुआ। उसमें विज्ञान का परिणमन हुआ। युवावस्था को प्राप्त हुआ। लक्षणों और तिल आदि व्यंजनों के गुणों से युक्त हुआ। चौड़ाई रूप मान, स्थूलता रूप उन्मान और लम्बाई रूप प्रमाण से उसके पंखों और पिच्छों (पंखों) का समूह परिपूर्ण हुआ। उसके पंख रंग-बिरंगे हो गए। उनमें सैंकड़ों चन्द्रक थे। वह नीले कंठ वाला और नृत्य करने का स्वभाव वाला हुआ। एक चुटकी बजाने से अनेक प्रकार के सैंकड़ों केकारव करता हुआ विचरण करने लगा।

२४—तए णं ते मऊरपोसगा तं मऊरपोययं उम्मुक्कबालभावं जाव करेमाणं पासित्ता तं मऊरपोयगं गेण्हंति। गेण्हित्ता जिणदत्तस्स पुत्तस्स उवणेन्ति। तए णं से जिणदत्तपुत्ते सत्थवाह-दारए मऊरपोयगं उम्मुक्कबालभावं जाव करेमाणं पासित्ता हट्ठतुट्ठे तेसिं विउलं जीवियारिहं पीइदाणं जाव [दलयइ, दलइत्ता] पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् मयूरपालकों ने उस मयूर के बच्चे को बचपन से मुक्त यावत् केकारव करता हुआ देख कर उस मयूर-बच्चे को ग्रहण किया। ग्रहण करके जिनदत्त के पुत्र के पास ले गये। तब जिनदत्त के पुत्र सार्थवाहदारक ने मयूर-बालक को बचपन से मुक्त यावत् केकारव करता देखकर, हृष्ट-तुष्ट होकर उन्हें जीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान दिया। प्रीतिदान देकर विदा किया।

२५—तए णं से मऊरपोयए जिणदत्तपुत्तेणं एगाए चप्पुडियाए कयाए समाणीए णंगोला (ल) भंगसिरोधरे सेयावंगे अवयारियपइन्नपक्खे उक्खित्तचंदकाइयकलावे केक्काइयसयाणि विमुच्चमाणे णच्चइ।

तए णं से जिणदत्तपुत्ते तेणं मऊरपोयएणं चंपाए नयरीए सिंघाडग जाव [तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह] पहेसु सइएहि य साहस्सिएहि य सयसाहस्सिएहि य पणिएहि य जयं करेमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् वह मयूर-बालक जिनदत्त के पुत्र द्वारा एक चुटकी बजाने पर लांगूल के भंग के समान अर्थात् जैसे सिंह आदि अपनी पूंछ को टेढ़ी करते हैं उसी प्रकार अपनी गर्दन टेढ़ी करता था। उसके शरीर पर पसीना आ जाता था अथवा उसके नेत्र के कोने श्वेत वर्ण के हो गये थे। वह बिखरे पिच्छों वाले दोनों पंखों को शरीर से जुदा कर लेता था अर्थात् उन्हें फैला देता था। वह चन्द्रक आदि से युक्त पिच्छों के समूह को ऊँचा कर लेता था और सैकड़ों केकारव करता हुआ नृत्य करता था।

तत्पश्चात् वह जिनदत्त का पुत्र उस मयूर-बालक के द्वारा चम्पानगरी के शृंगाटकों [त्रिक, चौक, चत्वर चतुर्मुख, राजमार्ग आदि] मार्गों में सैंकड़ों, हजारों और लाखों की होड़ में विजय प्राप्त करता था।

उपसंहार

२६—एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा पव्वइए समाणे पंचसु महव्वएसु छसु जीवनिकाएसु निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्विइगिच्छे से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं जाव[1] वीइवइस्सइ ! एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं णायाणं तच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि ॥

हे आयुष्मान् श्रमणो ! इसी प्रकार हमारा जो साधु या साध्वी दीक्षित होकर पाँच महाव्रतों में, षट् जीवनिकाय में तथा निर्ग्रन्थ-प्रवचन में शंका से रहित, कांक्षा से रहित तथा विचिकित्सा से रहित होता है, वह इसी भव में बहुत से श्रमणों एवं श्रमणियों में मान-सम्मान प्राप्त करके यावत् संसार रूप अटवी को पार करेगा।

हे जम्बू ! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने ज्ञाता के तृतीय अध्ययन का अर्थ फरमाया है।

॥ तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

---

१. द्वि. अ. सूत्र ५३.

चतुर्थ अध्ययन : कूर्म

सार-संक्षेप

चतुर्थ अध्ययन का नाम कूर्म-अध्ययन है। इसमें आत्मसाधना के पथिकों को इन्द्रियगोपन की आवश्यकता दो कूर्मों के उदाहरण के माध्यम से प्रतिपादित की गई है।

वाराणसी नगरी में गंगा नदी से उत्तर-पूर्व में एक विशाल तालाब था—निर्मल शीतल जल से परिपूर्ण और विविध जाति के कमलों से व्याप्त। तालाब में अनेक प्रकार के मच्छ, कच्छप, मगर, ग्राह आदि जलचर प्राणी अभिरमण किया करते थे। तालाब को लोग 'मृतगंगातीरह्रद' कहते थे।

एक बार सन्ध्या-समय व्यतीत हो जाने पर, लोगों का आवागमन जब बंद-सा हो गया, तब उस तालाब में से दो कूर्म-कछुए आहार की खोज में निकले। तालाब के आस-पास घूमने लगे।

उसी समय वहाँ दो सियार आ पहुँचे। वे भी आहार की खोज में भटक रहे थे। सियारों को देख कर कूर्म भयभीत हो गए। आहार की खोज में निकले कूर्मों को स्वयं सियारों का आहार बन जाने का भय उत्पन्न हो गया। परन्तु कूर्मों में एक विशेषता होती है। वे अपने पैरों और गर्दन को अपने शरीर में जब गोपन कर लेते हैं—छिपा लेते हैं तो सुरक्षित हो जाते हैं, कोई भी आघात उनका कुछ विगाड़ नहीं सकता। कूर्मों ने यही किया। सियारों ने उन्हें देखा। वे उन पर झपटे। बहुत प्रयत्न किया उनका छेदन-भेदन करने का, किन्तु सफल नहीं हो सके।

सियार बहुत चालाक जानवर होता है। उन्होंने देखा कि कूर्म अपने अंगों का जब तक गोपन किये रहेंगे तब तक हमारा कोई प्रयत्न सफल नहीं होगा, अतएव चालाकी से काम लेना चाहिए। ऐसा सोच कर दोनों सियार कूर्मों के पास से हट गए, पर निकट ही एक झाड़ी में पूरी तरह शान्त होकर छिप गए।

दोनों कूर्मों में से एक चंचल प्रकृति का था। वह अपने अंगों का देर तक गोपन नहीं कर सका। उसने एक पैर बाहर निकाला। उधर सियार इसी की ताक में थे। जैसे ही उन्होंने एक पैर बाहर निकला देखा कि शीघ्रता के साथ वे उस पर झपटे और उस पैर को खा गए। सियार फिर एकान्त में चले गए। थोड़ी देर बाद कूर्म ने अपना दूसरा पैर बाहर निकाला और सियारों ने झपट्टा मार कर उसका दूसरा पैर भी खा लिया। इसी प्रकार थोड़ी-थोड़ी देर में कूर्म एक-एक पैर बाहर निकालता और सियार उसे खा जाते। अन्त में उस चंचल कूर्म ने गर्दन बाहर निकाली और सियारों ने उसे भी खाकर उसे प्राणहीन कर दिया। इस प्रकार अपने अंगों का गोपन न कर सकने के कारण उस कूर्म के जीवन का करुण अन्त हो गया।

दूसरा कूर्म वैसा चंचल नहीं था। उसने अपने अंगों पर संयम-नियन्त्रण रक्खा। लम्बे समय तक उसने अंगों को गोपन करके रक्खा और जब सियार चले गए तब वह चारों पैरों को एक साथ बाहर निकाल कर शीघ्रतापूर्वक तालाब में सकुशल सुरक्षित पहुँच गया।

शास्त्रकार कहते हैं—जो साधु या साध्वी अनगार-दीक्षा अंगीकार करके अपनी इन्द्रियों का गोपन नहीं करते उनकी दशा प्रथम कूर्म जैसी होती है। वे इह-परभव में अनेक प्रकार के कष्ट पाते हैं, संयम-जीवन से च्युत हो जाते हैं और निन्दा-गर्हा के पात्र बनते हैं। इससे विपरीत, जो साधु या साध्वी इन्द्रियों का गोपन करते हैं वे इसी भव में सब के वन्दनीय, पूजनीय, अर्चनीय होते हैं और संसार-अटवी को पार करके सिद्धिलाभ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि साधु हो अथवा साध्वी, उसे अपनी सभी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए, उनका गोपन करना चाहिए। इन्द्रिय-गोपन का अर्थ है—इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त न होने देना। किन्तु सर्वत्र सर्वदा इन्द्रियों की प्रवृत्ति रोकना सम्भव नहीं है। सामने आई वस्तु इच्छा न होने पर भी दृष्टिगोचर हो ही जाती है, बोला हुआ शब्द श्रोत्र का विषय बन ही जाता है। साधु-साध्वी अपनी इन्द्रियों को बंद करके रख नहीं सकते। ऐसी स्थिति में इन्द्रिय द्वारा गृहीत विषय में राग-द्वेष न उत्पन्न होने देना ही इन्द्रियगोपन, इन्द्रियदमन अथवा इन्द्रियसंयम कहलाता है। इस साधना के लिए मन को समभाव का अभ्यासी बनाने का सदैव प्रयास करते रहना आवश्यक है।

यही इस अध्ययन का सार-संक्षेप है।

चउत्थं अज्झयणं : कुम्मे

जंबू का प्रश्न

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं नायाणं तच्चस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, चउत्थस्स णं णायाणं के अट्ठे पन्नत्ते ?

श्री जम्बू स्वामी अपने गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न करते हैं—'भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने ज्ञात अंग के तृतीय अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ फरमाया है तो चौथे ज्ञात-अध्ययन का क्या अर्थ फरमाया है ?'

सुधर्मा का उत्तर

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी होत्था,[1] वन्नओ। तीसे णं वाणारसीए नयरीए बहिया उत्तर—पुरच्छिमे दिसिभागे गंगाए महानदीए मयंगतीरद्दहे नामं दहे होत्था, अणुपुव्व-सुजाय-वप्प-गंभीर-सीयल-जले अच्छ-विमल-सलिल-पलिच्छन्ने संछन्नपत्त-पुप्फ-पलासे बहुउप्पल-पउम-कुमुय-नलिण-सुभग-सोगंधिय-पुंडरीय-महापुंडरीय-सयपत्त-सहस्सपत्त-केसर-पुप्फोवचिए पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे।

श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में वाणारसी (बनारस) नामक नगरी थी। यहाँ उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के नगरी-वर्णन के समान कहना चाहिए।

उस वाणारसी नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा अर्थात् ईशान कोण में, गंगानामक महानदी और मृतगंगातीरह्लदनामक एक ह्लद था। उसके अनुक्रम से सुन्दर सुशोभित तट थे। उसका जल गहरा और शीतल था। ह्लद स्वच्छ एवं निर्मल जल से परिपूर्ण था। कमलिनियों के पत्तों और फूलों की पांखुड़ियों से आच्छादित था। बहुत से उत्पलों (नीले कमलों), पद्मों (लाल कमलों), कुमुदों (चन्द्रविकासी कमलों), नलिनों तथा सुभग, सौगंधिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र आदि कमलों से तथा केसरप्रधान अन्य पुष्पों से समृद्ध था। इस कारण वह आनन्दजनक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप था।

३—तत्थ णं बहूणं मच्छाण य कच्छपाण य गाहाण य मगराण य सुंसुमाराण य सइयाण य साहस्सियाण य सयसाहस्सियाण य जूहाइं निब्भयाइं निरुव्विग्गाइं सुहंसुहेणं अभिरममाणाइं अभिरममाणाइं विहरंति।

उस ह्लद में सैकड़ों, सहस्रों और लाखों, कच्छों, ग्राहों, मगरों और सुंसुमार जाति के जलचर जीवों के समूह भय से रहित, उद्वेग से रहित, सुखपूर्वक रमते-रमते विचरण करते थे।

---

१. औपपातिकसूत्र १.

४—तस्स णं मयंगतीरद्दहस्स अदूरसामंते एत्थ णं महं एगे मालुयाकच्छए होत्था,[1] वन्नओ। तत्थ णं दुवे पावसियालगा परिवसंति-पावा चंडा रोद्दा तल्लिच्छा साहसिया लोहियपाणी आमिसत्थी आमिसाहारा आमिसप्पिया आमिसलोला आमिसं गवेसमाणा रत्तिं वियालचारिणो दिया पच्छन्नं चावि चिट्ठंति।

उस मृतगंगातीर ह्रद के समीप एक बड़ा मालुकाकच्छ था। उसका वर्णन द्वितीय अध्ययन के अनुसार यहाँ कहना चाहिए। उस मालुकाकच्छ में दो पापी शृगाल निवास करते थे। वे पाप का आचरण करने वाले, चंड (क्रोधी) रौद्र (भयंकर) इष्ट वस्तु को प्राप्त करने में दत्तचित्त और साहसी थे। उनके हाथ अर्थात् अगले पैर रक्तरंजित रहते थे। वे मांस के अर्थी, मांसाहारी, मांसप्रिय एवं मांसलोलुप थे। मांस की गवेषणा करते हुए रात्रि और सन्ध्या के समय घूमते थे और दिन में छिपे रहते थे।

कूर्मों का निर्गमन

५—तए णं ताओ मयंगतीरद्दहाओ अन्नया कयाइं सूरियंसि चिरत्थमियंसि लुलियाए संझाए पविरलमाणुसंसि णिसंतपडिणिसंतंसि समाणंसि दुवे कुम्मगा आहारत्थी आहारं गवेसमाणा सणियं सणियं उत्तरंति। तस्सेव मयंगतीरद्दहस्स परिपेरंतेणं सव्वओ समंता परिघोलेमाणा परिघोलेमाणा वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् किसी समय, सूर्य के बहुत समय पहले अस्त हो जाने पर, सन्ध्याकाल व्यतीत हो जाने पर, जब कोई विरले मनुष्य ही चलते-फिरते थे और सब मनुष्य अपने-अपने घरों में विश्राम कर रहे थे अथवा सब लोग चलने-फिरने से विरक्त हो चुके थे, तब मृतगंगातीर ह्रद में से आहार के अभिलाषी दो कछुए बाहर निकले। वे मृतगंगातीर ह्रद के आसपास चारों ओर फिरते हुए अपनी आजीविका करते हुए विचरण करने लगे, अर्थात् आहार की खोज में फिरने लगे।

पापी शृगाल

६—तयाणंतरं च णं ते पावसियालगा आहारत्थी जाव आहारं गवेसमाणा मालुयाकच्छयाओ पडिणिक्खमंति। पडिणिक्खमित्ता जेणेव मयंगतीरे दहे तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता तस्सेव मयंगतीरद्दहस्स परिपेरंतेणं परिघोलेमाणा परिघोलेमाणा वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।

तए णं ते पावसियाला ते कुम्मए पासंति, पासित्ता जेणेव ते कुम्मए तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् आहार के अर्थी यावत् आहार की गवेषणा करते हुए वे (पूर्वोक्त) दोनों पापी शृगाल मालुकाकच्छ से बाहर निकले। निकल कर जहाँ मृतगंगातीरनामक ह्रद था, वहाँ आए। आकर उसी मृतगंगातीर ह्रद के पास इधर-उधर चारों ओर फिरने लगे और आहार की खोज करते हुए विचरण करने लगे—आहार की तलाश करने लगे।

तत्पश्चात् उन पापी सियारों ने उन दो कछुओं को देखा। देखकर जहाँ दोनों कछुए थे, वहाँ आने के लिए प्रवृत्त हुए।

---

१. द्वि. अ. सूत्र ५

७—तए णं ते कुम्मगा ते पावसियालए एज्जमाणे पासंति। पासित्ता भीता तत्था तसिया उव्विग्गा संजातभया हत्थे य पाए य गीवाओ य सएहिं सएहिं काएहिं साहरंति, साहरित्ता निच्चला निप्फंदा तुसिणीया संचिट्ठंति।

तत्पश्चात् उन कछुओं ने उन पापी सियरों को आता देखा। देखकर वे डरे, त्रास को प्राप्त हुए, भागने लगे, उद्वेग को प्राप्त हुए और बहुत भयभीत हुए। उन्होंने अपने हाथ पैर और ग्रीवा को अपने शरीर में गोपित कर लिया—छिपा लिया। गोपन करके निश्चल, निस्पंद (हलन-चलन से रहित) और मौन—शान्त रह गए।

शृगालों की चालाकी

८—तए णं ते पावसियालया जेणेव ते कुम्मगा तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता ते कुम्मगा सव्वओ समंता उव्वत्तेन्ति, परियत्तेन्ति, आसारेन्ति, संसारेन्ति, चालेन्ति, घट्टेन्ति, फंदेन्ति, खोभेन्ति, नहेहिं आलुंपंति, दंतेहि य अक्खोडेंति, नो चेव णं संचाएंति तेसिं कुम्मगाणं सरीरस्स आबाहं वा, पबाहं वा, वाबाहं वा उप्पाएत्तए छविच्छेयं वा करेत्तए।

तए णं ते पावसियालया एए कुम्मए दोच्चं पि तच्चंपि सव्वओ समंता उव्वत्तेंति, जाव नो चेव णं सचाएंति करेत्तए। ताहे संता तंता परितंता निव्विन्ना समाणा सणियं सणियं पच्चोसक्कंति, एगंतमवक्कमंति, निच्चला निप्फंदा तुसिणीया संचिट्ठंति।

तत्पश्चात् वे पापी सियार जहाँ वे कछुए थे, वहाँ आए। आकर उन कछुओं को सब तरफ से फिराने-घुमाने लगे, स्थानान्तरित करने लगे, सरकाने लगे, हटाने लगे, चलाने लगे, स्पर्श करने लगे, हिलाने लगे, क्षुब्ध करने लगे, नाखूनों से फाड़ने लगे और दांतों से चींथने लगे, किन्तु उन कछुओं के शरीर को थोड़ी वाधा, अधिक वाधा या विशेष वाधा उत्पन्न करने में अथवा उनकी चमड़ी छेदने में समर्थ न हो सके।

तत्पश्चात् उन पापी सियारों ने इन कछुओं को दूसरी बार और तीसरी बार सब ओर से घुमाया-फिराया, किन्तु यावत् वे उनकी चमड़ी छेदने में समर्थ न हुए। तब वे श्रान्त हो गये—शरीर से थक गए, तान्त हो गए—मानसिक ग्लानि को प्राप्त हुए और शरीर तथा मन-दोनों से थक गए तथा खेद को प्राप्त हुए। धीमे-धीमे पीछे लौट गये, एकान्त में चले गये और निश्चल, निस्पंद तथा मूक होकर ठहर गये।

असंयत कूर्म की दुर्दशा

९—तत्थ णं एगे कुम्मए ते पावसियालए चिरंगए दूरगए जाणित्ता सणियं सणियं एगं पायं निच्छुभइ। तए णं ते पावसियालया तेणं कुम्मएणं सणियं सणियं एगं पायं नीणियं पासंति। पासित्ता ताए उक्किट्ठाए गईए सिग्घं चवलं तुरियं चंडं जइणं वेगिइं जेणेव से कुम्मए तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता तस्स णं कुम्मगस्स तं पायं नखेहिं आलुंपंति, दंतेहिं अक्खोडेंति, तओ पच्छा मंसं च सोणियं च आहारेंति, आहारित्ता तं कुम्मगं सव्वओ समंता उव्वत्तेंति जाव नो चेव णं संचाइंति करेत्तए, ताहे दोच्चं पि अवक्कमंति, एवं चत्तारि वि पाया जाव सणियं सणियं गीवं णीणेइ। तए णं ते पावसियालया तेणं कुम्मएणं गीवं णीणियं पासंति, पासित्ता सिग्घं चवलं तुरियं चंडं नहेहिं

दंतेहिं कवालं विहाडेंति, विहाडित्ता तं कुम्मगं जीवियाओ ववरोवेंति, ववरोवित्ता मंसं च सोणियं च आहारेंति।

उन दोनों कछुओं में से एक कछुए ने उन पापी सियारों को बहुत समय पहले और दूर गया जान कर धीरे-धीरे अपना एक पैर बाहर निकाला।

तत्पश्चात् उन पापी सियारों ने देखा कि उस कछुए ने धीरे-धीरे एक पैर निकाला है। यह देखकर वे दोनों उत्कृष्ट गति से शीघ्र, चपल, त्वरित, चंड, जययुक्त और वेगयुक्त रूप से जहाँ वह कछुआ था, वहाँ गये। जाकर उन्होंने कछुए का वह पैर नाखूनों से विदारण किया और दातों से तोड़ा। तत्पश्चात् उसके मांस और रक्त का आहार किया। आहार करके वे कछुए को उलट-पुलट कर देखने लगे, किन्तु यावत् उसकी चमड़ी छेदने में समर्थ न हुए। तब वे दूसरी बार हट गए—दूर चले गए। इसी प्रकार चारों पैरों के विषय में कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि शृगालों के दूसरी बार चले जाने पर कछुए ने दूसरा पैर बाहर निकाला। पास ही छिपे शृगालों ने यह देखा तो वे पुनः झपट कर आ गए और कछुए का दूसरा पैर खा गए। शेष दो पैर और ग्रीवा शरीर में छिपी होने से उनका कुछ भी न बिगाड़ सके। तब निराश होकर शृगाल फिर एक ओर चले गए और छिप गए। जब कुछ देर हो गई तो कछुए ने अपना तीसरा पैर बाहर निकाला। शृगालों ने यह देखकर फिर आक्रमण कर दिया और वह तीसरा पैर भी खा लिया। एक पैर और ग्रीवा फिर भी बची रही। शृगाल उसे न फाड़ सके। तब वे फिर एकान्त में जाकर छिप गये। तत्पश्चात् कछुए ने चौथा पैर बाहर निकाला और तभी शृगालों ने हमला बोल कर वह चौथा पैर भी खा लिया। इसी प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर उस कछुए ने ग्रीवा बाहर निकाली। उन पापी सियारों ने देखा कि कछुए ने ग्रीवा बाहर निकाली है। यह देख कर वे शीघ्र ही उसके समीप आए। उन्होंने नाखूनों से विदारण करके और दांतों से तोड़ कर उसके कपाल को अलग कर दिया। अलग करके कछुए को जीवन-रहित कर दिया। जीवन-रहित करके उसके मांस और रुधिर का आहार किया।

निष्कर्ष

१०—एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंच य से इंदियाइं अगुत्ताइं भवंति, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं सावगाणं साविगाणं हीलणिज्जे परलोए वि य णं आगच्छइ बहूणि दंडणाणि जाव[1] अणुपरियट्टइ, जहा कुम्मए अगुत्तिंदिए।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! हमारे जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी आचार्य या उपाध्याय के निकट दीक्षित होकर पाँचों इन्द्रियों का गोपन नहीं करते हैं, वे इसी भव में बहुत साधुओं, साध्वियों, श्रावकों, श्राविकाओं द्वारा हीलना करने योग्य होते हैं, और परलोक में भी बहुत दंड पाते हैं, यावत् अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हैं, जैसे अपनी इन्द्रियों—अंगों का गोपन न करने वाला वह कछुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ।

---

१. तृ. अ., २०

संयत कूर्म

११—तए णं ते पावसियालया जेणेव से दोच्चए कुम्मए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तं कुम्मयं सव्वओ समंता उव्वत्तेंति जाव[1] दंतेहिं अक्खुडंति जाव[2] करित्तए।

तए णं ते पावसियालया दोच्चं पि तच्चं पि जाव नो संचाएंति तस्स कुम्मगस्स किंचि आबाहं वा पबाहं वा विबाहं वा जाव [उप्पाएत्तए] छविच्छेयं वा करित्तए, ताहे संता तंता परितंता निव्विन्ना समाणा जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया।

तत्पश्चात् वे पापी सियार जहाँ दूसरा कछुआ था, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर उस कछुए को चारों तरफ से, सब दिशाओं से उलट-पलट कर देखने लगे, यावत् दांतों से तोड़ने लगे, परन्तु उसकी चमड़ी का छेदन करने में समर्थ न हो सके।

तत्पश्चात् वे पापी सियार दूसरी वार और तीसरी वार दूर चले गये किन्तु कछुए ने अपने अंग बाहर न निकाले, अतः वे उस कछुए को कुछ भी आबाधा या विबाधा अर्थात् थोड़ी या वहुत या अत्यधिक पीडा उत्पन्न न कर सके। यावत् उसकी चमड़ी छेदने में भी समर्थ न हो सके। तव वे श्रान्त, क्लान्त और परितान्त हो कर तथा खिन्न होकर जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा में लौट गए।

१२—तए णं से कुम्मए ते पावसियालए चिरंगए दूरगए जाणित्ता सणियं सणियं गीवं नेणेइ, नेणित्ता दिसावलोयं करेइ, करित्ता जमगसमगं चत्तारि वि पाए नीणेइ, नीणेत्ता ताए उक्किट्ठाए कुम्मगईए वीइवयमाणे वीइवयमाणे जेणेव मयंगतीरद्दहे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणेणं सद्धिं अभिसमन्नागए यावि होत्था।

तत्पश्चात् उस कछुए ने उन पापी सियारों को चिरकाल से गया और दूर गया जान कर धीरे-धीरे अपनी ग्रीवा बाहर निकाली। ग्रीवा निकालकर सव दिशाओं में अवलोकन किया। अवलोकन करके एक साथ चारों पैर बाहर निकाले और उत्कृष्ट कूर्मगति से अर्थात् कछुए के योग्य अधिक से अधिक तेज चाल से दौड़ता-दौड़ता जहां मृतगंगातीरनामक ह्रद था, वहाँ जा पहुँचा। वहाँ जाकर मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, संबंधी और परिजनों से मिल गया।

सारांश

१३—एवामेव समणाउसो! जो अम्हं समणो वा समणी वा आयरिय-उवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे पंच से इंदियाइं गुत्ताइं भवंति, जाव [से णं इहभवे चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं साविगाण य अच्चणिज्जे वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएण पज्जुवासणिज्जे भवइ।

परलोए वि य णं नो बहूणि हत्थछेयणाणि य कण्णच्छेयणाणि य नासाछेयणाणि य एवं हिययउप्पाडणाणि य वसणुप्पाडणाणि य उल्लंबणाणि य पाविहिइ, पुणो अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं वीइवइस्सइ] जहा उ से कुम्मए गुत्तिंदिए।

१-२. चतुर्थ अ. ८.

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इसी प्रकार हमारा जो श्रमण या श्रमणी (आचार्य या उपाध्याय के निकट मुंडित होकर दीक्षित हुआ है) पांचों इन्द्रियों का गोपन करता है, जैसे उस कछुए ने अपनी इन्द्रियों को गोपन करके रखा था, वह इसी भव में बहुसंख्यक श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं द्वारा अर्चनीय वन्दनीय नमस्करणीय पूजनीय सत्करणीय और सम्माननीय होता है। वह कल्याण मंगल देवस्वरूप एवं चैत्यस्वरूप तथा उपासनीय बनता है।

परलोक में उसे हाथों, कानों और नाक के छेदन के दुःख नहीं भोगने पड़ते। हृदय के उत्पाटन, वृषणों—अंडकोषों के उखाड़ने, फांसी चढ़ने आदि के कष्ट नहीं झेलने पड़ते। वह अनादि-अनन्त संसार—कांतार को पार कर जाता है।

१४—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं चउत्थस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

अध्ययन का उपसंहार करते हुए सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने चौथे ज्ञाताध्ययन का यह अर्थ कहा है, जैसा मैंने भगवान् से सुना है, वैसा ही मैं कहता हूँ।

॥ चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

पञ्चम अध्ययन : शैलक

सार : संक्षेप

द्वारका नगरी में बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि का पदार्पण हुआ। वासुदेव कृष्ण अपने बृहत् परिवार के साथ प्रभु की उपासना और धर्मदेशना श्रवण करने पहुँचे। द्वारका के नर-नारी भी पीछे न रहे। साक्षात् तीर्थंकर भगवान् के मुख-चन्द्र से प्रवाहित होने वाले वचनामृत से कौन भव्य प्राणी वंचित रहना चाहता ?

द्वारका में थावच्चानामक एक सम्पन्न गृहस्थ महिला थी। उसका इकलौता पुत्र थावच्चापुत्र के नाम से ही अभिहित होता था। वह भी भगवान् की धर्मदेशना श्रवण करने पहुँचा। धर्मदेशना सुनी और वैराग्य के रंग में रंग गया। माता ने बहुत समझाया, आजीजी की, किन्तु थावच्चापुत्र अपने निश्चय पर अटल रहा। अन्त में विवश होकर माता ने दीक्षा-महोत्सव करने का प्रस्ताव किया, जिसे उसने मौनभाव से स्वीकार किया।

थावच्चा छत्र, चामर आदि मांगने कृष्ण महाराज के पास गई तो उन्होंने स्वयं अपनी ओर से महोत्सव मनाने को कहा। थावच्चापुत्र के वैराग्य की परीक्षा करने वे स्वयं उसके घर पर गए। सोलह हजार राजाओं के राजा, अर्द्ध भरत क्षेत्र के अधिपति महाराज श्रीकृष्ण का सहज रूप से थावच्चा के घर जा पहुँचना उनकी असाधारण महत्ता और निरहंकारिता का द्योतक है। श्रीकृष्ण को थावच्चापुत्र की परीक्षा के पश्चात् जब विश्वास हो गया कि उसका वैराग्य आन्तरिक है, सच्चा है तो उन्होंने द्वारका नगरी में आम घोषणा करवादी—'भगवान् अरिष्टनेमि के निकट दीक्षित होने वालों के आश्रित जनों के पालन-पोषण-संरक्षण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वासुदेव वहन करेंगे। जो दीक्षित होना चाहे, निश्चिन्त होकर दीक्षा ग्रहण करे।

घोषणा सुनकर एक हजार पुरुष थावच्चापुत्र के साथ प्रव्रजित हुए। कालान्तर में थावच्चा-पुत्र अनगार, भगवान् अरिष्टनेमि की अनुमति लेकर अपने साथी एक सहस्र मुनियों के साथ देश-देशान्तर में पृथक् विचरण करने लगे।

विचरण करते-करते थावच्चापुत्र सौगन्धिका नगरी पहुँचे। वहाँ का नगर-सेठ सुदर्शन यद्यपि सांख्यधर्म का अनुयायी और शुक परिव्राजक का शिष्य था, तथापि वह थावच्चापुत्र की धर्मदेशना श्रवण करने गया। थावच्चापुत्र और सुदर्शन श्रेष्ठी के बीच धर्म के मूल आधार को लेकर संवाद हुआ जिसका विवरण इस अध्ययन में उल्लिखित है। संवाद से सन्तुष्ट होकर सुदर्शन ने निर्ग्रन्थ-प्रवचन अर्थात् जिनधर्म को अंगीकार कर लिया।

शुक परिव्राजक को जब इस घटना का पता चला तो वह सुदर्शन को पुनः अपना अनुयायी बनाने के विचार से सौगन्धिका नगरी में आया। सुदर्शन डिगा नहीं। दोनों धर्माचार्यों—शुक और थावच्चापुत्र-में धर्मचर्चा का आयोजन हुआ। शुक अपने शिष्यों के साथ थावच्चापुत्र के समीप पहुँचे। दोनों की चर्चा तो हुई किन्तु उसे कोई तात्त्विक चर्चा नहीं कहा जा सकता। शुक ने शब्दों के चक्कर में थावच्चापुत्र को फँसाने का प्रयास किया मगर थावच्चापुत्र ने उसका गूढ अभिप्राय समझकर

अत्यन्त कौशल के साथ उत्तर दिए। प्रश्नोत्तरों का उल्लेख मूल पाठ में आया है। अन्त में शुक परिव्राजक, थावच्चापुत्र के शिष्य बन गए। शुक के भी एक हजार शिष्य थे। उन्होंने भी अपने गुरु का अनुसरण किया—वे भी साथ ही दीक्षित हो गए।

शुक अनगार एक बार किसी समय शैलकपुर पधारे। वहाँ का राजा शैलक पहले ही थावच्चापुत्र के उपदेश से श्रमणोपासक धर्म अंगीकार कर चुका था। इस बार वह अपने पांच सौ मंत्रियों के साथ दीक्षित हो गया। उसका पुत्र मंडुक राजगद्दी पर बैठा।

शैलक मुनि साधुचर्या के अनुसार देश-देशान्तरों में विचरण करने लगे। उनके गुरु शुक मुनि तब विद्यमान नहीं थे—सिद्धिलाभ कर चुके थे। शैलक राजर्षि का सुखों में पला सुकोमल शरीर साधु-जीवन की कठोरता को सहन नहीं कर सका। शरीर में दाद-खाज हो गई, पित्तज्वर रहने लगा, जिसके कारण वे तीव्र वेदना से पीडित हो गए। भ्रमण करते-करते शैलकपुर में पधारे। उनका पुत्र मंडुक राजा उपासना के लिए उपस्थित हुआ। उसने राजर्षि शैलक के रोगग्रस्त शरीर को देखकर यथोचित चिकित्सा करवाने की प्रार्थना की। शैलक ने स्वीकृति दी। चिकित्सा होने लगी। विस्मय का विषय है कि चिकित्सकों ने उन्हें मद्यपान का परामर्श दिया और वे मद्यपान करने भी लगे।

मद्यपान जब व्यसन का रूप ग्रहण कर लेता है तो व्यक्ति कितना ही विवेकशाली और किसी भी पद पर प्रतिष्ठित क्यों न हो, उसका अधःपतन हुए बिना नहीं रहता। राजर्षि मद्यपान के कुप्रभाव से साधुत्व को भूल गए और सरस भोजन एवं मद्यपान में मस्त रहने लगे। वहाँ से अन्यत्र जाने का विचार तक न आने लगा। तब उनके साथी मुनियों ने एकत्र होकर, एक अनगार पंथक को, जो गृहस्थावस्था में उनका मुख्य मंत्री था, उनकी सेवा में छोड़कर स्वयं विहार कर जाने का निर्णय किया। वे विहार कर गए, राजर्षि वहीं जमे रहे।

कार्त्तिकी चौमासी का दिन था। शैलक आहार-पानी करके और खूब मदिरापान करके सुखपूर्वक सोये पड़े थे। उन्हें आवश्यक क्रिया करने का स्मरण तक न था। पंथक मुनि चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करने को उद्यत हुए और शैलक के चरणों से अपने मस्तक का स्पर्श किया। शैलक की निद्रा भंग हो गई और वे क्रोध में आग बबूला हो उठे। पंथक को कटु और कठोर शब्द कहने लगे। पंथक मुनि ने क्षमा-प्रार्थना करते हुए कार्त्तिकी चौमासी की बात कही।

राजर्षि की धर्म-चेतना जागृत हो उठी। सोचा-राज्य का परित्याग करके मैंने साधुत्व अंगीकार किया और अब ऐसा प्रमत्त एवं शिथिलाचारी हो गया हूँ! साधु के लिए यह सब अशोभन है।

दूसरे ही दिन उन्होंने शैलकपुर छोड़ दिया। पंथक मुनि के साथ विहार कर चले गए। यह समाचार जानकर उनके सभी शिष्य-साथी मुनि उनके साथ आ मिले।

अन्तिम समय में सभी मुनियों ने सिद्धि प्राप्त की।

इस अध्ययन में मुनि-जीवन एवं उनके पारस्परिक संबंध कैसे हों, इस के संबंध में गहरी मीमांसा एवं विचारणा करने की सामग्री विद्यमान है।

पंचमं अज्झयणं : सेलए

प्रारम्भ

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं चउत्थस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, पंचमस्स णं भंते ! नायज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

जम्बू स्वामी श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न करते हैं—भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने चौथे ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है तो भगवन् ! पाँचवें ज्ञात-अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?

द्वारका नगरी

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वारवती नामं नयरी होत्था, पाईण-पडीणायया उदीण-दाहिणवित्थिन्ना नवजोयणवित्थिन्ना दुवालसजोयणायामा धणवइ-मइ-निम्मिया चामीयर-पवर-पायारणाणामणि-पंचवण्ण-कविसीसगसोहिया अलयापुरिसंकासा पमुइय-पक्कीलिया पच्चक्खं देवलोय-भूया।

श्री सुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में द्वारवती (द्वारका) नामक नगरी थी। वह पूर्व-पश्चिम में लम्बी और उत्तर-दक्षिण में चौड़ी थी। नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी थी। वह कुवेर की मति से निर्मित हुई थी। सुवर्ण के श्रेष्ठ प्राकार मे और पंच-रंगी नाना मणियों के बने कंगूरों से शोभित थी। अलकापुरी—इन्द्र की नगरी के समान सुन्दर जान पड़ती थी। उसके निवासी जन प्रमोदयुक्त एवं क्रीडा करने में तत्पर रहते थे। वह साक्षात् देवलोक सरीखी थी।

रैवतक पर्वत

३—तीसे णं बारवईए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए रेवतगे नामं पव्वए होत्था-तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे णाणाविहगुच्छ-गुम्म-लया-वल्लि-परिगए हंस-मिग-मऊर-कोंच-सारस-चक्कवाय-मयणसार-कोइलकुलोववेए अणेगतडग-वियर-उज्झरय-पवाय-पब्भार-सिहरपउरे अच्छरगण-देव-संघ-चारण-विज्जाहर-मिहुणसंविचिन्ने निच्चच्छणए दसार-वरवीर-पुरिसतेलोक्कबलवगाणं सोमे सुभगे पियदंसणे सुरूवे पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे।

उस द्वारका नगरी के बाहर उत्तरपूर्व दिशा अर्थात् ईशान कोण में रैवतक (गिरनार) नामक पर्वत था। वह बहुत ऊँचा था। उसके शिखर गगन-तल को स्पर्श करते थे। वह नाना प्रकार के गुच्छों, गुल्मों, लताओं और बल्लियों से व्याप्त था। हंस, मृग, मयूर, क्रौंच, सारस, चक्रवाक, मदनसारिका (मैना) और कोयल आदि पक्षियों के झुंडों से व्याप्त था। उसमें अनेक तट और गंड-शैल थे। बहुसंख्यक गुफाएं थीं। झरने, प्रपात, प्राग्भार (कुछ-कुछ नमे हुए गिरिप्रदेश) और शिखर थे। वह पर्वत अप्सराओं के समूहों, देवों के समूहों, चारण मुनियों और विद्याधरों के मिथुनों (जोड़ों)

से युक्त था। उसमें दशार वंश के समुद्रविजय आदि वीर पुरुषों के, जो कि नेमिनाथ के साथ होने के कारण तीनों लोकों से भी अधिक बलवान् थे, नित्य नये उत्सव होते रहते थे। वह पर्वत सौम्य, सुभग देखने में प्रिय, सुरूप, प्रसन्नता प्रदान करने वाला, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप था।

विवेचन—यद्यपि द्वारवती नगरी, रैवतक गिरि और अगले सूत्रों में वर्णित नन्दनवन आदि सूत्र-रचना के काल में भी विद्यमान थे, तथापि भूतकाल में जिस पदार्थ की जो स्थिति-अवस्था अथवा पर्याय थी वह वर्त्तमान काल में नहीं रहती। यों तो समय-समय में पर्याय का परिवर्त्तन होता रहता है किन्तु दीर्घकाल के पश्चात् तो इतना बड़ा परिवर्त्तन हो जाता है कि वह पदार्थ नवीन-सा प्रतीत होने लगता है। भगवान् नेमिनाथ के समय की द्वारवती और भगवान् महावीर के और उसके भी पश्चात् की द्वारवती में आमूल-चूल परिवर्त्तन हो गया था। इसी दृष्टिकोण से सूत्रों में इन स्थानों के लिए भूतकाल की क्रिया का प्रयोग किया गया है।

४—तस्स णं रेवयगस्स अदूरसामंते एत्थ णं णंदणवणे नामं उज्जाणे होत्था सव्वोउय-पुप्फ-फलसमिद्धे रम्मे नंदणवणप्पगासे पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे।

तस्स णं उज्जाणस्स बहुमज्झभागे सुरप्पिए नामं जक्खाययणे होत्था दिव्वे, वन्नओ[1]।

उस रैवतक पर्वत से न अधिक दूर और न अधिक समीप एक नन्दनवन नामक उद्यान था। वह सब ऋतुओं संबंधी पुष्पों और फलों से समृद्ध था, मनोहर था। (सुमेरु पर्वत के) नन्दनवन के समान आनन्दप्रद, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप था।

उस उद्यान के ठीक बीचोंबीच यक्ष का दिव्य आयतन था। यहाँ यक्षायतन का वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार कह लेना चाहिए।

श्रीकृष्ण-वर्णन

५—तत्थ णं बारवईए नयरीए कण्हे नामं वासुदेवे राया परिवसइ। से णं तत्थ समुद्दविजय-पामोक्खाणं दसण्हं दसाराणं, बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं, उग्गसेणपामोक्खाणं सोलसण्हं राईसहस्साणं, पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं कुमारकोडीणं, संबपामोक्खाणं सट्ठीए दुद्दंतसाहस्सीणं, वीरसेणपामोक्खाणं एक्कवीसाए वीरसाहस्सीणं, महासेनपामोक्खाणं छप्पन्नाए बलवगसाहस्सीणं, रुप्पिणीपामोक्खाणं बत्तीसाए महिलासाहस्सीणं, अणंगसेणापामोक्खाणं अणेगाणं गणियासाहस्सीणं, अन्नेसिं च बहूणं ईसर-तलवर जाव [माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ] सत्थवाहपभिईणं वेयड्ढ-गिरिसायरपेरंतस्स य दाहिणड्ढभरहस्स य बारवईए नयरीए आहेवच्चं जाव [पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसर-सेणावच्चं कारेमाणे] पालेमाणे विहरइ।

उस द्वारका नगरी में महाराज कृष्ण नामक वासुदेव निवास करते थे। वह वासुदेव वहाँ समुद्रविजय आदि दश दशारों, बलदेव आदि पाँच महावीरों, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजाओं, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ कुमारों, शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त योद्धाओं, वीरसेन आदि इक्कीस हजार पुरुषों-महान् पुरुषार्थ वाले जनों, महासेन आदि छप्पन हजार बलवान् पुरुषों, रुक्मिणी आदि बत्तीस हजार रानियों, अनंगसेना आदि अनेक सहस्र गणिकाओं तथा अन्य बहुत-से ईश्वरों

१. औप. सूत्र २

(ऐश्वर्यवान् धनाढ्य सेठों) तलवरों (कोनवालों) यावत् (माडंविक कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति) सार्थवाह आदि का एवं उत्तर दिशा में वैताढ्य पर्वत पर्यन्त तथा अन्य तीन दिशाओं में लवण समुद्र पर्यन्त दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र का और द्वारका नगरी का अधिपतित्व [नेतृत्व, स्वामित्व, भट्टित्व, महत्तरत्व] करते हुए और पालन करते हुए विचरते थे।

थावच्चापुत्र

६—तत्थ णं बारवईए नयरीए थावच्चा णामं गाहावइणी परिवसइ, अड्ढा जाव [दित्ता वित्ता वित्थिन्न-विउल-भवण-सयणासण-जाण-वाहणा बहुधण-जायरूवरयया आओग-पओगसंपउत्ता बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूया बहुजणस्स] अपरिभूया। तीसे णं थावच्चाए गाहावइणीए पुत्ते थावच्चा-पुत्ते णामं सत्थवाहदारए होत्था सुकुमालपाणिपाए[1] जाव सुरूवे।

तए णं सा थावच्चा गाहावइणी तं दारयं साइरेगअट्ठवासजाययं जाणित्ता सोहणंसि तिहि-करण-नक्खत्त-मुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेइ, जाव भोगसमत्थं जाणित्ता बत्तीसाए इब्भकुलबालियाणं एगदिवसेणं पाणिं गेण्हावेइ, बत्तीसओ दाओ जाव बत्तीसाए इब्भकुलबालियाहिं सद्धिं विउले सद्दफरिस-रसरूववन्नगंधे जाव भुंजमाणे विहरइ।

द्वारका नगरी में थावच्चा नामक एक गाथापत्नी (गृहस्थ महिला) निवास करती थी। वह समृद्धि वाली थी यावत् [प्रभावशालिनी थी, विस्तीर्ण और विपुल भवन, शय्या, आसन, यान, वाहन उसके यहाँ थे, वह विपुल स्वर्ण-रजत-धन की स्वामिनी थी, उसके यहाँ लेन-देन होता था, दासियों दासों गायों भैंसों एवं बकरियों की प्रचुरता थी] बहुत लोग मिलकर भी उसका पराभव नहीं कर सकते थे। उस थावच्चा गाथापत्नी का थावच्चापुत्र नामक सार्थवाह का बालक पुत्र था। उसके हाथ-पैर अत्यन्त सुकुमार थे। वह परिपूर्ण पांचों इन्द्रियों से युक्त सुन्दर शरीर वाला, प्रमाणोपेत अंगोपांगों से सम्पन्न और चन्द्रमा के समान सौम्य आकृति वाला था। सुन्दर रूपवान् था।

तत्पश्चात् उस थावच्चा गाथापत्नी ने उस पुत्र को कुछ अधिक आठ वर्ष का हुआ जानकर शुभ तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त्त में कलाचार्य के पास भेजा। फिर भोग भोगने में समर्थ (युवा) हुआ जानकर इभ्यकुल की बत्तीस कुमारिकाओं के साथ एक ही दिन में पाणिग्रहण कराया। प्रासाद आदि बत्तीस-बत्तीस का दायजा दिया अर्थात् थावच्चापुत्र की बत्तीस पत्नियों के लिए बत्तीस महल आदि सब प्रकार की सामग्री प्रदान की। वह इभ्यकुल की बत्तीस कुमारिकाओं के साथ विपुल शब्द स्पर्श, रस, रूप, वर्ण और गंध का भोग-उपभोग करता हुआ रहने लगा।

अरिष्टनेमि का समवसरण

७—तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी सो चेव वण्णओ, दसधणुस्सेहे, नीलुप्पल-गवल-गुलिय-अयसिकुसुमप्पयासे, अट्ठारसहिं समणसाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे, चत्तालीसाए अज्जियासा-हस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे, पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणेव बारवई नयरी, जेणेव रेवयगपव्वए, जेणेव नंदणवणे उज्जाणे, जेणेव सुरप्पियस्स जक्खस्स जक्खाययणे, जेणेव असोगवरपायवे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। परिसा निग्गया, धम्मो कहिओ।

१. प्रथम अ. १५

उस काल और उस समय में अरिहन्त अरिष्टनेमि पधारे। धर्म की आदि करने वाले, तीर्थ की स्थापना करने वाले, आदि वर्णन भगवान् महावीर के वर्णन के समान ही यहाँ समझना चाहिए। विशेषता यह है कि भगवान् अरिष्टनेमि दस धनुष ऊँचे थे, नील कमल, भैंस के सींग, नील गुलिका और अलसी के फूल के समान श्याम कान्ति वाले थे। अठारह हजार साधुओं से और चालीस हजार साध्वियों से परिवृत थे। वे भगवान् अरिष्टनेमि अनुक्रम से विहार करते हुए सुखपूर्वक ग्रामानुग्राम पधारते हुए जहाँ द्वारका नगरी थी, जहाँ गिरनार पर्वत था, जहाँ नन्दनवन नामक उद्यान था, जहां सुरप्रिय नामक यक्ष का यक्षायतन था और जहाँ अशोक वृक्ष था, वहीं पधारे। संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। नगरी से परिषद् (जनमंडली) निकली। भगवान् ने उसे धर्मोपदेश दिया।

कृष्ण की उपासना

८—तए णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सभाए सुहम्माए मेघोघरसियं गंभीरं महुरसद्दं कोमुदियं भेरिं तालेह।'

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ जाव मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं सामी! तह' त्ति जाव पडिसुणेंति। पडिसुणित्ता कण्हस्स वासुदेवस्स अंतियाओ पडिणिक्खमंति। पडिणिक्खमित्ता जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव कोमुदिया भेरी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तं मेघोघरसियं गंभीरं महुरसद्दं भेरिं तालेंति।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने यह कथा (वृत्तान्त) सुनकर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और और बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! शीघ्र ही सुधर्मा सभा में जाकर मेघों के समूह जैसी ध्वनि वाली एवं गंभीर तथा मधुर शब्द करने वाली कौमुदी भेरी बजाओ।'

तब वे कौटुम्बिक पुरुष, कृष्ण वासुदेव द्वारा इस प्रकार आज्ञा देने पर हृष्ट-तुष्ट हुए, आनंदित हुए। यावत् मस्तक पर अंजलि करके 'हे स्वामिन्! बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उन्होंने आज्ञा अंगीकार की। अंगीकार करके कृष्ण वासुदेव के पास से चले। चलकर जहाँ सुधर्मा सभा थी और जहाँ कौमुदी नामक भेरी थी, वहाँ आए। आकर मेघ-समूह के समान ध्वनि वाली तथा गंभीर एवं मधुर ध्वनि करने वाली भेरी बजाई।

९—तओ निद्ध-महुर-गंभीरपडिसुएणं पिव सारइएणं बलाहएणं अणुरसियं भेरीए।

उस समय भेरी बजाने पर स्निग्ध, मधुर और गंभीर प्रतिध्वनि करता हुआ, शरद्ऋतु के मेघ जैसा भेरी का शब्द हुआ।

१०—तए णं तीसे कोमुइयाए भेरियाए तालियाए समाणीए बारवईए नयरीए नवजोयण-वित्थिन्नाए दुवालसजोयणायामाए सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-कंदर-दरी-विवर-कुहर-गिरिसिहर-नगर-गोउर-पासाय-दुवार-भवण-देउल-पडिसुयासयसहस्ससंकुलं सद्दं करेमाणे बारवइं नगरिं सब्भितर-बाहिरियं सव्वओ समंता से सद्दे विप्पसरित्था।

तत्पश्चात् उस कौमुदी भेरी का ताड़न करने पर नौ योजन चौड़ी और वारह योजन लम्बी द्वारका नगरी के शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, कंदरा, गुफा, विवर, कुहर, गिरिशिखर, नगर के गोपुर, प्रासाद, द्वार, भवन, देवकुल आदि समस्त स्थानों में, लाखों प्रतिध्वनियों से युक्त होकर, भीतर और बाहर के भागों सहित सम्पूर्ण द्वारका नगरी को शब्दायमान करता हुआ वह शब्द चारों ओर फैल गया।

११—तए णं बारवईए नयरीए नवजोयणवित्थिन्नाए बारसजोयणायामाए समुद्दविजयपामोक्खा दस दसारा जाव[1] गणियासहस्साइं कोमुईयाए भेरीए सद्दं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा जाव ण्हाया आविद्धवग्घारियमल्लदामकलावा अहतवत्थचंदणोक्किन्नगायसरीरा अप्पेगइया हयगया एवं गयगया रह-सीया-संदमाणीगया, अप्पेगइया पायविहारचारेणं पुरिसवग्गुरापरिखित्ता कण्हस्स वासुदेवस्स अंतियं पाउब्भवित्था।

तत्पश्चात् नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी द्वारका नगरी में समुद्रविजय आदि दस दशार [बलदेव आदि महावीर, उग्रसेन आदि राजा, प्रद्युम्न आदि कुमार, शाम्ब आदि योद्धा, वीरसेन महासेन आदि बलशाली यावत्] अनेक हजार गणिकाएं उस कौमुदी भेरी का शब्द सुनकर एवं हृदय में धारण करके हृष्ट-तुष्ट, प्रसन्न हुए। यावत् सबने स्नान किया। लम्बी लटकने वाली फूल-मालाओं के समूह को धारण किया। कोरे-नवीन वस्त्रों को धारण किया। शरीर पर चन्दन का लेप किया। कोई अश्व पर आरूढ हुए, इसी प्रकार कोई गज पर आरूढ हुए, कोई रथ पर, कोई पालकी में और कोई म्याने में बैठे। कोई-कोई पैदल ही पुरुषों के समूह के साथ चले और कृष्ण वासुदेव के पास प्रकट हुए-आए।

१२—तए णं कण्हे वासुदेवे समुद्दविजयपामोक्खे दस दसारे जाव[2] अंतियं पाउब्भवमाणे पासइ। पासित्ता हट्ठ तुट्ठ जाव कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउरंगिणिं सेणं सज्जेह, विजयं च गंधहत्थिं उवट्ठवेह।' ते वि तह त्ति उवट्ठवेंति, जाव तए णं से कण्हे वासुदेवे ण्हाए जाव सव्वालंकारविभूसिए विजयं गंधहत्थिं दुरूढे समाणे सकोरंट-मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं महया भड-चडकरवंदपरियाल-संपरिवुडे बारवतीए नयरीए मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव रेवतगपव्वए जेणेव नंदणवणं उज्जाणे जेणेव सुरप्पियस्स जक्खस्स जक्खाययणं जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अरहओ अरिट्ठनेमिस्स छत्ताइछत्तं पडागाइपडागं विज्जाहर-चारणे जंभए य देवे ओवयमाणे उप्पयमाणे पासइ, पासित्ता विजयाओ गंधहत्थीओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं पंचविहेणं अभिग्गहेणं अभिगच्छइ [तंजहा सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडिय- उत्तरासंग-करणेणं, चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं, मणसो एगत्तीकरणेणं] जेणामेव अरिट्ठनेमी तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता अरहओ अरिट्ठनेमिस्स नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे पंजलिउडे अभिमुहे विनएणं] पज्जुवासति।

१-२. पंचम अ. ५

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने समुद्रविजय वगैरह दस दसारों को तथा पूर्ववर्णित अन्य सबको यावत् अपने निकट प्रकट हुआ देखा । देखकर वह हृष्ट-तुष्ट हुए, यावत् उन्होंने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया । बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही चतुरंगिणी सेना सजाओ और विजय नामक गंधहस्ती को उपस्थित करो ।' कौटुम्बिक पुरुषों ने 'बहुत अच्छा' कह कर सेना सजवाई और विजय नामक गंधहस्ती को उपस्थित किया । तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने स्नान किया । वे सब अलंकारों से विभूषित हुए । विजय गंधहस्ती पर सवार हुए । कोरंट वृक्ष के फूलों की माला वाले छत्र को धारण किए हुए और भटों के बहुत बड़े समूह से घिरे हुए द्वारका नगरी के बीचोंबीच होकर बाहर निकले । जहाँ गिरनार पर्वत था, जहाँ नन्दनवन उद्यान था, जहाँ सुरप्रिय यक्ष का यक्षायतन था और जहां अशोक वृक्ष था, उधर पहुँचे । पहुँचकर अर्हंत् अरिष्टनेमि के (अतिशय) छत्रातिछत्र (छत्रों के ऊपर छत्र), पताकातिपताका (पताकाओं के ऊपर पताका), विद्याधरों, चारणों एवं जृंभक देवों को नीचे उतरते और ऊपर चढ़ते देखा । यह सब देखकर वे विजय गंधहस्ती से नीचे उतर गए । उतरकर पांच अभिग्रह करके अर्हंत् अरिष्टनेमि के सामने गये । (पांच अभिग्रह ये हैं—(१) सचित्त वस्तुओं का त्याग (२) अचित्त वस्तुओं का अत्याग (३) एक शाटिक उत्तरासंग (४) भगवान् पर दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़ना और (५) मन को एकाग्र करना) इस प्रकार भगवान् के निकट पहुँच कर तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, उन्हें वन्दन-नमस्कार किया । फिर अर्हंत् अरिष्टनेमि से न अधिक समीप, न अधिक दूर शुश्रूषा करते हुए, नमस्कार करते हुए, अंजलिबद्ध सन्मुख होकर पर्युपासना करने लगे ।

थावच्चापुत्र का वैराग्य

१३—थावच्चापुत्ते वि निग्गए, जहा मेहे तहेव धम्मं सोच्चा णिसम्म जेणेव थावच्चा गाहावइणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, पायग्गहणं करेइ । जहा मेहस्स तहा चेव णिवेयणा । जाहे नो संचाएइ विसयाणुलोमाहि य विसयपडिकूलाहि य बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य सन्नवणाहि य विन्नवणाहि य आघवित्तए वा पन्नवित्तए वा सन्नवित्तए वा विन्नवित्तए वा, ताहे अकामिया चेव थावच्चापुत्तदारगस्स निक्खमणमणुमन्नित्था । नवरं निक्खमणाभिसेयं पासामो । तए णं से थावच्चापुत्ते तुसिणीए संचिट्ठइ ।

मेघकुमार की तरह थावच्चापुत्र भी भगवान् को वन्दना करने के लिए निकला । उसी प्रकार धर्म को श्रवण करके और हृदय में धारण करके जहाँ थावच्चा गाथापत्नी थी, वहाँ आया । आकर माता के पैरों को ग्रहण किया—चरणस्पर्श किया । जैसे मेघकुमार ने अपने वैराग्य का निवेदन किया था, उसी प्रकार थावच्चापुत्र की भी वैराग्य निवेदना समझनी चाहिए । माता जब विषयों के अनुकूल और विषयों के प्रतिकूल बहुत-सी आघवना-सामान्य कथन से, पन्नवणा—विशेष कथन से, सन्नवणा-धन-वैभव आदि का लालच दिखला कर, विन्नवणा—आजीजी करके, सामान्य कहने, विशेष कहने, ललचाने और मनाने में समर्थ न हुई, तब इच्छा न होने पर भी माता ने थावच्चापुत्र बालक का निष्क्रमण स्वीकार कर लिया अर्थात् दीक्षा की अनुमति दे दी । विशेष यह कहा कि—'मैं तुम्हारा दीक्षा-महोत्सव देखना चाहती हूँ ।' तब थावच्चापुत्र मौन रह गया, अर्थात् उसने माता की दीक्षा-महोत्सव करने की बात मान ली ।

१४—तए णं सा थावच्चा आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता महत्थं महग्घं महरिहं रायरिहं पाहुडं गेण्हइ, गेण्हित्ता मित्त जाव [नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणेणं] सद्धिं संपरिवुडा जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स भवणवर-पडिदुवारदेसभाए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता पडिहारदेसिएणं मग्गेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल० वद्धावेइ, वद्धावित्ता तं महत्थं महग्घं महरिहं रायरिहं पाहुडं उवणेइ, उवणित्ता एवं वयासी—

तब गाथापत्नी थावच्चा आसन से उठी। उठकर महान् अर्थवाली, महामूल्य वाली, महान् पुरुषों के योग्य तथा राजा के योग्य भेंट ग्रहण की। ग्रहण करके मित्र ज्ञाति आदि से परिवृत होकर जहाँ कृष्ण वासुदेव के श्रेष्ठ भवन का मुख्य द्वार का देशभाग था, वहाँ आई। आकर प्रतीहार द्वारा दिखलाये मार्ग से जहाँ कृष्ण वासुदेव थे, वहाँ आई। दोनों हाथ जोड़कर कृष्ण वासुदेव को बधाया। बधाकर वह महान् अर्थवाली, महामूल्य वाली महान् पुरुषों के योग्य और राजा के योग्य भेंट सामने रखी। सामने रख कर इस प्रकार बोली—

१५—एवं खलु देवाणुप्पिया! मम एगे पुत्ते थावच्चापुत्ते नामं दारए इट्ठे[1] जाव से णं संसार-भयउव्विग्गे इच्छइ अरहओ अरिट्ठनेमिस्स जाव [अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं] पव्वइत्तए। अहं णं निक्खमणसक्कारं करेमि। इच्छामि णं देवाणुप्पिया! थावच्चापुत्तस्स निक्खम-माणस्स छत्त-मउड-चामराओ य विदिन्नाओ।

हे देवानुप्रिय! मेरा थावच्चापुत्र नामक एक ही पुत्र है। वह मुझे इष्ट है, कान्त है, यावत् वह संसार के भय से उद्विग्न होकर अरिहन्त अरिष्टनेमि के समीप गृहत्याग कर अनगार-प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहता है। मैं उसका निष्क्रमण-सत्कार करना चाहती हूँ। अतएव हे देवानुप्रिय! प्रव्रज्या अंगीकार करने वाले थावच्चापुत्र के लिए आप छत्र, मुकुट और चामर प्रदान करें, यह मेरी अभिलाषा है।

१६—तए णं कण्हे वासुदेवे थावच्चागाहावइणिं एवं वयासी—'अच्छाहि णं तुमं देवाणुप्पिए! सुनिव्वुया वीसत्था, अहं णं सयमेव थावच्चापुत्तस्स दारगस्स निक्खमणसक्कारं करिस्सामि।'

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने थावच्चा गाथापत्नी से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिये! तुम निश्चिन्त और विश्वस्त रहो। मैं स्वयं ही थावच्चापुत्र बालक का दीक्षासत्कार करूंगा।

कृष्ण द्वारा वैराग्यपरीक्षा

१७—तए णं से कण्हे वासुदेवे चाउरंगिणीए सेनाए विजयं हत्थिरयणं दुरूढे समाणे जेणेव थावच्चाए गाहावइणीए भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता थावच्चापुत्तं एवं वयासी :—

मा णं तुमे देवाणुप्पिया! मुंडे भवित्ता पव्वयाहि, भुंजाहि णं देवाणुप्पिया! विउले माणुस्सए कामभोए मम बाहुच्छायापरिग्गहिए, केवलं देवाणुप्पियस्स अहं णो संचाएमि वाउकायं उवरिमेणं निवारित्तए। अण्णे णं देवाणुप्पियस्स जं किंचि वि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएइ तं सव्वं निवारेमि।

---

१. प्रथम अ. १५६

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव चतुरंगिणी सेना के साथ विजय नामक उत्तम हाथी पर आरूढ होकर जहाँ थावच्चा गाथापत्नी का भवन था वहीं आये। आकर थावच्चापुत्र से इस प्रकार बोले—

हे देवानुप्रिय ! तुम मुंडित होकर प्रव्रज्या ग्रहण मत करो। मेरी भुजाओं की छाया के नीचे रह कर मनुष्य संबंधी विपुल कामभोगों को भोगो। मैं केवल देवानुप्रिय के अर्थात् तुम्हारे ऊपर होकर जाने वाले वायुकाय को रोकने में तो समर्थ नहीं हूँ किन्तु इसके सिवाय देवानुप्रिय को (तुम्हें) जो कोई भी सामान्य पीडा या विशेष पीडा उत्पन्न होगी, उस सब का निवारण करूंगा।'

१८—तए णं से थावच्चापुत्ते कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—'जइ णं तुमं देवाणुप्पिया ! मम जीवियंतकरणं मच्चुं एज्जमाणं निवारेसि, जरं वा सरीररूवविणासिणि सरीरं अइवयमाणि निवारेसि, तए णं अहं तव बाहुच्छायापरिग्गहिए विउले माणुस्सए कामभोगे भुंजमाणे विहरामि।

तब कृष्ण वासुदेव के इस प्रकार कहने पर थावच्चापुत्र ने कृष्ण वासुदेव से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! यदि आप मेरे जीवन का अन्त करने वाले आते हुए मरण को रोक दें और शरीर पर आक्रमण करने वाली एवं शरीर के रूप-सौन्दर्य का विनाश करने वाली जरा को रोक सकें, तो मैं आपकी भुजाओं की छाया के नीचे रह कर मनुष्य संबंधी विपुल कामभोग भोगता हुआ विचरूँ।'

१९—तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चापुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे थावच्चापुत्तं एवं वयासी—'एए णं देवाणुप्पिया ! दुरइक्कमणिज्जा, णो खलु सक्का सुबलिएणावि देवेण वा णिवारित्तए णण्णत्थ अप्पणो कम्मक्खएणं।'

तत्पश्चात् थावच्चापुत्र के द्वारा इस प्रकार कहने पर कृष्ण वासुदेव ने थावच्चापुत्र से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिय ! मरण और जरा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। अतीव बलशाली देव अथवा दानव के द्वारा भी इनका निवारण नहीं किया जा सकता। हाँ, अपने द्वारा उपार्जित पूर्व कर्मों का क्षय ही इन्हें रोक सकता है।'

२०—'तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! अन्नाण-मिच्छत्त-अविरइ-कसाय-संचियस्स अत्तणो कम्मक्खयं करित्तए।'

(कृष्ण वासुदेव के कथन के उत्तर में थावच्चापुत्र ने कहा—) 'तो हे देवानुप्रिय ! इसी कारण मैं अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति और, कषाय द्वारा संचित, अपने आत्मा के कर्मों का क्षय करना चाहता हूँ।'

विवेचन—श्रीकृष्ण वासुदेव भगवान् अरिष्टनेमि के परम भक्त और गृहस्थावस्था के आत्मीय जन भी थे। थावच्चा गाथापत्नी को अपनी ओर से दीक्षासत्कार करने का वचन दे चुके थे। फिर भी वे थावच्चापुत्र को दीक्षा न लेकर अपने संरक्षण में लेने को कहते हैं। इसका तात्पर्य थावच्चापुत्र की मानसिक स्थिति को परखना ही है। वे जानना चाहते थे कि थावच्चापुत्र के अन्तर में वास्तविक वैराग्य है अथवा नहीं ? किसी गार्हस्थिक उद्वेग के कारण हो तो वह दीक्षा लेने का मनोरथ नहीं कर

है ? मुनिदीक्षा जीवन के अन्तिम क्षण तक की उग्र साधना है और सच्चे तथा परिपक्व वैराग्य से ही उसमें सफलता प्राप्त होती है। थावच्चापुत्र परख में खरा सिद्ध हुआ। उसके एक ही वाक्य ने कृष्ण जी को निरुत्तर कर दिया। उन्हें पूर्ण सन्तोष हो गया।

२१—तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चापुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं देवाणुप्पिया! बारवईए नयरीए सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर जाव [महापह-पहेसु] हत्थिखंधवरगया महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा उग्घोसणं करेह—एवं खलु देवाणुप्पिया! थावच्चापुत्ते संसारभउव्विग्गे, भीए जम्मणमरणाणं, इच्छइ अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए मुंडे भवित्ता पव्वइत्तए। तं जो खलु देवाणुप्पिया! राया वा, जुवाराया वा, देवी वा, कुमारे वा, ईसरे वा, तलवरे वा, कोडुंबिय-माडंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहे वा थावच्चापुत्तं पव्वयंतमणुपव्वयइ, तस्स णं कण्हे वासुदेवे अणुजाणाइ, पच्छातुरस्स वि य से मित्त-नाइ-नियग-संबंधिपरिजणस्स जोगखेमं वट्टमाणीं पडिवहइ त्ति कट्टु घोसणं घोसेह।' जाव घोसंति।

थावच्चापुत्र के द्वारा इस प्रकार कहने पर कृष्ण वासुदेव ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! तुम जाओ और द्वारिका नगरी के शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर (महापथ तथा पथ) आदि स्थानों में, यावत् श्रेष्ठ हाथी के स्कंध पर आरूढ होकर ऊँची-ऊँची ध्वनि से उद्‌घोष करते, ऐसी उद्‌घोषणा करो—'हे देवानुप्रियो! संसार के भय से उद्विग्न और जन्म-मरण से भयभीत थावच्चापुत्र अर्हन्त अरिष्टनेमि के निकट मुंडित होकर दीक्षा ग्रहण करना चाहता है। तो हे देवानुप्रियो! जो राजा, युवराज, रानी, कुमार, ईश्वर, तलवर, कौटुम्बिक, माडंबिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति अथवा सार्थवाह दीक्षित होते [illegible]वच्चापुत्र के साथ दीक्षा ग्रहण करेगा, उसे कृष्ण वासुदेव अनुज्ञा देते हैं और पीछे रहे हुए उनके मित्र, ज्ञाति, निजक, संबंधी या परिवार में कोई भी दुखी होगा तो उसके वर्तमान काल संबंधी योग (अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त पदार्थ के रक्षण) का निर्वाह करेंगे अर्थात् सर्व प्रकार से उसका पालन, पोषण, संरक्षण करेंगे' इस प्रकार की घोषणा करो।'

कौटुम्बिक पुरुषों ने इसी प्रकार की घोषणा कर दी।

२२—तए णं थावच्चापुत्तस्स अणुराएणं पुरिससहस्सं णिक्खमणाभिमुहं ण्हायं सव्वालंकारविभूसियं पत्तेयं पत्तेयं पुरिससहस्सवाहिणीसु सिवियासु दुरूढं समाणं मित्तणाइपरिवुडं थावच्चापुत्तस्स अंतियं पाउब्भूयं।

तए णं से कण्हे वासुदेवे पुरिससहस्समंतियं पाउब्भवमाणं पासइ, पासित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—जहा मेहस्स निक्खमणाभिसेओ तहेव सेयापीएहिं ण्हावेइ।

तए णं से थावच्चापुत्ते सहस्सपुरिसेहिं सद्धिं सिवियाए दुरूढे समाणे जाव रवेणं बारवइणयरिं मज्झंमज्झेणं [निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव रेवयगपव्वते जेणेव नंदणवणे उज्जाणे जेणेव सुरप्पियस्स जक्खस्स जक्खायणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अरहओ अरिट्ठनेमिस्स छत्ताइछत्तं पडागाइपडागं विज्जाहरचारणे जंभए य देवे ओवयमाणे उप्पयमाणे पासइ, पासित्ता सिवियाओ पच्चोरुहति।

तत्पश्चात् थावच्चापुत्र पर अनुराग होने के कारण एक हजार पुरुष निष्क्रमण के लिए तैयार हुए। वे स्नान करके, सब अलंकारों से विभूषित होकर, प्रत्येक-प्रत्येक अलग-अलग हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली पालकियों पर सवार होकर, मित्रों एवं ज्ञातिजनों आदि से परिवृत होकर थावच्चापुत्र के समीप प्रकट हुए—आये।

तब कृष्ण वासुदेव ने एक हजार पुरुषों को आया देखा। देखकर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर इस प्रकार कहा—(देवानुप्रियो! जाओ, थावच्चापुत्र को स्नान कराओ, अलंकारों से विभूषित करो और पुरुष सहस्रवाहिनी शिविका पर आरूढ करो, इत्यादि) जैसा मेघकुमार के दीक्षाभिषेक का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ कहना चाहिए। फिर श्वेत और पीत अर्थात् चांदी और सोने के कलशों से उसे स्नान कराया यावत् सर्व अलंकारों से विभूषित किया।

तत्पश्चात् थावच्चापुत्र उन हजार पुरुषों के साथ, शिविका पर आरूढ होकर, यावत् वाद्यों की ध्वनि के साथ, द्वारका नगरी के बीचों बीच होकर निकला। निकलकर जहाँ गिरनार पर्वत, नन्दनवन उद्यान, सुरप्रिय यक्ष का यक्षायतन एवं अशोक वृक्ष था, उधर गया। वहाँ जाकर अरिहन्त अरिष्टनेमि के छत्र पर छत्र और पताका पर पताका (आदि अतिशय) देखता है और विद्याधरों एवं चारण मुनियों को और जृंभक देवों को नीचे उतरते-चढ़ते देखता है, वहीं शिविका से नीचे उतर जाता है।

२३—तए णं से कण्हे वासुदेवे थावच्चापुत्तं पुरओ काउं जेणेव अरिहा अरिट्ठनेमी, सव्वं तं चेव [तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'एस णं देवाणुप्पिया! थावच्चापुत्ते थावच्चाए गाहावइणीए एगे पुत्ते इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे रयणे रयणभूए जीवियऊसासए हिययनंदिजणणे उंबरपुप्फं पिव दुल्लहे सवणयाए, किमंग पुण पासणयाए ?

से जहानामए उप्पलेति वा, पउमेति वा, कुमुदेति वा, पंके जाए जले संवड्ढिए नोवलिप्पइ पंकरयेणं नोवलिप्पइ जलरएणं, एवामेव थावच्चापुत्ते कामेसु जाए भोगेसु संवड्ढिए नोवलिप्पइ कामरएणं नोवलिप्पइ भोगरएणं। एस णं देवाणुप्पिया! संसारभउव्विग्गे, भीए जम्मण-जर-मरणाणं, इच्छइ देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। अम्हे णं देवाणुप्पियाणं सिस्सभिक्खं दलयामो। पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया सिस्सभिक्खं।

तए णं अरहा अरिट्ठनेमी कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे एयमट्ठं सम्मं पडिसुणेइ।

तए णं से थावच्चापुत्ते अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतियाओ उत्तरपुरत्थिमं दिसीभायं अवक्कमइ, सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयइ।

तए णं से थावच्चा गाहावइणी हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरणमल्लालंकारे पडिच्छइ। पडिच्छित्ता हार-वारिधार-सिंदुवार-छिन्नमुत्तावलिपगासाइं अंसूणि विणिम्मुंचमाणी विणिम्मुंचमाणी एवं वयासी—'जइयव्वं जाया! घडियव्वं जाया! परक्कमियव्वं जाया! अस्सिं च णं अट्ठे णो पमाएव्वं' जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव थावच्चापुत्र को आगे करके जहाँ अरिहन्त अरिष्टनेमि थे, वहाँ आये। इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए। यावत् [अर्थात् भगवान् अरिष्टनेमि को तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, फिर वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय। यह थावच्चापुत्र, थावच्चा गाथापत्नी का एकलौता पुत्र है। यह इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, अतिशय मनोहर, स्थिरतासम्पन्न, विश्वासपात्र, सम्मत, बहुमत और अनुमत है। रत्नों की पिटारी जैसा है। रत्न है, रत्न जैसा है जीवन के लिए उच्छ्वास सदृश है। हृदय को प्रमोद उत्पन्न करने वाला है। गूलर के फूल के समान, इसके नाम का श्रवण भी दुर्लभ है, दर्शन की तो बात ही क्या ! जैसे उत्पल, पद्म अथवा कुमुद-चन्द्रविकासी कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, जल में वृद्धि पाता है किन्तु कीचड़ और जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार थावच्चापुत्र कामों में उत्पन्न हुआ और भोगों में वृद्धि पाया है किन्तु काम-भोगों में लिप्त नहीं हुआ है। देवानुप्रिय ! यह संसार के भय से उद्वेग पाया है, जन्म-जरा-मरण से भयभीत है, अतः देवानुप्रिय (आप) के निकट मुंडित होकर गृहत्याग करके अनगार-दीक्षा अंगीकार करना चाहता है। हम आप देवानुप्रिय को शिष्य-भिक्षा दे रहे हैं। देवानुप्रिय ! इस शिष्य-भिक्षा को स्वीकार करें।

कृष्ण वासुदेव के इस प्रकार कहने पर अर्हत् अरिष्टनेमि ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की। थावच्चापुत्र ने ईशान दिशा में जाकर, आभरण पुष्पमाला और अलंकारों का परित्याग किया।

तत्पश्चात् थावच्चा सार्थवाही ने हंस के चिह्न वाले वस्त्र में आभरण, माला और अलंकारों को ग्रहण किया। ग्रहण करके मोतियों के हार, जल की धार, सिन्दुवार के फूलों तथा छिन्न हुई मोतियों की कतार के समान आंसू त्यागती हुई इस प्रकार कहने लगीं—'हे पुत्र ! इस प्रव्रज्या के विषय में यत्न करना, हे पुत्र ! शुद्ध क्रिया करने में घटना करना और हे पुत्र ! चारित्र का पालन करने में पराक्रम करना। इस विषय में तनिक भी प्रमाद न करना।' इस प्रकार कह कर वह जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा में लौट गई।

२४—तए णं से थावच्चापुत्ते पुरिससहस्सेहिं सद्धिं सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, जाव पव्वइए। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारे जाए ईरियासमिए भासासमिए जाव विहरइ।

तत्पश्चात् थावच्चापुत्र ने हजार पुरुषों के साथ स्वयं ही पंचमुष्टिक लोच किया, यावत् प्रव्रज्या अंगीकार की। उसके बाद थावच्चापुत्र अनगार हो गया। ईर्यासमिति से युक्त, भाषासमिति से युक्त होकर यावत् साधुता के समस्त गुणों से सम्पन्न होकर विचरने लगा।

२५—तए णं से थावच्चापुत्ते अरहओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ। अहिज्जित्ता बहूहिं जाव चउत्थेणं विहरइ। तए णं अरिहा अरिट्ठनेमी थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स तं इब्भाइयं अणगारसहस्सं सीसत्ताए दलयइ।

तत्पश्चात् थावच्चापुत्र ने अरिहन्त अरिष्टनेमि के तथारूप स्थविरों के पास से सामायिक से आरंभ करके चौदह पूर्वों का अध्ययन करके वे बहुत से अष्टमभक्त षष्ठभक्त यावत् चतुर्थभक्त (उपवास) आदि करते हुए विचरने लगे। तत्पश्चात् अरिहन्त अरिष्टनेमि ने थावच्चापुत्र अनगार को उनके साथ दीक्षित होने वाले इभ्य आदि एक हजार अनगार शिष्य के रूप में प्रदान किये।

२६—तए णं से थावच्चापुत्ते अन्नया कयाइं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदइ नमंसइ. वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरित्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया !'

तत्पश्चात् थावच्चापुत्र ने एक बार किसी समय अरिहन्त अरिष्ट नेमि को वन्दना की और नमस्कार किया। वन्दना और नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं हजार साधुओं के साथ जनपदों में विहार करना चाहता हूँ।

भगवान् ने उत्तर दिया—'देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसे सुख उपजे वैसा करो।

२७—तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारसहस्सेणं सद्धिं (तेणं उरालेणं उदग्गेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं) बहिया जणवयविहारं विहरइ।

भगवान् की अनुमति प्राप्त करके थावच्चापुत्र एक हजार अनगारों के साथ उस प्रधान, तीव्र प्रयत्न वाले—प्रमादरहित और बहुमानपूर्वक ग्रहण किये हुए चारित्र एवं तप से युक्त होकर बाहर जनपदों (विभिन्न देशों) में विचरण करने लगे।

शैलक राजा श्रावक बना

२८—तेणं कालेणं तेणं समएणं सेलगपुरे नामं नयरे होत्था, सुभूमिभागे उज्जाणे, सेलए राया, पउमावई देवी, मंडुए कुमारे जुवराया।

तस्स णं सेलगस्स पंथगपामोक्खा पंच मंतिसया होत्था, उप्पत्तियाए वेणइयाए पारिणामियाए कम्मियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया रज्जधुरचिंतया वि होत्था।

तए णं थावच्चापुत्ते अणगारे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं जेणेव सेलगपुरे जेणेव सुभूमिभागे नामं उज्जाणे तेणव समोसढे। सेलए वि राया विणिग्गए। धम्मो कहिओ।

उस काल और उस समय में शैलकपुर नामक नगर था। उसके बाहर सुभूमिभाग नामक उद्यान था। शैलक वहाँ का राजा था। पद्मावती रानी थी। उनका मंडुक नामक कुमार था। वह युवराज था।

उस शैलक राजा के पंथक आदि पाँच सौ मंत्री थे। वे औत्पत्तिकी वैनयिकी पारिणामिकी और कार्मिकी इस प्रकार चारों तरह की बुद्धियों[1] से सम्पन्न थे और राज्य की धुरा के चिन्तक भी थे—शासन का संचालन करते थे।

थावच्चापुत्र अनगार एक हजार—मुनियों के साथ जहाँ शैलकपुर था, और जहाँ सुभूमिभाग नामक उद्यान था, वहाँ पधारे। शैलक राजा भी उन्हें वन्दना करने के लिए निकला। थावच्चापुत्र ने धर्म का उपदेश दिया।

२९—धम्मं सोच्चा 'जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा भोगा जाव चइत्ता हिरण्णं

१. चार प्रकार की बुद्धियों का स्वरूप जानने के लिए देखें प्रथम अध्ययन, सूत्र १५

जाव पव्वइया, तहा णं अहं नो संचाएमि पव्वइत्तए। तओ णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं' जाव समणोवासए, जाव अहिगयजीवाजीवे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। पंथगपामोक्खा पंच मंतिसया समणोवासया जाया। थावच्चापुत्ते बहिया जणवयविहारं विहरइ।

धर्म सुनकर शैलक राजा ने कहा—जैसे देवानुप्रिय (आप) के समीप बहुत-से उग्रकुल के, भोगकुल के तथा अन्य कुलों के पुरुषों ने हिरण्य सुवर्ण आदि का त्याग करके दीक्षा अंगीकार की है, उस प्रकार मैं दीक्षित होने में समर्थ नहीं हूँ। अतएव मैं देवानुप्रिय से पाँच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों को धारण करके श्रावक बनना चाहता हूँ।' इस प्रकार राजा श्रमणोपासक यावत् जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता हो गया यावत् तप तथा संयम से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरने लगा। इसी प्रकार पंथक आदि पांच सौ मंत्री भी श्रमणोपासक हो गये। तत्पश्चात् थावच्चापुत्र अनगार वहाँ से विहार करके जनपदों में विचरण करने लगे।

विवेचन—मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शासन में चातुर्याम धर्म प्रचलित था, यह प्रसिद्ध है—आगमसिद्ध है। किन्तु यहां भगवान् अरिष्टनेमि के शासन में 'पंचाणुव्वइयं' पाठ आया है, जो ओघ पाठ प्रतीत होता है। वास्तव में 'चाउज्जामियं गिहिधम्मं' ऐसा पाठ होना चाहिए। ऐसा होने पर ही अन्य आगमों के साथ इस पाठ का संवाद हो सकता है।

आगमों में यत्र-यत्र ओघ पाठ पाये जाते हैं। एक प्रसंग में आया पाठ उसी प्रकार के दूसरे प्रसंग में भी आयोजित कर दिया जाता है। इस शैली के कारण कहीं-कहीं ऐसी असंगति हो जाती है।

सुदर्शन श्रेष्ठी

३०—तेणं कालेणं ते णं समएणं सोगंधिया नामं नयरी होत्था, वण्णओ[1]। नीलासोए उज्जाणे, वण्णओ[2]। तत्थ णं सोगंधियाए नयरीए सुदंसणे नामं नगरसेट्ठी परिवसइ, अड्ढे जाव[3] अपरिभूए।

उस काल और उस समय में सौगंधिका नामक नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के नगरीवर्णन के अनुसार समझ लेना चाहिए। उस नगरी के बाहर नीलाशोक नामक उद्यान था। उसका भी वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार कह लेना चाहिए। उस सौगंधिका नगरी में सुदर्शन नामक नगर श्रेष्ठी निवास करता था। वह समृद्धिशाली था, यावत् वह किसी से पराभूत नहीं हो सकता था।

शुक परिव्राजक

३१—तेणं कालेणं तेणं समएणं सुए नामं परिव्वायए होत्था-रिउव्वेय-जजुव्वेय-सामवेय-अथव्वणवेय-सट्ठितंतकुसले, संखसमए लद्धट्ठे, पंचजम-पंचनियमजुत्तं सोयमूलयं दसप्पयारं परिव्वायगधम्मं दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणे पण्णवेमाणे धाउरत्तवत्थपवर-परिहिए तिदंड-कुंडिय-छत्त-छन्नलियंकुस-पवित्तय-केसरी-हत्थगए परिव्वायगसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव सोगंधिया नयरी जेणेव परिव्वायगावसहे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता परिव्वायगावसहंसि भंडगनिक्खेवं करेइ, करित्ता संखसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

१-२. औपपातिक. ३. पंचम अ. सूत्र ६

उस काल और उस समय में शुक नामक एक परिव्राजक था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वणवेद तथा षष्टितंत्र (सांख्यशास्त्र) में कुशल था। सांख्य मत के शास्त्रों के अर्थ में कुशल था। पांच यमों (अहिंसा आदि पांच महाव्रतों) और पांच नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरध्यान) से युक्त दस प्रकार के शौचमूलक परिव्राजक-धर्म का, दानधर्म का, शौचधर्म का और तीर्थस्नान का उपदेश और प्ररूपण करता था। गेरू से रंगे हुए श्रेष्ठ वस्त्र धारण करता था। त्रिदंड, कुण्डिका-कमंडलु, मयूरपिच्छ का छत्र, छन्नालिक (काष्ठ का एक उपकरण), अंकुश (वृक्ष के पत्ते तोड़ने का एक उपकरण) पवित्री (ताम्र धातु की वनी अंगूठी) और केसरी (प्रमार्जन करने का वस्त्र-खण्ड), यह सात उपकरण उसके हाथ में रहते थे। एक हजार परिव्राजकों से परिवृत वह शुक परिव्राजक जहां सौगंधिका नगरी थी और जहां परिव्राजकों का आवसथ (मठ) था, वहां आया। आकर परिव्राजकों के उस मठ में उसने अपने उपकरण रखे और सांख्यमत के अनुसार अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरने लगा।

३२—तए णं सोगंधियाए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर (चउम्मुह-महापह-पहेसु) बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ-एवं खलु सुए परिव्वायए इह हव्वमागए जाव विहरइ। परिसा निग्गया। सुदंसणो निग्गए।

तब उस सौगंधिका नगरी के श्रृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, महापथ, पथों में अनेक मनुष्य एकत्रित होकर परस्पर ऐसा कहने लगे-'निश्चय ही शुक परिव्राजक यहां आये हैं यावत् आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं।' तात्पर्य यह कि शुक परिव्राजक के आगमन की गली-गली और चौराहों में चर्चा होने लगी। परिषद् निकली। सुदर्शन भी निकला।

शुक की धर्मदेशना

३३—तए णं से सुए परिव्वायए तीसे परिसाए सुदंसणस्स य अन्नेसिं च बहूणं संखाणं परिकहेइ—'एवं खलु सुदंसणा! अम्हं सोयमूलए धम्मे पन्नत्ते। से वि य सोए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—दव्वसोए य भावसोए य। दव्वसोए य उदएणं मट्टियाए य। भावसोए दब्भेहि य मंतेहि य। जं णं अम्हं देवाणुप्पिया! किंचि असुई भवइ, तं सव्वं सज्जो पुढवीए आलिप्पइ, तओ पच्छा सुद्धेण वारिणा पक्खालिज्जइ, तओ तं असुई सुई भवइ। एवं खलु जीवा जलाभिसेयपूयप्पाणो अविग्घेणं सग्गं गच्छंति।

तए णं से सुदंसणे सुयस्स अंतिए धम्मं सोच्चा हट्ठे, सुयस्स अंतियं सोयमूलयं धम्मं गेण्हइ, गेण्हित्ता परिव्वायए विपुलेण असण-पाण-खाइम-साइम-वत्थेणं पडिलाभेमाणे जाव विहरइ। तए णं से सुए परिव्वायए सोगंधियाओ नयरीओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता वहिया जणवयविहारं विहरइ।

तत्पश्चात् शुक परिव्राजक ने उस परिषद को, सुदर्शन को तथा अन्य वहुत-से श्रोताओं को सांख्यमत का उपदेश दिया। यथा-हे सुदर्शन! हमारा धर्म शौचमूलक कहा गया है। यह शौच दो प्रकार का है—द्रव्यशौच और भावशौच। द्रव्यशौच जल से और मिट्टी से होता है। भावशौच दर्भ से और मंत्र से होता है। हे देवानुप्रिय! हमारे मत के अनुसार जो कोई वस्तु अशुचि होती है, वह सब तत्काल पृथ्वी (मिट्टी) से मांज दी जाती है और फिर शुद्ध जल से धो ली जाती है। तव अशुचि, शुचि हो जाती है। इसी प्रकार निश्चय ही जीव जलस्नान से अपनी आत्मा को पवित्र करके विना विघ्न के स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

तत्पश्चात् सुदर्शन, शुक परिव्राजक से धर्म को श्रवण करके हर्षित हुआ। उसने शुक से शौचमूलक धर्म को स्वीकार किया। स्वीकार करके परिव्राजकों को विपुल अशन पान खादिम स्वादिम और वस्त्र से प्रतिलाभित करता हुआ अर्थात् अशन आदि दान करता हुआ रहने लगा। तत्पश्चात् वह शुक परिव्राजक सौगंधिका नगरी से बाहर निकला। निकल कर जनपद-विहार से विचरने लगा—देश-देशान्तर में भ्रमण करने लगा।

थावच्चापुत्र का आगमन

३४—तेणं कालेणं तेणं समएणं थावच्चापुत्ते णामं अणगारे सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणेव सोगंधिया नयरी, जेणेव नीलासोए उज्जाणे, तेणेव समोसढे।

उस काल और उस समय में थावच्चापुत्र नामक अनगार एक हजार साधुओं के साथ अनुक्रम से विहार करते हुए, एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाते हुए और सुखे-सुखे विचरते हुए जहाँ सौगंधिका नामक नगरी थी और जहाँ नीलाशोक नामक उद्यान था, वहाँ पधारे।

थावच्चापुत्र-सुदर्शनसंवाद

३५—परिसा निग्गया। सुदंसणो वि णिग्गए। थावच्चापुत्तं नामं अणगारं आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'तुम्हाणं किंमूलए धम्मे पन्नत्ते?

तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणेणं एवं वुत्ते समाणे सुदंसणं एवं वयासी—'सुदंसणा! विणयमूले धम्मे पण्णत्ते। से वि य विणए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-अगारविणए य अणगारविणए य। तत्थ णं जे से अगारविणए से णं पंच अणुव्वयाइं,[1] सत्तसिक्खावयाइं, एक्कारस उवासगपडिमाओ। तत्थ णं जे से अणगारविणए से णं पंच महव्वयाइं पन्नत्ताइं, तंजहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं, जाव मिच्छादंसणसल्लाओ वेरमणं, दसविहे पच्चक्खाणे, बारस भिक्खुपडिमाओ, इच्चेएणं दुविहेणं विणयमूलएणं धम्मेणं अणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता लोयग्गपइट्ठाणे भवंति।

थावच्चापुत्र अनगार का आगमन जानकर परिषद् निकली। सुदर्शन भी निकला। उसने थावच्चापुत्र अनगार को दक्षिण तरफ से आरंभ करके प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके वह इस प्रकार बोला—'आपके धर्म का मूल क्या है?

तब सुदर्शन के इस प्रकार कहने पर थावच्चापुत्र अनगार ने सुदर्शन से इस प्रकार कहा—हे सुदर्शन! (हमारे मत में) धर्म विनयमूलक कहा गया है। यह विनय (चारित्र) भी दो प्रकार का कहा है—अगार-विनय अर्थात् गृहस्थ का चारित्र और अनगारविनय अर्थात् मुनि का चारित्र। इनमें जो अगारविनय है, वह पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और ग्यारह उपासक-प्रतिमा रूप है। अनगार-विनय पाँच महाव्रत रूप है, यथा-समस्त प्राणातिपात (हिंसा) से विरमण, समस्त मृषावाद से विरमण, समस्त अदत्तादान से विरमण, समस्त मैथुन से विरमण और समस्त परिग्रह से विरमण।

१. यह विनयवर्णन भ० महावीर के काल की अपेक्षा से है।

इसके अतिरिक्त समस्त रात्रि-भोजन से विरमण, यावत् समस्त मिथ्यादर्शन शल्य से विरमण, दस प्रकार का प्रत्याख्यान और बारह भिक्षुप्रतिमाएं। इस प्रकार दो तरह के विनयमूलक धर्म से, क्रमशः आठ कर्मप्रकृतियों को क्षय करके जीव लोक के अग्रभाग में—मोक्ष में प्रतिष्ठित होते हैं।

विवेचन-प्रस्तुत सूत्र में व्रतों का जो उल्लेख किया गया है, वह भी महावीर-शासन की अपेक्षा से ही समझना चाहिए जैसा कि पहले कहा जा चुका है। 'अंगसुत्ताणि' में मुनिश्री नथमल जी ने उल्लिखित पाठ के स्थान पर निम्नलिखित पाठ दिया है और परम्परागत उल्लिखित सूत्रपाठ का टिप्पणी में उल्लेख किया है:—

'तत्थ णं जे से अगारविणए से णं चाउज्जामिए गिहिधम्मे, तत्थ णं जे से अणगारविणए से णं चाउज्जामा, तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ वहिद्धादाणाओ वेरमणं।' अरिष्टनेमि के शासन की दृष्टि से यह पाठ अधिक संगत है। प्रस्तुत कथानक का सम्बन्ध भ० अरिष्टनेमि के काल के साथ ही है।

३६—तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी—'तुब्भे णं सुदंसणा! किंमूलए धम्मे पण्णत्ते?'

'अम्हाणं देवाणुप्पिया! सोयमूले धम्मे पण्णत्ते, जाव[1] सग्गं गच्छंति।'

तत्पश्चात् थावच्चापुत्र ने सुदर्शन से कहा—सुदर्शन! तुम्हारे धर्म का मूल क्या कहा है?

(सुदर्शन ने उत्तर दिया—) देवानुप्रिय! हमारा धर्म शौचमूलक कहा गया है। वह शौच दो प्रकार का है-द्रव्यशौच और भावशौच। द्रव्यशौच जल और मिट्टी से तथा भाव-शौच दर्भ और मंत्र से होता है। अशुचि वस्तु मिट्टी से मांजने से शुचि हो जाती है और जल से धो ली जाती है। तब अशुचि शुचि हो जाती है।] इस धर्म से जीव स्वर्ग में जाते हैं। (शुक का पूर्ववर्णित उपदेश यहां पूरा दोहरा लेना चाहिए।)

३७—तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी—'सुदंसणा! से जहानामए केई पुरिसे एगं महं रुहिरकयं वत्थं रुहिरेण चेव धोवेज्जा, तए णं सुदंसणा! तस्स रुहिरकयस्स रुहिरेण चेव पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि काइ सोही?

'णो तिणट्ठे समट्ठे।'

तब थावच्चापुत्र अनगार ने सुदर्शन से इस प्रकार कहा—हे सुदर्शन। जैसे कुछ भी नाम वाला कोई पुरुष एक बड़े रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से ही धोए, तो हे सुदर्शन। उस रुधिर से ही धोये जाने वाले वस्त्र की कोई शुद्धि होगी?

(सुदर्शन ने कहा)—यह अर्थ समर्थ नहीं, अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता—रुधिर से लिप्त वस्त्र रुधिर से शुद्ध नहीं हो सकता।

३८—एवामेव सुदंसणा! तुब्भं पि पाणाइवाएण जाव[2] मिच्छादंसणसल्लेणं नत्थि सोही, जहा तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स नत्थि सोही।

१. पंचम अ. सूत्र ३१. २. पंचम अ. सूत्र ३५.

'सुदंसणा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं रुहिरकयं वत्थं सज्जियाखारेणं अणुलिंपइ, अणुलिंपित्ता पयणं आरुहेइ, आरुहित्ता उण्हं गाहेइ, गाहित्ता तओ पच्छा सुद्धेणं वारिणा धोवेज्जा, से णूणं सुदंसणा ! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स सज्जियाखारेणं अणुलित्तस्स पयणं आरुहियस्स उण्हं गाहियस्स सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स सोही भवइ ?'

'हंता भवइ।'

एवामेव सुदंसणा ! अम्हं पि पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेण अत्थि सोही, जहा वि तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स जाव सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि सोही।

सुदर्शन का प्रतिबोध

इसी प्रकार हे सुदर्शन ! तुम्हारे मतानुसार भी प्राणातिपात से यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से शुद्धि नहीं हो सकती, जैसे उस रुधिरलिप्त और रुधिर से ही धोये जाने वाले वस्त्र की शुद्धि नहीं होती।

हे सुदर्शन ! जैसे यथानामक (कुछ भी नाम वाला) कोई पुरुष एक बड़े रुधिरलिप्त वस्त्र को सज्जी के खार के पानी में भिगोवे, फिर पाकस्थान (चूल्हे) पर चढ़ावे, चढ़ा कर उष्णता ग्रहण करावे (उबाले) और फिर स्वच्छ जल से धोवे, तो निश्चय हे सुदर्शन ! वह रुधिर से लिप्त वस्त्र, सज्जीखार के पानी में भीग कर चूल्हे पर चढ़ कर, उबल कर और शुद्ध जल से प्रक्षालित होकर शुद्ध हो जाता है ?'

(सुदर्शन कहता है—) हाँ, हो जाता है।'

इसी प्रकार हे सुदर्शन ! हमारे धर्म के अनुसार भी प्राणातिपात के विरमण से यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के विरमण से शुद्धि होती हैं, जैसे उस रुधिरलिप्त वस्त्र की यावत् शुद्ध जल से धोये जाने पर शुद्धि होती है।

३९—तत्थ णं सुदंसणे संबुद्धे थावच्चापुत्तं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! धम्मं सोच्चा जाणित्तए, जाव समणोवासए जाए अहिगयजीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् सुदर्शन को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। उसने थावच्चापुत्र को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'भगवन् ! मैं धर्म सुनकर उसे जानना अर्थात् अंगीकार करना चाहता हूँ।' यावत् (थावच्चापुत्र अनगार ने धर्म का उपदेश किया) वह धर्मोपदेश श्रवण करके श्रमणोपासक हो गया, जीवाजीव का ज्ञाता हो गया, यावत् निर्ग्रन्थ श्रमणों को आहार आदि का दान करता हुआ विचरने लगा।

शुक का पुनरागमन

४०—तए णं तस्स सुयस्स परिव्वायगस्स इमीसे कहाए लद्धट्ठस्स समाणस्स अयमेयारूवे जाव [अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे] समुप्पज्जित्था—एवं खलु सुदंसणेणं सोयधम्मं विप्पजहाय विणयमूले धम्मे पडिवन्ने। तं सेयं खलु मम सुदंसणस्स दिट्ठि वामेत्तए, पुणरवि सोयमूलए धम्मे आघवित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता परिव्वायगसहस्सेणं सद्धिं जेणेव सोगंधिया नयरी

जेणेव परिव्वायगावसहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता परिव्वायगावसहंसि भंडनिक्खेवं करेइ, करित्ता धाउरत्तवत्थपरिहिए पविरलपरिव्वायगेणं सद्धि संपरिवुडे परिव्वायगावसहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता सोगंधियाए नयरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव सुदंसणस्स गिहे, जेणेव सुदंसणे तेणेव उवागच्छइ।

तत्पश्चात् शुक परिव्राजक को इस कथा (घटना) का अर्थ अर्थात् समाचार जान कर इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—'सुदर्शन ने शौच-धर्म का परित्याग करके विनयमूल धर्म अंगीकार किया है। अतएव सुदर्शन की दृष्टि (श्रद्धा) का वमन (त्याग) कराना और पुनः शौचमूलक धर्म का उपदेश करना मेरे लिए श्रेयस्कर होगा।' उसने ऐसा विचार किया। विचार करके एक हजार परिव्राजकों के साथ जहाँ सौगंधिका नगरी थी और जहाँ परिव्राजकों का मठ था, वहाँ आया। आकर उसने परिव्राजकों के मठ में उपकरण रखे। तदनन्तर गेरू से रंगे वस्त्र धारण किये हुए वह थोड़े परिव्राजकों के साथ, उनसे घिरा हुआ परिव्राजक-मठ से निकला। निकल कर सौगंधिका नगरी के मध्यभाग में होकर जहाँ सुदर्शन का घर था और जहाँ सुदर्शन था, वहाँ आया।

४१—तए णं सुदंसणे तं सुयं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता नो अब्भुट्ठेइ, नो पच्चुग्गच्छइ नो आढाइ, नो परियाणाइ, नो वंदइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

तए णं से सुए परिव्वायए सुदंसणं अणब्भुट्ठियं पासित्ता एवं वयासी—'तुमं णं सुदंसणा! अन्नया ममं एज्जमाणं पासित्ता अब्भुट्ठेसि जाव (पच्चुग्गच्छसि आढासि) वंदसि, इयाणिं सुदंसणा! तुमं ममं एज्जमाणं पासित्ता जाव (नो अब्भुट्ठेसि, नो पच्चुग्गच्छसि, नो आढासि) णो वंदसि, तं कस्स णं तुमे सुदंसणा! इमेयारूवे विणयमूलधम्मे पडिवन्ने?

तव सुदर्शन ने शुक परिव्राजक को आता देखा। देखकर वह खड़ा नहीं हुआ, सामने नहीं गया, उसका आदर नहीं किया, उसे जाना नहीं, वन्दना नहीं की, किन्तु मौन रहा।

तव शुक परिव्राजक ने सुदर्शन को न खड़ा हुआ देखकर इस प्रकार कहा—हे सुदर्शन! पहले तुम मुझे आता देखकर खड़े होते थे, सामने आते और आदर करते थे, वन्दना करते थे, परन्तु हे सुदर्शन! अव तुम मुझे आता देखकर [न खड़े हुए, न सामने आए। न आदर किया] न वन्दना की तो हे सुदर्शन! (शौचधर्म त्याग कर) किसके समीप तुमने विनयमूल धर्म अंगीकार किया है?

४२—तए णं से सुदंसणे सुएणं परिव्वायएणं एवं वुत्ते समाणे आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता करयल (परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु) सुयं परिव्वायगं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी थावच्चापुत्ते नामं अणगारे जाव इहमागए, इह चेव नीलासोए उज्जाणे विहरइ, तस्स णं अंतिए विणयमूले धम्मे पडिवन्ने।

तत्पश्चात् शुक परिव्राजक के इस प्रकार कहने पर सुदर्शन आसन से उठ कर खड़ा हुआ। उसने दोनों हाथ जोड़े मस्तक पर अंजलि की और शुक परिव्राजक से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय! अरिहंत अरिष्टनेमि के अन्तेवासी थावच्चापुत्र नामक अनगार विचरते हुए यावत् यहाँ आये हैं और यहीं नीलाशोक नामक उद्यान में विचर रहे हैं। उनके पास से मैंने विनयमूल धर्म अंगीकार किया है।

४३—तए णं से सुए परिव्वायए सुदंसणं एवं वयासी—'तं गच्छामो णं सुदंसणा ! तव धम्मायरियस्स थावच्चापुत्तस्स अंतियं पाउब्भवामो। इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छामो। तं जइ णं मे से इमाइं अट्ठाइं जाव वागरइ, तए णं अहं वंदामि नमंसामि। अह मे से इमाइं अट्ठाइं जाव (हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं) नो वागरेइ, तए णं अहं एएहि चेव अट्ठेहिं हेऊहिं निप्पट्ठपसिणवागरणं करिस्सामि—

तत्पश्चात् शुक परिव्राजक ने सुदर्शन से इस प्रकार कहा—'हे सुदर्शन ! चलें, हम तुम्हारे धर्माचार्य थावच्चापुत्र के समीप प्रकट हों—चलें और इन अर्थों को, हेतुओं को, प्रश्नों को, कारणों को तथा व्याकरणों को पूछें।' अगर वह मेरे इन अर्थों, हेतुओं, प्रश्नों, कारणों और व्याकरणों का उत्तर देंगे तो मैं उन्हें वन्दना करूंगा, नमस्कार करूंगा। और यदि वह मेरे इन अर्थों यावत् व्याकरणों को नहीं कहेंगे—इनका उत्तर नहीं देंगे तो मैं उन्हें इन्हीं अर्थों तथा हेतुओं आदि से निरुत्तर कर दूंगा।

विवेचन—सूत्र में अर्थ, हेतु, प्रश्न और व्याकरण पूछने का कथन किया गया है। इनमें से 'अर्थ' शब्द अनेकार्थक है। कोशकार कहते हैं—

अर्थः स्याद् विषये मोक्षे, शब्दवाच्य-प्रयोजने।
व्यवहारे धने शास्त्रे, वस्तु-हेतु-निवृत्तिषु॥

अर्थात् अर्थ शब्द इन अर्थों का वाचक है—विषय, मोक्ष, शब्द का वाच्य, प्रयोजन, व्यवहार, धन, शास्त्र, वस्तु, हेतु और निवृत्ति। इन अर्थों में से यहां अनेक अर्थ घटित हो सकते हैं किन्तु आगे शुक और थावच्चापुत्र के संवाद का जो उल्लेख है, उसके आधार पर 'शब्द का वाच्य' अर्थ विशेषतः संगत लगता है। 'कुलत्था, सरिसवया' आदि शब्दों के अर्थ को लेकर ही संवाद होता है।

'हेतु' दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त होने वाला विशिष्ट शब्द है। साध्य के होने पर ही होने वाला और साध्य के विना न होने वाला हेतु कहलाता है, यथा—अग्नि के होने पर ही होने वाला और अग्नि के विना नहीं होने वाला धूम, अग्नि के अस्तित्व के ज्ञान में हेतु है।

किसी कार्य की उत्पत्ति में जो साधन हो वह कारण है। जैसे-धूम (धुंआ) कार्य की उत्पत्ति में अग्नि कारण है।

व्याकरण का अर्थ है—वस्तु स्वरूप को स्पष्ट करने वाला वचन। यहाँ व्याकरण से अभिप्राय है—उत्तर।

शुक-थावच्चापुत्र-संवाद

४४—तए णं से सुए परिव्वायगसहस्सेणं सुदंसणेण य सेट्ठिणा सद्धिं जेणेव नीलासोए उज्जाणे, जेणेव थावच्चापुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता थावच्चापुत्तं एवं वयासी—'जत्ता ते भंते ! जणणिज्जं ते ? अव्वाबाहं पि ते ? फासुयं विहारं ते ?

तए णं से थावच्चापुत्ते सुएणं परिव्वायगेणं एवं वुत्ते समाणे सुयं परिव्वायगं एवं वयासी—'सुया ! जत्ता वि मे, जवणिज्जं पि मे, अव्वाबाहं पि मे, फासुयविहारं पि मे।'

तत्पश्चात् वह शुक परिव्राजक, एक हजार परिव्राजकों के और सुदर्शन सेठ के साथ जहाँ नीलाशोक उद्यान था, और जहां थावच्चापुत्र अनगार थे, वहां आया। आकर थावच्चापुत्र से कहने

लगा—'भगवन् ! तुम्हारी यात्रा चल रही है ? यापनीय है ? तुम्हारे अव्याबाध है ? और तुम्हारा प्रासुक विहार हो रहा है ?

तब थावच्चापुत्र ने शुक परिव्राजक के इस प्रकार कहने पर शुक से कहा—हे शुक ! मेरी यात्रा भी हो रही है, यापनीय भी वर्त रहा है, अव्याबाध भी है और प्रासुक विहार भी हो रहा है।

४५—तए णं से सुए थावच्चापुत्तं एवं वयासी—'किं भंते ! जत्ता ?

'सुया ! जं णं मम णाण-दंसण-चरित्त-तव-संजममाइएहिं जोएहिं जोयणा से तं जत्ता।'

'से किं तं भंते ! जवणिज्जे ?

'सुया ! जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—इंदियजवणिज्जे य नोइंदियजवणिज्जे य।'

'से किं तं इंदियजवणिज्जे ?'

'सुया ! जं णं मम सोइंदिय-चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टंति, से तं इंदियजवणिज्जं।'

'से किं तं नोइंदियजवणिज्जे ?'

'सुया ! जन्नं कोह-माण-माया-लोभा खीणा, उवसंता, नो उदयंति, से तं नोइंदियजवणिज्जे।'

तत्पश्चात् शुक ने थावच्चापुत्र से इस प्रकार कहा—'भगवन् ! आपकी यात्रा क्या है ?

(थावच्चापुत्र—) हे शुक ! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, और संयम आदि योगों से षट्काय [पांच स्थावरकाय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, और छठे त्रसकाय—द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक] के जीवों की यतना करना हमारी यात्रा है।

शुक—भगवन् ! यापनीय क्या है ?

थावच्चापुत्र—शुक ! यापनीय दो प्रकार का है—इन्द्रिय-यापनीय और नोइन्द्रिय-यापनीय।

शुक—'इन्द्रिय-यापनीय किसे कहते हैं ?'

'शुक ! हमारी श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय विना किसी उपद्रव के वशीभूत रहती है, यही हमारा इन्द्रिय-यापनीय है।'

शुक—'नो-इन्द्रिय-यापनीय क्या है ?'

'हे शुक ! क्रोध मान माया और लोभ रूप कषाय क्षीण हो गये हों, उपशांत हो गये हों, उदय में न आ रहे हों, यही हमारा नोइन्द्रिय-यापनीय कहलाता है।'

४६—'से किं तं भंते ! अव्वाबाहं ?'

'सुया ! जन्नं मम वाइय-पित्तिय-सिंभिय-सन्निवाइया विविहा रोगायंका णो उदीरेंति, से तं अव्वाबाहं।'

'से किं तं भंते ! फासुयविहारं ?'

'सुया ! जन्नं आरामेसु उज्जाणेसु देवउलेसु सभासु पवासु इत्थि-पसु-पंडगविवज्जियासु वसहीसु पाडिहारियं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारयं उग्गिण्हित्ता णं विहरामि, से तं फासुयविहारं।'

शुक ने कहा—'भगवन् ! अव्याबाध क्या है ?'

'हे शुक ! जो वात, पित्त, कफ और सन्निपात (दो अथवा तीन का मिश्रण) आदि सम्बन्धी विविध प्रकार के रोग (उपायसाध्य व्याधि) और आतंक (तत्काल प्राणनाशक व्याधि) उदय में न आवें, वह हमारा अव्याबाध है ।'

शुक—'भगवन् ! प्रासुक विहार क्या है ?'

'हे शुक ! हम जो आराम में, उद्यान में, देवकुल में, सभा में, प्याऊ में तथा स्त्री पशु और नपुंसक से रहित उपाश्रय में पडिहारी (वापस लौटा देने योग्य) पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि ग्रहण करके विचरते हैं, वह हमारा प्रासुक विहार है ।'

४७—सरिसवया ते भंते ! भक्खेया अभक्खेया ?'

'सुया ! सरिसवया भक्खेया वि अभक्खेया वि ।'

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सरिसवया भक्खेया वि अभक्खेया वि ?'

'सुया ! सरिसवया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा-मित्तसरिसवया धन्नसरिसवया य। तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवया ते तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—सहजायया, सहवड्ढियया, सहपंसुकीलियया। ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया।

तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवया ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सत्थपरिणया य असत्थपरिणया य। तत्थ णं जे ते असत्थपरिणया तं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया।

तत्थ णं जे ते सत्थपरिणया ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—फासुगा य अफासुगा य। अफासुगा णं सुया ! नो भक्खेया।

तत्थ णं जे ते फासुया ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—जाइया य अजाइया य। तत्थ णं जे ते अजाइया ते अभक्खेया। तत्थ णं जे ते जाइया ते दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—एसणिज्जा य अणेसणिज्जा य। तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते णं अभक्खेया।

तत्थ णं जे ते एसणिज्जा ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—लद्धा य अलद्धा य। तत्थ णं जे ते अलद्धा ते अभक्खेया। तत्थ णं जे ते लद्धा ते निग्गंथाणं भक्खेया।

एएणं अट्ठेणं सुया ! एवं वुच्चइ-सरिसवया भक्खेया वि अभक्खेया वि।

शुक परिव्राजक ने प्रश्न किया—'भगवन् ! आपके लिए 'सरिसवया' भक्ष्य हैं या अभक्ष्य हैं ?'

थावच्चापुत्र ने उत्तर दिया—'हे शुक ! 'सरिसवया' हमारे लिए भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं ।'

शुक ने पुनः प्रश्न किया—'भगवन् ! किस अभिप्राय से ऐसा कहते हो कि 'सरिसवया' भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं ?'

थावच्चापुत्र उत्तर देते हैं—'हे शुक ! 'सरिसवया' दो प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार—मित्र सरिसवया (सदृश वय वाले मित्र) और धान्यसरिसवया (सरसों)। इनमें जो मित्र-सरिसवया हैं,

वे तीन प्रकार के हैं। वे इस प्रकार—(१) साथ जन्मे हुए (२) साथ बड़े हुए और (३) साथ-साथ धूल में खेले हुए। यह तीनों प्रकार के मित्र-सरिसवया श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

जो धान्य-सरिसवया (सरसों) हैं, वे दो प्रकार के हैं। वे इस प्रकार—शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरिणत। उनमें जो अशस्त्रपरिणत हैं अर्थात् जिनको अचित्त करने के लिए अग्नि आदि शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया गया है, अतएव जो अचित्त नहीं हैं, वे श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

जो शस्त्रपरिणत हैं, वे दो प्रकार के हैं। वे इस प्रकार—प्रासुक और अप्रासुक। हे शुक! अप्रासुक भक्ष्य नहीं है।

उनमें जो प्रासुक हैं, वे दो प्रकार के हैं। वे इस प्रकार—याचित (याचना किये हुए) और अयाचित (नहीं याचना किये हुए) उनमें जो अयाचित हैं, वे अभक्ष्य हैं। उनमें जो याचित हैं, वे दो प्रकार के हैं। यथा—एषणीय और अनेषणीय। उनमें जो अनेषणीय हैं वे अभक्ष्य हैं।

जो एषणीय हैं, वे दो प्रकार के हैं।—लब्ध(प्राप्त) और अलब्ध (अप्राप्त)। उनमें जो अलब्ध हैं, वे अभक्ष्य हैं। जो लब्ध हैं वे निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं।

'हे शुक! इस अभिप्राय से कहा है कि सरिसवया भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं।'

४८—एवं कुलत्था वि भाणियव्वा। नवरि इमं नाणत्तं—इत्थिकुलत्था य धन्नकुलत्था य। इत्थिकुलत्था तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—कुलवधुया य, कुलमाउया य, कुलधूया य। धन्नकुलत्था तहेव।

इसी प्रकार 'कुलत्था' भी कहना चाहिए, अर्थात् जैसे 'सरिसवया' के सम्बन्ध में प्रश्न और उत्तर ऊपर कहे हैं, वैसे ही 'कुलत्था' के विषय में कहने चाहिए। विशेषता इस प्रकार है—कुलत्था के दो भेद हैं—स्त्री-कुलत्था (कुल में स्थित महिला) और धान्य-कुलत्था अर्थात् कुलथ नामक धान्य। स्त्री-कुलत्था तीन प्रकार की हैं। वह इस प्रकार—कुलवधू, कुलमाता और कुलपुत्री। ये अभक्ष्य हैं। धान्यकुलत्था भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं, इत्यादि सरिसवया के समान समझना चाहिए।

४९—एवं मासा वि। नवरि इमं नाणत्तं—मासा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—कालमासा य, अत्थमासा य, धन्नमासा य। तत्थ णं जे ते कालमासा ते णं दुवालसविहा पण्णत्ता, तं जहा—सावणे जाव (भद्दवए आसोए कत्तिए मग्गसिरे पोसे माहे फग्गुणे चेत्ते वइसाहे जेट्ठामूले) आसाढे, ते णं अभक्खेया। अत्थमासा दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—हिरन्नमासा य सुवण्णमासा य। ते णं अभक्खेया। धन्नमासा तहेव।

मास सम्बन्धी प्रश्नोत्तर भी इसी प्रकार जानना चाहिए। विशेषता इस प्रकार है—मास तीन प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—कालमास, अर्थमास और धान्यमास। इनमें से कालमास बारह प्रकार के कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—श्रावण यावत् [भाद्रपद, आसौज, कार्त्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठामूल] आषाढ, अर्थात् श्रावणमास से आषाढमास तक। वे सब अभक्ष्य हैं। अर्थमास अर्थात् अर्थरूप माशा दो प्रकार के कहे हैं—चाँदी का माशा और सोने का माशा। वे भी अभक्ष्य हैं। धान्यमास अर्थात् उड़द भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं; इत्यादि 'सरिसवया' के समान कहना चाहिए।

५०—'एगे भवं ? दुवे भवं ? अणेगे भवं ? अक्खए भवं ? अव्वए भवं ? अवट्ठिए भवं ? अणेगभूयभावभविए वि भवं ?

'सुया ! एगे वि अहं, दुवे वि अहं, जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं ।'

'से केणट्ठेणं भंते ! एगे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं ?

'सुया ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुवे वि अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं ।

शुक परिव्राजक ने पुनः प्रश्न किया—आप एक हैं ? आप दो हैं ? आप अनेक हैं ? आप अक्षय हैं ? आप अव्यय हैं ? आप अवस्थित हैं ? आप भूत, भाव और भावी वाले हैं ?'

(यह प्रश्न करने का परिव्राजक का अभिप्राय यह है कि अगर थावच्चापुत्र अनगार आत्मा को एक कहेंगे तो श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान और शरीर के अवयव अनेक होने से आत्मा की अनेकता का प्रतिपादन करके एकता का खंडन करूंगा । अगर वे आत्मा का द्वित्व स्वीकार करेंगे तो 'अहम्—मैं' प्रत्यय से होने वाली एकता की प्रतीति से विरोध बतलाऊंगा । इसी प्रकार आत्मा की नित्यता स्वीकार करेंगे तो मैं अनित्यता का प्रतिपादन करके उसका खंडन करूंगा । यदि अनित्यता स्वीकार करेंगे तो उसके विरोधी पक्ष को अंगीकार करके नित्यता का समर्थन करूंगा । मगर परिव्राजक के अभिप्राय को असफल बनाते हुए, अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर थावच्चापुत्र उत्तर देते हैं—)

'हे शुक ! मैं द्रव्य की अपेक्षा से एक हूँ क्योंकि जीव द्रव्य एक ही है । (यहां द्रव्य से एकत्व स्वीकार करने से पर्याय की अपेक्षा अनेकत्व मानने में विरोध नहीं रहा ।) ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से मैं दो भी हूँ । प्रदेशों की अपेक्षा से मैं अक्षय भी हूँ, अव्यय भी हूँ, अवस्थित भी हूँ । (क्योंकि आत्मा के लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेश हैं और उनका कभी पूरी तरह क्षय नहीं होता, थोड़े से प्रदेशों का भी व्यय नहीं होता, उसके असंख्यात प्रदेश सदैव अवस्थित—कायम रहते हैं—उनमें एक भी प्रदेश की न्यूनता या अधिकता कदापि नहीं होती ।) और उपयोग की अपेक्षा से अनेक भूत (अतीत कालीन), भाव (वर्त्तमान कालीन) और भावी (भविष्यत् कालीन), भी हूँ, अर्थात् अनित्य भी हूँ । तात्पर्य यह है कि उपयोग आत्मा का गुण है, आत्मा से कथंचित् अभिन्न है, और वह भूत, वर्तमान और भविष्यत् कालीन विषयों को जानता है और सदैव पलटता रहता है । इस प्रकार उपयोग अनित्य होने से उससे अभिन्न आत्मा भी कथंचित् अनित्य है ।

विवेचन—यहाँ मुख्य रूप से आत्मा का कथंचित् एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व प्रतिपादित किया गया है, किन्तु जैनदर्शन के अनुसार और वास्तविक रूप से जगत् के सभी पदार्थों पर यह कथन घटित होता है । 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा,' यह तीर्थंकरों की मूलवाणी है । इसका अभिप्राय यह है कि समस्त पदार्थों का उत्पाद होता है, विनाश होता है और वे ध्रुव-नित्य भी रहते हैं । यही वाचक उमास्वाति कहते हैं—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[1] ।' अर्थात् प्रत्येक पदार्थ, जिसकी सत्ता है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमय है । ये तीनों जिसमें एक साथ, निरन्तर—क्षण-क्षण में न हों ऐसा कोई अस्तित्ववान् पदार्थ हो नहीं सकता ।

१. तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५.

सहज प्रश्न हो सकता है कि नित्यता और अनित्यता परस्पर विरोधी धर्म हैं तो एक साथ एक ही पदार्थ में किस प्रकार रह सकते हैं ?

उत्तर इस प्रकार है—प्रत्येक पदार्थ-वस्तु के दो पहलू हैं—द्रव्य और पर्याय। ये दोनों मिल कर ही वस्तु कहलाते हैं। द्रव्य के विना पर्याय और पर्याय के विना द्रव्य होता नहीं है। उदाहरणार्थ-आत्मा द्रव्य है और वह किसी न किसी पर्याय के साथ ही रहती है। द्रव्य और पर्याय परस्पर भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। इनमें से वस्तु का द्रव्यांश शाश्वत है, इस दृष्टि से वस्तु नित्य है। पर्याय-अंश पलटता रहता है, अतएव पर्याय की दृष्टि ने वस्तु अनित्य है। हमारा अनुभव और आधुनिक विज्ञान इस सत्य का समर्थन करता है।

सामान्य और विशेप धर्म प्रत्येक पदार्थ के अभिन्न अंग हैं। इनमें से सामान्य को प्रधान रूप से दृष्टि में रख कर जब पदार्थों का निरीक्षण किया जाता है तो उनमें एकरूपता प्रतीत होती है और जब विशेप को मुख्य करके देखा जाता है तो जिसमें एकरूपता प्रतीत होती थी उन्हीं में अनेकता-भिन्नता जान पड़ती है। अतः सामान्य की अपेक्षा एकत्व और विशेष की अपेक्षा अनेकत्व सिद्ध होता है।

शुक की प्रव्रज्या

५१—एत्थ णं से सुए संबुद्धे थावच्चापुत्तं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! तुब्भे अंतिए केवलिपन्नत्तं धम्मं निसामित्तए। धम्मकहा भाणियव्वा।

तए णं से सुए परिव्वायए थावच्चापुत्तस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! परिव्वायगसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता पव्वइत्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया !' जाव उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे तिदंडयं जाव[1] धाउरत्ताओ य एगंते एडेइ, एडित्ता सयमेव सिहं उप्पाडेइ, उपाडित्ता जेणेव थावच्चापुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता थावच्चापुत्तं अणगारं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स अन्तिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए। सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ। तए णं थावच्चापुत्ते सुयस्स अणगारसहस्सं सीसत्ताए वियरइ।

थावच्चापुत्र के उत्तर से शुक परिव्राजक को प्रतिवोध प्राप्त हुआ। उसने थावच्चापुत्र को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना और नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'भगवन् ! मैं आपके पास से केवलीप्ररूपित धर्म सुनने की अभिलाषा करता हूँ। यहाँ धर्मकथा का वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए।

तत्पश्चात् शुक परिव्राजक थावच्चापुत्र से धर्मकथा सुन कर और उसे हृदय में धारण करके इस प्रकार वोला—'भगवन् ! मैं एक हजार परिव्राजकों के साथ देवानुप्रिय के निकट, मुंडित होकर प्रव्रजित होना चाहता हूँ।'

थावच्चापुत्र अनगार बोले—'देवानुप्रिय ! जिस प्रकार सुख उपजे वैसा करो।' यह सुनकर

१. पंचम अ. सूत्र ३०

यावत् उत्तरपूर्व दिशा में जाकर शुक परिव्राजक ने त्रिदंड आदि उपकरण यावत् गेरू से रंगे वस्त्र एकान्त में उतार डाले। अपने ही हाथ से शिखा उखाड़ ली। उखाड़ कर जहाँ थावच्चापुत्र अनगार थे, वहाँ आया। आकर वन्दन-नमस्कार किया, वन्दन-नमस्कार करके मुंडित होकर यावत् थावच्चापुत्र अनगार के निकट दीक्षित हो गया। फिर सामायिक से आरम्भ करके चौदह पूर्वो का अध्ययन किया। तत्पश्चात् थावच्चापुत्र ने शुक को एक हजार अनगार (जो उसके साथ दीक्षित हुए थे), शिष्य के रूप में प्रदान किये।

थावच्चापुत्र की मुक्ति

५२—तए णं थावच्चापुत्ते सोगंधियाओ नयरीओ नीलासोयाओ पडिनिक्खमइ। पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। तए णं से थावच्चापुत्ते अणगारसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव पुंडरीए पव्वए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता पुंडरीयं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहइ। दुरूहित्ता मेघघणसन्निगासं देवसन्निवायं पुढविसिलापट्टयं जाव (पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता जाव संलेहणा-झूसणा-झूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए) पाओवगमणं समणुवन्ने।

तए णं से थावच्चापुत्ते बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता जाव केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेत्ता तओ पच्छा सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिणिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे।

तत्पश्चात् थावच्चापुत्र अनगार सौगंधिका नगरी से और नीलाशोक उद्यान से बाहर निकले। निकल कर जनपदविहार अर्थात् विभिन्न देशों में विचरण करने लगे। तत्पश्चात् वह थावच्चापुत्र (अपना अन्तिम समय सन्निकट समझ कर) हजार साधुओं के साथ जहाँ पुण्डरीक—शत्रुंजय पर्वत था, वहाँ आये। आकर धीरे-धीरे पुण्डरीक पर्वत पर आरूढ हुए। आरूढ होकर उन्होंने मेघघटा के समान श्याम और जहाँ देवों का आगमन होता था ऐसे पृथ्वीशिलापट्टक का प्रतिलेखन किया। प्रतिलेखन करके संलेखना धारण कर आहार-पानी का त्याग कर उस शिलापट्टक पर आरूढ होकर यावत् पादपोपगमन अनशन ग्रहण किया।

तत्पश्चात् वह थावच्चापुत्र बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय पाल कर, एक मास की संलेखना करके साठ भक्तों का अनशन करके यावत् केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त करके सिद्ध हुए, बुद्ध हुए, समस्त कर्मों से मुक्त हुए, संसार का अन्त किया, परिनिर्वाण प्राप्त किया तथा सर्व दुःखों से मुक्त हुए।

शैलक राजा की दीक्षा

५३—तए णं सुए अन्नया कयाइं जेणेव सेगलपुरे नयरे, जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव समोसरिए। परिसा निग्गया, सेलओ निग्गच्छइ। धम्मं सोच्चा जं णवरं—'देवाणुप्पिया! पंथगपामोक्खाइं पंच मंतिसयाइं आपुच्छामि, मंडुयं च कुमारं रज्जे ठावेमि, तओ पच्छा देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वयामि।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया!'

तत्पश्चात् शुक अनगार किसी समय जहाँ शैलकपुर नगर था और जहाँ सुभूमिभागनामक उद्यान था, वहीं पधारे। उन्हें वन्दना करने के लिए परिषद् निकली। शैलक राजा भी निकला। धर्मोपदेश सुनकर उसे प्रतिबोध प्राप्त हुआ। विशेष यह कि राजा ने निवेदन किया—हे देवानुप्रिय ! मैं पंथक आदि पाँच सौ मंत्रियों से पूछ लूँ—उनकी अनुमति ले लूँ, और मंडुक कुमार को राज्य पर स्थापित कर दूँ। उसके पश्चात् आप देवानुप्रिय के समीप मुंडित होकर गृहवास से निकलकर अनगार दीक्षा अंगीकार करूँगा।'

यह सुनकर, शुक अनगार ने कहा—'जैसे सुख उपजे वैसा करो।'

५४—तए णं से सेलए राया सेलगपुरं नयरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव सए गिहे, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणं सन्निसन्ने।

तए णं से सेलए राया पंथयपामोक्खे पंच मंतिसए सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए सुयस्स अंतिए धम्मे निसंते, से वि य धम्मे मए इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। अहं णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे जाव (भीए जम्म-जर-मरणाणं सुयस्स अणगारस्स अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं) पव्वयामि। तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! किं करेह ? किं वसेह ? किं वा ते हियइच्छिए त्ति ?

तए णं तं पंथयपामोक्खा सेलगं रायं एवं वयासी—'जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे जाव पव्वयह, अम्हाणं देवाणुप्पिया ! किमन्ने आहारे वा आलंबे वा ? अम्हे वि य णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गा जाव पव्वयामो, जहा देवाणुप्पिया ! अम्हं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य जाव (कुडुंबेसु य मंतेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे मेढी पमाणं आहारे आलंबणं चक्खू, मेढीभूए पमाणभूए आहारभूए आलंबणभूए चक्खूभूए) तहा णं पव्वइयाण वि समाणाणं बहुसु जाव चक्खुभूए।

तत्पश्चात् शैलक राजा ने शैलकपुर नगर में प्रवेश किया। प्रवेश करके जहाँ अपना घर था और जहाँ बाहर की उपस्थानशाला (राजसभा) थी, वहाँ आया। आकर सिंहासन पर आसीन हुआ।

तत्पश्चात् शैलक राजा ने पंथक आदि पांच सौ मंत्रियों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! मैंने शुक अनगार से धर्म सुना है और उस धर्म की मैंने इच्छा की है। वह धर्म मुझे रुचा है। अतएव हे देवानुप्रियो ! मैं संसार के भय से उद्विग्न होकर [जन्म-जरा-मरण से भयभीत होकर, शुक अनगार के समीप मुंडित होकर गृहत्याग करके अनगार—] दीक्षा ग्रहण कर रहा हूँ। देवानुप्रियो ! तुम क्या करोगे ? कहाँ रहोगे ? तुम्हारा हित और अभीष्ट क्या है ? अथवा तुम्हारी हार्दिक इच्छा क्या है ?

तब वे पंथक आदि मंत्री शैलक राजा से इस प्रकार कहने लगे—'हे देवानुप्रिय ! यदि आप संसार के भय से उद्विग्न होकर यावत् प्रव्रजित होना चाहते हैं, तो हे देवानुप्रिय ! हमारा दूसरा (पृथ्वी की तरह) आधार कौन है ? हमारा (रस्सी के समान) आलंबन कौन है ? अतएव हे देवानुप्रिय ! हम भी संसार के भय से उद्विग्न होकर दीक्षा अंगीकार करेंगे। हे देवानुप्रिय ! जैसे आप यहाँ गृहस्थावस्था में, बहुत से कार्यों में, कुटुम्ब संबंधी विषयों में, मन्त्रणाओं में, गुप्त एवं रहस्यमय बातों में, कोई भी निश्चय करने में, एक बार और बार-बार पूछने योग्य हैं, मेढी, प्रमाण, आधार, आलंबन

और चक्षुरूप-मार्गदर्शक हैं, मेढी-प्रमाण आधार आलंबन एवं नेत्र समान हैं यावत् आप मार्गदर्शक हैं, उसी प्रकार दीक्षित होकर भी आप वहुत-से-कार्यों में यावत् चक्षुभूत (मार्गप्रदर्शक) होंगे।

५५—तए णं से सेलगे पंथगपामोक्खे पंच मंतिसए एवं वयासी—'जइ णं देवाणुप्पिया! तुब्भे संसारभयउव्विगा जाव पव्वयह, तं गच्छह णं देवाणुप्पिया! सएसु सएसु कुडुंबेसु जेट्ठे पुत्ते कुडुंबमज्झे ठावेत्ता पुरिस-सहस्सवाहिणीओ सीयाओ दुरूढा समाणा मम अंतियं पाउब्भवह' त्ति। तहेव पाउब्भवंति।

तत्पश्चात् शैलक राजा ने पंथक प्रभृति पांच सौ मंत्रियों से इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो! यदि तुम संसार के भय से उद्विग्न हुए हो, यावत् दीक्षा ग्रहण करना चाहते हो तो, देवानुप्रियो! जाओ और अपने-अपने कुटुम्वों में अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों को कुटुम्व के मध्य में स्थापित करके अर्थात् परिवार का समस्त उत्तरदायित्व उन्हें सौंप कर हजार पुरुषों द्वारा वहन करने योग्य शिविकाओं पर आरूढ होकर मेरे समीप प्रकट होओ—आओ।' यह सुन कर पांच सौ मंत्री अपने-अपने घर चले गये और राजा के आदेशानुसार कार्य करके शिविकाओं पर आरूढ होकर वापिस राजा के पास प्रकट हुए—जा पहुँचे।

५६—तए णं से सेलए राया पंच मंतिसयाइं पाउब्भवमाणाइं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! मंडुयस्स कुमारस्स महत्थं जाव[1] रायाभिसेयं उवट्ठवेह०।' अभिसिंचइ जाव राया जाए, जाव विहरइ।

तत्पश्चात् शैलक राजा ने पांच सौ मंत्रियों को अपने पास आया देखा। देखकर हृष्ट-तुष्ट होकर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! शीघ्र ही मंडुक कुमार के महान् अर्थ वाले राज्याभिषेक की तैयारी करो।' कौटुम्विक पुरुषों ने वैसा ही किया। शैलक राजा ने राज्याभिषेक किया। मंडुक कुमार राजा हो गया, यावत् सुखपूर्वक विचरने लगा।

५७—तए णं से सेलए मंडुयं रायं आपुच्छइ। तए णं से मंडुए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव सेलगपुरं नयरं आसित्त जाव[2] गंधवट्टिभूयं करेह य कारवेह य, करित्ता कारवित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।'

तए णं से मंडुए दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव सेलगस्स रण्णो महत्थं जाव[3] निक्खमणाभिसेयं जहेव मेहस्स तहेव, णवरं पउमावई देवी अग्गकेसे पडिच्छइ। सव्वे वि पडिग्गहं गहाय सीयं दुरूहंति, अवसेसं तहेव, जाव सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थ जाव छट्ठट्ठम-दसम-दुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् शैलक ने मंडुक राजा से दीक्षा लेने की आज्ञा मांगी। तव मंडुक राजा न कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'शीघ्र ही शैलकपुर नगर को स्वच्छ और सिंचित करके सुगंध की वट्टी के समान करो और कराओ। ऐसा करके और कराकर यह आज्ञा मुझे वापिस सौंपो अर्थात् आज्ञानुसार कार्य हो जाने की मुझे सूचना दो।

१. प्र. अ. १३३ २. प्र. अ. ७१ ३. प्र. अ. १३३

तत्पश्चात् मंडुक राजा ने दुबारा कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—शीघ्र ही शैलक महाराजा के महान् अर्थ वाले (बहुव्ययसाध्य) यावत् दीक्षाभिषेक की तैयारी करो।' जिस प्रकार मेघकुमार के प्रकरण में प्रथम अध्ययन में कहा था, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। विशेषता यह है कि पद्मावती देवी ने शैलक के अग्रकेश ग्रहण किये। सभी दीक्षार्थी प्रतिग्रह-पात्र आदि ग्रहण करके शिविका पर आरूढ हुए। शेष वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए। यावत् राजर्षि शैलक ने दीक्षित होकर सामायिक से आरम्भ करके ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। अध्ययन करके बहुत से उपवास [बेला, तेला, चौला, पंचोला, अर्धमासखमण, मासखमण आदि तपश्चरण करते हुए] विचरने लगे।

शैलक का जनपदविहार

५८—तए णं से सुए सेलयस्स अणगारस्स ताइं पंथयपामोक्खाइं पंच अणगारसयाइं सीसत्ताए वियरइ।

तए णं से सुए अन्नया कयाइं सेलगपुराओ नगराओ सुभूमिभागाओ उज्जाणाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ।

तए णं से सुए अणगारे अन्नया कयाइं तेणं अणगारसहस्सेणं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं विहरमाणे जेणेव पुंडरीए पव्वए जाव (तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पुंडरीयं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहइ, दुरूहित्ता मेघघणसन्निगासं देवसन्निवायं पुढविसिलापट्टयं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता जाव संलेहणा-झूसणाझूसिए भत्तपाण-पडियाइक्खिए पाओवगमणंणुवन्ने।

तए णं से सुए बहूणि वासाणि सामण्णपरियाणं पाउणित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता जाव केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेत्ता तओ पच्छा सिद्धे (बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिणिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे)।

तत्पश्चात् शुक अनगार ने शैलक अनगार को पंथक प्रभृति पांच सौ अनगार शिष्य रूप में प्रदान किये।

फिर शुक मुनि किसी समय शैलकपुर नगर से और सुभूमिभाग उद्यान से बाहर निकले। निकल कर जनपदों में विचरने लगे।

तत्पश्चात् वह शुक अनगार एक बार किसी समय एक हजार अनगारों के साथ अनुक्रम से विचरते हुए, ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अपना अन्तिम समय समीप आया जानकर पुंडरीक पर्वत पर पधारे। यावत् [पुंडरीक पर्वत पर पधार कर धीरे-धीरे उस पर आरूढ हुए। सघन मेघों के समान कृष्णवर्ण और देवगण जहाँ उतरते हैं ऐसे पृथ्वी शिलापट्टक का प्रतिलेखन किया, यावत् संलेखनापूर्वक आहार-पानी का परित्याग करके, एक मास की संलेखना से आत्मा को भावित करके साठ भक्तों का छेदन करके केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त करके सिद्ध (बुद्ध, मुक्त, अन्तकृत, परिनिर्वृत्त और समस्त दुःखों से रहित) हो गए।

शैलक मुनि की रुग्णता

५९—तए णं तस्स सेलगस्स रायरिसिस्स तेहिं अंतेहि य, पंतेहि य, तुच्छेहि य, लूहेहि य, अरसेहि

य, विरसेहि य, सीएहि य, उण्हेहि य, कालाइक्कंतेहि य, पमाणाइक्कंतेहि य णिच्चं पाणभोयणेहि य पयइसुकुमालस्स सुहोचियस्स सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला विउला कक्खडा पगाढा चंडा दुक्खा) जाव दुरहियासा, कंडुयदाहपित्तज्जरपरिगयसरीरे यावि विहरइ। तए णं से सेलए तेणं रोगायंकेणं सुक्के जाए यावि होत्था।

तत्पश्चात् प्रकृति से सुकुमार और सुखभोग के योग्य शैलक राजर्षि के शरीर में सदा अन्त (चना आदि) प्रान्त (ठंडा या बचाखुचा), तुच्छ (अल्प), रूक्ष (रूखा), अरस (हींग आदि के संस्कार से रहित), विरस (स्वादहीन), ठंडा-गरम, कालातिक्रान्त (भूख का समय बीत जाने पर प्राप्त) और प्रमाणातिक्रान्त (कम या ज्यादा) भोजन-पान मिलने के कारण वेदना उत्पन्न हो गई। वह वेदना उत्कट यावत् विपुल, कठोर, प्रगाढ, प्रचंड एवं दुस्सह थी। उनका शरीर खुजली और दाह उत्पन्न करने वाले पित्तज्वर से व्याप्त हो गया। तब वह शैलक राजर्षि उस रोगातंक से शुष्क हो गये, अर्थात् उनका शरीर सूख गया।

शैलक की चिकित्सा

६०—तए णं से सेलए अन्नया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव सेलगपुरे नगरे) जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे तेणेव विहरइ। परिसा निग्गया, मंडुओ वि निग्गओ, सेलयं अणगारं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पज्जुवासइ।

तए णं से मंडुए राया सेलयस्स अणगारस्स शरीरयं सुक्कं भुक्कं जाव सव्वाबाहं सरोगं पासइ, पासित्ता एवं वयासी—'अहं णं भंते! तुब्भं अहापवित्तेहिं तिगिच्छएहिं अहापवित्तेणं ओसहभेसज्जेणं भत्तपाणेणं तिगिच्छं आउट्टामि, तुब्भे णं भंते! मम जाणसालासु समोसरह, फासुअं एसणिज्जं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगं ओगिण्हित्ताणं विहरह।

तत्पश्चात् शैलक राजर्षि किसी समय अनुक्रम से विचरते हुए यावत् [सुखपूर्वक ग्रामानुग्राम गमन करते हुए जहाँ शैलकपुर नगर था और] जहाँ सुभूमिभागनामक उद्यान था, वहां आकर विचरने लगे। उन्हें वन्दना करने के लिए परिषद् निकली। मंडुक राजा भी निकला। शैलक अनगार को सब ने वन्दन किया, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके उपासना की। उस समय मंडुक राजा ने शैलक अनगार का शरीर शुष्क, निस्तेज, यावत् सब प्रकार की पीडा से आक्रान्त और रोगयुक्त देखा। देखकर इस प्रकार कहा—

"भगवन्! मैं आपकी साधु के योग्य चिकित्सकों से, साधु के योग्य औषध और भेषज के द्वारा तथा भोजन-पान द्वारा चिकित्सा कराना चाहता हूँ। भगवन्! आप मेरी यानशाला में पधारिए और प्रासुक एवं एषणीय पीठ, फलक, शय्या तथा संस्तारक ग्रहण करके विचरिए।'

६१—तए णं से सेलए अणगारे मंडुयस्स रण्णो एयमट्ठं तह त्ति पडिसुणेइ। तए णं से मंडुए सेलयं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

तए णं से सेलए कल्लं जाव (पाउप्पभायाए रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा) जलंते सभंडमत्तोवगरणमायाय पंथगपामोक्खेहिं पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं सेगलपुर-

मणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव मंडुयस्स जाणसाला तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता फासुयं पीढ (फलग-सेज्जा-संथारयं) जाव (ओगिण्हित्ता) विहरइ।

तत्पश्चात् शैलक अनगार ने मंडुक राजा के इस अर्थ को (विज्ञप्ति को) 'ठीक है' ऐसा कहकर स्वीकार किया और राजा वन्दना-नमस्कार करके जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में लौट गया।

तत्पश्चात् वह शैलक राजर्षि कल (दूसरे दिन) प्रभात होने पर, सूर्योदय हो जाने के पश्चात् सहस्ररश्मि सूर्य के देदीप्यमान होने पर भंडमात्र (पात्र) और उपकरण लेकर पंथक प्रभृति पांच सौ मुनियों के साथ शैलकपुर में प्रविष्ट हुए। प्रवेश करके जहाँ मंडुक राजा की यानशाला थी, उधर आये। आकर प्रासुक पीठ फलक शय्या संस्तारक ग्रहण करके विचरने लगे।

६२—तए णं मंडुए राया चिगिच्छए सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया! सेलयस्स फासुय-एसणिज्जेणं जाव (ओसह-भेसज-भत्त पाणेण) तेगिच्छं आउट्टेह।'

तए णं तेगिच्छया मंडुएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा सेलयस्स रायरिसिस्स अहापवित्तेहिं ओसहभेसज्जभत्तपाणेहिं तेगिच्छं आउट्टेंति। मज्जपाणयं च से उवदिसंति।

तए णं तस्स सेलयस्स अहापवित्तेहिं जाव मज्जपाणेणं रोगायंके उवसंते होत्था, हट्ठे जाव बलियसरीरे (गलियसरीरे) जाए ववगयरोगायंके।

तत्पश्चात् मंडुक राजा ने चिकित्सकों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! तुम शैलक राजर्षि की प्रासुक और एषणीय औषध, भेषज, एवं भोजन-पान से चिकित्सा करो।'

तब चिकित्सक मंडुक राजा के इस प्रकार कहने पर हृष्ट-तुष्ट हुए। उन्होंने साधु के योग्य औषध, भेषज एवं भोजन-पान से चिकित्सा की और मद्यपान करने की सलाह दी।

तत्पश्चात् साधु के योग्य औषध, भेषज, भोजन-पान से तथा मद्यपान करने से शैलक राजर्षि का रोग-आतंक शान्त हो गया। वह हृष्ट-पुष्ट यावत् बलवान् शरीर वाले हो गये। उनके रोगातंक पूरी तरह दूर हो गए।

शैलक की शिथिलता

६३—तए णं से सेलए तंसि रोगायंकंसि उवसंतंसि समाणंसि, तंसि विपुलंसि असण-पाण-खाइम-साइमंसि मज्जपाणए य मुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववन्ने ओसन्ने ओसन्नविहारी एवं पासत्थे पासत्थविहारी, कुसीले कुसीलविहारी, पमत्ते पमत्तविहारी, संसत्ते संसत्तविहारी, उउबद्धपीढ-फलग-सेज्जा-संथारए पमत्ते यावि विहरइ। नो संचाएइ फासुयं एसणिज्जं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारयं पच्चप्पिणित्ता मंडुयं च रायं आपुच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरित्तए।

तत्पश्चात् शैलक राजर्षि उस रोगातंक के उपशान्त हो जाने पर विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम में तथा मद्यपान में मूर्छित, मत्त, गृद्ध और अत्यन्त आसक्त हो गये। वह अवसन्न-आलसी अर्थात् आवश्यक आदि क्रियाएं सम्यक् प्रकार से न करने वाले, अवसन्नविहारी अर्थात् लगातार बहुत दिनों तक आलस्यमय जीवन यापन करने वाले हो गए। इसी प्रकार पार्श्वस्थ (ज्ञान दर्शन चारित्र को एक किनारे रख देने वाले) तथा पार्श्वस्थविहारी अर्थात् बहुत समय तक ज्ञानादि

को एक किनारे रख देने वाले, कुशील अर्थात् काल विनय आदि भेद वाले ज्ञान दर्शन और चारित्र के आचारों के विराधक, वहुत समय तक विराधक होने के कारण कुशीलविहारी, तथा प्रमत्त (पांच प्रकार के प्रमाद से युक्त), प्रमत्तविहारी, संसक्त (कदाचित् संविग्न के गुणों और कदाचित् पार्श्वस्थ के दोषों से युक्त तथा तीन गौरव वाले) तथा संसक्तविहारी हो गए। शेष (वर्षा-ऋतु के सिवाय) काल में भी शय्या-संस्तारक के लिए पीठ-फलक रखने वाले प्रमादी हो गए। वह प्रासुक तथा एषणीय पीठ फलक आदि को वापस देकर और मंडुक राजा से अनुमति लेकर बाहर जनपद-विहार करने में असमर्थ हो गए।

साधुओं द्वारा परित्याग

६४—तए णं तेसिं पंथयवज्जाणं पंचण्हं अणगारसयाणं अन्नया कयाइं एगयओ सहियाणं जाव (समुवागयाणं सण्णिसण्णाणं सन्निविट्ठाणं) पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणाणं अयमेयारूवे अज्झत्थिए (चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे) जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु सेलए रायरिसी चइत्ता रज्जं जाव पव्वइए, विपुलं णं असण-पाण-खाइम-साइमे मज्जपाणए य मुच्छिए, नो संचाएइ जाव[1] विहरित्तए, नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया ! समणाणं जाव (निग्गंथाणं ओसन्नाणं पासत्थाणं कुसीलाणं पमत्ताणं संसत्ताणं उउबद्ध-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारए) पमत्ताणं विहरित्तए। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं कल्लं सेलयं रायरिसिं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारयं पच्चप्पिणित्ता सेलगस्स अणगारस्स पंथयं अणगारं वेयावच्चकरं ठवेत्ता बहिया अब्भुज्जएणं जाव (जणवयविहारेणं) विहरित्तए।' एवं संपेहेंति, संपेहित्ता कल्लं जेणेव सेलए रायरिसी तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता सेलयं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारयं पच्चप्पिणंति, पच्चप्पिणित्ता पंथयं अणगारं वेयावच्चकरं ठावेंति, ठावित्ता बहिया जाव (जणवयविहारं) विहरंति।

तत्पश्चात् पंथक के सिवाय वे पाँच सौ अनगार किसी समय इकट्ठे हुए—मिले, एक साथ बैठे। तब मध्य रात्रि के समय धर्मजागरणा करते हुए उन्हें ऐसा विचार चिन्तन, मानसिक संकल्प उत्पन्न हुआ कि—शैलक राजर्षि राज्य आदि का त्याग करके दीक्षित हुए, किन्तु अब विपुल, अशन, पान, खादिम और स्वादिम में तथा मद्यपान में मूर्छित हो गये हैं। वह जनपद-विहार करने में समर्थ नही है। हे देवानुप्रियो ! श्रमणों को [अवसन्न पार्श्वस्थ, कुशील, प्रमत्त, संसक्त, शेष काल में भी एक स्थानस्थायी तथा] प्रमादी होकर रहना नहीं कल्पता है। अतएव देवानुप्रियो ! हमारे लिए यह श्रेयस्कर है कि कल शैलक राजर्षि से आज्ञा लेकर और पडिहारी पीठ फलग शय्या एवं संस्तारक वापिस सौंप कर, पंथक अनगार को शैलक अनगार का वैयावृत्यकारी स्थापित करके अर्थात् सेवा में नियुक्त करके, बाहर जनपद में अभ्युद्यत अर्थात् उद्यम सहित विचरण करें।' उन मुनियों ने ऐसा विचार किया। विचार करके, कल अर्थात् दूसरे दिन शैलक राजर्षि के समीप जाकर, उनकी आज्ञा लेकर, प्रतिहारी पीठ फलग शय्या संस्तारक वापिस दे दिए। वापिस देकर पंथक अनगार को वैयावृत्यकारी नियुक्त किया—उनकी सेवा में रखा। रखकर बाहर देश-देशान्तर में विचरने लगे।

विवेचन—राजर्षि शैलक शिथिलाचार के केन्द्र बन गए, यह घटना न असंभव है, न विस्मयजनक। चिकित्सकों से साधुधर्म के अनुसार चिकित्सा करने के लिए कहा गया था, फिर भी उनका

१. पंचम अ. ६३

मद्यपान करने का परामर्श अटपटा प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात उनके शिष्यों का विनय-विवेक है। उन्होंने जब विहार करने का निर्णय किया तब भी शैलक ऋषि के प्रति उनके मन में दुर्भावना नहीं है, घृणा नहीं है, विरोध का भाव नहीं है। सम्बन्ध-विच्छेद की कल्पना भी नहीं है। वे शैलक की अनुमति लेकर ही विहार करने का निश्चय करते हैं और एक मुनि—पंथक को उनकी सेवा में छोड़ जाते हैं। इससे संकेत मिलता है कि अपने को उग्राचारी मान कर अभिमान करने और दूसरे को हीनाचारी होने के कारण घृणित समझने की मनोवृत्ति उनमें नहीं थी। वास्तव में साधु का हृदय विशाल और उदार होना चाहिए। इस उदार व्यवहार का सुफल शैलक ऋषि का पुनः अपनी साधु-मर्यादा में लौटने के रूप में हुआ।

६५—तए णं से पंथए सेलयस्स सेज्जा-संथारय-उच्चार-पासवण-खेल-संघाण-मत्त-ओसह-भेसज्ज-भत्त-पाणएणं अगिलाए विणएणं वेयावडियं करेइ।

तए णं से सेलए अन्नया कयाइं कत्तियचाउम्मासियंसि विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं आहारमाहारिए सुबहुं मज्जपाणयं पीए पुव्वावरण्हकालसमयंसि सुहप्पसुत्ते।

तब वह पंथक अनगार शैलक राजर्षि की शय्या, संस्तारक, उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म संघाण (नासिकामल) के पात्र, औषध, भेषज, आहार, पानी आदि से बिना ग्लानि, विनयपूर्वक वैयावृत्य करने लगे।

तत्पश्चात् किसी समय शैलक राजर्षि कार्तिकी चौमासी के दिन विपुल अशन, पान, खादिम, और स्वादिम आहार करके और बहुत अधिक मद्यपान करके सायंकाल के समय आराम से सो रहे थे।

शैलक का कोप

६६—तए णं से पंथए कत्तियचाउम्मासियंसि कयकाउस्सग्गे देवसियं पडिक्कमणं पडिक्कंते चाउम्मासियं पडिक्कमिउंकामे सेलयं रायरिसिं खामणट्ठयाए सीसेणं पाएसु संघट्टेइ।

तए णं से सेलए पंथएणं सीसेणं पाएसु संघट्टिए समाणे आसुरुत्ते जाव (रुट्ठे कुविए चंडिक्किए) मिसमिसेमाणे उट्ठेइ, उट्ठित्ता एवं वयासी—'से केस णं भो! एस अपत्थियपत्थिए जाव (दुरंतपंतलक्खणे हीणपुण्णचाउद्दसिए सिरि-हिरि-धिइ-कित्ति-) परिवज्जिए जे णं ममं सुहपसुत्तं पाएसु संघट्टेइ?'

उस समय पंथक मुनि ने कार्तिक की चौमासी के दिन कायोत्सर्ग करके दैवसिक प्रतिक्रमण करके, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करने की इच्छा से शैलक राजर्षि को खमाने के लिए अपने मस्तक से उनके चरणों को स्पर्श किया।

पंथक के द्वारा मस्तक से चरणों का स्पर्श करने पर शैलक राजर्षि एकदम क्रुद्ध हुए, यावत् [रुष्ट हुए, कुपित हुए, अत्यन्त उग्र हो गए] क्रोध से मिसमिसाने लगे और उठ गये। उठकर बोले—'अरे, कौन है यह अप्रार्थित (मौत) की इच्छा करने वाला, यावत् [अत्यन्त अपलक्षण वाला, काली पापी चतुर्दशी का जन्मा, श्री ह्री (लज्जा) धृति और कीर्त्ति से] सर्वथा शून्य, जिसने सुखपूर्वक सोये हुए मेरे पैरों का स्पर्श किया?

पंथक की क्षमाप्रार्थना

६७—तए णं से पंथए सेलएणं एवं वुत्ते समाणे भीए तत्थे तसिए करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—'अहं णं भंते ! पंथए कयकाउस्सग्गे देवसियं पडिक्कमणं पडिक्कंते, चाउम्मासियं पडिक्कंते चाउम्मासियं खामेमाणे देवाणुप्पियं वंदमाणे सीसेणं पाएसु संघट्टेमि। तं खमंतु णं देवाणुप्पिया ! खमंतु मेऽवराहं, तुमं णं देवाणुप्पिया ! णाइभुज्जो एवं करणयाए' त्ति कट्टु सेलयं अणगारं एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेइ।

शैलक ऋषि के इस प्रकार कहने पर पंथक मुनि भयभीत हो गये, त्रास को और खेद को प्राप्त हुए। दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करके कहने लगे—'भगवन् ! मैं पंथक हूँ। मैंने कायोत्सर्ग करके दैवसिक प्रतिक्रमण किया है और चौमासी प्रतिक्रमण करता हूँ। अतएव चौमासी खामणा देने के लिए आप देवानुप्रिय को वन्दना करते समय, मैंने अपने मस्तक से आपके चरणों का स्पर्श किया है। सो देवानुप्रिय ! क्षमा कीजिए, मेरा अपराध क्षमा कीजिए। देवानुप्रिय ! फिर ऐसा नहीं करूंगा।' इस प्रकार कह कर शैलक अनगार को सम्यक् रूप से, विनयपूर्वक इस अर्थ (अपराध) के लिए वे पुनः पुनः खमाने लगे।

शैलक का पुनर्जागरण

६८—तए णं से सेलयस्स रायरिसिस्स पंथएणं एवं वुत्तस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अहं रज्जं च जाव ओसन्नो जाव उउबद्धपीढ-फलग-सेज्जा-संथारए पमत्ते विहरामि। तं नो खलु कप्पइ समणाणं णिग्गंथाणं पासत्थाणं जाव विहरित्तए। तं सेयं खलु मे कल्लं मंडुयं रायं आपुच्छित्ता पाडिहारियं पीढफलगसेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता पंथएणं अणगारेणं सद्धिं बहिया अब्भुज्जएणं जाव जणवयविहारेणं विहरित्तए।' एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कल्लं जाव विहरइ।

पंथक के द्वारा इस प्रकार कहने पर उन शैलक राजर्षि को इस प्रकार का यह विचार उत्पन्न हुआ—'मैं राज्य आदि का त्याग करके भी यावत् अवसन्न-आलसी आदि हो कर शेष काल में भी पीठ फलक आदि रख कर विचर रहा हूँ—रह रहा हूँ। श्रमण निर्ग्रन्थों को पार्श्वस्थ-शिथिलाचारी होकर रहना नहीं कल्पता। अतएव कल मंडुक राजा से पूछ कर, पडिहारी पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक वापिस देकर, पंथक अनगार के साथ, बाहर अभ्युद्यत (उग्र) विहार से विचरना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।' उन्होंने ऐसा विचार किया। विचार करके दूसरे दिन यावत् उसी प्रकार करके विहार कर दिया।

६९—एवामेव समणाउसो ! जो निग्गंथो वा निग्गंथी वा ओसन्ने जाव संथारए पमत्ते विहरइ, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हीलणिज्जे, संसारो भाणियव्वो।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इसी प्रकार जो साधु या साध्वी आलसी होकर, संस्तारक आदि के विषय में प्रमादी होकर रहता है, वह इसी लोक में बहुत-से श्रमणों, बहुत-सी श्रमणियों, बहुत-से श्रावकों और बहुत-सी श्राविकाओं की हीलना का पात्र होता है। यावत् वह चिरकाल पर्यन्त संसार-भ्रमण करता है। यहाँ संसार-परिभ्रमण का विस्तृत वर्णन पूर्ववत् कह लेना चाहिए।

अनगारों का मिलन

७०—तए णं ते पंथगवज्जा पंच अणगारसया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'सेलए रायरिसी पंथएणं बहिया जाव विहरइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सेलयं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।' एवं संपेहेंति, संपेहित्ता सेलयं रायरिसिं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति।

तत्पश्चात् पंथक को छोड़कर पांच सौ अनगारों (अर्थात् ४९९ मुनियों) ने यह वृत्तान्त जाना। तब उन्होंने एक दूसरे को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'शैलक राजर्षि पंथक मुनि के साथ बाहर यावत उग्र विहार कर रहे हैं तो हे देवानुप्रियो ! अब हमें शैलक राजर्षि के समीप चल कर विचरना उचित है।' उन्होंने ऐसा विचार किया। विचार करके राजर्षि शैलक के निकट जाकर विचरने लगे।

७१—तए णं ते सेलगपामोक्खा पंच अणगारसया बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता जेणेव पोंडरीए पव्वए तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता जहेव थावच्चापुत्ते तहेव सिद्धा।

उपसंहार

तत्पश्चात् शैलक प्रभृति पांच सौ मुनि बहुत वर्षों तक संयम पर्याय पाल कर जहाँ पुंडरीक-शत्रुंजय पर्वत था, वहाँ आये। आकर थावच्चापुत्र की भाँति सिद्ध हुए।

७२—एवामेव समणाउसो ! जो निग्गंथो वा निग्गंथी वा जाव[1] विहरिस्सइ०, एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं पंचमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि ॥

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! जो साधु या साध्वी इस तरह विचरेगा वह इस लोक में बहुसंख्यक साधुओं, साध्वियों, श्रावकों और श्राविकाओं के द्वारा अर्चनीय, वन्दनीय, नमनीय, पूजनीय सत्करणीय और सम्माननीय होगा। कल्याण, मंगल, देव और चैत्य स्वरूप होगा। विनयपूर्वक उपासनीय होगा।

परलोक में उसे हाथ, कान एवं नासिका के छेदन के, हृदय तथा वृषणों के उत्पाटन के एवं फांसी आदि के दुःख नहीं भोगने पड़ेंगे। अनादि अनन्त चातुर्गतिक संसार-कान्तार में उसे परिभ्रमण नहीं करना पड़ेगा। वह सिद्धि प्राप्त करेगा।

हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने पांचवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है। उनके कथनानुसार मैं कहता हूँ।

॥ पंचम अध्ययन समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन : तुम्बक

सार : संक्षेप

छठा अध्ययन स्वत: सार-संक्षेपमय है। उसका सार अथवा संक्षिप्त रूप अलग से लिखने की आवश्यकता नहीं है। तथापि जो शैली अपनाई गई है उसे अक्षुण्ण रखने के लिए किंचित् लिखना आवश्यक है।

प्रस्तुत अध्ययन में जो प्रश्नोत्तर हैं, वे राजगृह नगर में सम्पन्न हुए। राजगृह नगर भगवान् महावीर के विहार का मुख्य स्थल रहा है।

गौतम स्वामी ने जीवों की गुरुता और लघुता के विषय में प्रश्न किया है। व्यवहारनय की दृष्टि से गुरुता अध:पतन का कारण है और लघुता ऊर्ध्वगति का कारण है। किन्तु यहाँ जीव की गुरुता-लघुता का ही विचार किया गया है। भगवान् का उत्तर सोदाहरण है। तूंबे का उदाहरण देकर समझाया गया है। जीव तूंबे के समान है। अष्ट कर्मप्रकृतियां मिट्टी के आठ लेपों के समान हैं। संसार जलाशय के समान है। जैसे मिट्टी के आठ लेपों के कारण भारी हो जाने से तूंबा जलाशय के अध:—तलभाग में चला जाता है और लेप-रहित होकर ऊर्ध्वगति करता है—ऊपर आ जाता है। इसी प्रकार संसारी जीव आठ कर्म-प्रकृतियों से भारी होकर नरक जैसी अधोगति का अतिथि बनता है और जब संवर एवं निर्जरा की उत्कृष्ट साधना करके इन कर्मप्रकृतियों से मुक्त हो जाता है, तब अपने स्वयंसिद्ध ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग पर जाकर प्रतिष्ठित हो जाता है।

'लोयग्गपइट्ठाणा भवंति' इस वाक्यांश द्वारा जैन परम्परा की मान्यता तो द्योतित किया गया है। मोक्ष के विषय में एक मान्यता ऐसी है कि मुक्त जीव अनन्त काल तक, निरन्तर ऊर्ध्वगमन करता ही रहता है, कभी कहीं रुकता नहीं। इस मान्यता का इस वाक्यांश के द्वारा निषेध किया गया है।

एक मान्यता यह भी है कि मुक्त जीव की स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती, एक विराट् सत्ता में उसका विलीनीकरण हो जाता है। मुक्त जीव अपनी पृथक् सत्ता गंवा देता है। इस मान्यता का भी विरोध हो जाता है। मुक्त जीव लोकाग्र पर प्रतिष्ठित रहते हैं, उन की पृथक् सत्ता रहती है, यही मान्यता समीचीन है।

छट्ठं अज्झयणं : तुंबए

उत्क्षेप

१—'जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, छट्ठस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?'

श्री जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया—भगवन् ! यदि श्रमण यावत् सिद्धि को प्राप्त भगवान् महावीर ने पाँचवें ज्ञाताध्ययन का यह अर्थ कहा है (जो आपने फर्माया) तो हे भगवन् ! छठे ज्ञाताध्ययन का यावत् सिद्धि को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है ?

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं नयरे होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए नामं राया होत्था। तस्स णं रायगिहस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसिलए नामं चेइए होत्था।

श्री सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा— जम्बू ! उस काल और उस समय में राजगृहनामक नगर था। उस राजगृह नगर में श्रेणिक नामक राजा था । उस राजगृह नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में—ईशान कोण में गुणशीलनामक चैत्य (उद्यान) था।

राजगृह में भगवान् का आगमन

३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव समोसढे। अहापडिरूवं उग्गहं गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। परिसा निग्गया, सेणिओ वि निग्गओ, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर अनुक्रम से विचरते हुए, यावत् जहाँ राजगृह नगर था और जहाँ गुणशील चैत्य था, वहाँ पधारे । यथायोग्य अवग्रह ग्रहण करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। भगवान् को वन्दना करने के लिए परिषद् निकली। श्रेणिक राजा भी निकला। भगवान् ने धर्मदेशना दी। उसे सुनकर परिषद् वापिस चली गई।

गुरुता-लघुता संबंधी प्रश्न

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई नामं अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते जाव[1] सुक्कज्झाणोवगए विहरइ।

तए णं से इंदभूई नामं अणगारे जायसड्ढे जाव एवं वयासी—कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं वा लहुयत्तं वा हव्वमागच्छंति ?'

---

१. औपपातिक सूत्र ८२

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य इन्द्रभूतिनामक अनगार, श्रमण भगवान् महावीर से न अधिक दूर और न अधिक समीप स्थान पर रहे हुए यावत् निर्मल उत्तम ध्यान में लीन होकर विचर रहे थे।

तत्पश्चात् जिन्हें श्रद्धा उत्पन्न हुई है ऐसे इन्द्रभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से इस प्रकार प्रश्न किया—'भगवन् ! किस प्रकार जीव शीघ्र ही गुरुता अथवा लघुता को प्राप्त होते हैं ?'

भगवान् का समाधान

५—'गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं सुक्कं तुंबं णिच्छिड्डं निरुवहयं दब्भेहिं कुसेहिं वेढेइ, वेढित्ता मट्टियालेवेणं लिंपइ, उण्हे दलयइ, दलइत्ता सुक्कं समाणं दोच्चं पि दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ, वेढित्ता मट्टियालेवेणं लिंपइ, लिंपित्ता उण्हे सुक्कं समाणं तच्चं पि दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ, वेढित्ता मट्टियालेवेणं लिंपइ। एवं खलु एएणुवाएणं अंतरा वेढेमाणे, अंतरा लिंपेमाणे, अंतरा सुक्कवेमाणे जाव अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं आलिंपइ, अत्थाहमतारमपोरिसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा। से णूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्टियालेवेणं गुरुययाए भारिययाए गरुयभारिययाए उप्पिं सलिलमइवइत्ता अहे धरणियलपइट्ठाणे भवइ।

एवामेव गोयमा ! जीवा वि पाणाइवाएणं जाव (मुसावाएणं अदिण्णादाणेणं मेहुणेणं परिग्गहेणं जाव) मिच्छादंसणसल्लेणं अणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ समज्जिणंति। तासिं गरुययाए भारिययाए गरुयभारिययाए कालमासे कालं किच्चा धरणियलमइवइत्ता अहे नरगतलपइट्ठाणा भवंति। एवं खलु गोयमा ! जीवा गरुयत्तं हव्वामागच्छंति।

गौतम ! यथानामक—कुछ भी नाम वाला, कोई पुरुष एक बड़े, सूखे, छिद्ररहित और अखंडित तूंबे को दर्भ (डाभ) से और कुश (दूब) से लपेटे और फिर मिट्टी के लेप से लीपे, फिर धूप में रख दे। सूख जाने पर दूसरी बार दर्भ और कुश से लपेटे और फिर मिट्टी के लेप लींप दे। लींप कर धूप में सूख जाने पर तीसरी बार दर्भ और कुश से लपेटे और लपेट कर मिट्टी का लेप चढ़ा दे। सुखा ले। इसी प्रकार, इसी उपाय से बीच-बीच में दर्भ और कुश से लपेटता जाय, बीच-बीच में लेप चढ़ाता जाय और बीच-बीच में सुखाता जाय, यावत् आठ मिट्टी के लेप उस तूंबे पर चढ़ावे। फिर उसे अथाह, जिसे तिरा न जा सके और अपौरुषिक (जिसे पुरुष की ऊँचाई से नापा न जा सके) जल में डाल दिया जाय। तो निश्चय ही हे गौतम ! वह तूंबा मिट्टी के आठ लेपों के कारण गुरुता को प्राप्त होकर, भारी होकर तथा गुरु एवं भारी होकर ऊपर रहे हुए जल को पार करके नीचे धरती के तल भाग में स्थित हो जाता है।

इसी प्रकार हे गौतम ! जीव भी प्राणातिपात से मृषावाद से, अदत्तादान से, मैथुन और परिग्रह से यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से अर्थात् अठारह पापस्थानकों के सेवन से क्रमशः आठ कर्म-प्रकृतियों का उपार्जन करते हैं। उन कर्मप्रकृतियों की गुरुता के कारण, भारीपन के कारण और गुरुता के भार के कारण, मृत्यु के समय मृत्यु को प्राप्त होकर, इस पृथ्वी-तल को लांघ कर नीचे नरक-तल में स्थित होते हैं। इस प्रकार गौतम ! जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते हैं।

६—अह णं गोयमा ! से तुंबे तंसि पढमिल्लुगंसि मट्टियालेवंसि तित्तंसि कुहियंसि परिसडियंसि ईसिं धरणियलाओ उप्पइत्ता णं चिट्ठइ। तयाणंतरं च णं दोच्चं पि मट्टियालेवे जाव (तित्ते कुहिए परिसडिए ईसिं धरणियलाओ) उप्पइत्ता णं चिट्ठइ। एवं खलु एएणं उवाएणं तेसु अट्ठसु मट्टियालेवेसु तित्तेसु जाव विमुक्कबंधणे अहे धरणियलमइवइत्ता उप्पिं सलिलतलपइट्ठाणे भवइ।

अब हे गौतम ! उस तूंबे का पहला (ऊपर का) मिट्टी का लेप गीला हो जाय, गल जाय और परिशटित (नष्ट) हो जाय तो वह तूंबा पृथ्वीतल से कुछ ऊपर आकर ठहरता है। तदनन्तर दूसरा मृत्तिकालेप गीला हो जाय, गल जाय, और हट जाय तो तूंबा कुछ और ऊपर आ जाता है। इस प्रकार, इस उपाय से उन आठों मृत्तिकालेपों के गीले हो जाने पर यावत् हट जाने पर तूंबा निर्लेप, बंधनमुक्त होकर धरणीतल से ऊपर जल की सतह पर आकर स्थित हो जाता है।

७—एवामेव गोयमा ! जीवा पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसण-सल्लवेरमणेणं अणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता उप्पिं लोयग्गपइट्ठाणा भवंति। एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति।

इसी प्रकार, हे गौतम ! प्राणातिविरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविरमण से अर्थात् अठारह पापों के त्याग से जीव क्रमशः आठ कर्मप्रकृतियों का क्षय करके ऊपर आकाशतल की ओर उड़ कर लोकाग्र भाग में स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार हे गौतम ! जीव शीघ्र लघुत्व को प्राप्त करते हैं।

उपसंहार

८—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं छट्ठस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते। त्ति बेमि।

श्री सुधर्मा स्वामी अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं—इस प्रकार हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने छठे ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है। वही मैं तुमसे कहता हूँ।

॥ छठा अध्ययन समाप्त ॥

सप्तम अध्ययन : रोहिणीज्ञात

सार: संक्षेप

राजगृह नगर में सार्थवाह धन्य के चार पुत्र थे—धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। चारों विवाहित हो चुके थे। उनकी पत्नियों के नाम अनुक्रम से इस प्रकार थे-उज्झिता या उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी।

धन्य सार्थवाह बहुत दूरदर्शी थे—भविष्य का विचार करने वाले। उनकी उम्र जब परिपक्व हो गई तब एक बार वे विचार करने लगे—मैं वृद्धावस्था से ग्रस्त हो गया हूं। मेरे पश्चात् कुटुम्ब की सुव्यवस्था कैसे कायम रहेगी? मुझे अपने जीवन-काल में ही इसकी व्यवस्था कर देनी चाहिए। इस प्रकार विचार कर धन्य ने मन ही मन एक योजना निश्चित कर ली।

योजना के अनुसार उन्होंने एक दिन अपने ज्ञातिजनों, संबंधियों, मित्रों आदि को आमंत्रित किया। भोजनादि से सब का सत्कार-सन्मान किया और तत्पश्चात् अपनी चारों पुत्रवधुओं को सब के समक्ष बुलाकर चावलों के पांच-पांच दाने देकर कहा—'मेरे मांगने पर ये पांच दाने वापिस सौंपना।'

पहली पुत्रवधू उज्झिता ने विचार किया-बुढ़ापे में श्वसुरजी की मति मारी गई जान पड़ती है। इतना बड़ा समारोह करके यह तुच्छ भेट देने की उन्हें सूझी! इस पर तुर्रा यह कि मांगने पर वापिस लौटा देने होंगे! कोठार में चावलों के दानों का ढेर लगा है। मांगने पर उनमें से दे दूंगी।' ऐसा विचार करके उसने वे दाने कचरे में फेंक दिए।

दूसरी पुत्रवधू ने सोचा—'भले ही इन दानों का कुछ मूल्य न हो तथापि श्वसुरजी का यह प्रसाद है। फेंक देना उचित नहीं।' इस प्रकार विचार करके उसने वे दाने खा लिये।

तीसरी ने विचार किया—'अत्यन्त व्यवहारकुशल, अनुभवी और समृद्धिशाली वृद्ध श्वसुर ने, इतने बड़े समारोह में ये दाने दिए हैं। इसमें उनका कोई विशिष्ट अभिप्राय होना चाहिए। अतएव इन दानों की सुरक्षा करना, इन्हें जतन से संभाल रखना चाहिए।'

इस प्रकार सोच कर उसने उन्हें एक डिबिया में रख लिया और सदा उनकी सार-संभाल रखने लगी।

चौथी पुत्रवधू रोहिणी बहुत बुद्धिमती थी। वह समझ गई कि दाने देने में कोई गूढ़ रहस्य निहित है। यह दाने परीक्षा की कसौटी बन सकते हैं।

उसने पांचों दाने अपने मायके (पितृगृह-पीहर) भेज दिए। उसकी सूचनानुसार मायके वालों ने उन्हें खेत में अलग बो दिया। प्रतिवर्ष वारंवार बोने से दाने बहुत हो गए-कोठार भर गया।

इस घटना को पांच वर्ष व्यतीत हो गए। तब धन्य सार्थवाह ने पुनः पूर्ववत् समारोह आयोजित किया। जिन्हें पहले निमंत्रित किया था उन सब को पुनः निमंत्रित किया। सब का भोजन-

पान, गंध-माला आदि से सत्कार किया। तत्पश्चात् पहले की ही भांति पुत्रवधुओं को सब के समक्ष बुला कर पांच-पांच दाने, जो पहले दिए थे, वापिस मांगे।

पहली पुत्रवधू ने कोठार में से लाकर पांच दाने दे दिए। धन्य सार्थवाह ने जब पूछा कि क्या ये वही दाने हैं या दूसरे ? तो उसने सत्य वृत्तान्त कह दिया। सुन कर सेठ ने कुपित होकर उसे घर में झाड़ने-बुहारने आदि का काम सौंपा। कहा-तुम इसी योग्य हो।

दूसरी पुत्रवधू ने कहा—'आपका दिया प्रसाद समझ कर मैं उन दानों को खा गई हूँ।' सार्थवाह ने उसके स्वभाव का अनुमान करके उसे भोजनशाला संबंधी कार्य सौंपा।

तीसरी पुत्रवधू ने पाँचों दाने सुरक्षित रक्खे थे, अतएव उसे कोषाध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया।

चौथी पुत्रवधू ने कहा—पिताजी, वे पांच दाने गाड़ियों के बिना नहीं आ सकते। उन्हें लाने को कई गाड़ियां चाहिए !

जब धन्य सार्थवाह ने स्पष्टीकरण मांगा तो उसने सारा ब्यौरा सुना दिया। गाड़ियां भेजी गईं। दानों का ढेर आ गया। धन्य यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सब के समक्ष रोहिणी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसे गृहस्वामिनी के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया। कहा-'तू प्रशंसनीय है बेटी'! तेरे प्रताप से यह परिवार सुखी और समृद्धिशाली रहेगा।'

शास्त्रकार इस उदाहरण को धर्म-शिक्षा के रूप में इस प्रकार घटित करते हैं—

जो व्रती व्रत ग्रहण करके उन्हें त्याग देते हैं, वे पहली पुत्रवधू उज्झिता के समान इह-परभव में दुखी होते हैं। सब की अवहेलना के भाजन बनते हैं।

जो साधु पांच महाव्रतों को ग्रहण करके सांसारिक भोग-उपभोग भोगने के लिए उनका उपयोग करते हैं, वे भी निंदा के पात्र बन कर भवभ्रमण करते हैं।

जो साधु तीसरी पुत्रवधू रक्षिका के सदृश अंगीकृत पाँच महाव्रतों की भलीभांति रक्षा करते हैं, वे प्रशंसा-पात्र होते हैं और उनका भविष्य मंगलमय होता है।

जो साधु रोहिणी के समान स्वीकृत संयम की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हैं, निर्मल और निर्मलतर पालन करके संयम का विकास करते हैं, वे परमानन्द के भागी होते हैं।

यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार धर्मशिक्षा के रूप में किया गया है और धर्मशास्त्र का उद्देश्य मुख्यत: धर्मशिक्षा देना ही होता है, तथापि उसे समझाने के लिए जिस कथानक की योजना की गई है वह गार्हस्थिक—पारिवारिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'योग्यं योग्येन योजयेत्' यह छोटी-सी उक्ति अपने भीतर विशाल अर्थ समाये हुए है। प्रत्येक व्यक्ति में योग्यता होती है किन्तु उस योग्यता का सुपरिणाम तभी मिलता है जब उसे अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य में नियुक्त किया जाए। मूलभूत योग्यता से प्रतिकूल कार्य में जोड़ देने पर योग्य से योग्य व्यक्ति भी अयोग्य सिद्ध होता है। उच्चतम कोटि का प्रखरमति विद्वान् बढ़ई-सुथार के कार्य में अयोग्यतम बन जाता है।

मगर 'योजकस्तत्र दुर्लभः' अर्थात् योग्यतानुकूल योजना करने वाला कोई विरला ही होता है। धन्य सार्थवाह उन्हीं विरल योजकों में से एक था। अपने परिवार की सुव्यवस्था करने के लिए उसने जिस सूझ-बूझ से काम लिया वह सभी के लिए मार्गदर्शक है। सभी इस उदाहरण से लौकिक और लोकोत्तर कार्यों को सफलता के साथ सम्पन्न कर सकते हैं।

उदाहरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में संयुक्त परिवार की प्रथा थी। वह अनेक दृष्टियों से उपयोगी और सराहनीय थी। उससे आत्मीयता की परिधि विस्तृत बनती थी और सहनशीलता आदि सद्‌गुणों के विकास के अवसर सुलभ होते थे। आज यद्यपि शासन-नीति, विदेशी प्रभाव एवं तज्जन्य संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण परिवार विभक्त होते जा रहे हैं, तथापि इस प्रकार के उदाहरणों से हम बहुत लाभ उठा सकते हैं।

चारों पुत्रवधुओं ने विना किसी प्रतिवाद के मौन भाव से अपने श्वसुर के निर्णय को स्वीकार कर लिया। वे भले मौन रहीं, पर उनका मौन ही मुखरित होकर पुकार पुकार कर, हमारे समक्ष अनेकानेक स्पृहणीय संदेश—सदुपदेश सुना रहा है।

सत्तमं अज्झयणं : रोहिणीणाए

उत्क्षेप

१—जइ णं भंते ! समणणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तमस्स णं भंते ! नायज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

धन्य सार्थवाह

श्री जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया—'भगवन् ! यदि यावत् निर्वाणप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने छठे ज्ञात-अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा है तो भगवन् ! सातवें ज्ञात-अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए नामं राया होत्था। तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए सुभूमिभागे उज्जाणे होत्था।

तत्थ णं रायगिहे नयरे धण्णे नामं सत्थवाहे परिवसइ अड्ढे जाव[1] अपरिभूए। तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स भद्दा नामं भारिया होत्था, अहीणपंचिंदियसरीरा जाव[2] सुरूवा।

श्री सुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—जम्बू ! उस काल और उस समय में राजगृहनामक नगर था। उस राजगृह नगर में श्रेणिक राजा था। राजगृह नगर के बाहर उत्तर पूर्वदिशा-ईशान कोण में सुभूमिभाग उद्यान था।

उस राजगृह नगर में धन्य नामक सार्थवाह निवास करता था, वह समृद्धिशाली था, [उसके यहाँ बहुत शय्या, आसन, भवन, यान, वाहन थे, दास, दासियाँ, गायें, भैंसे थीं, सोना-चाँदी, धन था।] वह किसी से पराभूत होने वाला नहीं था। उस धन्य सार्थवाह की भद्रानामक भार्या थी। उसकी पाँचों इन्द्रियाँ और शरीर के अवयव परिपूर्ण थे, यावत् [उसकी चाल हास्य, भाषण सुसंगत था, मर्यादानुकूल था। उसे देखकर प्रसन्नता होती थी, अभिरूप एवं प्रतिरूप थी। वह सुन्दर रूप वाली थी।

३—तस्स णं धन्नस्स सत्थवाहस्स पुत्ता भद्दाए भारियाए अत्तया चत्तारि सत्थवाहदारया होत्था, तंजहा—धणपाले, धणदेवे, धणगोवे, धणरक्खिए।

तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स चउण्हं पुत्ताणं भारियाओ चत्तारि सुण्हाओ होत्था, तंजहा—उज्झिया, भोगवइया, रक्खिया, रोहिणिया।

उस धन्य सार्थवाह के पुत्र और भद्रा भार्या के आत्मज (उदरजात) चार सार्थवाह-पुत्र थे। उनके नाम इस प्रकार थे—धनपाल, धनदेव, धनगोप, धनरक्षित।

---

१. द्वि. अ. ६ २. द्वि. अ. ६

उस धन्य सार्थवाह के चार पुत्रों की चार भार्याएँ—सार्थवाह की पुत्रवधुएँ थीं। उनके नाम इस प्रकार हैं—उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी।

परिवारचिन्ता : परीक्षा का विचार

४—तए णं तस्स सत्थवाहस्स अन्नया कयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अहं रायगिहे णयरे बहूणं राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहपभिईणं सयस्स य कुडुंबस्स बहुसु कज्जेसु य; करणिज्जेसु य, कुडुंबेसु य, मंतणेसु य, गुज्झेसु य, रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे, पडिपुच्छणिज्जे, मेढी, पमाणे, आहारे, आलंबणे, चक्खू, मेढीभूए, पमाणभूए आहारभूए आलंबणभूए चक्खूभूए सव्वकज्ज-वट्टावए। तं ण णज्जइ जं मए गयंसि वा, चुयंसि वा, मयंसि वा, भग्गंसि वा, लुग्गंसि वा, सडियंसि वा, पडियंसि वा, विदेसत्थंसि वा, विप्पवसियंसि वा, इमस्स कुडुंबस्स किं मन्ने आहारे वा आलंबे वा पडिबंधे वा भविस्सइ ?

तं सेयं खलु मम कल्लं जाव जलंते विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परियणं चउण्हं सुण्हाणं कुलघरवग्गं आमंतेत्ता तं मित्तणाइणियगसयण-संबंधि-परियणं चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गं विपुलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं धूवपुप्फवत्थगंध-(मल्लालंकारेण य) जाव सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता तस्सेव मित्तणाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणस्स चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स पुरओ चउण्हं सुण्हाणं परिक्खणट्ठयाए पंच पंच सालिअक्खए दलइत्ता जाणामि ताव का किहं वा सारक्खेइ वा, संगोवेइ वा, संवड्ढेइ वा ?

धन्य सार्थवाह को किसी समय मध्य रात्रि में इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—'इस प्रकार निश्चय ही मैं राजगृह नगर में राजा, ईश्वर, तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह आदि-आदि के और अपने कुटुम्ब के भी अनेक कार्यों में, करणीयों में, कुटुम्ब सम्बन्धी कार्यों में, मन्त्रणाओं में, गुप्त बातों में, रहस्यमय बातों में, निश्चय करने में, व्यवहारों (व्यापार) में, पूछने योग्य, बारम्बार पूछने योग्य, मेढी के समान, प्रमाणभूत, आधार, आलम्बन, चक्षु के समान पथदर्शक, मेढीभूत और सब कार्यों की प्रवृत्ति कराने वाला हूँ। अर्थात् राजा आदि सभी श्रेणियों के लोग सब प्रकार के कार्यों में मुझसे सलाह लेते हैं, मैं सब का विश्वासभाजन हूँ। परन्तु न जाने मेरे कहीं दूसरी जगह चले जाने पर, किसी अनाचार के कारण अपने स्थान से च्युत हो जाने पर, मर जाने पर, भग्न हो जाने पर अर्थात् वायु आदि के कारण लूला-लंगड़ा कुबड़ा होकर असमर्थ हो जाने पर, रुग्ण हो जाने पर, किसी रोग विशेष से विशीर्ण हो जाने पर, प्रासाद आदि से गिर जाने पर या बीमारी से खाट में पड़ जाने पर, परदेश में जाकर रहने पर अथवा घर से निकल कर विदेश जाने के लिए प्रवृत्त होने पर; मेरे कुटुम्ब का पृथ्वी की तरह आधार, रस्सी के समान अवलम्बन और बुहारू की सलाइयों के समान प्रतिबन्ध करने वाला—सब में एकता रखने वाला कौन होगा ?

अतएव मेरे लिए यह उचित होगा कि कल यावत् सूर्योदय होने पर विपुल, अशन, पान, खादिम और स्वादिम—यह चार प्रकार का आहार तैयार करवा कर मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी, परिजनों आदि को तथा चारों वधुओं के कुलगृह (मैके-पीहर) के समुदाय को आमंत्रित

करके और उन मित्र ज्ञाति निजक स्वजन आदि तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह-वर्ग का अशन, पान, खादिम, स्वादिम से तथा धूप, पुष्प, वस्त्र, गंध, माला, अलंकार आदि से सत्कार करके, सन्मान करके, उन्हीं मित्र ज्ञाति आदि के समक्ष तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह वर्ग (मैके के सभी लोगों) के समक्ष, पुत्रवधुओं की परीक्षा करने के लिए पाँच-पाँच शालि—अक्षत (चावल के दाने) दूँ। इससे जान सकूंगा कि कौन पुत्रवधू किस प्रकार उनकी रक्षा करती है, सार-सम्भाल रखती है या बढ़ाती है ?

वधू-परीक्षा

५—एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कल्लं जाव[1] मित्त-णाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं चउण्हं सुण्हाणं कुलवरवग्गं आमंतेइ, आमंतित्ता विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ।

धन्य सार्थवाह ने इस प्रकार विचार करके दूसरे दिन मित्र, ज्ञाति निजक, स्वजन, संबंधी जनों तथा परिजनों को तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह वर्ग को आमंत्रित किया। आमंत्रित करके विपुल, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तैयार करवाया।

६—तओ पच्छा ण्हाए भोयणमंडवंसि सुहासणवरगए मित्त-णाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणेणं चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गेणं सद्धि तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसादेमाणे जाव सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता तस्सेव मित्त-णाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणस्स चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स पुरओ पंच सालिअक्खए गेण्हइ, गेण्हित्ता जेट्ठं सुण्हं उज्झिइयं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुमं णं पुत्ता ! मम हत्थाओ इमे पंच सालिअक्खए गेण्हाहि, गेण्हित्ता अणुपुव्वेणं सारक्खेमाणी संगोवेमाणी विहराहि। जया णं अहं पुत्ता ! तुमं इमे पंच सालिअक्खए जाएज्जा, तया णं तुमं मम इमे पंच सालिअक्खए पडिनिज्जाएज्जासि' त्ति कट्टु सुण्हाए हत्थे दलयइ, दलइत्ता पडिविसज्जेइ।

उसके बाद धन्य सार्थवाह ने स्नान किया। वह भोजन-मंडप में उत्तम सुखासन पर बैठा। फिर मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी एवं परिजनों आदि के तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह वर्ग के साथ उस विपुल, अशन, पान, खादिम और स्वादिम का भोजन करके, यावत् उन सबका सत्कार किया, सम्मान किया, सत्कार-सम्मान करके उन्हीं मित्रों, ज्ञातिजनों आदि के तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह वर्ग के सामने पाँच चावल के दाने लिए। लेकर जेठी पुलवधू उज्झिका को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे पुत्री ! तुम मेरे हाथ से यह पाँच चावल के दाने लो। इन्हें लेकर अनुक्रम से इनका संरक्षण और संगोपन करती रहना। हे पुत्री ! जब मैं तुम से यह पाँच चावल के दाने मांगूं, तब तुम यही पाँच चावल के दाने मुझे वापिस लौटाना।' इस प्रकार कह कर पुत्रवधू उज्झिका के हाथ में वह दाने दे दिए। देकर उसे विदा किया।

७—तए णं सा उज्झिया धण्णस्स तह त्ति एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता धण्णस्स सत्थवाहस्स हत्थाओ ते पंच सालिअक्खए गेण्हइ, गेण्हित्ता एगंतमवक्कमइ, एगंतमवक्कमियाए इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव (चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे) समुप्पज्जेत्थाः—एवं खलु तायाणं कोट्ठागारंसि

---

१. अ. अ. २८

बहवे पल्ला सालीणं पडिपुण्णा चिट्ठंति, तं जया णं ममं ताश्रो इमे पंच सालिश्रक्खए जाएस्सइ, तया णं श्रहं पल्लंतराश्रो श्रन्ने पंच-सालिश्रक्खए गहाय दाहामि' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ते पंच सालि-श्रक्खए एगंते एडेइ, एडित्ता सकम्मसंजुत्ता जाया यावि होत्था।

तत्पश्चात् उस उज्झिका ने धन्य सार्थवाह के इस अर्थ-आदेश को 'तहत्ति—बहुत अच्छा' इस प्रकार कहकर अंगीकार किया। अंगीकार करके धन्य सार्थवाह के हाथ से पाँच शालि-अक्षत (चावल के दाने) ग्रहण किये। ग्रहण करके एकान्त में गई। वहाँ जाकर उसे इस प्रकार का विचार, चिन्तन, प्रार्थित एवं मानसिक संकल्प उत्पन्न हुआ—'निश्चय ही पिता (श्वसुर) के कोठार में शालि से भरे हुए बहुत से पल्य (पाला) विद्यमान हैं। सो जब पिता मुझसे यह पाँच शालि-अक्षत मांगेंगे, तब मैं किसी पल्य से दूसरे शालि-अक्षत लेकर दे दूंगी।' उसने ऐसा विचार किया। विचार करके उन पाँच चावल के दानों को एकान्त में डाल दिया और डाल कर अपने काम में लग गई।

८—एवं भोगवइयाए वि, णवरं सा छोल्लेइ, छोल्लित्ता अणुगिलइ, अणुगिलित्ता सकम्म-संजुत्ता जाया। एवं रक्खिया वि, णवरं गेण्हइ, गेण्हित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—एवं खलु ममं ताओ इमस्स मित्तनाइ० चउण्हं सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स य पुरओ सद्दावेत्ता एवं वयासी—तुमं णं पुत्ता! मम हत्थाओ जाव पडिनिज्जाएज्जासि' त्ति कट्टु मम हत्थंसि पंच सालिअक्खए दलयइ, तं भवियव्वमेत्थ कारणेणं ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ते पंच सालिअक्खए सुद्धे वत्थे बंधइ, बंधित्ता रयणकरंडियाए पक्खिवेइ, पक्खिवित्ता उसीसामूले ठावेइ, ठावित्ता तिसंझं पडि-जागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ।

इसी प्रकार दूसरी पुत्रवधू भोगवती को भी बुलाकर पाँच दाने दिये, इत्यादि। विशेष यह है कि उसने वह दाने छीले और छील कर निगल गई। निगल कर अपने काम में लग गई।

इसी प्रकार तीसरी रक्षिका के सम्बन्ध में जानना चाहिए। विशेषता यह है कि—उसने वह दाने लिए। लेने पर उसे यह विचार उत्पन्न हुआ कि—मेरे पिता (श्वसुर) ने मित्र ज्ञाति आदि के तथा चारों बहुओं के कुलगृह वर्ग के सामने मुझे बुलाकर यह कहा है कि—'पुत्री! तुम मेरे हाथ से यह पाँच दाने लो, यावत् जब मैं मांगू तो लौटा देना। यह कह कर मेरे हाथ में पाँच दाने दिए हैं। तो इसमें कोई कारण होना चाहिए।' उसने इस प्रकार विचार किया। विचार करके वे चावल के पाँच दाने शुद्ध वस्त्र में बांधे। बांध कर रत्नों की डिबियों में रख लिए रख कर सिरहाने के नीचे स्थापित किए। स्थापित करके प्रातः मध्याह्न और सायंकाल—इन तीनों संध्याओं के समय उनकी सार-सम्भाल करती हुई रहने लगी।

९—तए णं से धण्णे सत्थवाहे तस्सेव मित्त० जाव चउत्थिं रोहिणीयं सुण्हं सद्दावेइ। सद्दावेत्ता जाव[2] 'तं भवियव्वं एत्थ कारणेणं, तं सेयं खलु मम एए पंच सालिअक्खए सारक्खमाणीए संगोवेमाणीए संवड्ढेमाणीए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कुलघरपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने उन्हीं मित्रों आदि के समक्ष चौथी पुत्रवधू रोहिणी को बुलाया।

१. सप्तम अ. ४ २. सप्तम अ.८

'तुब्भे णं देवाणुप्पिया! एए पंच सालिअक्खए गेण्हह, गेण्हित्ता पढमपाउसंसि महावुट्ठिकायंसि निवइयंसि समाणंसि खुड्डागं केयारं सुपरिकम्मियं करेह। करित्ता इमे पंच सालिअक्खए वावेह, वावेत्ता दोच्चं पि तच्चंपि उक्खयनिक्खए करेह, करेत्ता वाडिपक्खेवं करेह, करित्ता सारक्खेमाणा संगोवेमाणा अणुपुव्वेणं संवड्ढेह।'

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने उन्हीं मित्रों आदि के समक्ष चौथी पुत्रवधू रोहिणी को बुलाया। बुलाकर उसे भी वैसा ही कहकर पांच दाने दिये। यावत् उसने सोचा—'इस प्रकार पांच दाने देने में कोई कारण होना चाहिए। अतएव मेरे लिए उचित है कि इन पांच चावल के दानों का संरक्षण करूँ, संगोपन करूँ और इनको वृद्धि करूँ।' उसने ऐसा विचार किया। विचार करके अपने कुलगृह (मैके-पीहर) के पुरुषों को बुलाया और बुलाकर इस प्रकार कहा—

'देवानुप्रियो! तुम इन पांच शालि-अक्षतों को ग्रहण करो। ग्रहण करके पहली वर्षा ऋतु में अर्थात् वर्षा के आरम्भ में जब खूब वर्षा हो तब एक छोटी-सी क्यारी को अच्छी तरह साफ करना। साफ करके ये पांच दाने बो देना। बोकर दो-तीन बार उत्क्षेप-निक्षेप करना अर्थात् एक जगह से उखाड़ कर दूसरी जगह रोपना। फिर क्यारी के चारों ओर बाड़ लगाना। इनकी रक्षा और संगोपना करते हुए अनुक्रम से इन्हें बढ़ाना।

१०—तए णं ते कोडुंबिया रोहिणीए एयमट्ठं पडिसुर्णेति, पडिसुणित्ता ते पंच सालि-अक्खए गेण्हंति, गेण्हित्ता अणुपुव्वेणं संरक्खंति, संगोवंति विहरंति।

तए णं ते कोडुंबिया पढमपाउसंसि महावुट्ठिकायंसि णिवइयंसि समाणंसि खुड्डायं केयारं सुपरिकम्मियं करेंति, करित्ता ते पंच सालिअक्खए ववंति, ववित्ता दोच्चं पि तच्चं पि उक्खयनिक्खए करेंति, करित्ता वाडिपरिक्खेवं करेंति, करित्ता अणुपुव्वेणं सारक्खेमाणा संगोवेमाणा संवड्ढेमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने रोहिणी के आदेश को स्वीकार किया। स्वीकार करके उन चावल के पांच दानों को ग्रहण किया। ग्रहण करके अनुक्रम से उनका संरक्षण, संगोपन करते हुए रहने लगे।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में महावृष्टि पड़ने पर छोटीसी क्यारी साफ की। पांच चावल के दाने बोये। बोकर दूसरी और तीसरी बार उनका उत्क्षेप-निक्षेप किया, करके बाड़ का परिक्षेप किया—बाड़ लगाई। फिर अनुक्रम से संरक्षण, संगोपन और संवर्धन करते हुए विचरने लगे।

११—तए णं ते सालि-अक्खए अणुपुव्वेणं सारक्खिज्जमाणा संगोविज्जमाणा संवड्ढिज्जमाणा साली जाया, किण्हा किण्होभासा जाव[1] निउरंबभूया पासादीया दंसणीया अभिरूवा पडिरूवा।

तए णं ते साली पत्तिया वत्तिया (तइया) गब्भिया पसूया आगयगंधा खीराइया बद्धफला पक्का परियागया सल्लइया पत्तइया हरियपव्वकंडा जाया यावि होत्था।

---

१. द्वि. अ. ५

तत्पश्चात् संरक्षित, संगोपित और संवर्धित किए जाते हुए वे शालि-अक्षत अनुक्रम से शालि (के पौधे) हो गये। वे श्याम कान्ति वाले यावत् निकुरंबभूत—समूह रूप होकर प्रसन्नता प्रदान करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हो गये।

तत्पश्चात् उन शालि पौधों में पत्ते आ गये, वे वर्त्तित-गोल हो गये, छाल वाले हो गये, गर्भित हो गये—डौंड़ी लग गई, प्रसूत हुए—पत्तों के भीतर से दाने बाहर आ गये, सुगन्ध वाले हुए, बद्धफल—बंधे हुए फल वाले हुए, पक गए, तैयार हो गये, शल्यकित हुए—पत्ते सूख जाने के कारण सलाई जैसे हो गए, पत्रकित हुए—विरले पत्ते रह गए और हरितपर्वकाण्ड—नीली नाल वाले हो गए। इस प्रकार वे शालि उत्पन्न हुए।

१२—तए णं ते कोडुंबिया ते सालीए पत्तिए जाव सल्लइए पत्तइए जाणित्ता तिक्खेहिं णवपज्जणएहिं असियएहिं लुणेंति। लुणित्ता करयलमलिए करेंति, करित्ता पुणंति, तत्थ णं चोक्खाणं सूयाणं अखंडाणं अफोडियाणं छड्डछड्डापूयाणं सालीणं मागहए पत्थए जाए।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने वह शालि पत्र वाले यावत् शलाका वाले तथा विरल पत्र वाले जान कर तीखे और पजाये हुए (जिन पर नयी धार चढ़वाई हो ऐसे) हँसियों (दात्रों) से काटे, काटकर उनका हथेलियों से मर्दन किया। मर्दन करके साफ किया। इससे वे चोखे-निर्मल, शुचि-पवित्र, अखंड और अस्फुटित-बिना टूटे-फूटे और सूप से झटक-झटक कर साफ किये हुए हो गए। वे मगध देश में प्रसिद्ध एक प्रस्थक प्रमाण हो गये।

विवेचन—दो असई की एक पसई, दो पसई की एक सेतिका, चार सेतिका का एक कुड़व और चार कुड़व का एक प्रस्थक होता है। यह मगध देश का तत्कालीन माप है।

१३—तए णं ते कोडुंबिया ते साली नवएसु घडएसु पक्खिवंति, पक्खिवित्ता उवलिंपंति, उवलिंपित्ता लंछियमुद्दिए करेंति, करित्ता कोट्ठागारस्स एगदेसंसि ठावेंति, ठावित्ता सारक्खेमाणा संगोवेमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् कौटुम्बिक पुरुषों ने उन प्रस्थ-प्रमाण शालि-अक्षतों को नवीन घड़े में भरा। भर कर उसके मुख पर मिट्टी का लेप कर दिया। लेप करके उसे लांछित-मुद्रित किया—उस पर सील लगा दी। फिर उसे कोठार के एक भाग में रख दिया। रख कर उसका रक्षण और संगोपन करने लगे।

१४—तए णं ते कोडुंबिया दोच्चम्मि वासारत्तंसि पढमपाउसंसि महावुट्ठिकायंसि निवइयंसि खुड्डागं केयारं सुपरिकम्मियं करेंति, करित्ता ते साली ववंति, दोच्चं पि तच्चं पि उक्खयनिक्खए जाव लुणेंति जाव चलणतलमलिए करेंति, करित्ता पुणंति, तत्थ णं सालीणं बहवे कुडए जाए। जाव एगदेसंसि ठावेंति, ठावित्ता सारक्खेमाणा संगोवेमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने दूसरी वर्षा ऋतु में वर्षाकाल के प्रारंभ में महावृष्टि पड़ने पर एक छोटी क्यारी को साफ किया। साफ करके वे शालि बो दिये। दूसरी बार और तीसरी बार उनका उत्क्षेप-निक्षेप किया, यावत् लुनाई की-उन्हें काटा। यावत् पैरों के तलुवों से उनका

मर्दन किया, उन्हें साफ किया। अब शालि के बहुत-से कुड़व हो गए। यावत् उन्हें कोठार के एक भाग में रख दिया। कोठार में रख कर उनका संरक्षण और संगोपन करते हुए विचरने लगे।

१५—तए णं ते कोडुंबिया तच्चंसि वासारत्तंसि महावुट्ठिकायंसि बहवे केयारे सुपरिकम्मिए करेंति, जाव लुणेंति, लुणित्ता संवहंति, संवहित्ता खलयं करेंति, करित्ता मलेंति, जाव बहवे कुंभा जाया।

तए णं ते कोडुंबिया साली कोट्ठागारंसि पक्खिवंति, जाव विहरंति। चउत्थे वासारत्ते बहवे कुंभसया जाया।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने तीसरी वार वर्षाऋतु में, महावृष्टि होने पर बहुत-सी क्यारियाँ अच्छी तरह साफ कीं। यावत् उन्हें बोकर काट लिया। काटकर भारा बांध कर वहन किया। वहन करके खलिहान में रक्खा। उनका मर्दन किया। यावत् अब वे बहुत-से कुम्भ प्रमाण शालि हो गये।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने वह शालि कोठार में रखे, यावत् उनकी रक्षा करने लगे। चौथी वर्षा ऋतु में इसी प्रकार करने से सैकड़ों कुम्भ प्रमाण शालि हो गए।

परीक्षापरिणाम

१६—तए णं तस्स धण्णस्स पंचमयंसि संवच्छरंसि परिणममाणंसि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था :—एवं खलु मम इओ अईए पंचमे संवच्छरे चउण्हं सुण्हाणं परिक्खणट्ठयाए ते पंच सालिअक्खया हत्थे दिन्ना, तं सेयं खलु मम कल्लं जाव जलंते पंच सालिअक्खए परिजाइत्तए। जाव जाणामि ताव काए किहं सारक्खिया वा संगोविया वा संवड्ढिया वा? जाव त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कल्लं जाव जलंते विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं मित्तणाइ० चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गं जाव सम्माणित्ता तस्सेव मित्तणाइ० चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स पुरओ जेट्ठं उज्झियं सद्दावेइ। सद्दावित्ता एवं वयासी—

तत्पश्चात् जब पाँचवाँ वर्ष चल रहा था, तब धन्य सार्थवाह को मध्य रात्रि के समय इस प्रकार का विचार यावत् उत्पन्न हुआ—

मैंने इससे पहले के—अतीत, पाँचवें वर्ष में चारों पुत्रवधुओं को, परीक्षा करने के निमित्त, पाँच चावल के दाने उनके हाथ में दिये थे। तो कल यावत् सूर्योदय होने पर पाँच चावल के दाने माँगना मेरे लिए उचित होगा। यावत् जानूँ तो सही कि किसने किस प्रकार उनका संरक्षण, संगोपन और संवर्धन किया है? धन्य सार्थवाह ने इस प्रकार का विचार किया। विचार करके दूसरे दिन सूर्योदय होने पर विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम बनवाया। मित्रों, ज्ञातिजनों आदि तथा चारों पुत्र-वधुओं के कुलगृहवर्ग के समक्ष जेठी पुत्रवधू उज्झिका को बुलाया और बुलाकर इस प्रकार कहा:—

१७—'एवं खलु अहं पुत्ता! इओ अईए पंचमंसि संवच्छरंसि इमस्स मित्तणाइ० चउण्ह सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स य पुरओ तव हत्थंसि पंच सालिअक्खए दलयामि, जया णं अहं पुत्ता! एए

पंच सालिअक्खए जाएज्जा तया णं तुमं मम इमे पंच सालिअक्खए पडिनिज्जाएसि त्ति कट्टु तं हत्थंसि दलयामि, से नूणं पुत्ता ! अट्ठे समट्ठे ?'

'हंता, अत्थि।'

'तं णं पुत्ता ! मम ते सालिअक्खए पडिनिज्जाएहि।'

'हे पुत्री ! अतीत-विगत पाँचवें संवत्सर में अर्थात् अबसे पाँच वर्ष पहले इन्हीं मित्रों ज्ञातिजनों आदि तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृहवर्ग के समक्ष मैंने तुम्हारे हाथ में पांच शालि-अक्षत दिये थे, और यह कहा था कि—हे पुत्री ! जब मैं ये पांच शालिअक्षत मांगू, तब तुम मेरे ये पांच शालि अक्षत मुझे वापिस सौंपना। तो यह अर्थ समर्थ है—यह बात सत्य है ?'

उज्झिका ने कहा—'हां, सत्य है।'

धन्य सार्थवाह बोले—तो हे पुत्री ! मेरे वह शालि अक्षत वापिस दो।'

१८—तए णं सा उज्झिया एयमट्ठं धण्णस्स सत्थवाहस्स पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जेणेव कोट्ठागारं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पल्लाओ पंच सालिअक्खए गेण्हइ, गेण्हित्ता जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—'एए णं ते पंच सालिअक्खए' त्ति कट्टु धण्णस्स सत्थवाहस्स हत्थंसि ते पंच सालिअक्खए दलयइ।

तए णं धण्णे सत्थवाहे उज्झियं सवहसावियं करेइ, करित्ता एवं वयासी—'किं णं पुत्ता ! एए चेव पंच सालिअक्खए उदाहु अन्ने ?'

तत्पश्चात् उज्झिका ने धन्य सार्थवाह की यह बात स्वीकार की। स्वीकार करके जहां कोठार था वहाँ पहुँची। पहुँच कर पल्य में से पांच शालि-अक्षत ग्रहण किये और ग्रहण करके धन्य सार्थवाह के समीप आकर बोली—ये है वे पांच शालि-अक्षत।' यों कहकर धन्य सार्थवाह के हाथ में पांच शालि के दाने दे दिये।

तब धन्य सार्थवाह ने उज्झिका को सौगंद दिलाई और कहा— 'पुत्री ! क्या वही ये शालि के दाने हैं अथवा ये दूसरे हैं ?"

१९—तए णं उज्झिया धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—'एवं खलु तुब्भे ताओ ! इओ अईए पंचमे संवच्छरे इमस्स मित्तणाइ० चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स जाव[1] विहराहि। तए णं अहं तुब्भं एयमट्ठं पडिसुणेमि। पडिसुणित्ता ते पंच सालिअक्खए गेण्हामि, एगंतमवक्कमामि। तए णं मम इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पिज्जत्था—एवं खलु तायाणं कोट्ठागारंसि०[2] सकम्मसंजुत्ता। तं णो खलु ताओ ! ते चेव पंच सालिअक्खए, एए णं अन्ने।'

तब उज्झिका ने धन्य सार्थवाह से इस प्रकार कहा—हे तात ! इससे पहले के पांचवें वर्ष में इन मित्रों एवं ज्ञातिजनों के तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृहवर्ग के सामने पांच दाने देकर 'इनका संरक्षण संगोपन और संवर्धन करती हुई विचरना' ऐसा आपने कहा था। उस समय मैंने आपकी

---

१. सप्तम अ. ६ २. सप्तम अ. ७

बात स्वीकार की थी। स्वीकार करके वे पाँच शालि के दाने ग्रहण किये और एकान्त में चली गई। तब मुझे इस तरह का विचार उत्पन्न हुआ कि—पिताजी (श्वसुरजी) के कोठार में बहुत से शालि भरे हैं, जब मांगेंगे तो दे दूंगी। ऐसा विचार करके मैंने वह दाने फेंक दिये और अपने काम में लग गई। अतएव हे तात! ये वही शालि के दाने नहीं हैं। ये दूसरे हैं।'

२०—तए णं से धण्णे उज्झियाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरत्ते जाव मिसिमिसेमाणे उज्झिइयं तस्स मित्तनाइनियग-सयण-संबंधि-परियणस्स चउण्ह सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स य पुरओ तस्स कुलघरस्स छारुज्झियं च छाणुज्झियं च कयवरुज्झियं च संपुच्छियं च सम्मज्जिअं च पाउवदाइयं च ण्हाणावदाइयं च बाहिरपेसणकारिं च ठवेइ।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह उज्झिका से यह अर्थ सुनकर और हृदय में धारण करके क्रुद्ध हुए, कुपित हुए, उग्र हुए और क्रोध में आकर मिसमिसाने लगे। उन्होंने उज्झिका को उन मित्रों ज्ञातिजनों आदि के तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृहवर्ग के सामने कुलगृह की राख फेंकने वाली, छाणे डालने या थापने वाली, कचरा झाड़ने वाली, पैर धोने का पानी देने वाली, स्नान के लिए पानी देने वाली और बाहर के दासी के कार्य करने वाली के रूप में नियुक्त किया।

२१—एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा जाव (आयरिय-उवज्झायाण अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं) पव्वइए पंच य से महव्वयाइं उज्झियाइं भवंति, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं सावियाणं हीलणिज्जे जाव[1] अणुपरियट्टिस्सइ। जहा सा उज्झिया।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! जो हमारा साधु अथवा साध्वी यावत् आचार्य अथवा उपाध्याय के निकट गृहत्याग करके और प्रव्रज्या लेकर पांच (दानों के समान पांच) महाव्रतों का परित्याग कर देता है, वह उज्झिका की तरह इसी भव में बहुत से श्रमणों, बहुत-सी श्रमणियों, बहुत से श्रावकों और बहुत-सी श्राविकाओं की अवहेलना का पात्र बनता है, यावत् अनन्त संसार में पर्यटन करेगा।

२२—एवं भोगवइया वि[2]। नवरं तस्स कुलघरस्स कंडंतियं कोट्टंतियं पीसंतियं च एवं रुंधंतियं च रंधंतियं च परिवेसंतियं च परिभायंतियं च अब्भिंतरियं पेसणकारिं महाणसिणिं ठवेइ।

इसी प्रकार भोगवती के विषय में जानना चाहिए। (उसने प्रसाद समझ कर दाने खा लेने की बात कही) विशेषता यह है कि (वह पांचों दाने खा गई थी, अतएव उसे) खांड़ने वाली, कूटने वाली, पीसने वाली, जांते में दल कर धान्य के छिलके उतारने वाली, रांधने वाली, परोसने वाली, त्यौहारों के प्रसंग पर स्वजनों के घर जाकर ल्हावणी बांटने वाली, घर में भीतर की दासी का काम करने वाली एवं रसोईदारिन का कार्य करने वाली के रूप में नियुक्त किया।

२३—एवामेव समणाउसो! जो अम्हं समणो वा समणी वा पंच य से महव्वयाइं फोडियाइं भवंति, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं सावियाणं जाव[3]

१. तृतीय अ. २० २. सप्तम अ. १७-२०। ३. तृतीय अ. २०

हीलणिज्जे, जहा व सा भोगवइया।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! हमारा जो साधु अथवा साध्वी पांच महाव्रतों को फोड़ने वाला अर्थात् रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर नष्ट करने वाला होता है, वह इसी भव में बहुत-से साधुओं, बहुत-सी साध्वियों, बहुत-से श्रावकों और बहुत-सी श्राविकाओं की अवहेलना का पात्र बनता है, जैसे वह भोगवती।

२४—एवं रक्खिया वि। नवरं जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मंजूसं विहाडेइ, विहाडित्ता रयणकरंडगाओ ते पंच सालिअक्खए गेण्हइ, गेण्हित्ता जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पंच सालिअक्खए धण्णस्स सत्थवाहस्स हत्थे दलयइ।

इसी प्रकार रक्षिका के विषय में जानना चाहिए। विशेष यह है कि (पांच दाने मांगने पर) वह जहाँ उसका निवासगृह था वहाँ गई। वहाँ जाकर उसने मंजूषा खोली। खोलकर रत्न की डिबिया में से वह पांच शालि के दाने ग्रहण किये। ग्रहण करके जहाँ धन्य सार्थवाह था, वहाँ आई। आकर धन्य सार्थवाह के हाथ में वे शालि के पांच दाने दे दिये।

२५—तए णं से धण्णे सत्थवाहे रक्खियं एवं वयासी—'किं णं पुत्ता! ते चेव एए पंच सालि-अक्खए, उदाहु अण्णे?' त्ति।

तए णं रक्खिया धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—'ते चेव ताया! एए पंच सालिअक्खया, णो अन्ने।'!

'कहं णं पुत्ता?'

एवं खलु ताओ! तुब्भे इओ पंचमम्मि संवच्छरे जाव[1] भवियव्वं एत्थ कारणेणं ति कट्टु ते पंच सालिअक्खए सुद्धे वत्थे जाव तिसंझं पडिजागरमाणी यावि विहरामि। तओ एएणं कारणेणं ताओ! ते चेव एए पंच सालिअक्खए, णो अन्ने।'

उस समय धन्य सार्थवाह ने रक्षिका से इस प्रकार कहा....'हे पुत्री! क्या यह वही पांच शालि-अक्षत हैं या दूसरे हैं?'

रक्षिका ने धन्य सार्थवाह को उत्तर दिया—'तात! ये वही शालिअक्षत हैं, दूसरे नहीं है।

धन्य ने पूछा—'पुत्री! कैसे?'

रक्षिका बोली—'तात! आपने इससे पहले पांचवें वर्ष में शालि के पांच दाने दिये थे। तब मैंने विचार किया कि इस देने में कोई कारण होना चाहिए। ऐसा विचार करके इन पांच शालि के दानों को शुद्ध वस्त्र में बांधा, यावत् तीनों संध्याओं में सार-संभाल करती रहती हूँ। अतएव, हे तात! ये वही शालि के दाने हैं, दूसरे नहीं।

२६—तए णं से धण्णे सत्थवाहे रक्खियाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा हट्ठतुट्ठे तस्स कुलघरस्स हिरन्नस्स य कंस-दूस-विपुलधण जाव (कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-संत-सार-) सावतेज्जस्स य भंडागारिणिं ठवेइ।

1. सप्तम अ. ८

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह रक्षिका से यह अर्थ सुनकर हर्षित और संतुष्ट हुआ। उसे अपने घर के हिरण्य की, (आभूषणों की) कांसा आदि वर्तनों की, दूष्य-रेशमी आदि मूल्यवान् वस्त्रों की, विपुल धन, धान्य, कनक रत्न, मणि, मुक्ता, शंख, शिला, प्रवाल, लाल-रत्न आदि स्वापतेय (सम्पत्ति) की भाण्डागारिणी (भंडारी के रूप में) नियुक्त कर दिया।

२७—एवामेव समणाउसो ! जाव पंच य से महव्वयाइं रक्खियाइं भवंति, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं अच्चणिज्जे, जहा जाव से रक्खिया।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! यावत् (दीक्षित होकर) हमारा जो साधु या साध्वी पाँच महाव्रतों की रक्षा करता है, वह इसी भव में बहुत से साधुओं, बहुत सी साध्वियों, बहुत से श्रावकों और बहुत सी श्राविकाओं का अर्चनीय (पूज्य) होता है, वन्दनीय, पूजनीय, सत्करणीय, सम्माननीय, होता है, जैसे वह रक्षिका।

२८—रोहिणिया वि एवं चेव। नवरं—'तुब्भे ताओ ! मम सुबहुयं सगडीसागडं दलाहि, जेण अहं तुब्भं ते पंच सालिअक्खए पडिनिज्जाएमि।'

तए णं से धण्णे सत्थवाहे रोहिणिं एवं वयासी—'कहं णं तुमं मम पुत्ता ! ते पंच सालिअक्खए सगडसागडेणं निज्जाइस्ससि ?

तए णं सा रोहिणी धण्णं एवं वयासी—'एवं खलु ताओ ! इओ तुब्भे पंचमे संवच्छरे इमस्स मित्त जाव[1] बहवे कुंभसया जाया, तेणेव कमेणं। एवं खलु ताओ ! तुब्भे ते पंच सालिअक्खए सगडसागडेणं निज्जाएमि।

रोहिणी के विषय में भी ऐसा ही कहना चाहिए। विशेष यह है कि—जब धन्य सार्थवाह ने उससे पांच दाने मांगे तो उसने कहा—'तात ! आप मुझे बहुत-से गाड़े गाड़ियाँ दो, जिससे मैं आपको वह पांच शालि के दाने लौटाऊँ।'

तब धन्य सार्थवाह ने रोहिणी से कहा—'पुत्री ! तू मुझे वह पांच शालि के दाने गाड़ा-गाड़ी में भर कर कैसे देगी ?'

तब रोहिणी ने धन्य सार्थवाह से कहा—'तात ! इससे पहले के पांचवें वर्ष में इन्हीं मित्रों ज्ञातिजनों आदि के समक्ष आपने पाँच दाने दिये थे। यावत् वे अब सैकड़ों कुम्भ प्रमाण हो गये हैं, इत्यादि पूर्वोक्त दानों की खेती करने संभालने आदि का वृत्तान्त दोहरा लेना चाहिए। इस प्रकार हे तात ! मैं आपको वह पांच शालि के दाने गाड़ा-गाड़ियों में भर कर देती हूँ।'

२९—तए णं से धण्णे सत्थवाहे रोहिणीयाए सुबहुयं सगडसागडं दलयइ, तए णं रोहिणी सुबहुं सगडसागडं गहाय जेणेव सए कुलघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कोट्ठागारे विहाडेइ, विहाडित्ता पल्ले उब्भिदइ, उब्भिदित्ता सगडीसागडं भरेइ, भरित्ता रायगिहं नगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छइ।

तए णं रायगिहे नयरे सिंघाडग जाव (तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु) बहुजणो अन्नमन्नं एवमाइक्खइ—'धन्ने णं देवाणुप्पिया ! धण्णे सत्थवाहे, जस्स णं रोहिणिया सुण्हा, जीए णं

---

1. सप्तम अ. ९-१५

पंच सालिअक्खए सगडसागडिएणं निज्जाइए।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने रोहिणी को बहुत-से छकड़ा-छकड़ी दिये। रोहिणी उन छकड़ा-छकड़ियों को लेकर जहाँ अपना कुलगृह (मैका) था, वहाँ आई। आकर कोठार खोला। कोठार खोल कर पल्य उघाड़े, उघाड़ कर छकड़ा, छकड़ी भरे। भरकर राजगृह नगर के मध्यभाग में होकर जहाँ अपना घर (ससुराल) था और जहाँ धन्य सार्थवाह था, वहाँ आ पहुँची।

तब राजगृह नगर में शृंगाटक (चौक, चत्वर, चतुर्मुख—महापथ) आदि मार्गों में बहुत से लोग आपस में इस प्रकार कह कर प्रशंसा करने लगे— 'देवानुप्रियो ! धन्य सार्थवाह धन्य है, जिसकी पुत्रवधू रोहिणी है, जिसने पांच शालि के दाने छकड़ा-छकड़ियों में भर कर लौटाये।'

३०—तए णं से धण्णे सत्थवाहे ते पंच सालिअक्खए सगडसागडेणं निज्जाइए पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठे पडिच्छइ। पडिच्छित्ता तस्सेव मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणस्स चउण्ह य सुण्हाणं कुलघरवग्गस्स पुरओ रोहिणीयं सुण्हं तस्स कुलघरवग्गस्स बहुसु कज्जेसु य जाव [कारणेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य गुज्झेसु य] रहस्सेसु य आपुच्छणिज्जं जाव[1] वट्टावियं पमाणभूयं ठावेइ।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह उन पांच शालि के दानों को छकड़ा-छकड़ियों द्वारा लौटाये देखता है। देखकर हृष्ट और तुष्ट होकर उन्हें स्वीकार करता है। स्वीकार करके उसने उन्हीं मित्रों एवं ज्ञातिजनों, निजजनों, स्वजनों, संबंधी जनों तथा परिजनों के सामने तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृहवर्ग के समक्ष रोहिणी पुत्रवधू को, उस कुलगृहवर्ग (परिवार) के अनेक कार्यों में यावत् रहस्यों में पूछने योग्य यावत् गृह का कार्य चलाने वाली और प्रमाणभूत (सर्वेसर्वा) नियुक्त किया।

३१—एवामेव समणाउसो ! जाव पंच महव्वया संवड्ढिया भवंति, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं जाव वीईवइस्सइ जहा व सा रोहिणीया।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! जो साधु-साध्वी आचार्य या उपाध्याय के निकट दीक्षित होकर, अनगार बन कर अपने पांच महाव्रतों में वृद्धि करते हैं—उन्हें उत्तरोत्तर अधिक निर्मल बनाते हैं, वे इसी भव में बहुत से श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं के पूज्य होकर यावत् संसार से मुक्त हो जाते है जैसे वह रोहिणी बहुजनों की प्रशंसापात्र बनी।

उपसंहार

३२—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं सत्तमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, त्ति बेमि।

हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें ज्ञाताध्ययन का यह अर्थ कहा है। वही मैंने तुमसे कहा है।

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥

---

१. सप्तम अ. ४

आठवाँ अध्ययन : मल्ली

सार—संक्षेप

प्रस्तुत अध्ययन का कथानक महाविदेह क्षेत्र से प्रारंभ होता है, किन्तु उसकी अन्तिम परिणति भरत क्षेत्र में हुई है। इसमें वर्त्तमान अवसर्पिणी काल के उन्नीसवें तीर्थंकर, अथवा कहना चाहिए तीर्थंकरी भगवती मल्ली का उद्‌बोधक जीवन अंकित किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिए उसका संक्षिप्त सार-स्वरूप इस प्रकार है—

महाविदेह क्षेत्र की सलिलावती विजय की राजधानी वीतशोका थी। वहाँ के राजा का नाम बल था। किसी समय राजधानी में स्थविरों का आगमन हुआ। धर्मदेशना श्रवण करके राजा बल अपना सुखद राज्य और एक सहस्र राजरानियों की मोह-ममता त्याग कर मुनिधर्म में दीक्षित हो गया। तीव्र तपश्चर्या करके समस्त कर्मों को ध्वस्त कर मुक्त हुआ।

बल राजा का उत्तराधिकारी उनका पुत्र महाबल हुआ। अचल, धरण आदि अन्य छह राजा उसके परम मित्र थे, जो साथ-साथ जन्मे, खेले और बड़े हुए थे। उन्होंने निश्चय किया था कि सुख में, दुःख में, विदेश यात्रा में और दीक्षा में हम एक दूसरे का साथ देंगे। एक बार महाबल संसार से विरक्त होकर मुनि-दीक्षा लेने को तैयार हुए तो उनके साथी भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तैयार हो गए। सभी ने उत्कृष्ट साधना की—घोर तपश्चर्या की और जयन्त नामक अनुत्तर विमान में देवपर्याय में जन्म लिया।

इस बीच एक अनहोनी घटना घटित हो गई। साधु-अवस्था में महाबल मुनि के मन में कपट-भाव उत्पन्न हो गया। सातों मुनियों का एक-सी तपस्या करने का निश्चय था, मगर छह मुनि चतुर्थभक्त करते तो महाबल मुनि षष्ठभक्त कर लेते। वे षष्ठभक्त करते तो महाबल अष्टमभक्त कर लेते। इस तपस्या का फल यह हुआ कि छह मुनियों को देव-पर्याय में किंचित् न्यून बत्तीस सागरोपम की आयु प्राप्त हुई तो महाबल मुनि को पूर्ण बत्तीस सागरोपम की स्थिति प्राप्त हो गई। साथ ही उन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का बन्ध किया।

किन्तु कोई राजा हो या रंक, महामुनि हो या सामान्य गृहस्थ, कर्म किसी का लिहाज नहीं करते। कपट-सेवन के फलस्वरूप महाबल ने स्त्रीनामकर्म का बन्ध कर लिया। जयन्त विमान से जब वे च्युत होकर मनुष्य-पर्याय में अवतरित हुए तो उन्हें इसी भरतक्षेत्र में मिथिला-नरेश कुंभ की महारानी प्रभावती के उदर से कन्या के रूप में जन्म लेना पड़ा। उसका नाम 'मल्ली' रक्खा गया।

तीर्थंकरों का जन्म पुरुष के रूप में होता है किन्तु मल्ली कुमारी का जन्म महिला के रूप में होना जैन इतिहास की एक अद्‌भुत और आश्चर्यजनक घटना है।

मल्ली कुमारी के छह अन्य साथी इससे पूर्व ही विभिन्न प्रदेशों में जन्म ले कर अपने-अपने प्रदेशों के राजा बन चुके थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रतिबुद्धि-इक्ष्वाकुराज,
(२) चन्द्रच्छाय-अंग देश का राजा,
(३) शंख-काशीराज,
(४) रुक्मि-कुणालनरेश,
(५) अदीनशत्रु-कुरुराज,
(६) जितशत्रु-पंचालाधिपति।

अनेक बार हम देखते हैं कि वर्त्तमान जीवन में किसी प्रकार का सम्पर्क न होने पर भी किसी प्राणी पर दृष्टि पड़ते ही हमारे हृदय में प्रीति या वात्सल्य का भाव उत्पन्न हो जाता है और किसी को देखते ही घृणा उमड़ पड़ती है। इन एक दूसरे से विपरीत मनोभावों का कोई व्यक्त कारण नहीं जान पड़ता, मगर ये भाव निष्कारण भी नहीं होते। वस्तुतः पूर्व जन्मों के संस्कारों को साथ लेकर ही मानव जन्म लेता है। वे संस्कार अप्रकट रूप में अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं। पूर्व जन्म में जिस जीव के प्रति हमारा रागात्मक संबंध रहा है उस पर दृष्टि पड़ते ही, अनायास ही, हमारे हृदय में प्रीतिभाव उत्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत जिसके साथ वैर-विरोधात्मक संबंध रहा है, उसके प्रति सहसा विद्वेष की भावना जागृत हो उठती है। अनेकानेक जैन कथानकों में इस तथ्य की पुष्टि की गई है। भगवान् पार्श्वनाथ और कमठ, महावीर और चरवाहा, समरादित्य आदि इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

हुआ यह कि मल्ली कुमारी के जीव के प्रति उसके पूर्व-साथियों का जो अनुराग का संबंध था, वह विभिन्न निमित्त पाकर जागृत हो गया और संयोगवश छहों राजा एक ही साथ उससे विवाह करने को दल-बल के साथ मिथिला नगरी जा पहुँचे। कौन राजा क्या निमित्त पाकर मल्ली पर अनुरक्त हुआ, इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है।

उधर मल्ली कुमारी ने अवधिज्ञान के साथ जन्म लिया था। अवधिज्ञान के प्रयोग से उन्होंने अपने छहों साथियों की अवस्थिति जान ली थी। भविष्य में घटित होने वाली घटना भी उन्हें विदित हो गई थी। अतएव उसके प्रतीकार की तैयारी भी करली थी। तैयारी इस प्रकार की थी—

मल्ली कुमारी ने हूबहू अपनी जैसी एक प्रतिमा का निर्माण करवाया। अंदर से वह पोली थी और उसके मस्तक में एक बड़ा-सा छिद्र था। उस प्रतिमा को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि यह मल्ली नहीं, मल्ली की प्रतिमा है। मल्ली कुमारी जो भोजन-पान करती उसका एक पिंड मस्तक के छेद में से प्रतिमा में डाल देती थी। वह भोजन-पानी प्रतिमा के भीतर जाकर सड़ता रहता और उसमें अत्यन्त अनिष्ट दुर्गंध उत्पन्न होती। किन्तु ढक्कन होने से वह दुर्गन्ध वहीं की वहीं दबी रहती थी। जहाँ प्रतिमा अवस्थित थी, उसके इर्दगिर्द मल्ली ने जालीदार गृहों का भी निर्माण करवाया था। उन गृहों में बैठ कर प्रतिमा को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था, किन्तु उन गृहों में बैठने वाले एक दूसरे को नहीं देख सकते थे।

जब छह राजा एक साथ मल्ली कुमारी का वरण करने के लिए मिथिला जा पहुँचे तो राजा कुंभ बहुत असमंजस में पड़ गए। मल्ली की मंगनी पहले छहों ने की थी और कुंभ राजा ने छहों

की मंगनी अस्वीकार कर दी थी। अतएव वे सब मिल कर कुंभ राजा के साथ युद्ध करने के लिए तत्पर थे। परस्पर में परामर्श करके ही वे एक साथ चढ़ आए थे। कुंभ ने छहों राजाओं का सामना किया। वीरता के साथ संग्राम किया, मगर अकेला चना क्या भाड़ फोड़ सकता है ? आखिर कुंभ पराजित हुआ और लौट कर अपने महल में आ गया। वह अत्यन्त गहरे विषाद में डूब गया-किंकर्त्तव्य-मूढ हो गया।

उसी समय राजकुमारी अपने पिता कुंभराज को प्रणाम करने गई। मगर कुंभ चिन्ता में ऐसे निमग्न थे कि उन्हें उसके आने का भान ही नहीं हुआ। तब कुमारी मल्ली ने गहरी चिन्ता का कारण पूछा। कुंभराज ने उसे समस्त वृत्तान्त कह सुनाया।

मल्ली कुमारी ने इसी प्रसंग के लिए अपनी प्रतिमा बनवा कर सारी तैयारी कर रक्खी थी। पिता से कहा—'आप चिन्ता त्यागिए और प्रत्येक राजा के पास गुप्त रूप से दूत भेज कर कहला दीजिए कि आपको ही मल्ली कुमारी दी जाएगी। आप गुप्त रूप से सन्ध्या समय राजमहल में आ जाइए। उन सब को जालीदार गृहों में अलग-अलग ठहरा दीजिए।

कुंभ राजा ने ऐसा ही किया। छहों राजा मल्ली कुमारी का वरण करने की लालसा से गर्भगृहों में आ पहुँचे। प्रभात होने पर सबने मल्ली की प्रतिमा को देखा और समझ लिया कि यही कुमारी मल्ली है। सब उसी की ओर अनिमेष दृष्टि से देखने लगे। तब मल्ली कुमारी वहाँ पहुँची और प्रतिमा के मस्तक के छिद्र को उघाड़ दिया। छिद्र को उघाड़ते ही उसमें से जो दुर्गन्ध निकली वह असह्य हो गई। सभी राजा उससे घबरा उठे। सबने अपनी अपनी नाक दबाई और मुंह बिगाड़ लिया। विषयासक्त राजाओं को उद्‌बुद्ध करने का यही उपयुक्त अवसर था। मल्ली कुमारी ने नाक-मुंह बिगाड़ने का कारण पूछा। सभी का एक ही उत्तर था—असह्य बदबू !

तब राजकुमारी ने राजाओं से कहा-देवानुप्रियो ! इस प्रतिमा में भोजन-पानी का एक-एक पिण्ड डालने का ऐसा अनिष्ट एवं अमनोज्ञ परिणाम हुआ तो इस औदारिक शरीर का परिणाम कितना अशुभ, अनिष्ट और अमनोज्ञ न होगा ! यह शरीर तो मल, मूत्र, मांस, रुधिर आदि की थैली है। इस के प्रत्येक द्वार से गंदे पदार्थ झरते रहते हैं। सड़ना-गलना इस का स्वभाव है। इस पर से चमड़ी की चादर हटा दी जाए तो यह शरीर कितना सुन्दर प्रतीत होगा ! यह चीलों-कौवों का भक्ष्य बन जाएगा। इसका असली बीभत्स रूप प्रकट हो जाएगा ! तो मल-मूत्र की इस थैली पर आप क्यों मोहित हो रहे हैं !

इस प्रकार संबोधित करके मल्ली कुमारी ने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया। किस प्रकार वे सब साथ दीक्षित हुए थे, किस प्रकार उसने कपटाचरण किया था, किस प्रकार वे सब देवपर्याय में उत्पन्न हुए थे, इत्यादि सब कह सुनाया।

मल्ली द्वारा पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनते ही छहों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। सब संबुद्ध हो गए। तब गर्भगृहों के द्वार उन्मुक्त कर दिए गए। समग्र वातावरण में अनुराग के स्थान पर विराग छा गया। उसी समय राजकुमारी ने दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प किया।

तीर्थंकरों की परम्परा के अनुसार वार्षिक दान देने के पश्चात् मल्ली कुमारी ने जिन-प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। जिस दिन दीक्षा अंगीकार की उसी दिन उन्हें केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति हो गई। तत्पश्चात् जितशत्रु आदि छहों राजाओं ने भी दीक्षा अंगीकार कर ली। अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

भगवती मल्ली तीर्थंकरी ने भी चैत्र शुक्ला चतुर्थी के दिन निर्वाण प्राप्त किया।

प्रस्तुत अध्ययन खूब विस्तृत है। इसमें अनेक ज्ञातव्य विषयों का निरूपण किया गया है। उन्हें जानने के लिए पूरे अध्ययन का वाचन करना आवश्यक है। यहाँ अतिसंक्षेप में ही सार मात्र दिया गया है।

अट्ठमं अज्झयणं : मल्ली

उत्क्षेप

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं सत्तमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, अट्ठमस्स णं भंते ! के अट्ठे पन्नत्ते ?

जम्बू स्वामी ने श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया—'भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है (जो आपने मुझे सुनाया), तो आठवें अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?'

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं, निसढस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं, सीयोयाए महाणईए दाहिणेणं, सुहावहस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चत्थिमेणं, पच्चत्थिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं सलिलावती नामं विजए पन्नत्ते।

श्री सुधर्मा स्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—'हे जम्बू ! उस काल और उस समय में, इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, महाविदेहनामक वर्ष (क्षेत्र) में, मेरु पर्वत से पश्चिम में, निषधनामक वर्षधर पर्वत से उत्तर में, शीतोदा महानदी से दक्षिण में, सुखावहनामक वक्षार पर्वत से पश्चिम में और पश्चिम लवण समुद्र से पूर्व में—इस स्थान पर, सलिलावतीनामक विजय कहा गया है।

३—तत्थ णं सलिलावतीविजए वीयसोगा नामं रायहाणी पण्णत्ता-नवजोयणवित्थिन्ना जाव[1] पच्चक्खं देवलोगभूया।

तीसे णं वीयसोगाए रायहाणीए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं इंदकुंभे नामं उज्जाणे होत्था।

तत्थ णं वीयसोगाए रायहाणीए बले नामं राया होत्था। तस्स धारिणीपामोक्खं देविसहस्सं उवरोधे होत्था।

उस सलिलावती विजय में वीतशोका नामक राजधानी कही गई है। वह नौ योजन चौड़ी, यावत् (बारह योजन लम्बी) साक्षात् देवलोक के समान थी।

उस वीतशोका राजधानी के उत्तरपूर्व (ईशान) दिशा के भाग में इन्द्रकुम्भनामक उद्यान था।

उस वीतशोका राजधानी में बलनामक राजा था। बल राजा के अन्तःपुर में धारिणी प्रभृति एक हजार देवियाँ (रानियाँ) थीं।

---

१. अ. ५ सूत्र २

महाबल का जन्म

४—तए णं सा धारिणी देवी अन्नया कयाइ सीहं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा जाव[1] महब्बले नामं दारए जाए, उम्मुक्कबालभावे जाव भोगसमत्थे। तए णं तं महब्बलं अम्मापियरो सरिसियाणं कमलसिरीपामोक्खाणं पंचण्हं रायवरकन्नासयाणं एगदिवसेणं पाणिं गेण्हावेंति। पंच पासायसया पंचसओ दाओ जाव[2] विहरइ।

वह धारिणी देवी किसी समय स्वप्न में सिंह को देखकर जागृत हुई। यावत् यथासमय महाबलनामक पुत्र का जन्म हुआ। वह बालक क्रमशः बाल्यावस्था को पार कर भोग भोगने में समर्थ हो गया। तब माता-पिता ने समान रूप एवं वय वाली कमलश्री आदि पाँच सौ श्रेष्ठ राजकुमारियों के साथ, एक ही दिन में, महाबल का पाणिग्रहण कराया। पाँच सौ प्रासाद आदि पांच-पांच सौ का दहेज दिया। यावत् महाबल कुमार मनुष्य संबंधी कामभोग भोगता हुआ रहने लगा।

५—तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा नामं थेरा पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणेव इंदकुंभे नाम उज्जाणे तेणेव समोसढे, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरंति।

उस काल और उस समय में धर्मघोषनामक स्थविर पांच सौ शिष्यों—अनगारों के साथ परिवृत होकर अनुक्रम से विचरते हुए, एक ग्राम से दूसरे ग्राम गमन करते हुए, सुखे-सुखे विहार करते हुए जहाँ इन्द्रकुम्भनामक उद्यान था, वहाँ पधारे और संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए वहां ठहरे।

बल की दीक्षा और निर्वाण

६—परिसा निग्गया, बलो वि राया निग्गओ, धम्मं सोच्चा णिसम्म जं नवरं महब्बलं कुमारं रज्जे ठावेइ, ठावित्ता सयमेव बले राया थेराणं अंतिए पव्वइए, एक्कारसअंगविओ, बहूणि वासाणि सामण्णपरियायं पाउणित्ता जेणेव चारुपव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मासिएणं भत्तेणं अपाणेणं केवलं पाउणित्ता जाव सिद्धे।

स्थविर मुनिराज को वन्दना करने के लिए जनसमूह निकला। बल राजा भी निकला। धर्म सुनकर राजा को वैराग्य उत्पन्न हुआ। विशेष यह कि उसने महाबल कुमार को राज्य पर प्रतिष्ठित किया। प्रतिष्ठित करके स्वयं ही बल राजा ने आकर स्थविर के निकट प्रव्रज्या अंगीकार की। वह ग्यारह अंगों के वेत्ता हुए। बहुत वर्षों तक संयम पाल कर जहाँ चारुपर्वत था, वहाँ गये। एक मास का निर्जल अनशन करके केवलज्ञान प्राप्त करके यावत् सिद्ध हुए।

राजा महाबल

७—तए णं कमलसिरी अन्नया कयाइ सीहं सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा, जाव बलभद्दो कुमारो जाओ, जुवराया यावि होत्था।

तत्पश्चात् अन्यदा कदाचित् कमलश्री स्वप्न में सिंह को देखकर जागृत हुई। (यथासमय) बलभद्र कुमार का जन्म हुआ। वह युवराज भी हो गया।

१- देखें भगवती सूत्र में महाबलवर्णन २. प्र. अ. सूत्र १०२-१०७

८—तस्स णं महब्बलस्स रन्नो इमे छप्पिय वालवयंसगा रायाणो होत्था, तंजहा—(१) अयले (२) धरणे (३) पूरणे (४) वसू (५) वेसमणे (६) अभिचंदे, सहजाया सहवड्ढियया सहपंसुकोलियया सहदारदरिसी अण्णमण्णमणुरत्ता अण्णमण्णमणुव्वयया अण्णमण्णच्छंदाणुवत्तया अण्णमण्णहियइच्छियकारया अण्णमण्णेसु रज्जेसु किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

तए णं तेसिं रायाणं अण्णया कयाइं एगयओ सहियाणं समुवागयाणं सण्णिसण्णाणं सण्णिविट्ठाणं इमेयारूवे मिहोकहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था-जण्णं देवाणुप्पिया ! अम्हं सुहं वा दुक्खं वा पव्वज्जा वा विदेसगमणं वा समुप्पज्जइ, तण्णं अम्हेहिं एगयओ समेच्चा णित्थरियव्वे त्ति कट्टु अन्नमन्नस्सेयमट्ठं पडिसुणेंति। सुहंसुहेणं विहरंति।

उस महावल राजा के यह छहों राजा वालमित्र थे। वे इस प्रकार—(१) अचल (२) धरण (३) पूरण (४) वसु (५) वैश्रमण (६) अभिचन्द्र। वे साथ ही जन्मे थे, साथ ही वृद्धि को प्राप्त हुए थे, साथ ही धूल में खेले थे, साथ ही विवाहित हुए थे, एक दूसरे पर अनुराग रखते थे, एक-दूसरे का अनुसरण करते थे, एक-दूसरे के अभिप्राय का आदर करते थे, एक-दूसरे के हृदय की अभिलाषा के अनुसार कार्य करते थे, एक-दूसरे के राज्यों में काम-काज करते हुए रह रहे थे।

एक बार किसी समय वे सव राजा इकट्ठे हुए, एक जगह मिले, एक स्थान पर आसीन हुए। तव उनमें इस प्रकार का वार्त्तालाप हुआ—देवानुप्रियो ! जव कभी हमारे लिए सुख का, दुःख का प्रव्रज्या—दीक्षा का अथवा विदेशगमन का प्रसंग उपस्थित हो तो हमें सभी अवसरों पर साथ ही रहना चाहिए। साथ ही आत्मा का निस्तार करना—आत्मा को संसार-सागर से तारना चाहिए' ऐसा निर्णय करके परस्पर में इस अर्थ (वात) को अंगीकार किया था। वे सुखपूर्वक रह रहे थे।

महावल की दीक्षा

९—तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा थेरा जेणेव इंदकुंभे उज्जाणे तेणेव समोसढा, परिसा निग्गया, महब्बलो वि राया निग्गओ। धम्मो कहिओ। महब्बलेणं धम्मं सोच्चा—जं नवरं देवाणुप्पिया ! छप्पिय वालवयंसगे आपुच्छामि, वलभद्दं च कुमारं रज्जे ठावेमि, जाव छप्पिय वालवयंसए आपुच्छइ।

तए णं ते छप्पिय बालवयंसए महब्बलं रायं एवं वयासी—'जइ णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे पव्वयह, अम्हं के अन्ने आहारे वा ? जाव आलंबे वा ? अम्हे वि य णं पव्वयामो।

तए णं से महब्बले राया छप्पिय वालवयंसए एवं वयासी—'जइ णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे मए सद्धिं (जाव) पव्वयह, तओ णं तुब्भे गच्छह, जेट्ठपुत्तं सएहिं सएहिं रज्जेहिं ठावेह, पुरिससहस्सवाहणीओ सीयाओ दुरूढा समाणा पाउब्भवह। तए णं ते छप्पिय वालवयंसए जाव पाउब्भवंति।

उस काल और उस समय में धर्मघोष नामक स्थविर जहाँ इन्द्रकुम्भ उद्यान था, वहाँ पधारे। परिषद् वंदना करने के लिए निकली। महावल राजा भी निकला। स्थविर महाराज ने धर्म कहा—धर्मोपदेश दिया। महावल राजा को धर्म श्रवण करके वैराग्य उत्पन्न हुआ। विशेष यह कि राजा ने कहा—हे देवानुप्रिय ! मैं अपने छहों वालमित्रों से पूछ लेता हूँ और वलभद्र कुमार को राज्य पर स्थापित कर देता हूँ, फिर दीक्षा अंगीकार करूंगा।' इस प्रकार कहकर उसने छहों वालमित्रों से पूछा।

तब वे छहों बाल-मित्र महाबल राजा से कहने लगे—देवानुप्रिय ! यदि तुम प्रव्रजित होते हो तो हमारे लिए अन्य कौन-सा आधार है ? यावत् [अथवा आलम्बन है] हम भी दीक्षित होते हैं।

तत्पश्चात् महाबल राजा ने उन छहों बालमित्रों से कहा—देवानुप्रियो ! यदि तुम मेरे साथ [यावत्] प्रव्रजित होते हो तो तुम जाओ और अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपने-अपने राज्य पर प्रतिष्ठित करो और फिर हजार पुरुषों द्वारा वहन करने योग्य शिविकाओं पर आरूढ होकर यहाँ प्रकट होओ।' तब छहों बालमित्र गये और अपने अपने ज्येष्ठ पुत्रों को राज्यासीन करके यावत् महाबल राजा के समीप आ गये।

१०—तए णं से महब्बले राया छप्पिय बालवयंसए पाउब्भूए पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! बलभद्दस्स कुमारस्स महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचेह।' ते वि तहेव जाव बलभद्दं कुमारं अभिसिंचेंति।

तब महाबल राजा ने छहों बालमित्रों को आया देखा। देखकर वह हर्षित और संतुष्ट हुआ। उसने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और बुलाकर कहा—'देवानुप्रियो ! जाओ और बलभद्र कुमार का महान् राज्याभिषेक से अभिषेक करो।' यह आदेश सुनकर उन्होंने उसी प्रकार किया यावत् बलभद्र कुमार का अभिषेक किया।

११—तए णं से महब्बले राया बलभद्दं कुमारं आपुच्छइ। तओ णं महब्बलपामोक्खा छप्पिय बालवयंसए सद्धिं पुरिससहस्सवाहिणिं सिबियं दुरूढा वीयसोयाए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति। णिग्गच्छित्ता जेणेव इंदकुंभे उज्जाणे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता ते वि य सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेंति, करित्ता जाव पव्वयंति, एक्कारस अंगाइं अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थ-छट्ठट्ठमेहिं अप्पाणं भावेमाणा जाव विहरंति।

तत्पश्चात् महाबल राजा ने बलभद्र कुमार से, जो अब राजा हो गया था, दीक्षा की आज्ञा ली। फिर महाबल अचल आदि छहों बालमित्रों के साथ हजार पुरुषों द्वारा वहन करने योग्य शिविका पर आरूढ होकर, वीतशोका नगरी के बीचोंबीच होकर निकले। निकल कर जहाँ इन्द्रकुम्भ उद्यान था और जहां स्थविर भगवन्त थे, वहाँ आये। आकर उन्होंने भी स्वयं ही पंचमुष्टिक लोच किया। लोच करके यावत् दीक्षित हुए। ग्यारह अंगों का अध्ययन करके, बहुत से उपवास, वेला, तेला, आदि तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

१२—तए णं तेसिं महब्बलपामोक्खाणं सत्तण्हं अणगाराणं अन्नया कयाइ एगयओ सहियाणं इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था—'जं णं अम्हं देवाणुप्पिया ! एगे तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं णं अम्हेहिं सव्वेहिं सद्धिं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए' त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता बहूहिं चउत्थ जाव [छट्ठट्ठम-दसम-दुवालसेहिं मासद्ध-मासखमणेहिं] विहरंति।

तत्पश्चात् वे महाबल आदि सातों अनगार किसी समय इकट्ठे हुए। उस समय उनमें परस्पर इस प्रकार बातचीत हुई—'हे देवानुप्रियो ! हम लोगों में से एक जिस तप को अंगीकार करके विचरे हम सब को एक साथ वही तपःक्रिया ग्रहण करके विचरना उचित है।' अर्थात् हम सातों एक ही

प्रकार की तपस्या किया करेंगे।' इस प्रकार कहकर सबने यह बात अंगीकार की। अंगीकार करके अनेक चतुर्थभक्त, वेला, तेला, चोला, पंचोला, मासखमण, अर्धमासखमण—एक-सी तपस्या करते हुए विचरने लगे।

महाबल का मायाचार

१३—तए णं से महब्बले अणगारे इमेण कारणेणं इत्थिणामगोयं कम्मं निव्वत्तिंसु—जइ णं ते महब्बलवज्जा छ अणगारा चउत्थं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, तओ से महब्बले अणगारे छट्ठं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। जइ णं ते महब्बलवज्जा अणगारा छट्ठं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, तओ से महब्बले अणगारे अट्ठमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। एवं अट्ठमं तो दसमं, अह दसमं तो दुवालसमं।

तत्पश्चात् उन महाबल अनगार ने इस कारण से स्त्रीनामगोत्र कर्म का उपार्जन किया-यदि वे महाबल को छोड़ कर शेष छह अनगार चतुर्थभक्त (उपवास) ग्रहण करके विचरते, तो महाबल अनगार [उन्हें बिना कहे) षष्ठभक्त (वेला) ग्रहण करके विचरते। अगर महाबल के सिवाय छह अनगार षष्ठभक्त अंगीकार करके विचरते तो महाबल अनगार अष्टमभक्त (तेला) ग्रहण करके विचरते। इसी प्रकार वे अष्टमभक्त करते तो महाबल दशमभक्त करते, वे दशमभक्त करते तो महाबल द्वादशभक्त, कर लेते। (इस प्रकार अपने साथी मुनियों से छिपा कर-कपट करके महाबल अधिक तप करते थे।)

तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन

१४—इमेहि य वीसाएहिं य कारणेहि आसेवियबहुलीकएहिं तित्थयरनामगोयं कम्मं निव्वत्तिंसु, तंजहा—

अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए-तवस्सीसुं।
वल्लभया य तेसिं, अभिक्ख णाणोवओगे य॥ १॥
दंसण-विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं।
खणलव-तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य॥ २॥
अपुव्वनाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो॥ ३॥

(महाबल ने) स्त्रीनाम गोत्र के अतिरिक्त इन कारणों के एक बार और बार-बार सेवन करने से तीर्थंकर नामगोत्र कर्म का भी उपार्जन किया। वे कारण यह हैं—

(१) अरिहंत (२) सिद्ध (३) प्रवचन—श्रुतज्ञान (४) गुरु—धर्मोपदेशक (५) स्थविर अर्थात् साठ वर्ष की उम्र वाले जातिस्थविर, समवायांगादि के ज्ञाता श्रुत-स्थविर और बीस वर्ष की दीक्षा वाले पर्याय-स्थविर, यह तीन प्रकार के स्थविर साधु (६) बहुश्रुत—दूसरों की अपेक्षा अधिक श्रुत के ज्ञाता और (७) तपस्वी—इन सातों के प्रति वत्सलता धारण करना अर्थात् इनका यथोचित सत्कार—सन्मान करना, गुणोत्कीर्तन करना (८) बारंबार ज्ञान का उपयोग करना (९) दर्शन-सम्यक्त्व की विशुद्धता, (१०) ज्ञानादिक का विनय करना (११) छह आवश्यक करना (१२) उत्तरगुणों और मूलगुणों का निरतिचार पालन करना (१३) क्षणलव अर्थात् क्षण-एक लव

प्रमाण काल में भी संवेग, भावना एवं ध्यान का सेवन करना (१४) तप करना (१५) त्याग-मुनियों को उचित दान देना (१६) नया-नया ज्ञान ग्रहण करना (१७) समाधि—गुरु आदि को साता उपजाना (१८) वैयावृत्य करना (१९) श्रुत की भक्ति करना और (२०) प्रवचन की प्रभावना करना, इन बीस कारणों से जीव तीर्थंकरत्व की प्राप्ति करता है। तात्पर्य यह है कि इन बीस कारणों से महाबल मुनि ने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया।

महाबल आदि की तपस्या

१५—तए णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अनगारा मासिअं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, जाव[1] एगराइअं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति।

तत्पश्चात् वे महाबल आदि सातों अनगार एक मास की पहली भिक्षु-प्रतिमा अंगीकार करके विचरने लगे। यावत् बारहवीं एक रात्रिकी भिक्षु प्रतिमा अंगीकार करके विचरने लगे। (यहां यावत् शब्द से बीच की दस भिक्षु प्रतिमाएँ इस प्रकार समझनी चाहिए:— दूसरी दो मास की, तीसरी तीन मास की, चौथी चार मास की, पाँचवी पाँच मास की, छठी छह मास को, सातवीं सात मास की, आठवीं आठ अहोरात्र की, नौवीं सात अहोरात्र की, दसवीं सात अहोरात्र की और ग्यारहवीं एक अहोरात्र की। इस प्रकार सब मिलकर बारह भिक्षु-प्रतिमाएँ हैं।)

१६—तए णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा खुड्डागं सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति, तंजहा—चउत्थं करेंति, करित्ता सव्वकामगुणियं पारेंति, पारित्ता छट्ठं करेंति, करित्ता चउत्थं करेंति, करित्ता अट्ठमं करेंति, करित्ता छट्ठं करेंति, करित्ता दसमं करेंति, करित्ता अट्ठमं करेंति, करित्ता दुवालसमं करेंति, करित्ता दसमं करेंति, करित्ता चाउद्दसमं करेंति, करित्ता दुवालसमं करेंति, करित्ता सोलसमं करेंति, करित्ता चोद्दसमं करेंति, करित्ता अट्ठारसमं करेंति, करित्ता सोलसमं करेंति, करित्ता वीसइमं करेंति, करित्ता अट्ठारसमं करेंति, करित्ता वीसइमं करेंति, करित्ता सोलसमं करेंति, करित्ता अट्ठारसमं करेंति, करित्ता चोद्दसमं करेंति, करित्ता सोलसमं करेंति, करित्ता दुवालसमं करेंति, करित्ता चाउद्दसमं करेंति, करित्ता दसमं करेंति, करित्ता दुवालसमं करेंति, करित्ता अट्ठमं करेंति, करित्ता दसमं करेंति, करित्ता छट्ठं करेंति, करित्ता अट्ठमं करेंति, करित्ता चउत्थं करेंति, करित्ता छट्ठं करेंति, करित्ता चउत्थं करेंति। सव्वत्थ सव्वकामगुणिएणं पारेंति।

तत्पश्चात् वे महाबल प्रभृति सातों अनगार क्षुल्लक सिंहनिष्क्रीडित नामक तपश्चरण अंगीकार करके विचरने लगे। वह तप इस प्रकार किया जाता है—

सर्वप्रथम एक उपवास करे, उपवास करके सर्वकाम गुणित (विगय आदि सभी पदार्थों को ग्रहण करने के साथ) पारणा करे, पारणा करके दो उपवास करे, फिर एक उपवास करे, करके तीन उपवास (अष्टमभक्त) करे, करके दो उपवास करे, करके चार उपवास करे, करके तीन उपवास करे, करके पाँच उपवास करे, करके चार उपवास करे, करके छह उपवास करे, करके पाँच उपवास करे, करके सात उपवास करे, करके छह उपवास करे, करके आठ उपवास करे, करके सात उपवास करे,

१. प्र. अ. १९६-९७

करके नौ उपवास करे, करके आठ उपवास करे, करके नौ उपवास करे, करके सात उपवास करे, करके आठ उपवास करे, करके छह उपवास करे, करके सात उपवास करे, करके पाँच उपवास करे, करके छह उपवास करे, करके चार उपवास करे, करके पाँच उपवास करे, करके तीन उपवास करे, करके चार उपवास करे, करके दो उपवास करे, करके तीन उपवास करे, करके एक उपवास करे, करके दो उपवास करे, करके एक उपवास करे, सब जगह पारणा के दिन सर्व कामगुणित पारणा करके उपवासों का पारना समझना चाहिए।

विवेचन :—सिंह की क्रीड़ा के समान तप सिंहनिष्क्रीडित कहलाता है। जैसे सिंह चलता-चलता पीछे देखता है, इसी प्रकार जिस तप में पीछे के तप की आवृत्ति करके आगे का तप किया जाता है और इसी क्रम से आगे बढ़ा जाता है, वह सिंहनिष्क्रीडित तप कहलाता है। इस तप की स्थापना अंकों में निम्न प्रकार है—

१	२	३	२	४	३	५	४	६	७	६	८	७	९	८
१	२	३	२	४	३	५	४	६	७	६	८	७	९	

१७—एवं खलु एसा खुड्डागसीहनिक्कीलियस्स तवोकम्मस्स पढमा परिवाडी छहिं मासेहिं सत्तहि य अहोरत्तेहि य अहासुत्ता जाव आराहिया भवइ।

इस प्रकार इस क्षुल्लक सिंहनिष्क्रीडित तप की पहली परिपाटी छह मास और सात अहोरात्रों में सूत्र के अनुसार यावत् आराधित होती है। (इसमें १५४ उपवास और तेतीस पारणा किये जाते हैं।)

१८—तयाणंतरं दोच्चाए परिवाडीए चउत्थं करेंति, नवरं विगइवज्जं पारेंति। एवं तच्चा वि परिवाडी, नवरं पारणए अलेवाडं पारेंति। एवं चउत्था वि परिवाडी, नवरं पारणए आयंबिलेणं पारेंति।

तत्पश्चात् दूसरी परिपाटी में एक उपवास करते हैं, इत्यादि सब पहले के समान ही समझ लेना चाहिए। विशेषता यह है कि इसमें विकृति रहित पारणा करते हैं अर्थात् पारणा में घी, तेल, दूध, दही आदि विगय का सेवन नहीं करते। इसी प्रकार तीसरी परिपाटी भी समझनी चाहिए। इसमें विशेषता यह है कि अलेपकृत (अलेपमिश्रित) से पारणा करते हैं। चौथी परिपाटी में भी ऐसा ही करते हैं किन्तु उसमें आयंबिल से पारणा की जाती है।

१९—तए णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा खुड्डागं सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं दोहिं संवच्छरेहिं अट्ठावीसाए अहोरत्तेहिं अहासुत्तं जाव[1] आणाए आराहेत्ता, जेणेव थेरे भगवंते तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

तत्पश्चात् वे महाबल आदि सातों अनगार क्षुल्लक (लघु) सिंहनिष्क्रीडित तप को (चारों

१. प्र. अ. १९६

परिपाटी सहित) दो वर्ष और अट्ठाईस अहोरात्र में, सूत्र के कथनानुसार यावत् तीर्थंकर की आज्ञा से आराधन करके, जहां स्थविर भगवान् थे, वहां आये। आकर उन्होंने वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—

२०—इच्छामो णं भंते ! महालयं सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं तहेव जहा खुड्डागं, नवरं चोत्तीसइमाओ नियत्तए, एगाए चेव परिवाडीए कालो एगेणं संवच्छरेणं छहिं मासेहिं अट्ठारसेहि य अहोरत्तेहिं समप्पेइ। सव्वं पि सीहनिक्कीलियं छहिं वासेहिं, दोहि य मासेहिं, बारसेहि य अहोरत्तेहिं समप्पेइ।

'भगवन् ! हम महत् (बड़ा) सिंहनिष्क्रीड़ित नामक तपकर्म करना चाहते हैं आदि'। यह तप क्षुल्लक सिंहनिष्क्रीडित तप के समान ही जानना चाहिए। विशेषता यह है कि इसमें चौंतीस भक्त अर्थात् सोलह उपवास तक पहुँचकर वापिस लौटा जाता है। एक परिपाटी एक वर्ष, छह मास और अठारह अहोरात्र में समाप्त होती है। सम्पूर्ण महासिंहनिष्क्रीडित तप छह वर्ष, दो मास और बारह अहोरात्र में पूर्ण होता है। (प्रत्येक परिपाटी में ५५८ दिन लगते हैं, ४९७ उपवास और ६१ पारणा होते हैं।)

२१—तए णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा महालयं सीहनिक्कीलियं अहासुत्तं जाव[1] आराहेत्ता जेणेव थेरे भगवंते तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता बहूणि चउत्थ जाव विहरंति।

तत्पश्चात् वे महाबल प्रभृति सातों मुनि महासिंहनिष्क्रीडित तपकर्म का सूत्र के अनुसार यावत् आराधन करके जहां स्थविर भगवान् थे, वहाँ आते हैं। आकर स्थविर भगवान् को वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं। वन्दना और नमस्कार करके बहुत से उपवास, बेला, तेला आदि करते हुए विचरते हैं।

समाधिमरण

२२—तए णं ते महब्बलपामोक्खा सत्त अणगारा तेणं उरालेणं सुक्का भुक्खा[2] जहा खंदओ[3], नवरं थेरे आपुच्छित्ता चारुपव्वयं (वक्खारपव्वयं) दुरूहंति। दुरूहित्ता जाव[4] दोमासियाए संलेहणाए सवीसं भत्तसयं अणसणं, चउरासीइं वाससयसहस्साइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता चुलसीइं पुव्वसयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता जयंते विमाणे देवत्ताए उववन्ना।

तत्पश्चात् वे महाबल प्रभृति अनगार उस प्रधान तप के कारण शुष्क अर्थात् मांस-रक्त से हीन तथा रूक्ष अर्थात् निस्तेज हो गये, भगवतीसूत्र में कथित स्कंदक मुनि (या इसी अंग में वर्णित मेघ मुनि के सदृश उनका वर्णन समझ लेना चाहिए।) विशेषता यह है कि स्कंदक मुनि ने भगवान् महावीर से आज्ञा प्राप्त की थी, पर इन सात मुनियों ने स्थविर भगवान् से आज्ञा ली। आज्ञा लेकर चारु पर्वत (चारु नामक वक्षस्कार पर्वत) पर आरूढ़ हुए। आरूढ़ होकर यावत् दो मास की संलेखना करके—एक सौ बीस भक्त का अनशन करके, चौरासी लाख वर्षों तक संयम का पालन करके, चौरासी लाख पूर्व का कुल आयुष्य भोगकर जयंतनामक तीसरे अनुत्तर विमान में देव-पर्याय से उत्पन्न हुए।

१. प्र. अ. १९६ २. प्र. अ. २०१ ३. भगवती श. २ ४. प्र. अ. २०६

२३—तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं बत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पन्नत्ता। तत्थ णं महब्बल-वज्जाणं छण्हं देवाणं देसूणाइं बत्तीसं सागरोवमाइं ठिई, महब्बलस्स देवस्स पडिपुण्णाइं बत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पन्नत्ता।

उस जयंत विमान में कितनेक देवों की बत्तीस सागरोपम की स्थिति कही गई है। उनमें से महाबल को छोड़कर दूसरे छह देवों की कुछ कम बत्तीस सागरोपम की स्थिति और महाबल देव की पूरे बत्तीस सागरोपम की स्थिति हुई।

पुनर्जन्म

२४—तए णं ते महब्बलवज्जा छप्पि य देवा जयंताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विसुद्धपिइमाइवंसेसु रायकुलेसु पत्तेयं पत्तेयं कुमारत्ताए पच्चायाया। तंजहा—

पडिबुद्धी इक्खागराया १,
चंदच्छाए अंगराया २,
संखे कासिराया ३,
रुप्पी कुणालाहिवई ४,
अदीणसत्तू कुरुराया ५,
जियसत्तू पंचालाहिवई ६।

तत्पश्चात् महाबल देव के सिवाय छहों देव जयन्त देवलोक से, देव संबंधी आयु का क्षय होने से, देवलोक में रहने रूप स्थिति का क्षय होने से और देव संबंधी भव का क्षय होने से, अन्तर रहित, शरीर का त्याग करके अथवा च्युत होकर इसी जम्बूद्वीप में, भरत वर्ष (क्षेत्र) में विशुद्ध माता-पिता के वंश वाले राजकुलों में, अलग-अलग कुमार के रूप में उत्पन्न हुए। वे इस प्रकार—

(१) प्रतिबुद्धि इक्ष्वाकु वंश का अथवा इक्ष्वाकु देश का राजा हुआ। (इक्ष्वाकु देश को कौशल देश भी कहते हैं, जिसकी राजधानी अयोध्या थी)।

(२) चंद्रच्छाय अंगदेश का राजा हुआ, जिसकी राजधानी चम्पा थी।

(३) तीसरा शंख काशी देश का राजा हुआ, जिसकी राजधानी वाणारसी नगरी थी।

(४) रुक्मि कुणाल देश का राजा हुआ, जिसकी नगरी श्रावस्ती थी।

(५) अदीनशत्रु कुरुदेश का राजा हुआ, जिसकी राजधानी हस्तिनापुर थी।

(६) जितशत्रु पंचाल देश का राजा हुआ, जिसकी राजधानी कांपिल्यपुर थी।

मल्ली कुमारी का जन्म

२५—तए णं से महब्बले देवे तिहिं णाणेहिं समग्गे उच्चट्ठाणट्ठिएसु गहेसु, सोमासु दिसासु वितिमिरासु विसुद्धासु, जइएसु सउणेसु, पयाहिणाणुकूलंसि भूमिसप्पिंसि मारुतंसि पवायंसि, निप्फन्न-सस्समेइणीयंसि कालंसि, पमुइयपक्कीलिएसु जणवएसु, अद्धरत्तकालसमयंसि अस्सिणीनक्खत्तेणं

जोगमुवागएणं, जे से हेमंताणं चउत्थे मासे, अट्ठमे पक्खे फग्गुणसुद्धे, तस्स णं फग्गुणसुद्धस्स चउत्थि-पक्खेणं जयंताओ विमाणाओ बत्तीससागरोवमट्ठिइयाओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे मिहिलाए रायहाणीए कुंभगस्स रन्नो पभावईए देवीए कुच्छिंसि आहारवक्कंतीए सरीरवक्कंतीए भववक्कंतीए गब्भत्ताए वक्कंते।

तत्पश्चात् वह महाबल देव तीन ज्ञानों—मति, श्रुत और अवधि से युक्त होकर, जब समस्त ग्रह उच्च स्थान पर रहे हुए थे, सभी दिशायें सौम्य—उत्पात से रहित, वितिमिर—अंधकार से रहित और विशुद्ध—धूल आदि से रहित थीं, पक्षियों के शब्द आदि रूप शकुन विजयकारक थे, वायु दक्षिण की ओर चल रहा था और वायु अनुकूल अर्थात् शीतल मंद और सुगंध रूप होकर पृथ्वी पर प्रसार कर रहा था, पृथ्वी पर धान्य निष्पन्न हो गया था, इस कारण लोग अत्यन्त हर्षयुक्त होकर क्रीड़ा कर रहे थे, ऐसे समय में अर्द्ध रात्रि के अवसर पर, अश्विनी नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग होने पर, हेमन्त ऋतु के चौथे मास, आठवें पक्ष अर्थात् फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में, चतुर्थी तिथि के पश्चात् भाग-रात्रिभाग में, बतीस सागरोपम की स्थिति वाले जयन्त नामक विमान से, अनन्तर, शरीर त्याग कर, इसी जम्बू-द्वीप नामक द्वीप में भरत क्षेत्र में, मिथिला नामक राजधानी में, कुंभ राजा की प्रभावती देवी की कूंख में देवगति संबंधी आहार का त्याग करके, वैक्रिय शरीर का त्याग करके एवं देवभव का त्याग करके गर्भ के रूप में उत्पन्न हुआ।

२६—तं रयणिं च णं पभावई देवी तंसि तारिसगंसि वासभवणंसि सयणिज्जंसि जाव[1] अद्धरत्तकालसमयंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी इमेयारूवे उराले कल्लाणे सिवे धण्णे मंगल्ले सस्सिरीए चउद्दसमहासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा। तंजहा—

गय-वसह-सीह-अभिसेय-दाम-ससि-दिणयर-झयं-कुंभे।

पउमसर-सागर-विमाण-रयणुच्चय-सिहिं च॥

तए णं सा पभावई देवी जेणेव कुंभए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जाव[2] भत्तार-कहणं, सुमिणपाढगपुच्छा जाव[3] विहरइ।

उस रात्रि में प्रभावती देवी उस प्रकार के उस पूर्ववर्णित (प्रथम अध्ययन में कथित) वास भवन में, पूर्ववर्णित शय्या पर यावत् अर्ध रात्रि के समय, जब न गहरी सोई थी न जाग ही रही थी, बार-बार ऊंघ रही थी, तब इस प्रकार के प्रधान, कल्याणरूप, शिव-उपद्रवरहित, धन्य, मांगलिक और सश्रीक चौदह महास्वप्न देख कर जागी। वे चौदह स्वप्न इस प्रकार हैं—(१) गज (२) वृषभ (३) सिंह (४) अभिषेक (५) पुष्पमाला (६) चन्द्रमा (७) सूर्य (८) ध्वजा (९) कुम्भ (१०) पद्मयुक्त सरोवर (११) सागर (१२) विमान (१३) रत्नों की राशि (१४) धूमरहित अग्नि।

ये चौदह स्वप्न देखने के पश्चात् प्रभावती रानी जहाँ राजा कुम्भ थे, वहाँ आई। आकर पति से स्वप्नों का वृत्तान्त कहा। कुम्भ राजा ने स्वप्नपाठकों को बुलाकर स्वप्नों का फल पूछा। यावत् प्रभावती देवी हर्षित एवं संतुष्ट होकर विचरने लगी।

२७—तए णं तीसे पभावईए देवीए तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं इमेयारूवे डोहले

१. प्र. अ. १७ २-३. देखें प्र. अ. मेघ का गर्भागमन।

पाउब्भए—'धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाओ णं जल-थलयभासुरप्पएणं दसद्धवण्णेणं मल्लेणं अत्थुय-पच्चत्थुयंसि सयणिज्जंसि सन्निसन्नाओ सण्णिवन्नाओ य विहरंति। एगं च महं सिरीदामगंडं पाडल-मल्लिय-चंपय-असोग-पुन्नाग-मरुयग-दमणग-अणोज्ज-कोज्जय-कोरंट-पत्तवरपउरं परमसुहफास-दरिसणिज्जं महया गंधद्धणिं मुयंतं अग्घायमाणीओ डोहलं विणेंति।

तत्पश्चात् प्रभावती देवी को तीन मास बराबर पूर्ण हुए तो इस प्रकार का दोहद (मनोरथ) उत्पन्न हुआ—'वे माताएं धन्य हैं जो जल और थल में उत्पन्न हुए, देदीप्यमान, अनेक, पंचरंगे पुष्पों से आच्छादित और पुनः पुनः आच्छादित की हुई शय्या पर सुखपूर्वक बैठी हुई और सुख से सोई हुई विचरती हैं। तथा पाटला, मालती, चम्पा, अशोक, पुंनाग के फूलों, मरुवा के पत्तों, दमनक के फूलों निर्दोष शतपत्रिका के फूलों एवं कोरंट के उत्तम पत्तों से गूंथे हुए, परमसुखदायक स्पर्श वाले, देखने में सुन्दर तथा अत्यन्त सौरभ छोड़ने वाले श्रीदामकाण्ड (सुन्दर माला) के समूह को सूंघती हुई अपना दोहद पूर्ण करती हैं।

२८—तए णं तीसे पभावईए देवीए इमेयारूवं डोहलं पाउब्भूयं पासित्ता अहासन्निहिया वाणमंतरा देवा खिप्पामेव जलथलय-भासुरप्पभूयं दसद्धवन्नमल्लं कुंभग्गसो य भारग्गसो य कुंभगस्स रण्णो भवणंसि साहरंति। एगं च णं महं सिरिदामगंडं जाव[1] गंधद्धणिं मुयंतं उवणेंति।

तत्पश्चात् प्रभावती देवी को इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ देख कर—जान कर समीपवर्त्ती वाण-व्यन्तर देवों ने शीघ्र ही जल और थल में उत्पन्न हुए यावत् पाँच वर्ण वाले पुष्प, कुम्भों और भारों के प्रमाण में अर्थात् बहुत से पुष्प कुम्भ राजा के भवन में लाकर पहुँचा दिये। इनके अतिरिक्त सुखप्रद एवं सुगन्ध फैलाता हुआ एक श्रीदामकाण्ड भी लाकर पहुँचा दिया।

विवेचन—माता की इच्छा का देवों द्वारा इस प्रकार पूर्त्ति करना गर्भस्थ तीर्थंकर के असाधारण और सर्वोत्कृष्ट पुण्य का प्रभाव है।

२९—तए णं सा पभावई देवी जलथलयभासुरप्पभूएणं मल्लेणं डोहलं विणेइ। तए णं सा पभावई देवी पसत्थडोहला जाव विहरइ।

तए णं सा पभावई देवी नवण्हं मासाणं अद्धट्ठमाण य रत्तिदियाणं जे से हेमंताणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे मग्गसिरसुद्धे, तस्स णं मग्गसिरसुद्धस्स एक्कारसीए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अस्सिणी-नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं उच्चट्ठाणगएसु गहेसु जाव[2] पमुइयपक्कीलिएसुं जणवएसु आरोयारोयं एगूणवीसइमं तित्थयरं पयाया।

तत्पश्चात् प्रभावती देवी ने जल और थल में उत्पन्न देदीप्यमान पंचवर्ण फूलों की माला से अपना दोहला पूर्ण किया। तब प्रभावती देवी प्रशस्तदोहला होकर विचरने लगी।

तत्पश्चात् प्रभावती देवी ने नौ मास और साढ़े सात दिवस पूर्ण होने पर, हेमन्त ऋतु के प्रथम मास में, दूसरे पक्ष में अर्थात् मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष में, मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन, मध्य रात्रि में, अश्विनी नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग होने पर, सभी ग्रहों के उच्च स्थान

१. देखें पूर्व सूत्र २. अष्टम अ. २५

पर स्थित होनेपर, [सभी दिशाएं सौम्य—उत्पातरहित, वितिमिर-अन्धकार से रहित और विशुद्ध—धूलादि से रहित थीं, वायु दक्षिणावर्त्त—अनुकूल था, विजयकारक शकुन हो रहे थे जब देश के सभी लोग प्रमुदित होकर क्रीड़ा कर रहे थे,] ऐसे समय में, आरोग्य-आरोग्यपूर्वक अर्थात् विना किसी बाधा-पीड़ा के उन्नीसवें तीर्थंकर को जन्म दिया।

३०—तेणं कालेणं तेणं समएणं अहोलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ महयरीयाओ जहा जंबुद्दीवपन्नत्तीए जम्मणं सव्वं भाणियव्वं। नवरं मिहिलाए नयरीए कुंभरायस्स भवणंसि पभावईए देवीए अभिलावो संजोएव्वो जाव नंदीसरवरे दीवे महिमा।

उस काल और उस समय में अधोलोक में बसने वाली महत्तरिका दिशा-कुमारिकाएं आईं, इत्यादि जन्म का जो वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में आया है; वह सब यहां समझ लेना चाहिए। विशेषता यह है कि—मिथिला नगरी में, कुम्भ राजा के भवन में, प्रभावती देवी का आलापक कहना—नाम कहना चाहिए। यावत् देवों ने जन्माभिषेक करके नन्दीश्वर द्वीप में जाकर (अठाई) महोत्सव किया।

३१—तया णं कुंभए राया बहूहिं भवणवइ-वितर-जोइसिय-वेमाणियदेवा तित्थयरजम्मणाभिसेयं जायकम्मं जाव नामकरणं, जम्हा णं अम्हे इमीए दारियाए माउगब्भंसि वक्कममाणंसि मल्लसयणिज्जंसि डोहले विणीए, तं होउ णं णामेणं मल्ली, नामं ठवेइ, जहा महाबले नाम जाव परिवड्ढिया।

[सा वड्ढई भगवई, दियलोयचुया अणोपमसिरीया।
दासीदासपरिवुडा, परिकिन्ना पीढमद्देहिं॥ १॥
असियसिरया सुनयणा, बिंबोट्ठी धवलदंतपंतीया।
वरकमलगब्भगोरी, फुल्लुप्पलगंधनीसासा॥ २॥]

तत्पश्चात् कुम्भ राजा ने एवं बहुत-से भवनपति, वाण व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों ने तीर्थंकर का जन्माभिषेक किया, फिर जातकर्म आदि संस्कार किये, यावत् नामकरण किया—क्योंकि जब हमारी यह पुत्री माता के गर्भ में आई थी, तब माल्य (पुष्प) की शय्या में सोने का दोहद उत्पन्न हुआ था और वह पूर्ण हुआ था, अतएव इसका नाम 'मल्ली' हो। ऐसा कहकर उसका मल्ली नाम रखा। जैसे भगवतीसूत्र में महाबल नाम रखने का वर्णन है, वैसा ही यहां जानना चाहिए। यावत् मल्ली कुमारी क्रमशः वृद्धि को प्राप्त हुई।

[देवलोक से च्युत हुई वह भगवती मल्ली वृद्धि को प्राप्त हुई तो अनुपम शोभा से सम्पन्न हो गई, दासियों और दासों से परिवृत हुई और पीठमर्दों (सखाओं) से घिरी रहने लगी। उसके मस्तक के केश काले थे, नयन सुन्दर थे, होठ विम्बफल के समान लाल थे, दांतों की कतार श्वेत थी और शरीर श्रेष्ठ कमल के गर्भ के समान गौर वर्ण वाला था। उसका श्वासोच्छ्वास विकस्वर कमल के समान गंध वाला था।]

विवेचन—टीकाकार का कथन है कि प्रायः स्त्रियों के पीठमर्दक नहीं होते, अतः यह विशेषण यहां सम्भव नहीं। या फिर तीर्थंकर का चरित्र लोकोत्तर होता है, अतः असम्भव भी नहीं समझना चाहिए।

कमल का गर्भ गौरवर्ण होता है, मल्ली का वर्ण प्रियंगु के समान श्याम था। अतः यह विशेषण भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः ये दोनों गाथाएं प्रक्षिप्त हैं। इसी कारण इनमें उल्लिखित सब विशेषण मल्ली में घटित नहीं होते। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में ये विशेषण पाये भी नहीं जाते। अथवा 'वरकमलगर्भ' का अर्थ कस्तूरी समझना चाहिए। कस्तूरी के वर्ण की उपमा घटित हो सकती है, किन्तु भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह अर्थ चिन्तनीय है।

३२—तए णं सा मल्ली विदेहवररायकन्ना उम्मुक्कबालभावा जाव [विण्णयपरिणयमेत्ता जोव्वणमणुपत्ता] रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य अईव अईव उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया यावि होत्था।

तत्पश्चात् विदेहराज की वह श्रेष्ठ कन्या (मल्ली) बाल्यावस्था से मुक्त हुई यावत् (समझदार हुई, यौवनवय को प्राप्त हुई) तथा रूप, यौवन और लावण्य से अतीव-अतीव उत्कृष्ट और उत्कृष्ट शरीर वाली हो गई।

३३—तए णं सा मल्ली विदेहवररायकन्ना देसूणवाससयजाया ते छप्पि य रायाणो विपुलेण ओहिणा आभोएमाणी आभोएमाणी विहरइ, तंजहा-पडिबुद्धिं जाव [इक्खागरायं, चंदच्छायं अंगरायं रुप्पिं कुणालाहिवइं संखं कासिरायं अदीणसत्तुं कुरु-रायं] जियसत्तुं पंचालाहिवइं।

तत्पश्चात् विदेहराज की वह उत्तम कन्या मल्ली कुछ कम सौ वर्ष की हो गई, तब वह उन (पूर्व के बालमित्र) छहों राजाओं को अपने विपुल अवधिज्ञान से जानती-देखती हुई रहने लगी। वे इस प्रकार-प्रतिबुद्धि यावत् [इक्ष्वाकुराज, चन्द्रच्छाय अंगराज, शंख काशीराज, रुक्मि कुणालराज, अदीनशत्रु कुरुराज] तथा पंचाल देश के राजा जितशत्रु को बार-बार देखती हुई रहने लगी।

मोहनगृह का निर्माण

३४—तए णं सा मल्ली विदेहवररायकन्ना कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं देवाणुप्पिया! असोगवणियाए एगं महं मोहणघरं करेह अणेयखंभसयसन्निविट्ठं। तत्थ णं मोहणघरस्स बहुमज्झदेसभाए छ गब्भघरए करेह। तेसिं णं गब्भघराणं बहुमज्झदेसभाए जालघरयं करेह। तस्स णं जालघरयस्स बहुमज्झदेसभाए मणिपेढियं करेह।' ते वि तहेव जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् विदेहराज की उत्तम कन्या मल्ली ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया—बुलाकर कहा-देवानुप्रियो! जाओ और अशोकवाटिका में एक बड़ा मोहनगृह (मोह उत्पन्न करने वाला अतिशय रमणीय घर) बनाओ, जो अनेक सैकड़ों खम्भों से बना हुआ हो। उस मोहनगृह के एकदम मध्य भाग में छह गर्भगृह (कमरे) बनाओ। उन छहों गर्भगृहों के ठीक बीच में एक जालगृह (जिसके चारों ओर जाली लगी हो और उसके भीतर की वस्तु बाहर वाले देख सकते हों ऐसा घर) बनाओ। उस जालगृह के मध्य में एक मणिमय पीठिका बनाओ।' यह सुनकर कौटुम्बिक पुरुषों ने उसी प्रकार सर्व निर्माण कर आज्ञा वापिस सौंपी।

३५—तए णं मल्ली मणिपेढियाए उवरिं अप्पणो सरिसियं सरित्तयं सरिसव्वयं सरिस-लावन्न-जोव्वण-गुणोववेयं कणगमइं मत्थयच्छिड्डं पउमुप्पलप्पिहाणं पडिमं करेइ, करित्ता जं विपुलं

असणं पाणं खाइमं साइमं आहारेइ, तओ मणुन्नाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ कल्लाकल्लि एगमेगं पिंडं गहाय तीसे कणगमईए मत्थयच्छिड्डाए जाव पडिमाए मत्थयंसि पक्खिवमाणी विहरइ।

तत्पश्चात् उस मल्ली कुमारी ने मणिपीठिका के ऊपर अपनी जैसी, अपनी जैसी त्वचावाली, अपनी सरीखी उम्र की दिखाई देने वाली, समान लावण्य, यौवन और गुणों से युक्त एक सुवर्ण की प्रतिमा बनवाई। उस प्रतिमा के मस्तक पर छिद्र था और उस पर कमल का ढक्कन था। इस प्रकार की प्रतिमा बनवा कर जो विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य वह खाती थी, उस मनोज्ञ अशन पान खाद्य और स्वाद्य में से प्रतिदिन एक-एक पिण्ड (कवल) लेकर उस स्वर्णमयी, मस्तक में छेद वाली यावत् प्रतिमा में, मस्तक में से डालती रहती थी।

३६—तए णं तीसे कणगमईए जाव मत्थयछिड्डाए पडिमाए एगमेगंसि पिंडे पक्खिप्पमाणे पक्खिप्पमाणे पउमुप्पलपिहाणं पिहेइ। तओ गंधे पाउब्भवइ, से जहानामए अहिमडेई वा जाव [गोमडे इ वा, सुणहमडे इ वा, मज्जारमडे इ वा, मणुस्समडे इ वा, महिसमडे इ वा, मूसगमडे इ वा, आसमडे इ वा, हत्थिमडे इ वा, सीहमडे इ वा, वग्घमडे इ वा, विगमडे इ वा, दीविगमडे इ वा। मय-कुहिय-विणट्ठ-दुरभिवण्ण-दुब्भिगंधे किमिजालाउलसंसत्ते असुइ-विलीण-विगय-बीभच्छदरिसणिज्जे भवेयारूवे सिया ?

नो इणट्ठे समट्ठे। एत्तो अणिट्ठतराए चेव अकंततराए चेव अप्पियतराए चेव अमणुण्ण-तराए चेव] अमणामतराए।

तत्पश्चात् उस स्वर्णमयी यावत् मस्तक में छिद्र वाली प्रतिमा में एक-एक पिण्ड डाल-डाल कर कमल का ढक्कन ढँक देती थी। इससे उसमें ऐसी दुर्गन्ध उत्पन्न होती थी जैसे सर्प के मृत कलेवर की हो, यावत् गाय के मृत कलेवर, कुत्ते के मृत कलेवर, मार्जार (बिलाव) के मृत कलेवर, मनुष्य के मृत कलेवर, महिष के मृत कलेवर, इसी प्रकार मूषक (चूहे), अश्व, हस्ती, सिंह, व्याघ्र, वृक (भेड़िया) या द्वीपिक के मृत कलेवर की हो और वह भी मरने के पश्चात् सड़-गले, दुर्वर्ण एवं दुर्गन्ध वाले, कीड़ों के समूह जिसमें बिलबिला रहे हों, जो अशुचिमय, विकृत तथा देखने में वीभत्स हो। क्या उस प्रतिमा में से ऐसी—कलेवर की गन्ध के समान दुर्गन्ध निकलती थी ?

नहीं, यह अर्थ समर्थ नहीं, अर्थात् वह दुर्गन्ध ऐसी नहीं थी वरन् उससे भी अधिक अनिष्ट, उससे भी अधिक अकमनीय, उससे भी अधिक अप्रिय, उससे भी अधिक अमनोरम और उससे भी अधिक अनिष्ट गन्ध उत्पन्न होती थी।

राजा प्रतिबुद्धि

३७—तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसले नामं जणवए होत्था। तत्थ णं सागेए नामं नयरे होत्था। तस्स णं उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं महं एगे णागघरए होत्था दिव्वे सच्चे सच्चोवाए संनिहियपाडिहेरे।

उस काल और उस समय में कौशलनामक देश था। उसमें साकेत नामक नगर था। उस नगर से उत्तर पूर्व (ईशान) दिशा में एक नागगृह (नागदेव की प्रतिमा से युक्त चैत्य) था। वह प्रधान

था, सत्य था अर्थात् नागदेव का कथन सत्य सिद्ध होता था, उसकी सेवा सफल होती थी और वह देवाधिष्ठित था।

३८—तत्थ णं नयरे पडिबुद्धो नाम इक्खागराया परिवसइ, तस्स पउमावई देवी, सुबुद्धी अमच्चे साम-दंड भेद-उवप्पयाण-नीतिसुपउत्त-णयविहण्णू जाव[1] रज्जधुराचिंतए होत्था।

उस साकेत नगर में प्रतिबुद्धि नामक इक्ष्वाकु वंश का राजा निवास करता था। पद्मावती उसकी पटरानी थी, सुबुद्धि अमात्य था, जो साम, दंड, भेद और उपप्रदान नीतियों में कुशल था यावत् राज्यधुरा की चिन्ता करने वाला था, राज्य का संचालन करता था।

३९—तए णं पउमावईए अन्नया कयाइं नागजन्नए यावि होत्था। तए णं सा पउमावई नागजन्नमुवट्ठियं जाणित्ता जेणेव पडिबुद्धी राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल० जाव [परिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ] वद्धावेत्ता एवं वयासी—'एवं खलु सामी! मम कल्लं नागजन्नए यावि भविस्सइ, तं इच्छामि णं सामी! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी नागजन्नयं गमित्तए, तुब्भे वि णं सामी! मम नागजन्नंसि समोसरह।

किसी समय एक बार पद्मावती देवी की नागपूजा का उत्सव आया। तब पद्मावती देवी नागपूजा का उत्सव आया जानकर प्रतिबुद्धि राजा के पास गई। पास जाकर दोनों हाथ जोड़कर दसों नखों को एकत्र करके, मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार बोली—'स्वामिन्! कल मुझे नागपूजा करनी है। अतएव आपकी अनुमति पाकर मैं नागपूजा करने के लिए जाना चाहती हूँ। स्वामिन्! आप भी मेरी नागपूजा में पधारो, ऐसी मेरी इच्छा है।'

४०—तए णं पडिवुद्धी पउमावईए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेइ। तए णं पउमावई पडिबुद्धिणा रण्णा अब्भणुन्नाया हट्ठतुट्ठा कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! मम कल्लं नागजन्नए भविस्सइ, तं तुब्भे मालागारे सद्दावेह, सद्दावित्ता एवं वयह—

तब प्रतिबुद्धि राजा ने पद्मावती देवी की यह बात स्वीकार की। पद्मावती देवी राजा की अनुमति पाकर हर्षित और सन्तुष्ट हुई। उसने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और कहा—'देवानुप्रियो! कल मेरे नागपूजा होगी, सो तुम मालाकारों को बुलाओ और उन्हें इस प्रकार कहो—

४१—एवं खलु पउमावईए देवीए कल्लं नागजन्नए भविस्सइ, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया! जलथलयभासुरप्पभूयं दसद्धवन्नं मल्लं नागघरयंसि साहरह, एगं च णं महं सिरिदामगंडं उवणेह। तए णं जलथलयभासुरप्पभूएणं दसद्धवन्नेणं मल्लेणं णाणाविहभत्तिसुविरइयं करेह। तंसि भत्तिंसि हंस-मिय-मऊर-कोंच-सारस-चक्कवाय-मयणसाल-कोइलकुलोववेयं ईहामिय जाव[2] भत्तिचित्तं महग्घं महरिहं विपुलं पुप्फमंडवं विरएह। तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एगं महं सिरिदामगंडं जाव[3] गंधद्धणिं मुयंतं उल्लोयंसि ओलंबेह। ओलंबित्ता पउमावइं देविं पडिवालेमाणा पडिवालेमाणा चिट्ठह।' तए णं ते कोडुंबिया जाव चिट्ठंति।

---

१. प्रथम अ. १५ २. प्र. अ. ३१ ३. अष्टम अ. १७

निश्चय ही पद्मावती देवी के कल नागपूजा होगी। अतएव हे देवानुप्रियो! तुम जल और स्थल में उत्पन्न हुए पांचों रंगों के ताज़ा फूल नागगृह में ले जाओ और एक श्रीदामकाण्ड (शोभित मालाओं का समूह) बना कर लाओ। तत्पश्चात् जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले पांच वर्णों के फूलों से विविध प्रकार की रचना करके उसे सजाओ। उस रचना में हंस, मृग, मयूर, क्रौंच, सारस, चक्रवाक, मदनशाल (मैना) और कोकिलों के समूह से युक्त तथा ईहामृग, वृषभ, तुरग आदि की रचना वाले चित्र बनाकर महामूल्यवान्, महान् जनों के योग्य और विस्तार वाला एक पुष्पमंडप बनाओ। उस पुष्पमंडप के मध्य भाग में एक महान् और गंध के समूह को छोड़ने वाला श्रीदामकाण्ड उल्लोच (छत) पर लटकाओ। लटकाकर पद्मावती देवी की राह देखते-देखते ठहरो।' तत्पश्चात् वे कौटुम्बिक पुरुष इसी प्रकार कार्य करके यावत् पद्मावती की राह देखते हुए नागगृह में ठहरते हैं।

४२—तए णं सा पउमावई देवी कल्लं[1] कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सागेयं नगरं सब्भितरबाहिरियं आसित्त-सम्मज्जियोवलित्तं जाव[2] पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् पद्मावती देवी ने दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय होने पर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—'हे देवानुप्रियो'! शीघ्र ही साकेत नगर में भीतर और बाहर पानी सींचो, सफाई करो और लिपाई करो।' यावत् (सुगंधित करो, सुगंध की गोली जैसा बनादो।) वे कौटुम्बिक पुरुष उसी प्रकार कार्य करके आज्ञा वापिस लौटाते हैं।

४३—तए णं सा पउमावई देवी दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव देवाणुप्पिया! लहुकरणजुत्तं जाव[3] जुत्तामेव उवट्ठवेह।' तए णं ते वि तहेव उवट्ठवेंति।

तए णं सा पउमावई अंतो अंतेउरंसि ण्हाया जाव[4] धम्मियं जाणं दुरूढा।

तत्पश्चात् पद्मावती देवी ने दूसरी बार कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! शीघ्र ही लघुकरण से युक्त (द्रुतगामी अश्व वाले) यावत् रथ को जोड़कर उपस्थित करो।' तब वे भी उसी प्रकार रथ उपस्थित करते हैं।

तत्पश्चात् पद्मावती देवी अन्तःपुर के अन्दर स्नान करके यावत् [बलिकर्म, कौतुक, मंगल] प्रायश्चित्त करके धार्मिक (धर्म कार्य के लिए काम में आने वाले) यान पर अर्थात् रथ पर आरूढ हुई।

४४—तए णं सा पउमावई नियगपरिवालसंपरिवुडा सागेयं नगरं मज्झंमज्झेणं णिज्जइ, णिज्जित्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता पुक्खरिणिं ओगाहेइ। ओगाहित्ता जलमज्जणं जाव [करेइ, करित्ता जलकीडं करेइ, करेत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा] परम-सुइभूया उल्लपडसाडया जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव [पउमाइं कुमुयाइं णलिणाइं सुभगाइं सोगंधियाइं पोंडरीयाइं महापोंडरीयाइं सयवत्ताइं सहस्सपत्ताइं ताइं] गेण्हइ। गेण्हित्ता जेणेव नागघरए तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

१. प्र. अ. १४ २. प्र. अ. ७७ ३. उपासकदशा १ ४. प्र. अ. ८०

तत्पश्चात् पद्मावती देवी अपने परिवार से परिवृत होकर साकेत नगर के बीच में होकर निकली। निकलकर जहाँ पुष्करिणी थी वहाँ आई। आकर पुष्करिणी में प्रवेश किया। प्रवेश करके यावत् [जलक्रीडा की, स्नान किया, बलिकर्म किया और] अत्यन्त शुचि होकर गीली साड़ी पहनकर वहां जो कमल (कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, सहस्रपत्र) आदि विभिन्न जाति के कमल) थे, उन्हें यावत् ग्रहण किया। ग्रहण करके जहाँ नागगृह था, वहाँ जाने के लिए प्रस्थान किया।

४५—तए णं पउमावईं दासचेडीओ बहूओ पुप्फपडलगहत्थगयाओ धूवकडुच्छुगहत्थगयाओ पिट्ठओ समणुगच्छंति।

तए णं पउमावई सव्विड्ढीए जेणेव णागघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता नागघरयं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता लोमहत्थगं जाव[1] धूवं डहइ, डहित्ता पडिबुद्धिं रायं पडिवालेमाणी पडिवालेमाणी चिट्ठइ।

तत्पश्चात् पद्मावती देवी की बहुत-सी दास-चेटियाँ (दासियां) फूलों की छाबड़ियां तथा धूप की कुडछियां हाथ में लेकर पीछे-पीछे चलने लगीं।

तत्पश्चात् पद्मावती देवी सर्व ऋद्धि के साथ—पूरे ठाठ के साथ—जहाँ नागगृह था, वहां आई। आकर नागगृह में प्रविष्ट हुई। प्रविष्ट होकर रोमहस्तक (पींछी) लेकर प्रतिमा का प्रमार्जन किया, यावत् धूप खेई। धूप खेकर प्रतिबुद्धि राजा की प्रतीक्षा करती हुई वहीं ठहरी।

४६—तए णं पडिबुद्धी राया ण्हाए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्ज-माणेणं सेयवरचामराहिं वीइज्जमाणे हय-गय-रह-जोह-महयाभडचडगरपहकरेहिं साकेयं नगरं मज्झं-मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता जेणेव णागघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता आलोए पणामं करेइ, करित्ता पुप्फमंडवं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता पासइ तं एगं महं सिरिदामगंडं।

तत्पश्चात् प्रतिबुद्धि राजा स्नान करके श्रेष्ठ हाथी के स्कंध पर आसीन हुआ। कोरंट के फूलों सहित अन्य पुष्पों की मालाएं जिसमें लपेटी हुई थीं, ऐसा छत्र उसके मस्तक पर धारण किया गया। यावत् उत्तम श्वेत चामर ढोरे जाने लगे। उसके आगे-आगे विशाल घोड़े, हाथी, रथ और पैदल योद्धा—यह चतुरंगी सेना चली। सुभटों के बड़े समूह के समूह चले। वह साकेत नगर के मध्य भाग में होकर निकला। निकल कर जहां नागगृह था, वहां आया। आकर हाथी के स्कंध से नीचे उतरा। उतरकर प्रतिमा पर दृष्टि पड़ते ही उसे प्रणाम किया। प्रणाम करके पुष्प-मंडप में प्रवेश किया। प्रवेश करके वहां उसने एक महान् श्रीदामकाण्ड देखा।

४७—तए णं पडीबुद्धी तं सिरिदामगंडं सुइरं कालं निरिक्खइ, निरिक्खित्ता तंसि सिरिदा-मगंडंसि जायविम्हए सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी—

'तुमं णं देवाणुप्पिया ! मम दोच्चेणं बहूणि गामागार० जाव संनिवेसाइं आहिंडसि, बहूणि

---

१. द्वि. अ. १५.

राईसर जाव[1] गिहाइं अणुपविससि, तं अत्थि णं तुमे कहिंचि एरिसए सिरिदामगंडे दिट्ठपुव्वे, जारिसए णं इमे पउमावईए देवीए सिरिदामगंडे।

तत्पश्चात् प्रतिबुद्धि राजा उस श्रीदामकाण्ड को वहुत देर तक देखता रहा। देखकर उस श्रीदामकाण्ड के विषय में उसे आश्चर्य उत्पन्न हुआ—उसे देखकर चकित रह गया। उसने सुबुद्धि अमात्य से इस प्रकार कहा—

'हे देवानुप्रिय ! तुम मेरे दौत्य-कार्य से—दूत के रूप में वहुतेरे ग्रामों, आकरों, नगरों यावत् सन्निवेशों आदि में घूमते हो और बहुत से राजाओं एवं ईश्वरों [तलवर, माडंविक, कौटुम्बिक इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति] आदि के गृहों में प्रवेश करते हो; तो क्या तुमने ऐसा सुन्दर श्रीदामकाण्ड पहले कहीं देखा है, जैसा पद्मावती देवी का यह श्रीदामकाण्ड है ?

४८—तए णं सुबुद्धी पडिबुद्धि रायं एवं वयासी—एवं खलु सामी ! अहं अन्नया कयाइं तुब्भं दोच्चेणं मिहिलं रायहाणिं गए, तत्थ णं मए कुंभगस्स रण्णो धूयाए पभावईए देवीए अत्तयाए मल्लीए विदेहवररायकन्नाए संवच्छरपडिलेहणगंसि दिव्वे सिरिदामगंडे दिट्ठपुव्वे। तस्स णं सिरदामगंडस्स इमे पउमावईए सिरिदामगंडे सयसहस्सइमं वि कलं न अग्घइ।

तब सुबुद्धि अमात्य ने प्रतिबुद्धि राजा से कहा—'स्वामिन् ! मैं एक बार किसी समय आपके दौत्यकार्य से मिथिला राजधानी गया था। वहां मैंने कुंभ राजा की पुत्री और प्रभावती देवी की आत्मजा, विदेह की उत्तम राजकुमारी मल्ली के संवत्सर प्रतिलेखन उत्सव (जन्मगाँठ के महोत्सव) के समय दिव्य श्रीदामकाण्ड देखा था। उस श्रीदामकाण्ड के सामने पद्मावती देवी का यह श्रीदामकाण्ड शतसहस्र—लाखवां अंश भी नहीं पाता—लाखवें अंश की भी बराबरी नहीं कर सकता।'

४९—तए णं पडिबुद्धी राया सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी—'केरिसिया णं देवाणुप्पिया ! मल्ली विदेहवररायकन्ना जस्स णं संवच्छरपडिलेहणयंसि सिरिदामगंडस्स पउमावईए देवीए सिरिदामगंडे सयसहस्सइमं पि कलं न अग्घइ ?

तए णं सुबुद्धी अमच्चे पडिबुद्धि इक्खागुरायं एवं वयासी—'एवं खलु सामी ! मल्ली विदेहवररायकन्नगा सुपइट्ठियकुम्मुन्नयचारुचरणा, वन्नओ।

तत्पश्चात् प्रतिबुद्धि राजा ने सुबुद्धि मंत्री से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! विदेह की श्रेष्ठ राजकुमारी मल्ली कैसी है ? जिसकी जन्मगांठ के उत्सव में बनाये गये श्रीदामकाण्ड के सामने पद्मावती देवी का यह श्रीदामकाण्ड लाखवां अंश भी नहीं पाता ?'

तब सुबुद्धि मंत्री ने इक्ष्वाकुराज प्रतिबुद्धि से कहा—'स्वामिन् ! विदेह की श्रेष्ठ राजकुमारी मल्ली सुप्रतिष्ठित और कछुए के समान उन्नत एवं सुन्दर चरण वाली है। इत्यादि वर्णन जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि के अनुसार जान लेना चाहिए।

५०—तए णं पडिबुद्धी राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सिरिदा-

१. पञ्चम अ. ५

मगंडजणियहासे दूयं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छाहि णं तुमं देवाणुप्पिया ! मिहिलं रायहाणिं, तत्थ णं कुम्भगस्स रण्णो धूयं पमावईए देवीए अत्तयं मल्लिं विदेहवररायकण्णगं मम भारियत्ताए वरेहि, जइ वि णं सा सयं रज्जसुंका।

तत्पश्चात् प्रतिबुद्धि राजा ने सुबुद्धि अमात्य से यह अर्थ (बात) सुनकर और हृदय में धारण करके और श्रीदामकाण्ड की बात से हर्षित (प्रमुदित-अनुरक्त) होकर दूत को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! तुम मिथिला राजधानी जाओ। वहाँ कुंभ राजा की पुत्री, पद्मावती देवी की आत्मजा और विदेह की प्रधान राजकुमारी मल्ली की मेरी पत्नी के रूप में मंगनी करो। फिर भले ही उनके लिए सारा राज्य शुल्क—मूल्य रूप में देना पड़े।

विवेचन—इस पाठ से आभास होता है कि प्राचीन काल में कन्या ग्रहण करने के लिए शुल्क देना पड़ता था। अन्य स्थलों में भी अनेक बार ऐसा ही पाठ आता है। यह कन्याविक्रय का ही एक रूप था जो हमारे समाज में कुछ वर्षों पूर्व तक प्रचलित था। अब पलड़ा पलट गया है और कन्या-विक्रय के बदले वर-विक्रय की घृणित प्रथा चल पड़ी है। यों यह एक सामाजिक प्रथा है किन्तु धार्मिक जीवन पर इसका गंभीर प्रभाव पड़ता है। साधारण आय से भी मनुष्य अपनी उदरपूर्त्ति कर सकता है और तन ढंक सकता है। उसके लिए अनीति और अधर्म से अर्थोपार्जन की आवश्यकता नहीं, किन्तु वर खरीदने अर्थात् विवश होकर दहेज देने के लिए अनीति और अधर्म का आचरण करना पड़ता है। इस प्रकार इस कुप्रथा के कारण अनीति और अधर्म की समाज में वृद्धि होती है।

५१—तए णं से दूए पडिबुद्धिणा रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता जेणेव सए गिहे, जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चाउग्घंटं आसरहं पडिकप्पावेइ, पडिकप्पावित्ता दुरूढे जाव हयगय [रह-पवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे] महयाभडचडगरेणं साएयाओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव विदेहजणवए जेणेव मिहिला रायहाणी तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् उस दूत ने प्रतिबुद्धि राजा के इस प्रकार कहने पर हर्षित और संतुष्ट होकर उसकी आज्ञा अंगीकार की। अंगीकार करके जहाँ अपना घर था और जहाँ चार घंटों वाला अश्व-रथ था, वहाँ आया। आकर (आगे, पीछे और अगल-बगल में) चार घंटों वाले अश्व-रथ को तैयार कराया। तैयार करवाकर उस पर आरूढ़ हुआ। यावत् घोड़ों, हाथियों (रथों, उत्तम योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना के साथ) और बहुत से सुभटों के समूह के साथ साकेत नगर से निकला। निकल कर जहाँ विदेह जनपद था और जहाँ मिथिला राजधानी थी, वहां जाने के लिए प्रस्थान किया—चल दिया।

विवेचन—श्रीदामकाण्ड की चर्चा में से मल्ली कुमारी के अनुपम सौन्दर्य की बात निकली। राजा को मल्ली कुमारी के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। इस अनुराग का तात्कालिक निमित्त श्रीदामकाण्ड हो अथवा मल्ली के सौन्दर्य का वर्णन, किन्तु मूल और अन्तरंग कारण पूर्वभव की प्रीति के संस्कार ही समझना चाहिए। मल्ली कुमारी जब महाबल के पूर्वभव में थी तब उनके छह बाल्यमित्रों में इस भव का यह प्रतिबुद्धि राजा भी एक था।

मल्ली कुमारी घटित होने वाली इन सब घटनाओं को पहले से ही अपने अतिशय ज्ञान से

जानती थी, इसी कारण उन्होंने अपने अनुरूप प्रतिमा का निर्माण करवाया था और छहों मित्रों-राजाओं को विरक्त बनाने के लिए विशिष्ट आयोजन किया था।

राजा चन्द्रच्छाय

५२—तेणं कालेणं तेणं समएणं अंगे नाम जणवए होत्था। तत्थ णं चंपानामं णयरी होत्था। तत्थ णं चंपाए नयरीए चंदच्छाए अंगराया होत्था।

उस काल और उस समय में अंग नामक जनपद था। उसमें चम्पा नामक नगरी थी। उस चम्पा नगरी में चन्द्रछाय नामक अंगराज—अंग देश का राजा था।

५३—तत्थ णं चंपाए नयरीए अरहन्नकपामोक्खा बहवे संजत्ता णावावाणियगा परिवसंति, अड्ढा जाव[1] अपरिभूया। तए णं से अरहन्नगे समणोवासए यावि होत्था, अहिगयजीवाजीवे, वन्नओ।

उस चम्पानगरी में अर्हन्नक प्रभृति बहुत-से सांयात्रिक (परदेश जाकर व्यापार करने वाले) नौवणिक् (नौकाओं से व्यापार करने वाले) रहते थे। वे ऋद्धिसम्पन्न थे और किसी से पराभूत होने वाले नहीं थे। उनमें अर्हन्नक श्रमणोपासक (श्रावक) भी था, वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता था। यहां श्रावक का वर्णन जान लेना चाहिए।

५४—तए णं तेसिं अरहन्नगपामोक्खाणं संजत्ताणावावाणियगाणं अन्नया कयाइ एगयओ सहियाणं इमे एयारूवे मिहो कहासंलावे समुप्पज्जित्था—

'सेयं खलु अम्हं गणिमं च धरिमं च मेज्जं च परिच्छेज्जं च भंडगं गहाय लवणसमुद्दं पोयवहणेण ओगाहित्तए त्ति कट्टु अन्नमन्नं एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च भंडगं गेण्हइ, गेण्हित्ता सगडिसागडियं च सज्जेंति, सज्जित्ता गणिमस्स च धरिमस्स च मेज्जस्स च पारिच्छेज्जस्स च भंडगस्स सगडसागडियं भरेंति, भरित्ता सोहणंसि तिहि-करण-नक्खत्त-मुहुत्तंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति, मित्त-णाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं भोयणवेलाए भुंजावेंति जाव [भुंजावेत्ता] आपुच्छंति, आपुच्छित्ता सगडिसागडियं जोयंति, चंपाए नयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जेणेव गंभीरए पोयपट्टणे तेणेव उवागच्छंति।

तत्पश्चात् वे अर्हन्नक आदि सांयात्रिक नौवणिक् किसी समय एक बार एक जगह इकट्ठे हुए, तब उनमें आपस में इस प्रकार कथासंलाप (वार्त्तालाप) हुआ—

'हमें गणिम (गिन-गिन कर बेचने योग्य नारियल आदि), धरिम (तोल कर बेचने योग्य घृत आदि), मेय (पायली आदि में माप कर—भर कर बेचने योग्य अनाज आदि) और परिच्छेद्य (काट कर बेचने योग्य वस्त्र आदि), यह चार प्रकार का भांड (सौदा) लेकर, जहाज द्वारा लवणसमुद्र में प्रवेश करना चाहिए।' इस प्रकार विचार करके उन्होंने परस्पर में यह बात अंगीकार की। अंगीकार करके गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य भांड को ग्रहण किया। ग्रहण करके छकड़ा-छकड़ी तैयार किए। तैयार करके गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य भांड से छकड़ी-छकड़े भरे। भर कर शुभ तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त्त में अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार बनवाया। बनवाकर

१. द्वि. अ. ६

भोजन की वेला में मित्रों, ज्ञातिजनों, निजजनों, स्वजनों, संबंधी जनों एवं परिजनों को जिमाया, यावत् उनकी अनुमति ली। अनुमति लेकर गाड़ी-गाड़े जोते। जोत कर चम्पा नगरी के बीचोंबीच होकर बाहर निकले। निकल कर जहां गंभीर नामक पोतपट्टन (बन्दरगाह) था, वहां आये।

५५—उवागच्छित्ता सगडिसागडियं मोयंति, मोइत्ता पोयवहणं सज्जेंति, सज्जित्ता गणिमस्स य धरिमस्स य मेज्जस्स य परिच्छेज्जस्स य चउव्विहस्स भंडगस्स भरेंति, भरित्ता तंदुलाण य समियस्स य तेल्लस्स य गुलस्स य घयस्स य गोरसस्स य उदयस्स य उदयभायणाण य ओसहाण य भेसज्जाण य तणस्स य कट्ठस्स य पावरणाण य पहरणाण य अन्नेसिं च बहूणं पोयवहणपाउग्गाणं दव्वाणं पोयवहणं भरेंति। भरित्ता सोहणंसि तिहि-करण-नक्खत्त-मुहुत्तंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति, उवक्खडावित्ता मित्त-णाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं आपुच्छंति, आपुच्छित्ता जेणेव पोयट्ठाणे तेणेव उवागच्छंति।

गंभीर नामक पोतपट्टन में आकर उन्होंने गाड़ी-गाड़े छोड़ दिए। छोड़कर जहाज सज्जित किये। सज्जित करके गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य—चार प्रकार का भांड भरा। भरकर उसमें चावल, आटा, तेल, घी, गोरस (दही), पानी, पानी के बरतन, औषध, भेषज, घास, लकड़ी, वस्त्र, शस्त्र तथा और भी जहाज में रखने योग्य अन्य वस्तुएँ जहाज में भरीं। भर कर प्रशस्त तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त्त में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तैयार करवाया। तैयार करवा कर मित्रों, ज्ञातिजनों निजजनों, स्वजनों, सम्बन्धियों एवं परिजनों को जिमा कर उनसे अनुमति ली। अनुमति लेकर जहाँ नौका का स्थान था, वहाँ (समुद्र किनारे) आये।

५६—तए णं तेसिं अरहन्नगपामोक्खाणं जाव [संजुत्ता-नावा] वाणियगाणं परियणा जाव ताहिं [इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं ओरालाहिं] वग्गूहिं अभिनंदंता य अभिसंथुणमाणा य एवं वयासीः—'अज्ज! ताय! भाय! माउल! भाइणेज्ज! भगवया समुद्देणं अभिरक्खिज्जमाणा अभिरक्खिज्जमाणा चिरं जीवह, भद्दं च भे, पुणरवि लद्धट्ठे कयकज्जे अणहसमग्गे नियगं घरं हव्वमागए पासामो' त्ति कट्टु ताहिं सोमाहिं निद्धाहिं दीहाहिं सप्पिवासाहिं पप्पुयाहिं दिट्ठीहिं निरीक्खमाणा मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठंति।

तत्पश्चात् उन अर्हन्नक आदि यावत् नौका-वणिकों के परिजन (परिवार के लोग) यावत् [इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोरम एवं उदार] वचनों से अभिनन्दन करते हुए और उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार बोले—

'हे आर्य (पितामह)! हे तात! हे भ्रात! हे मामा! हे भागिनेय! आप इस भगवान् समुद्र द्वारा पुनः पुनः रक्षण किये जाते हुए चिरंजीवी हों। आपका मंगल हो। हम आपको अर्थ का लाभ करके, इष्ट कार्य सम्पन्न करके, निर्दोष-विना किसी विघ्न के और ज्यों का त्यों घर पर आया शीघ्र देखें।' इस प्रकार कह कर सोम, स्नेहमय, दीर्घ, पिपासा वाली—सतृष्ण और अश्रुप्लावित दृष्टि से देखते-देखते वे लोग मुहूर्त्त मात्र अर्थात् थोड़ी देर तक वहीं खड़े रहे।

५७—तओ समाणिएसु पुप्फबलिकम्मेसु, दिन्नेसु सरस-रत्तचंदण-दद्दर-पंचंगुलितलेसु, अणुक्खित्तंसि धूवंसि, पूइएसु समुद्दवाएसु संसारियासु वलयबाहासु, ऊसिएसु सिएसु झयग्गेसु, पडुप्पवाइएसु

तूरेसु, जइएसु सव्वसउणेसु, गहिएसु रायवरसासणेसु, महया उक्किट्ठसीहनाय जाव [बोल—कलकल] रवेणं पक्खुभिय-महासमुद्द-रवभूयं पिव मेइणिं करेमाणा एगदिसिं जाव [एगाभिमुहा अरहन्नग-पामोक्खा संजुत्ता-नावा] वाणियगा णावं दुरूढा ।

तत्पश्चात् नौका में पुष्पबलि (पूजा) समाप्त होने पर, सरस रक्तचंदन का पांचों उंगलियों का थापा (छापा) लगाने पर, धूप खेई जाने पर, समुद्र की वायु की पूजा हो जाने पर, वलयवाहा (लम्बे काष्ठ-वल्ले) यथास्थान संभाल कर रख लेने पर, श्वेत पताकाएँ ऊपर फहरा देने पर, वाद्यों की मधुर ध्वनि होने पर, विजयकारक सब शकुन होने पर, यात्रा के लिए राजा का आदेशपत्र प्राप्त हो जाने पर, महान् और उत्कृष्ट सिंहनाद यावत् [कलकल] ध्वनि से, अत्यन्त क्षुब्ध हुए महासमुद्र की गर्जना के समान पृथ्वी को शब्दमय करते हुए एक तरफ से [एकाभिमुख होकर वे अर्हन्नक आदि सांयात्रिक नौका वणिक्] नौका पर चढ़े ।

५८—तओ पुस्समाणवो वक्कमुदाहु—'हं भो ! सव्वेसिमवि अत्थसिद्धी, उवट्ठियाइं कल्लाणाइं, पडिहयाइं सव्वपावाइं, जुत्तो पूसो, विजओ मुहुत्तो अयं देसकालो ।'

तओ पुस्समाणवेणं वक्कमुदाहिए हट्ठतुट्ठा कुच्छिधार-कन्नधार-गब्भिज्जसंजत्ताणावावाणियगा वावारिंसु, तं नावं पुन्नुच्छंगं पुण्णमुहिं बंधणेहिंतो मुंचंति ।

तत्पश्चात् वन्दीजन ने इस प्रकार वचन कहा—'हे व्यापारियो ! तुम सब को अर्थ की सिद्धि हो, तुम्हें कल्याण प्राप्त हुए हैं, तुम्हारे समस्त पाप (विघ्न) नष्ट हुए हैं । इस समय पुष्य नक्षत्र चन्द्रमा से युक्त है और विजय नामक मुहूर्त्त है, अतः यह देश और काल यात्रा के लिए उत्तम है ।

तत्पश्चात् वन्दीजन के द्वारा इस प्रकार वाक्य कहने पर हृष्ट-तुष्ट हुए कुक्षिधार-नौका की बगल में रहकर बल्ले चलाने वाले, कर्णधार (खिवैया), गर्भज-नौका के मध्य में रहकर छोटे-मोटे कार्य करने वाले और वे सांयात्रिक नौकावणिक् अपने-अपने कार्य में लग गये । फिर भांडों से परिपूर्ण मध्य भाग वाली और मंगल से परिपूर्ण अग्रभाग वाली उस नौका को बन्धनों से मुक्त किया ।

५९—तए णं सा णावा विमुक्कबंधणा पवणबलसमाहया उस्सियसिया विततपक्खा इव गरुडजुवई गंगासलिल-तिक्खसोयवेगेहिं संखुब्भमाणी संखुब्भमाणी उम्मी-तरंग-मालासहस्साइं समतिच्छमाणी समतिच्छमाणी कइवएहिं अहोरत्तेहिं लवणसमुद्दं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढा ।

तत्पश्चात् वह नौका बन्धनों से मुक्त हुई, एवं पवन के बल से प्रेरित हुई । उस पर सफेद कपड़े का पाल चढ़ा हुआ था, अतएव ऐसी जान पड़ती थी जैसे पंख फैलाए कोई गरुड़-युवती हो ! वह गंगा के जल के तीव्र प्रवाह के वेग से क्षुब्ध होती-होती, हजारों मोटी तरंगों और छोटी तरंगों के समूह को उल्लंघन करती हुई कुछ अहोरात्रों (दिन-रातों) में लवणसमुद्र में कई सौ योजन दूर तक चली गई ।

६०—तए णं तेसिं अरहन्नगपामोक्खाणं संजत्तानावावाणियगाणं लवणसमुद्दं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढाणं समाणाणं बहूइं उप्पाइयसयाइं पाउब्भूयाइं । तंजहा—

तत्पश्चात् कई सौ योजन लवण-समुद्र में पहुंचे हुए उन अर्हन्नक आदि सांयात्रिक नौका वणिकों को बहुत से सैकड़ों उत्पात प्रादुर्भूत होने लगे। वे उत्पात इस प्रकार थे—

६१—अकाले गज्जिए, अकाले विज्जुए, अकाले थणियसद्दे, अभिक्खणं आगासे देवताओ णच्चंति, एगं च णं महं पिसायरूवं पासंति।

अकाल में गर्जना होने लगी, अकाल में विजली चमकने लगी, अकाल में मेघों की गंभीर गड़गड़ाहट होने लगी। वार-वार आकाश में देवता (मेघ) नृत्य करने लगे। इसके अतिरिक्त एक ताड़ जैसे पिशाच का रूप दिखाई दिया।

६२—तालजंघं दिवं गयाहिं वाहाहिं मसिमूसगमहिसकालगं, भरिय-मेहवन्नं, लंबोट्ठं, निग्गयग्गदंतं, निल्लालियजमलजुयलजीहं, आऊसिय-वयणगंडदेसं, चीणचिपिटनासियं, विगयभुग्गभुग्गभुमयं, खज्जोयग-दित्तचक्खुरागं, उत्तासणगं, विसालवच्छं, विसालकुच्छिं, पलंवकुच्छिं, पहसियपयलियपयडियगत्तं, पणच्चमाणं, अप्फोडंतं, अभिवयंतं, अभिगज्जंतं, वहुसो बहुसो अट्टट्टहासे विणिम्मुयंतं नीलुप्पलगवलगुलिय-अयसिकुसुमप्पगासं खुरधारं असिं गहाय अभिमुहमावयमाणं पासंति।

वह पिशाच ताड़ के समान लंबी जांघों वाला था और उसकी वाहुएँ आकाश तक पहुँची हुई थीं। वह कज्जल, काले चूहे और भैंसे के समान काला था। उसका वर्ण जलभरे मेघ के समान था। उसके होठ लम्बे थे और दांतों के अग्रभाग मुख से वाहर निकले हुए थे। उसने अपनी एक-सी दो जीभें मुँह से वाहर निकाल रक्खी थीं। उसके गाल मुँह में धँसे हुए थे। उसकी नाक छोटी और चपटी थी। भृकुटि डरावनी और अत्यन्त वक्र थी। नेत्रों का वर्ण जुगनू के समान चमकता हुआ लाल था। देखने वाले को घोर त्रास पहुंचाने वाला था। उसकी छाती चौड़ी थी, कुक्षि विशाल और लम्बी थी। हँसते और चलते समय उसके अवयव ढीले दिखाई देते थे। वह नाच रहा था, आकाश को मानो फोड़ रहा था, सामने आ रहा था, गर्जना कर रहा था और बहुत-वहुत ठहाके मार रहा था। ऐसे काले कमल, भैंस के सींग, नील, अलसी के फूल के समान काली तथा छुरे की धार की तरह तीक्ष्ण तलवार लेकर आते हुए पिशाच को उन वणिकों ने देखा।

६३—तए णं ते अरहण्णगवज्जा संजत्ताणावावाणियगा एगं च णं महं तालपिसायं पासंति—तालजंघं, दिवं गयाहिं वाहाहिं, फुट्टसिरं भमर-णिगर-वरमासरासि-महिसकालगं, भरियमेहवण्णं, सुप्पणहं, फालसरिसजीहं, लंबोट्ठं धवल-वट्ट-असिलिट्ठ-तिक्ख-थिर-पीण-कुडिल-दाढोवगूढवयणं, विकोसिय-धारासिजुयल-समसरिस-तणुयचंचल-गलंतरसलोल-चवल-फुरुफुरंत-निल्लालियग्गजीहं अवयत्थिय-महल्ल-विगय-वीभच्छ-लालपगलंत-रत्ततालुयं हिंगुलुय-सगब्भकंदरबिलं व अंजणगिरिस्स, अग्गिजालुग्गिलंतवयणं आऊसिय-अक्खचम्म-उइट्ठगंडदेसं चीण-चिविड-वंक-भग्गणासं, रोसागय-धमधमेन्त-मारुय-निट्ठुर-खर-फरुसझुसिरं, ओभुग्गणासियपुडं घाडुब्भड-रइय-भीसणमुहं, उद्धमुहकन्नसक्कुलिय-महंत-विगय-लोम-संखालग-लंवंत-चलियकन्नं, पिंगलदिप्पंतलोयणं, भिउडितडियनिडालं नरसिरमाल-परिणद्धचिंधं, विचित्तगोणससुवद्धपरिकरं अवहोलंत-पुप्फुयायंत-सप्पविच्छुय-गोधुंदर-नउलसरड-विरइयविचित्तवेयच्छमालियागं, भोगकूर-कण्हसप्पधमधमेंतलंवंतकन्नपूरं, मज्जार-सियाललइयखंधं, दित्तघुघुयंतघूयकयकुंतलसिरं, घंटारवेण भीमं, भयंकरं, कायरजणहिययफोडणं, दित्तमट्टट्ट-

हासं विणिम्मुयंतं, वसा-रुहिर-पूय-मंस-मलमलिणपोच्चडतणुं, उत्तासणयं, विसालवच्छं, पेच्छंता भिन्नणह-मुह-नयण-कन्नं वरवग्घ-चित्तकत्तीणिवसणं, सरस-रुहिर-गयचम्म-वितत-ऊसविय-बाहुजुयलं, ताहि य खर-फरुस-असिणिद्ध-अणिट्ठ-दित्त-असुभ-अप्पिय-अकंतवग्गूहि य तज्जयंतं पासंति।

(पूर्व वर्णित तालपिशाच का ही यहां विशेष वर्णन किया गया है। यह दूसरा वर्णक पाठ है)

तत्पश्चात् अर्हन्नक के सिवाय दूसरे सांयात्रिक नौकावणिकों ने एक बड़े तालपिशाच को देखा। उसकी जांघें ताड़ वृक्ष के समान लम्बी थीं और बाहुएँ आकाश तक पहुंची हुई खूब लम्बी थीं। उसका मस्तक फूटा हुआ था, अर्थात् मस्तक के केश बिखरे थे। वह भ्रमरों के समूह, उत्तम उड़द के ढेर और भैंस के समान काला था। जल से परिपूर्ण मेघों के समान श्याम था। उसके नाखून सूप (छाजले) के समान थे। उसकी जीभ हल के फाल के समान थी—अर्थात् बावन पल प्रमाण अग्नि में तपाए गये लोहे के फाल के समान लाल चमचमाती और लम्बी थी। उसके होठ लम्बे थे। उसका मुख धवल, गोल, पृथक्-पृथक्, तीखी स्थिर, मोटी और टेढ़ी दाढ़ों से व्याप्त था। उसके दो जिह्वाओं के अग्रभाग बिना म्यान की धारदार तलवार-युगल के समान थे, पतले थे, चपल थे, उनमें से निरन्तर लार टपक रही थी। वह रस-लोलुप थे, चंचल थे, लपलपा रहे थे और मुख से बाहर निकले हुए थे। मुख फटा होने से उसका लाल-लाल तालु खुला दिखाई देता था और वह बड़ा, विकृत, बीभत्स और लार भराने वाला था। उसके मुख से अग्नि की ज्वालाएं निकल रही थीं। अतएव वह ऐसा जान पड़ता था, जैसे हिंगलू से व्याप्त अंजनगिरि की गुफा रूपी बिल हो। सिकुड़े हुए मोठ (चरस) के समान उसके गाल सिकुड़े हुए थे, अथवा उसकी इन्द्रियाँ, शरीर की चमड़ी, होठ और गाल—सब सल वाले थे। उसकी नाक छोटी थी, चपटी थी, टेढ़ी थी और भग्न थी, अर्थात् ऐसी जान पड़ती थी जैसे लोहे के घन से कूटपीट दी गई हो। उसके दोनों नथुनों (नासिकापुटों) से क्रोध के कारण निकलता हुआ श्वासवायु निष्ठुर और अत्यन्त कर्कश था। उसका मुख मनुष्य आदि के घात के लिए रचित होने से भीषण दिखाई देता था। उसके दोनों कान चपल और लम्बे थे, उनकी शष्कुली ऊँचे मुख वाली थी, उन पर लम्बे-लम्बे और विकृत बाल थे और वे कान नेत्र के पास की हड्डी (शंख) तक को छूते थे। उसके नेत्र पीले और चमकदार थे। उसके ललाट पर भृकुटि चढ़ी थी जो बिजली जैसी दिखाई देती थी। उसकी ध्वजा के चारों ओर मनुष्यों के मुंडों की माला लिपटी हुई थी। विचित्र प्रकार के गोनस जाति के सर्पों का उसने बख्तर बना रखा था। उसने इधर-उधर फिरते और फुफकारने वाले सर्पों, बिच्छुओं, गोहों, चूहों, नकुलों और गिरगिटों की विचित्र प्रकार की उत्तरासंग जैसी माला पहनी हुई थी। उसने भयानक फन वाले और धमधमाते हुए दो काले साँपों के लम्बे लटकते कुंडल धारण किये थे। अपने दोनों कंधों पर बिलाव और सियार रखे थे। अपने मस्तक पर देदीप्यमान एवं घू-घू ध्वनि करने वाले उल्लू का मुकुट बनाया था। वह घंटा के शब्द के कारण भीम और भयंकर प्रतीत होता था। कायर जनों के हृदय को दलन करने वाला—चीर देने वाला था। वह देदीप्यमान अट्टहास कर रहा था। उसका शरीर चर्बी, रक्त, मवाद, मांस और मल से मलिन और लिप्त था। वह प्राणियों को त्रास उत्पन्न करता था। उसकी छाती चौड़ी थी। उसने श्रेष्ठ व्याघ्र का ऐसा चित्र-विचित्र चमड़ा पहन रखा था, जिसमें (व्याघ्र के) नाखून (रोम) मुख, नेत्र और कान आदि अवयव पूरे और साफ दिखाई पड़ते थे। उसने ऊपर उठाये हुए दोनों हाथों पर रस और रुधिर से लिप्त हाथी का चमड़ा फैला रखा था। वह पिशाच नौका पर बैठे

हुए लोगों की, अत्यन्त कठोर, स्नेहहीन, अनिष्ट, उत्तापजनक, स्वरूप से ही अशुभ, अप्रिय तथा अकान्त—अनिष्ट स्वर वाली (अमनोहर) वाणी से तर्जना कर रहा था। ऐसा भयानक पिशाच उन लोगों को दिखाई दिया।

विवेचन—उल्लिखित पाठ में ताल पिशाच का दिल दहलाने वाला चित्र अंकित किया गया है। पाठ के प्रारम्भ में 'अरहण्णगवज्जा संजत्ताणावावाणियगा' पाठ आया है। इसका आशय यह नहीं है कि अर्हन्नक के सिवाय अन्य वणिकों ने ही उस पिशाच को देखा। वस्तुत: अर्हन्नक ने भी उसे देखा था, जैसा कि आगे के पाठों से स्पष्ट प्रतीत होता है। किन्तु 'अर्हन्नक के सिवाय' इस वाक्यांश का सम्बन्ध सूत्र संख्या ६४ वें के साथ है। अर्थात् अर्हन्नक के सिवाय अन्य वणिकों ने उस भीषणतर संकट के उपस्थित होने पर क्या किया, यह बतलाने के लिए 'अर्हन्नकवज्जा' पद का प्रयोग किया गया है। उस संकट के अवसर पर अर्हन्नक ने क्या किया, यह सूत्र संख्या ६५ वें में प्रदर्शित किया गया है।

अन्य वणिकों से अर्हन्नक की भिन्नता दिखलाना सूत्रकार का अभीष्ट है। भिन्नता का कारण है—अर्हन्नक का श्रमणोपासक होना, जैसा कि सूत्र ५३ में प्रकट किया गया है। सच्चे श्रावक में धार्मिक दृढ़ता किस सीमा तक होती है, यह घटना उसका स्पष्ट निदर्शन कराती है।

६४—तं तालपिसायरूवं एज्जमाणं पासंति, पासित्ता भीया संजायभया अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा बहूणं इंदाण य खंदाण य रुद्द-सिव-वेसमण-णागाणं भूयाण य जक्खाण य अज्जकोट्ट-किरियाण य बहूणि उवाइयसयाणि ओवाइयमाणा ओवाइयमाणा चिट्ठंति।

अर्हन्नक को छोड़कर शेष नौकावणिक तालपिशाच के रूप को नौका की ओर आता देख कर डर गये, अत्यन्त भयभीत हुए, एक दूसरे के शरीर से चिपट गये और बहुत से इन्द्रों की, स्कन्दों (कार्तिकेय) की तथा रुद्र, शिव, वैश्रमण और नागदेवों की, भूतों की, यक्षों की, दुर्गा की तथा कोट्टक्रिया (महिषवाहिनी दुर्गा) देवी की बहुत-बहुत सैकड़ों मनौतियाँ मनाने लगे।

६५—तए णं से अरहन्नए समणोवासए तं दिव्वं पिसायरूवं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता अभीए अतत्थे अचलिए असंभंते अणाउले अणुव्विग्गे अभिण्णमुहराग-णयणवण्णे अदीणविमणमाणसे पोयवहणस्स एगदेसंमि वत्थंतेणं भूमिं पमज्जइ, पमज्जित्ता ठाणं ठाइ, ठाइत्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

'नमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं जाव[1] ठाणं संपत्ताणं, जइ णं अहं एत्तो उवसग्गाओ मुंचामि तो मे कप्पइ पारित्तए, अह णं एत्तो उवसग्गाओ ण मुंचामि तो मे तहा पच्चक्खाएयव्वे' त्ति कट्टु सागारं भत्तं पच्चक्खाइ।

अर्हन्नक श्रमणोपासक ने उस दिव्य पिशाचरूप को आता देखा। उसे देख कर वह तनिक भी भयभीत नहीं हुआ, त्रास को प्राप्त नहीं हुआ, चलायमान नहीं हुआ संभ्रान्त नहीं हुआ, व्याकुल नहीं हुआ, उद्विग्न नहीं हुआ। उसके मुख का राग और नेत्रों का वर्ण बदला नहीं। उसके मन में दीनता या खिन्नता उत्पन्न नहीं हुई। उसने पोतवहन के एक भाग में जाकर वस्त्र के छोर से भूमि का प्रमार्जन किया। प्रमार्जन करके उस स्थान पर बैठ गया और दोनों हाथ जोड़ कर इस प्रकार बोला—

१. प्र. अ. ८

'अरिहन्त भगवंत' यावत् सिद्धि को प्राप्त प्रभु को नमस्कार हो (इस प्रकार 'नमोत्थु णं' का पूरा पाठ उच्चारण किया)। फिर कहा—'यदि मैं इस उपसर्ग से मुक्त हो जाऊँ तो मुझे यह कायोत्सर्ग पारना कल्पता है, और यदि इस उपसर्ग से मुक्त न होऊँ तो यही प्रत्याख्यान कल्पता है, अर्थात् कायोत्सर्ग पारना नहीं कल्पता।' इस प्रकार कह कर उसने सागारी अनशन ग्रहण कर लिया।

६६—तए णं से पिसायरूवे जेणेव अरहन्नए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अरहन्नगं एवं वयासीः—

'हं भो अरहन्नगा ! अपत्थियपत्थिया ! जाव [दुरंतपंतलक्खणा ! हीणपुण्णचाउद्दसिया ! सिरि-हिरि-धिइ-कित्ति]परिवज्जिया ! णो खलु कप्पइ तव सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं चालित्तए वा एवं खोभेत्तए वा, खंडित्तए वा, भंजित्तए वा, उज्झित्तए वा, परिच्चइत्तए वा। तं जइ णं तुमं सीलव्वयं जाव ण परिच्चयसि तो ते अहं एयं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाहिं गेण्हामि, गेण्हित्ता सत्तट्ठतलप्पमाणमेत्ताइं उड्ढं वेहासे उव्विहामि, उव्विहित्ता अंतो जलंसि णिच्छोलेमि, जेणं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे असमाहिपत्ते अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।'

तत्पश्चात् वह पिशाचरूप वहाँ आया, जहाँ अर्हन्नक श्रमणोपासक था। आकर अर्हन्नक से इस प्रकार कहने लगा—

'अरे अप्रार्थित'—मौत—की प्रार्थना (इच्छा) करने वाले ! यावत् [कुलक्षणी ! अभागिनी-काली चौदस के जन्मे !, लज्जा कीर्त्ति बुद्धि और लक्ष्मी से] परिवर्जित ! तुझे शीलव्रत—अणुव्रत,, गुणव्रत विरमण-रागादि की विरति का प्रकार, नवकारसी आदि प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से चलायमान होना अर्थात् जिस भांगे से जो व्रत ग्रहण किया हो उसे वदल कर दूसरे भांगे से कर लेना, क्षोभयुक्त होना अर्थात् 'इस व्रत को इसी प्रकार पालूँ या त्याग दूँ' ऐसा सोच कर क्षुब्ध होना, एक देश से खण्डित करना; पूरी तरह भंग करना, देशविरति का सर्वथा त्याग करना कल्पता नहीं है। परन्तु तू शीलव्रत आदि का परित्याग नहीं करता तो मैं तेरे इस पोतवहन को दो उंगलियों पर उठाए लेता हूँ और सात-आठ तल की ऊँचाई तक आकाश में उछाले देता हूँ और उछाल कर इसे जल के अन्दर डुबाए देता हूँ, जिससे तू आर्त्तध्यान के वशीभूत होकर, असमाधि को प्राप्त होकर जीवन से रहित हो जायगा—मौत का ग्रास बन जायगा।'

६७—तए णं से अरहन्नए समणोवासए तं देवं मणसा चेव एवं वयासी—'अहं णं देवाणुप्पिया ! अरहन्नए णामं समणोवासए अहिगयजीवाजीवे, नो खलु अहं सक्का केणइ देवेण वा जाव [दाणवेण वा जक्खेण वा रक्खसेण वा किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा] निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभेत्तए वा विपरिणामेत्तए वा, तुमं णं जा सद्धा तं करेहि त्ति कट्टु अभीए जाव[1] अभिन्नमुहरागणयणवन्ने अदीणविमणमाणसे निच्चले निप्फंदे तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ।

तब अर्हन्नक श्रमणोपासक ने उस देव को मन ही मन इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! मैं अर्हन्नक नामक श्रावक हूँ और जड़-चेतन के स्वरूप का ज्ञाता हूँ (मुझे कुछ ऐसा-वैसा अज्ञान या

१. अ. अ. ६५.

कायर मत समझना)। निश्चय ही मुझे कोई देव, दानव [यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष महोरग या गन्धर्व—कोई भी देव अथवा दैवी शक्ति] निर्ग्रन्थप्रवचन से चलायमान नहीं कर सकता, क्षुब्ध नहीं कर सकता और विपरीत भाव उत्पन्न नहीं कर सकता। तुम्हारी जो श्रद्धा (इच्छा) हो सो करो।'

इस प्रकार कह कर अर्थात् उस पिशाच को चुनौती देकर अर्हन्नक निर्भय, अपरिवर्तित मुख के रंग और नेत्रों के वर्ण वाला, दैन्य और मानसिक खेद से रहित, निश्चल, निस्पन्द मौन और धर्म-ध्यान में लीन बना रहा।

६८—तए णं से दिव्वे पिसायरूवे अरहन्नगं समणोवासयं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—'हं भो अरहन्नगा!' जाव अदीणविमणमाणसे निच्चले निप्फंदे तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ।

तत्पश्चात् वह दिव्य पिशाचरूप अर्हन्नक श्रमणोपासक से दूसरी बार और फिर तीसरी बार कहने लगा—'अरे अर्हन्नक!' इत्यादि कहकर पूर्ववत् धमकी दी। यावत् अर्हन्नक ने भी वही उत्तर दिया और वह दीनता एवं मानसिक खेद से रहित, निश्चल, निस्पंद, मौन और धर्मध्यान में लीन बना रहा—उस पर पिशाच की धमकी का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा।

६९—तए णं से दिव्वे पिसायरूवे अरहन्नगं धम्मज्झाणोवगयं पासइ, पासित्ता बलियतरागं आसुरुत्ते तं पोयवहणं दोहिं अंगुलयाहिं गिण्हइ, गिण्हित्ता सत्तट्ठत (ता) लाइं जाव अरहन्नगं एवं वयासी—'हं भो अरहन्नगा! अपत्थियपत्थिया! णो खलु कप्पइ तव सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं तहेव जाव धम्मज्झाणोवगए विहरइ।

तत्पश्चात् उस दिव्य पिशाचरूप ने अर्हन्नक को धर्मध्यान में लीन देखा। देखकर उसने और अधिक कुपित होकर उस पोतवहन को दो उंगलियों से ग्रहण किया। ग्रहण करके सात-आठ मंजिल की या ताड़ के वृक्षों की ऊँचाई तक ऊपर उठाकर अर्हन्नक से कहा—'अरे अर्हन्नक! मौत की इच्छा करने वाले! तुझे शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पौषध आदि का त्याग करना नहीं कल्पता है, इत्यादि सब पूर्ववत् समझना चाहिए। किन्तु इस प्रकार कहने पर भी अर्हन्नक किंचित भी चलायमान न हुआ और धर्मध्यान में ही लीन बना रहा।

७०—तए णं से पिसायरूवे अरहन्नगं जाहे नो संचाएइ निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ताहे उवसंते जाव निव्विण्णे तं पोयवहणं सणियं सणियं उवरिं जलस्स ठवेइ, ठवित्ता तं दिव्वं पिसायरूवं पडिसाहरइ, पडिसाहरित्ता दिव्वं देवरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता अंतलिक्खपडिवन्ने सखिंखिणियाइं जाव [दसद्धवण्णाइं वत्थाइं पवर] परिहिए अरहन्नगं समणोवासयं एवं वयासी—

तत्पश्चात् वह पिशाचरूप जब अर्हन्नक को निर्ग्रन्थ-प्रवचन से चलायमान, क्षुभित एवं विपरिणत करने में समर्थ नहीं हुआ, तब वह उपशान्त हो गया, यावत् मन में खेद को प्राप्त हुआ। फिर उसने उस पोतवहन को धीरे-धीरे उतार कर जल के ऊपर रखा। रखकर पिशाच के दिव्य रूप का संहरण किया—उसे समेट लिया और दिव्य देव के रूप की विक्रिया की। विक्रिया करके, अधर स्थिर होकर घुंघुरुओं की छमछम की ध्वनि से युक्त पंचवर्ण उत्तम वस्त्र धारण करके अर्हन्नक श्रमणोपासक से इस प्रकार कहा—

७१—'हं भो अरहन्नगा ! धन्नोऽसि णं तुमं देवाणुप्पिया ! जाव जीवियफले, जस्स णं तव निग्गंथे पावयणे इमेयारूवा पडिवत्ती लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया, एवं खलु देवाणुप्पिया ! सक्के देविंदे देवराया सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए बहूणं देवाणं मज्झगए महया सद्देणं आइक्खइ—'एवं खलु जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चंपाए नयरीए अरहन्नए समणोवासए अहिगयजीवाजीवे, नो खलु सक्का केणए देवेण वा दाणवेण वा निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा जाव [खोभित्तए वा] विपरिणामित्तए वा।

तए णं अहं देवाणुप्पिया ! सक्कस्स देविंदस्स एयमट्ठं णो सद्दहामि, नो रोययामि। तए णं मम इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव [चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—'गच्छामि णं अरहन्नयस्स अंतियं पाउब्भवामि, जाणामि ताव अहं अरहन्नगं किं पियधम्मे ? णो पियधम्मे ? दढधम्मे ? नो दढधम्मे ? सीलव्वयगुणे किं चालेइ जाव [नो चालेइ ? खोभेइ नो खोभेइ ? खंडेइ ? नो खंडेइ ? भंजेइ नो भंजेइ ? उज्झइ नो उज्झइ ?] परिच्चयइ ? णो परिच्चयइ ? त्ति कट्टु एवं संपेहेमि, संपेहित्ता ओहिं पउंजामि, पउंजित्ता देवाणुप्पिया ! ओहिणा आभोएमि, आभोइत्ता उत्तरपुच्छिमं दिसीभागं उत्तरवेउव्वियं समुग्घामि, ताए उक्किट्ठाए जाव [देवगईए] जेणेव लवणसमुद्दे जेणेव देवाणुप्पिए तेणेव उवागच्छामि। उवागच्छित्ता देवाणुप्पियाणं उवसग्गं करेमि। नो चेव णं देवाणुप्पिया भीया वा तत्था वा, तं जं णं सक्के देविंदे देवराया वदइ, सच्चे णं एसमट्ठे। तं दिट्ठे णं देवाणुप्पियाणं इड्ढी जुई जसो बलं जाव [वीरियं पुरिसक्कार] परक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए। तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! खमंतुमरहंतु णं देवाणुप्पिया ! णाइ भुज्जो भुज्जो एवं करणयाए।' त्ति कट्टु पंजलिउडे पायवडिए एयमट्ठं भुज्जो भुज्जो खामेइ, खामित्ता अरहन्नयस्स दुवे कुंडलजुयले दलयइ, दलइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव पडिगए।

'हे अर्हन्नक ! तुम धन्य हो। हे देवानुप्रिय ! [तुम कृतार्थ हो, देवानुप्रिय ! तुम सफल लक्षण वाले हो, देवानुप्रिय !] तुम्हारा जन्म और तुम्हारा जीवन सफल है कि जिसको अर्थात् तुम को निर्ग्रन्थप्रवचन में इस प्रकार की प्रतिपत्ति (श्रद्धा) लब्ध हुई है, प्राप्त हुई है और आचरण में लाने के कारण सम्यक् प्रकार से सन्मुख आई है। हे देवानुप्रिय ! देवों के इन्द्र और देवों के राजा शक्र ने सौधर्म कल्प में, सौधर्मावतंसक नामक विमान में और सुधर्मा सभा में, बहुत-से देवों के मध्य में स्थित होकर महान् शब्दों से इस प्रकार कहा था—निस्सन्देह जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भरत क्षेत्र में, चम्पानगरी में अर्हन्नक नामक श्रमणोपासक जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता है। उसे निश्चय ही कोई देव या दानव निर्ग्रन्थप्रवचन से चलायमान करने में यावत् सम्यक्त्व से च्युत करने में समर्थ नहीं है।

'तब हे देवानुप्रिय ! देवेन्द्र शक्र की इस बात पर मुझे श्रद्धा नहीं हुई। यह बात रुची नहीं। तब मुझे इस प्रकार का विचार [चिन्तन, अभिलाष एवं संकल्प] उत्पन्न हुआ कि—'मैं जाऊँ और अर्हन्नक के समक्ष प्रकट होऊँ। पहले जानूँ कि अर्हन्नक को धर्म प्रिय है अथवा धर्म प्रिय नहीं है ? वह दृढ़धर्मा है अथवा दृढ़धर्मा नहीं है ? वह शील व्रत और गुणव्रत आदि से चलायमान होता है, यावत् [अथवा चलायमान नहीं होता ? क्षुब्ध होता है या नहीं ? अपने व्रतों को खंडित करता है अथवा नहीं ? उन्हें त्यागता है या नहीं ?] उनका परित्याग करता है, अथवा नहीं करता ? मैंने इस प्रकार विचार किया। विचार करके अवधि ज्ञान का उपयोग लगाया। उपयोग लगा कर

हे देवानुप्रिय ! मैंने जाना। जानकर ईशान कोण में जाकर उत्तर वैक्रिय शरीर बनाने के लिए वैक्रिय समुद्घात किया। तत्पश्चात् उत्कृष्ट यावत् शीघ्रता वाली देवगति से जहां लवण समुद्र था और जहां देवानुप्रिय (तुम) थे, वहां मैं आया। आकर मैंने देवानुप्रिय को उपसर्ग किया। मगर देवानुप्रिय भयभीत न हुए, त्रास को प्राप्त न हुए। अतः देवेन्द्र देवराज ने जो कहा था, वह अर्थ सत्य सिद्ध हुआ। मैंने देखा कि देवानुप्रिय को ऋद्धि-गुण रूप समृद्धि, द्युति-तेजस्विता, यश, शारीरिक बल यावत् पुरुषकार, पराक्रम लब्ध हुआ है, प्राप्त हुआ है और उसका भली-भांति सेवन किया गया है। तो हे देवानुप्रिय ! मैं आपको खमाता हूँ। आप क्षमा प्रदान करने योग्य हैं। हे देवानुप्रिय ! अब फिर कभी मैं ऐसा नहीं करूंगा।' इस प्रकार कहकर दोनों हाथ जोड़कर देव अर्हन्नक के पावों में गिर गया और इस घटना के लिए वार-वार विनयपूर्वक क्षमायाचना करने लगा। क्षमायाचना करके अर्हन्नक को दो कुंडल-युगल भेंट किये। भेंट करके जिस दिशा से प्रकट हुआ था, उसी दिशा में लौट गया।

७२—तए णं से अरहन्नए निरुवसग्गमित्ति कट्टु पडिमं पारेइ। तए णं ते अरहन्नगपामोक्खा जाव [संजत्तानावा] वाणियगा दक्खिणाणुकूलेणं वाएणं जेणेव गंभीरए पोयपट्टणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पोयं लंबंति, लंबित्ता सयडिसागडं सज्जेंति, सज्जित्ता तं गणिमं धरिमं मेज्जं पारिच्छेज्जं सगडिसागडं संकामेंति, संकामित्ता सगडिसागडं जोएंति, जोइत्ता जेणेव मिहिला नगरी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता मिहिलाए रायहाणीए बहिया अग्गुज्जाणंसि सगडिसागडं मोएन्ति, मोइत्ता मिहिलाए रायहाणीए तं महत्थं महग्घं महरिहं विउलं रायरिहं पाहुडं कुंडलजुयलं च गेण्हंति, गेण्हित्ता मिहिलाए रायहाणीए अणुपविसंति, अणुपविसित्ता जेणेव कुंभए राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल जाव [परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं] कट्टु तं महत्थं दिव्वं कुंडलजुयलं उवणेंति जाव पुरओ ठवेंति।

तत्पश्चात् अर्हन्नक ने उपसर्ग टल गया जान कर प्रतिमा पारी अर्थात् कायोत्सर्ग पारा। तदनन्तर वे अर्हन्नक आदि यावत् नौकावणिक् दक्षिण दिशा के अनुकूल पवन के कारण जहां गम्भीरनामक पोतपट्टन था, वहां आये। आकर उस पोत (नौका या जहाज) को रोका। रोक कर गाड़ी-गाड़े तैयार किये। तैयार करके वह गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य भांड को गाड़ी-गाड़ों में भरा। भरकर गाड़ी-गाड़े जोते। जोतकर जहां मिथिला नगरी थी, वहां आये। आकर मिथिला नगरी के बाहर उत्तम उद्यान में गाड़ी-गाड़े छोड़े। छोड़कर मिथिला नगरी में जाने के लिए वह महान् अर्थ वाली महामूल्य वाली, महान् जनों के योग्य, विपुल और राजा के योग्य भेंट और कुंडलों की जोड़ी ली। लेकर मिथिला नगरी में प्रवेश किया। प्रवेश करके जहां कुम्भ राजा था, वहां आये। आकर दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक पर अंजलि करके वह महान् अर्थ वाली भेंट और वह दिव्य कुंडलयुगल राजा के समीप ले गये, यावत् राजा के सामने रख दिया।

७३—तए णं कुंभए राया तेसिं संजत्तगाणं नावावाणियगाणं जाव[1] पडिच्छइ, पडिच्छित्ता मल्लिं विदेहवररायकन्नं सद्दावेइ, सद्दावित्ता तं दिव्वं कुंडलजुयलं मल्लीए विदेहवररायकन्नगाए पिणद्धइ, पिणद्धित्ता पडिविसज्जेइ।

---

1. अ. अ. ७२

तत्पश्चात् कुंभ राजा ने उन नौकावणिकों की वह बहुमूल्य भेंट यावत् अंगीकार की। अंगीकार करके विदेह की उत्तम राजकुमारी मल्ली को बुलाया। बुलाकर वह दिव्य कुंडलयुगल विदेह की श्रेष्ठ राजकुमारी मल्ली को पहनाया। पहना कर उसे विदा कर दिया।

७४—तए णं से कुंभए राया ते अरहन्नगपामोक्खे जाव वाणियगे विपुलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेण वत्थ-गंध-मल्लालंकारेणं जाव [सक्कारेइ सम्माणेइ सक्कारित्ता सम्माणित्ता] उस्सुक्कं वियरेइ, वियरित्ता रायमग्गमोगाढे य आवासे वियरइ, वियरित्ता पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् कुम्भ राजा ने उन अर्हन्नक आदि नौकावणिकों का विपुल अशन आदि से तथा वस्त्र, गंध, माला और अलंकार से सत्कार किया। उनका शुल्क माफ कर दिया। राजमार्ग पर उनको उतारा दिया और फिर उन्हें विदा किया।

७५—तए णं अरहन्नगसंजत्तगा जेणेव रायमग्गमोगाढे आवासे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भंडववहरणं करेंति, करित्ता पडिभंडं गेण्हंति, गेण्हित्ता सगडिसागडं भरेंति, जेणेव गंभीरए पोयपट्टणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पोयवहणं सज्जेंति, सज्जित्ता भंडं संकामेंति, दक्खिणाणुकूलेणं वाएणं जेणेव चंपाए पोयट्ठाणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पोयं लंबेंति, लंबित्ता सगडिसागडं सज्जेंति, सज्जित्ता तं गणिमं धरिमं मेज्जं पारिच्छेज्जं सगडीसागडं संकामेंति, संकामेत्ता जाव[1] महत्थं पाहुडं दिव्वं च कुंडलजुयलं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव चंदच्छाए अंगराया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तं महत्थं जाव[2] उवणेंति।

तत्पश्चात् वे अर्हन्नक आदि सांयात्रिक वणिक्, जहां राजमार्ग पर आवास था, वहां आये। आकर भाण्ड का व्यापार करने लगे। व्यापार करके उन्होंने प्रतिभांड (सौदे के बदले में दूसरा सौदा) खरीदा। खरीद कर उसके गाड़ी-गाड़े भरे। भरकर जहाँ गम्भीर पोतपट्टन था, वहां आये। आकर के पोतवहन सजाया—तैयार किया। तैयार करके उसमें सब भांड भरा। भरकर दक्षिण दिशा के अनुकूल वायु के कारण जहाँ चम्पा नगरी का पोतस्थान (बन्दरगाह) था, वहां आये। आकर पोत को रोक कर गाड़ी-गाड़े ठीक किये। ठीक करके गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य—चार प्रकार का भांड उनमें भरा। भरकर यावत् बहुमूल्य भेंट और दिव्य कुण्डलयुगल ग्रहण किया। ग्रहण करके जहाँ अंगराज चन्द्रच्छाय था, वहाँ आये। आकर वह बहुमूल्य भेंट राजा के सामने रखी।

७६—तए णं चंदच्छाए अंगराया तं दिव्वं महत्थं च कुंडलजुयलं पडिच्छइ, पडिच्छित्ता ते अरहन्नगपामोक्खे एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया! बहूणि गामागर० जाव सन्निवेसाइं आहिंडह, लवणसमुद्दं च अभिक्खणं अभिक्खणं पोयवहणेहिं ओगाहेह, तं अत्थियाइं भे केइ कहिंचि अच्छेरए दिट्ठपुव्वे ?'

तत्पश्चात् चन्द्रच्छाय अंगराज ने उस दिव्य एवं महामूल्यवान् कुण्डलयुगल (आदि) को स्वीकार किया। स्वीकार करके उन अर्हन्नक आदि से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो! आप बहुत-से ग्रामों, आकरों आदि में भ्रमण करते हो तथा बार-बार लवणसमुद्र में जहाज द्वारा प्रवेश करते हो तो आपने पहले किसी जगह कोई भी आश्चर्य देखा है ?'

१-२. अ. अ. ७२

७७—तए णं ते अरहन्नगपामोक्खा चंदच्छायं अंगरायं एवं वयासी—'एवं खलु सामी ! अम्हे इहेव चंपाए नयरीए अरहन्नगपामोक्खा बहवे संजत्तगा णावावाणियगा परिवसामो, तए णं अम्हे अन्नया कयाइं गणिमं च धरिमं च मेज्जं च परिच्छेज्जं च तहेव अहीणमतिरित्तं जाव कुंभगस्स रण्णो उवणेमो। तए णं से कुंभए मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए तं दिव्वं कुंडलजुयलं पिणद्धेइ, पिणद्धित्ता पडिविसज्जेइ। तं एस णं सामी ! अम्हेहिं कुंभरायभवणंसि मल्ली विदेहरायवरकन्ना अच्छेरए दिट्ठे, तं नो खलु अन्ना का वि तारिसिया देवकन्ना वा जाव [असुरकन्ना वा नागकन्ना वा जक्खकन्ना वा गंधव्वकन्ना वा रायकन्ना वा] जारिसिया णं मल्ली विदेहरायवरकन्ना।

तब उन अर्हन्नक आदि वणिकों ने चन्द्रच्छाय नामक अङ्ग देश के राजा से इस प्रकार कहा—हे स्वामिन् ! हम अर्हन्नक आदि बहुत-से सांयात्रिक नौकावणिक् इसी चम्पानगरी में निवास करते हैं। एक बार किसी समय हम गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य भांड भर कर—इत्यादि सब पहले की भाँति ही न्यूनता-अधिकता के विना कहना—यावत् कुम्भ राजा के पास पहुंचे और भेंट उसके सामने रखी। उस समय कुम्भ राजा ने मल्लीनामक विदेह राजा की श्रेष्ठ कन्या को वह दिव्य कुंडलयुगल पहनाया। पहना कर उसे विदा कर दिया। तो हे स्वामिन् ! हमने कुम्भ राजा के भवन में विदेह राजा की श्रेष्ठ कन्या मल्ली आश्चर्य रूप में देखी है। मल्ली नामक विदेहराजा की श्रेष्ठ कन्या जैसी सुन्दर है, वैसी दूसरी कोई देवकन्या, असुरकन्या, नागकन्या, यक्षकन्या, गंधर्वकन्या या राजकन्या नहीं है।

७८—तए णं चंदच्छाए ते अरहन्नगपामोक्खे सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता, सम्माणित्ता पडिविसज्जेइ। तए णं चंदच्छाए वाणियगजणियहासे दूतं सद्दावेइ, जाव[1] जइ वि य णं सा सयं रज्जसुक्का। तए णं से दूते हट्ठे जाव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् चन्द्रच्छाय राजा ने अर्हन्नक आदि का सत्कार-सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके विदा किया। तदनन्तर वणिकों के कथन से चन्द्रच्छाय को अत्यन्त हर्ष (अनुराग) हुआ। उसने दूत को बुलाकर कहा—इत्यादि कथन सब पहले के समान ही कहना—अर्थात् राजकुमारी मल्ली की मेरी पत्नी के रूप में मंगनी करो। भले ही वह कन्या मेरे सारे राज्य के मूल्य की हो, तो भी स्वीकार करना। दूत हर्षित होकर मल्ली कुमारी की मँगनी के लिए चल दिया।

राजा रुक्मि

७९—तेणं कालेणं तेणं समएणं कुणाला नाम जणवए होत्था। तत्थ णं सावत्थी नामं नयरी होत्था। तत्थ णं रुप्पी कुणालाहिवई नामं राया होत्था। तस्स णं रुप्पिस्स धूया धारिणीए देवीए अत्तया सुबाहुनामं दारिया होत्था, सुकुमाल० रूवेण य जोव्वणेणं लावण्णेणं य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया यावि होत्था। तीसे णं सुबाहूए दारियाए अन्नया चाउम्मासियमज्जणए जाए यावि होत्था।

उस काल और उस समय में कुणालनामक जनपद था। उस जनपद में श्रावस्तीनामक नगरी थी। उसमें कुणाल देश का अधिपति रुक्मि नामक राजा था। रुक्मि राजा की पुत्री और धारिणी-देवी की कूँख से जन्मी सुबाहु नामक कन्या थी। उसके हाथ-पैर आदि सब अवयव सुन्दर थे। वह

१. अ. अ. ५०-५१

रूप में यौवन में और लावण्य में उत्कृष्ट थी और उत्कृष्ट शरीर वाली थी। उस सुबाहु बालिका का किसी समय चातुर्मासिक स्नान (जलक्रीडा) का उत्सव आया।

८०—तए णं से रुप्पी कुणालाहिवई सुबाहूए दारियाए चाउम्मासियमज्जणयं उवट्ठियं जाणइ, जाणित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! सुबाहूए दारियाए कल्लं चाउम्मासियमज्जणए भविस्सइ, तं कल्लं तुब्भे णं रायमग्गमोगाढंसि चउक्कंसि (पुप्फमंडवंसि) जलथलयदसद्धवण्णमल्लं साहरेह, जाव [एगं महं सिरिदामगंडं गंधद्धणिं मुयंतं उल्लोयंसि ओलएह। तेवि तहेव] ओलइंति।

तब कुणालाधिपति रुक्मिराजा ने सुबाहु बालिका के चातुर्मासिक स्नान का उत्सव आया जाना। जानकर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रियो ! कल सुबाहु बालिका के चातुर्मासिक स्नान का उत्सव होगा। अतएव तुम राजमार्ग के मध्य में, चौक में (पुष्प-मण्डप में) जल और थल में उत्पन्न होने वाले पाँच वर्णों के फूल लाओ और एक सुगंध छोड़ने वाला श्रीदामकाण्ड (सुशोभित मालाओं का समूह) छत में लटकाओ।' यह आज्ञा सुनकर उन कौटुम्बिक पुरुषों ने इसी प्रकार कार्य किया।

८१—तए णं रुप्पी कुणालाहिवई सुवन्नगारसेणिं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! रायमग्गमोगाढंसि पुप्फमंडवंसि णाणाविहपंचवण्णेहिं तंदुलेहिं णगरं आलिहह। तस्स बहुमज्झदेसभाए पट्टयं रएह।' रइत्ता जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् कुणाल देश के अधिपति रुक्मिराजा ने सुवर्णकारों की श्रेणी को बुलाया। उसे बुलाकर कहा—'हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही राजमार्ग के मध्य में, पुष्पमण्डप में विविध प्रकार के पँचरंगे चावलों से नगर का आलेखन करो—नगर का चित्रण करो। उसके ठीक मध्य भाग में एक पाट (बाजौठ) रखो।' यह सुनकर उन्होंने इसी प्रकार कार्य करके आज्ञा वापिस लौटाई।

८२—तए णं से रुप्पी कुणालाहिवई हत्थिखंधवरगए चाउरंगिणीए सेणाए महया भड-चडकर-रह-पहकरविंद-परिक्खित्ते अंतेउरपरियालसंपरिवुडे सुबाहुं दारियं पुरओ कट्टु जेणेव रायमग्गे, जेणेव पुप्फमंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता पुप्फमंडवं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने।

तत्पश्चात् कुणालाधिपति रुक्मि हाथी के श्रेष्ठ स्कन्ध पर आरूढ हुआ। चतुरंगी सेना, बड़े-बड़े योद्धाओं और अंतःपुर के परिवार आदि से परिवृत होकर सुबाहु कुमारी को आगे करके, जहाँ राजमार्ग था और जहाँ पुष्पमंडप था, वहाँ आया। आकर हाथी के स्कन्ध से नीचे उतरा। उतर कर पुष्पमंडप में प्रवेश किया। प्रवेश करके पूर्व दिशा की ओर मुख करके उत्तम सिंहासन पर आसीन हुआ।

८३—तओ णं ताओ अंतेउरियाओ सुबाहुं दारियं पट्टयंसि दुरूहेंति। दुरूहित्ता सेयपीयएहिं कलसेहिं ण्हाणेंति, ण्हाणित्ता सव्वालंकारविभूसियं करेंति, करित्ता पिउणो पायं वंदिउं उवणेंति।

तए णं सुबाहू दारिया जेणेव रुप्पी राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पायग्गहणं करेइ।

तए णं से रुप्पी राया सुबाहुं दारियं अंके निवेसेइ, निवेसित्ता सुबाहुए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य जायविम्हए वरिसधरं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुमं णं देवाणुप्पिया! मम दोच्चेणं बहूणि गामागरनगर जाव सण्णिवेसाइं आहिंडसि, बहूण य राईसर जाव सत्थवाहपभिईणं गिहाणि अणुपविससि, तं अत्थियाइं ते कस्सइ रण्णो वा ईसरस्स वा कहिंचि एयारिसए मज्जणए दिट्ठपुव्वे, जारिसए णं इमीसे सुबाहुदारियाए मज्जणए?'

तत्पश्चात् अन्तःपुर की स्त्रियों ने सुबाहु कुमारी को उस पाट पर बिठलाया। बिठला कर श्वेत और पीत अर्थात् चांदी और सोने आदि के कलशों से उसे स्नान कराया। स्नान करा कर सब अलंकारों से विभूषित किया। फिर पिता के चरणों में प्रणाम करने के लिए लाईं।

तब सुबाहु कुमारी रुक्मि राजा के पास आई। आकर उसने पिता के चरणों का स्पर्श किया।

उस समय रुक्मि राजा ने सुबाहु कुमारी को अपनी गोद में बिठा लिया। बिठा कर सुबाहु कुमारी के रूप, यौवन और लावण्य को देखने से उसे विस्मय हुआ। विस्मित होकर उसने वर्षधर को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिय! तुम मेरे दौत्य कार्य से बहुत-से ग्रामों, आकरों, नगरों यावत् सन्निवेशों में भ्रमण करते हो और अनेक राजाओं, राजकुमारों यावत् सार्थवाहों आदि के गृहों में प्रवेश करते हो, तो तुमने कहीं भी किसी राजा या ईश्वर (धनवान्) के यहाँ ऐसा मज्जनक (स्नान-महोत्सव) पहले देखा है, जैसा इस सुबाहु कुमारी का मज्जन-महोत्सव है?'

८४—तए णं से वरिसधरे रुप्पि करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—एवं खलु सामी! अहं अन्नया तुब्भे णं दोच्चेणं मिहिलं गए, तत्थ णं मए कुंभगस्स रण्णो धूयाए, पभावईए देवीए अत्तयाए मल्लीए विदेहरायवरकन्नयाए मज्जणए दिट्ठे, तस्स णं मज्जणगस्स इमे सुबाहूए दारियाए मज्जणए सयसहस्सइमं पि कलं न अग्घेइ।

तत्पश्चात् वर्षधर (अन्तःपुर के रक्षक पंढ-विशेष) ने रुक्मि राजा से हाथ जोड़ कर मस्तक पर हाथ घुमाकर अंजलिबद्ध होकर इस प्रकार कहा—'हे स्वामिन्! एक बार मैं आपके दूत के रूप में मिथिला गया था। मैंने वहाँ कुंभ राजा की पुत्री और प्रभावती देवी की आत्मजा विदेहराज की उत्तम कन्या मल्ली का स्नान-महोत्सव देखा था। सुबाहु कुमारी का यह मज्जन-उत्सव उस मज्जनमहोत्सव के लाखवें अंश को भी नहीं पा सकता।

८५—तए णं से रुप्पी राया वरिसधरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सेसं तहेव मज्जण-गजणियहासे दूतं सद्दावेइ। सद्दावेत्ता एवं वयासी—जेणेव मिहिला नयरी तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् वर्षधर से यह बात सुनकर और हृदय में धारण करके, मज्जन-महोत्सव का वृत्तांत सुनने से जनित हर्ष (अनुराग) वाले रुक्मि राजा ने दूत को बुलाया। शेष सब वृत्तांत पहले के समान समझना। दूत को बुलाकर इस प्रकार कहा— (मिथिला नगरी में जाकर मेरे लिए मल्ली कुमारी की मँगनी करो। बदले में सारा राज्य देना पड़े तो उसे भी देना स्वीकार करना, आदि) यह सुनकर दूत मिथिला नगरी जाने को रवाना हो गया।

काशीराज शंख

८६—तेणं कालेणं तेणं समएणं कासी नामं जणवए होत्था। तत्थ णं वाणारसी नाम नयरी होत्था। तत्थ णं संखे नामं राया कासीराया होत्था।

उल काल और उस समय में काशी नामक जनपद था। उस जनपद में वाणारसी नामक नगरी थी। उसमें काशीराज शंखनामक राजा था।

८७—तए णं तीसे मल्लीए विदेहरायवरकन्नगाए अन्नया कयाइं तस्स दिव्वस्स कुंडल-जुयलस्स संधी विसंघडिए यावि होत्था।

तए णं कुंभए राया सुवन्नगारसेणिं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया! इमस्स दिव्वस्स कुंडलजुयलस्स संधिं संघाडेह।

एक बार किसी समय विदेहराज की उत्तम कन्या मल्ली के उस दिव्य कुण्डल-युगल का जोड़ खुल गया। तब कुम्भ राजा ने सुवर्णकारों की श्रेणी को बुलाया और कहा—'देवानुप्रियो! इस दिव्य कुण्डलयुगल के जोड़ को सांध दो।'

८८—तए णं सा सुवण्णगारसेणी एयमट्ठं तह त्ति पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता तं दिव्वं कुंडल-जुयलं गेण्हइ, गेण्हित्ता जेणेव सुवण्णगारभिसियाओ तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता सुवण्णगार-भिसियासु णिवेसेइ, णिवेसित्ता बहूहिं आएहि य जाव [उवाएहि य उप्पत्तियाहि य वेणइयाहि य कम्मियाहि य पारिणामियाहि य बुद्धीहिं) परिणामेमाणा इच्छंति तस्स दिव्वस्स कुंडलजुयलस्स संधिं घडित्तए, नो चेव णं संचाएंति संघडित्तए।

तत्पश्चात् सुवर्णकारों की श्रेणी ने 'तथा-ठीक है', इस प्रकार कह कर इस अर्थ को स्वीकार किया। स्वीकार करके उस दिव्य कुण्डलयुगल को ग्रहण किया। ग्रहण करके जहाँ सुवर्णकारों के स्थान (औजार रखने के स्थान) थे, वहाँ आये। आ करके उन स्थानों पर कुण्डलयुगल रखा। रख कर बहुत-से [यत्नों से, उपायों से, औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी एवं पारिणामिकी बुद्धियों से] उस कुण्डलयुगल को परिणत करते हुए उसका जोड़ साँधना चाहा, परन्तु उसे साँधने में समर्थ न हो सके।

८९—तए णं सा सुवन्नगारसेणी जेणेव कुंभए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल० जाव वद्धावेत्ता एवं वयासी—'एवं खलु सामी! अज्ज तुब्भे अम्हे सद्दावेह। सद्दावेत्ता जाव संधिं संघाडेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। तए णं अम्हे तं दिव्वं कुंडलजुयलं गेण्हामो। जेणेव सुवन्नगार-भिसियाओ जाव नो संचाएमो संघाडित्तए। तए णं अम्हे सामी! एयस्स दिव्वस्स कुंडलस्स अन्नं सरिसयं कुंडलजुयलं घडेमो।'

तत्पश्चात् वह सुवर्णकार श्रेणी, कुम्भ राजा के पास आई। आकर दोनों हाथ जोड़ कर और जय-विजय शब्दों से वधा कर इस प्रकार निवेदन किया—'स्वामिन्! आज आपने हम लोगों को बुलाया था। बुला कर यह आदेश दिया था कि कुण्डलयुगल की संधि जोड़ कर मेरी आज्ञा वापिस लौटाओ। तब हमने वह दिव्य कुण्डलयुगल लिया। हम अपने स्थानों पर गये, बहुत उपाय

किये, परन्तु उस संधि को जोड़ने के लिए शक्तिमान् न हो सके। अतएव (आपकी आज्ञा हो तो) हे स्वामिन्! हम इस दिव्य कुण्डलयुगल सरीखा दूसरा कुण्डलयुगल बना दें।'

९०—तए णं से कुंभए राया तीसे सुवण्णगारसेणीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते, तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु एवं वयासी:—

'से के णं तुब्भे कलायणं भवह? जे णं तुब्भे इमस्स कुंडलजुयलस्स नो संचाएह संधिं संघाडेत्तए?' ते सुवण्णगारे निव्विसए आणवेइ।

सुवर्णकारों का कथन सुन कर और हृदयंगम करके कुंभ राजा क्रुद्ध हो गया। ललाट पर तीन सलवट डाल कर इस प्रकार कहने लगा—'अरे! तुम कैसे सुनार हो जो इस कुण्डलयुगल का जोड़ भी सांध नहीं सकते? अर्थात् तुम लोग बड़े मूर्ख हो। ऐसा कहकर उन्हें देशनिर्वासन की आज्ञा दे दी।

९१—तए णं ते सुवण्णगारा कुंभेणं रण्णा निव्वसया आणत्ता समाणा जेणेव साइं साइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सभंडमत्तोवगरणमायाए मिहिलाए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं निक्खमंति। निक्खमित्ता विदेहस्स जणवयस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव कासी जणवए, जेणेव वाणारसी नयरी तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता अग्गुज्जाणंसि सगडीसागडं मोएंति, मोइत्ता महत्थं जाव पाहुडं गेण्हंति, गेण्हित्ता वाणारसीए नयरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव संखे कासीराया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल० जाव वद्धावेंति, वद्धावित्ता पाहुडं पुरओ ठावेंति, ठावित्ता संखरायं एवं वयासी :—

तत्पश्चात् कुंभ राजा द्वारा देशनिर्वासन की आज्ञा पाये हुए वे स्वर्णकार अपने-अपने घर आये। आकर अपने भांड, पात्र और उपकरण आदि लेकर मिथिला नगरी के बीचोंबीच होकर निकले। निकल कर विदेश जनपद के मध्य में होकर जहाँ काशी जनपद था और जहाँ वाणारसी नगरी थी, वहाँ आये। वहाँ आकर अग्र (उत्तम) उद्यान में गाड़ी-गाड़े छोड़े। छोड़ कर महान् अर्थ वाले राजा के योग्य बहुमूल्य उपहार लेकर, वाणारसी नगरी के बीचोंबीच होकर जहाँ काशीराज शंख था वहाँ आये। आकर दोनों हाथ जोड़ कर यावत् जय-विजय शब्दों से बधाया। बधाकर वह उपहार राजा के सामने रखा। रख कर शंख राजा से इस प्रकार निवेदन किया—

९२—'अम्हे णं सामी! मिहिलाओ नयरीओ कुंभएणं रण्णा निव्विसया आणत्ता समाणा इहं हव्वमागया, तं इच्छामो णं सामी! तुब्भं बाहुच्छायापरिग्गहिया निब्भया निरुव्विग्गा सुहं सुहेणं परिवसिउं।'

तए णं संखे कासीराया ते सुवण्णगारे एवं वयासी—'किं णं तुब्भे देवाणुप्पिया! कुंभएणं रण्णा निव्विसया आणत्ता?'

तए णं ते सुवण्णगारा संखं एवं वयासी—'एवं खलु सामी! कुंभगस्स रण्णो धूयाए पभावईए देवीए अत्तयाए मल्लीए कुंडलजुयलस्स संधी विसंघडिए। तए णं से कुंभए सुवण्णगारसेणिं सद्दावेइ, सद्दावित्ता जाव निव्विसया आणत्ता।'

'हे स्वामिन् ! राजा कुंभ के द्वारा मिथिला नगरी से निर्वासित हुए हम सीधे यहाँ आये हैं। हे स्वामिन् ! हम आपकी भुजाओं की छाया में ग्रहण किये हुए अर्थात् आपके संरक्षण में रह कर निर्भय और उद्वेगरहित होकर सुख-शान्तिपूर्वक निवास करना चाहिते हैं।'

तब काशीराज शंख ने उन सुवर्णकारों से कहा—'देवानुप्रियो ! कुंभ राजा ने तुम्हें देश-निकाले की आज्ञा क्यों दी ?'

तब सुवर्णकारों ने शंख राजा से इस प्रकार कहा—'स्वामिन् ! कुंभ राजा की पुत्री और प्रभावती देवी की आत्मजा मल्ली कुमारी के कुण्डलयुगल का जोड़ खुल गया था। तब कुंभ राजा ने सुवर्णकारों की श्रेणी को बुलाया। बुलाकर यावत् (उसे सांधने के लिए कहा। हम उसे अनेक उपाय करके भी सांध नहीं सके, अतः) देशनिर्वासन की आज्ञा दे दी।

९३—तए णं से संखे सुवन्नगारे एवं वयासी—केरिसिया णं देवाणुप्पिया ! कुंभगस्स धूया पभावईए देवीए अत्तया मल्ली विदेहरायवरकन्ना ?'

तए णं ते सुवण्णगारा संखरायं एवं वयासी—णो खलु सामी ! अन्ना काई तारिसिया देवकन्ना वा जाव [असुरकन्ना वा नागकन्ना वा जक्खकन्ना वा गंधव्वकन्ना वा रायकन्ना वा] जारिसिया णं मल्ली विदेहरायवरकन्ना।

तए णं कुंडलजुअलजणियहासे दूतं सद्दावेइ, जाव तहेव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् शंख राजा ने सुवर्णकारों से कहा—'देवानुप्रियो ! कुंभ राजा की पुत्री और प्रभावती की आत्मजा मल्ली विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या कैसी है ?'

तब सुवर्णकारों ने शंखराज से कहा—'स्वामिन् ! जैसी विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्ली है, वैसी कोई देवकन्या अथवा असुरकन्या, नागकन्या, यक्षकन्या, गन्धर्वकन्या भी नहीं है, कोई राजकुमारी भी नहीं है।'

तत्पश्चात् कुण्डल की जोड़ी से जनित हर्ष वाले शंख राजा ने दूत को बुलाया। इत्यादि सब वृत्तान्त पूर्ववत् जानना अर्थात् शंख राजा ने भी मल्ली कुमारी की मँगनी के लिए दूत भेज दिया और उससे कह दिया कि मल्ली कुमारी के शुल्क रूप में सारा राज्य देना पड़े तो दे देना। दूत मिथिला जाने को रवाना हो गया।

राजा अदीनशत्रु

९४—तेणं कालेणं तेणं समएणं कुरुजणवए होत्था, हत्थिणाउरे नयरे, अदीणसत्तू नामं राया होत्था, जाव [रज्जं पसासमाणे] विहरइ।

उस काल और उस समय में कुरुनामक जनपद था। उसमें हस्तिनापुर नगर था। अदीनशत्रु नामक वहाँ राजा था। यावत् वह (राज्यशासन करता सुखपूर्वक) विचरता था।

९५—तत्थ णं मिहिलाए कुंभगस्स पुत्ते पभावईए अत्तए मल्लीए अणुजायए मल्लदिन्नए नाम कुमारे जाव[1] जुवराया यावि होत्था।

१. औ. सूत्र १४३

तए णं मल्लदिन्ने कुमारे अन्नया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे मम पमदवणंसि एगं महं चित्तसभं करेह अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं, एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह, ते वि तहेव पच्चप्पिणंति।

उस मिथिला नगरी में कुंभ राजा का पुत्र, प्रभावती महारानी का आत्मज और मल्ली कुमारी का अनुज मल्लदिन्ननामक कुमार था। वह युवराज था।

किसी समय एक बार मल्लदिन्न कुमार ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुला कर इस प्रकार कहा—तुम जाओ और मेरे प्रमद वन (घर के उद्यान) में एक बड़ी चित्रसभा का निर्माण करो, जो सैकड़ों स्तम्भों से युक्त हो, इत्यादि। यावत् उन्होंने ऐसा ही करके, चित्रसभा का निर्माण करके आज्ञा वापिस लौटा दी।

६६—तए णं मल्लदिन्ने कुमारे चित्तगरसेणिं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया! चित्तसभं हाव-भाव-विलास-विब्बोय-कलिएहिं रूवेहिं चित्तेह। चित्तित्ता जाव पच्चप्पिणह।

तए णं सा चित्तगरसेणी तह त्ति पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जेणेव सयाइं गिहाइं, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तूलियाओ वन्नए य गेण्हंति, गेण्हत्ता जेणेव चित्तसभा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता अणुपविसति, अणुपविसित्ता भूमिभागे विरचति (विहिंवति), विरचित्ता (विहिंवित्ता) भूमिं सज्जति, सज्जित्ता चित्तसभं हावभाव जाव चित्तेउं पयत्ता यावि होत्था।

तत्पश्चात् मल्लदिन्न कुमार ने 'चित्रकारों की श्रेणी को बुलाया। बुला कर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! तुम लोग चित्रसभा को हाव, भाव, विलास और विब्वोक से युक्त रूपों से (चित्रों से) चित्रित करो। चित्रित करके यावत् मेरी आज्ञा वापिस लौटाओ।'

तत्पचात् चित्रकारों की श्रेणी ने 'तथा-बहुत ठीक' इस प्रकार कह कर कुमार की आज्ञा शिरोधार्य की। फिर वे अपने-अपने घर गये। घर जाकर उन्होंने तूलिकाएँ लीं और रंग लिए। लेकर जहाँ चित्रसभा थी वहाँ आए। आकर चित्रसभा में प्रवेश किया। प्रवेश करके भूमि के भागों का विभाजन किया। विभाजन करके अपनी-अपनी भूमि को सज्जित किया—तैयार किया—चित्रों के योग्य बनाया। सज्जित करके चित्रसभा में हाव-भाव आदि से युक्त चित्र अंकित करने में लग गये।

विवेचन—हाव-भाव आदि साधारणतया स्त्रियों की चेष्टाओं को कहते हैं। उनका परस्पर अन्तर यह है—हाव अर्थात् मुख का विकार, भाव अर्थात् चित्त का विकार, विलास अर्थात् नेत्र का विकार और विब्वोक अर्थात् इष्ट अर्थ की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला अभिमान का भाव। युवराज मल्लदिन्न ने इन सभी शृंगार रस के भावों को चित्रित करने का आदेश दिया।

६७—तए णं एगस्स चित्तगरस्स इमेयारूवा चित्तगरलद्धी लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया—जस्स णं दुपयस्स वा चउप्पयस्स वा अपयस्स वा एगदेसमवि पासइ, तस्स णं देसाणुसारेणं तयाणुरूवं रूवं निव्वत्तेइ।

उन चित्रकारों में से एक चित्रकार को ऐसी चित्रकार लब्धि (असाधारण योग्यता) लब्ध

थी, प्राप्त थी और बार-बार उपयोग में आ चुकी थी कि वह जिस किसी द्विपद (मनुष्यादि), चतुष्पद (गाय, अश्व आदि) और अपद (वृक्ष, भवन आदि) का एक अवयव भी देख ले तो उस अवयव के अनुसार उसका पूरा चित्र बना सकता था।

९८—तए णं से चित्तगरदारए मल्लीए जवणियंतरियाए जालंतरेण पायंगुट्ठं पासइ।

तए णं तस्स चित्तगरस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था सेयं खलु ममं मल्लीए वि पायंगुट्ठाणुसारेणं सरिसगं जाव गुणोववेयं रूवं निव्वत्तित्तए, एवं संपेहेइ, संपेहित्ता भूमिभागं सज्जेइ, सज्जित्ता मल्लीए वि पायंगुट्ठाणुसारेणं जाव निव्वत्तेइ।

उस समय एक बार उस लब्धि-सम्पन्न चित्रकारदारक ने यवनिका—पर्दे की ओट में रही हुई मल्ली कुमारी के पैर का अंगूठा जाली (छिद्र) में से देखा,

तत्पश्चात् उस चित्रकारदारक को ऐसा विचार उत्पन्न हुआ, यावत् मल्ली कुमारी के पैर के अंगूठे के अनुसार उसका हूबहू यावत् गुणयुक्त—सुन्दर पूरा चित्र बनाना चाहिए। उसने ऐसा विचार किया। विचार करके भूमि के हिस्से को ठीक किया। ठीक करके मल्ली के पैर के अंगूठे का अनुसरण करके यावत् उसका पूर्ण चित्र बना दिया।

९९—तए णं सा चित्तगरसेणी चित्तसभं हाव-भाव-विलास-विब्बोय-कलिएहिं, रूवेहिं चित्तेइ, चित्तित्ता जेणेव मल्लदिन्ने कुमारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जाव एयमाणत्तियं पच्चप्पिणति।

तए णं मल्लदिन्ने चित्तगरसेणिं, सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलेइ, दलइत्ता पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् चित्रकारों की उस मण्डली (जाति) ने चित्रसभा को यावत् हाव, भाव, विलास और बिब्बोक से चित्रित किया। चित्रित करके जहाँ मल्लदिन्न कुमार था, वहाँ गई। जाकर यावत् कुमार की आज्ञा वापिस लौटाई—आज्ञानुसार कार्य हो जाने की सूचना दी।

तत्पश्चात् मल्लदिन्न कुमार ने चित्रकारों की मण्डली का सत्कार किया, सन्मान किया सत्कार-सन्मान करके जीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान दिया। दे करके विदा कर दिया।

१००—तए णं मल्लदिन्ने कुमारे अन्नया ण्हाए अंतेउरपरियालसंपरिवुडे अम्मधाईए सद्धि जेणेव चित्तसभा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चित्तसभं अणुपविसइ। अणुपविसित्ता हाव-भाव-विलास-विब्बोय-कलियाइं रूवाइं पासमाणे पासमाणे जेणेव मल्लीए विदेहवररायकन्नाए तयाणुरूवे रूवे निव्वत्तिए तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तए णं से मल्लदिन्ने कुमारे मल्लीए विदेहवररायकन्नाए तयाणुरूवं रूवं निव्वत्तियं पासइ, पासित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एस णं मल्ली विदेहवररायकन्न' त्ति कट्टु लज्जिए वीडिए विअडे सणियं सणियं पच्चोसक्कइ।

तत्पश्चात् किसी समय मल्लदिन्न कुमार स्नान करके, वस्त्राभूषण धारण करके अन्तःपुर एवं परिवार सहित, धायमाता को साथ लेकर, जहाँ चित्रसभा थी, वहाँ आया। आकर चित्रसभा के

भीतर प्रवेश किया। प्रवेश करके हाव, भाव, विलास और विव्वोक से युक्त रूपों (चित्रों) को देखता-देखता जहाँ विदेह की श्रेष्ठ राजकन्या मल्ली का, उसी के अनुरूप चित्र बना था, उसी ओर जाने लगा।

उस समय मल्लदिन्न कुमार ने विदेह की उत्तम राजकुमारी मल्ली का, उसके अनुरूप बना हुआ चित्र देखा। देख कर उसे इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—'अरे, यह तो विदेहवर-राजकन्या मल्ली है!' यह विचार आते ही वह लज्जित हो गया, व्रीडित हो गया और व्यर्दित हो गया, अर्थात् उसे अत्यन्त लज्जा उत्पन्न हुई। अतएव वह धीरे-धीरे वहाँ से हट गया—पीछे लौट गया।

१०१—तए णं मल्लदिन्नं अम्मधाई पच्चोसक्कंतं पासित्ता एवं वयासी—'किं णं तुमं पुत्ता! लज्जिए वीडिए विअड्डे सणियं सणियं पच्चोसक्कइ?'

तए णं से मल्लदिन्ने अम्मधाइं एवं वयासी—'जुत्तं णं अम्मो! मम जेट्ठाए भगिणीए गुरुदेवभूयाए लज्जणिज्जाए मम चित्तगरणिव्वत्तियं सभं अणुपविसित्तए?'

तत्पश्चात् हटते हुए मल्लदिन्न को देख कर धाय माता ने कहा—'हे पुत्र! तुम लज्जित, व्रीडित और व्यर्दित होकर धीरे-धीरे हट क्यों रहे हो?'

तब मल्लदिन्न ने धाय माता से इस प्रकार कहा—'माता! मेरी गुरु और देवता के समान ज्येष्ठ भगिनी के, जिससे मुझे लज्जित होना चाहिए, सामने, चित्रकारों की बनाई इस सभा में प्रवेश करना क्या योग्य है?'

१०२—तए णं अम्मधाई मल्लदिन्नं कुमारं एवं वयासी—'नो खलु पुत्ता! एस मल्ली विदेहवररायकन्ना चित्तगरएणं तयाणुरूवे रूवे निव्वत्तिए।

तए णं मल्लदिन्ने कुमारे अम्मधाईए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते एवं वयासी—'केस णं भो! चित्तयरए अपत्थियपत्थिए जाव [दुरंतपंतलक्खणे हीणपुण्ण-चाउद्दसिए सिरि-हिरि-धिइ-कित्ति-]परिवज्जिए जेण ममं जेट्ठाए भगिणीए गुरुदेवयभूयाए जाव निव्वत्तिए? त्ति कट्टु तं चित्तगरं वज्झं आणवेइ।

धाय माता ने मल्लदिन्न कुमार से इस प्रकार कहा—'हे पुत्र! निश्चय ही यह साक्षात् विदेह की उत्तम कुमारी मल्ली नहीं है किन्तु चित्रकार ने उसके अनुरूप (हूबहू) चित्रित की है—उसका चित्र बनाया है।

तब मल्लदिन्न कुमार धाय माता के इस कथन को सुन कर और हृदय में धारण करके एकदम क्रुद्ध हो उठा और बोला—'कौन है वह चित्रकार मौत की इच्छा करने वाला, यावत् [कुलक्षणी, हीन काली चतुर्दशी का जन्मा एवं लज्जा बुद्धि आदि से रहित] जिसने गुरु और देवता के समान मेरी ज्येष्ठ भगिनी का यावत् यह चित्र बनाया है? इस प्रकार कह कर उसने चित्रकार का वध करने की आज्ञा दे दी।

१०३—तए णं सा चित्तगरसेणी इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा जेणेव मल्लदिन्ने कुमारे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं जाव वद्धावेइ, वद्धावित्ता एवं वयासी—

'एवं खलु सामी! तस्स चित्तगरस्स इमेयारूवा चित्तगरलद्धी लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया,

जस्स णं दुपयस्स वा जाव[1] णिव्वत्तेति, तं मा णं सामी ! तुब्भे तं चित्तगरं वज्झं आणवेह। तं तुब्भे णं सामी ! तस्स चित्तगरस्स अन्नं तयाणुरूवं दंडं निव्वत्तेह।'

तत्पश्चात् चित्रकारों की वह श्रेणी इस कथा-वृत्तान्त को सुनकर और समझ कर जहाँ मल्लदिन्न कुमार था, वहाँ आई। आकर दोनों हाथ जोड़ कर यावत् मस्तक पर अंजलि करके कुमार को वधाया। वधा कर इस प्रकार कहा—

'स्वामिन् ! निश्चय ही उस चित्रकार को इस प्रकार की चित्रकार लब्धि लब्ध हुई, प्राप्त हुई और अभ्यास में आई है कि वह जिस किसी द्विपद आदि के एक अवयव को देखता है, यावत् वह उसका वैसा ही पूरा रूप बना देता है। अतएव हे स्वामिन् ! आप उस चित्रकार के वध की आज्ञा मत दीजिए। हे स्वामिन् ! आप उस चित्रकार को कोई दूसरा योग्य दंड दे दीजिए।'

१०४—तए णं से मल्लदिन्ने तस्स चित्तगरस्स संडासगं छिंदावेइ, निव्विसयं आणवेइ। से तए णं चित्तगरए मल्लदिन्नेणं निव्विसए आणत्ते समाणे सभंडमत्तोवगरणमायाए मिहिलाओ नयरीओ णिक्खमइ, णिक्खमित्ता विदेहं जणवयं मज्झंमज्झेणं जेणेव हत्थिणाउरे नयरे, जेणेव कुरुजणवए, जेणेव अदीणसत्तू राया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भंडनिक्खेवं करेइ, करित्ता चित्तफलगं सज्जेइ, सज्जित्ता मल्लीए विदेहरायवरकन्नगाए पायंगुट्ठाणुसारेणं रूवं णिव्वत्तेइ, णिव्वत्तित्ता कक्खंतरंसि छुब्भइ, छुब्भइत्ता महत्थं जाव पाहुडं गेण्हइ, गेण्हित्ता हत्थिणापुरं नयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव अदीणसत्तू राया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता तं करयल जाव वद्धावेइ, वद्धावित्ता पाहुडं उवणेइ, उवणित्ता 'एवं खलु अहं सामी ! मिहिलाओ रायहाणीओ कुंभगस्स रण्णो पुत्तेणं पभावईए देवीए अत्तएणं मल्लदिन्नेणं कुमारेणं निव्विसए आणत्ते समाणे इह हव्वमागए, तं इच्छामि णं सामी ! तुब्भं बाहुच्छायापरिग्गहिए जाव परिवसित्तए।'

तत्पश्चात् मल्लदिन्न ने (चित्रकारों की प्रार्थना स्वीकर करके) उस चित्रकार के संडासक (दाहिने हाथ का अंगूठा और उसके पास की अंगुली) का छेद करवा दिया और उसे देश-निर्वासन की आज्ञा दे दी।

तब मल्लदिन्न के द्वारा देश-निर्वासन की आज्ञा पाया हुआ वह चित्रकार अपने भांड, पात्र और उपकरण आदि लेकर मिथिला नगरी से निकला। निकल कर वह विदेह जनपद के मध्य में होकर जहाँ हस्तिनापुर नगर था, जहाँ कुरुनामक जनपद था और जहाँ अदीनशत्रुनामक राजा था, वहाँ आया। आकर उसने अपना भांड (सामान) आदि रखा। रख कर चित्रफलक ठीक किया। ठीक करके विदेह की श्रेष्ठ राजकुमारी मल्ली के पैर के अंगूठे के आधार पर उसका समग्र रूप चित्रित किया। चित्रित करके वह चित्रफलक (जिस पर चित्र बना था वह पट) अपनी काँख में दबा लिया। फिर महान् अर्थ वाला यावत् राजा के योग्य बहुमूल्य उपहार ग्रहण किया। ग्रहण करके हस्तिनापुर नगर के मध्य में होकर अदीनशत्रु राजा के पास आया। आकर दोनों हाथ जोड़ कर उसे वधाया और वधा कर उपहार उसके सामने रख दिया। फिर चित्रकार ने कहा—'स्वामिन् ! मिथिला राजधानी में कुंभ राजा के पुत्र और प्रभावती देवी के आत्मज मल्लदिन्न कुमार ने मुझे देश-निकाले

१. अष्टम अ. ९६

की आज्ञा दी, इस कारण मैं सीधा यहाँ आया हूँ। हे स्वामिन् ! आपकी बाहुओं की छाया से परिगृहीत होकर यावत् मैं यहाँ वसना चाहता हूँ।'

१०५—तए णं से अदीनसत्तू राया तं चित्तगरदारयं एवं वयासी—'किं णं तुमं देवाणुप्पिया ! मल्लदिन्नेणं निव्विसए आणत्ते ?'

तत्पश्चात् अदीनशत्रु ने चित्रकारपुत्र से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! मल्लदिन्न कुमार ने तुम्हें किस कारण देश-निर्वासन की आज्ञा दी ?'

१०६—तए णं से चित्तयरदारए अदीणसत्तुरायं एवं वयासी—'एवं खलु सामी ! मल्लदिन्ने कुमारे अण्णया कयाई चित्तगरसेणिं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! मम चित्तसभं' तं चेव सव्वं भाणियव्वं, जाव मम संडासगं छिंदावेइ, छिंदावित्ता निव्विसयं आणवेइ, तं एवं खलु सामी ! मल्लदिन्नेणं कुमारेणं निव्विसए आणत्ते।'

तत्पश्चात् चित्रकारपुत्र ने अदीनशत्रु राजा से कहा—'हे स्वामिन् ! मल्लदिन्न कुमार ने एक बार किसी समय चित्रकारों की श्रेणी को बुला कर इस प्रकार कहा था—'हे देवानुप्रियो ! तुम मेरी चित्रसभा को चित्रित करो;' इत्यादि सब वृत्तान्त पूर्ववत् कहना चाहिए, यावत् कुमार ने मेरा संडासक कटवा लिया। कटवा कर देश-निर्वासन की आज्ञा दे दी। इस प्रकार हे स्वामिन् ! मल्लदिन्न कुमार ने मुझे देश-निर्वासन की आज्ञा दी है।'

१०७—तए णं अदीणसत्तू राया तं चित्तगरं एवं वयासी—से केरिसए णं देवाणुप्पिया ! तुमे मल्लीए तदाणुरूवे रूवे निव्वत्तिए ?'

तए णं से चित्तगरे कक्खंतराओ चित्तफलयं णीणेइ, णीणित्ता अदीणसत्तुस्स उवणेइ, उवणित्ता एवं वयासी—'एस णं सामी ! मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए तयाणुरूवस्स रूवस्स केइ आगार-भाव-पडोयारे निव्वत्तिए, णो खलु सक्का केणइ देवेण वा जाव [दाणवेण वा जक्खेण वा रक्खसेण वा किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण वा] मल्लीए विदेहरायवरकन्नगाए तयाणुरूवे रूवे निव्वत्तित्तए।'

तत्पश्चात् अदीनशत्रु राजा ने उस चित्रकार से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! तुमने मल्ली कुमारी का उसके अनुरूप चित्र कैसा बनाया था ?'

तब चित्रकार ने अपनी काँख में से चित्रफलक निकाला। निकाल कर अदीनशत्रु राजा के पास रख दिया और रख कर कहा—'हे स्वामिन् ! विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्ली का उसी के अनुरूप यह चित्र मैंने कुछ आकार, भाव और प्रतिबिम्ब के रूप में चित्रित किया है। विदेहराज की श्रेष्ठ कुमारी मल्ली का हूबहू रूप तो कोई देव, [यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग तथा गंधर्व] भी चित्रित नहीं कर सकता।

१०८—तए णं अदीणसत्तू राया पडिरूवजणियहासे दूयं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—तहेव जाव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् चित्र को देखकर हर्ष उत्पन्न होने के कारण अदीनशत्रु राजा ने दूत को बुलाया। बुला कर इस प्रकार कहा—(अपने लिए मल्ली कुमारी की मँगनी करने के लिए दूत भेजा) इत्यादि सब वृत्तान्त पूर्ववत् कहना चाहिए। यावत् दूत मिथिला जाने के लिए रवाना हो गया।

राजा जितशत्रु

१०९—तेणं कालेणं तेणं समएणं पंचाले जणवए, कंपिल्ले पुरे नयरे होत्था। तत्थ णं जियसत्तू णामं राया होत्था पंचालाहिवई। तस्स णं जियसत्तुस्स धारिणीपामोक्खं देविसहस्सं ओरोहे होत्था।

उस काल और उस समय में पंचालनामक जनपद में काम्पिल्यपुरनामक नगर था। वहाँ जितशत्रु नामक राजा था, वही पंचाल देश का अधिपति था। उस जितशत्रु राजा के अन्त:पुर में एक हजार रानियाँ थीं।

११०—तत्थ णं मिहिलाए चोक्खा नामं परिव्वाइया रिउव्वेय जाव [यजुव्वेय-सामवेय-अहव्वणवेय-इतिहासपंचमाणं निघंटुछट्ठाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेदाणं सारगा जाव बंभण्णएसु सुपरिणिट्ठिया] यावि होत्था।

तए णं सा चोक्खा परिव्वाइया मिहिलाए बहूणं राईसर जाव सत्थवाहपभिईणं पुरओ दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणी पण्णवेमाणी परूवेमाणी उवदंसेमाणी विहरइ।

मिथिला नगरी में चोक्खा (चोक्षा) नामक परिव्राजिका रहती थी। वह चोक्खा परिव्राजिका मिथिला नगरी में बहुत-से राजा, ईश्वर (ऐश्वर्यशाली धनाढ्य या युवराज) यावत् सार्थवाह आदि के सामने दानधर्म, शौचधर्म, और तीर्थस्नान का कथन करती, प्रज्ञापना करती, प्ररूपणा करती और उपदेश करती हुई रहती थी।

१११—तए णं सा चोक्खा परिव्वाइया अन्नया कयाई तिदंडं च कुंडियं च जाव[1] धाउरत्ताओ य गिण्हइ, गिण्हित्ता परिव्वाइगावसहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता पविरलपरिव्वाइया सद्धिं संपरिवुडा मिहिलं रायहाणिं मज्झंमज्झेणं जेणेव कुंभगस्स रण्णो भवणे, जेणेव कण्णंतेउरे, जेणेव मल्ली विदेहवररायकन्ना, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता उदयपरिफासियाए, दब्भोवरि पच्चत्थुयाए भिसियाए निसीयति, निसीइत्ता मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए पुरओ दाणधम्मं च जाव विहरइ।

तत्पश्चात् एक वार किसी समय वह चोक्खा परिव्राजिका त्रिदण्ड, कुंडिका यावत् धातु (गेरू) से रंगे वस्त्र लेकर परिव्राजिकाओं के मठ से बाहर निकली। निकल कर थोड़ी परिव्राजिकाओं से घिरी हुई मिथिला राजधानी के मध्य में होकर जहाँ कुम्भ राजा का भवन था, जहाँ कन्याओं का अन्त:पुर था और जहाँ विदेह की उत्तम राजकन्या मल्ली थी, वहाँ आई। आकर भूमि पर पानी छिड़का, उस पर डाभ बिछाया और उस पर आसन रख कर बैठी। बैठ कर विदेहवरराजकन्या मल्ली के सामने दानधर्म, शौचधर्म, तीर्थस्नान का उपदेश देती हुई विचरने लगी—उपदेश देने लगी।

---

१. पंचम अ., ३१

११२—तए णं सा मल्ली विदेहरायवरकन्ना चोक्खं परिव्वाइयं एवं वयासी—'तुब्भं णं चोक्खे ! किंमूलए धम्मे पन्नत्ते ?'

तए णं सा चोक्खा परिव्वाइया मल्लिं विदेहरायवरकन्नं एवं वयासी—अम्हं णं देवाणुप्पिया ! सोयमूलए धम्मे पण्णवेमि, जं णं अम्हं किंचि असुई भवइ, तं णं उदएण य मट्टियाए य जाव[1] अविग्घेणं सग्गं गच्छामो।'

तत्र विदेहराजवरकन्या मल्ली ने चोक्खा परिव्राजिका से पूछा—'चोक्खा ! तुम्हारे धर्म का मूल क्या कहा गया है ?'

तत्र चोक्खा परिव्राजिका ने विदेहराज-वरकन्या मल्ली को उत्तर दिया—'देवानुप्रिये ! मैं शौचमूलक धर्म का उपदेश करती हूँ। हमारे मत में जो कोई भी वस्तु अशुचि होती है, उसे जल से और मिट्टी से शुद्ध किया जाता है, यावत् [पानी से धोया जाता है, ऐसा करने से अशुचि दूर होकर शुचि हो जाती है। इस प्रकार जीव जलाभिषेक से पवित्र हो जाते हैं।] इस धर्म का पालन करने से हम निर्विघ्न स्वर्ग जाते हैं।'

११३—तए णं मल्ली विदेहरायवरकन्ना चोक्खं परिव्वाइयं एवं वयासी—'चोक्खा ! से जहानामए केइ पुरिसे रुहिरकयं वत्थं रुहिरेण चेव धोवेज्जा, अत्थि णं चोक्खा ! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं धोव्वमाणस्स काई सोही ?'

'णो इणट्ठे समट्ठे।'

तत्पश्चात् विदेहराजवरकन्या मल्ली ने चोक्खा परिव्राजिका से कहा—'चोक्खा ! जैसे कोई अमुक नामधारी पुरुष रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से ही धोवे, तो हे चोक्खा ! उस रुधिर-लिप्त और रुधिर से ही धोये जाने वाले वस्त्र की कुछ शुद्धि होती है ?'

परिव्राजिका ने उत्तर दिया—'नहीं, यह अर्थ समर्थ नहीं, अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता।'

११४—'एवामेव चोक्खा ! तुब्भे णं पाणाइवाएणं जाव[2] मिच्छादंसणसल्लेणं नत्थि काई सोही, जहा व तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं धोव्वमाणस्स।'

मल्ली ने कहा—'इसी प्रकार चोक्खा ! तुम्हारे मत में प्राणातिपात (हिंसा) से यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से अर्थात् अठारह पापों के सेवन का निषेध न होने से कोई शुद्धि नहीं है, जैसे रुधिर से लिप्त और रुधिर से ही धोये जाने वाले वस्त्र की कोई शुद्धि नहीं होती।

११५—तए णं सा चोक्खा परिव्वाइया मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए एवं वुत्ता समाणा संकिया कंखिया विइगिच्छिया भेयसमावण्णा जाया यावि होत्था। मल्लीए णो संचाएइ किंचिवि पामोक्खमाइक्खित्तए, तुसिणीया संचिट्ठइ।

तत्पश्चात् विदेहराजवरकन्या मल्ली के ऐसा कहने पर उस चोक्खा परिव्राजिका को शंका उत्पन्न हुई, कांक्षा (अन्य धर्म की आकांक्षा) हुई और विचिकित्सा (अपने धर्म के फल में शंका) हुई

---

१. पंचम अ. ३१ २. औ. सूत्र. १६३

और वह भेद को प्राप्त हुई अर्थात् उसके मन में तर्क-वितर्क होने लगा। वह मल्ली को कुछ भी उत्तर देने में समर्थ नहीं हो सकी, अतएव मौन रह गई।

११६—तए णं तं चोक्खं मल्लीए बहूओ दासचेडीओ हीलेंति, निंदंति, खिसंति, गरहंति, अप्पेगइयाओ, हेरुयालंति, अप्पेगइयाओ मुहमक्कडियाओ करेंति, अप्पेगइयाओ वग्घाडीओ करेंति, अप्पेगइयाओ तज्जेमाणीओ करेंति, अप्पेगइयाओ तालेमाणीओ करेंति, अप्पेगइयाओ निच्छुभंति।

तए णं सा चोक्खा मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए दासचेडियाहिं जाव गरहिज्जमाणी हीलिज्जमाणी आसुरुत्ता जाव मिसमिसेमाणा मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए पओसमावज्जइ, भिसियं गेण्हइ, गेण्हित्ता कण्णंतेउराओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता, मिहिलाओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता परिव्वाइयासंपरिवुडा जेणेव पंचालजणवए जेणेव कंपिल्लपुरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बहूणं राईसर जाव[1] परूवेमाणी विहरइ।

तत्पश्चात् मल्ली की बहुत-सी दासियाँ चोक्खा परिव्राजिका की (जाति आदि प्रकट करके) हीलना करने लगीं, मन से निन्दा करने लगीं, खिसा (वचन से निन्दा) करने लगीं, गर्हा (उसके सामने ही दोष कथन) करने लगीं, कितनीक दासियाँ उसे क्रोधित करने लगीं—चिढ़ाने लगीं, कोई-कोई मुँह मटकाने लगीं, कोई-कोई उपहास करने लगीं, कोई उंगलियों से तर्जना करने लगीं, कोई ताड़ना करने लगीं और किसी-किसी ने अर्धचन्द्र देकर उसे बाहर कर दिया।

तत्पश्चात् विदेहराज की उत्तम कन्या मल्ली की दासियों द्वारा यावत् गर्हा की गई और अवहेलना की गई वह चोक्खा एकदम क्रुद्ध हो गई और क्रोध से मिसमिसाती हुई विदेहराजवर-कन्या मल्ली के प्रति द्वेष को प्राप्त हुई। उसने अपना आसन उठाया और कन्याओं के अन्तःपुर से निकल गई। वहाँ से निकलकर मिथिला नगरी से भी निकली और परिव्राजिकाओं के साथ जहाँ पंचाल जनपद था, जहाँ कम्पिल्यपुर नगर था वहाँ आई और बहुत-से राजाओं एवं ईश्वरों—राजकुमारों—ऐश्वर्यशाली जनों आदि के सामने यावत् अपने धर्म की-दानधर्म, शौचधर्म तीर्थाभिषेक आदि की प्ररूपणा करने लगी।

११७—तए णं से जियसत्तू अन्नया कयाई अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे एवं जाव [सीहासण-वरगए यावि] विहरइ।

तए णं सा चोक्खा परिव्वाइयासंपरिवुडा जेणेव जियसत्तुस्स रण्णो भवणे, जेणेव जियसत्तू तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जियसत्तुं जएणं विजएणं वद्धावेइ।

तए णं से जियसत्तू चोक्खं परिव्वाइयं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता चोक्खं परिव्वाइयं सक्कारेइ, संमाणेइ, सक्कारित्ता संमाणित्ता आसणेणं उवनिमंतेइ।

तत्पश्चात् जितशत्रु राजा एक बार किसी समय अपने अन्तःपुर और परिवार से परिवृत होकर सिंहासन पर बैठा था।

तत्पश्चात् परिव्राजिकाओं से परिवृत वह चोक्खा जहाँ जितशत्रु राजा का भवन था और

---

१. अष्टम अ. ११०

जहाँ जितशत्रु राजा था, वहाँ आई। आकर भीतर प्रवेश किया। प्रवेश करके जय-विजय के शब्दों से जितशत्रु का अभिनन्दन किया—उसे वधाया।

उस समय जितशत्रु राजा ने चोक्खा परिव्राजिका को आते देखा। देखकर सिंहासन से उठा। उठकर चोक्खा परिव्राजिका का सत्कार किया। सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके आसन के लिए निमंत्रण किया—बैठने को आसन दिया।

११८—तए णं सा चोक्खा उदगपरिफासियाए जाव [दब्भोवरि पच्चत्थुयाए] भिसियाए निविसइ, जियसत्तुं रायं रज्जे य जाव [रट्ठे य कोसे य कोट्ठागारे य बले य वाहणे य पुरे य] अंतेउरे य कुसलोदंतं पुच्छइ। तए णं सा चोक्खा जियसत्तुस्स रण्णो दाणधम्मं च जाव[1] विहरइ।

तत्पश्चात् वह चोक्खा परिव्राजिका जल छिड़ककर यावत् डाभ पर बिछाए अपने आसन पर बैठी। फिर उसने जितशत्रु राजा, यावत् [राष्ट्र, कोश, कोठार, बल, वाहन, पुर तथा] अन्तःपुर के कुशल-समाचार पूछे। इसके बाद चोक्खा ने जितशत्रु राजा को दानधर्म आदि का उपदेश दिया।

११९—तए णं से जियसत्तू अप्पणो ओरोहंसि जाव विम्हिए चोक्खं परिव्वाइयं एवं वयासी—'तुमं णं देवाणुप्पिया! बहूणि गामागर जाव अडसि, बहूण य राईसरगिहाइं अणुपविससि, तं अत्थियाइं ते कस्स वि रण्णो वा जाव [ईसरस्स वा कहिंचि] एरिसए ओरोहे दिट्ठपुव्वे जारिसए णं इमे मह उवरोहे?'

तत्पश्चात् वह जितशत्रु राजा अपने रनवास में अर्थात् रनवास की रानियों के सौन्दर्य आदि में विस्मययुक्त था, (अपने अन्तःपुर को सर्वोत्कृष्ट मानता था) अतः उसने चोक्खा परिव्राजिका से पूछा:— हे देवानुप्रिये! तुम बहुत-से गांवों, आकरों आदि में यावत् पर्यटन करती हो और बहुत-से राजाओं एवं ईश्वरों के घरों में प्रवेश करती हो तो कहीं किसी भी राजा आदि का ऐसा अन्तःपुर तुमने कभी पहले देखा है, जैसा मेरा यह अन्तःपुर है?'

१२०—तए णं सा चोक्खा परिव्वाइया जियसत्तुणा एवं वुत्ता समाणी ईसिं अवहसियं करेइ, करित्ता एवं वयासी—'एवं च सरिसए णं तुमे देवाणुप्पिया! तस्स अगडदद्दुरस्स।'

'केस णं देवाणुप्पिए! से अगडदद्दुरे?'

'जियसत्तू! से जहानामए अगडदद्दुरे सिया, से णं तत्थ जाए तत्थेव वुड्ढे, अण्णं अगडं वा तलागं वा दहं वा सरं वा सागरं वा अपासमाणे एवं मण्णइ—'अयं चेव अगडे वा जाव सागरे वा।'

तए णं तं कूवं अण्णे सामुद्दए दद्दुरे हव्वमागए। तए णं से कूवदद्दुरे तं सामुद्ददद्दुरं एवं वयासी—'से केस णं तुमं देवाणुप्पिया! कत्तो वा इह हव्वमागए?'

तए णं से सामुद्दए दद्दुरे तं कूवदद्दुरं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! अहं सामुद्दए दद्दुरे।'

तए णं से कूवदद्दुरे तं सामुद्दयं दद्दुरं एवं वयासी—'केमहालए णं देवाणुप्पिया! से समुद्दे?'

---

१ अष्टम अ. ११०

तए णं से सामुद्दए दद्दुरे तं कूवदद्दुरं एवं वयासी—'महालए णं देवाणुप्पिया ! समुद्दे ।'

तए णं से कूवदद्दुरे पाएणं लीहं कड्ढेइ, कड्ढित्ता एवं वयासी—'एमहालए णं देवाणुप्पिया ! से समुद्दे ?'

'णो इणट्ठे समट्ठे, महालए णं से समुद्दे ।'

तए णं से कूवदद्दुरे पुरच्छिमिल्लाओ तीराओ उप्फिडित्ता णं गच्छइ, गच्छित्ता एवं वयासी—एमहालए णं देवाणुप्पिया ! से समुद्दे ?

'णो इणट्ठे समट्ठे ।' तहेव ।

तब चोक्खा परिव्राजिका जितशत्रु राजा के इस प्रकार कहने पर थोड़ी मुस्कराई। फिर मुस्करा कर बोली—'देवानुप्रिय ! इस प्रकार कहते हुए तुम उस कूप-मंडूक के समान जान पड़ते हो।'

जितशत्रु ने पूछा-'देवानुप्रिये ! कौन-सा वह कूपमंडूक ?'

चोक्खा बोली—'जितशत्रु ! यथानामक अर्थात् कुछ भी नाम वाला एक कुएँ का मेंढक था। वह मेंढक उसी कूप में उत्पन्न हुआ था, उसी में बढ़ा था। उसने दूसरा कूप, तालाब, ह्रद, सर अथवा समुद्र देखा नहीं था। अतएव वह मानता था कि यही कूप है और यही सागर है—इसके सिवाय और कुछ भी नहीं है।

तत्पश्चात् किसी समय उस कूप में एक समुद्री मेंढक अचानक आ गया। तब कूप के मेंढक ने कहा—'देवानुप्रिय ! तुम कौन हो ? कहाँ से अचानक यहाँ आये हो ?'

तब समुद्र के मेंढक ने कूप के मेंढक से कहा—'देवानुप्रिय !. मैं समुद्र का मेंढक हूँ।'

तब कूपमंडूक ने समुद्रमंडूक से कहा—'देवानुप्रिय ! वह समुद्र कितना बड़ा है ?'

तब समुद्री मंडूक ने कूपमंडूक से कहा—'देवानुप्रिय ! समुद्र बहुत बड़ा है।'

तब कूपमण्डूक ने अपने पैर से एक लकीर खींची और कहा—'देवानुप्रिय ! क्या इतना बड़ा है ?'

समुद्री मण्डूक बोला—यह अर्थ समर्थ नहीं, अर्थात् समुद्र तो इससे बहुत बड़ा है।'

तब कूपमण्डूक पूर्व दिशा के किनारे से उछल कर दूर गया और फिर बोला—'देवानुप्रिय ! वह समुद्र क्या इतना बड़ा है ?

समुद्री मेंढक ने कहा—'यह अर्थ समर्थ नहीं, समुद्र तो इससे भी बड़ा है। इसी प्रकार (इससे भी अधिक कूद-कूद कर कूपमण्डूक ने समुद्र की विशालता के विषय में पूछा, मगर समुद्र-मण्डूक हर बार उसी प्रकार उत्तर देता गया।)

१२१—एवामेव तुमं पि जियसत्तू ! अन्नेसिं बहूणं राईसर जाव सत्थवाहपभिईणं भज्जं वा भगिणिं वा धूयं वा सुण्हं वा अपासमाणे जाणेसि—जारिसए मम चेव णं ओरोहे तारिसए णो अण्णस्स। तं एवं खलु जियसत्तू ! मिहिलाए नयरीए कुंभगस्स धूआ पभावईए अत्तया मल्ली नामं विदेहवर-रायकण्णा रूवेण य जोव्वणेण जाव [लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा] नो खलु अण्णा काई

देवकन्ना वा जारिसिया मल्ली। विदेहवररायकण्णाए छिण्णस्स वि पायंगुट्ठगस्स इमे तवोरोहे सयसहस्सइमं पि कलं न अग्घइ त्ति कट्टु जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया।

'इसी प्रकार हे जितशत्रु ! दूसरे बहुत से राजाओं एवं ईश्वरों यावत् सार्थवाह आदि की पत्नी, भगिनी, पुत्री अथवा पुत्रवधू तुमने देखी नहीं। इसी कारण समझते हो कि जैसा मेरा अन्तःपुर है, वैसा दूसरे का नहीं है। हे, जितशत्रु ! मिथिला नगरी में कुंभ राजा की पुत्री और प्रभावती की आत्मजा मल्ली नाम की कुमारी रूप और यौवन में तथा लावण्य में जैसी उत्कृष्ट एवं उत्कृष्ट शरीर वाली है, वैसी दूसरी कोई देवकन्या वगैरह भी नहीं है। विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या के काटे हुए पैर के अंगुल के लाखवें अंश के बराबर भी तुम्हारा यह अन्तःपुर नहीं है।' इस प्रकार कह कर वह परिव्राजिका जिस दिशा से प्रकट हुई थी—आई थी, उसी दिशा में लौट गई।

१२२—तए णं जियसत्तू परिव्वाइयाजणियहासे दूयं सद्दावेइ, सद्दावित्ता जाव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् परिव्राजिका के द्वारा उत्पन्न किये गये हर्ष वाले राजा जितशत्रु ने दूत को बुलाया। बुलाकर पहले के समान ही सब कहा। यावत् वह दूत मिथिला जाने के लिए रवाना हो गया।

विवेचन—इस प्रकार मल्ली कुमारी के पूर्वभव के साथी छहों राजाओं ने अपने-अपने लिए कुमारी की मँगनी करने के लिए अपने-अपने दूत रवाना किये।

दूतों का संदेशनिवेदन

१२३—तए णं तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं दूया जेणेव मिहिला तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

इस प्रकार उन जितशत्रु प्रभृति छहों राजाओं के दूत, जहाँ मिथिला नगरी थी वहाँ जाने के लिए रवाना हो गये।

१२४—तए णं छप्पि य दूयगा जेणेव मिहिला तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता मिहिलाए अग्गुज्जाणंसि पत्तेयं पत्तेयं खंधावारनिवेसं करेंति, करित्ता मिहिलं रायहाणिं अणुपविसंति। अणुपविसित्ता जेणेव कुंभए राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पत्तेयं पत्तेयं करयल[1] परिग्गहियं साणं साणं राईणं वयणाइं निवेदेंति।

तत्पश्चात् छहों दूत जहाँ मिथिला थी, वहाँ आये। आकर मिथिला के प्रधान उद्यान में सब ने अलग-अलग पड़ाव डाले। फिर मिथिला राजधानी में प्रवेश किया। प्रवेश करके कुम्भ राजा के पास आये। आकर प्रत्येक-प्रत्येक ने दोनों हाथ जोड़े और अपने-अपने राजाओं के वचन निवेदन किये—सन्देश कहे। (मल्ली कुमारी की माँग की)।

१. प्रथम अ. १८

दूतों का अपमान

१२५—तए णं से कुंभए राया तेसिं दूयाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा आसुरुत्ते जाव [रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे] तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु एवं वयासी—'न देमि णं अहं तुब्भं मल्लिं विदेहरायवरकन्नं' ति कट्टु ते छप्पि दूते असक्कारिय असंमाणिय अवद्दारेणं णिच्छुभावेइ ।

कुम्भ राजा उन दूतों से यह बात सुनकर एकदम क्रुद्ध हो गया । [रुष्ट और प्रचंड हो उठा । दांत पीसते हुए] यावत् ललाट पर तीन सल डाल कर उसने कहा—'मैं तुम्हें (छह में से किसी भी राजा को) विदेहराज की उत्तम कन्या मल्ली नहीं देता ।' ऐसा कह कर छहों दूतों का सत्कार—सन्मान न करके उन्हें पीछे के द्वार से निकाल दिया ।

१२६—तए णं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं दूया कुंभएणं रण्णा असक्कारिया असम्माणिया अवद्दारेणं निच्छुभाविया समाणा जेणेव सगा सगा जणवया, जेणेव सयाइं सयाइं णगराइं, जेणेव सगा सगा रायाणो तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं एवं वयासी—

कुम्भ राजा के द्वारा असत्कारित, असम्मानित और अपद्वार (पिछले द्वार) से निष्कासित वे छहों राजाओं के दूत जहाँ अपने-अपने जनपद थे, जहाँ अपने-अपने नगर थे और जहाँ अपने-अपने राजा थे, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर हाथ जोड़ कर एवं मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहने लगे—

१२७—एवं खलु सामी ! अम्हे जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं दूया जमगसमगं चेव जेणेव मिहिला जाव अवद्दारेणं निच्छुभावेइ, तं न देइ णं सामी ! कुंभए राया मल्लिं विदेहवररायकन्नं' साणं साणं राईणं एयमट्ठं निवेदेंति ।

'इस प्रकार हे स्वामिन् ! हम जितशत्रु वगैरह छह राजाओं के दूत एक ही साथ जहाँ मिथिला नगरी थी, वहाँ पहुँचे । मगर यावत् राजा कुम्भ ने सत्कार-सन्मान न करके हमें अपद्वार से निकाल दिया । सो हे स्वामिन् ! कुम्भ राजा विदेहराजवरकन्या मल्ली आप को नहीं देता ।' दूतों ने अपने-अपने राजाओं से यह अर्थ-वृत्तान्त निवेदन किया ।

युद्ध की तैयारी

१२८—तए णं ते जियसत्तुपामोक्खा छप्पि रायाणो तेसिं दूयाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ता अण्णमण्णस्स दूयसंपेसणं करेंति, करित्ता एवं वयासी :—

'एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं छण्हं राईणं दूया जमगसमगं चेव जाव णिच्छूढा, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं कुंभगस्स जत्तं (जुत्तं) गेण्हित्तए' त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता ण्हाया सण्णद्धा हत्थिखंधवरगया सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवर-चामराहिं वीइज्जमाणा महयाहय-गय-रह-पवरजोह-कलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडा सव्विड्ढीए जाव दुंदुभिनाइयरवेणं सएहिं नगरेहिंतो निग्गच्छंति, निग्गच्छित्ता एगयओ मिलायंति, मिलाइत्ता जेणेव मिहिला तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।

तत्पश्चात् वे जितशत्रु वगैरह छहों राजा उन दूतों से इस अर्थ को सुनकर और समझ कर एकदम कुपित हुए। उन्होंने एक दूसरे के पास दूत भेजे और इस प्रकार कहलाया—'हे देवानुप्रिय! हम छहों राजाओं के दूत एक साथ ही (मिथिला नगरी में पहुँचे और अपमानित करके) यावत् निकाल दिये गये। अतएव हे देवानुप्रिय! हम लोगों को कुम्भ राजा की ओर प्रयाण करना (चढ़ाई करना) चाहिए।' इस प्रकार कह कर उन्होंने एक दूसरे की बात स्वीकार की। स्वीकार करके स्नान किया (वस्त्रादि धारण किये) सन्नद्ध हुए अर्थात् कवच आदि पहन कर तैयार हुए। हाथी के स्कन्ध पर आरूढ हुए। कोरंट वृक्ष के फूलों की माला वाला छत्र धारण किया। श्वेत चामर उन पर ढोरे जाने लगे। बड़े-बड़े घोड़ों, हाथियों, रथों और उत्तम योद्धाओं सहित चतुरंगिणी सेना से परिवृत होकर, सर्व ऋद्धि के साथ, यावत् दुंदुभि की ध्वनि के साथ अपने-अपने नगरों से निकले। निकलकर एक जगह इकट्ठे हुए। इकट्ठे होकर जहाँ मिथिला नगरी थी, वहाँ जाने के लिए तैयार हुए।

१२९—तए णं कुंभए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे बलवाउयं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! हयगयरहपवरजोहकलियं सेण्णं सन्नाहेह।' जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् कुम्भ राजा ने इस कथा का अर्थ जान कर अर्थात् छह राजाओं की चढ़ाई का समाचार जान कर अपने सैनिक कर्मचारी (सेनापति) को बुलाया। बुला कर कहा—'हे देवानुप्रिय! शीघ्र ही घोड़ों, हाथियों, रथों और उत्तम योद्धाओं से युक्त चतुरंगी सेना तैयार करो।' यावत् सेनापति ने सेना तैयार करके आज्ञा वापिस लौटाई अर्थात् सेना तैयार हो जाने की सूचना दी।

१३०—तए णं कुंभए राया ण्हाए सण्णद्धे हत्थिखंधवरगए सकोरेंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं [वीइज्जमाणे-महया हय-गय-रह-पवरजोहकलियाए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव दुंदुभिनाइयरवेणं] मिहिलं रायहाणिं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता विदेहं जणवयं मज्झंमज्झेणं जेणेव देसअंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता खंधावार-निवेसं करेइ, करित्ता जियसत्तुपामोक्खा छप्पि य रायाणो पडिवालेमाणे जुज्झसज्जे पडिचिट्ठइ।

तत्पश्चात् कुम्भ राजा ने स्नान किया। कवच धारण करके सन्नद्ध हुआ। श्रेष्ठ हाथी के स्कन्ध पर आरूढ हुआ। कोरंट के फूलों की माला वाला छत्र धारण किया। उसके ऊपर श्रेष्ठ और श्वेत चामर ढोरे जाने लगे। यावत् [विशाल घोड़ों, हाथियों, रथों एवं उत्तम योद्धाओं से युक्त] चतुरंगी सेना के साथ पूरे ठाठ के साथ एवं दुंदुभिनिनाद के साथ] मिथिला राजधानी के मध्य में होकर निकला। निकल कर विदेह जनपद के मध्य में होकर जहाँ अपने देश का अन्त (सीमा-भाग) था, वहाँ आया। आकर वहाँ पड़ाव डाला। पड़ाव डाल कर जितशत्रु प्रभृति छहों राजाओं की प्रतीक्षा करता हुआ, युद्ध के लिए सज्ज होकर ठहर गया।

युद्ध प्रारम्भ

१३१—तए णं ते जियसत्तुपामोक्खा छप्पि य रायाणो जेणेव कुंभए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता कुंभएणं रण्णा सद्धिं संपलग्गा यावि होत्था।

तत्पश्चात् वे जितशत्रु प्रभृति छहों राजा, जहाँ कुम्भ राजा था, वहाँ आ पहुँचे। आकर कुम्भ राजा के साथ युद्ध करने में प्रवृत्त हो गये—युद्ध छिड़ गया।

कुंभ की पराजय

१३२—तए णं ते जियसत्तुपामोक्खा छप्पि रायाणो कुंभयं रायं हय-महिय-पवरवीरघाइय-निवडिय-चिंधद्धय-प्पडागं किच्छप्पाणोवगयं दिसो दिसिं पडिसेहिंति।

तए णं से कुंभए राया जियसत्तुपामोक्खेहिं छहिं राईहिं हयमहिय जाव पडिसेहिए समाणे अत्थामे अबले अवीरिए जाव [अपुरिसक्कार-परक्कम्मे] अधारणिज्जमिति कट्टु सिग्घं तुरियं जाव [चवलं चंडं जइणं] वेइयं जेणेव मिहिला णयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मिहिलं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता मिहिलाए दुवाराइं पिहेइ, पिहित्ता रोहसज्जे चिट्ठइ।

तत्पश्चात् उन जितशत्रु प्रभृति छहों राजाओं ने कुम्भ राजा का हनन किया अर्थात् उनके सैन्य का हनन किया, मथन किया अर्थात् मान का मर्दन किया, उनके उत्तम योद्धाओं का घात किया, उसकी चिह्न रूप ध्वजा और पताका को छिन्न-भिन्न करके नीचे गिरा दिया। उनके प्राण संकट में पड़ गये। उसकी सेना चारों दिशाओं में भाग निकली।

तब वह कुम्भ राजा जितशत्रु आदि छह राजाओं के द्वारा हत, मानमर्दित यावत् जिसकी सेना चारों ओर भाग खड़ी हुई है ऐसा होकर, सामर्थ्यहीन, बलहीन, पुरुषार्थ-पराक्रमहीन, त्वरा के साथ, यावत् [तेजी से, जल्दी-जल्दी एवं] वेग के साथ जहाँ मिथिला नगरी थी, वहाँ आया। मिथिला नगरी में प्रविष्ट हुआ और प्रविष्ट होकर उसने मिथिला के द्वार बन्द कर लिये। द्वार बन्द करके किले का रोध करने में सज्ज होकर ठहरा—किले की रक्षा करने के लिए तैयार हो गया।

मिथिला का घेराव

१३३—तए णं ते जियसत्तुपामोक्खा छप्पि रायाणो जेणेव मिहिला तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता मिहिलं रायहाणिं णिस्संचारं णिरुच्चारं सव्वओ समंता ओरुंभित्ता णं चिट्ठंति।

तए णं कुंभए राया मिहिलं रायहाणिं रुद्धं जाणित्ता अब्भंतरियाए उवट्ठाणसालाए सीहासण-वरगए तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं छिद्दाणि य विवराणि य मम्माणि य अलभमाणे बहूहिं आएहि य उवाएहि य उप्पित्तियाहि य ४ बुद्धीहिं परिणामेमाणे परिणामेमाणे किंचि आयं वा उवायं वा अलभमाणे ओहयमणसंकप्पे जाव [करयलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए] झियायइ।

तत्पश्चात् जितशत्रु प्रभृति छहों नरेश जहाँ मिथिला नगरी थी, वहाँ आये। आकर मिथिला राजधानी को मनुष्यों के गमनागमन से रहित कर दिया, यहाँ तक कि कोट के ऊपर से भी आवागमन रोक दिया अथवा मल त्यागने के लिए भी आना-जाना रोक दिया। उन्होंने नगरी को चारों ओर से घेर लिया।

तत्पश्चात् कुम्भ राजा मिथिला राजधानी को घिरी जान कर आभ्यन्तर उपस्थानशाला (अन्दर की सभा) में श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठा। वह जितशत्रु आदि छहों राजाओं के छिद्रों को, विवरों को और मर्म को पा नहीं सका। अतएव बहुत से आयों (यत्नों) से, उपायों से, तथा औत्पत्तिकी आदि चारों प्रकार की बुद्धि से विचार करते-करते कोई भी आय या उपाय न पा सका। तब उसके मन का

संकल्प क्षीण हो गया, यावत् वह हथेली पर मुख रखकर आर्त्तध्यान करने लगा—चिन्ता में डूब गया।

मल्ली कुमारी द्वारा चिन्ता संबंधी प्रश्न

१३४—इमं च णं मल्ली विदेहरायवरकन्ना ण्हाया जाव बहूहिं खुज्जाहिं परिवुडा जेणेव कुंभए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कुंभगस्स पायग्गहणं करेइ। तए णं कुंभए राया मल्लिं विदेहरायवरकन्नं णो आढाइ, नो परियाणाइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

इधर विदेहराजवरकन्या मल्ली ने स्नान किया, (वस्त्राभूषण धारण किये) यावत् बहुत-सी कुब्जा आदि दासियों से परिवृत होकर जहाँ कुंभ राजा था, वहाँ आई। आकर उसने कुंभ राजा के चरण ग्रहण किये-पैर छुए। तब कुंभ राजा ने विदेहराजवरकन्या मल्ली का आदर (स्वागत) नहीं किया, अत्यन्त गहरी चिन्ता में व्यग्र होने के कारण उसे उसका आना भी मालूम नहीं हुआ, अतएव वह मौन ही रहा।

१३५—तए णं मल्ली विदेहरायवरकन्ना कुंभयं रायं एवं वयासी—'तुब्भे णं ताओ! अण्णया ममं एज्जमाणं जाव[1] निवेसेह, किं णं तुब्भं अज्ज ओहयमणसंकप्पे जाव[2] झियायह?'

तए णं कुंभए राया मल्लिं विदेहरायवरकन्नं एवं वयासी—"एवं खलु पुत्ता! तव कज्जे जियसत्तुपामोक्खेहिं छहिं राईहिं दूया संपेसिया, ते णं मए असक्कारिया जाव[3] णिच्छूढा। तए णं ते जियसत्तुपामोक्खा तेसिं दूयाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा परिकुविया समाणा मिहिलं रायहाणिं निस्संचारं जाव[4] चिट्ठन्ति। तए णं अहं पुत्ता! तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं अंतराणि अलभमाणे जाव[5] झियामि।

तत्पश्चात् विदेहराजवरकन्या मल्ली ने राजा कुम्भ से इस प्रकार कहा—'हे तात! दूसरे समय मुझे आती देख कर आप यावत् मेरा आदर करते थे, प्रसन्न होते थे, गोद में बिठलाते थे, परन्तु क्या कारण है कि आज आप अवहत मानसिक संकल्प वाले होकर चिन्ता कर रहे हैं?'

तब राजा कुम्भ ने विदेहराजवरकन्या मल्ली से इस प्रकार कहा—'हे पुत्री! इस प्रकार तुम्हारे लिए—तुम्हारी मँगनी करने के लिए जितशत्रु प्रभृति छह राजाओं ने दूत भेजे थे। मैंने उन दूतों को अपमानित करके यावत् निकलवा दिया। तब वे जितशत्रु वगैरह राजा उन दूतों से यह वृत्तान्त सुनकर कुपित हो गये। उन्होंने मिथिला राजधानी को गमनागमनहीन बना दिया है, यावत् चारों ओर घेरा डाल कर बैठे हैं। अतएव हे पुत्री! मैं उन जितशत्रु प्रभृति नरेशों के अन्तर - छिद्र आदि न पाता हुआ यावत् चिन्ता में डूबा हूँ।

चिन्तानिवारण का उपाय

१३६—तए णं सा मल्ली विदेहरायवरकन्ना कुंभयं रायं एवं वयासी—मा णं तुब्भे ताओ! ओहयमणसंकप्पा जाव झियायह, तुब्भे णं ताओ! तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं राईणं पत्तेयं पत्तेयं रहसियं दूयसंपेसे करेह, एगमेगं एवं वयह—'तव देमि मल्लिं विदेहरायवरकन्नं' ति कट्टु संझाकाल-

---

१-२. प्रथम अ. ६०   ३. अष्टम अ. १२५   ४-५. अष्टम अ. १३३

समयंसि पविरलमणूसंसि निसंतंसि पडिनिसंतंसि पत्तेयं पत्तेयं मिहिलं रायहाणिं अणुप्पवेसेह। अणुप्पवेसित्ता गब्भघरएसु अणुप्पवेसेह, मिहिलाए रायहाणीए दुवाराइं पिधेह, पिधित्ता रोहसज्जे चिट्ठह।'

तत्पश्चात् विदेहराजवरकन्या मल्ली ने राजा कुम्भ से इस प्रकार कहा—'तात ! आप अवहृत मानसिक संकल्प वाले होकर चिन्ता न कीजिए। हे तात ! आप उन जितशत्रु आदि छहों राजाओं में से प्रत्येक के पास गुप्त रूप से दूत भेज दीजिए और प्रत्येक को यह कहला दीजिए कि—'मैं विदेहराज-वरकन्या तुम्हें देता हूँ।' ऐसा कह कर सन्ध्याकाल के अवसर पर जब विरले मनुष्य गमनागमन करते हों और विश्राम के लिए अपने-अपने घरों में मनुष्य बैठे हों, उस समय अलग-अलग राजा का मिथिला राजधानी के भीतर प्रवेश कराइए। प्रवेश करा कर उन्हें गर्भगृह के अन्दर ले जाइए। फिर मिथिला राजधानी के द्वार बन्द करा दीजिए और नगरी के रोध में सज्ज होकर ठहरिए—नगररक्षा के लिए तैयार रहिए।

१३७—तए णं कुंभए राया एवं तं चेव जाव पवेसेइ, रोहसज्जे चिट्ठइ।

तत्पश्चात् राजा कुम्भ ने इसी प्रकार किया। यावत् छहों राजाओं को मिथिला के भीतर प्रवेश कराया। वह नगरी के रोध में सज्ज होकर ठहरा।

राजाओं को संबोधन

१३८—तए णं जियसत्तुपामोक्खा छप्पि य रायाणो कल्लं पाउप्पभायाए जाव[1] जालंतरेहिं कणगमयं मत्थयछिड्डं पउमुप्पलपिहाणं पडिमं पासंति। 'एस णं मल्ली विदेहरायवरकन्न' त्ति कट्टु मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए रूवे य जोव्वणे य लावण्णे य मुच्छिया गिद्धा जाव अज्झोववन्ना अणिमिसाए दिट्ठीए पेहमाणा चिट्ठंति।

तत्पश्चात् जितशत्रु आदि छहों राजा कल अर्थात् दूसरे दिन प्रातःकाल (उन्हें जिस मकान में ठहराया था उसकी) जालियों में से स्वर्णमयी, मस्तक पर छिद्र वाली और कमल के ढक्कन वाली मल्ली की प्रतिमा को देखने लगे। 'यही विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्ली है' ऐसा जान कर विदेहराजवरकन्या मल्ली के रूप यौवन और लावण्य में मूर्छित, गृद्ध यावत् अत्यन्त लालायित होकर अनिमेष दृष्टि से वार-वार उसे देखने लगे।

१३९—तए णं सा मल्ली विदेहरायवरकन्ना ण्हाया जाव पायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया बहूहिं खुज्जाहिं जाव परिक्खित्ता जेणेव जालघरए, जेणेव कणयपडिमा तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता तीसे कणगपडिमाए मत्थयाओ तं पउमं अवणेइ। तए णं गंधे णिद्धावइ से जहानामए अहिमडेइ वा जाव[2] असुभतराए चेव।

तत्पश्चात् विदेहराजवरकन्या मल्ली ने स्नान किया, यावत् कौतुक, मंगल प्रायश्चित्त किया। वह समस्त अलंकारों से विभूषित होकर बहुत-सी कुब्जा आदि दासियों से यावत् परिवृत होकर जहाँ जालगृह था और जहाँ स्वर्ण की वह प्रतिमा थी, वहाँ आई। आकर उस स्वर्णप्रतिमा के मस्तक से

१. प्र. अ. २८ २. अष्टम अ. ३६

वह कमल का ढक्कन हटा दिया। ढक्कन हटाते ही उसमें से ऐसी दुर्गन्ध छूटी कि जैसे मरे साँप की दुर्गन्ध हो, यावत् [मृतक गाय, कुत्ता आदि की दुर्गन्ध हो] उससे भी अधिक अशुभ।

१४०—तए णं जियसत्तुपामोक्खा तेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणा सएहिं सएहिं उत्तरिज्जेहिं आसाइं पिहेंति, पिहित्ता परम्मुहा चिट्ठंति।

तए णं सा मल्ली विदेहरायवरकन्ना ते जियसत्तुपामोक्खे एवं वयासी—'किं णं तुब्भं देवाणुप्पिया! सएहिं सएहिं उत्तरिज्जेहिं जाव परम्मुहा चिट्ठह?'

तए णं ते जियसत्तुपामोक्खा मल्लिं विदेहरायवरकन्नं एवं वयंति—'एवं खलु देवाणुप्पिए! अम्हे इमेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणा सएहिं सएहिं जाव चिट्ठामो।'

तत्पश्चात् जितशत्रु वगैरह ने उस अशुभ गंध से अभिभूत होकर—घबरा कर अपने-अपने उत्तरीय वस्त्रों से मुँह ढँक लिया। मुँह ढँक कर वे मुख फेर कर खड़े हो गये।

तब विदेहराज कन्या मल्ली ने उन जितशत्रु आदि से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! किस कारण आप अपने-अपने उत्तरीय वस्त्र से मुँह ढँक कर यावत् मुँह फेर कर खड़े हो गये?'

तब जितशत्रु आदि ने विदेहराजवरकन्या मल्ली से कहा—'देवानुप्रिये! हम इस अशुभ गंध से घबरा कर अपने-अपने यावत् उत्तरीय वस्त्र से मुख ढँक कर विमुख हुए हैं।'

१४१—तए णं मल्ली विदेहरायवरकन्ना ते जियसत्तुपामोक्खे एवं वयासी—'जइ ताव देवाणुप्पिया! इमीसे कणगमईए जाव पडिमाए कल्लाकल्लिं ताओ मणुण्णाओ असण-पाण-खाइम-साइमाओ एगमेगे पिंडे पक्खिप्पमाणे पक्खिप्पमाणे इमेयारूवे असुभे पोग्गलपरिणामे, इमस्स पुण ओरालियसरीरस्स खेलासवस्स वंतासवस्स पित्तासवस्स सुक्कसोणियपूयासवस्स दुरूवऊसास-नीसासस्स दुरूव-मुत्तपूतिय-पुरीस-पुण्णस्स सडण-पडण-छेयण-विद्धंसणधम्मस्स केरिसए परिणामे भविस्सइ? तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया! माणुस्सएसु कामभोगेसु रज्जह, गिज्झह, मुज्झह, अज्झोववज्जह।'

तत्पश्चात् विदेहराजवरकन्या मल्ली ने उन जितशत्रु आदि राजाओं से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो! इस स्वर्णमयी (यावत्) प्रतिमा में प्रतिदिन मनोज्ञ अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार में से एक-एक पिण्ड डालते-डालते यह ऐसा अशुभ पुद्गल का परिणमन हुआ, तो यह औदारिक शरीर तो कफ को झराने वाला है, खराब उच्छ्वास और निश्वास निकालने वाला है, अमनोज्ञ मूत्र एवं दुर्गन्धित मल से परिपूर्ण है, सड़ना, पड़ना, नष्ट होना और विध्वस्त होना इसका स्वभाव है, तो इसका परिणमन कैसा होगा? अतएव हे देवानुप्रियो! आप मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों में राग मत करो, गृद्धि मत करो, मोह मत करो और अतीव आसक्त मत होओ।'

१४२—एवं खलु देवाणुप्पिया! तुम्हे अम्हे इमाओ तच्चे भवग्गहणे अवरविदेहवासे सलिलावईसि विजए वीयसोगाए रायहाणीए महब्बलपामोक्खा सत्त वि य बालवयंसगा रायाणो होत्था, सह जाया जाव पव्वइया।

तए णं अहं देवाणुप्पिया! इमेणं कारणेणं इत्थीनामगोयं कम्मं निव्वत्तेमि—जइ णं तुब्भे चउत्थं उवसंपज्जित्ता णं विहरह, तए णं अहं छट्ठं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। सेसं तहेव सव्वं।

मल्ली कुमारी ने पूर्वभव का स्मरण कराते हुए आगे कहा—'इस प्रकार हे देवानुप्रियो ! तुम और हम इससे पहले के तीसरे भव में, पश्चिम महाविदेहवर्ष में, सलिलावती विजय में, वीतशोका नामक राजधानी में महाबल आदि सातों—मित्र राजा थे। हम सातों साथ जन्मे थे, यावत् साथ ही दीक्षित हुए थे।

हे देवानुप्रियो ! उस समय इस कारण से मैंने स्त्रीनामगोत्र कर्म का उपार्जन किया था—अगर तुम लोग एक उपवास करके विचरते थे, तो मैं तुम से छिपाकर बेला करती थी। इत्यादि सब वृत्तान्त पूर्ववत् समझना चाहिए।

१४३—तए णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! कालमासे कालं किच्चा जयंते विमाणे उववण्णा। तत्थ णं तुब्भे देसूणाइं बत्तीसाइं सागरोवमाइं ठिई। तए णं तुब्भे ताओ देवलोयाओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे जाव साइं साइं रज्जाइं उवसंपज्जित्ता णं विहरह।

तए णं अहं देवाणुप्पिया ! ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं जाव दारियत्ताए पच्चायाया :—

किंथ तयं पम्हुट्ठं, जं थ तया भो जयंत पवरम्मि।
वुत्था समयनिबद्धं, देवा ! तं संभरह जाइं॥ १॥

तत्पश्चात् हे देवानुप्रियो ! तुम कालमास में काल करके—यथासमय देह त्याग कर जयन्त विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ तुम्हारी कुछ कम बत्तीस सागरोपम की स्थिति हुई। तत्पश्चात् तुम उन देवलोक से अनन्तर (सीधे) शरीर त्याग करके—चय करके—इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप में उत्पन्न हुए, यावत् अपने-अपने राज्य प्राप्त करके विचर रहे हो।

मैं उस देवलोक से आयु का क्षय होने पर कन्या के रूप में आई हूँ—जन्मी हूँ।

'क्या तुम वह भूल गये ? जिस समय हे देवानुप्रियो ! तुम जयन्त नामक अनुत्तर विमान में वास करते थे ? वहाँ रहते हुए 'हमें एक दूसरे को प्रतिबोध देना चाहिए' ऐसा परस्पर में संकेत किया था। तो तुम उस देवभव का स्मरण करो।'

१४४—तए णं तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं रायाणं मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सुभेणं परिणामेणं, पसत्थेणं अज्झवसाणेणं, लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-वूह-मग्गण-गवेसणं करेमाणाणं सण्णिपुव्वे जाइस्सरणे समुप्पन्ने। एयमट्ठं सम्मं अभिसमागच्छंति।

तत्पश्चात् विदेहराज की उत्तम कन्या मल्ली से पूर्वभव का यह वृत्तान्त सुनने और हृदय में धारण करने से, शुभ परिणामों, प्रशस्त अध्यवसायों, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं और जातिस्मरण को आच्छादित करने वाले कर्मों के क्षयोपशम के कारण, ईहा—अपोह (सद्भूत—असद्भूत धर्मों की पर्यालोचना) तथा मार्गणा और गवेषणा—विशेष विचार करने से जितशत्रु प्रभृति छहों राजाओं को ऐसा जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ कि जिससे वे संज्ञी अवस्था के अपने पूर्वभव को देख सके। इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर मल्ली कुमारी द्वारा कथित अर्थ—वृत्तान्त को उन्होंने सम्यक् प्रकार से जान लिया।

१४५—तए णं मल्ली अरहा जियसत्तुपामोक्खे छप्पि रायाणो समुप्पण्णजाइसरणे जाणित्ता गब्भघराणं दाराइं विहाडावेइ। तए णं जियसत्तुपामोक्खा छप्पि रायाणो जेणेव मल्ली अरहा तेणेव उवागच्छंति। तए णं महब्बलपामोक्खा सत्त वि य बालवयंसा एगयओ अभिसमन्नागया यावि होत्था।

तत्पश्चात् मल्ली अरिहंत ने जितशत्रु प्रभृति छहों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया जानकर गर्भगृहों के द्वार खुलवा दिये। तब जितशत्रु वगैरह छहों राजा मल्ली अरिहंत के पास आये। उस समय (पूर्वजन्म के) महाबल आदि सातों बालमित्रों का परस्पर मिलन हुआ।

१४६—तए णं मल्ली अरहा जियसत्तुपामोक्खे छप्पि य रायाणो एवं वयासी—'एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! संसारभयउव्विग्गा जाव पव्वयामि, तं तुब्भे णं किं करेह? किं ववसह? किं भे हियइच्छिए सामत्थे?'

तत्पश्चात् अरिहंत मल्ली ने जितशत्रु वगैरह छहों राजाओं से कहा—हे देवानुप्रियो! निश्चित रूप से मैं संसार के भय से (जन्म-जरा-मरण से) उद्विग्न हुई हूँ, यावत् प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहती हूँ। तो आप क्या करेंगे? कैसे रहेंगे? आपके हृदय का सामर्थ्य कैसा है? अर्थात् भाव या उत्साह कैसा है?

१४७—तए णं जियसत्तुपामोक्खा छप्पि य रायाणो मल्लिं अरहं एवं वयासी—'जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया! संसारभयउव्विग्गा जाव पव्वयह, अम्हाणं देवाणुप्पिया! के अण्णे आलंबणे वा आहारे वा पडिबंधे वा? जह चेव णं देवाणुप्पिया! तुब्भे अम्हे इओ तच्चे भवग्गहणे बहुसु कज्जेसु य मेढी पमाणं जाव धम्मधुरा होत्था, तहा चेव णं देवाणुप्पिया! इण्हिं पि जाव भविस्सह। अम्हे वि य णं देवाणुप्पिया! संसारभयउव्विग्गा जाव भीया जम्ममरणाणं, देवाणुप्पियाणं सद्धिं मुंडा भवित्ता जाव पव्वयामो।'

तत्पश्चात् जितशत्रु आदि छहों राजाओं ने मल्ली अरिहंत से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिये! अगर आप संसार के भय से उद्विग्न होकर यावत् दीक्षा लेती हो, तो हे देवानुप्रिये! हमारे लिए दूसरा क्या आलंबन, आधार या प्रतिबन्ध है? हे देवानुप्रिये! जैसे आप इस भव से पूर्व के तीसरे भव में, बहुत कार्यों में हमारे लिए मेढीभूत, प्रमाणभूत और धर्म की धुरा के रूप में थी, उसी प्रकार हे देवानुप्रिये! अब (इस भव में) भी होओ। हे देवानुप्रिये! हम भी संसार के भय से उद्विग्न हैं, यावत् जन्म-मरण से भयभीत हैं; अतएव देवानुप्रिया के साथ मुण्डित होकर यावत् दीक्षा ग्रहण करने को तैयार हैं।'

१४८—तए णं मल्ली अरहा ते जियसत्तुपामोक्खे एवं वयासी—'जं णं तुब्भे संसारभयउव्विग्गा जाव मए सद्धिं पव्वयह, तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! सएहिं सएहिं रज्जेहिं जेट्ठे पुत्ते रज्जे ठावेह, ठावेत्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ दुरूहह। दुरूढा समाणा मम अंतियं पाउब्भवह।

तत्पश्चात् अरिहंत मल्ली ने उन जितशत्रु प्रभृति राजाओं से कहा—'अगर तुम संसार के भय से उद्विग्न हुए हो, यावत् मेरे साथ दीक्षित होना चाहते हो, तो जाओ देवानुप्रियो! अपने-अपने

राज्य में, और अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य पर प्रतिष्ठित करो। प्रतिष्ठित करके हजार पुरुषों द्वारा वहन करने योग्य शिविकाओं पर आरूढ होओ। आरूढ होकर मेरे समीप आओ।'

१४६—तए णं ते जियसत्तुपामोक्खा मल्लिस्स अरहओ एयमट्ठं पडिसुणेंति।

तत्पश्चात उन जितशत्रु प्रभृति राजाओं ने मल्ली अरिहंत के इस अर्थ (कथन) को अंगीकार किया।

१५०—तए णं मल्ली अरहा ते जियसत्तुपामोक्खे गहाय जेणेव कुंभए राया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता कुंभगस्स पाएसु पाडेइ।

तए णं कुंभए राया ते जियसत्तुपामोक्खे विपुलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् मल्ली अरिहंत उन जितशत्रु वगैरह को साथ लेकर जहाँ कुम्भ राजा था, वहाँ आई। आकर उन्हें कुम्भ राजा के चरणों में नमस्कार कराया।

तब कुम्भ राजा ने उन जितशत्रु वगैरह का विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम से तथा पुष्प, वस्त्र, गंध, माल्य और अलंकारों से सत्कार किया, सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके उन्हें विदा किया।

१५१—तए णं जियसत्तुपामोक्खा कुंभएणं रण्णा विसज्जिया समाणा जेणेव साइं साइं रज्जाइं, जेणेव नयराइं, तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता सयाइं सयाइं रज्जाइं उवसंपज्जित्ता विहरंति।

तत्पश्चात् कुम्भ राजा द्वारा विदा किये हुए जितशत्रु आदि राजा जहाँ अपने-अपने राज्य थे, जहाँ अपने-अपने नगर थे, वहाँ आये। आकर अपने-अपने राज्यों का उपभोग करते हुए विचरने लगे।

१५२—तए णं मल्ली अरहा 'संवच्छरावसाणे निक्खमिस्सामि' त्ति मणं पहारेइ।

तत्पश्चात् अरिहन्त मल्ली ने अपने मन में ऐसी धारणा की कि—'एक वर्ष के अन्त में मैं दीक्षा ग्रहण करूंगी।'

१५३—तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्कस्स आसणं चलइ। तए णं सक्के देविंदे देवराया आसणं चलियं पासइ, पासित्ता ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता मल्लिं अरहं ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव [चिंतिए पत्थिए मणोगते संकप्पे] समुप्पज्जित्था:—'एवं खलु जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे मिहिलाए रायहाणीए कुंभगस्स रण्णो (धूआ) मल्ली अरहा निक्खमिस्सामि त्ति मणं पहारेइ।

उस काल और उस समय में शक्रेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। तब देवेन्द्र देवराज शक्र ने अपना आसन चलायमान हुआ देखा। देख कर अवधिज्ञान का प्रयोग किया—उपयोग लगाया।

उपयोग लगाने पर उसे ज्ञात हुआ—तब इन्द्र को मन में ऐसा विचार, चिन्तन, एवं खयाल हुआ कि जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष में, मिथिला राजधानी में कुम्भ राजा की पुत्री मल्ली अरिहन्त ने एक वर्ष के पश्चात् 'दीक्षा लूंगी' ऐसा विचार किया है।

१५४—'तं जीयमेयं तीय-पच्चुप्पन्न-मणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवरायाणं, अरहंताणं भगवंताणं णिक्खममाणाणं इमेयारूवं अत्थसंपयाणं दलित्तए। तं जहा—

तिण्णेव य कोडिसया, अट्ठासीइं च होंति कोडीओ।
असिइं च सयसहस्सा, इंदा दलयंति अरहाणं॥

(शक्रेन्द्र ने आगे विचार किया—) तो अतीत काल, वर्त्तमान काल और भविष्यत् काल के शक्र देवेन्द्र देवराजों का यह परम्परागत आचार है कि—तीर्थंकर भगवंत जब दीक्षा अंगीकार करने को हों, तो उन्हें इतनी अर्थ—सम्पदा (दान देने के लिए) देनी चाहिए। वह इस प्रकार है:—

'तीन सौ करोड़ (तीन अरब) अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख द्रव्य (स्वर्ण मोहरें) इन्द्र अरिहन्तों को देते हैं।'

१५५—एवं संपेहेइ, संपेहित्ता वेसमणं देवं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जाव असीइं च सयसहस्साइं दलइत्तए, तं गच्छह णं देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे कुंभगभवणंसि इमेयारूवं अत्थसंपयाणं साहराहि, साहरित्ता खिप्पामेव मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।'

शक्रेन्द्र ने ऐसा विचार किया। विचार करके उसने वैश्रमण देव को बुलवाया और बुला कर कहा—'देवानुप्रिय! जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष में, यावत् [मल्ली अरिहंत ने दीक्षा लेने का विचार किया है, अतएव] तीन सौ अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण मोहरें देना उचित है। सो हे देवानुप्रिय! तुम जाओ और जम्बू द्वीप में, भारतवर्ष में कुम्भ राजा के भवन में इतने द्रव्य का संहरण करो—इतना धन लेकर पहुंचा दो। पहुंचा करके शीघ्र ही मेरी यह आज्ञा वापिस सौंपो।'

१५६—तए णं से वेसमणे देवे सक्केणं देविंदेणं देवरन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे करयल जाव[1] पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जंभए देवे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवं दीवं भारहं वासं मिहिलं रायहाणिं, कुंभगस्स रण्णो भवणंसि तिन्नेव य कोडिसया, अट्ठासीयं च कोडीओ असीइं च सयसहस्साइं अयमेयारूवं अत्थसंपयाणं साहरह, साहरित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।'

तत्पश्चात् वैश्रमण देव, शक्र देवेन्द्र देवराज के इस प्रकार कहने पर हृष्ट-तुष्ट हुआ। हाथ जोड़ कर उसने यावत् मस्तक पर अंजलि घुमाकर आज्ञा स्वीकार की। स्वीकार करके जृंभक देवों को बुलाया। बुलाकर उनसे इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! तुम जम्बूद्वीप में भारतवर्ष में और मिथिला राजधानी में जाओ और कुम्भ राजा के भवन में तीन सौ अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख अर्थ सम्प्रदान का संहरण करो, अर्थात् इतनी सम्पत्ति वहाँ पहुंचा दो। संहरण करके यह आज्ञा मुझे वापिस लौटाओ।'

१. प्रथम अ. १८

राज्य में, और अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य पर प्रतिष्ठित करो। प्रतिष्ठित करके हजार पुरुषों द्वारा वहन करने योग्य शिविकाओं पर आरूढ होओ। आरूढ होकर मेरे समीप आओ।'

१४९—तए णं ते जियसत्तुपामोक्खा मल्लिस्स अरहओ एयमट्ठं पडिसुणेंति।

तत्पश्चात उन जितशत्रु प्रभृति राजाओं ने मल्ली अरिहंत के इस अर्थ (कथन) को अंगीकार किया।

१५०—तए णं मल्ली अरहा ते जियसत्तुपामोक्खे गहाय जेणेव कुंभए राया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता कुंभगस्स पाएसु पाडेइ।

तए णं कुंभए राया ते जियसत्तुपामोक्खे विपुलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् मल्ली अरिहंत उन जितशत्रु वगैरह को साथ लेकर जहाँ कुम्भ राजा था, वहाँ आई। आकर उन्हें कुम्भ राजा के चरणों में नमस्कार कराया।

तब कुम्भ राजा ने उन जितशत्रु वगैरह का विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम से तथा पुष्प, वस्त्र, गंध, माल्य और अलंकारों से सत्कार किया, सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके उन्हें विदा किया।

१५१—तए णं जियसत्तुपामोक्खा कुंभएणं रण्णा विसज्जिया समाणा जेणेव साइं साइं रज्जाइं, जेणेव नयराइं, तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता सयाइं सयाइं रज्जाइं उवसंपज्जित्ता विहरंति।

तत्पश्चात् कुम्भ राजा द्वारा विदा किये हुए जितशत्रु आदि राजा जहाँ अपने-अपने राज्य थे, जहाँ अपने-अपने नगर थे, वहाँ आये। आकर अपने-अपने राज्यों का उपभोग करते हुए विचरने लगे।

१५२—तए णं मल्ली अरहा 'संवच्छरावसाणे निक्खमिस्सामि' त्ति मणं पहारेइ।

तत्पश्चात् अरिहन्त मल्ली ने अपने मन में ऐसी धारणा की कि—'एक वर्ष के अन्त में मैं दीक्षा ग्रहण करूंगी।'

१५३–तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्कस्स आसणं चलइ। तए णं सक्के देविंदे देवराया आसणं चलियं पासइ, पासित्ता ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता मल्लिं अरहं ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव [चिंतिए पत्थिए मणोगते संकप्पे] समुप्पज्जित्था:—'एवं खलु जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे मिहिलाए रायहाणीए कुंभगस्स रण्णो (धूआ) मल्ली अरहा निक्खमिस्सामि त्ति मणं पहारेइ।

उस काल और उस समय में शक्रेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। तब देवेन्द्र देवराज शक्र ने अपना आसन चलायमान हुआ देखा। देख कर अवधिज्ञान का प्रयोग किया—उपयोग लगाया।

उपयोग लगाने पर उसे ज्ञात हुआ—तब इन्द्र को मन में ऐसा विचार, चिन्तन, एवं खयाल हुआ कि जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष में, मिथिला राजधानी में कुम्भ राजा की पुत्री मल्ली अरिहन्त ने एक वर्ष के पश्चात् 'दीक्षा लूंगी' ऐसा विचार किया है।

१५४—'तं जीयमेयं तीय-पच्चुप्पन्न-मणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवरायाणं, अरहंताणं भगवंताणं णिक्खममाणाणं इमेयारूवं अत्थसंपयाणं दलित्तए। तं जहा—

तिण्णेव य कोडिसया, अट्ठासीइं च होंति कोडीओ।
असिइं च सयसहस्सा, इंदा दलयंति अरहाणं॥

(शक्रेन्द्र ने आगे विचार किया—) तो अतीत काल, वर्त्तमान काल और भविष्यत् काल के शक्र देवेन्द्र देवराजों का यह परम्परागत आचार है कि—तीर्थंकर भगवंत जब दीक्षा अंगीकार करने को हों, तो उन्हें इतनी अर्थ—सम्पदा (दान देने के लिए) देनी चाहिए। वह इस प्रकार है:—

'तीन सौ करोड़ (तीन अरब) अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख द्रव्य (स्वर्ण मोहरें) इन्द्र अरिहन्तों को देते हैं।'

१५५—एवं संपेहेइ, संपेहित्ता वेसमणं देवं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जाव असीइं च सयसहस्साइं दलइत्तए, तं गच्छह णं देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे कुंभगभवणंसि इमेयारूवं अत्थसंपयाणं साहराहि, साहरित्ता खिप्पामेव मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।'

शक्रेन्द्र ने ऐसा विचार किया। विचार करके उसने वैश्रमण देव को बुलवाया और बुला कर कहा—'देवानुप्रिय! जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भारतवर्ष में, यावत् [मल्ली अरिहंत ने दीक्षा लेने का विचार किया है, अतएव] तीन सौ अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण मोहरें देना उचित है। सो हे देवानुप्रिय! तुम जाओ और जम्बू द्वीप में, भारतवर्ष में कुम्भ राजा के भवन में इतने द्रव्य का संहरण करो—इतना धन लेकर पहुंचा दो। पहुंचा करके शीघ्र ही मेरी यह आज्ञा वापिस सौंपो।'

१५६—तए णं से वेसमणे देवे सक्केणं देविंदेणं देवरन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे करयल जाव[1] पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जंभए देवे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवं दीवं भारहं वासं मिहिलं रायहाणिं, कुंभगस्स रण्णो भवणंसि तिन्नेव य कोडिसया, अट्ठासीयं च कोडीओ असीइं च सयसहस्साइं अयमेयारूवं अत्थसंपयाणं साहरह, साहरित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।'

तत्पश्चात् वैश्रमण देव, शक्र देवेन्द्र देवराज के इस प्रकार कहने पर हृष्ट-तुष्ट हुआ। हाथ जोड़ कर उसने यावत् मस्तक पर अंजलि घुमाकर आज्ञा स्वीकार की। स्वीकार करके जृंभक देवों को बुलाया। बुलाकर उनसे इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! तुम जम्बूद्वीप में भारतवर्ष में और मिथिला राजधानी में जाओ और कुम्भ राजा के भवन में तीन सौ अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख अर्थ सम्प्रदान का संहरण करो, अर्थात् इतनी सम्पत्ति वहाँ पहुंचा दो। संहरण करके यह आज्ञा मुझे वापिस लौटाओ।'

---

१. प्रथम अ. १८

१५७—तए णं ते जंभगा देवा वेसमणेणं जाव [एवं वुत्ता समाणा] पडिसुणेत्ता उत्तर-पुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता जाव [वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरंति जाव] उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव[1] वीइवयमाणा जेणेव जंबुद्दीवे दीवे, भारहे वासे, जेणेव मिहिला रायहाणी, जेणेव कुंभगस्स रण्णो भवणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता कुंभगस्स रण्णो भवणंसि तिन्नि कोडिसया जाव साहरंति। साहरित्ता जेणेव वेसमणे देवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् वे जृंभक देव, वैश्रमण देव की आज्ञा सुनकर उत्तरपूर्व दिशा में गये। जाकर उत्तरवैक्रिय [वैक्रिय समुद्घात किया, समुद्घात करके संख्यात योजन का दंड निकाला], फिर उत्तर वैक्रिय रूपों की विकुर्वणा की। विकुर्वणा करके देव सम्बन्धी उत्कृष्ट गति से जाते हुए जहाँ जम्बूद्वीपनामक द्वीप था, भरत क्षेत्र था, जहाँ मिथिला राजधानी थी और जहाँ कुम्भ राजा का भवन था, वहाँ पहुंचे। पहुंच कर कुम्भ राजा के भवन में तीन सौ करोड़ आदि पूर्वोक्त द्रव्य सम्पत्ति पहुंचा दी। पहुंचा कर वे जृंभक देव, वैश्रमण देव के पास आये और उसकी आज्ञा वापिस लौटाई।

विवेचन—पृथ्वी का एक नाम 'वसुन्धरा' भी है। वसुन्धरा का शब्दार्थ है—वसु अर्थात् धन को धारण करने वाली। 'पदे पदे निधानानि' कहावत भी प्रसिद्ध है, जिसका आशय भी यही है कि इस पृथ्वी में जगह-जगह निधान-खजाने भरे पड़े हैं। जृम्भक देव अवधिज्ञानी होते हैं। उन्हें ज्ञान होता है कि कहाँ-कहाँ कितना द्रव्य गड़ा पड़ा है। जिन निधानों का कोई स्वामी नहीं बच रहता, जिनका नामगोत्र भी निश्शेष हो जाता है, जिनके वंश में कोई उत्तराधिकारी नहीं रहता, जो निधान अस्वामिक हैं, उनमें से जृम्भक देव इतना द्रव्य निकाल कर तीर्थंकर के वर्षीदान के लिए उनके घर में पहुँचाते हैं।

१५८—तए णं से वेसमणे देवे जेणेव सक्के देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता करयल जाव पच्चप्पिणइ।

तत्पश्चात् वह वैश्रमण देव जहाँ शक्र देवेन्द्र देवराज था, वहाँ आया। आकर दोनों हाथ जोड़कर यावत् उसने इन्द्र की आज्ञा वापिस सौंपी।

१५९—तए णं मल्ली अरहा कल्लाकल्लिं जाव मागहओ पायरासो त्ति बहूणं सणाहाण य अणाहाण य पंथियाण य पहियाण य करोडियाण य कप्पडियाण य एगमेगं हिरण्णकोडिं अट्ठ य अणूणाइं सयसहस्साइं इमेयारूवं अत्थसंपदाणं दलयइ।

तत्पश्चात् मल्ली अरिहंत ने प्रतिदिन प्रातःकाल से प्रारम्भ करके मगध देश के प्रातराश (प्रातःकालीन भोजन) के समय तक अर्थात् दोपहर पर्यन्त बहुत-से सनाथों, अनाथों, पांथिकों—निरन्तर मार्ग पर चलने वाले पथिकों, पथिकों—राहगीरों अथवा किसी के द्वारा किसी प्रयोजन से भेजे गये पुरुषों, करोटिक-कपाल हाथ में लेकर भिक्षा मांगने वालों, कार्पटिक-कंथा कोपीन या गेरुये वस्त्र धारण करने वालों अथवा कपट से भिक्षा माँगने वालों अथवा एक प्रकार के भिक्षुक विशेषों को पूरी एक करोड़ और आठ लाख स्वर्णमोहरें दान में देना आरम्भ किया।

१. प्रथम अ. ७०

१६०—तए णं से कुंभए राया मिहिलाए रायहाणीए तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे देसे बहूओ महाणससालाओ करेइ। तत्थ णं बहवे मणुया दिण्णभइ-भत्त-वेयणा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेंति। उवक्खडित्ता जे जहा आगच्छंति तंजहा—पंथिया वा, पहिया वा, करोडिया वा, कप्पडिया वा, पासंडत्था वा, गिहत्था वा, तस्स य तहा आसत्थस्स वीसत्थस्स सुहासणवरगयस्स तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभाएमाणा परिवेसेमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् कुम्भ राजा ने भी मिथिला राजधानी में तत्र तत्र अर्थात् विभिन्न मुहल्लों या उपनगरों में, तहिं तहिं अर्थात् महामार्गों में तथा अन्य अनेक स्थानों में, देशे देशे अर्थात् त्रिक चतुष्क आदि स्थानों-स्थानों में बहुत-सी भोजनशालाएँ बनवाईं। उन भोजनशालाओं में बहुत-से मनुष्य, जिन्हें भृति—धन, भक्त—भोजन, और वेतन-मूल्य दिया जाता था, विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन बनाते थे। बना करके जो लोग जैसे जैसे आते जाते थे जैसे कि - पांथिक (निरन्तर रास्ता चलने वाले), पथिक (मुसाफिर), करोटिक (कपाल-खोपड़ी लेकर भीख माँगने वाले) कार्पटिक (कंथा, कोपीन या कषाय वस्त्र धारण करने वाले) पाखण्डी (साधु, बाबा, संन्यासी) अथवा गृहस्थ, उन्हें आश्वासन देकर, विश्राम देकर और सुखद आसन पर बिठला कर विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य दिया जाता था, परोसा जाता था। वे मनुष्य वहाँ भोजन आदि देते हुए रहते थे।

१६१—तए णं मिहिलाए सिंघाडग जाव[1] बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ—'एवं खलु देवाणुप्पिया! कुंभगस्स रण्णो भवणंसि सव्वकामगुणियं किमिच्छियं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं बहूणं समणाण य जाव परिवेसिज्जइ।'

वरवरिया घोसिज्जइ, किमिच्छियं दिज्जए बहुविहीयं।
सुर-असुर-देव-दाणव-नरिंदमहियाण निक्खमणे॥

तत्पश्चात् मिथिला राजधानी में शृंगाटक, त्रिक, चौक आदि मार्गों में बहुत-से लोग परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'हे देवानुप्रियो! कुम्भ राजा के भवन में सर्वकामगुणित अर्थात् सब प्रकार के सुन्दर रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला—मनोवाञ्छित रस-पर्याय वाला तथा इच्छानुसार दिया जाने वाला विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार बहुत-से श्रमणों आदि को यावत् परोसा जाता है। तात्पर्य यह है कि कुम्भ राजा द्वारा जगह-जगह भोजनशालाएँ खुलवा देने और भोजनदान देने की गली-गली में सर्वत्र चर्चा होने लगी।

'वैमानिक, भवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों तथा नरेन्द्रों अर्थात् चक्रवर्त्ती आदि राजाओं द्वारा पूजित तीर्थंकरों की दीक्षा के अवसर पर वरवरिका की घोषणा कराई जाती है, 'और याचकों को यथेष्ट दान दिया जाता है। अर्थात् और तुम्हें क्या चाहिए, तुम्हें क्या चाहिए' इस प्रकार पूछ-पूछ कर याचक की इच्छा के अनुसार दान दिया जाता है।

१६२—तए णं मल्ली अरहा संवच्छरेणं तिन्नि कोडिसया अट्ठासीइं च होंति कोडीओ असिइं च सयसहस्साइं इमेयारूवं अत्थसंपयाणं दलइत्ता निक्खमामि त्ति मणं पहारेइ।

उस समय अरिहंत मल्ली ने तीन सौ करोड़ अठासी करोड़ अस्सी लाख जितनी अर्थसम्पदा दान देकर 'मैं दीक्षा ग्रहण करूँ' ऐसा मन में निश्चय किया।

---

१. प्रथम अ. ७७

१६३—तेणं कालेणं तेणं समएणं लोगंतिया देवा बंभलोए कप्पे रिट्ठे विमाणपत्थडे सएहिं सएहिं विमाणेहिं, सएहिं सएहिं पासायवडिंसएहिं, पत्तेयं पत्तेयं चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं, तिहिं परिसाहिं, सत्तहिं अणिएहिं, सत्तहिं अणियाहिवईहिं, सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं, अन्नेहि य बहूहिं लोगंतिएहिं देवेहिं सद्धिं संपरिवुडा महयाहयनट्टगीयवाइय जाव [तंती-तल-ताल-तुडिय-घण-मुइंग-पडुप्पवाइय-] रवेणं भुंजमाणा विहरंति। तंजहा—

सारस्सयमाइच्चा, वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वाबाहा, अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य॥

उस काल और उस समय में लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक नामक पाँचवें देवलोक—स्वर्ग में, अरिष्ट नामक विमान के प्रस्तट—पाथड़े में, अपने-अपने विमान से, अपने-अपने उत्तम प्रासादों से, प्रत्येक-प्रत्येक चार-चार हजार सामानिक देवों से, तीन-तीन परिषदों से, सात-सात अनीकों से, सात-सात अनीकाधिपतियों (सेनापतियों) से, सोलह-सोलह हजार आत्मरक्षक देवों से तथा अन्य अनेक लौकान्तिक देवों से युक्त—परिवृत होकर, खूब जोर से बजाये जाते हुए [तन्त्री, तल, ताल, त्रुटिक, घन, मृदंग आदि वाद्यों] नृत्यों—गीतों के शब्दों के साथ दिव्य भोग भोगते हुए विचर रहे थे। उन लौकान्तिक देवों के नाम इस प्रकार हैं।—(१) सारस्वत (२) वह्नि (३) आदित्य (४) वरुण (५) गर्दतोय (६) तुषित (७) अव्याबाध (८) आग्नेय (९) रिष्ट[1]।

१६४—तए णं तेसिं लोयंतियाणं देवाणं पत्तेयं पत्तेयं आसणाइं चलंति, तहेव जाव 'अरहंताणं निक्खममाणाणं संबोहणं करेत्तए त्ति तं गच्छामो णं अम्हे वि मल्लिस्स अरहओ संबोहणं करेमो।' त्ति कट्टु एवं संपेहेंति, संपेहित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभायं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं एवं जहा जंभगा जाव[2] जेणेव मिहिला रायहाणी, जेणेव कुंभगस्स रण्णो भवणे, जेणेव मल्ली अरहा, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अंतलिक्खपडिवन्ना सखिंखिणियाइं जाव [दसद्धवण्णाइं] वत्थाइं पवरपरिहिया करयल[3] ताहिं इट्ठाहिं जाव[4] एवं वयासी—

तत्पश्चात् उन लौकान्तिक देवों में से प्रत्येक के आसन चलायमान हुए—इत्यादि उसी प्रकार जानना अर्थात् आसन चलित होने पर उन्होंने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर मल्ली अर्हत् के प्रव्रज्या के संकल्प को जाना। फिर विचार किया कि—दीक्षा लेने की इच्छा करने वाले तीर्थंकरों को सम्बोधन करना हमारा आचार है; अतः हम जाएँ और अरहन्त मल्ली को सम्बोधन करें; ऐसा लौकान्तिक देवों ने विचार किया। विचार करके उन्होंने ईशान दिशा में जाकर वैक्रिय समुद्घात से विक्रिया की—उत्तर वैक्रिय शरीर धारण किया। समुद्घात करके संख्यात योजन उल्लंघन करके, जृंभक देवों की तरह जहाँ मिथिला राजधानी थी, जहाँ कुम्भ राजा का भवन था और जहाँ मल्ली नामक अर्हत् थे, वहाँ आये। आकरके—अधर में स्थित रह कर घुंघरुओं के शब्द सहित यावत्

१. लौकान्तिक देवों के विषय में टीकाकार अभयदेव सूरि ने लिखा है—'क्वचित् दशविधा एते व्याख्यायन्ते, अस्माभिस्तु स्थानाङ्गानुसारेणैवमभिहिताः।' अर्थात् कहीं-कहीं लौकान्तिक देवों के दश भेद कहे हैं किन्तु हमने स्थानांग सूत्र के अनुसार ही यहाँ भेदों का कथन किया है।—स्थानाङ्गवृत्ति पृ. १६०, सिद्धचक्रसाहित्य-प्रचारकसमिति—संस्करण।

२. अष्टम अ. १५७ ३-४. प्र. अ. १८

[पाँच वर्ण के] श्रेष्ठ वस्त्र धारण करके, दोनों हाथ जोड़कर, इष्ट [कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, अत्यन्त मनोहर] यावत् वाणी से इस प्रकार बोले—

१६५—'बुज्झाहि भयवं ! लोगनाहा ! पवत्तेहि धम्मतित्थं, जीवाणं हिय-सुह-निस्सेयसकरं भविस्सइ' त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयंति। वइत्ता मल्लिं अरहं वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

'हे लोक के नाथ ! हे भगवन् ! बूझो-बोध पाओ। धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करो। वह धर्मतीर्थ जीवों के लिए हितकारी, सुखकारी और निश्रेयसकारी (मोक्षकारी) होगा।' इस प्रकार कह कर दूसरी बार और तीसरी बार भी इसी प्रकार कहा। कहकर अरहन्त मल्ली को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना और नमस्कार करके जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में लौट गए।

विवेचन—तीर्थंकर अनेक पूर्वभवों के सत्संस्कारों के साथ जन्म लेते हैं। जन्म से ही, यहाँ तक कि गर्भावस्था से ही उनमें अनेक विशिष्टताएँ होती हैं। वे स्वयंबुद्ध ही होते हैं। किसी अन्य से बोध प्राप्त करने की आवश्यकता उन्हें नहीं होती। फिर लौकान्तिक देवों के आगमन की और प्रतिबोध देने की आवश्यकता क्यों होती है ? इस प्रश्न का उत्तर प्रकारान्तर से मूल पाठ में ही आ गया है। तीर्थंकर को प्रतिबोध की आवश्यकता न होने पर भी लौकान्तिक देव अपना परम्परागत आचार समझ कर आते हैं। उनका प्रतिबोधन करना वस्तुतः तीर्थंकर भगवान् के वैराग्य की सराहना करना मात्र है। यही कारण है तीर्थंकर का दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प पहले होता है, लौकान्तिक देव बाद में आते हैं।

तीर्थंकर के संकल्प के कारण देवों का आसन चलायमान होना अब आश्चर्यजनक घटना नहीं रहा है। परामनोविज्ञान के अनुसार, आज वैज्ञानिक विकास के युग में, यह घटना सुसम्भव है। इससे तीर्थंकर के अत्यन्त सुदृढ एवं तीव्रतर संकल्प का अनुमान किया जा सकता है।

१६६—तए णं मल्ली अरहा तेहिं लोगंतिएहिं देवेहिं संबोहिए समाणे जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल[1]—'इच्छामि णं अम्मयाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मुंडे भवित्ता जाव (अगाराओ अणगारियं) पव्वइत्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

तत्पश्चात् लौकान्तिक देवों द्वारा सम्बोधित हुए मल्ली अरहन्त माता-पिता के पास आये। आकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करके कहा—"हे माता-पिता ! आपकी आज्ञा प्राप्त करके मुंडित होकर गृहत्याग करके अनगार-प्रव्रज्या ग्रहण करने की मेरी इच्छा है।'

तब माता-पिता ने कहा—'हे देवानुप्रिये ! जैसे सुख उपजे वैसा करो। प्रतिबन्ध-विलम्ब मत करो।

१६७—तए णं कुंभए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव अट्ठसहस्सं सोवण्णियाणं जाव अट्ठसहस्साणं भोमेज्जाणं कलसाणं ति। अण्णं च महत्थं जाव (महग्घं महरिहं विउलं) तित्थयराभिसेयं उवट्ठवेह।' जाव उवट्ठवेंति।

१. प्र. अ. १८

तत्पश्चात् कुम्भ राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर कहा—शीघ्र ही एक हजार आठ सुवर्णकलश यावत् [एक हजार आठ रजत-कलश, इतने ही स्वर्ण-रजतमय कलश, मणिमय कलश, स्वर्ण-मणिमय कलश, रजत-मणिमय कलश, और स्वर्ण-रजत-मणिमय कलश और] एक हजार आठ मिट्टी के कलश, लाओ। इसके अतिरिक्त महान् अर्थ वाली यावत् [महान् मूल्य वाली महान् जनों के योग्य और विपुल] तीर्थंकर के अभिषेक की सब सामग्री उपस्थित करो।'—यह सुनकर कौटुम्बिक पुरुषों ने वैसा ही किया, अर्थात् अभिषेक की समस्त सामग्री तैयार कर दी।

१६८—तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिंदे जाव अच्चुयपज्जवसाणा आगया।

उस काल और उस समय चमर नामक असुरेन्द्र से लेकर अच्युत स्वर्ग तक के सभी इन्द्र अर्थात् चौंसठ इन्द्र वहाँ आ पहुँचे।

१६९—तए णं सक्के देविंदे देवराया आभिओगिए देवे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव अट्ठसहस्सं सोवण्णियाणं कलसाणं जाव अण्णं च तं विउलं उवट्ठवेह।' जाव उवट्ठवेंति। तेवि कलसा ते चेव कलसे अणुपविट्ठा।

तब देवेन्द्र देवराज शक्र ने आभियोगिक देवों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'शीघ्र ही एक हजार आठ स्वर्णकलश आदि यावत् दूसरी अभिषेक के योग्य सामग्री उपस्थित करो।' यह सुन कर आभियोगिक देवों ने भी सब सामग्री उपस्थित की। वे देवों के कलश उन्हीं मनुष्यों के कलशों में (दैवी माया से) समा गये।

१७०—तए णं से सक्के देविंदे देवराया कुंभराया य मल्लिं अरहं सीहासणंसि पुरत्थाभिमुहं निवेसेइ, अट्ठसहस्सेणं सोवण्णियाणं जाव अभिसिंचइ।

तत्पश्चात् देवेन्द्र देवराज शक्र और कुम्भ राजा ने मल्ली अरहन्त को सिंहासन के ऊपर पूर्वाभिमुख आसीन किया। फिर सुवर्ण आदि के एक हजार आठ पूर्वोक्त कलशों से यावत् उनका अभिषेक किया।

१७१—तए णं मल्लिस्स भगवओ अभिसेए वट्टमाणे अप्पेगइया देवा मिहिलं च सब्भितरं बाहिरियं जाव सव्वओ समंता आधावंति परिधावंति।

तत्पश्चात् जब मल्ली भगवान् का अभिषेक हो रहा था, उस समय कोई-कोई देव मिथिला नगरी के भीतर और बाहर यावत् सब दिशाओं-विदिशाओं में दौड़ने लगे—इधर उधर फिरने लगे।

१७२—तए णं कुंभए राया दोच्चं पि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेइ जाव सव्वालंकार-विभूसियं करेइ, करित्ता कोडुम्बियपुरिसे सद्दावेइ। सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव मणोरमं सीयं उवट्ठवेह।' ते वि उवट्ठवेंति।

तत्पश्चात् कुम्भ राजा ने दूसरी बार उत्तर दिशा में सिंहासन रखवाया यावत् भगवान् मल्ली को सर्व अलंकारों से विभूषित किया। विभूषित करके कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—शीघ्र ही मनोरमा नाम की शिविका (तैयार करके) लाओ।' कौटुम्बिक पुरुष मनोरमा शिविका—पालकी ले आए।

१७३—तए णं सक्के देविंदे देवराया आभियोगिए सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव अणेगखंभं जाव मनोरमं सीयं उवट्ठवेह।' जाव सावि सीया तं चेव सीयं अणुपविट्ठा।

तत्पश्चात् देवेन्द्र देवराज शक्र ने आभियोगिक देवों को बुलाया। बुलाकर उनसे कहा—'शीघ्र ही अनेक खम्भों वाली यावत् मनोरमा नामक शिविका उपस्थित करो।' तब वे देव भी मनोरमा शिविका लाये और वह शिविका भी उसी मनुष्यों की शिविका में समा गई।

१७४—तए णं मल्ली अरहा सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता जेणेव मणोरमा सीया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मणोरमं सीयं अणुपयाहिणी करेमाणा मणोरमं सीयं दुरूहइ। दुरूहित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने।

तत्पश्चात् मल्ली अरहन्त सिंहासन से उठे। उठकर जहां मनोरमा शिविका थी, उधर आये। आकर मनोरमा शिविका को प्रदक्षिणा करके मनोरमा शिविका पर आरूढ हुए। आरूढ होकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके सिंहासन पर विराजमान हुए।

१७५—तए णं कुंभए राया अट्ठारस सेणिप्पसेणीओ सद्दावेइ। सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया! ण्हाया जाव (कयबलिकम्मा कयकोउअमंगलपायच्छित्ता) सव्वालंकार-विभूसिया मल्लिस्स सीयं परिवहह।' तेवि जाव परिवहंति।

तत्पश्चात् कुम्भ राजा ने अठारह जातियों—उपजातियों को बुलवाया। बुलवा कर कहा—'हे देवानुप्रियो! तुम लोग स्नान करके यावत् [बलिकर्म करके तथा कौतुक, मंगल एवं प्रायश्चित्त करके तथा सर्व अलंकारों से विभूषित होकर मल्ली कुमारी की शिविका वहन करो।' यावत् उन्होंने शिविका वहन की।

१७६—तए णं सक्के देविंदे देवराया मणोरमाए दक्खिणिल्लं उवरिल्लं बाहं गेण्हइ, ईसाणे उत्तरिल्लं उवरिल्लं बाहं गेण्हइ, चमरे दाहिणिल्लं हेट्ठिल्लं, बली उत्तरिल्लं हेट्ठिल्लं। अवसेसा देवा जहारिहं मणोरमं सीयं परिवहंति।

तत्पश्चात् शक्र देवेन्द्र देवराज ने मनोरमा शिविका की दक्षिण तरफ की ऊपरी बाहा ग्रहण की (वहन की), ईशान इन्द्र ने उत्तर तरफ की ऊपरी बाहा ग्रहण की, चमरेन्द्र ने दक्षिण तरफ की निचली बाहा ग्रहण की। शेष देवों ने यथायोग्य उस मनोरमा शिविका को वहन किया।

१७७—पुव्विं उक्खित्ता माणुस्सेहिं, तो हट्ठरोमकूवेहिं।
पच्छा वहंति सीयं, असुरिंदसुरिंदनागेंदा॥ १॥
चलचवलकुंडलधरा, सच्छंदविउव्वियाभरणधारी।
देविंददाणविंदा, वहन्ति सीयं जिणिंदस्स॥ २॥

मनुष्यों ने सर्वप्रथम वह शिविका उठाई। उनके रोमकूप (रोंगटे) हर्ष के कारण विकस्वर हो रहे थे। उसके बाद असुरेन्द्रों, सुरेन्द्रों और नागेन्द्रों ने उसे वहन किया॥१॥

चलायमान चपल कुण्डलों को धारण करने वाले तथा अपनी इच्छा के अनुसार विक्रिया से

बनाये हुए आभरणों को धारण करने वाले देवेन्द्रों और दानवेन्द्रों ने जिनेन्द्र देव की शिविका वहन की।

१७८—तए णं मल्लिस्स अरहओ मणोरमं सीयं दुरूढस्स इमे अट्ठट्ठमंगलगा अहाणुपुव्वीए, एवं निग्गमो जहा जमालिस्स।

तत्पश्चात् मल्ली अरहंत जब मनोरमा शिविका पर आरूढ हुए, उस समय उनके आगे आठ-आठ मंगल अनुक्रम से चले। भगवतीसूत्र में वर्णित जमालि के निर्गमन की तरह यहाँ मल्ली अरहंत के निर्गमन का वर्णन समझ लेना चाहिए।

विवेचन—सूत्र में जिन आठ मंगलों का उल्लेख है, वे इस प्रकार हैं—(१) स्वस्तिक, (२) श्रीवत्स, (३) नंदिकावर्त्त (नन्द्यावर्त्त), (४) वर्द्धमानक, (५) भद्रासन, (६) कलश, (७) मत्स्य और (८) दर्पण।

तीर्थंकर के वक्षस्थल में उठे हुए अवयव के आकार का विशेष प्रकार का चिह्न श्रीवत्स कहलाता है। प्रत्येक दिशा में नव कोण वाला साथिया नंदिकावर्त्त है। शराव (सिकोरे) को वर्द्धमानक कहते हैं। एक विशेष प्रकार का सुखद सिंहासन भद्रासन है। कलश, मत्स्य और दर्पण प्रसिद्ध हैं।

जमालि के निष्क्रमण का वर्णन भगवतीसूत्र में है। प्रस्तुत शास्त्र में प्रथम अध्ययन में वर्णित मेघकुमार के निष्क्रमण से भी उसे समझा जा सकता है।

१७९—तए णं मल्लिस्स अरहओ निक्खममाणस्स अप्पेइगया देवा मिहिलं रायहाणिं अब्भिंतर-बाहिरं आसियसंमज्जिय-संमट्ठ-सुइ-रत्थंतरावणवीहियं करेंति जाव परिधावंति।

तत्पश्चात् मल्ली अरहंत जब दीक्षा धारण करने के लिए निकले तो किन्हीं-किन्हीं देवों ने मिथिला राजधानी में पानी सींच दिया, उसे साफ कर दिया और भीतर तथा बाहर की विधि करके यावत् चारों ओर दौड़ धूप करने लगे। (यह सर्व वर्णन राजप्रश्नीय आदि सूत्रों से जान लेना चाहिए।)

१८०—तए णं मल्ली अरहा जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे, जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीयाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता आभरणालंकारं ओमुयइ। तए णं पभावती हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरणालंकारं पडिच्छइ।

तत्पश्चात् मल्ली अरहंत जहाँ सहस्राम्रवन नामक उद्यान था, और जहाँ श्रेष्ठ अशोक वृक्ष था वहाँ आये। आकर शिविका से नीचे उतरे। नीचे उतरकर समस्त आभरणों का त्याग किया। प्रभावती देवी ने हंस के चिह्न वाली अपनी साड़ी में वे आभरण ग्रहण किये।

१८१—तए णं मल्ली अरहा सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ। तए णं सक्के देविंदे देवराया मल्लिस्स केसे पडिच्छइ। पडिच्छित्ता खीरोदगसमुद्दे पक्खिवइ।

तए णं मल्ली अरहा 'णमोऽत्थु णं सिद्धाणं' ति कट्टु सामाइयचरित्तं पडिवज्जइ।

तत्पश्चात् मल्ली अरहंत ने स्वयं ही पंचमुष्टिक लोच किया। तब शक्र देवेन्द्र देवराज ने मल्ली के केशों को ग्रहण किया। ग्रहण करके उन केशों को क्षीरोदक समुद्र (क्षीर सागर) में प्रक्षेप कर दिया।

तत्पश्चात् मल्ली अरिहन्त ने 'नमोऽत्थु णं सिद्धाणं' अर्थात् 'सिद्धों को नमस्कार हो' इस प्रकार कह कर सामायिक चारित्र अंगीकार किया।

१८२—जं समयं च णं मल्ली अरहा चरित्तं पडिवज्जइ, तं समयं च णं देवाणं मणुस्साण य णिग्घोसे तुरिय-णिणाय-गीय-वाइयनिग्घोसे य सक्कस्स वयणसंदेसेणं णिलुक्के यावि होत्था। जं समयं च णं मल्ली अरहा सामाइयं चरित्तं पडिवन्ने तं समयं च णं मल्लिस्स अरहओ माणुसधम्माओ उत्तरिए मणपज्जवनाणे समुप्पन्ने।

जिस समय अरहंत मल्ली ने चारित्र अंगीकार किया, उस समय देवों और मनुष्यों के निर्घोष (शब्द-कोलाहल), वाद्यों की ध्वनि और गाने-बजाने का शब्द शक्रेन्द्र के आदेश से बिल्कुल बन्द हो गया। अर्थात् शक्रेन्द्र ने सब को शान्त रहने का आदेश दिया, अतएव चारित्र ग्रहण करते समय पूर्ण नीरवता व्याप्त हो गई। जिस समय मल्ली अरहन्त ने सामायिक चारित्र अंगीकार किया, उसी समय मल्ली अरहंत को मनुष्यधर्म से ऊपर का अर्थात् साधारण अव्रती मनुष्यों को न होने वाला-लोकोत्तर अथवा मनुष्य क्षेत्र संबंधी उत्तम, मनःपर्यय ज्ञान (मनुष्य क्षेत्र-अढ़ाई द्वीप में स्थित संज्ञी जीवों के मन के पर्यायों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान) उत्पन्न हो गया।

१८३—मल्ली णं अरहा जे से हेमंताणं दोच्चे मासे चउत्थे पक्खे पोससुद्धे, तस्स णं पोससुद्धस्स एक्कारसीपक्खे णं पुव्वण्हकालसमयंसि अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं, अस्सिणीहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं तिहिं इत्थीसएहिं अब्भिंतरियाए परिसाए, तिहिं पुरिससएहिं बाहिरियाए परिसाए सद्धिं मुंडे भवित्ता पव्वइए।

मल्ली अरहन्त ने हेमन्त ऋतु के दूसरे मास में, चौथे पखवाड़े में अर्थात् पौष मास के शुद्ध (शुक्ल) पक्ष में और पौष मास के शुद्ध पक्ष की एकादशी के पक्ष में अर्थात् अर्द्ध भाग में (रात्रि का भाग छोड़कर दिन में), पूर्वाह्न काल के समय में, निर्जल अष्टम भक्त तप करके, अश्विनी नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग प्राप्त होने पर, तीन सौ आभ्यन्तर परिषद् की स्त्रियों के साथ और तीन सौ बाह्य परिषद् के पुरुषों के साथ मुंडित होकर दीक्षा अंगीकार की।

१८४—मल्लिं अरहं इमे अट्ठ णायकुमारा अणुपव्वइंसु, तं जहा—

णंदे य णंदिमित्ते, सुमित्त बलमित्त भाणुमित्ते य।
अमरवइ अमरसेणे महसेणे चेव अट्ठमए॥

मल्ली अरहंत का अनुसरण करके इक्ष्वाकुवंश में जन्मे तथा राज्य भोगने योग्य हुए आठ ज्ञात कुमार दीक्षित हुए। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) नन्द (२) नन्दिमित्र (३) सुमित्र (४) बलमित्र (५) भानुमित्र (६) अमरपति (७) अमरसेन (८) आठवें महासेन। इन आठ ज्ञातकुमारों (इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों) ने दीक्षा अंगीकार की।

१८५—तए णं से भवणवइ-वाणमन्तर-जोइसिय-वेमाणिया देवा मल्लिस्स अरहओ निक्खमणमहिमं करेंति, करित्ता जेणेव नंदीसरवरे दीवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अट्ठाहियं करेंति, करित्ता जाव पडिगया।

तत्पश्चात् भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक–इन चार निकाय के देवों ने मल्ली अरहन्त का दीक्षा-महोत्सव किया। महोत्सव करके जहाँ नन्दीश्वर द्वीप था, वहाँ गये। जाकर अष्टाह्निका महोत्सव किया। महोत्सव करके यावत् अपने-अपने स्थान पर लौट गये।

१८६—तए णं मल्ली अरहा जं चेव दिवसं पव्वइए तस्सेव दिवसस्स पच्चावरण्हकालसमयंसि असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टयंसि सुहासणवरगयस्स सुहेणं परिणामेणं, पसत्थेहिं अज्झवसाणेणं, पसत्थाहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, तयावरणकम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं अणुपविट्ठस्स अणंते जाव (अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे) केवलनाणदंसणे समुप्पन्ने।

तत्पश्चात् मल्ली अरहन्त ने, जिस दिन दीक्षा अंगीकार की, उसी दिन के प्रत्यपराह्न-काल के समय अर्थात् दिन के अन्तिम भाग में, श्रेष्ठ अशोक वृक्ष के नीचे, पृथ्वीशिलापट्टक के ऊपर विराजमान थे, उस समय शुभ परिणामों के कारण, प्रशस्त अध्यवसाय के कारण तथा विशुद्ध एवं प्रशस्त लेश्याओं के कारण, तदावरण (ज्ञानावरण और दर्शनावरण) कर्म की रज को दूर करने वाले अपूर्वकरण (आठवें गुणस्थान) को प्राप्त हुए। तत्पश्चात् अरहन्त मल्ली को अनन्त अर्थात् अनन्त पदार्थों को जानने वाला और सदाकाल स्थायी, अनुत्तर-सर्वोत्कृष्ट, निर्व्याघात–सब प्रकार के व्याघातों से रहित—जिसमें देश या काल सम्बन्धी दूरी आदि कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती, निरावरण–सब आवरणों से रहित, सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की उत्पत्ति हुई।

१८७—तेणं कालेणं तेणं समएणं सव्वदेवाणं आसणाइं चलंति। समोसढा, धम्मं सुणेंति, अट्ठाहियमहिमा नंदीसरे, जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया। कुंभए वि निग्गच्छइ।

उस काल और उस समय में सब देवों के आसन चलायमान हुए। तब वे सब देव वहाँ आये। सबने धर्मोपदेश श्रवण किया। नन्दीश्वर द्वीप में जाकर अष्टाह्निका महोत्सव किया। फिर जिस दिशा से प्रकट हुए थे, उसी दिशा में लौट गये। कुम्भ राजा भी वन्दना करने के लिए निकला।

१८८—तए णं ते जियसत्तुपामोक्खा छप्पि य रायाणो जेट्ठपुत्ते रज्जे ठावित्ता पुरिससहस्सवाहिणीयाओ (सीयाओ) दुरूढा सव्विड्ढीए जाव रवेणं जेणेव मल्ली अरहा जाव पज्जुवासंति।

तत्पश्चात् वे जितशत्रु वगैरह छहों राजा अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों को राज्य पर स्थापित करके, हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली शिविकाओं पर आरूढ होकर समस्त ऋद्धि (पूरे ठाठ) के साथ यावत् गीत-वादित्र के शब्दों के साथ जहाँ मल्ली अरहन्त थे, यावत् वहाँ आकर उनकी उपासना करने लगे।

१८९—तए णं मल्ली अरहा तीसे महइ महालियाए कुंभगस्स रन्नो तेसिं च जियसत्तुपामोक्खाणं धम्मं कहेइ। परिसा जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया। कुंभए समणोवासए जाए, पडिगए, पभावई य समणोवासिया जाया, पडिगया।

तत्पश्चात् मल्ली अरहन्त ने उस बड़ी भारी परिषद् को, कुम्भ राजा को और उन जितशत्रु प्रभृति छहों राजाओं को धर्म का उपदेश दिया। परिषद् जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा में लौट गई। कुम्भ राजा श्रमणोपासक हुआ। वह भी लौट गया। रानी प्रभावती श्रमणोपासिका हुई। वह भी वापिस चली गई।

१९०—तए णं जियसत्तुपामोक्खा छप्पि य रायाणो धम्मं सोच्चा आलित्ते णं भंते [लोए, पलित्ते णं भंते! लोए, आलित्तपलित्ते णं भंते! लोए, जराए मरणेण य] जाव पव्वइया। चोद्दस-पुव्विणो, अणंते केवले, सिद्धा।

तत्पश्चात् जितशत्रु आदि छहों राजाओं ने धर्म को श्रवण करके कहा— भगवन्! यह संसार जरा और मरण से आदीप्त है—जल रहा है, प्रदीप्त है—भयंकर रूप से जल रहा है और आदीप्त-प्रदीप्त है—अत्यन्त उत्कटता से जल रहा है, इत्यादि कहकर यावत् वे दीक्षित हो गये। चौदह पूर्वों के ज्ञानी हुए, फिर अनन्त केवल-ज्ञान दर्शन प्राप्त करके यावत् सिद्ध हुए।

१९१—तए णं मल्ली अरहा सहसंबवणाओ निक्खमइ, निक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ।

तत्पश्चात् (किसी समय) मल्ली अरहंत सहस्राम्रवन उद्यान से बाहर निकले। निकलकर जनपदों में विहार करने लगे।

१९२—मल्लिस्स णं अरहओ भिसग (किंसुय) पामोक्खा अट्ठावीसं गणा, अट्ठावीसं गण-हरा होत्था।

मल्लिस्स णं अरहओ चत्तालीसं समणसाहस्सीओ उक्कोसियाओ, बंधुमतीपामोक्खाओ पणपण्णं अज्जियासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया होत्था।

मल्लिस्स णं अरहओ सावयाणं एगा सयसाहस्सीओ चुलसीइं च सहस्सा उक्कोसिया सावया होत्था।

मल्लिस्स णं अरहओ सावियाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ पण्णट्ठिं च सहस्सा संपया होत्था।

मल्लिस्स णं अरहओ छस्सया चोद्दसपुव्वीणं, वीससया ओहिनाणीणं, बत्तीसं सया केवल-णाणीणं, पणतीसं सया वेउव्वियाणं, अट्ठसया मणपज्जवणाणीणं, चोद्दससया वाईणं, वीसं सया अणुत्तरोववाइयाणं (संपया होत्था)।

मल्ली अरहन्त के भिषक (या किंशुक) आदि अट्ठाईस गण और अट्ठाईस गणधर थे।

मल्ली अरहंत की चालीस हजार साधुओं की उत्कृष्ट सम्पदा थी। बंधुमती आदि पचपन हजार आर्यिकाओं की सम्पदा थी।

मल्ली अरहन्त की एक लाख चौरासी हजार श्रावकों की उत्कृष्ट सम्पदा थी।

मल्ली अरहन्त की तीन लाख पैंसठ हजार श्राविकाओं की उत्कृष्ट सम्पदा थी

मल्ली अरहंत की छह सौ चौदहपूर्वी साधुओं की, दो हजार अवधिज्ञानी, बत्तीस सौ केवलज्ञानी, पैंतीस सौ वैक्रियलब्धिधारी, आठ सौ मनःपर्यायज्ञानी, चौदह सौ वादी और बीस सौ

अनुत्तरौपपातिक (सर्वार्थसिद्ध आदि विमानों में जाकर फिर एक भव लेकर मोक्ष जाने वाले) साधुओं की सम्पदा थी।

१९३—मल्लिस्स अरहओ दुविहा अंतगडभूमी होत्था। तंजहा-जुगंतकरभूमी, परियायंतकरभूमी य। जाव वीसइमाओ पुरिसजुगाओ जुयंतकरभूमी, दुवासपरियाए[1] अंतमकासी।

मल्ली अरहंत के तीर्थ में दो प्रकार की अन्त-कर भूमि हुई। वह इस प्रकार-युगान्तकर भूमि और पर्यायान्तकर भूमि। इनमें से शिष्य-प्रशिष्य आदि वीस पुरुषों रूप युगों तक अर्थात् वीसवें पाट तक युगांतकर भूमि हुई, अर्थात् वीस पाट तक साधुओं ने मुक्ति प्राप्त की। (वीसवें पाट के पश्चात् उनके तीर्थ में किसी ने मोक्ष प्राप्त नहीं किया।) और दो वर्ष का पर्याय होने पर अर्थात् मल्ली अरहन्त को केवलज्ञान प्राप्त किये दो वर्ष व्यतीत हो जाने पर पर्यायान्तकर भूमि हुई—भव पर्याय का अन्त करने वाले—मोक्ष जाने वाले साधु हुए। (इससे पहले कोई जीव मोक्ष नहीं गया)

१९४—मल्ली णं अरहा पणुवीसं धणूणि उड्ढं उच्चत्तेणं, वण्णेणं पियंगुसमे, समचउरंस-संठाणे, वज्जरिसभनारायसंघयणे, मज्झदेसे सुहं सुहेणं विहरित्ता जेणेव संमेए पव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता संमेयसेलसिहरे पाओवगमणमणुववन्ने।

मल्ली अरहन्त पच्चीस धनुष ऊँचे थे। उनके शरीर का वर्ण प्रियंगु के समान था। सम-चतुरस्र संस्थान और वज्रऋषभनाराच संहनन था। वह मध्यदेश में सुखे-सुखे विचर कर जहाँ सम्मेद पर्वत था, वहाँ आये। आकर उन्होंने सम्मेदशैल के शिखर पर पादोपगमन अनशन अंगीकार कर लिया।

१९५—मल्ली णं एगं वाससयं आगारवासं पणपण्णं वाससहस्साइं वाससयऊणाइं केवलिपरियागं पाउणित्ता, पणपण्णं वाससहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता जे से गिम्हाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे चित्तसुद्धे, तस्स णं चेत्तसुद्धस्स चउत्थीए भरणीए णक्खत्तेणं अद्धरत्तकालसमयंसि पंचहिं अज्जियासएहिं अब्भितरियाए परिसाए, पंचहिं अणगारसएहिं बाहिरियाए परिसाए, मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं, वग्घारियपाणी, खीणे वेयणिज्जे आउए नामे गोए सिद्धे। एवं परिनिव्वाणमहिमा भाणि-यव्वा जहा जंबुद्दीवपण्णत्तीए, नंदीसरे अट्ठाहियाओ, पडिगयाओ।

मल्ली अरहंत एक सौ वर्ष गृहवास में रहे। सौ वर्ष कम पचपन हजार वर्ष केवली-पर्याय पालकर, इस प्रकार कुल पचपन हजार वर्ष की आयु भोग कर ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास, दूसरे पक्ष अर्थात् चैत्र मास के शुक्ल पक्ष और चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की चौथ तिथि में, भरणी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, अर्द्ध रात्रि के समय, आभ्यन्तर परिषद् की पाँच सौ साध्वियों और बाह्य परिषद् के पाँच सौ साधुओं के साथ, निर्जल एक मास के अनशनपूर्वक दोनों हाथ लम्बे रखकर, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघाति कर्मों के क्षीण होने पर सिद्ध हुए। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में वर्णित निर्वाणमहोत्सव यहाँ भी कहना चाहिए। फिर देवों ने नन्दीश्वर द्वीप में जाकर अष्टाह्निक महोत्सव किया। महोत्सव करके अपने-अपने स्थान पर चले गये।

विवेचन—टीकाकार द्वारा वर्णित निर्वाणकल्याणक का महोत्सव संक्षेप में इस प्रकार है:—

१. पाठान्तर—चउमासपरियाए

जिस समय तीर्थंकर भगवान् का निर्वाण हुआ तो शक्र देवेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान का उपयोग लगाने से उसे निर्वाण की घटना का ज्ञान हुआ। उसी समय वह सपरिवार सम्मेदशिखर पर्वत पर आया। भगवान् के निर्वाण के कारण उसे खेद हुआ। आँखों से आँसू बहने लगे। उसने भगवान् के शरीर की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं। फिर उस शरीर से थोड़ी दूर ठहर गया। इसी प्रकार सब इन्द्रों ने किया।

तत्पश्चात् शक्रेन्द्र ने अपने आभियोगिक देवों से वन में से सुन्दर गोशीर्ष चन्दन के काष्ठ मंगवाये। तीन चिताएँ रची गईं। क्षीर सागर से जल मँगवाया गया। उस जल से भगवान् को स्नान कराया गया। हंस जैसा धवल और कोमल वस्त्र शरीर पर ढँक दिया। फिर शरीर को सर्व अलंकारों से अलंकृत किया गया।

गणधरों और साधुओं के शरीर का अन्य देवों ने इसी प्रकार संस्कार किया।

तत्पश्चात् शक्र इन्द्र ने आभियोगिक देवों से तीन शिविकाएँ बनवाईं। उनमें से एक शिविका पर भगवान् का शरीर स्थापित किया और उसे चिता के समीप ले जाकर चिता पर रखा। अन्य देवों ने गणधरों और साधुओं के शरीर को दो शिविकाओं में रखकर दो चिताओं पर रखा। तत्पश्चात् अग्निकुमार देवों ने शक्रेन्द्र की आज्ञा से तीनों चिताओं में अग्निकाय की विकुर्वणा की और वायुकुमार देवों ने वायु की विकुर्वणा की। अन्य देवों ने तीनों चिताओं में अगर, लोभान, धूप, घी और मधु आदि के घड़े के घड़े डाले। अन्त में जब शरीर भस्म हो चुके तब, मेघकुमार देवों ने उन चिताओं को क्षीर सागर के जल से शान्त कर दिया।

तत्पश्चात् शक्रेन्द्र ने प्रभु के शरीर की दाहिनी तरफ की ऊपर की दाढ़ ग्रहण की। ईशानेन्द्र ने बायीं ओर की ऊपर की दाढ़ ली। चमरेन्द्र ने दाहिनी ओर की नीचे की और बलीन्द्र ने बायीं ओर की नीचे की दाढ़ ग्रहण की। अन्य देवों ने अन्यान्य अंगोपांगों की अस्थियाँ ले लीं। तत्पश्चात् तीनों चिताओं के स्थान पर बड़े-बड़े स्तूप बनाये और निर्वाणमहोत्सव किया।

सब तीर्थंकरों के निर्वाण का अंतिम संस्कार-वर्णन इसी प्रकार समझना चाहिए।

१९६—एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं अट्ठमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि।

श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—इस प्रकार निश्चय ही, हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने आठवें ज्ञाताध्ययन का यह अर्थप्ररूपण किया है। मैंने जो सुना, वही कहता हूँ।

॥ आठवाँ अध्ययन समाप्त ॥

नवम अध्ययन : माकन्दी

सार : संक्षेप

आप्त जनों ने संक्षिप्त सूत्र में साधना का मूलभूत रहस्य प्रकट करते महत्त्वपूर्ण सूचना दी है—'एगे जिए जिया पंच।' अर्थात् एक मन पर विजय प्राप्त कर ली जाय तो पाँचों इन्द्रियों पर सरलता से विजय प्राप्त की जा सकती है। किन्तु मन पर विजय प्राप्त करना साधारण कार्य नहीं। मन बड़ा ही साहसिक, चंचल और हठीला होता है। उसे जिस ओर जाने से रोकने का प्रयास किया जाता है, उसी ओर वह हठात् जाता है। ऐसी स्थिति में उसे वशीभूत करना बहुत कठिन है। तीव्रतर संकल्प हो, उस संकल्प को बारम्बार दोहराते रहा जाए, निरन्तर सतर्क-सावधान रहा जाए, अभ्यास और वैराग्यवृत्ति का आसेवन किया जाए, धर्मशिक्षा को सदैव जागृत रक्खा जाए तो उसे वश में किया जा सकता है। शास्त्रों में नाना प्रकार के जिन अनुष्ठानों का, क्रियाकलापों का वर्णन किया गया है, उनका प्रधान उद्देश्य मन को वशीभूत करना ही है।

इन्द्रियाँ मन की दासी हैं। जब मन पर आत्मा का पूरा अधिकार हो जाता है तो इन्द्रियाँ अनायास ही काबू में आ जाती हैं।

इसके विपरीत मन यदि स्वच्छन्द रहा तो इन्द्रियाँ भी निरंकुश होकर अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं और आत्मा पतन की दिशा में अग्रसर हो जाता है। उसके पतन की सीमा नहीं रहती। 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' वाली उक्ति चरितार्थ हो जाती है। जीवन में जब यह स्थिति उत्पन्न होती है तो इहभव और परभव-दोनों दुःखदायी बन जाते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में इसी तथ्य को सरल-सुगम उदाहरण रूप में प्रकट किया गया है।

चम्पा नगरी के निवासी माकन्दी सार्थवाह के दो पुत्र थे—जिनपालित और जिनरक्षित। वे ग्यारह बार लवणसमुद्र में यात्रा कर चुके थे। उनकी यात्रा का उद्देश्य व्यापार करना था। वे जब भी समुद्रयात्रा पर गए, अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करके लौटे। इससे उनका साहस बढ़ गया। उन्होंने बारहवीं बार समुद्रयात्रा करने का निश्चय किया। माता-पिता से अनुमति मांगी।

माता-पिता ने उन्हें यात्रा करने से रोकना चाहा। कहा—पुत्रो! दादा और पड़दादा द्वारा उपार्जित धन-सम्पत्ति प्रचुर परिमाण में अपने पास विद्यमान है। सात पीढ़ियों तक उपभोग करने पर भी वह समाप्त नहीं होगी। समाज में हमें पर्याप्त प्रतिष्ठा भी प्राप्त है। फिर अनेकानेक विघ्नों से परिपूर्ण समुद्रयात्रा करने की क्या आवश्यकता है? इसके अतिरिक्त बारहवीं यात्रा अनेक संकटों से परिपूर्ण होती है। अतएव यात्रा का विचार स्थगित कर देना ही उचित है।

बहुत समझाने-बुझाने पर भी जवानी के जोश में लड़के न माने और यात्रा पर चल पड़े। समुद्र में काफ़ी दूर जाने पर माता-पिता का कहा सत्य प्रत्यक्ष होने लगा। अकाल में मेघों की भीषण गर्जना होने लगी, आकाश में बिजली तांडव नृत्य करने लगी और प्रलयकाल जैसी भयानक आँधी ने रौद्र रूप धारण कर लिया। जिनपालित और जिनरक्षित का यान उस आंधी में फंस गया। उस

विकट संकट के समय यान की जो दशा हुई उसका अत्यन्त करुणाजनक और साथ ही आलंकारिक काव्यमय वर्णन मूल पाठ में किया गया है। ऐसे वर्णन आगमों में क्वचित् ही उपलब्ध होते हैं।

यान छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो गया। व्यापार के लिए जो माल भरा गया था, वह सागर के गर्भ में समा गया। दोनों भाई निराधार और निरवलम्ब हो गए। उन्होंने जीवन की आशा त्याग दी। उस समय माता-पिता की बात न मानने और अपने हठ पर कायम रहने के लिए उन्हें कितना पश्चात्ताप हुआ होगा, यह अनुमान करना कठिन नहीं।

संयोगवश उन्हें अपने यान का एक पटिया हाथ लग गया। उसके सहारे तिरते-तिरते वे समुद्र के किनारे जा लगे। जिस प्रदेश में वे किनारे लगे वह प्रदेश रत्नद्वीप था। इस द्वीप के मध्यभाग में रत्न देवता नामक एक देवता—देवी निवास करती थी। उसका एक अत्यन्त सुन्दर महल था, जिसकी चारों दिशाओं में चार वनखण्ड थे।

रत्नदेवी ने अवधिज्ञान से माकंदीपुत्रों को विपद्ग्रस्त अवस्था में समुद्रतट पर देखा और तत्काल उनके पास आ पहुँची। बोली—यदि तुम दोनों जीवित रहना चाहते हो तो मेरे साथ चलो और मेरे साथ विपुल भोग भोगते हुए आनन्दपूर्वक रहो। अगर मेरी बात नहीं मानते—भोग भोगना स्वीकार नहीं करते तो इस तलवार से तुम्हारे मस्तक काट कर फेंक देती हूँ।

बेचारे माकन्दीपुत्रों के सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं था। उन्होंने देवी की बात मान्य कर ली। उसके प्रासाद में चले गए और उसकी इच्छा तृप्त करने लगे।

इन्द्र के आदेश से, सुस्थित देव ने रत्न देवी को लवणसमुद्र की सफाई के लिए नियुक्त कर रक्खा था। सफाई के लिए जाते समय उसने माकंदीपुत्रों को तीन दिशाओं में स्थित तीन वनखण्डों में जाने एवं घूमने का परामर्श दिया किन्तु दक्षिण दिशा के वनखण्ड में जाने का निषेध किया। कहा—उस में एक अत्यन्त भयंकर सर्प रहता है, वहाँ गए तो प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

एक बार दोनों भाइयों के मन में आया—देखें दक्षिण दिशा के वनखण्ड में क्या है? देवी ने क्यों वहाँ जाने को मना किया है? और वे उस ओर चल पड़े। वहाँ जाने पर उन्होंने एक पुरुष को शूली पर चढ़ा देखा। पूछने पर पता लगा कि वह भी उन्हीं की तरह देवी के चक्कर में फंस गया था और किसी सामान्य अपराध के कारण देवी ने उसे शूली पर चढ़ा दिया है।

उसकी करुण कहानी सुनकर माकंदीपुत्रों का हृदय कांप उठा। अपने भविष्य की कल्पना से वे बेचैन हो गए। तब उन्होंने उस पुरुष से अपने छुटकारे का उपाय पूछा। उपाय उसने बतला दिया।

पूर्व के वनखण्ड में अश्वरूपधारी शैलक नामक यक्ष रहता था। अष्टमी आदि तिथियों के दिन, एक निश्चित समय पर, वह बुलन्द आवाज में घोषणा किया करता था—'कं तारयामि, कं पालयामि।' अर्थात् किसे तारूं, किसे पालूं? एक दिन दोनों भाई वहाँ जा पहुँचे और उन्होंने अपने को तारने और पालने की प्रार्थना की।

शैलक यक्ष ने उनकी प्रार्थना स्वीकार तो की किन्तु एक शर्त के साथ। उसने कहा—'रत्नदेवी अत्यन्त पापिनी, चण्डा, रौद्रा, क्षुद्रा और साहसिका है। जब मैं तुम्हें ले जाऊंगा तो वह अनेक उपद्रव करेगी, ललचाएगी, मीठी-मीठी बातें करेगी। तुम उसके प्रलोभन में आ गए तो मैं तत्काल

अपनी पीठ पर से तुम्हें समुद्र में गिरा दूंगा। प्रलोभन में न आए—अपने मन को दृढ रक्खा तो तुम्हें चम्पा नगरी तक पहुंचा दूंगा।

शैलक यक्ष दोनों को पीठ पर बिठाकर लवणसमुद्र के ऊपर होकर चला जा रहा था। रत्न देवी जब वापिस लौटी और दोनों को वहां न देखा तो अवधिज्ञान से जान लिया कि वे मेरे चंगुल से निकल भागे हैं। तीव्र गति से उसने पीछा किया। उन्हें पा लिया। अनेक प्रकार से विलाप किया परन्तु जिनपालित शैलक यक्ष की चेतावनी को ध्यान में रखकर अविचल रहा। उसने अपने मन पर पूरी तरह अंकुश रक्खा। परन्तु जिनरक्षित का मन डिग गया। शृंगार और करुणाजनक वाणी सुनकर रत्नदेवी के प्रति उसके मन में अनुराग जागृत हो उठा।

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यक्ष ने उसे पीठ पर से गिरा दिया और निर्दयहृदया रत्नदेवी ने तलवार पर झेल कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। जिनपालित अपने मन पर नियंत्रण रखकर दृढ रहा और सकुशल चम्पानगरी में पहुंच गया। पारिवारिक जनों से मिला और माता-पिता की शिक्षा न मानने के लिए पछतावा करने लगा।

कथा बड़ी रोचक है। पाठक स्वयं विस्तार से पढ़कर उसके असली भाव-लक्ष्य और रहस्य को हृदयंगम करें।



नवम अध्ययन : माकन्दी

उत्क्षेप

१—जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, नवमस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

श्रीजम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया—'भगवन् ! यदि श्रमण यावत् निर्वाण को प्राप्त भगवान् महावीर ने आठवें ज्ञात-अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा है, तो हे भगवन् ! नौवें ज्ञात-अध्ययन का श्रमण यावत् निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने क्या अर्थ प्ररूपण किया है ?

प्रारम्भ

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। तीसे णं चंपाए नयरीए कोणिए नामं राया होत्था।

तत्थ णं चंपाए नयरीए वहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए पुण्णभद्दे नामं चेइए होत्था।

श्री सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—'हे जम्बू ! उस काल और उस समय में चम्पा नामक नगरी थी। उस चम्पा नगरी में कोणिक राजा था।

चम्पानगरी के वाहर उत्तरपूर्व-ईशानदिक्कोण में पूर्णभद्र नामक चैत्य था।

माकन्दी पुत्रों की सागर-यात्रा

३—तत्थ णं माकंदी नामं सत्थवाहे परिवसइ, अड्ढे। तस्स णं भद्दा नामं भारिया होत्था। तीसे णं भद्दाए भारियाए अत्तया दुवे सत्थवाहदारया होत्था। तंजहा-जिणपालिए य जिणरक्खिए य। तए णं तेसिं मागंदियदारगाणं अण्णया कयाई एगयओ इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था—

चम्पानगरी में माकंदी नामक सार्थवाह निवास करता था। वह समृद्धिशाली था। भद्रा उसकी भार्या थी। उस भद्रा भार्या के आत्मज (कूंख से उत्पन्न) दो सार्थवाहपुत्र थे। उनके नाम इस प्रकार थे—जिनपालित और जिनरक्षित। वे दोनों माकंदीपुत्र एक वार—किसी समय इकट्ठे हुए तो उनमें आपस में इस प्रकार कथासमुल्लाप (वार्तालाप) हुआ—

४—'एवं खलु अम्हे लवणसमुद्दं पोयवहणेणं एक्कारस वारा ओगाढा, सव्वत्थ वि य णं लद्धट्ठा कयकज्जा अणहसमग्गा पुणरवि नियघरं हव्वमागया। तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! दुवालसमं पि लवणसमुद्दं पोयवहणेणं ओगाहित्तए।' त्ति कट्टु अण्णमण्णस्सेयमट्ठं पडिसुर्णेति, पडिसुणित्ता जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता एवं वयासी—

'हम लोगों ने पोतवहन (जहाज) से लवणसमुद्र को ग्यारह बार अवगाहन किया है। सभी वार हम लोगों ने अर्थ (धन) की प्राप्ति की, करने योग्य कार्य सम्पन्न किये और फिर शीघ्र बिना

विघ्न के अपने घर आ गये। तो हे देवानुप्रिय! वारहवीं वार भी पोतवहन से लवणसमुद्र में अवगाहन करना हमारे लिए अच्छा रहेगा।' इस प्रकार विचार करके उन्होंने परस्पर इस अर्थ (विचार) को स्वीकार किया। स्वीकार करके जहां माता-पिता थे, वहाँ आये और आकर इस प्रकार बोले—

५—'एवं खलु अम्हे अम्मयाओ! एक्कारस वारा तं चेव जाव[1] निययं घरं हव्वमागया, तं इच्छामो णं अम्मयाओ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा दुवालसमं लवणसमुद्दं पोयवहणेणं ओगाहित्तए।'

तए णं ते मागंदियदारए अम्मापियरो एवं वयासी—'इमे ते जाया! अज्जग [पज्जग-पिउपज्जगागए सुबहु हिरण्णे य सुवण्णे य कंसे य दूसे य मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्त-रयण संतसार-सावएज्जे य अलाहि जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पगामं दाउं, पगामं भोत्तुं, पगामं] परिभाएउं, तं अणुहोह ताव जाया! विउले माणुस्सए इड्ढीसक्कारसमुदए। किं भे सपच्चवाएणं निरालंवणेणं लवणसमुद्दोत्तारेणं? एवं खलु पुत्ता! दुवालसमी जत्ता सोवसग्गा यावि भवइ। तं मा णं तुब्भे दुवे पुत्ता दुवालसमं पि लवणसमुद्दं जाव (पोयवहणेणं) ओगाहेह, मा हु तुब्भं सरीरस्स वावत्ती भविस्सइ।

हे माता-पिता! आपकी अनुमति प्राप्त करके हम वारहवीं वार लवणसमुद्र की यात्रा करना चाहते हैं। हम लोग ग्यारह वार पहले यात्रा कर चुके हैं और सकुशल सफलता प्राप्त करके लौटे हैं।

तव माता-पिता ने उन माकंदीपुत्रों से इस प्रकार कहा—'हे पुत्रो! यह तुम्हारे वाप-दादा (पड़दादा से प्राप्त बहुत-सा हिरण्य, स्वर्ण, कांस्य, दूष्य, मणि, मुक्ता, शंख, शिला, मूंगा, लाल आदि उत्तम सम्पत्ति मौजूद है जो सात पीढ़ी तक खूब देने, भोगने एवं) बंटवारा करने के लिए पर्याप्त है। अतएव पुत्रो! मनुष्य संबंधी विपुल ऋद्धि सत्कार के समुदाय वाले भोगों को भोगो। विघ्न—वाधाओं से युक्त और जिसमें कोई आलम्बन नहीं, ऐसे लवण समुद्र में उतरने से क्या लाभ है? हे पुत्रो! वारहवीं (वार की) यात्रा सोपसर्ग (कष्टकारी) भी होती है। अतएव हे पुत्रो! तुम दोनों वारहवीं वार लवणसमुद्र में प्रवेश मत करो, जिससे तुम्हारे शरीर को व्यापत्ति (विनाश या पीड़ा) न हो।

६—तए णं मागंदियदारगा अम्मापियरो दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—'एवं खलु अम्हे अम्मयाओ! एक्कारस वारा लवणसमुद्दं ओगाढा। सव्वत्थ वि य णं लद्धट्ठा कयकज्जा अणहसमग्गा पुणरवि नियघरं हव्वमागया। तं सेयं खलु अम्मयाओ! दुवालसंपि लवणसमुद्दं ओगाहित्तए।

तत्पश्चात् माकंदीपुत्रों ने माता-पिता से दूसरी वार और तीसरी वार इस प्रकार कहा—'हे माता-पिता! हमने ग्यारह वार लवणसमुद्र में प्रवेश किया है, प्रत्येक वार धन प्राप्त किया, कार्य सम्पन्न किया और निर्विघ्न घर लौटे। हे माता-पिता! अतः वारहवीं वार प्रवेश करने की हमारी इच्छा है।'

७—तए णं ते मागंदीदारए अम्मापियरो जाहे नो संचाएंति वहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य आघवित्तए वा पन्नवित्तए वा, ताहे अकामा चेव एयमट्ठं अणुजाणित्था।

१. देखिये चतुर्थ सूत्र

तत्पश्चात् माता-पिता जब उन माकंदीपुत्रों को सामान्य कथन और विशेष कथन के द्वारा, सामान्य या विशेष रूप से समझाने में समर्थ न हुए; तब इच्छा न होने पर भी उन्होंने उस बात की—समुद्रयात्रा की अनुमति दे दी।

८—तए णं ते मागंदियदारगा अम्मापिऊहिं अब्भणुण्णाया समाणा गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च जहा अरहण्णगस्स जाव लवणसमुद्दं बहूइं जोयणसयाइं ओगाढा। तए णं तेसिं मागंदियदारगाणं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढाणं समाणाणं अणेगाइं उप्पाइयसयाइं पाउब्भूयाइं।

तत्पश्चात् वे माता-पिता की अनुमति पाये हुए माकंदीपुत्र, गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य—चार प्रकार का माल जहाज में भर कर अर्हन्नक की भांति लवणसमुद्र में अनेक सैकड़ों योजन तक चले गये। तत्पश्चात् उन माकंदीपुत्रों के अनेक सैकड़ों योजन तक अवगाहन कर जाने पर सैकड़ों उत्पात (उपद्रव) उत्पन्न हुए।

९—तं जहा—अकाले गज्जियं जाव (अकाले विज्जुए, अकाले) थणियसद्दे कालियवाए तत्थ समुट्ठिए।

वे उत्पात इस प्रकार थे—अकाल में गर्जना होने लगी, अकाल में बिजली चमकने लगी, अकाल में स्तनित शब्द (गहरी मेघगर्जना की ध्वनि) होने लगी। प्रतिकूल तेज हवा (आँधी) चलने लगी।

नौका-भंग

१०—तए णं सा णावा तेणं कालियवाएणं आहुणिज्जमाणी आहुणिज्जमाणी संचालिज्जमाणी संचालिज्जमाणी संखोभिज्जमाणी संखोभिज्जमाणी सलिल-तिक्ख-वेगेहिं आयट्टिज्जमाणी आयट्टिज्जमाणी कोट्टिमंसि करतलाहते विव तेंदूसए तत्थेव तत्थेव ओवयमाणी य उप्पयमाणी य, उप्पयमाणीविव धरणीयलाओ सिद्धविज्जाविज्जाहरकन्नगा, ओवयमाणीविव गगणतलाओ भट्ठविज्जा विज्जाहरकन्नगा, विपलायमाणीविव महागरुलवेगवित्तासिया भुयगवरकन्नगा, धावमाणीविव महाजण-रंसियसद्दवित्तत्था ठाणभट्ठा आसकिसोरी, णिगुंजमाणीविव गुरुजणदिट्ठावराहा सुयण-कुलकन्नगा, घुम्ममाणीविव वीची-पहार-सत-तालिया, गलिय-लंबणाविव गगणतलाओ, रोयमाणीविव सलिलगंठि-विप्पइरमाणघोरंसुवाएहिं णववहू उवरतभत्तुया, विलवमाणीविव परचक्करायाभिरोहिया परम-महब्भयाभिद्दुया महापुरवरी, झायमाणीविव कवडच्छोमप्पओगजुत्ता जोगपरिव्वाइया, णिसास-माणीविव महाकंतार-विणिग्गयपरिस्संता परिणयवया अम्मया, सोयमाणीविव तवचरण-खीण-परिभोगा चयणकाले देववरवहू, संचुण्णियकट्ठकराव, भग्ग-मेढि-मोडिय-सहस्समाला, सूलाइयवंक-परिमासा, फलहंतर-तडतडेंत-फुट्टंत-संधिवियलंत-लोहकीलिया, सव्वंग-वियंभिया, परिसडिय-रज्जु-विसरंत-सव्वगत्ता, आमगमल्लगभूया, अकयपुण्ण-जणमणोरहो विव चिंतिज्जमाणगुरुई, हाहाकय-कण्णधार-नाविय-वाणियगजण-कम्मगार-विलविया, णाणाविह-रयण-पणिय-संपुण्णा, बहूहिं पुरिस-सएहिं रोयमाणेहिं कंदमाणेहिं सोयमाणेहिं तिप्पमाणेहिं विलवमाणेहिं एगं महं अंतोजलगयं गिरिसिहर-मासायइत्ता संभग्गकूवतोरणा मोडियझयदंडा वलयसयखंडिया करकरस्स तत्थेव विद्दवं उवगया।

तत्पश्चात् वह नौका (पोतवहन) प्रतिकूल तूफानी वायु से बार-बार काँपने लगी, बार-बार एक जगह से दूसरी जगह चलायमान होने लगी, बार-बार संक्षुब्ध होने लगी—नीचे डूबने लगी,

जल के तीक्ष्ण वेग से वार बार टकराने लगी, हाथ से भूतल पर पछाड़ी हुई गेंद के समान जगह-जगह नीची ऊँची होने लगी। जिसे विद्या सिद्ध हुई है ऐसी विद्याधर-कन्या जैसे पृथ्वीतल से ऊपर उछलती है उसी प्रकार वह ऊपर उछलने लगी और विद्या से भ्रष्ट विद्याधरकन्या जैसे आकाशतल से नीचे गिरती है, उसी प्रकार वह नौका भी नीचे गिरने लगी। जैसे महान् गरुड़ के वेग से त्रास पाई नाग की उत्तम-कन्या भय की मारी भागती है, उसी प्रकार वह भी इधर-उधर दौड़ने लगी। जैसे अपने स्थान से बिछुड़ी हुई बछेरी बहुत लोगों के (बड़ी भीड़ के) कोलाहल से त्रस्त होकर इधर-उधर भागती है, उसी प्रकार वह भी इधर-उधर दौड़ने लगी। माता-पिता के द्वारा जिसका अपराध (दुराचार) जान लिया गया है, ऐसी सज्जन पुरुष के कुल की कन्या के समान नीचे नमने लगी। तरंगों के सैकड़ों प्रहारों से ताड़ित होकर वह थरथराने लगी। जैसे विना आलंबन की वस्तु आकाश से नीचे गिरती है, उसी प्रकार वह नौका भी नीचे गिरने लगी। जिसका पति मर गया हो ऐसी नवविवाहिता वधू जैसे आँसू बहाती है उसी प्रकार पानी से भीगी ग्रंथियों (जोड़ों) में से झरने वाली जलधारा के कारण वह नौका भी अश्रुपात-सा करती प्रतीत होने लगी। परचक्री (शत्रु) राजा के द्वारा अवरुद्ध(घिरी हुई)और इस कारण घोर महाभय से पीडित किसी उत्तम महानगरी के समान वह नौका विलाप करती हुई-सी प्रतीत होने लगी। कपट (वेषपरिवर्त्तन) से किये प्रयोग (परवंचना रूप व्यापार) से युक्त, योग साधने वाली परिव्राजिका जैसे ध्यान करती है, उसी प्रकार वह भी कभी-कभी स्थिर हो जाने के कारण ध्यान करती सी जान पड़ती थी। किसी बड़े जंगल में से चलकर निकली हुई और थकी हुई बड़ी उम्र वाली माता (पुत्रवती स्त्री) जैसे हाँफती है, उसी प्रकार वह नौका भी निश्वास-से छोड़ने लगी, या नौकारूढ लोगों के निश्वास के कारण नौका भी निश्वास छोड़ती-सी दिखाई देने लगी। तपश्चरण के फल स्वरूप प्राप्त स्वर्ग के भोग क्षीण होने पर जैसे श्रेष्ठ देवी अपने च्यवन के समय शोक करती है, उसी प्रकार वह नौका भी शोक-सा करने लगी, अर्थात् नौका पर सवार लोग शोक करने लगे। उसके काष्ठ और मुखभाग चूर-चूर हो गये। उसकी मेढ़ी[1] भंग हो गई और माल[2] सहसा मुड़ गई, या सहस्रों मनुष्यों की आधार भूत माल मुड़ गई। वह नौका पर्वत के शिखर पर चढ़ जाने के कारण ऐसी मालूम होने लगी मानो शूली पर चढ़ गई हो। उसे जल का स्पर्श वक्र (वांका) होने लगा, अर्थात् नौका वांकी हो गयी। एक दूसरे के साथ जुड़े पाटियों में तड़-तड़ शब्द होने लगा—उनके जोड़ टूटने लगे, लोहे की कीलें निकल गईं, उसके सब भाग अलग-अलग हो गये। उसके पटियों के साथ बँधी रस्सियां गीली होकर (गल कर) टूट गईं अतएव उसके सब हिस्से बिखर गये। वह कच्चे सिकोरे जैसी हो गई—पानी में विलीन हो गई। अभागे मनुष्य के मनोरथ के समान वह अत्यन्त चिन्तनीय हो गई। नौका पर आरूढ कर्णधार, मल्लाह, वणिक् और कर्मचारी हाय-हाय करके विलाप करने लगे। वह नाना प्रकार के रत्नों और मालों से भरी हुई थी। इस विपदा के समय सैकड़ों मनुष्य रुदन करने लगे—रुदन शब्द के साथ अश्रुपात करने लगे, आक्रन्दन करने लगे, शोक करने लगे, भय के कारण उनका पसीना झरने लगा, वे विलाप करने लगे, अर्थात् आर्त्तध्वनि करने लगे। उसी समय जल के भीतर विद्यमान एक बड़े पर्वत के शिखर के साथ टकरा कर नौका का मस्तूल और तोरण भग्न हो गया और ध्वजदंड मुड़ गया। नौका के वलय जैसे सैकड़ों टुकड़े हो गये। वह नौका 'कड़ाक' का शब्द करके उसी जगह नष्ट हो गई, अर्थात् डूब गई।

१. एक बड़ा और मोटा लट्ठा जो सब पटियों का आधार होता है।

२. मनुष्यों के बैठने का ऊपरी भाग

११—तए णं तीए णावाए भिज्जमाणीए बहवे पुरिसा विपुलपडियभंडमायाए अंतोजलम्मि णिमज्जा यावि होत्था। तए णं मागंदियदारगा छेया दक्खा पत्तट्ठा कुसला मेहावी निउणसिप्पोवगया बहुसु पोतवहणसंपराएसु कयकरणा लद्धविजया अमूढा अमूढहत्था एगं महं फलगखंडं आसादेंति।

तत्पश्चात् उस नौका के भग्न होकर डूब जाने पर बहुत-से लोग बहुत-से रत्नों, भांडों और माल के साथ जल में डूब गये। परन्तु दोनों माकन्दीपुत्र चतुर, दक्ष, अर्थ को प्राप्त, कुशल, बुद्धिमान् निपुण, शिल्प को प्राप्त, बहुत-से पोतवहन के युद्ध जैसे खतरनाक कार्यों में कृतार्थ, विजयी, मूढता-रहित और फुर्तीले थे। अतएव उन्होंने एक बड़ा-सा पटिया का टुकड़ा पा लिया।

रत्न-द्वीप

१२—जंसि च णं पदेसंसि से पोयवहणे विवन्ने, तंसि च णं पदेसंसि एगे महं रयणद्दीवे णामं दीवे होत्था। अणेगाइं जोअणाइं आयामविक्खंभेणं, अणेगाइं जोअणाइं परिक्खेवेणं, नानादुमखंड-मंडिउद्देसे सस्सिरीए पासाईए दंसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे।

तस्स णं बहुमज्झदेसभाए तत्थ णं महं एगे पासायवडेंसए होत्था-अब्भुग्गयमूसियपहसिए जाव[1] सस्सिरीभूयरूवे पासाईए दंसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे।

जिस प्रदेश में वह पोतवहन नष्ट हुआ था, उसी प्रदेश में—उसके पास ही, एक रत्नद्वीप नामक बड़ा द्वीप था। वह अनेक योजन लम्बा-चौड़ा और अनेक योजन के घेरे वाला था। उसके प्रदेश अनेक प्रकार के वृक्षों के वनों से मंडित थे। वह द्वीप सुन्दर सुषमा वाला प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला, दर्शनीय, मनोहर और प्रतिरूप था अर्थात् दर्शकों को नये-नये रूप में दिखाई देता था।

उसी द्वीप के एकदम मध्यभाग में एक उत्तम प्रासाद था। उसकी ऊँचाई प्रकट थी,—वह बहुत ऊँचा था। वह भी सश्रीक, प्रसन्नताप्रदायी, दर्शनीय, मनोहर रूप वाला और प्रतिरूप था।

रत्नद्वीप-देवी

१३—तत्थ णं पासायवडेंसए रयणद्दीवदेवया नामं देवया परिवसइ पावा, चंडा, रुद्दा, खुद्दा, साहसिया।

तस्स णं पासायवडेंसयस्स चउद्दिसिं चत्तारि वणसंडा किण्हा, किण्होभासा।

उस उत्तम प्रासाद में रत्नद्वीप देवता नाम की एक देवी रहती थी। वह पापिनी, चंडा-अति पापिनी, भयंकर, तुच्छ स्वभाव वाली और साहसिक थी। (इस देवी के शेष विशेषण विजय चोर के समान जान लेने चाहिए)।

उस उत्तम प्रासाद की चारों दिशाओं में चार वनखंड (उद्यान) थे। वे श्याम वर्ण वाले और श्याम कान्ति वाले थे (यहां वनखण्ड के पूर्व वर्णित अन्य विशेषण समझ लेना चाहिए)।

१४—तए णं ते मागंदियदारगा तेणं फलयखंडेणं उवुज्झमाणा उवुज्झमाणा रयणदीवंतेणं संवूढा यावि होत्था।

१. प्र. अ. १०३

तत्पश्चात् वे दोनों माकन्दीपुत्र (जिनपालित और जिनरक्षित) पटिया के सहारे तिरते-तिरते रत्नद्वीप के समीप आ पहुँचे ।

१५—तए णं ते मागंदियदारगा थाहं लभंति, लभित्ता मुहुत्तंतरं आससंति, आससित्ता फलगखंडं विसज्जेंति, विसज्जिता रयणद्दीवं उत्तरंति, उत्तरित्ता फलाणं मग्गणगवेसणं करेंति, करित्ता फलाइं गेण्हंति, गेण्हित्ता आहारेंति, आहारित्ता णालिएराणं मग्गणगवेसणं करेंति, करित्ता नालिएराइं फोडेंति, फोडित्ता नालिएरतेल्लेणं अण्णमण्णस्स गत्ताइं अब्भंगंति, अब्भंगित्ता पोक्खरणीओ ओगाहिंति, ओगाहित्ता जलमज्जणं करेंति, करित्ता जाव पच्चुत्तरंति, पच्चुत्तरित्ता पुढविसिलापट्टयंसि निसीयंति, निसीइत्ता आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया चंपानयरिं अम्मापिउआपुच्छणं च लवणसमुद्दोत्तारं च कालियवायसमुत्थणं च पोयवहणविवत्तिं च फलयखंडस्स आसायणं च रयणदीवुत्तारं च अणुचिंतेमाणा अणुचिंतेमाणा ओहयमणसंकप्पा जाव (करतलपल्हत्थमुहा अट्टज्झाणोवगया) झियाएंति ।

तत्पश्चात् उन माकन्दीपुत्रों को थाह मिली । थाह पाकर उन्होंने घड़ी भर विश्राम किया । विश्राम करके पटिया के टुकड़े को छोड़ दिया । छोड़ कर रत्नद्वीप में उतरे । उतर कर फलों की मार्गणा-गवेषणा (खोज-ढूँढ़) की । फिर फलों को ग्रहण किया । ग्रहण करके फल खाये । फिर उनके तेल से दोनों ने आपस में मालिश की । मालिश करके वावड़ी में प्रवेश किया । प्रवेश करके स्नान किया । स्नान करके वावड़ी से बाहर निकले । एक पृथ्वी-शिला रूपी पाट पर बैठे । बैठ कर शान्त हुए, विश्राम लिया और श्रेष्ठ सुखासन पर आसीन हुए । वहां बैठे-बैठे चम्पा नगरी, माता-पिता से आज्ञा लेना, लवण-समुद्र में उतरना, तूफानी वायु का उत्पन्न होना, नौका का भग्न होकर डूब जाना, पटिया का टुकड़ा मिल जाना और अन्त में रत्नद्वीप में आना, इन सब बातों का बार-बार विचार करते हुए भग्नमनःसंकल्प होकर हथेली पर मुख रखकर आर्त्तध्यान में—चिन्ता में डूब गये ।

१६—तए णं सा रयणद्दीवदेवया ते मागंदियदारए ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता असि-फलग-वग्ग-हत्था सत्तट्ठतालप्पमाणं उड्ढं वेहासं उप्पयइ, उप्पइत्ता ताए उक्किट्ठाए जाव देवगईए वीइवयमाणी वीइवयमाणी जेणेव मागंदियदारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आसुरुत्ता मागं-दियदारए खर-फरुस-निट्ठुरवयणेहिं एवं वयासीः—

तत्पश्चात् उस रत्नद्वीप की देवी ने उन माकन्दीपुत्रों को अवधिज्ञान से देखा । देख कर उसने हाथ में ढाल और तलवार ली । सात-आठ ताड़ जितनी ऊँचाई पर आकाश में उड़ी । उड़ कर उत्कृष्ट (तीव्रतम) यावत् देवगति से चलती-चलती जहाँ माकन्दीपुत्र थे, वहाँ आई । आकर एकदम कुपित हुई और माकन्दीपुत्रों को तीखे, कठोर और निष्ठुर वचनों से इस प्रकार कहने लगी—

देवी द्वारा धमकी

१७—'हं भो मागंदियदारगा ! अप्पत्थियपत्थिया ! जइ णं तुब्भे मए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरह, तो भे अत्थि जीवियं, अहण्णं तुब्भे मए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा नो विहरह, तो भे इमेणं नीलुप्पल-गवल-गुलिय-अयसिकुसुमप्पगासेणं खुरधारेणं असिणा रत्तगंडमंसुयाइं माउयाहिं उवसोहियाइं तालफलाणि व सीसाइं एगंते एडेमि ।'

'अरे माकन्दी के पुत्रो ! अप्रार्थित (मौत) की इच्छा करने वालो ! यदि तुम मेरे साथ विपुल कामभोग भोगते हुए रहोगे तो तुम्हारा जीवन है—तुम जीते बचोगे, और यदि तुम मेरे साथ विपुल कामभोग भोगते हुए नहीं रहोगे तो इस नील कमल, भैंस के सींग, नील द्रव्य की गुटिका (गोली) और अलसी के फूल के समान काली और छुरे की धार के समान तीखी तलवार से तुम्हारे इन मस्तकों को ताड़फल की तरह काट कर एकान्त में डाल दूँगी, जो गंडस्थलों को और दाढ़ी-मूँछों को लाल करने वाले हैं और मूँछों से सुशोभित हैं, अथवा जो माता-पिता आदि के द्वारा सँवार कर सुशोभित किए हुए केशों से शोभायमान हैं।'

१८—तए णं ते मागंदियदारगा रयणदीवदेवयाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीया संजायभया करयल जाव एवं वयासी—जं णं देवाणुप्पिया वइस्ससि तस्स आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठिस्सामो।

तत्पश्चात् वे माकंदीपुत्र रत्नद्वीप की देवी से यह अर्थ सुनकर और हृदय में धारण करके भयभीत हो उठे। उन्हें भय उत्पन्न हुआ। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिये ! जो कहेंगी, हम आपकी आज्ञा, उपपात (सेवा), वचन (आदेश) और निर्देश (कार्य करने) में तत्पर रहेंगे।' अर्थात् आपके सभी आदेशों का पालन करेंगे।

१९—तए णं सा रयणद्दीवदेवया ते मागंदियदारए गेण्हइ, गेण्हित्ता जेणेव पासायवडेंसए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता असुभपुग्गलावहारं करेइ, करित्ता सुभपोग्गलपक्खेवं करेइ, करित्ता पच्छा तेहिं सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ। कल्लाकल्लिं च अमयफलाइं उवणेइ।

तत्पश्चात् रत्नद्वीप की देवी ने उन माकन्दी के पुत्रों को ग्रहण किया—साथ लिया। लेकर जहाँ अपना उत्तम प्रासाद था, वहाँ आई। आकर अशुभ पुद्गलों को दूर किया और शुभ पुद्गलों का प्रक्षेपण किया और फिर उनके साथ विपुल कामभोगों का सेवन करने लगी। प्रतिदिन उनके लिए अमृत जैसे मधुर फल लाने लगी।

२०—तए णं सा रयणद्दीवदेवया सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएणं लवणाहिवइणा लवणसमुद्दे ति-सत्त-खुत्तो अणुपरियट्टियव्वेत्ति जं किंचि तत्थ तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा कयवरं वा असुइं पूइयं दुरभिगंधमचोक्खं तं सव्वं आहुणिय आहुणिय तिसत्तखुत्तो एगंते एडेयव्वं ति कट्टु णिउत्ता।

तत्पश्चात् रत्नद्वीप की उस देवी को शक्रेन्द्र के वचन—आदेश से, सुस्थित नामक लवणसमुद्र के अधिपति देव ने कहा—'तुम्हें इक्कीस वार लवणसमुद्र का चक्कर काटना है। वह इसलिए कि वहाँ जो भी तृण (घास) पत्ता, काष्ठ, कचरा, अशुचि (अपवित्र वस्तु), सड़ी-गली वस्तु या दुर्गन्धित वस्तु आदि गन्दी चीज हो, वह सब इक्कीस वार हिला-हिला कर, समुद्र से निकाल कर एक तरफ डाल देना।' इस प्रकार कह कर उस देवी को समुद्र की सफाई के कार्य में नियुक्त किया।

देवी का आदेश

२१—तए णं सा रयणद्दीवदेवया ते मागंदियदारए एवं वयासी—एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएणं लवणाहिवइणा तं चेव जाव णिउत्ता। तं जाव अहं देवाणुप्पिया ! लवण-

समुद्दे जाव एडेमि ताव तुब्भे इहेव पासायवडिसए सुहंसुहेणं अभिरममाणा चिट्ठह। जइ णं तुब्भे एयंसि अंतरंसि उव्विग्गा वा, उस्सुया वा, उप्पुया वा भवेज्जाह, तो णं तुब्भे पुरच्छिमिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह।

तत्पश्चात् उस रत्नद्वीप की देवी ने उन माकन्दीपुत्रों से कहा—हे देवानुप्रियो ! मैं शक्रेन्द्र के वचनादेश (आज्ञा) से, सुस्थित नामक लवणसमुद्र के अधिपति देव द्वारा यावत् (पूर्वोक्त प्रकार से सफाई के कार्य में) नियुक्त की गई हूँ। सो हे देवानुप्रियो ! मैं जब तक लवणसमुद्र में से यावत् कचरा आदि दूर करने जाऊँ, तब तक तुम इसी उत्तम प्रासाद में आनन्द के साथ रमण करते हुए रहना। यदि तुम इस बीच में ऊब जाओ, उत्सुक होओ या कोई उपद्रव हो, तो तुम पूर्व दिशा के वनखण्ड में चले जाना।

२२—तत्थ णं दो उऊ सया साहीणा, तंजहा—पाउसे य वासारत्ते य। तत्थ उ—

कंदल-सिलिंध-दंतो णिउर-वर-पुप्फपीवरकरो,
कुडयज्जुण-णीव-सुरभिदाणो, पाउसउउ-गयवरो साहीणो ॥ १ ॥

तत्थ य—

सुरगोवमणि-विचित्तो, दरदुदुकुलरसिय-उज्झररवो।
वरहिणविंद-परिणद्धसिहरो, वासाउउ-पव्वतो साहीणो ॥ २ ॥

तत्थ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! बहूसु वावीसु य जाव सरसरपंतियासु बहूसु आलीघरएसु य मालीघरएसु य जाव कुसुमघरएसु य सुहंसुहेणं अभिरममाणा विहरेज्जाह।

उस पूर्व दिशा के वनखण्ड में दो ऋतुएँ सदा स्वाधीन हैं—विद्यमान रहती हैं। वे यह हैं—प्रावृष् ऋतु अर्थात् आषाढ और श्रावण का मौसिम तथा वर्षारात्र अर्थात् भाद्रपद और आश्विन का मौसिम। उनमें से—(उस वनखण्ड में सदैव) प्रावृष् ऋतु रूपी हाथी स्वाधीन है। कंदल-नवीन लताएँ और सिलिंध्र—भूमिफोड़ा उस प्रावृष्-हाथी के दांत हैं। निउर नामक वृक्ष के उत्तम पुष्प ही उसकी उत्तम सूँड़ हैं। कुटज, अर्जुन और नीप वृक्षों के पुष्प ही उसका सुगंधित मदजल है। (यह सब वृक्ष प्रावृष् ऋतु में फूलते हैं, किन्तु उस वनखण्ड में सदैव फूले रहते हैं। इस कारण प्रावृष् को वहाँ सदा स्वाधीन कहा है।) और उस वनखण्ड में वर्षाऋतु रूपी पर्वत भी सदा स्वाधीन-विद्यमान रहता है, क्योंकि वह इन्द्रगोप (सावन की डोकरी) रूपी पद्मराग आदि मणियों से विचित्र वर्ण वाला रहता है, और उसमें मेंढकों के समूह के शब्द रूपी झरने की ध्वनि होती रहती है। वहाँ मयूरों के समूह सदैव शिखरों पर विचरते रहते हैं।

हे देवानुप्रियो ! उस पूर्व दिशा के उद्यान में तुम बहुत-सी बावड़ियों में, यावत् बहुत-सी सरोवरों की श्रेणियों में, बहुत-से लतामण्डपों में, वल्लियों के मंडपों में यावत् बहुत-से पुष्पमंडपों में सुखे-सुखे रमण करते हुए समय व्यतीत करना।

२३—जइ णं तुब्भे एत्थ वि उव्विग्गा वा उस्सुया उप्पुया वा भवेज्जाह तो णं तुब्भे उत्तरिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह। तत्थ णं दो उऊ सया साहीणा, तंजहा-सरदो य हेमंतो य।

तत्थ उ—

सण-सत्तवण्ण-कउओ, नीलुप्पल-पउम-नलिण-सिंगो ।
सारस-चक्कवाय-रवित-घोसो, सरयउऊ-गोवती साहीणो ॥ १ ॥

तत्थ य—

सियकुंद-धवलजोण्हो, कुसुमित-लोद्धवणसंड-मंडलतलो ।
तुसार-दगधार-पीवरकरो, हेमंतउऊ-ससी सया साहीणो ॥ २ ॥

अगर तुम वहाँ भी ऊब जाओ, उत्सुक हो जाओ या कोई उपद्रव हो जाय—भय हो जाय, तो तुम उत्तर दिशा के वनखण्ड में चले जाना। वहाँ भी दो ऋतुएँ सदा स्वाधीन हैं। वे यह हैं—शरद् और हेमन्त। उनमें से शरद् (कार्तिक और मार्गशीर्ष) इस प्रकार हैं—

शरद् ऋतु रूपी गोपति-वृषभ सदा स्वाधीन है। सन और सप्तच्छद वृक्षों के पुष्प उसका ककुद (कांधला) है, नीलोत्पल, पद्म और नलिन उसके सींग हैं, सारस और चक्रवाक पक्षियों का कूजन ही उसका घोष (दलांक) है।

हेमन्त ऋतु रूपी चन्द्रमा उस वन में सदा स्वाधीन है। श्वेत कुन्द के फूल उसकी धवल ज्योत्स्ना—चांदनी है। प्रफुल्लित लोध्र वाला वनप्रदेश उसका मंडलतल (बिम्ब) है और तुषार के जलबिन्दु की धाराएँ उसकी स्थूल किरणें हैं।

२४—तत्थ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! वावीसु य जाव विहराहि।

हे देवानुप्रियो ! तुम उत्तर दिशा के उस वनखण्ड में यावत् क्रीडा करना।

२५—जइ णं तुब्भे तत्थ वि उव्विग्गा वा जाव उस्सुया वा भवेज्जाह, तो णं तुब्भे अवरिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह। तत्थ णं दो उऊ साहीणा, तंजहा—वसंते य गिम्हे य। तत्थ उ—

सहकार-चारुहारो, किंसुय-कण्णियारासोग-मउडो ।
ऊसियतिलग-बउलायवत्तो, वसंतउऊ-णरवई साहीणो ॥ १ ॥

तत्थ य—

पाडल-सिरीस-सलिलो, मलिया-वासंतिय-धवलवेलो ।
सीयल-सुरभि-अनल-मगरचरिओ, गिम्हउऊ-सागरो साहीणो ॥ २ ॥

यदि तुम उत्तर दिशा के वनखण्ड में भी उद्विग्न हो जाओ, यावत् मुझसे मिलने के लिए उत्सुक हो जाओ, तो तुम पश्चिम दिशा के वनखण्ड में चले जाना। उस वनखण्ड में भी दो ऋतुएँ सदा स्वाधीन हैं। वे यह हैं—वसन्त और ग्रीष्म। उसमें—

वसन्त रूपी ऋतु-राजा सदा विद्यमान रहता है। वसन्त-राजा के आम्र के पुष्पों का मनोहर हार है, किंशुक (पलाश), कर्णिकार (कनेर) और अशोक के पुष्पों का मुकुट है तथा ऊँचे-ऊँचे तिलक और बकुल वृक्षों के फूलों का छत्र है। और उसमें—

'उस वनखण्ड में ग्रीष्म ऋतु रूपी सागर सदा विद्यमान रहता है। वह ग्रीष्म-सागर पाटल और शिरीष के पुष्पों रूपी जल से परिपूर्ण रहता है। मल्लिका और वासन्तिकी लताओं के कुसुम ही

उसकी उज्ज्वल वेला—ज्वार है। उसमें जो शीतल और सुरभित पवन है, वही मगरों का विचरण है।'

२६—जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! तत्थ वि उव्विग्गा उस्सुया भवेज्जाह, तओ तुब्भे जेणेव पासायवडिंसए तेणेव उवागच्छेज्जाह, उवागच्छित्ता ममं पडिवालेमाणा पडिवालेमाणा चिट्ठेज्जाह। मा णं तुब्भे दक्खिणिल्लं वणसंडं गच्छेज्जाह। तत्थ णं महं एगे उग्गविसे चंडविसे घोरविसे महाविसे अइकाय-महाकाए।

जहा तेयनिसग्गे—मसि-महिस-मूसाकालए नयणविसरोसपुण्णे अंजणपुंजनियरप्पगासे रत्तच्छे जमलजुयलचंचलचलंतजीहे धरणियलवेणिभूए उक्कड-फुड-कुडिल-जडिल-कक्खड-वियड-फडाडोव-करणदच्छे लोहागार-धम्ममाण-धमधमेंतघोसे अणागलियचंड-तिव्वरोसे समुहियं तुरियं चवलं धमधमंत-दिट्ठीविसे सप्पे य परिवसइ। मा णं तुब्भं सरीरगस्स वावत्ती भविस्सइ।

देवानुप्रियो ! यदि तुम वहाँ भी ऊब जाओ या उत्सुक हो जाओ तो इस उत्तम प्रासाद में ही आ जाना। यहाँ आकर मेरी प्रतीक्षा करते-करते यहीं ठहरना। दक्षिण दिशा के वनखण्ड की तरफ मत चले जाना।

दक्षिण दिशा के वनखण्ड में एक बड़ा सर्प रहता है। उसका विष उग्र अर्थात् दुर्जर है, प्रचंड अर्थात् शीघ्र ही फैल जाता है, घोर है अर्थात् परम्परा से हजार मनुष्यों का घातक है, उसका विष महान् है, अर्थात् जम्बूद्वीप के बराबर शरीर हो तो उसमें भी फैल सकता है अन्य सब सर्पों से उसका शरीर बड़ा है।

इस सर्प के अन्य विशेषण 'जहा तेयनिसग्गे' अर्थात् गोशालक के वर्णन में कहे अनुसार जान लेना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—वह काजल, भैंसा और कसौटी-पाषाण के समान काला है, नेत्र के विष से और क्रोध से परिपूर्ण है। उसकी आभा काजल के ढेर के समान काली है। उसकी आँखें लाल हैं। उसकी दोनों जीभें चपल एवं लपलपाती रहती हैं। वह पृथ्वी रूपी स्त्री की वेणी के समान (काला, चमकदार और पृष्ठ भाग में स्थित) है। वह सर्प उत्कट—अन्य बलवान् के द्वारा भी न रोका जा सकने योग्य, स्फुट-प्रयत्न-कृत होने के कारण प्रकट, कुटिल-वक्र, जटिल-सिंह की अयाल के सदृश, कर्कश-कठोर और विकट-विस्तार वाला, फटाटोप करने (फण फैलाने) में दक्ष है। लोहार की भट्टी में धौंका जाने वाला लोहा जैसे धम-धम शब्द करता है, उसी प्रकार वह सर्प भी ऐसा ही 'धम-धम' शब्द करता रहता है। उसके प्रचंड एवं तीव्र रोष को कोई रोक नहीं सकता। कुत्ती के भौंकने के समान शीघ्रता एवं चपलता से वह धम्-धम् शब्द करता रहता है। उसकी दृष्टि में विष है, अर्थात् वह जिसे देखले, उसी पर उसके विष का असर हो जाता है। अतएव कहीं ऐसा न हो कि तुम वहाँ चले जाओ और तुम्हारे शरीर का विनाश हो जाय।

२७—ते मागंदियदारए दोच्चं पि तच्चं पि एवं वदइ, वदित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता ताए उक्किट्ठाए देवगईए लवणसमुद्दं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टेउं पयत्ता यावि होत्था।

रत्नद्वीप की देवी ने यह बात दो बार और तीन बार उन माकंदीपुत्रों से कही। कहकर उसने

वैक्रिय समुद्घात से विक्रिया की। विक्रिया करके उत्कृष्ट-उतावली देवगति से इक्कीस बार लवण समुद्र का चक्कर काटने में प्रवृत्त हो गई।

माकन्दीपुत्रों का वन-गमन

२८—तए णं ते मागंदियदारया तओ मुहुत्तंतरस्स पासायवडिंसए सुइं वा रइं वा धिइं वा अलभमाणा अण्णमण्णं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! रयणद्दीवदेवया अम्हे एवं वयासी—एवं खलु अहं सक्कवयणसंदेसेणं सुट्ठिएणं लवणाहिवइणा जाव वावत्ती भविस्सइ, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया! पुरच्छिमिल्लं वणसंडं गमित्तए।' अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छंति। उवागच्छित्ता तत्थ णं वावीसु य जाव अभिरममाणा आलीघरएसु य जाव विहरंति।

तत्पश्चात् वे माकंदीपुत्र देवी के चले जाने पर एक मुहूर्त्त में ही (थोड़ी ही देर में) उस उत्तम प्रासाद में सुखद स्मृति, रति और धृति नहीं पाते हुए आपस में इस प्रकार कहने लगे—'देवानुप्रिय! रत्नद्वीप की देवी ने हमसे इस प्रकार कहा है कि शक्रेन्द्र के वचनादेश से लवणसमुद्र के अधिपति देव सुस्थित ने मुझे यह कार्य सौंपा है, यावत् तुम दक्षिण दिशा के वनखण्ड में मत जाना, ऐसा न हो कि तुम्हारे शरीर का विनाश हो जाय।' तो हे देवानुप्रिय! हमें पूर्व दिशा के वनखण्ड में चलना चाहिए। दोनों भाइयों ने आपस के इस विचार को अंगीकार किया। वे पूर्व दिशा के वनखण्ड में आये। आकर उस वन के अन्दर वावडी आदि में यावत् क्रीडा करते हुए वल्लीमंडप आदि में यावत् विहार करने लगे।

२९—तए णं ते मागंदियदारगा तत्थ वि सइं वा जाव अलभमाणा जेणेव उत्तरिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तत्थ णं वावीसु य जाव आलीघरएसु य विहरंति।

तत्पश्चात् वे माकंदीपुत्र वहाँ भी सुखद स्मृति यावत् शान्ति न पाते हुए उत्तर दिशा के वन-खण्ड में गये। वहाँ जाकर वावड़ियों में यावत् वल्लीमंडपों में विहार करने लगे।

३०—तए णं ते मागंदियदारया तत्थ वि सइं वा जाव अलभमाणा जेणेव पच्चत्थिमिल्ले वणसंडे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता जाव विहरंति।

तत्पश्चात् वे माकंदीपुत्र वहाँ भी सुखद स्मृति यावत् शान्ति न पाते हुए पश्चिम दिशा के वनखण्ड में गये। जाकर यावत् विहार करने लगे।

३१—तए णं ते मागंदियदारया तत्थ वि सइं वा जाव अलभमाणा अण्णमण्णं एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हे रयणद्दीवदेवया एवं वयासी—'एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! सक्कस्स वयणसंदेसेणं सुट्ठिएण लवणाहिवइणा जाव मा णं तुब्भं सरीरगस्स वावत्ती भविस्सइ।' तं भवियव्वं एत्थ कारणेणं। तं सेयं खलु अम्हं दक्खिणिल्लं वणसंडं गमित्तए, त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जेणेव दक्खिणिल्ले वणसंडे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तब वे माकंदीपुत्र वहाँ भी सुख रूप स्मृति यावत् शान्ति न पाते हुए आपस में इस प्रकार कहने लगे—'हे देवानुप्रिय! रत्नद्वीप की देवी ने हमसे ऐसा कहा है कि—'देवानुप्रियो! शक्र के

वचनादेश से लवणाधिपति सुस्थित ने मुझे समुद्र की स्वच्छता के कार्य में नियुक्त किया है। यावत् तुम दक्षिण दिशा के वनखण्ड में मत जाना। कहीं ऐसा न हो कि, तुम्हारे शरीर का विनाश हो जाय।' तो इसमें कोई कारण होना चाहिए। अतएव हमें दक्षिण दिशा के वनखण्ड में भी जाना चाहिए।' इस प्रकार कह कर उन्होंने एक दूसरे के इस विचार को स्वीकार किया। स्वीकार करके उन्होंने दक्षिण दिशा के वनखण्ड में जाने का संकल्प किया—रवाना हुए।

दक्षिण-वन का रहस्य

३२—तए णं गंधे निद्धाति से जहानामए अहिमडेइ वा जाव[1] अणिट्ठतराए चेव।

तए णं ते मागंदियदारया तेणं असुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणा सएहिं सएहिं उत्तरिज्जेहिं आसाइं पिहेंति, पिहित्ता जेणेव दक्खिणिल्ले वणसंडे तेणेव उवागया।

तत्पश्चात् दक्षिण दिशा से दुर्गंध फूटने लगी, जैसे कोई साँप का (गाय का, कुत्ते का, बिल्ली, मनुष्य, महिष, मूसक, अश्व, हस्ती, सिंह, व्याघ्र, भेड़िया या द्वीपिक का) मृत कलेवर हो, यावत् उससे भी अधिक अनिष्ट दुर्गंध आने लगी।

तत्पश्चात् उन माकंदीपुत्रों ने उस अशुभ दुर्गंध से घबराकर अपने-अपने उत्तरीय वस्त्रों से मुँह ढक लिए। मुँह ढक कर वे दक्षिण दिशा के वनखण्ड में पहुँचे।

३३—तत्थ णं महं एगं आघायणं पासंति, पासित्ता अट्ठियरासिसतसंकुलं भीमदरिसणिज्जं एगं च तत्थ सूलाइतयं पुरिसं कलुणाइं विस्सराइं कट्ठाइं कुव्वमाणं पासंति, पासित्ता भीया जाव संजायभया जेणेव से सूलाइयपुरिसे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तं सूलाइयं पुरिसं एवं वयासी—'एस णं देवाणुप्पिया! कस्साघायणे? तुमं च णं के कओ वा इहं हव्वमागए? केण वा इमेयारूवं आवइं पाविए?'

वहाँ उन्होंने एक बड़ा वधस्थान देखा। देखकर सैकड़ों हाड़ों के समूह से व्याप्त और देखने में भयंकर उस स्थान पर शूली पर चढ़ाये हुए एक पुरुष को करुण, विरस और कष्टमय शब्द करते देखा। उसे देखकर वे डर गये। उन्हें बड़ा भय उत्पन्न हुआ। फिर वे जहाँ शूली पर चढ़ाया पुरुष था, वहाँ पहुँचे और शूली पर चढ़े पुरुष से इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय! यह वधस्थान किसका है? तुम कौन हो? किसलिए यहाँ आये थे? किसने तुम्हें इस विपत्ति में डाला है?

३४—तए णं से सूलाइयपुरिसे मागंदियदारए एवं वयासी—'एस णं देवाणुप्पिया! रयणीद्दीवदेवयाए आघायणे, अहण्णं देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवाओ भारहाओ वासाओ कागंदीए आसवाणियए विपुलं पडियभंडमायाए पोतवहणेणं लवणसमुद्दं ओयाए। तए णं अहं पोयवहणविवत्तीए निव्वुड्डभंडसारे एगं फलगखंडं आसाएमि। तए णं अहं उवुज्झमाणे उवुज्झमाणे रयणदीवंतेणं संवूढे। तए णं सा रयणद्दीवदेवया ममं ओहिणा पासइ, पासित्ता ममं गेण्हइ, गेण्हित्ता मए सद्धिं विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ। तए णं सा रयणद्दीवदेवया अन्नया कयाई अहालहुसगंसि अवराहंसि परिकुविया समाणी ममं एयारूवं आवइं पावेइ। तं ण णज्जइ णं देवाणुप्पिया! तुम्हं पि इमेसिं सरीरगाणं का मण्णे आवई भविस्सइ?'

---

१. अष्टम अ. ३६

तब शूली पर चढ़े उस पुरुष ने माकंदीपुत्रों से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! यह रत्नद्वीप की देवी का वधस्थान है। देवानुप्रियो ! मैं जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में स्थित काकंदी नगरी का निवासी अश्वों का व्यापारी हूँ। मैं बहुत-से अश्व और भाण्डोपकरण पोतवहन में भर कर लवण-समुद्र में चला। तत्पश्चात् पोतवहन के भग्न हो जाने से मेरा सब उत्तम भाण्डोपकरण डूब गया। मुझे पटिया का एक टुकड़ा मिल गया। उसी के सहारे तिरता-तिरता मैं रत्नद्वीप के समीप आ पहुँचा। उसी समय रत्नद्वीप की देवी ने मुझे अवधिज्ञान से देखा। देख कर उसने मुझे ग्रहण कर लिया—अपने कब्जे में कर लिया, वह मेरे साथ विपुल कामभोग भोगने लगी।

तत्पश्चात् रत्नद्वीप की वह देवी एक बार, किसी समय, एक छोटे-से अपराध पर अत्यन्त कुपित हो गई और उसी ने मुझे इस विपदा में पहुँचाया है। हे देवानुप्रियो ! नहीं मालूम तुम्हारे इस शरीर को भी कौन-सी आपत्ति प्राप्त होगी ?'

३५—तए णं ते मागंदियदारया तस्स सूलाइयगस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म बलियतरं भीया जाव संजातभया सूलाइययं पुरिसं एवं वयासी—'कहं णं देवाणुप्पिया ! अम्हे रयणदीवदेवयाए हत्थाओ साहत्थि णित्थरिज्जामो ?'

तत्पश्चात् वे माकन्दीपुत्र शूली पर चढ़े उस पुरुष से यह अर्थ (वृत्तांत) सुनकर और हृदय में धारण करके और अधिक भयभीत हो गये। उनके मन में भय उत्पन्न हो गया। तब उन्होंने शूली पर चढ़े पुरुष से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! हम लोग रत्नद्वीप के देवता के हाथ से—चंगुल से किस प्रकार अपने हाथ से—अपने आप निस्तार पाएँ—छुटकारा पा सकते हैं ?" अर्थात् देवी से छुटकारा पाने का क्या उपाय है ?

शैलक यक्ष

३६—तए णं से सूलाइयए पुरिसे ते मागंदियदारगे एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! पुरच्छिमिल्ले वणसंडे सेलगस्स जक्खस्स जक्खाययणे सेलए नामं आसरूवधारी जक्खे परिवसइ।

तए णं से सेलए जक्खे चोद्दस-ट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु आगयसमए पत्तसमए महया महया सद्देणं एवं वदइ—'कं तारयामि ? कं पालयामि ?'

तत्पश्चात् शूली पर चढ़े पुरुष ने उन माकंदीपुत्रों से कहा—'देवानुप्रियो ! इस पूर्व दिशा के वनखण्ड में शैलक यक्ष का यक्षायतन है। उसमें अश्व का रूप धारण किये शैलकनामक यक्ष निवास करता है।

वह शैलक यक्ष चौदस, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन आगत समय और प्राप्त समय होकर अर्थात् एक नियत समय आने पर खूब ऊँचे स्वर में इस प्रकार बोलता है—'किसको तारूँ ? किसको पालूँ ?'

३७—तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! पुरच्छिमिल्लं वणसंडं सेलगस्स जक्खस्स महरिहं पुप्फच्चणियं करेह, करित्ता जण्णुपायवडिया पंजलिउडा विणएणं पज्जुवासमाणा चिट्ठह।

जाहे णं से सेलए जक्खे आगयसमए एवं वएज्जा—'कं तारयामि ? कं पालयामि ?' ताहे

तुब्भे वदह—'अम्हे तारयाहि, अम्हे पालयाहि ।' सेलए भे जक्खे परं रयणद्दीवदेवयाए हत्थाओ साहत्थि णित्थारेज्जा । अण्णहा भे न याणामि इमेसिं सरीरगाणं का मण्णे आवई भविस्सइ ।

तो हे देवानुप्रियो ! तुम लोग पूर्व दिशा के वनखण्ड में जाना और शैलक यक्ष की महान् जनों के योग्य पुष्पों से पूजा करना । पूजा करके घुटने और पैर नमा कर, दोनों हाथ जोड़कर, विनय के साथ, उसकी सेवा करते हुए ठहरना ।

जब शैलक यक्ष आगत समय और प्राप्त समय होकर—नियत समय आने पर कहे कि—'किसको तारूँ, किसे पालूँ" तब तुम कहना—'हमें तारो, हमें पालो ।' इस प्रकार शैलक यक्ष ही केवल रत्नद्वीप की देवी के हाथ से, अपने हाथ से स्वयं तुम्हारा निस्तार करेगा । अन्यथा मैं नहीं जानता कि तुम्हारे इस शरीर को क्या आपत्ति हो जायगी ?'

३८—तए णं ते मागंदियदारगा तस्स सूलाइयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सिग्घं चंडं चवलं तुरियं वेइयं जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे, जेणेव पोक्खरिणी, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पोक्खरिणिं गाहंति, गाहित्ता जलमज्जणं करेंति, करित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव सेलगस्स जक्खस्स जक्खाययणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता आलोए पणामं करेंति, करित्ता महरिहं पुप्फच्चणियं करेंति, करित्ता जण्णुपायवडिया सुस्सूसमाणा णमंसमाणा पज्जुवासंति ।

तत्पश्चात् वे माकंदीपुत्र शूली पर चढ़े पुरुष से इस अर्थ को सुनकर और मन में धारण करके शीघ्र, प्रचण्ड, चपल, त्वरा वाली और वेगवाली गति से जहाँ पूर्व दिशा का वनखण्ड था और उसमें पुष्करिणी थी, वहाँ आये । आकर पुष्करिणी में प्रवेश किया । प्रवेश करके स्नान किया । स्नान करने के बाद वहाँ जो कमल, उत्पल, नलिन, सुभग आदि कमल की जातियों के पुष्प थे, उन्हें ग्रहण किया । ग्रहण करके शैलक यक्ष के यक्षायतन में आए । यक्ष पर दृष्टि पड़ते ही उसे प्रणाम किया । फिर महान् जनों के योग्य पुष्प-पूजा की । वे घुटने और पैर नमा कर यक्ष की सेवा करते हुए, नमस्कार करते हुए उपासना करने लगे ।

छुटकारे की प्रार्थना और शर्त

३९—तए णं से सेलए जक्खे आगयसमए पत्तसमए एवं वयासी—'कं तारयामि, कं पालयामि ?'

तए णं ते मागंदियदारया उट्ठाए उट्ठेंति, करयल जाव एवं वयासी—'अम्हे तारयाहि, अम्हे पालयाहि ।'

तए णं से सेलए जक्खे ते मागंदियदारए एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुब्भे मए सद्धिं लवणसमुद्देणं मज्झंमज्झेणं वीइवयमाणेणं सा रयणद्दीवदेवया पावा चंडा रुद्दा खुद्दा साहसिया बहूहिं खरएहि य मउएहि य अणुलोमेहि य पडिलोमेहि य सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य उवसग्गं करेहिइ । तं जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! रयणद्दीवदेवयाए एयमट्ठं आढाह वा परियाणह वा अवएक्खह वा तो भे अहं पिट्ठातो विधुणामि । अह णं तुब्भे रयणद्दीवदेवयाए एयमट्ठं णो आढाह, णो परियाणह, णो अवेक्खह, तो भे रयणद्दीवदेवयाहत्थाओ साहत्थिं णित्थारेमि ।'

जिसका समय समीप आया है और साक्षात् प्राप्त हुआ है ऐसे शैलक यक्ष ने कहा—'किसे तारूँ, किसे पालूँ ?'

तब माकंदीपुत्रों ने खड़े होकर और हाथ जोड़कर (मस्तक पर अंजलि घुमा कर) कहा—'हमें तारिए, हमें पालिए।'

तब शैलक यक्ष ने माकंदीपुत्रों से कहा—'देवानुप्रियो ! तुम मेरे साथ लवण समुद्र के बीचों-बीच गमन करोगे, तब वह पापिनी, चण्डा, रुद्रा, क्षुद्रा और साहसिका रत्नद्वीप की देवी तुम्हें कठोर, कोमल, अनुकूल, प्रतिकूल शृंगारमय और मोहजनक उपसर्गों से उपसर्ग करेगी—डिगाने का प्रयत्न करेगी। 'हे देवानुप्रियो ! अगर तुम रत्नद्वीप की देवी के उस अर्थ का आदर करोगे, उसे अंगीकार करोगे या अपेक्षा करोगे, तो मैं तुम्हें अपनी पीठ से नीचे गिरा दूंगा। और यदि तुम रत्नद्वीप की देवता के उस अर्थ का आदर न करोगे, अंगीकार न करोगे और अपेक्षा न करोगे तो मैं अपने हाथ से, रत्नद्वीप की देवी से तुम्हारा निस्तार कर दूंगा।

४०—तए णं ते मागंदियदारया सेलगं जक्खं एवं वयासी—जं णं देवाणुप्पिया ! वइस्संति तस्स णं उववायवयणणिद्देसे चिट्ठिस्सामो।'

तब माकंदीपुत्रों ने शैलक यक्ष से कहा—'देवानुप्रिय ! आप जो कहेंगे, हम उसके उपपात—सेवन, वचन-आदेश और निर्देश में रहेंगे। अर्थात् हम सेवक की भाँति आपकी आज्ञा का पालन करेंगे।

छुटकारा

४१—तए णं से सेलए जक्खे उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निस्सरइ, दोच्चं पि तच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता एगं महं आसरूवं विउव्वइ। विउव्वित्ता ते मागंदियदारए एवं वयासी—'हं भो मागंदियदारया ! आरुह णं देवाणुप्पिया ! मम पिट्ठंसि।'

तत्पश्चात् शैलक यक्ष उत्तर-पूर्व दिशा में गया। वहाँ जाकर उसने वैक्रिय समुद्घात करके संख्यात योजन का दंड किया। दूसरी बार और तीसरी बार भी वैक्रिय समुद्घात से विक्रिया की। समुद्घात करके एक बड़े अश्व के रूप की विक्रिया की और फिर माकंदीपुत्रों से इस प्रकार कहा—'हे माकन्दीपुत्रो ! देवानुप्रियो ! मेरी पीठ पर चढ़ जाओ।'

४२—तए णं ते मागंदियदारया हट्ठतुट्ठा सेलगस्स जक्खस्स पणामं करेंति, करित्ता सेलगस्स पिट्ठिं[1] दुरूढा।

तए णं से सेलए ते मागंदियदारए पिट्ठिं दुरूढे जाणित्ता सत्तट्ठतालप्पमाणमेत्ताइं उड्ढं वेहायं उप्पयइ, उप्पइत्ता य ताए उक्किट्ठाए तुरियाए देवयाए देवगईए लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे, जेणेव भारहे वासे, जेणेव चंपानयरी तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

१—पाठान्तर—पट्ठं।

तब माकन्दीपुत्रों ने हर्षित और सन्तुष्ट होकर शैलक यक्ष को प्रणाम किया। प्रणाम करके वे शैलक की पीठ पर आरूढ हो गये।

तत्पश्चात् अश्वरूपधारी शैलक यक्ष माकन्दीपुत्रों को पीठ पर आरूढ हुआ जान कर सात-आठ ताड़ के बराबर ऊँचा आकाश में उड़ा। उड़कर उत्कृष्ट, शीघ्रता वाली देव संबंधी दिव्य गति से लवणसमुद्र के बीचोंबीच होकर जिधर जम्बूद्वीप था, भरतक्षेत्र था और जिधर चम्पानगरी थी, उसी ओर रवाना हो गया।

४३—तए णं सा रयणद्दीवदेवया लवणसमुद्दं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टइ, जं तत्थ तणं वा जाव एडइ, एडित्ता जेणेव पासायवडेंसए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ते मागंदियदारया पासायवडेंसए अपासमाणी जेणेव पुरच्छिमिल्ले वणसंडे जाव सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, करित्ता तेसिं मागंदियदारगाणं कत्थइ सुइं वा (खुइं वा पउत्तिं वा) अलभमाणी जेणेव उत्तरिल्ले वणसंडे, एवं चेव पच्चत्थिमिल्ले वि जाव अपासमाणी ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ते मागंदियदारए सेलएणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीइवयमाणे वीइवयमाणे पासइ, पासित्ता आसुरुत्ता असिखेडगं गेण्हइ, गेण्हित्ता सत्तट्ठ जाव उप्पयइ, उप्पइत्ता ताए उक्किट्ठाए जेणेव मागंदियदारगा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एवं वयासी—

तत्पश्चात् रत्नद्वीप की देवी ने लवणसमुद्र के चारों तरफ इक्कीस चक्कर लगाकर, उसमें जो कुछ भी तृण आदि कचरा था, वह सब यावत् दूर किया। दूर करके अपने उत्तम प्रासाद में आई। आकर माकंदीपुत्रों को उत्तम प्रासाद में न देख कर पूर्व दिशा के वनखण्ड में गई। वहाँ सब जगह उसने मार्गणा—गवेषणा की। गवेषणा करने पर उन माकन्दीपुत्रों की कहीं भी श्रुति, आदि—आवाज, छींक एवं प्रवृत्ति न पाती हुई उत्तर दिशा के वनखण्ड में गई। इसी प्रकार पश्चिम के वनखण्ड में भी गई, पर वे कहीं दिखाई न दिये। तब उसने अवधिज्ञान का प्रयोग किया। प्रयोग करके उसने माकन्दीपुत्रों को शैलक के साथ लवणसमुद्र के बीचों-बीच होकर चले जाते देखा। देखते ही वह तत्काल क्रुद्ध हुई। उसने ढाल-तलवार ली और सात-आठ ताड़ जितनी ऊँचाई पर आकाश में उड़कर उत्कृष्ट एवं शीघ्र गति करके जहाँ माकन्दीपुत्र थे, वहाँ आई। आकर इस प्रकार कहने लगी—

४४—'हं भो मागंदियदारगा! अपत्थियपत्थिया! किं णं तुब्भे जाणह ममं विप्पजहाय सेलएणं जक्खेणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीईवयमाणा? तं एवमवि गए जइ णं तुब्भे ममं अवयक्खह तो भे अत्थि जीवियं, अहण्णं णावयक्खह तो भे इमेण नीलुप्पलगवल० जाव एडेमि।

'अरे माकन्दी के पुत्रो! अरे मौत की कामना करने वालो! क्या तुम समझते हो कि मेरा त्याग करके, शैलक यक्ष के साथ, लवणसमुद्र के मध्य में होकर तुम चले जाओगे? इतने चले जाने पर भी (इतना होने पर भी) अगर तुम मेरी अपेक्षा रखते हो तो तुम जीवित रहोगे, और यदि तुम मेरी अपेक्षा न रखते होओ तो इस नील कमल एवं भैंस के सींग जैसी काली तलवार से यावत् तुम्हारा मस्तक काट कर फेंक दूंगी।

४५—तए णं ते मागंदियदारए रयणद्दीवदेवयाए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म अभीया

अतत्था अणुव्विग्गा अक्खुभिया असंभंता रयणद्दीवदेवयाए एयमट्ठं नो आढंति, नो परियाणंति, नो अवेक्खंति, अणाढायमाणा अपरियाणमाणा अणवेक्खमाणा सेलएण जक्खेण सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीइवयंति।

उस समय वे माकन्दीपुत्र रत्नद्वीप की देवी के इस कथन को सुन कर और हृदय में धारण करके भयभीत नहीं हुए, त्रास को प्राप्त नहीं हुए, उद्विग्न नहीं हुए, संभ्रान्त नहीं हुए। अतएव उन्होंने रत्नद्वीप की देवी के इस अर्थ का आदर नहीं किया, उसे अंगीकार नहीं किया, उसकी पर्वाह नहीं की। वे आदर न करते हुए शैलक यक्ष के साथ लवणसमुद्र के मध्य में होकर चले जाने लगे।

विवेचन—शैलक यक्ष ने माकंदीपुत्रों को पहले ही समझा दिया था कि रत्नदेवी कठोर-कोमल वचनों की, उसकी धमकियों की या ललचाने वाली बातों पर ध्यान न देना, परवाह न करना, अतएव वे उसकी धमकी सुनकर भी निर्भय रहे।

४६—तए णं सा रयणद्दीवदेवया ते मागंदिया जाहे नो संचाएइ बहूहिं पडिलोमेहि य उवसग्गेहि य चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा लोभित्तए वा ताहे महुरेहि सिंगारेहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि य उवसग्गेउं पयत्ता यावि होत्था—

'हं भो मागंदियदारगा ! जइ णं तुब्भेहिं देवाणुप्पिया ! मए सद्धिं हसियाणि य, रमियाणि य, ललियाणि य, कीलियाणि य, हिंडियाणि य, मोहियाणि य, ताहे णं तुब्भे सव्वाइं अगणेमाणा ममं विप्पजहाय सेलएणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीइवयह ?'

तत्पश्चात् वह रत्नद्वीप की देवी जब उन माकंदीपुत्रों को बहुत-से प्रतिकूल उपसर्गों द्वारा चलित करने, क्षुब्ध करने, पलटने और लुभाने में समर्थ न हुई, तब अपने मधुर शृंगारमय और अनुराग-जनक अनुकूल उपसर्गों से उन पर उपसर्ग करने में प्रवृत्त हुई।

देवी कहने लगी—'हे माकंदीपुत्रो ! हे देवानुप्रियो ! तुमने मेरे साथ हास्य किया है, चौपड़ आदि खेल खेले हैं, मनोवांछित क्रीडा की है, क्रीडित—झूला आदि झूल कर मनोरंजन किया है, उद्यान आदि में भ्रमण किया है और रतिक्रीडा की है। इन सब को कुछ भी न गिनते हुए, मुझे छोड़ कर तुम शैलक यक्ष के साथ लवणसमुद्र के मध्य में होकर जा रहे हो ?

४७—तए णं सा रयणदीवदेवया जिणरक्खियस्स मणं ओहिणा आभोएइ, आभोएत्ता एवं वयासी—'णिच्चं पि य णं अहं जिणपालियस्स अणिट्ठा, अकंता, अप्पिया, अमणुण्णा, अमणामा, णिच्चं मम जिणपालिए अणिट्ठे अकंते, अप्पिए, अमणुण्णे, अमणामे। णिच्चं पि य णं अहं जिणरक्खियस्स इट्ठा कंता, पिया, मणुण्णा, मणामा, णिच्चं पि य णं ममं जिणरक्खिए इट्ठे कंते, पिए, मणुण्णे, मणामे। जइ णं ममं जिणपालिए रोयमाणिं कंदमाणिं सोयमाणिं तिप्पमाणिं विलवमाणिं णावयक्खइ, किं णं तुमं जिणरक्खिया ! ममं रोयमाणिं जाव णावयक्खसि ?'

तत्पश्चात् रत्नद्वीप की देवी ने जिनरक्षित का मन अवधिज्ञान से (कुछ शिथिल) देखा। यह देख कर वह इस प्रकार कहने लगी—मैं सदैव जिनपालित के लिए अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ और अमणाम थी और जिनपालित मेरे लिए अनिष्ट, अकान्त आदि था, परन्तु जिनरक्षित को तो मैं सदैव इष्ट, कान्त, प्रिय आदि थी और जिनरक्षित मुझे भी इष्ट, कान्त, प्रिय आदि था। अतएव

जिनपालित यदि रोती, आक्रन्दन करती, शोक करती, अनुताप करती और विलाप करती हुई मेरी परवाह नहीं करता, तो हे जिनरक्षित ! तुम भी मुझ रोती हुई की यावत् परवाह नहीं करते ?'

४८—तए णं—

सा पवररयणदीवस्स देवया ओहिणा उ जिनरक्खियस्स मणं ।
नाऊण वधनिमित्तं उवरि मागंदियदारयाणं दोण्हं पि ।। १ ।।

तत्पश्चात्—उत्तम रत्नद्वीप की वह देवी अवधिज्ञान द्वारा जिनरक्षित का मन जान कर, दोनों माकंदीपुत्रों के प्रति, उनका वध करने के निमित्त (कपट से इस प्रकार बोली ।)

४९—दोसकलिया सलीलयं, णाणाविहचुण्णवासमीसियं दिव्वं ।
घाणमणणिव्वुइकरं, सव्वोउयसुरभिकुसुमवुट्ठि पमुंचमाणी ।। २ ।।

'द्वेष से युक्त वह देवी लीला सहित, विविध प्रकार के चूर्णवास से मिश्रित, दिव्य, नासिका और मन को तृप्ति देने वाले और सर्व ऋतुओं सम्बन्धी सुगंधित फूलों की वृष्टि करती हुई (बोली)' ।।२।।

५०—णाणामणि-कणग-रयण-घंटिय-खिखिणि-णेउर-मेहल-भूसणरवेणं ।
दिसाओ विदिसाओ पूरयंती वयणमिणं बेति सा सकलुसा ।। ३ ।।

'नाना प्रकार के मणि, सुवर्ण और रत्नों की घंटियों, घुंघरुओं, नूपुरों और मेखला—इन सब आभूषणों के शब्दों से समस्त दिशाओं और विदिशाओं को व्याप्त करती हुई, वह पापिनी देवी इस प्रकार कहने लगी' ।।३।।

५१—होल वसुल गोल णाह दइत,
पिय रमण कंत सामिय णिग्घण णित्थक्क ।
छिण्ण निक्किव अकयण्णुय सिढिलभाव निल्लज्ज लुक्ख,
अकलुण जिणरक्खिय ! मज्झं हियथरक्खगा ।। ४ ।।

'हे होल ! वसुल गोल[1] हे नाथ ! हे दयित (प्यारे !) हे प्रिय ! हे रमण ! हे कान्त (मनोहर) ! हे स्वामिन् (अधिपति) ! हे निर्घृण ! (मुझ स्नेहवती का त्याग करने के कारण निर्दय !) हे नित्थक्क (अकस्मात् मेरा परित्याग करने के कारण अवसर को न जानने वाले) ! हे स्त्यान (मेरे हार्दिक राग से भी तेरा हृदय आर्द्र न हुआ, अतएव कठोर हृदय) ! हे निष्कृप (दयाहीन) ? हे अकृतज्ञ ! शिथिल भाव (अकस्मात् मेरा त्याग कर देने के कारण ढीले मन वाले) ! हे निर्लज्ज (मुझे स्वीकार करके त्याग देने के कारण लज्जाहीन) हे रूक्ष (स्नेहहीन हृदय वाले) ! हे अकरुण ! जिनरक्षित ! हे मेरे हृदय के रक्षक (वियोग व्यथा से फटते हुए हृदय को फिर अंगीकार करके बचाने वाले) !' ।।४।।

---

१. इन तीन शब्दों का निन्दा-स्तुति गर्भित अर्थ होता है

५२—न हु जुज्जसि एक्कियं अणाहं,
अवंधवं तुज्झ चलणओवायकारियं उज्झिउमहण्णं ।
गुणसंकर ! अहं तुमे विहूणा,
ण समत्था वि जीविउं खणं पि ।। ५ ।।

'मुझ अकेली, अनाथ, वान्धवहीन, तुम्हारे चरणों की सेवा करने वाली और अधन्या (हतभागिनी) को त्याग देना तुम्हारे लिए योग्य नहीं है। हे गुणों के समूह ! तुम्हारे विना मैं क्षण भर भी जीवित रहने में समर्थ नहीं हूँ' ।।५।।

५३—इमस्स उ अणेगझस-मगर-विविधसावय-
सयाउलघरस्स रयणागरस्स मज्झे ।
अप्पाणं वहेमि तुज्झ पुरओ एहि,
णियत्ताहि जइ सि कुविओ खमाहि एक्कावराहं मे ।। ६ ।।

'अनेक सैकड़ों मत्स्य मगर और विविध क्षुद्र जलचर प्राणियों से व्याप्त गृह रूप या मत्स्य आदि के घर-स्वरूप इस रत्नाकर के मध्य में तुम्हारे सामने मैं अपना वध करती हूँ। (अगर तुम ऐसा नहीं चाहते हो तो) आओ, वापिस लौट चलो । अगर तुम कुपित हो गये होओ तो मेरा एक अपराध क्षमा करो' ।।६।।

५४—तुज्झ य विगयघणविमलससिमंडलगारसस्सिरीयं,
सारयनवकमल-कुमुदकुवलयविमलदलनिकरसरिसनिभं ।
नयणं (निभनयणं) वयणं पिवासागयाए सद्धा मे पेच्छिउं जे अवलोएहि,
ता इओ ममं णाह जा ते पेच्छामि वयणकमलं ।। ७ ।।

'तुम्हारा मुख मेघ-विहीन विमल चन्द्रमा के समान है। तुम्हारे नेत्र शरदऋतु के सद्यः विकसित कमल (सूर्यविकासी), कुमुद (चन्द्रविकासी), और कुवलय (नील कमल) के पत्तों के समान अत्यन्त शोभायमान हैं। ऐसे नेत्र वाले तुम्हारे मुख के दर्शन की प्यास (इच्छा) से मैं यहाँ आई हूँ। तुम्हारे मुख को देखने की मेरी अभिलाषा है। हे नाथ ! तुम इस ओर मुझे देखो, जिससे मैं तुम्हारा मुख-कमल देख लूँ' ।।७।।

५५—एवं सप्पणयसरलमहुराइं पुणो पुणो कलुणाइं ।
वयणाइं जंपमाणी सा पावा मग्गओ समण्णेइ पावहियया ।। ८ ।।

इस प्रकार प्रेमपूर्ण, सरल और मधुर वचन वार-वार वोलती हुई वह पापिनी और पापपूर्ण हृदय वाली देवी मार्ग में पीछे-पीछे चलने लगी ।।८।।

५६—तए णं से जिणरक्खिए चलमणे तेणेव भूसणरवेणं कण्णसुह-मणोहरेणं तेहि य सप्पणय-सरल-महुर-भणिएहिं संजायविउणराए रयणदीवस्स देवयाए तीसे सुंदरथण-जहण-वयण-कर-चरण-नयण-लावण्ण-रूव-जोव्वणसिरिं च दिव्वं सरभ-सउवगूहियाइं जाइं विब्बोय-विलसियाणि य विहसिय-

सकडक्ख-दिट्ठि-निस्ससिय-मलिय-उवललिय-ठिय-गमण-पणय-खिज्जिय-पासादियाणि य सरमाणे राग-मोहियमई अवसे कम्मवसगए अवयक्खइ मग्गओ सविलियं।

तत्पश्चात् कानों को सुख देने वाले और मन को हरण करने वाले आभूषणों के शब्द से तथा उन पूर्वोक्त प्रणययुक्त, सरल और मधुर वचनों से जिनरक्षित का मन चलायमान हो गया। उसे पहले की अपेक्षा उस पर दुगुना राग उत्पन्न हो गया। वह रत्नद्वीप की देवी के सुन्दर स्तन, जघन, मुख, हाथ, पैर और नेत्र के लावण्य की, रूप (शरीर के सौन्दर्य) की और यौवन की लक्ष्मी (शोभा-सुन्दरता) को स्मरण करने लगा। उसके द्वारा हर्ष या उतावली के साथ किये गये आलिगनों को, विब्बोकों (चेष्टाओं) को, विलासों (नेत्र के विकारों) को विहसित (मुस्कराहट) को, कटाक्षों को, कामक्रीडाजनित निःश्वासों को, स्त्री के इच्छित अंग के मर्दन को, उपललित (विशेष प्रकार की क्रीडा) को, स्थित (गोद में या भवन में बैठने) को, गति को, प्रणय-कोप को तथा प्रसादित (कुपित को रिझाने) को, स्मरण करते हुए जिनरक्षित की मति राग से मोहित हो गई। वह विवश हो गया - अपने पर काबू न रख सका, कर्म के अधीन हो गया और वह लज्जा के साथ, पीछे की ओर उसके मुख की तरफ देखने लगा।

५७—तए णं जिणरक्खियं समुप्पन्नकलुणभावं मच्चु-गलत्थल्ल-णोल्लियमइं अवयक्खंतं तहेव जक्खे उ सेलए जाणिऊण सणियं सणियं उव्विहइ नियगपिट्ठाहि विगयसत्थं[1]।

तत्पश्चात् जिनरक्षित को देवी पर अनुराग उत्पन्न हुआ, अतएव मृत्यु रूपी राक्षस ने उसके गले में हाथ डाल कर उसकी मति फेर दी, अर्थात् उसकी बुद्धि मृत्यु की तरफ जाने की हो गई। उसने देवी की ओर देखा, यह बात शैलक यक्ष ने अवधिज्ञान से जान ली और (चित्त की) स्वस्थता से रहित उसको धीरे-धीरे अपनी पीठ से गिरा दिया।

विवेचन—देवी ने जिनपालित और जिनरक्षित को पहले कठोर वचनों से और फिर कोमल-लुभावने वचनों से अपने अनुकूल करने का यत्न किया। कठोर वचन प्रतिकूल उपसर्ग के और कोमल वचन अनुकूल उपसर्ग के द्योतक हैं। कथानक से स्पष्ट है कि मनुष्य प्रतिकूल उपसर्गो को तो प्रायः सरलता से सहन कर लेता है किन्तु अनुकूल उपसर्गों को सहन करना अत्यन्त दुष्कर है। जिनपालित की भांति दृढमनस्क साधक दोनों प्रकार के उपसर्गों के उपस्थित होने पर भी अपनी प्रतिज्ञा पर अचल-अटल रहते हैं, किन्तु अल्पसत्त्व साधक अनुकूल उपसर्गों के आने पर जिनरक्षित की तरह भ्रष्ट हो जाते हैं। अतएव साधक को अनुकूल उपसर्गों को अतिदुस्सह समझ कर उनसे अधिक सतर्क रहना चाहिए।

रत्नद्वीप की देवी सम्पूर्ण रूप से विषयान्ध थी। उसके दिल में सार्थवाहपुत्रों के प्रति प्रेम-ममता की भावना नहीं थी, वह उन्हें मात्र वासनातृप्ति का साधन मानती थी। इससे स्पष्ट है कि वैषयिक अनुराग का सर्वस्व मात्र स्वार्थ है। इसमें दया-ममता नहीं होती, अन्यथा वह जिन-रक्षित के, जैसा कि आगे निरूपण किया गया है, तलवार से टुकड़े-टुकड़े क्यों करती ? उसकी स्वार्थान्धता और क्रूरता इन और अगले पाठ से स्पष्ट हो जाती है। विषयवासना की अनर्थकारिता का यह स्पष्ट उदाहरण है।

१ पाठान्तर—विगयसड्ढो।

५८—तए णं सा रयणदीवदेवया निस्संसा कलुणं जिणरक्खियं सकलुसा सेलगपिट्ठाहि उवयंतं 'दास ! मओसि' त्ति जंपमाणी, अप्पत्तं सागरसलिलं, गेण्हिय वाहाहिं आरसंतं उड्ढं उव्विहइ अंवरतले, ओवयमाणं च मंडलग्गेण पडिच्छित्ता नीलुप्पल-गवल-अयसिप्पगासेण असिवरेणं खंडाखंडिं करेइ, करित्ता तत्थ विलवमाणं तस्स य सरसवहियस्स घेत्तूण अंगमंगाइं सरुहिराइं उक्खित्तबलिं चउद्दिसिं करेइ सा पंजली पहिट्ठा।

तत्पश्चात् उस निर्दय और पापिनी रत्नद्वीप की देवी ने दयनीय जिनरक्षित को शैलक की पीठ से गिरता देख कर कहा—'रे दास ! तू मरा।' इस प्रकार कह कर, समुद्र के जल तक पहुँचने से पहले ही, दोनों हाथों से पकड़ कर, चिल्लाते हुए जिनरक्षित को ऊपर उछाला। जब वह नीचे की ओर आने लगा तो उसे तलवार की नोक पर झेल लिया। नील कमल, भैंस के सींग और अलसी के फूल के समान श्याम रंग की श्रेष्ठ तलवार से विलाप करते हुए उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। टुकड़े-टुकड़े करके अभिमान-रस से वध किये हुए जिनरक्षित के रुधिर से व्याप्त अंगोपांगों को ग्रहण करके, दोनों हाथों की अंजलि करके, हर्षित होकर उसने उत्क्षिप्त-वलि अर्थात् देवता को उद्देश्य करके आकाश में फैंकी हुई वलि की तरह, चारों दिशाओं को वलिदान किया।

५९—एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरिय-उवज्झायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पुणरवि माणुस्सए कामभोगे आसायइ, पत्थयइ, पीहेइ, अभिलसइ, से णं इह भवे चेव वहूणं समणाणं वहूणं समणीणं वहूणं सावयाणं वहूणं सावियाणं जाव[1] संसारं अणुपरियट्टिस्सइ, जहा वा से जिणरक्खिए।

छलिओ अवयक्खंतो, निरावयक्खो गओ अविग्घेणं।
तम्हा पवयणसारे, निरावयक्खेण भवियव्वं ॥ १ ॥

भोगे अवयक्खंता, पडंति संसार-सायरे घोरे।
भोगेहिं निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं ॥ २ ॥

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! जो हमारे निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी आचार्य-उपाध्याय के समीप प्रव्रजित होकर, फिर से मनुष्य सम्वन्धी कामभोगों का आश्रय लेता है, याचना करता है, स्पृहा करता है अर्थात् कोई विना मांगे कामभोग के पदार्थ दे दे, ऐसी अभिलाषा करता है, या दृष्ट अथवा अदृष्ट शव्दादिक के भोग की इच्छा करता है, वह मनुष्य इसी भव में वहुत से साधुओं, वहुत-सी साध्वियों, वहुत-से श्रावकों और वहुत-सी श्राविकाओं द्वारा निन्दनीय होता है, यावत् अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है। उसकी दशा जिनरक्षित जैसी होती है।

पीछे देखने वाला जिनरक्षित छला गया और पीछे नहीं देखने वाला जिनपाल निर्विघ्न अपने स्थान पर पहुँच गया। अतएव प्रवचनसार (चारित्र) में आसक्तिरहित होना चाहिए, अर्थात् चारित्रवान् को अनासक्त रह कर चारित्र का पालन करना चाहिए ॥१॥

---

१ तृतीय अ. सूत्र १३।

चारित्र ग्रहण करके भी जो भोगों की इच्छा करते हैं, वे घोर संसार-सागर में गिरते हैं और जो भोगों की इच्छा नहीं करते, वे संसार रूपी कान्तार को पार कर जाते हैं ।।२।।

६०—तए णं सा रयणद्दीवदेवया जेणेव जिणपालिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बहूहिं अणुलोमेहि य पडिलोमेहि य खर-महुर-सिंगारेहिं कलुणेहि य उवसग्गेहि य जाहे नो संचाएइ चालित्तए वा खोभित्तए वा विप्परिणामित्तए वा, ताहे संता तंता परितंता निव्विण्णा समाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

तत्पश्चात् वह रत्नद्वीप की देवी जिनपालित के पास आई। आकर बहुत-से अनुकूल, प्रतिकूल, कठोर, मधुर, शृंगार वाले और करुणाजनक उपसर्गों द्वारा जब उसे चलायमान करने, क्षुब्ध करने एवं मन को पलटने में असमर्थ रही, तब वह मन से थक गई, शरीर से थक गई, पूरी तरह ग्लानि को प्राप्त हुई और अतिशय खिन्न हो गई। तब वह जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा में लौट गई।

६१—तए णं से सेलए जक्खे जिणपालिएणं सद्धिं लवणसमुद्दं मज्झं-मज्झेणं वीईवयइ, वीईवइत्ता जेणेव चंपा नयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चंपाए नयरीए अग्गुज्जाणंसि जिणपालियं पिट्ठाओ ओयारेइ, ओयारित्ता एवं वयासीः—

'एस णं देवाणुप्पिया ! चंपा नयरी दीसइ' त्ति कट्टु जिणपालियं आपुच्छइ, आपुच्छित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

तत्पश्चात् वह शैलक यक्ष, जिनपालित के साथ, लवणसमुद्र के बीचोंबीच होकर चलता रहा। चल कर जहाँ चम्पा नगरी थी, वहाँ आया। आकर चम्पा नगरी के बाहर श्रेष्ठ उद्यान में जिनपालित को अपनी पीठ से नीचे उतारा। उतार कर उसने इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिय ! देखो, यह चम्पा नगरी दिखाई देती है।' यह कह कर उसने जिनपालित से छुट्टी ली। छुट्टी लेकर जिधर से आया था, उधर ही लौट गया।'

६२—तए णं जिणपालिए चंपं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव सए गिहे, जेणेव अम्मापियरो, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता अम्मापिऊणं रोयमाणे जाव[1] विलवमाणे जिणरक्खियवावत्तिं निवेदेइ।

तए णं जिणपालिए अम्मापियरो मित्तणाइ जाव परियणेणं सद्धिं रोयमाणा बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेन्ति, करित्ता कालेणं विगयसोया जाया।

तदनन्तर जिनपालित ने चम्पा में प्रवेश किया और जहाँ अपना घर तथा माता-पिता थे वहाँ पहुँचा। पहुँच कर उसने रोते-रोते और विलाप करते-करते जिनरक्षित की मृत्यु का समाचार सुनाया। तत्पश्चात् जिनपालित ने और उसके माता-पिता ने मित्र, ज्ञाति, स्वजन यावत् परिवार के

१ नवम अ., ४७।

साथ रोते-रोते (जिनरक्षित संबंधी) बहुत से लौकिक मृतककृत्य किये। मृतककृत्य करके वे कुछ समय बाद शोक रहित हुए।

६३—तए णं जिणपालियं अन्नया कयाइ सुहासणवरगयं अम्मापियरो एवं वयासी—'कहं णं पुत्ता ! जिणरक्खिए कालगए ?'

तत्पश्चात् एक बार किसी समय सुखासन पर बैठे जिनपालित से उसके माता-पिता ने इस प्रकार प्रश्न किया—'हे पुत्र ! जिनरक्षित किस प्रकार कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुआ ?'

६४—तए णं जिणपालिए अम्मापिऊणं लवणसमुद्दोत्तारं च कालियवाय-समुत्थणं च पोयवहण-विवत्तिं च फलगखंडआसायणं च रयणदीवुत्तारं च रयणदीवदेवयागिहं[1] च भोगविभूइं च रयण-दीवदेवयाघायणं[2] च सूलाइयपुरिसदरिसणं च सेलगजक्खआरुहणं च रयणदीवदेव याउवसग्गं च जिणरक्खियविवत्तिं च लवणसमुद्दउत्तरणं च चंपागमणं च सेलगजक्खआपुच्छणं च जहाभूयमवित-हमसंदिद्धं परिकहेइ।

तब जिनपालित ने माता-पिता से अपना लवणसमुद्र में प्रवेश करना, तूफानी हवा का उठना, पोतवहन का नष्ट होना, पटिया का टुकड़ा मिलना, रत्नद्वीप में जाना, रत्नद्वीप की देवी के घर जाना, वहाँ के भोगों का वैभव, रत्नद्वीप की देवी के वधस्थान पर जाना, शूली पर चढ़े पुरुष को देखना, शैलक यक्ष की पीठ पर आरूढ होना, रत्नद्वीप की देवी द्वारा उपसर्ग होना, जिनरक्षित का मरण होना, लवणसमुद्र को पार करना, चम्पा में आना और शैलक यक्ष के द्वारा छुट्टी लेना, आदि सर्व वृत्तान्त ज्यों का त्यों, सच्चा और असंदिग्ध कह सुनाया।

६५—तए णं जिणपालिए जाव अप्पसोगे जाव विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

तब जिनपालित यावत् शोकरहित होकर यावत् विपुल कामभोग भोगता हुआ रहने लगा।

६६—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव जेणेव चंपा नयरी, जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव समोसढे। परिसा निग्गया। कूणिओ वि राया निग्गओ। जिणपालिए धम्मं सोच्चा पव्वइए। एक्कारसअंगविऊ, मासिएणं भत्तेणं जाव सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने, दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, जाव महाविदेहे सिज्झिहिइ।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर, जहाँ चम्पा नगरी थी और जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ पधारे। भगवान् को वन्दना करने के लिए परिषद् निकली। कूणिक राजा भी निकला। जिनपालित ने धर्मोपदेश श्रवण करके दीक्षा अंगीकार की। क्रमशः ग्यारह अंगों का ज्ञाता होकर, अन्त में एक मास का अनशन करके यावत् सौधर्म कल्प में देव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ दो सागरोपम की उसकी स्थिति कही गई है। वहाँ से च्यवन करके यावत् महा-विदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धि प्राप्त करेगा।

---

१ पाठान्तर- गिण्हणं। २. पाठान्तर-देवयाप्पाहणं।

६७—एवामेव समणाउसो ! जाव माणुस्सए कामभोगे णो पुणरवि आसाइ, से णं जाव वीइवइस्सइ, जहा वा से जिणपालिए।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! आचार्य-उपाध्याय के समीप दीक्षित होकर जो साधु या साध्वी मनुष्य संबंधी कामभोगों की पुनः अभिलाषा नहीं करता, वह जिनपालित की भाँति यावत् संसार-समुद्र को पार करेगा।

६८—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं नवमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि॥

इस प्रकार हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने नौवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ प्ररूपण किया है। जैसा मैंने सुना है, उसी प्रकार तुमसे कहता हूँ। (ऐसा सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा।)

॥ नववाँ अध्ययन समाप्त ॥

दशम अध्ययन : चन्द्र

सार संक्षेप

प्रस्तुत अध्ययन में कोई कथा-प्रसंग वर्णित नहीं है, केवल चन्द्रिका के ज्ञात-उदाहरण से जीवों के विकास और ह्रास का अथवा उत्थान और पतन का वोध कराया गया है। राजगृह नगर भगवान् महावीर की पावन चरण-रज से अनेकों बार पवित्र हुआ है। एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् के वहाँ पदार्पण करने पर प्रश्न किया—

'कहण्णं भंते ! जीवा वड्ढंति हायंति वा ?'

—'भंते ! जीव किस कारण से वृद्धि अथवा हानि को प्राप्त होते हैं ?'

भगवान् ने सामान्य जनों को भी हृदयंगम हो सके, ऐसी पद्धति अपना कर चन्द्र—चन्द्र का उदाहरण देकर इस प्रश्न का उत्तर दिया। कहा—'गौतम ! जैसे कृष्णपक्ष की प्रतिपदा का चन्द्रमा, पूर्णिमा के चन्द्रमा की अपेक्षा वर्ण, सोमता, स्निग्धता, कान्ति, दीप्ति, प्रभा, लेश्या और मंडल की दृष्टि से हीन होता है, और फिर द्वितीया, तृतीया आदि तिथियों में हीनतर-हीनतर ही होता चला जाता है। पक्ष के अन्त में अमावास्या के दिन पूर्ण रूप से विलीन-नष्ट-गायव हो जाता है।

इसी प्रकार जो अनगार आचार्य या उपाध्याय के निकट गृहत्याग कर अकिंचन अनगार वनता है, वह यदि क्षमा, मार्दव, आर्जव, ब्रह्मचर्य प्रभृति मुनिधर्मों से हीन हो जाता है और फिर हीनतर-हीनतर ही होता चला जाता है—अनुक्रम से पतन की ओर ही बढ़ता जाता है तव अन्त में वह अमावास्या के चन्द्र के समान पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है।

विकास अथवा वृद्धि का कारण ठीक इससे विपरीत होता है। जैसे शुक्लपक्ष की प्रतिपद् का चन्द्र, अमावस्या के चन्द्र की अपेक्षा वर्ण, कान्ति, प्रभा, सौम्यता, स्निग्धता आदि की दृष्टि से अधिक होता है और फिर द्वितीया, तृतीया आदि तिथियों में अनुक्रम से बढ़ता जाता है। पूर्णिमा के दिन अपनी समग्र कलाओं से उद्भासित हो जाता है, मण्डल से भी परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार जो साधु प्रव्रज्या अंगीकार करके क्षमा, मृदुता, ऋजुता, ब्रह्मचर्य आदि गुणों का क्रम से विकास करता जाता है, वह अन्त में पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति सम्पूर्ण प्रकाशमय वन जाता है, उसकी अनन्त ज्योति प्रकट हो जाती है।

अध्ययन संक्षिप्त है किन्तु इसमें निहित भाव वहुत गूढ है। श्रीगौतम ने सामान्य रूप से जीवों के ह्रास और विकास के विषय में प्रश्न किया है, परन्तु भगवान् ने साधुओं को प्रधान रूप से लक्ष्य करके उत्तर दिया है। मुनिपरिषद् में जो प्रश्नोत्तर हों उनमें ऐसा होना स्वाभाविक है, इसमें कोई अनौचित्य नहीं। आगम सूत्ररूप हैं किन्तु उनका अर्थ वहुत विशाल होता है। अतएव साधुओं को लक्ष्य करके यहाँ जो कुछ भी कहा गया है, वह गृहस्थों पर भी लागू होता है।

तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन का उत्थान-पतन गुणों और अवगुणों के कारण होता है। प्रारंभ में कोई अवगुण अत्यन्त अल्प मात्रा में उत्पन्न होता है। मनुष्य उस ओर लक्ष्य नहीं देता या उसकी उपेक्षा करता है तो वह अवगुण बढ़ता-बढ़ता अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाता है और जीवन-ज्योति को नष्ट करके उसके भविष्य को घोर अन्धकार से परिपूर्ण बना देता है। इसके विपरीत, यदि सद्गुणों की धीरे-धीरे निरन्तर वृद्धि करने का मनुष्य प्रयास करता रहे तो अन्त में वह गुणों में पूर्णता प्राप्त कर लेता है। अतएव किसी भी अवगुण को उसके उत्पन्न होते ही—वृद्धि पाने से पूर्व ही कुचल देना चाहिए और सद्गुणों के विकास के लिए यत्नशील रहना चाहिए।

इस अध्ययन से एक बात और लक्षित होती है। दीक्षा अंगीकार करते ही मुनि शुक्लपक्ष की द्वितीया का चन्द्रमा बनता है। पूर्णिमा का चन्द्र बनने के लिए उसे निरन्तर साधु-गुणों का विकास करते रहना चाहिए।

दशम अध्ययन : चन्द्र

जम्बूस्वामी का प्रश्न

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं णवमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, दसमस्स णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

श्री जम्बू स्वामी श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न करते हैं—'भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने नौवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है तो दसवें ज्ञात-अध्ययन का श्रमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है ?'

सुधर्मा का उत्तर

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था। तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसीलए णामं चेइए होत्था।

श्रीसुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—'हे जम्बू ! इस प्रकार निश्चय ही उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। उस राजगृह नगर में श्रेणिकनामक राजा था। उस राजगृह नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा-ईशान कोण में गुणशीलनामक चैत्य-उद्यान था।

३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहं सुहेणं विहरमाणे, जेणेव गुणसीलए चेइए तेणेव समोसढे। परिसा निग्गया। सेणिओ वि राया निग्गओ। धम्मं सोच्चा परिसा पडिगया।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अनुक्रम से विचरते हुए, एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाते हुए, सुखे-सुखे विहार करते हुए, जहाँ गुणशील चैत्य था, वहीं पधारे। भगवान् की वन्दना-उपसना करने के लिए परिषद् निकली। श्रेणिक राजा भी निकला। धर्मोपदेश सुन कर परिषद् लौट गई।

हानि-वृद्धि संबंधी प्रश्न

४—तए णं गोयमसामी समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-'कहं णं भंते ! जीवा वड्ढंति वा हायंति वा ?'

तत्पश्चात् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार कहा (प्रश्न किया)—'भगवन् ! जीव किस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होते हैं और किस प्रकार हानि को प्राप्त होते हैं ?'

विवेचन—जीव शाश्वत, अनादि और अनन्त हैं, अतएव उनकी संख्या में वृद्धि-हानि नहीं होती। एक-एक जीव असंख्यात-असंख्यात प्रदेशों वाला है। उसके प्रदेशों में भी कभी वृद्धि-हानि

नहीं होती। तथापि गौतम स्वामी ने वृद्धि-हानि के कारणों के संबंध में प्रश्न किया है। अतएव इस प्रश्न का आशय गुणों के विकास और ह्रास से है। जीव के गुणों का विकास ही जीव की वृद्धि और गुणों का ह्रास ही जीव की हानि है।

भगवान् का उत्तर-हीनता का समाधान

५—गोयमा ! से जहाणामए बहुलपक्खस्स पडिवयाचंदे पुण्णिमाचंदं पणिहाय हीणे वण्णेणं, हीणे सोम्मयाए, हीणे निद्धयाए, हीणे कंतीए, एवं दित्तीए जुत्तीए छायाए पभाए ओयाए लेस्साए मंडलेणं,

तयाणंतरं च णं बीयाचंदे पाडिवयं चंदं पणिहाय हीणतराए वण्णेणं जाव मंडलेणं,

तयाणंतरं च णं तइयाचंदे बिइयाचंदं पणिहाय हीणतराए वण्णेणं जाव मंडलेणं,

एवं खलु एएणं कमेणं परिहायमाणे परिहायमाणे जाव अमावस्साचंदे चाउद्दसिचंदं पणिहाय नट्ठे वण्णेणं जाव नट्ठे मंडलेणं।

एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा जाव पव्वइए समाणे हीणे खंतीए-एवं मुत्तीए गुत्तीए अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं सच्चेणं तवेणं चियाए अकिंचणयाए बंभचेरवासेणं, तयाणंतरं च णं हीणे हीणतराए खंतीए जाव हीणतराए बंभचेरवासेणं, एवं खलु एएणं कमेणं परिहीयमाणे परिहीयमाणे णट्ठे खंतीए जाव णट्ठे बंभचेरवासेणं।

भगवान्, गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हैं—'हे गौतम ! जैसे कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा का चन्द्र, पूर्णिमा के चन्द्र की अपेक्षा वर्ण (शुक्लता) से हीन होता है, सौम्यता से हीन होता है, स्निग्धता (अरूक्षता) से हीन होता है, कान्ति (मनोहरता) से हीन होता है, इसी प्रकार दीप्ति (चमक) से, युक्ति (आकाश के साथ संयोग) से, छाया (प्रतिबिम्ब या शोभा) से, प्रभा (उदयकाल में कान्ति की स्फुरणा) से, ओजस (दाहशमन आदि करने के सामर्थ्य) से, लेश्या (किरणरूप लेश्या) से और मण्डल (गोलाई) से हीन होता है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष की द्वितीया का चन्द्रमा, प्रतिपदा के चन्द्रमा की अपेक्षा वर्ण से हीन होता है यावत् मण्डल से भी हीन होता है। तत्पश्चात् तृतीया का चन्द्र द्वितीया के चन्द्र की अपेक्षा भी वर्ण से हीन यावत् मंडल से हीन होता है। इस प्रकार आगे-आगे इसी क्रम से हीन-हीन होता हुआ यावत् अमावस्या का चन्द्र, चतुर्दशी के चन्द्र की अपेक्षा वर्ण आदि से सर्वथा नष्ट होता है, यावत् मण्डल से नष्ट होता है, अर्थात् उसमें वर्ण आदि का अभाव हो जाता है।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! जो हमारा साधु या साध्वी प्रव्रजित होकर क्षान्ति-क्षमा से हीन होता है, इसी प्रकार मुक्ति (निर्लोभता) से, आर्जव से, मार्दव से, लाघव से, सत्य से, तप से, त्याग से, आकिंचन्य से और ब्रह्मचर्य से, अर्थात् दस मुनिधर्मों से हीन होता है, वह उसके पश्चात् क्षान्ति से हीन और अधिक हीन होता जाता है, यावत् ब्रह्मचर्य से भी हीन अतिहीन होता जाता है। इस प्रकार इसी क्रम से हीन-हीनतर होते हुए उसके क्षमा आदि गुण नष्ट हो जाते हैं, यावत् उसका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है।

वृद्धि का समाधान

६—से जहा वा सुक्कपक्खस्स पाडिवयाचंदे अमावासाए चंदं पणिहाय अहिए वण्णेणं जाव अहिए मंडलेणं,

तयाणंतरं च णं बिइयाचंदे पडिवयाचंदं पणिहाय अहिययराए वण्णेणं जाव अहियतराए मंडलेणं।

एवं खलु एएणं कमेणं परिवुड्ढेमाणे जाव पुण्णिमाचंदे चाउद्दसिं चंदं पणिहाय पडिपुण्णे वण्णेणं जाव पडिपुण्णे मंडलेणं।

एवामेव समणाउसो! जाव पव्वइए समाणे अहिए खंतीए जाव बंभचेरवासेणं, तयाणंतरं च णं अहिययराए खंतीए जाव बंभचेरवासेणं। एवं खलु एएणं कमेणं परिवड्ढेमाणे पडिवड्ढेमाणे जाव पडिपुण्णे बंभचेरवासेणं, एवं खलु जीवा वड्ढंति वा हायंति वा।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! जो हमारा साधु या साध्वी यावत् आचार्य-उपाध्याय के निकट दीक्षित होकर क्षमा से अधिक वृद्धि प्राप्त होता है, यावत् ब्रह्मचर्य से अधिक होता है, तत्पश्चात् वह क्षमा से यावत् ब्रह्मचर्य से और अधिक-अधिक होता जाता है। निश्चय ही इस क्रम से बढ़ते-बढ़ते यावत् वह क्षमा आदि एवं ब्रह्मचर्य से परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार जीव वृद्धि को और हानि को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि सद्गुरु की उपासना से, निरन्तर प्रमादहीन रहने से तथा चारित्रावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से क्षमा आदि गुणों की वृद्धि होती है और क्रमशः वृद्धि होते-होते अन्त में वे गुण पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—आध्यात्मिक गुणों के विकास में आत्मा स्वयं उपादान कारण है, किन्तु अकेले उपादान कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण के साथ निमित्त कारणों की भी अनिवार्य आवश्यकता होती है। निमित्त कारण अन्तरंग, बहिरंग आदि अनेक प्रकार के होते हैं। गुणों के विकास के लिए सद्गुरु का समागम बहिरंग निमित्त कारण है तो चारित्रावरण कर्म का क्षयोपशम एवं अप्रमादवृत्ति अन्तरंग निमित्त कारण हैं।

७—एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं दसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

इस प्रकार हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दसवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है। मैंने जैसा सुना, वैसा ही मैं कहता हूँ।

॥ दसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

ग्यारहवाँ अध्ययन : दावद्रव

सार : संक्षेप

प्रस्तुत अध्ययन अपने आप में इतना संक्षिप्त है कि उसका संक्षेप भाव पृथक् लिखने की आवश्यकता ही नहीं है। रही सार की बात, सो इसका सार है—सहिष्णुता। सन्त जनों को मुक्तिपथ में अग्रसर होने और सफलता प्राप्त करने लिए सहनशील होना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में विशेष रूप से दुर्वचनों को सहन करने की प्रेरणा की गई है और निरूपण किया है कि जो साधु दुर्वचन सहन करता है वही मुक्तिमार्ग का या भगवान् की आज्ञा का आराधक हो सकता है।

दुर्वचन-सहन को इतना जो महत्त्व दिया गया है, वह निर्हेतुक नहीं है। कोई निन्दा करे, विद्यमान या अविद्यमान दोषों को दुष्ट भाव से प्रकट करे, जाति-कुल आदि को हीन बतला कर अपमानित करे अथवा अन्य प्रकार से कटुक, अयोग्य या असभ्य वचनों का प्रयोग करे तो साधु का कर्त्तव्य यह है कि ऐसे वचनों को सुन कर उसके चित्त में तनिक भी क्षोभ उत्पन्न न होने दे, दुर्वचन कहने वाले के प्रति लेशमात्र भी द्वेष न हो, प्रस्तुत करुणाभाव उत्पन्न हो। तात्पर्य यह कि दुर्वचन सुन कर भी जिसका चित्र कलुषित नहीं होता वही वास्तव में सहनशील कहलाता है और वही आराधक होता है। इस प्रकार आराधक बनने के लिए क्षमा, सहिष्णुता, विवेक, उदारता आदि अनेक गुणों की आवश्यकता होती है। इसीलिए दुर्वचन-सहन को इतना महत्त्व दिया गया है। इससे विपरीत जो दुर्वचनों को अन्तःकरण से सहन नहीं करता वह विराधक कहलाता है।

देशविराधक, सर्वविराधक, देशाराधक और सर्वाराधक, ये चार विकल्प करके इस तथ्य को अधिक स्पष्ट कर दिया गया है।

—

एक्कारसमं अज्झयणं : दावद्दवे

जम्बू स्वामी का प्रश्न

१—जइ णं भंते ! दसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, एक्कारसमस्स णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

जम्बू स्वामी अपने गुरु श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न करते हैं—'भगवन् ! यदि दसवें ज्ञात-अध्ययन का श्रमण भगवान् महावीर ने यह अर्थ कहा है, तो हे भगवन् ? ग्यारहवें अध्ययन का श्रमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है ?'

सुधर्मा स्वामी द्वारा समाधान

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था। तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था। तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसीलए णामं चेइए होत्था।

सुधर्मा स्वामी उत्तर देते हुए कहते हैं—इस प्रकार हे जम्बू ! उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। उस राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करता था। उस राजगृह नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में गुणशील नामक उद्यान था।

३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव गुणसीलए णामं चेइए तेणेव समोसढे। राया निग्गओ, परिसा निग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर अनुक्रम से विचरते हुए, यावत् गुणशील नामक उद्यान में समवसृत हुए—पधारे। वन्दना करने के लिए राजा श्रेणिक और जनसमूह निकला। भगवान् ने धर्म का उपदेश किया। जनसमूह वापिस लौट गया।

आराधक-विराधक

तए णं गोयमे समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-'कहं णं भंते ! जीवा आराहगा वा विराहगा वा भवंति ?'

तत्पश्चात् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर से कहा—'भगवन् ! जीव किस प्रकार आराधक और किस प्रकार विराधक होते हैं ?'

देशविराधक

५—गोयमा ! से जहाणामए एगंसि समुद्दकूलंसि दावद्दवा नामं रुक्खा पण्णत्ता-किण्हा जाव[1]

---

१. द्वि. अ. ५.

निउरंबभूया पत्तिया पुप्फिया फलिया हरियगरेरिज्जमाणा सिरीए अईव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।

भगवान् उत्तर देते हैं—हे गौतम ! जैसे एक समुद्र के किनारे दावद्रव नामक वृक्ष कहे गये हैं। वे कृष्ण वर्ण वाले यावत् निकुरंब (गुच्छा) रूप हैं। पत्तों वाले, फलों वाले, अपनी हरियाली के कारण मनोहर और श्री से अत्यन्त शोभित-शोभित होते हुए स्थित हैं।

६—जया णं दीविच्चगा ईसिं पुरेवाया पच्छावाया मंदावाया महावाया वायंति, तदा णं बहवे दावद्दवा रुक्खा पत्तिया जाव चिट्ठंति। अप्पेगइया दावद्दवा रूक्खा जुन्ना झोडा परिसडिय-पंडुपत्त-पुप्फ-फला सुक्करुक्खओ विव मिलायमाणा चिट्ठंति।

जब द्वीप संबंधी ईषत् पुरोवात अर्थात् कुछ-कुछ स्निग्ध अथवा पूर्व दिशा सम्वन्धी वायु, पथ्यवात अर्थात् सामान्यतः वनस्पति के लिए हितकारक या पछाहीं वायु, मन्द (धीमी-धीमी) वायु और महावात—प्रचण्ड वायु चलती है, तब बहुत-से दावद्रव नामक वृक्ष पत्र आदि से युक्त होकर खड़े रहते हैं। उनमें से कोई-कोई दावद्रव वृक्ष जीर्ण जैसे हो जाते हैं, झोड़ अर्थात् सड़े पत्तों वाले हो जाते हैं, अतएव वे खिरे हुए पीले पत्तों पुष्पों और फलों वाले हो जाते हैं और सूखे पेड़ की तरह मुरझाते हुए खड़े रहते हैं।

७—एवामेव समणाउसो ! जे अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा जाव पव्वइए समाणे बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं सावियाणं सम्मं सहइ जाव खमइ तितिक्खइ अहियासेइ, बहूणं अण्णउत्थियाणं बहूणं गिहत्थाणं नो सम्मं सहइ जाव नो अहियासेइ, एस णं मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते समणाउसो !

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! हमारा जो साधु या साध्वी यावत् दीक्षित होकर बहुत-से साधुओं बहुत-सी साध्विओं, बहुत से श्रावकों और बहुत-सी श्राविकाओं के प्रतिकूल वचनों को सम्यक् प्रकार से सहन करता है, यावत् विशेष रूप से सहन करता है, किन्तु बहुत-से अन्य तीर्थिकों के तथा गृहस्थों के दुर्वचन को सम्यक् प्रकार से सहन नहीं करता है, यावत् विशेष रूप से सहन नहीं करता है, ऐसे पुरुष को, मैंने देश-विराधक कहा है।

देशाराधक—

८—समणाउसो ! जया णं सामुद्दगा ईसिं पुरेवाया पच्छावाया मंदावाया महावाया वायंति, तया णं बहवे दावद्दवा रुक्खा जुण्णा झोडा जाव मिलायमाणा मिलायमाणा चिट्ठंति। अप्पेगइया दावद्दवा रुक्खा पत्तिया पुप्फिया जाव उपसोभेमाणा चिट्ठंति।

आयुष्मन् श्रमणो ! जब समुद्र संबंधी ईषत्पुरोवात, पथ्य या पश्चात् वात, मंदवात और महावात बहती है, तब बहुत-से दावद्रव वृक्ष जीर्ण-से हो जाते हैं, झोड हो जाते हैं, यावत् मुरझाते-मुरझाते खड़े रहते हैं। किन्तु कोई-कोई दावद्रव वृक्ष पत्रित, पुष्पित यावत् अत्यन्त शोभायमान होते हुए रहते हैं।

९—एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा पव्वइए समाणे बहूणं अण्ण-उत्थियाणं, बहूणं गिहत्थाणं सम्मं सहइ, बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं सावियाणं नो सम्मं सहइ, एस णं मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! जो हमारा साधु अथवा साध्वी दीक्षित होकर बहुत-से अन्य तीर्थिकों के और बहुत-से गृहस्थों के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन करता है और बहुत-से साधुओं, बहुत-सी साध्वियों, बहुत-से श्रावकों तथा बहुत-सी श्राविकाओं के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन नहीं करता, उस पुरुष को मैंने देशाराधक कहा है।

१०—समणाउसो ! जया णं नो दीविच्चगा णो सामुद्दगा ईसिं पुरेवाया पच्छावाया जाव महावाया वायंति, तए णं सव्वे दावद्दवा रुक्खा झोडा जाव मिलायमाणा मिलायमाणा चिट्ठंति।

आयुष्मन् श्रमणो ! जब द्वीप संबंधी और समुद्र संबंधी एक भी ईषत् पुरोवात, पथ्य या पश्चात् वात, यावत् महावात नहीं बहती, तब सब दावद्रव वृक्ष जीर्ण सरीखे हो जाते हैं, यावत् मुरझाए-रहते हैं।

सर्वविराधक—

११—एवामेव समणाउसो ! जाव पव्वइए समाणे बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं अन्नउत्थियाणं बहूणं गिहत्थाणं नो सम्मं सहइ, एस णं मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्ते।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! जो हमारा साधु या साध्वी यावत् प्रव्रजित होकर बहुत-से साधुओं, बहुत-सी साध्विओं, बहुत से श्रावकों, बहुत-सी श्राविकाओं, बहुत-से अन्य तीर्थिकों एवं बहुत-से गृहस्थों के दुर्वचन शब्दों को सम्यक् प्रकार से सहन नहीं करता, उस पुरुष को, मैंने सर्वविराधक कहा है।

सर्वाराधक

१२—समणाउसो ! जया णं दीविच्चगा वि सामुद्दगा वि ईसिपुरेवाया पच्छावाया जाव वायंति, तदा णं सव्वे दावद्दवा रुक्खा पत्तिया जाव चिट्ठंति।

जब द्वीप संबंधी भी और समुद्र संबंधी भी ईषत् पुरोवात, पथ्य या पश्चात् वात, यावत् बहती है, तब सभी दावद्रव वृक्ष पत्रित, पुष्पित, फलित यावत् सुशोभित रहते हैं।

१३—एवामेव समणाउसो ! जे अम्हं पव्वइए समाणे बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं अन्नउत्थियाणं बहूणं गिहत्थाणं सम्मं सहइ, एस णं मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते समणाउसो ! एवं खलु गोयमा ! जीवा आराहगा वा विराहगा वा भवंति।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इसी प्रकार जो हमारा साधु या साध्वी बहुत-से श्रमणों के, बहुत-सी

श्रमणियों के, बहुत से श्रावकों के, बहुत-सी श्राविकाओं के, बहुत-से अन्यतीर्थिकों के और बहुत-से गृहस्थों के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन करता है, उस पुरुष को मैंने सर्वाराधक कहा है।

इस प्रकार हे गौतम ! जीव आराधक और विराधक होते हैं।

१४—एवं खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं एक्कारसमस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, त्ति बेमि।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने उत्तर का उपसंहार करते हुए कहते हैं—इस प्रकार हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने ग्यारवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है। जैसा मैंने सुना, वैसा ही कहता हूँ।

विवेचन—इस अध्ययन में कथित दावद्रव वृक्षों के समान साधु हैं। द्वीप की वायु के समान स्वपक्षी साधु आदि के वचन, समुद्री वायु के समान अन्य तीर्थिकों के वचन और पुष्प-फल आदि के समान मोक्षमार्ग की आराधना समझना चाहिए।

जैसे द्वीप की वायु के संसर्ग से वृक्षों की समृद्धि बताई, उसी प्रकार साधर्मी के दुर्वचन सहने से मोक्षमार्ग की आराधना और दुर्वचन न सहने से विराधना समझनी चाहिए। अन्य तीर्थिकों के दुर्वचन न सहन करने से मोक्षमार्ग की अल्प-विराधना होती है। जैसे समुद्री वायु से पुष्प आदि की थोड़ी समृद्धि और बहुत असमृद्धि बताई, उसी प्रकार परतीर्थिकों के दुर्वचन सहन करने और स्वपक्ष के सहन न करने से थोड़ी आराधना और बहुत विराधना होती है। दोनों के दुर्वचन सहन न करके क्रोध आदि करने से सर्वथा विराधना और सहन करने से सर्वथा आराधना होती है। अतएव साधु को सभी दुर्वचन क्षमाभाव से सहन करने चाहिए।

बारहवाँ अध्ययन : उदकज्ञात

सार : संक्षेप

प्रस्तुत अध्ययन में प्ररूपित किया गया है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष किसी भी वस्तु का केवल बाह्य दृष्टि से विचार नहीं करता, किन्तु आन्तरिक तात्त्विक दृष्टि से भी अवलोकन करता है। उसकी दृष्टि तत्त्वस्पर्शी होती है। तत्त्वस्पर्शी दृष्टि से वस्तु का निरीक्षण करने के कारण उसकी आत्मा में राग-द्वेष के आविर्भाव की संभावना प्रायः नहीं रहती। इससे विपरीत बहिरात्मा मिथ्या-दृष्टि वस्तु के बाह्य रूप का ही विचार करता है। वह उसकी गहराई में नहीं उतरता, इस कारण पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ आदि विकल्प करता है और अपने ही इन मानसिक विकल्पों द्वारा राग-द्वेष के वशीभूत होकर कर्मबन्ध का भागी होता है। इस आत्महितकारी उपदेश को यहाँ अत्यन्त सरल कथानक की शैली में प्रकट किया गया है। कथानक का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

चम्पा नगरी के राजा जितशत्रु का अमात्य सुबुद्धि था। राजा जितशत्रु जिनमत से अनभिज्ञ था, सुबुद्धि अमात्य जिनमत का ज्ञाता और श्रावक-श्रमणोपासक भी था।

एक दिन का प्रसंग है। राजा अन्य अनेक प्रतिष्ठित जनों के साथ भोजन कर रहा था। संयोगवश उस दिन भोजन बहुत स्वादिष्ठ बना। भोजन करने के पश्चात् जब जीमने वाले एक साथ बैठे तो भोजन की सुस्वादुता से विस्मित राजा ने भोजन की प्रशंसा के पुल बांधने शुरू किए। अन्य लोगों ने राजा की हाँ में हाँ मिलाई—राजा के कथन का समर्थन किया। सुबुद्धि अमात्य भी जीमने वालों में था किन्तु वह कुछ बोला नहीं—मौन धारण किये रहा।

सुबुद्धि को मौन धारण किये देख राजा ने उसी को लक्ष्य करके जब बार-बार भोजन की प्रशंसा की तो उसे बोलना ही पड़ा। मगर वह सम्यग्दृष्टि, श्रावक था, अतएव उसकी विचारणा इतर जनों और राजा की विचारणा से भिन्न थी। वह वस्तु-स्वरूप की तह तक पहुंचता था। अतएव उसने राजा के कथन का अनुमोदन न करते हुए साहसपूर्वक सचाई प्रकट कर दी। कहा—'स्वामिन्! इस स्वादिष्ठ भोजन के विषय में मेरे मन में किंचित् भी विस्मय नहीं है। पुद्गलों के परिणमन अनेक प्रकार के होते रहते हैं। शुभ प्रतीत होने वाले पुद्गल निमित्त पाकर अशुभ प्रतीत होने लगते हैं और अशुभ पुद्गल शुभ रूप में परिणत हो जाते हैं। पुद्गल तो पुद्गल ही है, उसमें शुभत्व-अशुभत्व का आरोप हमारी राग-द्वेषमयी बुद्धि करती है। अतएव मुझे इस प्रकार के परिणमन आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होते।' सुबुद्धि के इस कथन का राजा ने आदर नहीं किया, मगर वह चुप रह गया।

चम्पा नगरी के बाहर एक परिखा (खाई) थी। उसमें अत्यन्त अशुचि, दुर्गन्धयुक्त एवं सड़े-गले मृतक-कलेवरों से व्याप्त गंदा पानी भरा था। राजा जितशत्रु एक बार सुबुद्धि अमात्य आदि के साथ घुड़सवारी पर निकला और उसी परिखा के निकट से गुजरा। पानी की दुर्गन्ध से वह घबरा उठा। उसने वस्त्र से नाक-मुंह ढंक लिये। उस समय राजा ने पानी की अमनोज्ञता का वर्णन किया। साथियों ने उसका समर्थन किया, किन्तु सुबुद्धि इस बार भी चुप रहा। जब उसी को लक्ष्य

करके राजा ने अपना कथन वार-वार दोहराया तो उसने भी वही कहा जो स्वादु भोजन के संबंध में कहा था ।

इस बार राजा ने सुबुद्धि के कथन का अनादर करते हुए कहा—सुबुद्धि ! तुम्हारी वात मिथ्या है । तुम दुराग्रह के शिकार हो रहे हो और दूसरों को ही नहीं, अपने को भी भ्रम में डाल रहे हो ।

सुबुद्धि को राजा की दुर्बुद्धि पर दया आई । उसने विचार किया-राजा सत्य पर श्रद्धा नहीं करता, यही नहीं वरन् सत्य को असत्य मान कर मुझे भ्रम में पड़ा समझता है । इसे किसी उपाय से सन्मार्ग पर लाना चाहिए । इस प्रकार विचार कर उसने पूर्वोक्त परिखा का पानी मंगवाया और विशिष्ट विधि से ४९ दिनों में उसे अत्यन्त शुद्ध और स्वादिष्ठ वनाया । उस विधि का विस्तृत वर्णन मूल पाठ में किया गया है । यह स्वादिष्ठ पानी जब राजा के यहां भेजा गया और उसने पीया तो उस पर लट्टू हो गया । पानी वाले सेवक से पूछने पर उसने कहा—यह पानी अमात्य जी के यहां से आया है । अमात्य ने निवेदन किया-स्वामिन् ! यह वही परिखा का पानी है, जो आपको अत्यन्त अमनोज्ञ प्रतीत हुआ था ।

राजा ने स्वयं प्रयोग करके देखा । सुबुद्धि का कथन सत्य सिद्ध हुआ । तव राजा ने सुवुद्धि से पूछा-सुबुद्धि ! तुम्हारी बात वास्तव में सत्य है पर यह तो वताओ कि यह सत्य, तथ्य, यथार्थ तत्त्व तुमने कैसे जाना ? तुम्हें किसने बतलाया ?

सुबुद्धि ने उत्तर दिया-स्वामिन् ! इस सत्य का परिज्ञान मुझे जिन भगवान् के वचनों से हुआ है । वीतराग वाणी से ही मैं इस सत्य तत्त्व को उपलब्ध कर सका हूँ ।

राजा जिनवाणी श्रवण करने की अभिलाषा प्रकट करता है, सुवुद्धि उसे चातुर्याम धर्म का स्वरूप समझाता है । राजा भी श्रमणोपासक बन जाता है ।

एक बार स्थविर मुनियों का पुनः चम्पा में पदार्पण हुआ । धर्मोपदेश श्रवण कर सुवुद्धि अमात्य प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा से अनुमति माँगता है । राजा कुछ समय रुक जाने के लिए और फिर साथ ही दीक्षा अंगीकार करने के लिए कहता है । सुवुद्धि उसके कथन को मान लेता है । बारह वर्ष वाद दोनों संयम अंगीकार करके अन्त में जन्म-जरा-मरण की व्यथाओं से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं ।

—

बारसमं अज्झयणं : उदए

१—जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं एक्कारसमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, बारसमस्स णं नायज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

श्रीजम्बू स्वामी, श्रीसुधर्मा स्वामी के प्रति प्रश्न करते हैं—'भगवन् ! यदि यावत् सिद्धि प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने ग्यारहवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है, तो बारहवें ज्ञात-अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?'

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए। तीसे णं चंपाए णयरीए जियसत्तू णामं राया होत्था। तस्स णं जियसत्तुस्स रन्नो धारिणी नामं देवी होत्था, अहीणा जाव सुरूवा। तस्स णं जियसत्तुस्स रन्नो पुत्ते धारिणीए अत्तए अदीणसत्तू णामं कुमारे जुवराया वि होत्था। सुबुद्धी अमच्चे जाव रज्जधुराचितए समणोवासए अहिगयजीवाजीवे।

श्रीसुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में चम्पा नामक नगरी थी। उसके बाहर पूर्णभद्रनामक चैत्य था। उस चम्पा नगरी में जितशत्रुनामक राजा था। जितशत्रु राजा की धारिणीनामक रानी थी, वह परिपूर्ण पाँचों इन्द्रियों वाली यावत् सुन्दर रूप वाली थी। जितशत्रु राजा का पुत्र और धारिणी देवी का आत्मज अदीनशत्रुनामक कुमार युवराज था। सुबुद्धि नामक मंत्री था। वह (यावत्) राज्य की धुरा का चिन्तक श्रमणोपासक और जीव—अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता था।

३—तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमेणं एगे फरिहोदए यावि होत्था, मेय-वसा-मंस-रुहिर-पूय-पडल-पोच्चडे मयग-कलेवर-संछण्णे अमणुण्णे वण्णेणं जाव [अमणुण्णे गंधेणं अमणुण्णे रसेणं अमणुण्णे] फासेणं। से जहानामए अहिमडेइ वा गोमडेइ वा जाव मय-कुहिय-विणट्ठ-किमिण-वावण्ण-दुरभिगंधे किमिजालाउले, संसत्ते असुइ-विगय-वीभत्थ-दरिसणिज्जे, भवेयारूवे सिया ? णो इणट्ठे समट्ठे, एत्तो अणिट्ठतराए चेव जाव [अकंततराए चेव अप्पियतराए चेव अमणुण्णतराए चेव अमणामतराए चेव] गन्धेण पण्णत्ते।

चम्पानगरी के बाहर उत्तरपूर्व (ईशान) दिशा में एक खाई में पानी था। वह मेद, चर्बी, मांस, रुधिर और पीव के समूह से युक्त था। मृतक शरीरों से व्याप्त था। वर्ण से गंध से रस से और स्पर्श से अमनोज्ञ था। वह जैसे कोई सर्प का मृत कलेवर हो, गाय का कलेवर हो, यावत् मरे हुए, सड़े हुए, गले हुए, कीड़ों से व्याप्त और जानवरों के खाये हुए किसी मृत कलेवर के समान दुर्गन्ध वाला था। कृमियों के समूह से परिपूर्ण था। जीवों से भरा हुआ था। अशुचि, विकृत और वीभत्स-डरावना दिखाई देता था। क्या वह (वस्तुतः) ऐसे स्वरूप वाला था ? नहीं, यह अर्थ समर्थ नहीं। वह जल इससे भी अधिक अनिष्ट यावत् गन्ध आदि वाला था। अर्थात् खाई का वह पानी इससे अधिक अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाला कहा गया है।

४—तए णं से जियसत्तू राया अण्णया कयाइ ण्हाए कयवलिकम्मे जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे बहूहिं राईसर जाव सत्थवाहपभिईहिं सद्धि भोयणवेलाए सुहासणवरगए विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जाव [आसाएमाणे विसाएमाणे परिभाएमाणे एवं च णं] विहरइ, जिमितभुत्तुत्तराए जाव [आयंते चोक्खे परम] सुईभूए तंसि विपुलंसि असण जाव जायविम्हए ते बहवे ईसर जाव पभिईए एवं वयासी—

तत्पश्चात् वह जितशत्रु राजा एक बार—किसी समय स्नान करके, बलिकर्म (गृहदेवता का पूजन) करके, यावत् अल्प किन्तु बहुमूल्य आभरणों से शरीर को अलंकृत करके, अनेक राजा ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि के साथ भोजन के समय पर सुखद आसन पर बैठ कर, विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन जीम रहा था। यावत् जीमने के अनन्तर, हाथ-मुँह धोकर, परम शुचि होकर उस विपुल अशन पान आदि भोजन (की सुस्वादुता) के विषय में वह विस्मय को प्राप्त हुआ। अतएव उन बहुत-से ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि से इस प्रकार कहने लगा—

५—'अहो णं देवाणुप्पिया! इमे मणुण्णे असणं पाणं खाइमं साइमं वण्णेणं उववेए जाव फासेणं उववेए अस्सायणिज्जे विस्सायणिज्जे पीणणिज्जे दीवणिज्जे दप्पणिज्जे मयणिज्जे बिंहणिज्जे सव्विंदिय-गाय-पल्हायणिज्जे।

'अहो देवानुप्रियो! यह मनोज्ञ अशन, पान, खादिम और स्वादिम उत्तम वर्ण से युक्त है यावत् उत्तम स्पर्श से युक्त है, अर्थात् इसका रूप, रस, गंध और स्पर्श सभी कुछ श्रेष्ठ है, यह आस्वादन करने योग्य है, विशेष रूप से आस्वादन करने योग्य है। पुष्टिकारक है, बल को दीप्त करने वाला है, दर्प उत्पन्न करने वाला है, काम-मद का जनक है और बलवधक तथा समस्त इन्द्रियों को और गात्र को विशिष्ट आह्लाद उत्पन्न करने वाला है।'

६—तए णं ते बहवे ईसर जाव सत्थवाहपभिइओ जियसत्तुं एवं वयासी—'तहेव णं सामी! जं णं तुब्भे वदह। अहो णं इमे मणुण्णे असणं पाणं खाइमं साइमं वण्णेणं उववेए जाव पल्हायणिज्जे।

तत्पश्चात् बहुत-से ईश्वर यावत् सार्थवाह प्रभृति जितशत्रु से इस प्रकार कहने लगे—'स्वामिन्! आप जो कहते है, बात वैसी ही है। अहा, यह मनोज्ञ अशन, पान, खादिम और स्वादिम उत्तम वर्ण से युक्त है, यावत् विशिष्ट आह्लादजनक है।' अर्थात् सभी ने राजा के विचार और कथन का समर्थन किया।

७—तए णं जितसत्तू सुबुद्धि अमच्चं एवं वयासी—'अहो णं सुबुद्धी! इमे मणुण्णे असणं पाणं खाइमं साइमं जाव पल्हायणिज्जे।'

तए णं सुबुद्धी जियसत्तुस्सेयमट्ठं नो आढाइ, जाव [नो परियाणाइ] तुसिणीए संचिट्ठइ।

तत्पश्चात् जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि अमात्य से कहा—'अहो सुबुद्धि! यह मनोज्ञ अशन, पान, खादिम और स्वादिम उत्तम वर्णादि से युक्त और यावत् समस्त इन्द्रियों को एवं गात्र को विशिष्ट आह्लादजनक है।'

तब सुबुद्धि अमात्य ने जितशत्रु के इस अर्थ (कथन) का आदर (अनुमोदन) नहीं किया। समर्थन नहीं किया, वह चुप रहा।

८—तए णं जियसत्तुणा सुबुद्धी दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे जियसत्तुं रायं एवं वयासी—'नो खलु सामी ! अहं एयंसि मणुण्णंसि असण-पाण-खाइम-साइमंसि केइ विम्हए। एवं खलु सामी ! सुब्भिसद्दा वि पुग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा वि पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति। सुरूवा वि पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति, दुरूवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति। सुब्भिगंधा वि पोग्गला दुब्भिगंधत्ताए परिणमंति, दुब्भिगंधा वि पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए परिणमंति। सुरसा वि पोग्गला दुरसत्ताए परिणमंति. दुरसा वि पोग्गला सुरसत्ताए परिणमंति। सुहफासा वि पोग्गला दुहफासत्ताए परिणमंति, दुहफासा वि पोग्गला सुहफासत्ताए परिणमंति। पओग-वीससापरिणया वि य णं सामी ! पोग्गला पण्णत्ता।'

जितशत्रु राजा के द्वारा दूसरी बार और तीसरी बार भी इसी प्रकार कहने पर सुबुद्धि अमात्य ने जितशत्रु राजा से इस प्रकार कहा—'स्वामिन् ! मैं इस मनोज्ञ अशन, पान, खादिम और स्वादिम में तनिक भी विस्मित नहीं हूँ। हे स्वामिन् ! सुरभि (उत्तम-शुभ) शब्द वाले भी पुद्गल दुरभि (अशुभ) शब्द के रूप में परिणत हो जाते हैं और दुरभि शब्द वाले पुद्गल भी सुरभि शब्द के रूप में परिणत हो जाते हैं। उत्तम रूप वाले पुद्गल भी खराब रूप के रूप में परिणत हो जाते हैं और खराब रूप वाले पुद्गल उत्तम रूप के रूप में परिणत हो जाते हैं। सुरभि गंध वाले भी पुद्गल दुरभि गंध के रूप में परिणत हो जाते हैं और दुरभि गंध वाले पुद्गल भी सुरभि गंध के रूप में परिणत हो जाते हैं। सुन्दर रस वाले भी पुद्गल खराब रस के रूप में परिणत हो जाते हैं और खराब रस वाले भी पुद्गल सुन्दर रस वाले पुद्गल के रूप में परिणत हो जाते हैं। शुभ स्पर्श वाले भी पुद्गल अशुभ स्पर्श वाले पुद्गल बन जाते हैं और अशुभ स्पर्श वाले पुद्गल भी शुभ स्पर्श वाले बन जाते हैं। हे स्वामिन् ! सब पुद्गलों में प्रयोग (जीव के प्रयत्न) से और विस्रसा (स्वाभाविक रूप से) परिणमन होता ही रहता है।

९—तए णं से जियसत्तू सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एवमाइक्खमाणस्स एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

उस समय राजा जितशत्रु ने ऐसा कहने वाले सुबुद्धि अमात्य के इस कथन का आदर नहीं किया, अनुमोदन नहीं किया और वह चुपचाप बना रहा।

विवेचन—इन सूत्रों में जो कुछ कहा गया है वह सामान्य-सी बात प्रतीत होती है, किन्तु गंभीरता में उतर कर विचार करने पर ज्ञात होगा कि इस निरूपण में एक अति महत्त्वपूर्ण तथ्य निहित है। सुबुद्धि अमात्य सम्यग्दृष्टि, तत्त्व का ज्ञाता और श्रावक था, अतएव सामान्य जनों की दृष्टि से उसकी दृष्टि भिन्न थी। वह किसी भी वस्तु को केवल चर्म-चक्षुओं से नहीं वरन् विवेक-दृष्टि से देखता था। उसकी विचारणा तात्त्विक, पारमार्थिक और समीचीन थी। यही कारण है कि उसका विचार राजा जितशत्रु के विचार से भिन्न रहा। सम्यग्दृष्टि के योग्य निर्भीकता भी उसमें थी, अतएव उसने अपनी विचारणा का कारण भी राजा को कह दिया। इस प्रकार इस प्रसंग

से सम्यग्दृष्टि और उससे इतर जनों के दृष्टिकोण का अन्तर समझा जा सकता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा भोजन, पान, परिधान आदि के साधनभूत पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता होता है। उसमें राग-द्वेष की न्यूनता होती है, अतएव वह समभावी होता है। किसी वस्तु के उपभोग से न तो चकित-विस्मित होता है और न पीडा, दुःख या द्वेष का अनुभव करता है। वह यथार्थ वस्तुस्वरूप को जान कर अपने समभाव में स्थिर रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव की यह व्यावहारिक कसौटी है।

१०—तए णं से जियसत्तू अण्णया कयाइ ण्हाए आसखंधवरगए महया भडचडगरपह० आसवाहणियाए निज्जायमाणे तस्स फरिहोदगस्स अदूरसामंतेणं वीईवयइ।

तए णं जियसत्तू राया तस्स फरिहोदगस्स असुभेणं गंधेणं अभिभूए समाणे सएणं उत्तरिज्जेणं आसगं पिहेइ, एगंतं अवक्कमइ, ते बहवे ईसर जाव पभिइओ एवं वयासी—'अहो णं देवाणुप्पिया! इमे फरिहोदए अमणुण्णे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं। से जहानामए अहिमडेइ वा जाव अमणामतराए चेव गंधेणं पण्णत्ते।'

तत्पश्चात् एक बार किसी समय जितशत्रु स्नान करके, (विभूषित होकर) उत्तम अश्व की पीठ पर सवार होकर, बहुत-से भटों-सुभटों के साथ, घुड़सवारी के लिए निकला और उसी खाई के पानी के पास पहुँचा।

तब जितशत्रु राजा ने खाई के पानी की अशुभ गंध से घबरा कर अपने उत्तरीय वस्त्र से मुँह ढँक लिया। वह एक तरफ चला गया और साथी राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाह वगैरह से इस प्रकार कहने लगा—'अहो देवानुप्रियो! यह खाई का पानी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से अमनोज्ञ—अत्यन्त अशुभ है। जैसे किसी सर्प का मृत कलेवर हो, यावत् उससे भी अधिक अमनोज्ञ है, अमनोज्ञ गंध वाला है।

११—तए णं ते बहवे राईसर जाव सत्थवाहपभिइओ एवं वयासी—'तहेव णं तं सामी! जं णं तुब्भे वयह, अहो णं इमे फरिहोदए अमणुण्णे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं, से जहानामए अहिमडेइ वा जाव अमणामतराए चेव गंधेणं पण्णत्ते।

तत्पश्चात् वे राजा ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि इस प्रकार बोले—'स्वामिन्! आप जो ऐसा कहते हैं सो सत्य ही है कि—अहो! यह खाई का पानी, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से अमनोज्ञ है। यह ऐसा अमनोज्ञ है, जैसे साँप आदि का मृतक कलेवर हो, यावत् उससे भी अधिक अतीव अमनोज्ञ गंध वाला है।

१२—तए णं से जियसत्तू सुबुद्धि अमच्चं एवं वयासी—'अहो णं सुबुद्धी! इमे फरिहोदए अमणुण्णे वण्णेणं से जहानामए अहिमडेइ वा जाव अमणामतराए चेव गंधेणं पण्णत्ते।

तए णं सुबुद्धी अमच्चे जाव तुसिणीए संचिट्ठइ।

तत्पश्चात् अर्थात् राजा, ईश्वर आदि ने जब जितशत्रु की हां में हाँ मिला दी, तब राजा जितशत्रु ने सुबुद्धि अमात्य से इस प्रकार कहा—'अहो सुबुद्धि! यह खाई का पानी वर्ण आदि से अमनोज्ञ है, जैसे किसी सर्प आदि का मृत कलेवर हो, यावत् उससे भी अधिक अत्यन्त अमनोज्ञ है।'

तब सुबुद्धि अमात्य इस कथन का समर्थन न करता हुआ मौन रहा।

१३—तए णं से जियसत्तू राया सुबुद्धिं अमच्चं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—'अहो णं तं चेव।'

तए णं से सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुणा रण्णा दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे एवं वयासी—'नो खलु सामी ! अम्हं एयंसि फरिहोदयंसि केइ विम्हए। एवं खलु सामी ! सुब्भिसद्दा वि पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, तं चेव जाव पओग-वीससापरिणया वि य णं सामी ! पोग्गला पण्णत्ता।

तब जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि अमात्य से दूसरी बार और तीसरी बार भी इसी प्रकार कहा—'अहो सुबुद्धि ! यह खाई का पानी अमनोज्ञ है' इत्यादि पूर्ववत्।

तब सुबुद्धि अमात्य ने जितशत्रु के दूसरी बार और तीसरी बार ऐसा कहने पर इस प्रकार कहा—'स्वामिन् ! मुझे इस खाई के पानी के विषय में—इसके मनोज्ञ या अमनोज्ञ होने में कोई विस्मय नहीं है। क्योंकि शुभ शब्द के पुद्गल भी अशुभ रूप में परिणत हो जाते हैं, इत्यादि पहले के समान सब कथन यहाँ समझ लेना चाहिए, यावत् मनुष्य के प्रयत्न से और स्वाभाविक रूप से भी पुद्गलों में परिणमन होता रहता है; ऐसा (जिनागम में) कहा है।

१४—तए णं जितसत्तू राया सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी—मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! अप्पाणं च परं च तदुभयं च बहूहि य असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेण य वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे विहराहि।

तत्पश्चात् जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि अमात्य से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! तुम अपने आपको दूसरे को और स्व-पर दोनों को, असत् वस्तु या वस्तुधर्म की उद्भावना करके अर्थात् असत् को सत् के रूप में प्रकट करके और मिथ्या अभिनिवेश (दुराग्रह) करके भ्रम में मत डालो, अज्ञानियों को ऐसी सीख न दो।'

१५—तए णं सुबुद्धिस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'अहो णं जितसत्तू संते तच्चे तहिए अवितहे सब्भूते जिणपण्णत्ते भावे णो उवलभइ, तं सेयं खलु मम जियसत्तुस्स रण्णो संताणं तच्चाणं तहियाणं अवितहाणं सब्भूताणं जिणपण्णत्ताणं भावाणं अभिगमणट्ठयाए एयमट्ठं उवाइणावेत्तए।'

जितशत्रु की बात सुनने के पश्चात् सुबुद्धि को इस प्रकार का अध्यवसाय-विचार उत्पन्न हुआ—अहो ! जितशत्रु राजा सत् (विद्यमान) तत्त्वरूप (वास्तविक), तथ्य (सत्य) अवितथ (अमिथ्या) और सद्भूत (विद्यमान स्वरूप वाले) जिन भगवान् द्वारा प्ररूपित भावों को नहीं जानता—नहीं अंगीकार करता। अतएव मेरे लिए यह श्रेयस्कर होगा कि मैं जितशत्रु राजा को सत्, तत्त्वरूप, तथ्य, अवितथ और सद्भूत जिनेन्द्रप्ररूपित भावों (अर्थों) को समझाऊँ और इस बात को अंगीकार कराऊँ।

१६—एवं संपेहेइ, संपेहित्ता पच्चइएहिं पुरिसेहिं सद्धिं अंतरावणाओ नवए घडए पडए य

पगेण्हइ, पगेण्हित्ता संझाकालसमयंसि पविरलमणुस्संसि निसंतपडिनिसंतंसि जेणेव फरिहोदए तेणेव उवागए, उवागच्छित्ता तं फरिहोदयं गेण्हावेइ, गेण्हावित्ता नवएसु घडएसु गालावेइ, गालावित्ता नवएसु घडएसु पक्खिवावेइ, पक्खिवावित्ता लंछियमुद्दिए करावेइ, करावित्ता सत्तरत्तं परिवसावेइ, परिवसावित्ता दोच्चं पि नवएसु घडएसु गालावेइ, गालावित्ता नवएसु घडएसु पक्खिवावेइ, पक्खिवावित्ता सज्जक्खारं पक्खिवावेइ, पक्खिवावित्ता लंछियमुद्दिए करावेइ, करावित्ता सत्तरत्तं परिवसावेइ, परिवसावित्ता तच्चं पि नवएसु घडएसु जाव संवसावेइ।

सुबुद्धि अमात्य ने इस प्रकार विचार किया। विचार करके विश्वासपात्र पुरुषों से खाई के मार्ग के बीच की कुंभार की दुकान से नये घड़े (वहुत-से कोरे घड़े) और वस्त्र लिए। घड़े लेकर जब कोई विरले मनुष्य चल रहे थे और जब लोग अपने-अपने घरों में विश्राम लेने लगे थे, ऐसे संध्याकाल के अवसर पर जहाँ खाई का पानी था, वहाँ आया। आकर खाई का पानी ग्रहण करवाया। ग्रहण करवा कर उसे नये घड़ों में छनवाया (गलवाया—टपकवाया)। छनवाकर नये घड़ों में डलवाया। डलवाकर उन घड़ों को लांछित-मुद्रित करवाया—अर्थात् मुँह वंद करके उन पर निशान लगवा कर मोहर लगवाई। फिर सात रात्रि-दिन उन्हें रहने दिया। सात रात्रि-दिन के बाद उस पानी को दूसरी बार कोरे घड़ों में छनवाया और नये घड़ों में डलवाया। डलवा कर उनमें ताजा राख डलवाई और फिर उन्हें लांछित—मुद्रित करवा दिया। सात रात-दिन तक उन्हें रहने दिया। सात रात-दिन रखने के बाद तीसरी बार नवीन घड़ों में वह पानी डलवाया, यावत् सात रात-दिन उसे रहने दिया।

१७—एवं खलु एएणं उवाएणं अंतरा गलावेमाणे अंतरा पक्खिवावेमाणे, अंतरा य विपरिवसावेमाणे विपरिवसावेमाणे सत्तसत्तराइंदिया विपरिवसावेइ।

तए णं से फरिहोदए सत्तमसत्तयंसि परिणममाणंसि उदयरयणे जाए यावि होत्था-अच्छे पत्थे जच्चे तणुए फलिहवण्णाभे वण्णेणं उववेए, गंधेणं उववेए, रसेणं उववेए फासेणं उववेए, आसायणिज्जे जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे।

इस तरह से, इस उपाय से, वीच-बीच में गलवाया, वीच-वीच में कोरे घड़ों में डलवाया और बीच-बीच में रखवाया जाता हुआ वह पानी सात-सात रात्रि-दिन तक रख छोड़ा जाता था।

तत्पश्चात् वह खाई का पानी सात सप्ताह में परिणत होता हुआ उदकरत्न (उत्तम जल) बन गया। वह स्वच्छ, पथ्य—आरोग्यकारी, जात्य (उत्तम जाति का), हल्का हो गया; स्फटिक मणि के सदृश मनोज्ञ वर्ण से युक्त, मनोज्ञ गंध से युक्त, रस से युक्त और स्पर्श से युक्त, आस्वादन करने योग्य यावत् सब इन्द्रियों तथा गात्र को अति आह्लाद उत्पन्न करने वाला हो गया।

१८—तए णं सुबुद्धी अमच्चे जेणेव से उदयरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयलंसि आसाएइ, आसाइत्ता तं उदयरयणं वण्णेणं उववेयं, गंधेणं उववेयं, रसेणं उववेयं, फासेणं उववेयं, आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं जाणित्ता हट्ठतुट्ठे बहूहिं उदगसंभारणिज्जेहिं दव्वेहिं संभारेइ, संभारित्ता जियसत्तुस्स रण्णो पाणियघरियं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुमं च णं देवाणुप्पिया! इमं उदगरयणं गेण्हाहि, गेण्हित्ता जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवणेज्जासि।

तत्पश्चात् सुबुद्धि अमात्य उस उदकरत्न के पास पहुँचा। पहुँच कर हथेली में लेकर उसका आस्वादन किया। आस्वादन करके उसे मनोज्ञ वर्ण से युक्त, गंध से युक्त, रस से युक्त, स्पर्श से युक्त, आस्वादन करने योग्य यावत् सब इन्द्रियों को और गात्र को अतिशय आह्लादजनक जान कर हृष्टतुष्ट हुआ। फिर उसने जल को सँवारने (सुस्वादु बनाने) वाले द्रव्यों से उसे सँवारा-सुस्वादु और सुगंधित बनाया। सँवार कर जितशत्रु राजा के जलगृह के कर्मचारी को बुलवाया। बुलवा कर कहा—'देवानुप्रिय ! तुम यह उदकरत्न ले जाओ। इसे ले जाकर राजा जितशत्रु के भोजन की वेला में उन्हें पीने के लिए देना।'

१९—तए णं से पाणियघरए सुबुद्धिस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता तं उदयरयणं गिण्हाइ, गिण्हित्ता जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवट्ठवेइ।

तए णं से जियसत्तू राया तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणे जाव विहरइ।

जिमियभुत्तुत्तराए णं जाव परमसुइभूए तंसि उदयरयणे जायविम्हिए ते बहवे राईसर जाव एवं वयासी—'अहो णं देवाणुप्पिया ! इमे उदयरयणे अच्छे जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे।'

तए णं बहवे राईसर जाव एवं वयासी—'तहेव णं सामी ! जं णं तुब्भे वयह, जाव एवं चेव पल्हायणिज्जे।'

तत्पश्चात् जलगृह के उस कर्मचारी ने सुबुद्धि के इस अर्थ को अंगीकार किया। अंगीकार करके वह उदकरत्न ग्रहण किया और ग्रहण करके जितशत्रु राजा के भोजन की वेला में उपस्थित किया।

तत्पश्चात् जितशत्रु राजा उस विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम का आस्वादन करता हुआ विचर रहा था। जीम चुकने के अनन्तर अत्यन्त शुचि-स्वच्छ होकर जलरत्न का पान करने से राजा को विस्मय हुआ। उसने बहुत-से राजा, ईश्वर आदि से यावत् कहा—'अहो देवानुप्रियो ! यह उदकरत्न स्वच्छ है यावत् समस्त इन्द्रियों को और गात्र को आह्लाद उत्पन्न करने वाला है।'

तब वे बहुत-से राजा, ईश्वर आदि यावत् इस प्रकार कहने लगे—'स्वामिन् ! जैसा आप कहते हैं, बात ऐसी ही है। यह जलरत्न यावत् आह्लादजनक है।

२०—तए णं जियसत्तू राया पाणियघरियं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एस णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! उदयरयणे कओ आसाइए ?

तए णं पाणियघरिए जियसत्तुं एवं वयासी—'एस णं सामी ! मए उदयरयणे सुबुद्धिस्स अंतियाओ आसाइए।'

तए णं जियसत्तू राया सुबुद्धिं अमच्चं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'अहो णं सुबुद्धी ! केणं कारणेणं अहं तव अणिट्ठे अकंते अप्पिए अमणुण्णे अमणामे, जेण तुमं मम कल्लाकल्लिं भोयणवेलाए इमं उदयरयणं न उवट्ठवेसि ? तए णं देवाणुप्पिया ! उदयरयणे कओ उवलद्धे ?'

तए णं सुबुद्धी जियसत्तुं एवं वयासी—'एस णं सामी ! से फरिहोदए।'

तए णं से जियसत्तू सुबुद्धिं एवं वयासी—'केणं कारणेणं सुबुद्धी ! एस से फरिहोदए ?

तए णं सुबुद्धी जियसत्तुं एवं वयासी—'एवं खलु सामी ! तुम्हे तया मम एवमाइक्खमाणस्स भासमाणस्स पण्णवेमाणस्स परूवेमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहह, तए णं मम इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—'अहो णं जियसत्तू संते जाव भावे नो सद्दहइ, नो पत्तियइ, नो रोएइ, तं सेयं खलु ममं जियसत्तुस्स रण्णो संताणं जाव सब्भूयाणं जिणपन्नत्ताणं भावाणं अभिगमणट्ठयाए एयमट्ठं उवाइणावेत्तए। एवं संपेहेमि, संपेहित्ता तं चेव जाव पाणियघरियं सद्दावेमि, सद्दावित्ता एवं वदामि—'तुमं णं देवाणुप्पिया ! उदगरयणं जियसत्तुस्स रन्नो भोयणवेलाए उवणेहि।' तं एएणं कारणेणं सामी ! एस से फरिहोदए।

तत्पश्चात् राजा जितशत्रु ने जलगृह के कर्मचारी को बुलवाया और बुलवाकर पूछा—'देवानुप्रिय ! तुमने यह जलरत्न कहाँ से प्राप्त किया ?'

तब जलरत्न के कर्मचारी ने जितशत्रु से कहा—'स्वामिन् ! यह जलरत्न मैंने सुबुद्धि अमात्य के पास से प्राप्त किया है।'

तत्पश्चात् राजा जितशत्रु ने सुबुद्धि अमात्य को बुलाया और उससे इस प्रकार कहा—'अहो सुबुद्धि ! किस कारण से तुम्हें मैं अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ और अमणाम हूं, जिससे तुम मेरे लिए प्रतिदिन, भोजन के समय यह उदकरत्न नहीं भेजते ? देवानुप्रिय ! तुमने यह उदकरत्न कहाँ से पाया है ?

तब सुबुद्धि अमात्य ने जितशत्रु से कहा—'स्वामिन् ! यह वही खाई का पानी है।'

तब जितशत्रु ने सुबुद्धि से कहा—'हे सुबुद्धि ! किस प्रकार यह वही खाई का पानी है ?'

तब सुबुद्धि ने जितशत्रु से कहा—'स्वामिन् ! उस समय अर्थात् खाई के पानी का वर्णन करते समय मैंने आपको पुद्‌गलों का परिणमन कहा था, परन्तु आपने उस पर श्रद्धा नहीं की थी। तब मेरे मन में इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन, विचार या मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—अहो ! जितशत्रु राजा सत् यावत् भावों पर श्रद्धा नहीं करते, प्रतीति नहीं करते, रुचि नहीं रखते, अतएव मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि जितशत्रु राजा को सत् यावत् सद्भूत जिनभाषित भावों को समझाकर, पुद्‌गलों के परिणमन रूप अर्थ को अंगीकार कराऊँ।' मैंने ऐसा विचार किया। विचार करके पहले कहे अनुसार पानी को सँवार कर तैयार किया। यावत् आपके जलगृह के कर्मचारी को बुलाया और उससे कहा—देवानुप्रिय ! यह उदकरत्न तुम भोजन की वेला राजा जितशत्रु को देना।' इस कारण हे स्वामिन्; यह वही खाई का पानी है।

२१—तए णं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं नो सद्दहइ, नो पत्तियइ, नो रोएइ, असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोयमाणे अब्भितरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! अंतरावणाओ नवघडए पडए य गेण्हह जाव उदगसंभाणिज्जेहिं दव्वेहिं संभारेह।' ते वि तहेव संभारेंति, संभारित्ता जियसत्तुस्स उवणेंति।

तए णं जियसत्तू राया तं उदगरयणं करतलंसि आसाएइ, आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं जाणित्ता सुबुद्धिं अमच्चं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी-'सुबुद्धी ! एए णं

तुमे संता तच्चा जाव[1] सब्भूआ भावा कओ उवलद्धा ?'

तए णं सुबुद्धी जियसत्तुं एवं वयासी-'एए णं सामी ! मए संता जाव[2] भावा जिणवयणाओ उवलद्धा ।'

तत्पश्चात् जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि अमात्य के पूर्वोक्त अर्थ पर श्रद्धा न की, प्रतीति न की और रुचि न की। श्रद्धा न करते हुए, प्रतीति न करते हुए और रुचि न करते हुए उसने अपनी अभ्यन्तर परिषद् के पुरुषों को बुलाया। उन्हें बुलाकर कहा—'देवानुप्रियो ! तुम जाओ और खाई के जल के रास्ते वाली कुंभार की दुकान से नये घड़े तथा वस्त्र लाओ और यावत् जल को सँवारने-सुन्दर बनाने वाले द्रव्यों से उस जल को सँवारो।' उन पुरुषों ने राजा के कथनानुसार पूर्वोक्त विधि से जल को सँवारा और सँवार कर वे जितशत्रु के समीप लाए।

तब जितशत्रु राजा ने उस उदकरत्न को हथेली में लेकर आस्वादन किया। उसे आस्वादन करने योग्य यावत् सब इन्द्रियों को और गात्र को आह्लादकारी जानकर सुबुद्धि अमात्य को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'सुबुद्धि ! तुमने यह सत् तथ्य अवितथ तथा सद्भूत भाव (पदार्थ) कहाँ से जाने ?

तब सुबुद्धि ने जितशत्रु से कहा—'स्वामिन् ! मैंने यह सत् यावत् सद्भूत भाव जिन भगवान् के वचन से जाने हैं।'

विवेचन—जैनदर्शन के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो द्रव्य और पर्याय मिल कर ही वस्तु कहलाते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो केवल द्रव्य स्वरूप हो और पर्याय उसमें न हों। ऐसी भी कोई वस्तु नहीं जो एकान्त पर्यायमय हो, द्रव्य न हो। जीव द्रव्य हो किन्तु सिद्ध, देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा नारक पर्याय में से कोई भी न हो, यह असंभव है। इसी प्रकार देवादि कोई पर्याय तो हो किन्तु जीवद्रव्य उसके साथ न हो, यह भी असंभव है। सार यह कि प्रत्येक वस्तु में द्रव्य और पर्याय-दोनों अंश अवश्य ही विद्यमान होते हैं।

जब द्रव्य-अंश को प्रधान और पर्याय-अंश को गौण करके वस्तु का विचार किया जाता है तो उसे जैनपरिभाषा के अनुसार द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और जब पर्याय को प्रधान और द्रव्य को गौण करके देखा जाता है तब वह दृष्टि पर्यायार्थिकनय कहलाती है। दोनों दृष्टियां जब अन्योन्यापेक्ष होती हैं तभी वे समीचीन कही जाती हैं।

वस्तु का द्रव्यांश नित्य, शाश्वत, अवस्थित रहता है, उसका न तो कभी विनाश होता है न उत्पाद। अतएव द्रव्यांश की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु चाहे वह जड़ हो या चेतन, ध्रुव ही है। मगर पर्याय नाशशील होने से क्षण-क्षण में उनका उत्पाद और विनाश होता रहता है। इसी कारण प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, विनाश और ध्रौव्यमय है। भगवान् ने अपने शिष्यों को यही मूल तत्त्व सिखाया था—

उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।

प्रस्तुत सूत्र में पुद्गलों को परिणमनशील कहा गया है, वह पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से समझना चाहिए।

१-२-१२ वां अ., १५.

प्रश्न हो सकता है कि जब सभी पदार्थ-द्रव्य-परिणमनशील हैं तो यहाँ विशेष रूप से पुद्गलों का ही उल्लेख क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—परिणमन तो सभी में होता है किन्तु अन्य द्रव्यों के परिणमन से पुद्गल के परिणामन में कुछ विशिष्टता है । पुद्गल द्रव्य के प्रदेशों में संयोग-वियोग होता है, अर्थात् पुद्गल का एक स्कंध (पिंड) टूट कर दो भागों में विभक्त हो जाता है, दो पिण्ड मिलकर एक पिण्ड बन जाता है, पिण्ड में से एक परमाणु—उसका निरंश अंश पृथक् हो सकता है। वह कभी कभी पिण्ड में मिल कर स्कंध रूप धारण कर सकता है । इस प्रकार पुद्गल द्रव्य के प्रदेशों में हीनाधिकता, मिलना-बिछुड़ना होता रहता है । किन्तु पुद्गल के सिवाय शेष द्रव्यों में इस प्रकार का परिणमन नहीं होता । जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि के प्रदेशों में न न्यूनाधिकता होती है, न संयोग या वियोग होता है। उनके प्रदेश जितने हैं उतने ही सदा काल अवस्थित रहते है। अन्य द्रव्यों के परिणमन से पुद्गल के परिणमन की इसी विशिष्टता के कारण संभवत: यहाँ पुद्गलों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है ।

दूसरा कारण यह हो सकता है कि प्रस्तुत में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के संबंध में कथन किया गया है और ये चारों गुण केवल पुद्गल में ही होते हैं, अन्य द्रव्यों में नही ।

यहाँ एक तथ्य और ध्यान में रखने योग्य है । वह यह कि प्रत्येक द्रव्य का गुण भी द्रव्य की ही तरह नित्य—अविनाशी है, परन्तु उन गुणों के पर्याय, द्रव्य के पर्यायों की भांति परिणमनशील हैं । वर्ण पुद्गल का गुण है । उसका कभी विनाश नहीं होता । काला, पीला, हरा, नीला और श्वेत, वर्ण-गुण के पर्याय हैं। इनमें परिवर्त्तन होता रहता है । गंध गुण स्थायी है, सुगन्ध और दुर्गन्ध उसके पर्याय हैं । अतएव गंध नित्य और उसके पर्याय अनित्य हैं। इसी प्रकार रस और स्पर्श के संबंध में समझ लेना चाहिए ।

परिणमन की यह धारा निरन्तर, क्षण-क्षण, पल-पल, प्रत्येक समय, प्रवाहित होती रहती है, किन्तु सूक्ष्म परिणमन हमारी दृष्टि में नहीं आता । जब परिणमन स्थूल होता है तभी हम उसे जान पाते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई शिशु पल-पल में वृद्धिगत होता रहता है किन्तु उसकी वृद्धि का अनुभव हमें तभी होता है जब वह स्थूल रूप धारण करती है ।

सुबुद्धि प्रधान ने राजा जितशत्रु के समक्ष यही तत्त्व रक्खा। इस तत्त्व का प्रतिपादन जिनागम में ही किया गया है, अन्यत्र नहीं । जितशत्रु के पूछने पर सुबुद्धि ने यह बात भी स्पष्ट कर दी है ।

२२—तए णं जियसत्तू सुबुद्धिं एवं वयासी—'इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तव अंतिए जिणवयणं निसामेत्तए।'

तए णं सुबुद्धी जियसत्तुस्स विचित्तं केवलिपन्नत्तं चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ, तमाइक्खइ, जहा जीवा बज्झंति जाव पंच अणुव्वयाइं ।

तत्पश्चात् जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि से कहा—'देवानुप्रिय ! तो मैं तुमसे जिनवचन सुनना चाहता हूँ ।'

तब सुबुद्धि मंत्री ने जितशत्रु राजा को केवली-भाषित चातुर्याम रूप अद्भुत धर्म कहा । जिस प्रकार जीव कर्म-बंध करते हैं, यावत् पांच अणुव्रत हैं, इत्यादि धर्म का कथन किया ।

२३—तए णं जियसत्तू सुबुद्धिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ सुबुद्धि अमच्चं एवं वयासी—'सद्दहामि णं देवाणुप्पिया ! निग्गंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वयह, तं इच्छामि णं तव अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं जाव उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ।'

तत्पश्चात् जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि अमात्य से धर्म सुन कर और मन में धारण करके, हर्षित और संतुष्ट होकर सुबुद्धि अमात्य से कहा— देवानुप्रिय ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। जैसा तुम कहते हो वह वैसा ही है। सो मैं तुमसे पाँच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों को यावत् ग्रहण करके विचरने की अभिलाषा करता हूँ।'

(तब सुबुद्धि प्रधान ने कहा-) हे देवानुप्रिय ! जैसे सुख उपजे वैसा करो, प्रतिबंध मत करो।

२४—तए णं से जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं जाव दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ। तए णं जियसत्तू समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे [जाव उवलद्धपुण्णपावे आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बंध-मोक्खकुसले असहेज्जे देवासुर-नाग-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जे निग्गंथे पावयणे णिस्संकिए णिक्कंखिए निव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे अभिगयट्ठे विणिच्छियट्ठे अट्ठि-मिंजपेमाणुरागरत्ते अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहे अवंगुय-दुवारे चियत्तंतेउर-परघरदारप्पवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेपाणे समणे निग्गंथे फासु-एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम साइमेणं ओसह-भेसज्जेणं पाडिहारिएण य पीढ-फलग-सेज्जा-संथारएणं] पडिलाभेमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि अमात्य से पाँच अणुव्रत वाला (और सात शिक्षाव्रत वाला) यावत् बारह प्रकार का श्रावकधर्म अंगीकार किया। तत्पश्चात् जितशत्रु श्रावक हो गया, जीव-अजीव का ज्ञाता हो गया (पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण (पाप के साधन), बंध और मोक्ष में कुशल, किसी की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला, देव असुर नाग यक्ष राक्षस किन्नर किंपुरुष गरुड़ गन्धर्व महोरग आदि देवगणों द्वारा भी निर्ग्रन्थप्रवचन का अतिक्रमण न करने वाला, निर्ग्रन्थप्रवचन में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा से रहित, अर्थों-पदार्थों को भलीभांति जानने वाला, पूछकर समझने वाला, निश्चित कर लेने वाला, निर्ग्रंथ प्रवचन में गहरे अनुराग वाला, 'आयुष्मन् ! यह निर्ग्रंथ प्रवचन ही अर्थ और परमार्थ है, शेष अनर्थ हैं, ऐसी श्रद्धा वाला, घर की आगल को ऊपर कर देने वाला, दानादि के लिए द्वार खुला रखने वाला, दूसरे के घर में जाने पर उसे प्रीति उपजाने वाला, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को पोषधव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला, निर्ग्रन्थ श्रमणों को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम, औषध, भेषज, प्रतिहारी पीढ़ा पाट, उपाश्रय एवं संस्तारक) दान करता हुआ रहने लगा।

विवेचन—श्रावकपन अमुक कुल में उत्पन्न होने—जन्म लेने से नहीं आता। वह जातिगत विशेषता भी नहीं है। प्रस्तुत सूत्र स्पष्ट निर्देश करता है कि श्रावक होने के लिए सर्वप्रथम वीतराग-प्ररूपित तत्त्वस्वरूप पर श्रद्धा होनी चाहिए। वह श्रद्धा भी ऐसी अचल, अटल हो कि मनुष्य तो क्या, देव भी उसे भंग न कर सके। साथ ही उसे आस्रव, बन्ध, निर्जरा, मोक्ष आदि का सम्यक् ज्ञाता भी

होना चाहिए। मुमुक्षु को जिनागमप्ररूपित नौ तत्त्वों का ज्ञान अनिवार्य है। उसे इतना सत्त्वशाली होना चाहिए कि देवगण डिगाने का प्रयत्न करके थक जाएँ, पराजित हो जाएँ किन्तु वह अपने श्रद्धान और अनुष्ठान से डिगे नहीं।

मनुष्य जब श्रावकपद को अंगीकार करता है—श्रावकवृत्ति स्वीकार कर लेता है, तब उसके आन्तरिक जीवन में पूरी तरह परिवर्त्तन हो जाता है और आन्तरिक जीवन में परिवर्त्तन होने पर बाह्य व्यवहार में भी स्वतः परिवर्त्तन आ जाता है। उसका रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल आदि समस्त व्यवहार बदल जाता है। श्रावक मानो उसी शरीर में रहता हुआ भी नूतन जीवन प्राप्त करता है। उसे समग्र जगत् वास्तविक स्वरूप में दृष्टि—गोचर होने लगता है। उसकी प्रवृत्ति भी तदनुकूल ही हो जाती है। राजा प्रदेशी आदि इस तथ्य के उदाहरण हैं।

निर्ग्रन्थ मुनियों के प्रति उसके अन्तःकरण में कितनी गहरी भक्ति होती है, यह सत्य भी प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित कर दिया गया है।

इस सूत्र से राजा और उसके मन्त्री के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध प्राचीन काल में होता था अथवा होना चाहिए, यह भी विदित होता है।

२५—तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरा जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दचेइए तेणेव समोसढे, जियसत्तू राया सुबुद्धी य निग्गच्छइ। सुबुद्धी धम्मं सोच्चा जं णवरं जियसत्तुं आपुच्छामि जाव पव्वयामि। अहासुहं देवाणुप्पिया!

उस काल और उस समय में, जहाँ चम्पा नगरी और पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ स्थविर मुनि पधारे। जितशत्रु राजा और सुबुद्धि उनको वन्दना करने के लिए निकले। सुबुद्धि ने धर्मोपदेश सुन कर (निवेदन किया—) 'मैं जितशत्रु राजा से पूछ लूँ—उनकी आज्ञा ले लूँ और फिर दीक्षा अंगीकार करूँगा। तब स्थविर मुनि ने कहा—देवानुप्रिय! जैसे सुख उपजे वैसा करो।'

२६—तए णं सुबुद्धी अमच्चे जेणेव जिअसत्तू राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एवं वयासी—'एवं खलु सामी! मए थेराणं अंतिए धम्मे निसंते, से वि य धम्मे इच्छिए पडिच्छिए इच्छिय-पडिच्छिए तए णं अहं सामी! संसारभउव्विग्गे, भीए जम्म-मरणाणं, इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे जाव पव्वइत्तए।'

तए णं जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं एवं वयासी—अच्छासु ताव देवाणुप्पिया! कइवयाइं वासाइं जाव भुंजमाणा तओ पच्छा एगयओ थेराणं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वइस्सामो।

तत्पश्चात् सुबुद्धि अमात्य जितशत्रु राजा के पास गया और बोला—'स्वामिन्! मैंने स्थविर मुनि से धर्मोपदेश श्रवण किया है और उस धर्म की मैंने पुनः पुनः इच्छा की है। इस कारण हे स्वामिन्! मैं संसार—अनादि काल से चली आ रही जन्म-मरण की निरन्तरता के भय से उद्विग्न हुआ हूँ तथा जरा-मरण से भयभीत हुआ हूँ। अतः आपकी आज्ञा पाकर स्थविरों के निकट प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।'

तब जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि अमात्य से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय! अभी कुछ वर्षों तक

यावत् भोग भोगते हुए ठहरो, उसके अनन्तर हम दोनों साथ-साथ स्थविर मुनियों के निकट मुंडित होकर प्रव्रज्या अंगीकार करेंगे।

२७—तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुस्स रण्णो एयमट्ठं पडिसुणेइ। तए णं तस्स जियसत्तुस्स रन्नो सुबुद्धिणा सद्धिं विपुलाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं पच्चणुब्भवमाणस्स दुवालस वासाइं वीइक्कंताइं।

तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरागमणं, तए णं जियसत्तू धम्मं सोच्चा एवं जं नवरं देवाणुप्पिया! सुबुद्धिं आमंतेमि, जेट्ठपुत्तं रज्जे ठवेमि, तए णं तुब्भं जाव पव्वयामि। 'अहासुहं देवाणुप्पिया!'

तए णं जियसत्तू राया जेणेव सए गिहे (तेणेव) उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुबुद्धिं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु मए थेराणं जाव पव्वज्जामि, तुमं णं किं करेसि?'

तए णं सुबुद्धी जियसत्तुं एवं वयासी—'जाव के अन्ने आहारे वा जाव पव्वयामि।'

तब सुबुद्धि अमात्य ने राजा जितशत्रु के इस अर्थ को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् सुबुद्धि प्रधान के साथ, जितशत्रु राजा को मनुष्य संबंधी कामभोग भोगते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गये।

तत्पश्चात् उस काल और उस समय में स्थविर मुनि का आगमन हुआ। तब जितशत्रु ने धर्मोपदेश सुन कर प्रतिबोध पाया, किन्तु उसने कहा—'देवानुप्रिय! मैं सुबुद्धि अमात्य को दीक्षा के लिए आमंत्रित करता हूं और ज्येष्ठ पुत्र को राजसिंहासन पर स्थापित करता हूँ तदनन्तर आपके निकट दीक्षा अंगीकार करूँगा।' तब स्थविर मुनि ने कहा—'देवानुप्रिय! जैसे तुम्हें सुख उपजे वही करो।'

तब जितशत्रु राजा अपने घर आया। आकर सुबुद्धि को बुलवाया और कहा—'मैंने स्थविर भगवान् से धर्मोपदेश श्रवण किया है। यावत् मैं प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा करता हूं। तुम क्या करोगे—तुम्हारी क्या इच्छा है? तब सुबुद्धि ने जितशत्रु से कहा—'यावत् आपके सिवाय मेरा दूसरा कौन आधार है? यावत् मैं भी संसार-भय से उद्विग्न हूँ, मैं भी प्रव्रज्या अंगीकार करूँगा।'

२८—तं जइ णं देवाणुप्पिया! जाव पव्वयह, गच्छह णं देवाणुप्पिया! जेट्ठपुत्तं च कुडुंबे ठावेहि, ठावेत्ता सीयं दुरूहित्ता णं ममं अंतिए जाव पाउब्भवेह। तए णं सुबुद्धी अमच्चे सीयं जाव पाउब्भवइ।

तए णं जियसत्तू कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! अदीणसत्तुस्स कुमारस्स रायाभिसेयं उवट्ठवेह।' जाव अभिसिंचंति, जाव पव्वइए।

राजा जितशत्रु ने कहा—'देवानुप्रिय! यदि तुम्हें प्रव्रज्या अंगीकार करनी है तो जाओ देवानुप्रिय! और अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब में स्थापित करो और शिविका पर आरूढ होकर मेरे समीप प्रकट होओ—आओ, तब सुबुद्धि अमात्य शिविका पर आरूढ होकर यावत् राजा के समीप आ गया।

तत्पश्चात् जितशत्रु ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर उनसे कहा—'जाओ देवानुप्रियो! अदीनशत्रु कुमार के राज्याभिषेक की सामग्री उपस्थित—तैयार करो।' कौटुम्बिक पुरुषों ने

सामग्री तैयार की, यावत् कुमार का अभिषेक किया, यावत् जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि अमात्य के साथ प्रव्रज्या अंगीकार कर ली।

२९—तए णं जियसत्तू एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, बहूणि वासाणि परियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सिद्धे।

तए णं सुबुद्धी एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, बहूणि वासाणि परियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सिद्धे।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् जितशत्रु मुनि ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। बहुत वर्षों तक दीक्षापर्याय पालकर अन्त में एक मास की संलेखना करके सिद्धि प्राप्त की।

दीक्षा अंगीकार करने के अनन्तर सुबुद्धि मुनि ने भी ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। बहुत वर्षों तक दीक्षापर्याय पाली और अंत में एक मास की संलेखना करके सिद्धि पाई।

३०—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं बारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, त्ति बेमि।

श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं—इस प्रकार हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने बारहवें ज्ञात-अध्ययन का यह (उपर्युक्त) अर्थ कहा है। मैंने जैसा सुना वैसा कहा।

तेरहवाँ अध्ययन : दर्दुरज्ञात

सार : संक्षेप

प्रस्तुत अध्ययन दर्दुर-ज्ञात के नाम से प्रसिद्ध है। कहीं-कहीं इसे 'मंडुक्क' नाम से भी अभिहित किया गया है[1]। दोनों शब्दों के अर्थ में कोई भेद नहीं है। दर्दुर और मंडूक का अर्थ मेंढक है। इस अध्ययन में प्ररूपित कथा-वस्तु, विशेषतः कथानायक के आधार पर इसका नामकरण हुआ है, जैसा कि अन्य अध्ययनों का। फिर भी इस अध्ययन में जहाँ-तहाँ मूल पाठ में 'दर्दुर' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। अतएव प्रकृत अध्ययन का नाम 'दर्दुर' ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

'दर्दुर' अध्ययन में निरूपित उदाहरण से पाठकों को जो बोध दिया गया है, उसमें दो बातें प्रधान हैं—

(१) सद्गुरु के समागम से आत्मिक गुणों की वृद्धि होती है।

(२) आसक्ति अधःपतन का कारण है।

उदाहरण का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

भगवान् महावीर के राजगृह नगर में पदार्पण करने पर दर्दुरावतंसक विमान का वासी दर्दुर नामक देव वहाँ आया। राजप्रश्नीय सूत्र में वर्णित सूर्याभ देव की तरह नाटचविधि दिखाकर वह लौट गया। तब गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान् ने उसका परिचय दिया—उसके अतीत जन्म का, वर्तमान जन्म का और भावी जन्म का भी।

भगवान् ने कहा-राजगृह नगर में नन्द नामक मणियार था। मेरा उपदेश सुनकर वह श्रमणोपासक हो गया। कालान्तर में साधु-समागम न होने से तथा मिथ्यादृष्टियों के साथ परिचय बढ़ने से वह मिथ्यात्वी हो गया, फिर भी तपश्चर्या आदि बाह्य क्रियाएँ पूर्ववत् करता रहा। एक बार ग्रीष्म ऋतु में उसने पोषधशाला में अष्टमभक्त की तपश्चर्या की। तपश्चर्या के समय वह भूख-प्यास से पीड़ा पाने लगा। तब उसके मन में ऐसी भावना उत्पन्न हुई जो पोषध-अवस्था में नहीं होनी चाहिए थी। उसने एक बावड़ी, बगीचा आदि निर्माण कराने का संकल्प किया।

दूसरे दिन पोषध समाप्त करके वह राजा के पास पहुँचा। राजा की अनुमति प्राप्त कर उसने एक सुन्दर बावड़ी बनवाई, बगीचे लगवाए और चित्रशाला, भोजनशाला, चिकित्साशाला तथा अलंकारशाला का निर्माण करवाया। बहुसंख्यक जन इनका उपयोग करने लगे और नन्द मणियार की प्रशंसा करने लगे। अपनी प्रशंसा एवं कीर्त्ति सुन कर नन्द बहुत हर्षित होने लगा। बावड़ी के प्रति उसके हृदय में गहरी आसक्ति हो गई।

एक बार नन्द के शरीर में एक साथ सोलह रोग उत्पन्न हो गए। उसने एक भी रोग मिटा देने पर चिकित्सकों को यथेष्ट पुरस्कार देने की घोषणा करवाई। अनेकानेक चिकित्सक

---

१. मुनिश्री नथमलजी म. द्वारा सम्पादित 'अंगसुत्ताणि ३ रा भाग

आए, भाँति-भाँति की चिकित्सापद्धतियों का उन्होंने प्रयोग किया, मगर कोई भी सफल नहीं हो सका। उन चिकित्सापद्धतियों का नामोल्लेख मूल पाठ में किया गया है, जो भारतीय चिकित्सा-पद्धति के इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

अन्त में नन्द मणियार वावड़ी में आसक्ति के कारण आर्त्तध्यान से ग्रस्त होकर उसी वावड़ी में मेंढक की योनि में उत्पन्न हुआ। लोगों के मुख से नन्द मणियार की प्रशंसा सुनकर उसे जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब उसने अपने मिथ्यात्व के लिए पश्चात्ताप करके आत्मसाक्षी से पुनः श्रावक के व्रत अंगीकार किए।

तत्पश्चात् एक वार पुनः भगवान् महावीर का राजगृह में समवसरण हुआ। जन-रव सुनकर उसे भी भगवान् के आगमन का वृत्तान्त विदित हुआ। भक्तिभाव से प्रेरित होकर वह भगवान् की उपासना के लिए रवाना हुआ, पर रास्ते में ही राजा श्रेणिक के एक घोड़े के पांव के नीचे आकर कुचल गया। जीवन का अन्त सन्निकट देखकर उसने अन्तिम समय की विशिष्ट आराधना की और मृत्यु के पश्चात् देवपर्याय में उत्पन्न हुआ।

देवगति का आयुष्य पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यभव प्राप्त कर, चारित्र अंगीकार करके मुक्ति प्राप्त करेगा।

विस्तार से वर्णन जानने के लिये स्वयं इस अध्ययन को पढ़िए।

तेरसमं अज्झयणं : दद्दुरणायं

श्रीजम्बू का प्रश्न

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं बारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, तेरसमस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने बारहवें ज्ञात-अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा है तो तेरहवें ज्ञात-अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?

श्रीसुधर्मा का उत्तर

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था । तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था । तस्स णं रायगिहस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसिलए नामं चेइए होत्था ।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ किया—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था । उस राजगृह नगर में श्रेणिकनामक राजा था । राजगृह के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में गुणशीलनामक उद्यान था ।

३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे चउदसहिं समणसाहस्सीहिं जाव [छत्तीसाए अज्जियासाहस्सीहिं] सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणेव रायगिहे णयरे, जेणेव गुणसिलए चेइए तेणेव समोसढे । अहापडिरूवं उग्गहं गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । परिसा निग्गया ।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर चौदह हजार साधुओं के तथा [छत्तीस हजार आर्यिकाओं के] साथ अनुक्रम से विचरते हुए, एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हुए—सुखे-सुखे विहार करते हुए जहाँ राजगृह नगर था और गुणशील उद्यान था, वहाँ पधारे । यथायोग्य अवग्रह (स्थानक) की याचना करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे । भगवान् को वन्दना करने के लिए परिषद् निकली और धर्मोपदेश सुन कर वापिस लौट गई ।

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं सोहम्मे कप्पे दद्दुरवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए दद्दुरंसि सीहासणंसि दद्दुरे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं, चउहिं अग्गमहिसीहिं, तिहिं परिसाहिं, एवं जहा सूरियाभो जाव [सत्तहिं अणिएहिं सत्तहिं अणियाहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं बहूहिं दद्दुरवडिंसगविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महयाहयनट्ट-गीय-वाइय-तंतीतल-ताल-तुडिय-घणमुइंग-पडुप्पवाइय-रवेणं] दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणो विहरइ । इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे आभोएमाणे जाव[1] नट्टविहिं उवदंसित्ता पडिगए जहा सूरियाभे[1] ।

१. विस्तृत वर्णन के लिए देखिए, रायपसेणियसूत्र में सूर्याभवर्णन ।

दर्दु र देव का आगमन—नाटचप्रदर्शन

उस काल और उस समय सौधर्म कल्प में, दर्दु रावतंसकनामक विमान में, सुधर्मा नामक सभा में, दर्दु रनामक सिंहासन पर, दर्दु रनामक देव चार हजार सामानिक देवों, चार अग्र महिषियों और तीन प्रकार की परिषदों के साथ, [तथा सात अनीकों, सात अनीकाधिपतियों, सोलह हजार आत्म-रक्षक देवों तथा बहुत-से दर्दु रावतंसक विमान के निवासी वैमानिक देवों एवं देवियों के साथ,—उनसे परिवृत होकर, अव्याहत—अक्षत नाट्य, गीत, वादित, वीणा, हस्तताल, कांस्यताल तथा अन्यान्य वादित्रों एवं घनमृदंग—मेघ के समान ध्वनि करने वाले मृदंग, जो निपुण पुरुषों द्वारा बजाए जा रहे थे, की आवाज के साथ] सूर्याभ देव के समान दिव्य भोग योग्य भोगों को भोगता हुआ विचर रहा था। उस समय उसने इस सम्पूर्ण जम्बू द्वीप को अपने विपुल अवधिज्ञान से देखते-देखते राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में भगवान् महावीर को देखा। तव वह परिवार के साथ भगवान् के पास आया और सूर्याभ देव के समान नाटच विधि दिखला कर वापिस लौट गया।

विवेचन—रायपसेणियसूत्र में श्रमण भगवान् महावीर के आमलकल्पा नगरी में पधारने पर सूर्याभ देव के वन्दना के लिए आगमन आदि का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया गया है। वही सब वर्णन यहाँ समझ लेने की सूत्रकार ने सूचना की है। उसका सार इस प्रकार है—

आमलकल्पा नगरी में भगवान् का पदार्पण हुआ। सभी वर्गों की जनता भगवान् की धर्म-देशना श्रवण करने उनके निकट उपस्थित हुई।

उस समय सौधर्मकल्प के सूर्याभ देव ने जम्बूद्वीप की ओर उपयोग लगाया। उसे ज्ञात हुआ कि भगवान् का आमलकल्पा नगरी में पदार्पण हुआ है। तभी उसने भगवान् को वन्दन-नमस्कार करने एवं धर्मदेशना सुनने के लिए आमलकल्पा जाने का निश्चय कर लिया। तत्काल उसने आभियोगिक देवों को बुला कर आदेश दिया—आमलकल्पा नगरी जाओ और नगरी के चारों ओर एक योजन भूमि को पूरी तरह स्वच्छ करो। कहीं कुछ कचरा, घास-फूस आदि न रहने पाए। तत्पश्चात् उस भूमि में सुगन्धयुक्त जल की वर्षा करो और घुटनों तक पुष्पवर्षा करो। एक योजन परिमित भूमि पूर्ण रूप से स्वच्छ और सुगन्धमय वन जाए।

आदेश पाकर आभियोगिक देव विक्रिया करके त्वरित देव गति-से भगवान् के समक्ष उपस्थित हुए। वन्दनादि विधि करके उन्होंने भगवान् को अपना परिचय दिया—'प्रभो! हम सूर्याभ-देव के आभियोगिक देव हैं।' भगवान् ने उत्तर में कहा—'देवो! यह तुम्हारा परम्परागत आचार है, सभी निकायों के देव तीर्थंकरों को वन्दन-नमस्कार करके अपने-अपने नाम-गोत्र का उच्चारण करते हैं।'

देवों ने भगवान् के पास से जाकर संवर्त्तक वायु की विक्रिया की और जैसे कोई अत्यन्त कुशल भृत्य बुहारू से राजा का आंगन आदि साफ करता है, उसी प्रकार उन देवों ने आमलकल्पा के इर्द-गिर्द एक योजन क्षेत्र की सफाई की। वहां जो भी तिनके, पत्ते, घास-फूस कचरा आदि था, उसे एकान्त में दूर जाकर डाल दिया। जब पूरी तरह भूमि स्वच्छ हो गई तो उन्होंने मेघों की विक्रिया की और मन्द-मन्द सुगन्धित जल की वर्षा की। वर्षा से रज आदि उपशान्त हो गई। भूमि शीतल हो गई। तदनन्तर घुटनों तक पुष्प-वर्षा की। इससे एक योजन परिमित क्षेत्र सुगन्ध से मघमघाने लगा।

यह सब करके आभियोगिक देव वापिस लौट गये। सूर्याभ देव को आदेशानुसार कार्य सम्पन्न हो जाने की सूचना दी।

तब सूर्याभ देव ने पदात्यनीकाधिपति—अपनी पैदल सेना के अधिपति देव को बुलाकर आदेश दिया—'सौधर्म विमान की सुधर्मा सभा में, एक योजन के सुस्वर घंटे को तीन वार हिला-हिलाकर घोषणा करो कि—'सूर्याभ देव श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करने जा रहा है, तुम सब भी अपनी ऋद्धि के साथ, अपने-अपने विमानों में आरूढ होकर अविलम्ब उपस्थित होओ।' घोषणा सुनकर सभी देव प्रसन्नता के साथ उपस्थित हो गए।'

तत्पश्चात् सूर्याभ देव ने आभियोगिक देवों को बुलवाकर एक दिव्य तीव्र गति वाले यान-विमान की विक्रिया करने की आज्ञा दी। उसने विमान तैयार कर दिया। मूलपाठ में उस विमान का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। उसे पढ़कर बड़े से बड़े शिल्पशास्त्री भी चकित-विस्मित हुए बिना नहीं रह सकते। संक्षेप में उसका वर्णन होना शक्य नहीं है। विमान का विस्तार एक लाख योजन का था अर्थात् पूरे जम्बू द्वीप के बराबर था।

सूर्याभदेव सपरिवार विमान में आरूढ होकर भगवान् के समक्ष उपस्थित हुआ। वन्दन-नमस्कार आदि करने के पश्चात् सूर्याभदेव ने भगवान् से अनेक प्रकार के नाटक दिखाने की अनुमति चाही। भगवान् मौन रहे। फिर भी देव ने भक्ति के उद्रेक में अनेक प्रकार के नाट्य प्रदर्शित किए तथा संगीत और नृत्य का कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

इस प्रकार भक्ति करके और धर्मदेशना सुनकर सूर्याभदेव अपने स्थान पर चला गया।

सूर्याभ देव संबंधी यह वर्णन दर्दु र देव के लिए भी समझना चाहिए। मात्र 'सूर्याभ' नाम के स्थान पर 'दर्दु र' नाम कह लेना चाहिए।

गौतम स्वामी की जिज्ञासा : भगवान् का उत्तर

५—भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'अहो णं भंते! दद्दुरे देवे महिड्ढिए महज्जुइए महब्बले महायसे महासोक्खे महाणुभागे, दद्दुरस्स णं भंते! देवस्स सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे कहिं गया? कहिं अणुपविट्ठा?'

'गोयमा! सरीरं गया, सरीरं अणुपविट्ठा कूडागारदिट्ठंतो।'

'भगवन्!' इस प्रकार कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—भगवन्! दर्दु र देव महान् ऋद्धिमान् महाद्युतिमान्, महाबलवान्, महायशस्वी, महासुखवान् तथा महान् प्रभाववान् है, तो हे भगवन्! दर्दु र देव की विक्रिया की हुई वह दिव्य देवऋद्धि कहाँ चली गई? कहाँ समा गई?

भगवान् ने उत्तर दिया—'गौतम! वह देव-ऋद्धि शरीर में गई, शरीर में समा गई। इस विषय में कूटागार का दृष्टान्त समझना चाहिए।

विवेचन—कूटागार (कूटाकार) शाला का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—एक कूट (शिखर) के आकार की शाला थी। वह बाहर से गुप्त थी, पर भीतर से लिपीपुती थी। उसके चारों ओर कोट था। उसमें वायु का भी प्रवेश नहीं हो पाता था। उसके समीप बहुत बड़ा जनसमूह रहता था। एक

वार मेघ और तूफान बहुत जोर के आए तो सब लोग उसमें घुस गए और निर्भय हो गए। तात्पर्य यह है कि जैसे सब लोग उस शाला में समा गये, उसी प्रकार देव-ऋद्धि देव के शरीर में समा गई।

६—'दद्दुरेणं भंते! देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी किण्णा लद्धा जाव [किण्णा पत्ता] अभिसमन्नागया?

गौतम स्वामी ने पुनः प्रश्न किया—'भगवान्! दर्दुर देव ने वह दिव्य देव-ऋद्धि किस प्रकार लब्ध की, किस प्रकार प्राप्त की? किस प्रकार वह उसके समक्ष आई?'

दर्दुर देव का पूर्ववृत्तान्त : नन्द मणिकार

७—'एवं खलु गोयमा! इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रायगिहे नामं नयरे होत्था, गुणसीलए चेइए, तस्स णं रायगिहस्स सेणिए नामं राया होत्था। तत्थ णं रायगिहे णंदे णामं मणियारसेट्ठी परिवसइ, अड्ढे दित्ते जाव[1] अपरिभूए।'

भगवान् उत्तर देते हैं—'गौतम। इसी जम्बू द्वीप में, भरत क्षेत्र में, राजगृह नगर था। गुणशील चैत्य था। श्रेणिक राजगृह नगर का राजा था। उस राजगृह नगर में नन्द नामक मणिकार (मणियार) सेठ रहता था। वह समृद्ध था, तेजस्वी था और किसी से पराभूत होने वाला नहीं था।

नन्द की धर्मप्राप्ति

८—तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा समोसढे, परिसा निग्गया, सेणिए वि राया निग्गए। तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे ण्हाए पायचारेणं जाव पज्जुवासइ, णंदे धम्मं सोच्चा समणोवासए जाए। तए णं अहं रायगिहाओ पडिणिक्खंते बहिया जणवयविहारं विहरामि।

हे गौतम! उस काल और उस समय में मैं गुणशील उद्यान में आया। परिषद् वन्दना करने के लिए निकली और श्रेणिक राजा भी निकला। तब नन्द मणियार सेठ इस कथा का अर्थ जान कर अर्थात् मेरे आगमन का वृत्तान्त ज्ञात कर स्नान करके विभूषित होकर, पैदल चलता हुआ आया, यावत् मेरी उपासना करने लगा। फिर वह नन्द धर्म सुनकर श्रमणोपासक हो गया अर्थात् उसने श्रावकधर्म अंगीकार किया। तत्पश्चात् मैं राजगृह से बाहर निकल कर बाहर जनपदों में विचरण करने लगा।

नन्द की मिथ्यात्वप्राप्ति

९—तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी अन्नया कयाई असाहुदंसणेण य अपज्जुवासणाए य अणणुसासणाए य असुस्सूसणाए य सम्मत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं परिहायमाणेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिवड्ढमाणेहिं परिवड्ढमाणेहिं मिच्छत्तं विप्पडिवन्ने जाए यावि होत्था।

तत्पश्चात् नन्द मणिकार श्रेष्ठी साधुओं का दर्शन न होने से, उनकी उपासना न करने से, उनका उपदेश न मिलने से, और वीतराग के वचन सुनने की इच्छा न होने से, क्रमशः सम्यक्त्व के पर्यायों की धीरे-धीरे हीनता होती चली जाने से और मिथ्यात्व के पर्यायों की क्रमशः वृद्धि होते रहने से, एक बार किसी समय, मिथ्यात्वी हो गया।

---

१. अ. ५, सूत्र ६

नन्द का पुष्करिणी-निर्माण-मनोरथ

१०—तए णं णंदे मणियारसेट्ठी अन्नया गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलंसि मासंसि अट्ठमभत्तं परिगेण्हइ, परिगेण्हित्ता पोसहसालाए जाव [पोसहिए बंभयारी उम्मुक्कमणि-सुवण्णे ववगयमाला-वण्णग-विलेवणे निक्खित्तसत्थ-मुसले एगे अबीए दब्भसंथारोवगए] विहरइ।

तए णं णंदस्स अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि तण्हाए छुहाए य अभिभूयस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'धन्ना णं ते जाव [ईसरपभियओ संपुण्णा णं ते ईसर-पभियओ कयत्था णं ते ईसरपभियओ कयपुण्णा णं ते ईसरपभियओ कयलक्खणा णं ते ईसरपभियओ कयविभवा णं ते] ईसरपभिइओ जेसिं णं रायगिहस्स बहिया बहूओ वावीओ पोक्खरणीओ जाव [दीहियाओ गुंजालियाओ सरपंतियाओ] सरसरपंतियाओ जत्थ णं बहुजणो ण्हाइ य पियइ य पाणियं च संवहंति। तं सेयं खलु ममं कल्लं पाउप्पभायाए सेणियं रायं आपुच्छित्ता रायगिहस्स नयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए वेभारपव्वयस्स अदूरसामंते वत्थुपाढगरोइयंसि भूमिभागंसि नंदं पोक्खरिणिं खणावेत्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ।

तत्पश्चात् नन्द मणिकार श्रेष्ठी ने किसी समय ग्रीष्म ऋतु के अवसर पर, ज्येष्ठ मास में अष्टम भक्त (तेला) अंगीकार किया। अंगीकार करके वह पौषधशाला में [ब्रह्मचर्यपूर्वक, मणि-सुवर्ण के आभूषणों का त्याग करके, माला, वर्णक, विलेपन का तथा आरंभ-समारंभ का त्याग कर एकाकी, अद्वितीय, दर्भ के संस्तारक पर आसीन होकर] विचरने लगा।

तत्पश्चात् नन्द श्रेष्ठी का अष्टमभक्त जब परिणत हो रहा था—पूरा होने को था, तब प्यास और भूख से पीड़ित हुए उसके मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—'वे यावत् ईश्वर सार्थवाह आदि धन्य हैं, वे ईश्वर आदि पुण्यशाली हैं, वे ईश्वर आदि कृतार्थ हैं, उन ईश्वर आदि ने पुण्य उपार्जित किया है, वे ईश्वर आदि सुलक्षणसम्पन्न हैं, वे ईश्वर आदि वैभवशाली हैं, जिनकी राजगृह नगर से बाहर बहुत सी बावड़ियाँ हैं, पुष्करिणियाँ हैं, यावत् [दीर्घिकाएं—लम्बी बावड़ियाँ, गुंजालि-काएं-कमल युक्त बावड़ियां हैं, सरोवर हैं] सरोवरों की पंक्तियाँ हैं, जिनमें बहुतेरे लोग स्नान करते हैं, पानी पीते हैं और जिनसे पानी भर ले जाते हैं। तो मैं भी कल प्रभात होने पर श्रेणिक राजा की आज्ञा लेकर राजगृह नगर से बाहर, उत्तरपूर्व दिशा में, वैभार पर्वत से कुछ समीप में, वास्तु शास्त्र के पाठकों के पसंद किये हुए भूमिभाग में नंदा पुष्करिणी खुदवाऊँ, यह मेरे लिए उचित होगा।' नन्द श्रेष्ठी ने इस प्रकार विचार किया।

राजाज्ञाप्राप्ति

११—एवं संपेहित्ता कल्लं पाउप्पभायाए जाव [रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते] पोसहं पारेइ, पारित्ता ण्हाए कयबलिकम्मे मित्तणाइ जाव संपरिवुडे महत्थं जाव [महग्घं महरिहं रायारिहं] पाहुडं गेण्हइ, गेण्हित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जाव पाहुडं उवट्ठवेइ, उवट्ठवित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं सामी! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाए समाणे रायगिहस्स बहिया जाव खणावेत्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया।'

इस प्रकार विचार करके, दूसरे दिन प्रभात होने पर [एवं सहस्ररश्मि दिवाकर के तेज से जाज्वल्यमान होने पर] पौषध पारा। पौषध पार कर स्नान किया, बलिकर्म किया, फिर मित्र ज्ञाति

आदि से यावत् परिवृत होकर बहुमूल्य और राजा के योग्य उपहार लिया और श्रेणिक राजा के पास पहुँचा। उपहार राजा के समक्ष रक्खा और इस प्रकार कहा—'स्वामिन् ! आपकी अनुमति पाकर राजगृह नगर के बाहर यावत् पुष्करिणी खुदवाना चाहता हूँ।'

राजा ने उत्तर दिया—'जैसे सुख उपजे, वैसा करो।'

पुष्करिणीवर्णन

१२—तए णं णंदे सेणिएणं रण्णा अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठ-तुट्ठ रायगिहं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता वत्थुपाढयरोइयंसि भूमिभागंसि णंदं पोक्खरिणिं खणाविउं पयत्ते यावि होत्था।

तए णं सा णंदा पोक्खरिणी अणुपुव्वेणं खणमाणा[1] खणमाणा पोक्खरिणी जाया यावि होत्था—चाउक्कोणा, समतीरा, अणुपुव्वसुजायवप्पसीयलजला, संछण्णपत्त-बिस-मुणाला बहुप्पल-पउम-कुमुद-नलिणी-सुभग-सोगंधिय-पुंडरीय-महापुंडरीय-सयपत्त-सहस्सपत्त-पफुल्लकेसरोववेया परिहत्थ-भमंत-मत्तछप्पय-अणेग-सउणगण-मिहुण-वियरिय-सद्दुन्नइय-महुरसरनाइया पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

तत्पश्चात् नन्द मणिकार सेठ श्रेणिक राजा से आज्ञा प्राप्त करके हृष्ट-तुष्ट हुआ। वह राजगृह नगर के बीचों बीच होकर निकला। निकल कर वास्तुशास्त्र के पाठकों (शिल्प शास्त्र के ज्ञाताओं) द्वारा पसंद किए हुए भूमिभाग में नंदा नामक पुष्करिणी खुदवाने में प्रवृत्त हो गया—उसने पुष्करिणी का खनन-कार्य आरंभ करवा दिया।

तत्पश्चात् नंदा पुष्करिणी अनुक्रम से खुदती-खुदती चतुष्कोण और समान किनारों वाली पूरी पुष्करिणी हो गई। अनुक्रम से उसके चारों ओर घूमा हुआ परकोटा बन गया, उसका जल शीतल हुआ। जल पत्तों, बिसतंतुओं और मृणालों से आच्छादित हो गया। वह वापी बहुत से खिले हुए उत्पल (कमल)' पद्म (सूर्यविकासी कमल), कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) नलिनी (कमलिनी-सुन्दर कमल), सुभग जातीय कमल, सौगंधिक कमल, पुण्डरीक (श्वेत कमल), महापुण्डरीक, शतपत्र (सौ पंखुड़ियों वाले) कमल, सहस्रपत्र (हजार पंखुड़ियों वाले) कमल की केसर से युक्त हुई। परिहत्थ नामक जल-जंतुओं, भ्रमण करते हुए मदोन्मत्त भ्रमरों और अनेक पक्षियों के युगलों द्वारा किये हुए शब्दों से उन्नत और मधुर स्वर से वह पुष्करिणी गूंजने लगी। वह सब के मन को प्रसन्न करने वाली दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हो गई।

वनखण्डों का निर्माण

१३—तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी णंदाए पोक्खरिणीए चउद्दिसिं चत्तारि वणसंडे रोवावेइ। तए णं ते वणसंडा अणुपुव्वेणं सारक्खिज्जमाणा य संगोविज्जमाणा य संवड्ढियमाणा य वणसंडा जाया—किण्हा जाव[2] निकुरंबभूया पत्तिया पुप्फिया जाव [फलिया हरियगरेरिज्जमाणा सिरीए अईव] उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।

तत्पश्चात् नंद मणिकार श्रेष्ठी ने नंदा पुष्करिणी की चारों दिशाओं में चार वनखण्ड-रुपवाये-लगवाये। उन वनखण्डों की क्रमशः अच्छी रखवाली की गई, संगोपन—सार-सँभाल की गई,

१. पाठान्तर-खम्ममाणा खम्ममाणा २. अ. ७ सूत्र. ११

अच्छी तरह उन्हें बढ़ाया गया, अतएव वे वनखण्ड कृष्ण वर्ण वाले तथा गुच्छा रूप हो गये—खूब हो गये। वे पत्तों वाले, पुष्पों वाले यावत् (फलों से युक्त हरे-भरे और अपनी सुन्दरता से अतीव अतीव) शोभायमान हो गये।

चित्रसभा

१४—तए णं नंदे मणियारसेट्ठी पुरच्छिमिल्ले वणसंडे एगं महं चित्तसभं कारावेइ, अणेग-खंभसयसंनिविट्ठं पासादीयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं। तत्थ णं बहूणि किण्हाणि य जाव (नीलाणि य लोहियाणि य हालिद्दाणि य) सुक्किलाणि य कट्ठकम्माणि य पोत्थकम्माणि य चित्तकम्माणि य लिप्पकम्माणि य गंथिम-वेढिम-पूरिम-संघाइमाइं उवदंसिज्जमाणाइं उवदंसिज्ज-माणाइं चिट्ठंति।

तत्पश्चात् नंद मणियार सेठ ने पूर्व दिशा के वनखण्ड में एक विशाल चित्रसभा बनवाई। वह कई सौ खंभों की बनी हुई थी, प्रसन्नताजनक थी, दर्शनीय थी, अभिरूप थी और प्रतिरूप थी। उस चित्रसभा में बहुत-से कृष्ण वर्ण वाले यावत् नील, रक्त, पीत और शुक्ल वर्ण वाले काष्ठकर्म थे—पुतलियाँ वगैरह बनी थीं, पुस्तकर्म—वस्त्रों के पर्दे आदि थे, चित्रकर्म थे, लेप्यकर्म—मिट्टी के पुतले आदि थे, ग्रंथित कर्म थे—डोरा गूंथ कर बनाई हुई कलाकृतियाँ थीं, वेष्टितकर्म-फूलों की गेंद की तरह लपेट-लपेट कर बनाई हुई कलाकृतियाँ थीं, इसी प्रकार पूरिमकर्म (स्वर्ण-प्रतिमा के समान) और संघातिमकर्म—जोड़-जोड़ कर बनाई कलाकृतियाँ थीं। वे कलाकृतियाँ इतनी सुन्दर थीं कि दर्शकगण उन्हें एक दूसरे को दिखा-दिखा कर वर्णन करते थे।

१५—तत्थ णं बहूणि आसणाणि य सयणीयाणि य अत्थुयपच्चत्थुयाइं चिट्ठंति। तत्थ णं बहवे नडा य णट्टा य जाव (जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंवग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिया य) दिन्नभइभत्तवेयणा तालायरकम्मं करेमाणा विहरंति। रायगिहविणिग्गओ एत्थ[1] बहू जणो तेसु पुव्वन्नत्थेसु आसणसयणेसु संनिसन्नो य संतुयट्टो य सुणमाणो य पेच्छमाणो य साहेमाणो य सुहंसुहेणं विहरइ।

उस चित्रसभा में बहुत-से आसन (बैठने योग्य) और शयन (लेटने-सोने के योग्य) निरन्तर बिछे रहते थे। वहाँ बहुत-से नाटक करने वाले और नृत्य करने वाले, राजा की स्तुति करने वाले, मल्ल-कुश्ती लड़ने वाले, मुष्ठियुद्ध करने वाले, विदूषक, कथा-कहानी सुनाने वाले, प्लवक-तैराक-नदी में तैरने वाले, रास गाने वाले—रासलीला दिखाने वाले, अथवा भांड, आख्यायिक-शुभ-अशुभ फल का निर्देश करने वाले—ज्योतिषी, लंख-ऊँचे बांस पर चढ़कर खेल करने वाले, मंख-चित्रपट हाथ में लेकर भिक्षा मांगने वाले, तूण नामक वाद्य बजाने वाले तथा तूंबे की वीणा बजाने वाले पुरुष, जीविका भोजन एवं वेतन देकर रखे हुए थे। वे तालाचर (एक प्रकार का नाटक) किया करते थे। राजगृह से बाहर सैर के लिए निकले हुए बहुत लोग उस जगह आकर पहले से ही बिछे हुए आसनों और शयनों पर बैठकर और लेट कर कथा वार्त्ता सुनते थे और नाटक आदि देखते थे और वहां की शोभा (आनन्द) का अनुभव करते हुए सुखपूर्वक विचरण करते थे।

---

१. पाठान्तर-एत्थ, तत्थ णं।

महानसशाला

१६—तए णं णंदे मणियारसेट्ठी दाहिणिल्ले वणसंडे एगं महं महाणससालं कारावेइ, अणेगखंभसयसन्निविट्ठं जाव पडिरूवं। तत्थ णं बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेंति, बहूणं समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगाणं परिभाएमाणा परिभाएमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् नंद मणियार सेठ ने दक्षिण तरफ के वनखंड में एक बड़ी महानसशाला (भोजन-शाला) बनवाई। वह भी अनेक सैकड़ों खंभों वाली यावत् प्रतिरूप (अत्यन्त सुन्दर) थी। वहाँ भी बहुत-से लोग जीविका, भोजन और वेतन देकर रक्खे गये थे। वे विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार पकाते थे और बहुत-से श्रमणों, ब्राह्मणों, अतिथियों, दरिद्रों और भिखारियों को देते रहते थे।

चिकित्साशाला

१७—तए णं णंदे मणियारसेट्ठी पच्चत्थिमिल्ले वणसंडे एगं महं तेगिच्छियसालं कारेइ, अणेगखंभसयसन्निविट्ठं जाव पडिरूवं। तत्थ णं बहवे वेज्जा य, वेज्जपुत्ता य, जाणुया य, जाणुयपुत्ता य, कुसला य, कुसलपुत्ता य, दिन्नभइभत्तवेयणा बहूणं वाहियाणं, गिलाणाण य, रोगियाण य, दुब्बलाण य, तेइच्छं करेमाणा विहरंति। अण्णे य एत्थ बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्तवेयणा तेसिं बहूणं वाहियाणं य रोगियाणं य, गिलाणाण य, दुब्बलाण य ओसह-भेसज्जं-भत्त-पाणेणं पडियारकम्मं करेमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् नन्द मणिकार सेठ ने पश्चिम दिशा के वनखण्ड में एक विशाल चिकित्साशाला (औषधालय) बनवाई। वह भी अनेक सौ खंभों वाली यावत् मनोहर थी। उस चिकित्साशाला में बहुत-से वैद्य, वैद्यपुत्र, ज्ञायक (वैद्यक शास्त्र न पढ़ने पर भी अनुभव के आधार से चिकित्सा करने वाले अनुभवी) ज्ञायकपुत्र, कुशल (अपने तर्क से ही चिकित्सा के ज्ञाता) और कुशलपुत्र आजीविका, भोजन और वेतन पर नियुक्त किये हुए थे। वे बहुत-से व्याधितों (शोक आदि से उत्पन्न चित्त-पीड़ा से पीड़ितों) की, ग्लानों (अशक्तों) की, रोगियों (ज्वर आदि से ग्रस्तों) की, और दुर्बलों की चिकित्सा करते रहते थे। उस चिकित्साशाला में दूसरे भी बहुत-से लोग आजीविका, भोजन और वेतन देकर रक्खे गए थे। वे उन व्याधितों, रोगियों, ग्लानों, और दुर्बलों की औषध (एक द्रव्य रूप) भेषज (अनेक द्रव्यों से बनी दवा) भोजन और पानी से सेवा-शुश्रूसा करते थे।

अलंकारसभा

१८—तए णं णंदे मणियारसेट्ठी उत्तरिल्ले वणसंडे एगं महं अलंकारियसभं कारेइ, अणेगखंभसयसन्निविट्ठं जाव पडिरूवं। तत्थ णं बहवे अलंकारियपुरिसा दिन्नभइ-भत्त-वेयणा बहूणं समणाण य, अणाहाण य, गिलाणाण य, रोगियाण य, दुब्बलाण य अलंकारियकम्मं करेमाणा करेमाणा विहरंति।

तत्पश्चात् नंद मणियार सेठ ने उत्तर दिशा के वनखण्ड में एक बड़ी अलंकारसभा (हजामत आदि की सभा) बनवाई। वह भी अनेक सैकड़ों स्तंभों वाली यावत् मनोहर थी। उसमें बहुत-से आलंकारिक पुरुष (शरीर का शृंगार करने वाले प्रभृति पुरुष) जीविका, भोजन और वेतन देकर रखे गये थे। वे बहुत-से श्रमणों, अनाथों, ग्लानों, रोगियों और दुर्बलों का अलंकार कर्म (शरीर की शोभा बढ़ाने के कार्य) करते थे।

१६—तए णं तीए णंदाए पोक्खरिणीए बहवे सणाहा य, अणाहा य, पंथिया य, पहिया य, करोडिया य, कारिया य, तणाहारा य, पत्तहारा य, कट्ठहारा य अप्पेगइया ण्हायंति, अप्पेगइया पाणियं पियंति, अप्पेगइया पाणियं संवहंति, अप्पेगइया विसज्जियसेय-जल्ल-मल्ल-परिस्सम-निद्द-खुप्पिवासा सुहंसुहेणं विहरंति।

रायगिहविणिग्गओ वि जत्थ बहुजणो, किं ते ? जलरमण-विविह-मज्जण-कयलिलयाघरय-कुसुमसत्थरय—अणेगसउणगणरुयरिभितसंकुलेसु सुहंसुहेणं अभिरममाणो अभिरममाणो विहरइ।

उस नंदा पुष्करिणी में बहुत-से सनाथ, अनाथ, पथिक, पांथिक, करोटिका (कावड़ उठाने वाले), घसियारे, पत्तों के भार वाले, लकड़हारे आदि आते थे। उनमें से कोई-कोई स्नान करते थे, कोई-कोई पानी पीते थे और कोई-कोई पानी भर ले जाते थे। कोई-कोई पसीने, जल्ल (प्रवाही मैल), मल (जमा हुआ मैल) परिश्रम, निद्रा, क्षुधा और पिपासा का निवारण करके सुखपूर्वक रहते थे।

नंदा पुष्करिणी में राजगृह नगर से भी निकले-आये हुए बहुत-से लोग क्या करते थे ? वे लोग जल में रमण करते थे, विविध प्रकार से स्नान करते थे, कदलीगृहों, लतागृहों, पुष्पशय्या और अनेक पक्षियों के समूह के मनोहर शब्दों से युक्त नन्दा पुष्करिणी और चारों वनखंडों में क्रीडा करते-करते विचरते थे।

विवेचन—नंद मणिकार ने अपने अष्टमभक्त पौषध के अन्तिम समय में तृषा से पीड़ित होकर पुष्करिणी खुदवाने का विचार किया। इससे पूर्व यह उल्लेख आ चुका है कि वह साधुओं के दर्शन न करने, उनका समागम न करने एवं धर्मोपदेश नहीं सुनने आदि के कारण सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्वी बन गया था। इस वर्णन से किसी को ऐसा भ्रम हो सकता है कि पुष्करिणी खुदवाना तथा औषधशाला आदि की स्थापना करना करवाना मिथ्यादृष्टि का कार्य है—सम्यदृष्टि का नहीं, अन्यथा उसके मिथ्यादृष्टि हो जाने का उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ?

किंतु इस प्रकार का निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है, यथार्थ भी नहीं है। यह तो नंद के जीवन में घटित एक घटना का उल्लेख मात्र है। दूसरे, १० वें सूत्र में पोषध संबंधी अनिवार्य नियमों का उल्लेख किया गया है, जिनमें एक नियम आरंभ-समारंभ का परित्याग करना भी सम्मिलित है। नंद श्रेष्ठी को पोषध की अवस्था में आरंभ-समारंभ करने का विचार-चिन्तन-निश्चय नहीं करना चाहिए था। किन्तु उसने ऐसा किया और उसकी न आलोचना की, न प्रायश्चित्त किया। उसने एक त्याज्य कर्म को—पोषध-अवस्था में आरंभ करने को अत्याज्य समझा, यह विपरीत समझ उसके मिथ्यादृष्टि होने का लक्षण है, परन्तु कुवा, बावड़ी आदि खुदवाना या दानशाला आदि परोपकार के कार्य मिथ्यादृष्टि के कार्य नहीं समझने चाहिए। साधुओं के लिए भी ऐसे परोपकार के कार्य करने का निषेध न करने का आगम-आदेश है। सूत्रकृतांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध (अध्ययन ११) में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त 'रायपसेणिय' सूत्र में कहा गया है कि राजा प्रदेशी जब अपने घोर अधार्मिक जीवन में परिवर्तन करके केशीकुमार श्रमण द्वारा धर्मबोध प्राप्त करके धर्म-निष्ठ बन जाता है तब वह अपनी सम्पत्ति के चार विभाग करता है—एक सैन्य संबंधी व्यय के लिए, दूसरा कोठार-भंडार में जमा करने के लिए, तीसरा अन्तःपुर—परिवार के व्यय के लिए और चौथा सार्वजनिक हित-परोपकार के लिए। उससे वह दानशाला आदि की स्थापना करता है।

विशेषत: आधुनिक काल में अध्यात्म के नाम पर धर्म की सीमाओं को अत्यन्त संकुचित वनाया जा रहा है, धर्म का संवंध सिर्फ आत्मार्थ (स्वार्थ) के साथ जोड़ा जा रहा है, जनसेवा, दया, दान, परोपकार आदि को धर्म की सीमा से वाहर रक्खा जाता है, यह दृष्टिकोण अनेकान्तमय जैनधर्म के अनुकूल नहीं है।

नन्द की प्रशंसा

२०—तए णं णंदाए पोक्खरिणीए बहुजणो ण्हायमाणो य, पीयमाणो य, पाणियं च संवहमाणो य अन्नमन्नं एवं वयासी—'धण्णे णं देवाणुप्पिया ! णंदे मणियारसेट्ठी, कयत्थे जाव [णं देवाणुप्पिया ! नंदे मणियारसेट्ठी, कयलक्खणे णं देवाणुप्पिया नंदे मणियारसेट्ठी, कयपुण्णे णं देवाणुप्पिया नंदे मणियारसेट्ठी, कया णं लोया, सुलद्धे माणुस्सए] जम्मजीवियफले, जस्स णं इमेयारूवा णंदा पोक्खरिणी चाउक्कोणा जाव पडिरूवा, जस्स णं पुरत्थिमिल्ले तं चेव सव्वं, चउसु वि वणसंडेसु जाव रायगिहविणिग्गओ जत्थ बहुजणो आसणेसु य सयणेसु य सन्निसन्नो य संतुयट्टो य पेच्छमाणो य साहेमाणो य सुहंसुहेणं विहरइ, तं धन्ने कयत्थे कयपुन्ने, कया णं लोया ! सुलद्धे माणुस्सए जम्म-जीवियफले नंदस्स मणियारस्स।'

तए णं रायगिहे संघाडग जाव[1] बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ-धण्णे णं देवाणुप्पिया ! णंदे मणियारे सो चेव गमओ जाव सुहंसुहेण विहरइ।

तए णं णंदे मणियारे बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा हट्ठतुट्ठे धाराहयकलंवगं पिव समूससियरोमकूवे परं सायासोक्खमणुभवमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् नंदा पुष्करिणी में स्नान करते हुए, पानी पीते हुए और पानी भर कर ले जाते हुए वहुत-से लोग आपस में इस प्रकार कहते थे—'हे देवानुप्रिय ! नन्द मणियार सेठ धन्य है, [नंद मणियार सेठ कृतार्थ है, नंद मणियार सेठ कृतलक्षण है, नंद मणियार ने इह—परलोक सफल कर लिया है।] उसका जन्म और जीवन सफल है, जिसकी इस प्रकार की चौकोर यावत् मनोहर यह नंदा पुष्करिणी है; जिसकी पूर्व दिशा में वनखण्ड है—इत्यादि पूर्वोक्त चारों वनखण्डों और उनमें वनी हुई चारों शालाओं का वर्णन यहाँ कहना चाहिए। यावत् राजगृह नगर से भी वाहर निकल कर वहुत-से लोग आसनों पर वैठते हैं, शयनीयों पर लेटते हैं, नाटक आदि देखते हैं और कथा-वार्त्ता कहते हैं और सुख-पूर्वक विहार करते हैं। अतएव नन्द मणियार का मनुष्य भव सुलव्ध-सराहनीय है और उसका जीवन तथा जन्म भी सुलव्ध है।'

उस समय राजगृह नगर में भी शृंगाटक आदि मार्गों में अर्थात् गली-गली में वहुतेरे लोग परस्पर इस प्रकार कहते थे—देवानुप्रिय ! नंद मणियार धन्य है, इत्यादि पूर्ववत् ही कहना चाहिए, यावत् जहाँ आकर लोग सुखपूर्वक विचरते हैं।

तव नंद मणियार वहुत-से लोगों से यह अर्थ (अपनी प्रशंसा की वातें) सुन कर हृष्ट-तुष्ट हुआ। मेघ की धारा से आहत कदम्व वृक्ष के समान उसके रोमकूप विकसित हो गये—उसकी कली-कली खिल उठी। वह साताजनित परम सुख का अनुभव करने लगा।

---

१. प्रथम अध्य. ७७.

नन्द की रुग्णता

२१—तए णं तस्स नंदस्स मणियारसेट्ठिस्स अन्नया कयाई सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्भूया, तंजहा—

सासे कासे जारे दाहे, कुच्छिसूले भगंदरे।
अरिसा अजीरए दिट्ठि—मुद्धसूले अगारए[1]॥ १॥
अच्छिवेयणा कन्नवेयणा कंडू दउदरे कोढे।

तए णं से णंदे मणियारसेट्ठी सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूते समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! रायगिहे नयरे सिंघाडग जाव[2] महापहपहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह—'एवं खलु देवाणुप्पिया! णंदस्स मणियार-सेट्ठिस्स सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्भूया, तंजहा—सासे य जाव कोढे। तं जो णं इच्छइ देवाणुप्पिया! वेज्जो वा वेज्जपुत्तो वा जाणुओ वा जाणुअपुत्तो वा कुसलो वा कुसलपुत्तो वा नंदस्स मणियारस्स तेसिं च सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामेत्तए, तस्स णं देवाणुप्पिया! नंदे मणियारे विउलं अत्थसंपयाणं दलयइ त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि घोसणं घोसेह। घोसित्ता जाव [एयमाणत्तियं] पच्चप्पिणह।' ते वि तहेव पच्चप्पिणंति।

कुछ समय के पश्चात् एक वार नंद मणियार सेठ के शरीर में सोलह रोगातंक अर्थात् ज्वर आदि रोग और शूल आदि आतंक उत्पन्न हुए। वे इस प्रकार थे—(१) श्वास (२) कास-खांसी (३) ज्वर (४) दाह-जलन (५) कुक्षि-शूल-कूंख का शूल (६) भगंदर (७) अर्श-बवासीर (८) अजीर्ण (९) नेत्रशूल (१०) मस्तकशूल (११) भोजनविषयक अरुचि (१२) नेत्रवेदना (१३) कर्णवेदना (१४) कंडू-खाज (१५) दकोदर—जलोदर और (१६) कोढ़।

नंद मणियार इन सोलह रोगतंकों से पीड़ित हुआ। तब उसने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और कहा—'देवानुप्रियो! तुम जाओ और राजगृह नगर में शृंगाटक यावत् छोटे-मोटे मार्गों में अर्थात् गली-गली में ऊँची आवाज से घोषणा करते हुए कहो कि—हे देवानुप्रियो! नंद मणियार श्रेष्ठी के शरीर में सोलह रोगातंक उत्पन्न हुए हैं, यथा-श्वास से कोढ़ तक। तो हे देवानु-प्रियो! जो कोई वैद्य या वैद्यपुत्र, जानकार या जानकार का पुत्र, कुशल या कुशल का पुत्र, नंद मणियार के उन सोलह रोगातंकों में से एक भी रोगातंक को उपशान्त करना चाहे—मिटा देगा, देवानुप्रियो! नंद मणियार उसे विपुल धन-सम्पत्ति प्रदान करेगा।' इस प्रकार दूसरी वार और तीसरी वार घोपणा करो। घोपणा करके मेरी यह आज्ञा वापिस लौटाओ। कौटुम्बिक पुरुषों ने आज्ञानुसार कार्य करके अर्थात् राजगृह की गली-गली में घोषणा करके आज्ञा वापिस सौंपी।

२२—तए णं रायगिहे नयरे इमेयारूवं घोसणं सोच्चा णिसम्म वहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाव कुसलपुत्ता य सत्थकोस हत्थगया य सिलियाहत्थगया य गुलियाहत्थगया य ओसहभेसज्ज-हत्थगया य सएहिं सएहिं गेहेहिंतो निक्खमंति, निक्खमित्ता रायगिहं मज्झंमज्झेणं जेणेव णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स गिहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स सरीरं पासंति,

१. पाठान्तर—'अकारए।' २ प्र. अ: ७७.

तेसिं रोगायंकाणं नियाणं पुच्छंति, णंदस्स मणियारसेट्ठिस्स बहूहिं उव्वलणेहि य उव्वट्टणेहि य सिणेहपाणेहि य वमणेहि य विरेयणेहि य सेयणेहि य अवदहणेहि य अवण्हाणेहि य अणुवासणेहि य वत्थिकम्मेहि य निरूहेहि य सिरावेहेहि य तच्छणाहि य पच्छणाहि य सिरावेढेहि य तप्पणाहि य पुढ-(ट) वाएहि य छल्लीहि य वल्लीहि य मूलेहि य कंदेहि य पत्तेहि य पुप्फेहि य फलेहि य बीएहि य सिलियाहि य गुलियाहि य ओसहेहि य भेसज्जेहि य इच्छंति तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए। नो चेव णं संचाएंति उवसामेत्तए।

राजगृहनगर में इस प्रकार की घोषणा सुनकर और हृदय में धारण करके वैद्य, वैद्यपुत्र, यावत् कुशलपुत्र हाथ में शस्त्रकोश (शस्त्रों की पेटी) लेकर, शिलिका (शस्त्रों को तीखा करने का पाषाण) हाथ में लेकर, गोलियाँ हाथ में लेकर और औषध तथा भेषज हाथ में लेकर अपने अपने घरों से निकले। निकल कर राजगृह के बीचोंबीच होकर नंद मणियार के घर आए। उन्होंने नन्द मणियार के शरीर को देखा और नन्द मणियार से रोग उत्पन्न होने का कारण पूछा। फिर उद्वलन (एक विशेष प्रकार के लेप) द्वारा, उद्वर्तन (उबटन जैसे लेप) द्वारा, स्नेह पान [औषधियाँ डाल कर पकाये हुए घी-तेल आदि) द्वारा, वमन द्वारा, विरेचन द्वारा, स्वेदन से (पसीना निकाल कर), अवदहन से (डाम लगा कर), अपस्नान (जल में चिकनापन दूर करने वाली वस्तुएँ मिलाकर किये हुए स्नान) से, अनुवासना से (गुदा मार्ग से चमड़े के यंत्र द्वारा उदर में तेल आदि पहुँचा कर) वस्तिकर्म से (गुदा में वत्ती आदि डाल कर भीतरी सफाई करके), निरुह द्वारा (चर्म यंत्र का प्रयोग करके, अनुवासना की तरह गुदामार्ग से पेट में कोई वस्तु पहुँचा कर), शिरावेध से (नस काट कर रक्त निकालकर या रक्त ऊपर से डाल कर), तक्षण से (छुरा आदि से चमड़ी आदि छील कर) प्रक्षण (थोड़ी चमड़ी काटने) से, शिरावेध से (मस्तक पर बांधे चमड़े पर पकाए हुए तेल आदि के सिंचन से), तर्पण (स्निग्ध पदार्थों के चुपड़ने) से, पुटपाक (आग में पकाई औषधों) से, पत्तों से, रोहिणी आदि की छालों से, गिलोय आदि वेलों से, मूलों से, कंदों से, पुष्पों से, फलों से, बीजों से, शिलिका (घास विशेष) से, गोलियों से, औषधों से, भेषजों से (अनेक औषधें मिला कर तैयार की हुई दवाओं) से, उन सोलह रोगातंकों में से एक-एक रोगातंक को उन्होंने शान्त करना चाहा, परन्तु वे एक भी रोगातंक को शान्त करने में समर्थ न हो सके।

विवेचन—प्राचीन काल में आयुर्वेद-चिकित्सा पद्धति कितनी विकसित थी, चिकित्सा के कितने रूप प्रचलित थे, यह तथ्य प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट विदित किया जा सकता है। आयुर्वेद का इतिहास लिखने में यह उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। आधुनिक एलोपैथी के लगभग सभी रूप इसमें समाहित हो जाते हैं, यहीं नहीं बल्कि अनेक रूप तो ऐसे भी हैं जो आधुनिक पद्धति में भी नहीं पाये जाते। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक यंत्रों के अभाव में भी आयुर्वेद खूब विकसित हो चुका था।

नन्द मणिकार की मृत्यु : पुनर्जन्म

२३—तए णं ते बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणुया य जाणुयपुत्ता य कुसला य कुसलपुत्ता य जाहे नो संचाएंति तेसिं सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामेत्तए ताहे संता तंता जाव परितंता निव्विण्णा समाणा जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया।

तए णं णंदे तेहिं सोलसेहिं रोगायंकेहि अभिभूए समाणे नंदा—पोक्खरिणीए मुच्छिए तिरिक्ख-जोणिएहिं निबद्धाउए, बद्धपएसिए अट्टदुहट्टवसट्टे कालमासे कालं किच्चा नंदाए पोक्खरिणीए दद्दुरीए कुच्छिसि दद्दुरत्ताए उववन्ने।

तत्पश्चात् बहुत-से वैद्य, वैद्यपुत्र, जानकार, जानकारों के पुत्र, कुशल और कुशलपुत्र, जब उन सोलह रोगों में से एक भी रोग को उपशान्त करने में समर्थ न हुए तो थक गये. खिन्न हुए, यावत् (अत्यन्त खिन्न हुए और उदास होकर जिधर से आए थे उधर ही) अपने-अपने घर लौट गये।

नन्द मणिकार उन सोलह रोगातंकों से अभिभूत हुआ और नन्दा पुष्करिणी में अतीव मूर्छित हुआ। इस कारण उसने तिर्यंच योनि सम्बन्धी आयु का बन्ध किया, प्रदेशों का बन्ध किया। आर्त्त ध्यान के वशीभूत होकर मृत्यु के समय में काल करके, उसी नन्दा पुष्करिणी में, एक मेंढकी की कूंख में मेंढक के रूप में उत्पन्न हुआ।

विवेचन—गृद्धि, आसक्ति, मोह या राग—इसे किसी भी शब्द से कहा जाय, आत्मा को मलीन बनाने एवं आत्मा के अधःपतन का एक प्रधान कारण है। नन्द मणिकार ने पुष्करिणी बनवाई, चार शालाएं स्थापित कीं। इनमें अर्थ का व्यय किया, अर्थ का व्यय करने पर भी वह यश—कीर्ति की कामना और पुष्करिणी सम्बन्धी आसक्ति का परित्याग न कर सका। कीर्त्ति-कामना से प्रेरित होकर ही उसने अपनी बनवाई पुष्करिणी का नाम अपने नाम पर ही 'नन्दा' रक्खा। इस महान् दुर्बलता के कारण उसका धन-त्याग एक प्रकार का व्यापार-धन्धा बन गया। त्यागे धन के बदले उसने कीर्ति उपार्जित करना चाहा। यश—कीर्ति सुनकर हर्षित होने लगा। अन्तिम समय में भी वह नन्दा पुष्करिणी में आसक्त रहा। इस आसक्तिभाव ने उसे ऊपर चढ़ने के बदले नीचे गिरा दिया। वह उसी पुष्करिणी में मण्डूक-पर्याय में उत्पन्न हुआ।

मूल पाठ में 'निबद्धाउए' और 'बद्धपएसिए' इन दो पदों का प्रयोग हुआ है। टीकाकार के अनुसार दोनों पद चार प्रकार के बन्ध के सूचक हैं। 'बद्धाउए' पद से प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध सूचित किये गये हैं और 'बद्धपएसिए' पद से प्रदेशबन्ध का कथन किया गया है।

२४—तए णं णंदे दद्दुरे गब्भाओ विणिम्मुक्के समाणे उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुपत्ते नंदाए पोक्खरिणीए अभिरममाणे अभिरममाणे विहरइ।

तत्पश्चात् नन्द मण्डूक गर्भ से बाहर निकला और अनुक्रम से बाल्यावस्था से मुक्त हुआ। उसका ज्ञान परिणत हुआ—वह समझदार हो गया और यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। तब नन्दा पुष्करिणी में रमण करता विचरने लगा।

मेंढक को जातिस्मरणज्ञान

२५—तए णं णंदाए पोक्खरिणीए बहू जणे ण्हायमाणो अ पियमाणो य पाणियं संवहमाणो य अन्नमन्नस्स एवं आइक्खइ—'धन्ने णं देवाणुप्पिया! णंदे मणियारे जस्स णं इमेयारूवा णंदा पुक्खरिणी चाउक्कोणा जाव पडिरूवा, जस्स णं पुरत्थिमिल्ले वणसंडे चित्तसभा अणेगखंभसयसन्निविट्ठा तहेव चत्तारि सहाओ जाव जम्मजीवियफले।'

नन्दा पुष्करिणी में बहुत-से लोग स्नान करते हुए, पानी पीते हुए और पानी भर कर ले जाते हुए आपस में इस प्रकार कहते थे—देवानुप्रिय! नन्द मणियार धन्य है, जिसकी यह चतुष्कोण

यावत् मनोहर पुष्करिणी है, जिसके पूर्व के वनखंड में अनेक सैकड़ों खंभों की बनी चित्रसभा है ! इसी प्रकार चारों वनखंडों और चारों सभाओं के विषय में कहना चाहिए । यावत् नन्द मणियार का जन्म और जीवन सफल है ।' अर्थात् जनसाधारण नन्दा पुष्करिणी का, वनखंडों का, चारों सभाओं का और नन्द सेठ का खूब-खूब बखान करते थे ।

२६—तए णं तस्स दद्दुरस्स तं अभिक्खणं अभिक्खणं बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जेत्था—'से कहिं मन्ने मए इमेयारूवे सद्दे णिसंतपुव्वे' त्ति कट्टु सुभेणं परिणामेणं जाव [पसत्थेणं अज्झवसाएणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-पोह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स संणिपुव्वे] जाइसरणे समुप्पन्ने, पुव्वजाइं सम्मं समागच्छइ ।

तत्पश्चात् वार-वार वहुत लोगों के पास से यह वात (अपनी प्रशंसा) सुनकर और मन में समझ कर उस मेंढक को इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—'जान पड़ता है कि मैंने इस प्रकार के शब्द पहले भी सुने हैं ।' इस तरह विचार करने से, शुभ परिणाम के कारण (प्रशस्त अध्यवसाय से, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं के कारण तथा जातिस्मरण ज्ञान को आवृत करने वाले विशिष्ट मति-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, ईहा, अपोह (अवाय), मार्गणा—गवेषणा (सद्भूत धर्मों का विधान और असद्भूत धर्मों का निवारण) करते हुए उस दर्दुर को संज्ञी-पर्याय के भवों को जानने वाला) यावत् जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया । उसे अपना पूर्व जन्म अच्छी तरह याद हो आया ।

पुनः श्रावकधर्म-स्वीकार

२७—तए णं तस्स दद्दुरस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जेत्था—'एवं खलु अहं इहेव रायगिहे नगरे णंदे णामं मणियारे अड्ढे । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे, तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइए सत्तसिक्खावइए जाव पडिवन्ने । तए णं अहं अन्नया कयाई असाहुदंसणेण य जाव[1] मिच्छत्तं विप्पडिवन्ने । तए णं अहं अन्नया कयाई गिम्हकालसमयंसि जाव[2] उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । एवं जहेव चिंता आपुच्छणा नंदा पुक्खरिणी वणसंडा सहाओ तं चेव सव्वं जाव नंदाए पुक्खरिणीए दद्दुरत्ताए उववन्ने ।

तं अहो ! णं अहं अहन्ने अपुन्ने अकयपुन्ने निग्गंथाओ पावयणाओ नट्ठे भट्ठे परिब्भट्ठे, तं सेयं खलु ममं सयमेव पुव्वपडिवन्नाइं पंचाणुव्वयाइं सत्तसिक्खावयाइं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।'

तत्पश्चात् उस मेंढक को इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—'मैं इसी राजगृहनगर में नन्द नामक मणियार सेठ था—धन-धान्य आदि से समृद्ध था । उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर का आगमन हुआ । तव मैंने श्रमण भगवान् महावीर के निकट पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप श्रावकधर्म अंगीकार किया था । कुछ समय वाद साधुओं के दर्शन न होने आदि से मैं किसी समय मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया ।

तत्पश्चात् एक वार किसी समय ग्रीष्म काल के अवसर पर मैं तेले की तपस्या करके विचर रहा था । तव मुझे पुष्करिणी खुदवाने का विचार हुआ, श्रेणिक राजा से आज्ञा ली, नन्दा पुष्करिणी

१. अ. १३ सूत्र ९. २. अ. १३ सूत्र १०

खुदवाई, वनखण्ड लगवाये, चार सभाएँ बनवाई, इत्यादि सब पूर्ववत् समझना चाहिए; यावत् पुष्करिणी के प्रति आसक्ति होने के कारण मैं नन्दा पुष्करिणी में मेंढक पर्याय में उत्पन्न हुआ। अतएव मैं अधन्य हूँ, अपुण्य हूँ, मैंने पुण्य नहीं किया, अतः मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन से नष्ट हुआ, भ्रष्ट हुआ और एकदम भ्रष्ट हो गया। तो अब मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि पहले अंगीकार किये पांच अणुव्रतों को और सात शिक्षाव्रतों को मैं स्वयं ही पुनः अंगीकार करके रहूँ।

मेंढक की तपश्चर्या

२८—एवं संपेहेइ, संपेहित्ता पुव्वपडिवन्नाइं पंचाणुव्वयाइं सत्तसिक्खावयाइं आरुहेइ, आरुहित्ता इमेयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—'कप्पइ मे जावज्जीवं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं अप्पाणं भावेमाणस्स विहरित्तए। छट्ठस्स वि य णं पारणगंसि कप्पइ मे णंदाए पोक्खरिणीए परिपेरंतेसु फासुएणं ण्हाणोदएणं उम्मद्दणालोलियाहि य वित्तिं कप्पेमाणस्स विहरित्तए।' इमेयारूवं अभिग्गहं अभिगेण्हइ जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं जाव [अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे] विहरइ।

नन्द मणियार के जीव उस मेंढक ने इस प्रकार विचार किया। विचार करके पहले अंगीकार किये हुए पाँच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों को पुनः अंगीकार किया। अंगीकार करके इस प्रकार का अभिग्रह धारण किया—आज से जीवन-पर्यन्त मुझे वेले-वेले की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए विचरना कल्पता है। वेले की पारणा में भी नन्दा पुष्करिणी के पर्यन्त भागों में, प्रासुक (अचित्त) हुए स्नान के जल से और मनुष्यों के उन्मर्दन आदि द्वारा उतारे मैल से अपनी आजीविका चलाना अर्थात् जीवननिर्वाह करना कल्पता है।' उसने ऐसा अभिग्रह धारण किया। अभिग्रह धारण करके निरन्तर वेले-वेले की तपस्या से आत्मा को भावित करता हुआ विचरने लगा।

भगवत्पदार्पण

२९—तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! गुणसीलए चेइए समोसढे। परिसा णिग्गया। तए णं णंदाए पुक्खरिणीए बहुजणो ण्हायमाणो य पियमाणो य पाणियं संवहमाणो य अन्नमन्नं एवमाइक्खइ—जाव [एवं खलु] समणे भगवं महावीरे इहेव गुणसीलए चेइए समोसढे। तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो जाव [णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं] पज्जुवासामो, एयं मे इहभवे परभवे य हियाए जाव [सुहाए खमाए निस्सेयसाए] आणुगामियत्ताए भविस्सइ।

हे गौतम ! उस काल और उस समय में मैं गुणशील चैत्य में आया। वन्दना करने के लिए परिषद् निकली। उस समय नन्दा पुष्करिणी में बहुत-से जन नहाते, पानी पीते और पानी ले जाते हुए आपस में इस प्रकार बातें करने लगे कि—श्रमण भगवान् महावीर यहीं गुणशील उद्यान में समवसृत हुए हैं। सो हे देवानुप्रिय ! हम चलें और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना करें, यावत् (नमस्कार करें, उनका सत्कार-सन्मान करें, कल्याण मंगल देव एवं चैत्य स्वरूप भगवान् की) उपासना करें। यह हमारे लिए इह भव में और परभव में हित के लिए एवं सुख के लिए होगा, क्षमा और निश्रेयस के लिए तथा अनुगामीपन के लिए होगा— परभव में यही साथ जायगा।

मेंढक का वन्दनार्थ प्रस्थान

३०—तए णं तस्स दद्दुरस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जेत्था—'एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे, तं गच्छामि णं वंदामि' जाव[1] एवं संपेहेइ, संपेहित्ता णंदाओ पुक्खरिणीओ सणियं सणियं उत्तरइ, उत्तरित्ता जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ताए उक्किट्ठाए दद्दुरगईए वीइवयमाणे वीइवयमाणे जेणेव ममं अंतिए तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

बहुत जनों से यह वृत्तान्त सुन कर और हृदय में धारण करके उस मेंढक को ऐसा विचार, चिन्तन, अभिलाषा एवं मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—निश्चय ही श्रमण भगवान् महावीर यहां पधारे हैं, तो मैं जाऊँ और भगवान् को वन्दना करूँ। उसने ऐसा विचार किया। विचार करके वह धीरे-धीरे नन्दा पुष्करिणी से बाहर निकला। निकल कर जहाँ राजमार्ग था, वहाँ आया। आकर उत्कृष्ट दर्दुरगति से अर्थात् मेंढक के योग्य तीव्र चाल से चलता हुआ मेरे पास आने के लिए कृत-संकल्प हुआ—रवाना हुआ।

मेंढक का कुचलना

३१—इमं च णं सेणिए राया भंभसारे ण्हाए कयकोउय जाव सव्वालंकारविभूसिए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामरेहि य उद्धुव्वमाणेहिं महया हयगयरहभडचडगरकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे मम पायवंदए हव्वमागच्छइ। तए णं से दद्दुरे सेणियस्स रण्णो एगेणं आसकिसोरएणं वामपाएणं अक्कंते समाणे अंतनिग्घाइए कए यावि होत्था।

इधर भंभसार अपरनामा श्रेणिक राजा ने स्नान किया एवं कौतुक-मंगल-प्रायश्चित्त किया। यावत् वह सब अलंकारों से विभूषित हुआ और श्रेष्ठ हाथी के स्कंध पर आरूढ हुआ। कोरंट वृक्ष के फूलों की माला वाले छत्र से, श्वेत चामरों से शोभित होता हुआ, अश्व, हाथी, रथ और बड़े-बड़े सुभटों के समूह रूप चतुरंगिणी सेना से परिवृत होकर मेरे चरणों की वन्दना करने के लिए शीघ्रता-पूर्वक आ रहा था। तब वह मेंढक श्रेणिक राजा के एक अश्वकिशोर (नौजवान घोड़े) के बाएँ पैर से कुचल गया। उसकी आँतें बाहर निकल गईं।

महाव्रतों का स्वीकार—

३२—तए णं से दद्दुरे अत्थामे अबले अवीरिए अपुरिसकारपरक्कमे अधारणिज्जमिति कट्टु एगंतमवक्कमइ, करयलपरिग्गहियं तिक्खुत्तो सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

नमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स मम धम्मायरियस्स जाव संपाविउकामस्स। पुव्विं पि य णं मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए थूलए पाणाइवाए पच्चक्खाए, जाव [थूलए मुसावाए पच्चक्खाए, थूलए अदिण्णादाणे पच्चक्खाए, थूलए मेहुणे पच्चक्खाए] थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए, तं इयाणिं पि तस्सेव अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि, जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि, जावज्जीवं सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं पच्चक्खामि,

१. अ. १३, सूत्र २९

जावज्जीवं जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं जाव[1] मा, फुसंतु एयं पि णं चरिमेहिं ऊसासेहिं 'वोसिरामि' त्ति कट्टु ।

घोड़े के पैर से कुचले जाने के वाद वह मेंढक शक्तिहीन, वलहीन, वीर्य (उद्यम) हीन और पुरुषकार-पराक्रम से हीन हो गया । 'अव इस जीवन को धारण करना शक्य नहीं है ।' ऐसा जानकर वह एक तरफ चला गया । वहां दोनों हाथ जोड़कर, तीन वार, मस्तक पर आवर्तन करके, मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार वोला—'अरुहंत (जिन्हें संसार में पुनः उत्पन्न नहीं होना है ऐसे) यावत् निर्वाण को प्राप्त समस्त तीर्थंकर भगवन्तों को नमस्कार हो । मेरे धर्माचार्य यावत् मोक्ष-प्राप्ति के इच्छुक श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार हो । पहले भी मैंने श्रमण भगवान् महावीर के समीप स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान किया था, यावत् (स्थूल मृपावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूल मैथुन) और स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान किया था; तो अव भी मैं उन्हीं भगवान् के निकट समस्त प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ, यावत् समस्त परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ; जीवन पर्यन्त के लिए सर्व अशन, पान, खादिम और स्वादिम—चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ । यह जो मेरा इप्ट और कान्त शरीर है, जिसके विपय में चाहा था कि इसे रोग आदि स्पर्श न करें, इसे भी अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक त्यागता हूँ ।' इस प्रकार कह कर दर्दु र ने पूर्ण प्रत्याख्यान किया ।

विवेचन—तिर्यंच गति में अधिक से अधिक पाँच गुणस्थान हो सकते हैं , अतएव देशविरति तो संभव है, किन्तु सर्वविरति-संयम की संभावना नहीं है । फिर नंद के जीव मंडूक ने सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान कैसे कर लिया ? मूलपाठ में जिस प्रकार से इसका उल्लेख किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि आगमकार को भी उसके प्रत्याख्यान में कोई अनौचित्य नहीं लगता ।

इस विपय में प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी टीका में स्पष्टीकरण किया है । वे लिखते हैं—

'यद्यपि सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि' इत्यनेन सर्वग्रहणं तथापि तिरश्चां देशविरतिरेव ।'

अर्थात् यद्यपि मेंढक ने 'सम्पूर्ण प्राणातिपात (आदि) का प्रत्याख्यान करता हूँ, ऐसा कहकर प्रत्याख्यान किया है, तथापि तिर्यंचों में देशविरति हो सकती है—सर्वविरति नहीं ।

इस विपय में टीकाकार ने दो गाथाएं भी उद्धृत की हैं, जिनसे इस प्रश्न पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । गाथाएं ये हैं—

तिरियाणं चारित्तं, निवारियं अह य तो पुणो तेसिं ।
सुव्वइ वहुयाणं पि हु, महव्वयारोहणं समए ।। १ ।।
न महव्वयसब्भावेवि, चरित्तपरिणामसंभवो तेसिं ।
न वहुगुणाणंपि जओ, केवलसंभूइपरिणामो ।। २ ।।

अर्थात्—तिर्यंचों में यद्यपि चारित्र (सर्वविरति) के होने का आगम में निषेध किया गया है, फिर भी वहुत-से तिर्यंचों ने महाव्रत ग्रहण किए ऐसा सुना जाता है—आगमों में ऐसा उल्लेख देखा

१. अ. १—सूत्र १५६.

जाता है। किन्तु महाव्रतों के सद्भाव में भी तिर्यंचों में चारित्र-परिणाम अर्थात् भाव चारित्र संभव नहीं है, जैसे बहुत गुणों से सम्पन्न जीवों को केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केवल महाव्रतों का ग्रहण या पालन ही सर्वविरति चारित्र नहीं है। यह व्यवहार चारित्र मात्र है। निश्चय चारित्र के लिए परिणामों की विशिष्ट निर्मलता अनिवार्य हैं, जो अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों के क्षय आदि तथा संज्वलन कषाय की मन्दता के होने पर ही संभव है।

देवपर्याय में जन्म

३३—तए णं से दद्दुरे कालमासे कालं किच्चा जाव सोहम्मे कप्पे दद्दुरवडिंसए विमाणे उववायसभाए दद्दुरदेवत्ताए उववन्ने। एवं खलु गोयमा! दद्दुरेणं सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता जाव अभिसमन्नागया।

तत्पश्चात् वह मेंढक मृत्यु के समय काल करके, यावत् सौधर्म कल्प में, दर्दुरावतंसक नामक विमान में, उपपातसभा में, दर्दुरदेव के रूप में उत्पन्न हुआ। हे गौतम! दर्दुर देव ने इस प्रकार वह दिव्य देवर्धि लब्ध की है, प्राप्त की है और पूर्णरूपेण प्राप्त की है—उसके समक्ष आई है।

मंडूक देव का भविष्य

३४—दद्दुरस्स णं भंते! देवस्स केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता?

गोयमा! चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता। से णं दद्दुरे देवे आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं, अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, बुज्झिहिइ, जाव [मुच्चिहिइ परिनिव्वाहिइ सव्वदुक्खाणं] अंतं करिहिइ।

गौतम स्वामी ने पुनः प्रश्न किया—दर्दुर देव की उस देवलोक में कितनी स्थिति है?

भगवान् उत्तर देते हैं—गौतम! चार पल्योपम की स्थिति कही गई है। तत्पश्चात् वह दर्दुर देव आयु के क्षय से, भव के क्षय से और स्थिति के क्षय से, तुरंत वहाँ से च्यवन करके महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, यावत् [मुक्त होगा, परिनिर्वाण प्राप्त करेगा और समस्त दुःखों का] अन्त करेगा।

उपसंहार

३५—एवं खलु समणेणं भगवया महावीरेणं तेरसमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, त्ति बेमि।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने उत्तर का उपसंहार करते हुए कहते हैं—इस प्रकार निश्चय ही श्रमण भगवान् महावीर ने तेरहवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है। जैसा मैंने सुना, वैसा कहता हूँ।

चौदहवाँ अध्ययन : तेतलिपुत्र

सार : संक्षेप

प्रकृत अध्ययन का कथानक बहुत रोचक तो है ही, शिक्षाप्रद भी है। पिछले तेरहवें अध्ययन में बतलाया गया है कि सद्गुरु का समागम आदि निमित्त न प्राप्त हों तो जो सद्गुण विद्यमान हैं उनका भी ह्रास और अन्ततः विनाश हो जाता है। ठीक इससे विपरीत इस अध्ययन में प्रतिपादित किया गया है कि सन्निमित्त मिलने पर अविद्यमान सद्गुण भी उत्पन्न और विकसित हो जाते हैं। अतएव गुणाभिलाषी पुरुष को ऐसे निमित्त जुटाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए जिससे आत्मिक सद्गुणों का ह्रास न होने पाए, प्रत्युत प्राप्त गुणों का विकास हो और अप्राप्त गुणों की प्राप्ति होती रहे। व्यक्तित्व के निर्माण में सत्समागम आदि निमित्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, इस तथ्य को कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में मनोरम कथानक द्वारा यही तथ्य प्रकाशित किया गया है। कथानक का सार इस प्रकार है—

तेतलिपुर नगर के राजा कनकरथ के अमात्य का नाम भी तेतलिपुत्र था। 'मूषिकारदारक' की तरह यह नाम भी उसके पिता 'तेतलि' के नाम पर रक्खा गया है। 'मूषिकारदारक' का अर्थ है—मूषिकार का पुत्र। मूषिकारदारक भी तेतलिपुर का ही निवासी स्वर्णकार था। एक वार तेतलिपुर अमात्य ने उसकी पुत्री पोट्टिला को क्रीडा करते देखा और वह उस पर अनुरक्त हो गया। पत्नी के रूप में उसकी मंगनी की। शुभ मुहूर्त्त में दोनों का विवाह हो गया।

कुछ समय तक दोनों का दाम्पत्य जीवन सुखपूर्वक चलता रहा। दोनों में परस्पर गहरा अनुराग था। किन्तु कालान्तर में स्नेह का सूत्र टूट गया। स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई कि तेतलिपुत्र को पोट्टिला के नाम से भी घृणा हो गई। पोट्टिला इस कारण बहुत उदास और खिन्न रहने लगी। उसकी निरन्तर की खिन्नता देख एक दिन तेतलिपुत्र ने उससे कहा—तुम चिन्तित मत रहो, मेरी भोजनशाला में प्रभूत अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार करवा कर श्रमणों, माहनों, अतिथियों एवं भिखारियों को दान देकर अपना काल यापन करो। पोट्टिला यही करने लगी। उसका समय इसी कार्य में व्यतीत होने लगा।

संयोगवशात् एक वार तेतलिपुर में सुव्रता नामक आर्या का आगमन हुआ। उनका परिवार-शिष्यासमुदाय बहुत बड़ा था। उनकी कुछ आर्यिकाएँ यथासमय गोचरी के लिए निकलीं और तेतलिपुत्र के घर पहुँची। पोट्टिला ने उन्हें आहार-पानी का दान दिया। उस समय उसका पत्नीत्व जागृत हो गया और उसने साध्वियों से निवेदन किया—'मैं तेतलिपुत्र को पहले इष्ट थी, अब अनिष्ट हो गई हूँ। आप बहुत भ्रमण करती हैं और राजा-रंक आदि सभी प्रकार के लोगों के घरों में प्रवेश करती हैं। आपका अनुभव बहुत व्यापक है। कोई कामण, चूर्ण या वशीकरण मन्त्र बतलाइए जिससे मैं तेतलिपुत्र को पुनः अपनी ओर आकृष्ट कर सकूँ।'

मगर साध्वियों का ऐसी बातों से क्या सरोकार ! पोट्टिला का कथन सुनते ही उन्होंने हाथों से अपने कान ढंक लिये। कहा—'देवानुप्रिये ! हम ब्रह्मचारिणी साध्वियाँ हैं। हमारे लिए ऐसी बातें सुनना भी निषिद्ध है। चाहो तो सर्वज्ञप्ररूपित धर्म सुन सकती हो।'

पोट्टिला ने धर्मोपदेश सुना और श्राविकाधर्म अंगीकार कर लिया। इससे उसे नूतन जीवन मिला। उसके संताप का किंचित् शमन हुआ। उसे ऐसी शान्ति की अनुभूति होने लगी जैसी पहले कभी नहीं हुई थी। उसके अन्तरात्मा में धर्म के प्रति रस उत्पन्न हो गया। तब उसने सर्वविरति संयम अंगीकार करने का संकल्प कर लिया।

तेतलिपुत्र के पास जाकर उसने अपनी अभिलाषा व्यक्त की और अनुमति मांगी तो तेतलिपुत्र ने कहा—'तुम संयम स्वीकार करोगी तो आगामी भव में अवश्य किसी देवलोक में उत्पन्न होओगी। वहाँ से आकर यदि मुझे प्रतिबोध देना स्वीकार करो तो मैं अनुमति देता हूँ, अन्यथा नहीं।' पोट्टिला ने तेतलिपुत्र की शर्त स्वीकार कर ली और वह दीक्षित हो गई। संयम-पालन कर आयुष्य पूर्ण होने पर देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न हुई।

प्रारम्भ में कनकरथ राजा का उल्लेख किया गया है। यह राजा राज्य में अत्यन्त गृद्ध और सत्तालोलुप था। कोई मेरा पुत्र वयस्क होकर मेरा राज्य न हथिया ले, इस भय से प्रेरित होकर वह अपने प्रत्येक पुत्र को जन्मते ही विकलांग कर दिया करता था। उसकी यह लोलुपता और क्रूरता देख रानी पद्मावती को गहरी चिन्ता और व्यथा हुई। वह जब गर्भवती थी तब उसने अमात्य तेतलिपुत्र को गुप्त रूप से अन्तःपुर में बुलवाया और होने वाले पुत्र की सुरक्षा के लिए मंत्रणा की। निश्चित हो गया कि यदि होने वाली सन्तान पुत्र हो तो राजा को उसका पता न लगने पाए और तेतलिपुत्र के घर पर गुप्त रूप में उसका पालन-पोषण किया जाए।

संयोगवश जिस समय रानी पद्मावती ने पुत्र का प्रसव किया, उसी समय तेतलिपुत्र की पत्नी ने मृत कन्या को जन्म दिया। पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार तेतलिपुत्र ने पुत्र और पुत्री की अदलाबदली कर दी। मृत पुत्री को पद्मावती के पास और राजकुमार को अपनी पत्नी के पास ले आया। पत्नी को सब रहस्य बतला दिया। कुमार सुरक्षित वृद्धिगत होने लगा।

कनकरथ राजा की जब मृत्यु हुई तो उसके उत्तराधिकारी की चर्चा चली। तेतलिपुत्र ने समग्र रहस्य प्रकट कर दिया और राजकुमार—जिसका नाम कनकध्वज था—राजसिंहासन पर आसीन हो गया।

रानी पद्मावती का मनोरथ सफल हुआ। उसने कनकध्वज को आदेश दिया—तेतलिपुत्र के प्रति सदैव विनम्र रहना, उनका सत्कार-सन्मान करना, राजसिंहासन, वैभव, यहाँ तक कि तुम्हारा जीवन इन्हीं की बदौलत है। कनकध्वज ने माता के आदेश को शिरोधार्य किया और वह अमात्य का बहुत आदर करने लगा।

उधर पोट्टिल देव ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तेतलिपुत्र को प्रतिबुद्ध करने के अनेक उपाय किए, मगर राजा द्वारा सम्मानित होने के कारण उसे प्रतिबोध नहीं हुआ। तब देव ने अन्तिम उपाय

किया—राजा आदि को उससे विरुद्ध कर दिया। एक दिन जब वह राजसभा में गया तो राजा ने उससे बात भी नहीं की, विमुख होकर बैठ गया, सत्कार-सन्मान करने की तो बात ही दूर !

तेतलिपुत्र यह अभिनव व्यवहार देखकर भयभीत होकर वापिस घर लौट आया। मार्ग में और घर में आने पर परिवारजनों ने भी उसे किंचित् आदर नहीं दिया। सारी परिस्थिति बदली देख तेतलिपुत्र ने आत्मघात करने का निश्चय किया। आत्मघात के लगभग सभी उपाय आजमा लिये, मगर देवी माया के कारण कोई भी कारगर न हुआ। उन उपायों का मूलपाठ में ब्यौरेवार रोचक वर्णन किया गया है।

जब तेतलिपुत्र आत्महत्या करने में भी असफल हो गया—पूर्ण रूप से निराश हो गया तब पोट्टिल देव प्रकट हुआ। उसने अत्यन्त सारपूर्ण शब्दों में उसे प्रतिबोध दिया। देव का वह कथन भी अत्यन्त रोचक है, उसे मूलपाठ से पाठक जान लें।

उसी समय तेतलिपुत्र को शुभ अध्यवसाय के प्रभाव से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसे विदित हो गया कि पूर्व जन्म में वह महाविदेह क्षेत्र में महापद्मनामक राजा था; संयम अंगीकार करके वह यथाकाल शरीर त्याग कर महाशुक्रनामक देवलोक में उत्पन्न हुआ था। तत्पश्चात् वह यहाँ जन्मा।

तेतलिपुत्र ने मानों नूतन जगत् में प्रवेश किया। थोड़ी देर पहले जिसके चहुँ ओर घोर अन्धकार व्याप्त था, अब अलौकिक प्रकाश की उज्ज्वल रश्मियाँ भासित होने लगीं। वह स्वयं दीक्षित होकर, संयम का यथाविधि पालन करके, अन्त में इस भव-प्रपंच से सदा-सदा के लिए मुक्त हो गया। अनन्त, असीम, अव्याबाध आत्मिक सुख का भागी बन गया।

चोद्दसमं अज्झयणं : तेयलिपुत्ते

जम्बू स्वामी का प्रश्न

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं तेरसमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, चोद्दसमस्स णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पन्नत्ते ?

जम्बू स्वामी श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न करते हैं— 'भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने तेरहवें ज्ञात-अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा है, तो चौदहवें ज्ञात-अध्ययन का श्रमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है ?

सुधर्मा स्वामी का उत्तर

२—'एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं तेयलिपुरे णामं णयरे होत्था। तस्स णं तेयलिपुरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं पमयवणे णामं उज्जाणे होत्था।

श्री सुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—,हे जम्बू ! उस काल और उस समय में तेतलिपुरनामक नगर था। उस तेतलिपुर नगर से बाहर उत्तर पूर्व-ईशान-दिशा में प्रमदवननामक उद्यान था।

तेतलीपुत्र अमात्य

३—तत्थ णं तेयलिपुरे णयरे कणगरहे णामं राया होत्था। तस्स णं कणगरहस्स रण्णो पउमावई णामं देवी होत्था। तस्स णं कणगरहस्स रण्णो तेयलिपुत्ते णामं अमच्चे होत्था साम-दंड-भेय- उवप्पयाण-नीति-सुपउत्त-नयविहिण्णू।

उस तेतलिपुर नगर में कनकरथनामक राजा था। कनकरथ राजा की पद्मावतीनामक देवी (रानी) थी। कनकरथ राजा के अमात्य का नाम तेतलिपुत्र था, जो साम, दाम, भेद और दंड—इन चारों नीतियों का प्रयोग करने में निष्णात था।

४—तत्थ णं तेयलिपुरे कलादे नामं मूसियारदारए होत्था, अड्ढे जाव अपरिभूए। तस्स णं भद्दा नामं भारिया होत्था। तस्स णं कलायस्स मूसियारदारयस्स धूया भद्दाए अत्तया पोट्टिला नामं दारिया होत्था, रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा।

तेतलिपुर नगर में मूषिकारदारकनामक एक कलाद (स्वर्णकार) था। वह धनाढ्य था और किसी से पराभूत होने वाला नहीं था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। उस कलाद मूषिकारदारक की पुत्री और भद्रा की आत्मजा (उदरजात) पोट्टिला नाम की लड़की थी। वह रूप, यौवन और लावण्य से उत्कृष्ट और शरीर से भी उत्कृष्ट थी।

विवेचन:—कलाद का अर्थ स्वर्णकार (सुनार) है। यहां जिस कलाद का उल्लेख किया गया है उसके पिता का नाम 'मूषिकार' था। पिता के नाम पर ही उसे 'मूषिकारदारक' संज्ञा प्रदान की गई है। आगमों में अन्यत्र भी इस प्रकार की शैली अपनाई गई है।

५—तए णं पोट्टिला दारिया अन्नया कयाइ ण्हाया सव्वालंकारविभूसिया चेडिया-चक्कवाल-संपरिवुडा उप्पिं पासायवरगया आगासतलगंसि कणगमएणं तिंदूसएणं कीलमाणी कीलमाणी विहरइ।

एक वार किसी समय पोट्टिला दारिका (लड़की) स्नान करके और सब अलंकारों से विभूषित होकर, दासियों के समूह से परिवृत होकर, प्रासाद के ऊपर रही हुई अगासी की भूमि में सोने की गेंद से क्रीडा कर रही थी।

६—इमं च णं तेयलिपुत्ते अमच्चे ण्हाए आसखंधवरगए महया भडचडगरआसवाहणियाए णिज्जायमाणे कलायस्स मूसियारदारगस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं वीईवयइ।

इधर तेतलिपुत्र अमात्य स्नान करके, उत्तम अश्व के स्कंध पर आरूढ होकर, बहुत-से सुभटों के समूह के साथ घुड़सवारी के लिए निकला। वह कलाद मूषिकारदारक के घर के कुछ समीप होकर जा रहा था।

७—तए णं से तेयलिपुत्ते मूसियारदारगगिहस्स अदूरसामंतेणं वीईवयमाणे वीईवयमाणे पोट्टिलं दारियं उप्पिं पासायवरगयं आगासतलगंसि कणगतिंदूसएणं कीलमाणिं पासइ, पासित्ता पोट्टिलाए दारियाए रूवे य जोव्वणे य लावण्णे य अज्झोववन्ने कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एस णं देवाणुप्पिया! कस्स दारिया किंनामधेज्जा वा?

तए णं कोडुंबियपुरिसे तेयलिपुत्तं एवं वयासी—'एस णं सामी! कलायस्स मूसियारदारयस्स धूया, भद्दाए अत्तया पोट्टिला नामं दारिया रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठ-सरीरा।'

उस समय तेतलिपुत्र ने मूषिकारदारक के घर के कुछ पास से जाते हुए प्रासाद की ऊपर की भूमि पर अगासी में सोने की गेंद से क्रीडा करती पोट्टिला दारिका को देखा। देखकर पोट्टिला दारिका के रूप, यौवन और लावण्य में यावत् अतीव मोहित होकर कौटुम्बिक पुरुषों (सेवकों) को बुलाया और उनसे पूछा—'देवानुप्रियो! यह किसकी लड़की है? इसका नाम क्या है?'

तब कौटुम्बिक पुरुषों ने तेतलिपुत्र से कहा—'स्वामिन्! यह कलाद मूषिकारदारक की पुत्री, भद्रा की आत्मजा, पोट्टिला नामक लड़की है। रूप, लावण्य और यौवन से उत्तम है और उत्कृष्ट शरीर वाली है।'

८—तए णं से तेयलिपुत्ते आसवाहणियाओ पडिनियत्ते समाणे अब्भितरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी-'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! कलादस्स मूसियारदारगस्स धूयं भद्दाए अत्तयं पोट्टिलं दारियं मम भारियत्ताए वरेह।'

तए णं ते अब्भितरट्ठाणिज्जा पुरिसा तेयलिणा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा जाव करयलपरिग्ग-हियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं सामी!' तह त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता तेयलियस्स अंतियाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव कलायस्स मूसियारदारयस्स गिहे तेणेव उवागया। तए णं कलाए मूसियारदारए ते पुरिसे एज्जमाणे पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठे आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता आसणेणं उवनिमंतेइ, उव-

निमंतित्ता आसत्थे वीसत्थे सुहासणवरगए एवं वयासी-'संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमणपओयणं ?'

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र घुड़सवारी से पीछे लौटा तो उसने अभ्यन्तर स्थानीय (खानगी काम करने वाले) पुरुषों को बुलाकर कहा—'देवानुप्रियो ! तुम जाओ और कलाद मूषिकारदारक की पुत्री, भद्रा की आत्मजा पोट्टिला दारिका की मेरी पत्नी के रूप में मंगनी करो।

तब वे अभ्यन्तर-स्थानीय पुरुष तेतलिपुत्र के इस प्रकार कहने पर हृष्ट-तुष्ट हुए। दसों नखों को मिलाकर, दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक पर अंजलि करके 'तह त्ति' (बहुत अच्छा) स्वामिन् ! कहकर विनयपूर्वक आदेश स्वीकार किया और उसके पास से रवाना होकर मूषिकारदारक कलाद के घर आये। मूषिकारदारक कलाद ने उन पुरुषों को आते देखा तो वह हृष्ट-तुष्ट हुआ, आसन से उठ खड़ा हुआ, सात-आठ कदम आगे गया; उसने आसन पर बैठने के लिए आमंत्रण किया। जब वे आसन पर बैठे, स्वस्थ हुए और विश्राम ले चुके तो मूषिकारदारक ने पूछा—'देवानुप्रियो ! आज्ञा दीजिए। आपके आने का क्या प्रयोजन है ?'

९—तए णं ते अब्भितरट्ठाणिज्जा पुरिसा कलायस्स मूसियारदारयस्स एवं वयासी—'अम्हे णं देवाणुप्पिया ! तव धूयं भद्दाए अत्तयं पोट्टिलं दारियं तेयलिपुत्तस्स भारियत्ताए वरेमो, तं जइ णं जाणसि देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, ता दिज्जउ णं पोट्टिला दारिया तेयलिपुत्तस्स, तो भण देवाणुप्पिया ! किं दलामो सुक्कं ?'

तब उन अभ्यन्तर-स्थानीय पुरुषों ने कलाद मूषिकारदारक से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! हम तुम्हारी पुत्री, भद्रा की आत्मजा पोट्टिला दारिका की, तेतलिपुत्र की पत्नी के रूप में मंगनी करते हैं। देवानुप्रिय ! अगर तुम समझते हो कि यह संबंध उचित है, प्राप्त या पात्र है, प्रशंसनीय है, दोनों का संयोग सदृश है, तो तेतलिपुत्र को पोट्टिला दारिका प्रदान करो। प्रदान करते हो तो, देवानुप्रिय ! कहो, इसके बदले क्या शुल्क (धन) दिया जाए ?

विवेचन—तेतलिपुत्र राजा का मंत्री था। शासनसूत्र उसके हाथ में था। दूसरी ओर मूषिकारदारक एक सामान्य स्वर्णकार था। तेतलिपुत्र, उसकी कन्या पर मुग्ध हो जाता है मगर मात्र उसे अपने भोग की सामग्री नहीं बनाना चाहता—पत्नी के रूप में वरण करने की इच्छा करता है। नियमानुसार उसकी मंगनी के लिए अपने सेवकों को उसके घर भेजता है। सेवक मूषिकारदारक के घर जाकर जिन शिष्टतापूर्ण शब्दों में पोट्टिला कन्या की मंगनी करते हैं, वे शब्द ध्यान देने योग्य हैं। राजमंत्री के सेवक न रौब दिखलाते हैं, न किसी प्रकार का दबाव डालते हैं, न धमकी देने का संकेत देते हैं। वे कलाद के समक्ष मात्र प्रस्ताव रखते हैं और निर्णय उसी पर छोड़ देते हैं। कहते हैं—'यह संबंध यदि तुम्हें उचित प्रतीत हो, तेतिलपुत्र को यदि इस कन्या के लिए योग्य पात्र मानते हो, और दोनों का संबंध यदि श्लाघनीय और अनुकूल समझते हो तो तेतलिपुत्र को अपनी कन्या प्रदान करो।'

निश्चय ही सेवकों ने जो कुछ कहा, वह राजमंत्री के निर्देशानुसार ही कहा होगा। इस वर्णन से तत्कालीन शासकों की न्यायनिष्ठा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। शुल्क देने का जो कथन किया गया है, वह उस सयम की प्रचलित प्रथा थी। इसके संबंध में पहले लिखा जा चुका है।

१०—तए णं कलाए मूसियारदारए ते अब्भितरट्ठाणिज्जे पुरिसे एवं वयासी—'एस चेव णं देवाणुप्पिया ! मम सुक्के जं णं तेयलिपुत्ते मम दारियानिमित्तेणं अणुग्गहं करेइ।' ते अब्भितर-ठाणिज्जे पुरिसे विपुलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारित्ता संमाणित्ता पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् कलाद मूषिकारदारक ने उन अभ्यन्तर-स्थानीय पुरुषों से कहा—'देवानुप्रियो ! यही मेरे लिए शुल्क है जो तेतलिपुत्र, दारिका के निमित्त से मुझ पर अनुग्रह कर रहे हैं।' इस प्रकार कहकर उसने उन अभ्यन्तर-स्थानीय पुरुषों का विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम से तथा पुष्प, वस्त्र, गंध से एवं माला और अलंकार से सत्कार किया, सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके उन्हें विदा किया।

११—तए णं [ते] कलायस्स मूसियारदारगस्स गिहाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता जेणेव तेयलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तेयलिपुत्तं एयमट्ठं निवेयंति।

तत्पश्चात् वे अभ्यन्तर-स्थानीय पुरुष कलाद मूषिकारदारक के घर से निकले। निकलकर तेतलिपुत्र अमात्य के पास पहुंचे। उन्होंने तेतलिपुत्र को यह पूर्वोक्त अर्थ (वृत्तान्त) निवेदन किया।

१२—तए णं कलाए मूसियारदारए अन्नया कयाइं सोहणंसि तिहि-नक्खत्त-मुहुत्तंसि पोट्टिलं दारियं ण्हायं सव्वालंकारविभूसियं सीयं दुरूहइ, दुरुहित्ता मित्तणाइसंपरिवुडे साओ गिहाओ पडिणि-क्खमइ, पडिणिक्खमित्ता सव्विड्ढीए तेयलिपुरं मज्झंमज्झेणं जेणेव तेयलिपुत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोट्टिलं दारियं तेयलिपुत्तस्स सयमेव भारियत्ताए दलयइ।

तत्पश्चात् कलाद मूषिकारदारक ने अन्यदा शुभ तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त में पोट्टिला दारिका को स्नान करा कर और समस्त अलंकारों से विभूषित करके शिविका में आरूढ किया। वह मित्रों और ज्ञातिजनों से परिवृत होकर अपने घर से निकल कर, पूरे ठाठ के साथ, तेतलिपुर के बीचोंबीच होकर तेतलिपुत्र अमात्य के पास पहुँचा। पहुँच कर पोट्टिला दारिका को स्वयमेव तेतलिपुत्र की पत्नी के रूप में प्रदान किया।

विवेचन—मूषिकारदारक कलाद शुभ तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त्त में अपनी कन्या पोट्टिला का तेतलिपुत्र के घर ले जाकर विवाह करता है। यह उस युग का प्रायः सामान्य—सर्वप्रचलित नियम था। आधुनिक काल में जैसे वर के अभिभावक अपने मित्रों, संबंधियों और ज्ञातिजनों को साथ लेकर—बरात (वरयात्रा) के रूप में कन्या के घर जाते हैं, उसी प्रकार पूर्व काल में कन्यापक्ष के लोग अपने मित्रों आदि के साथ नगर के मध्य में होकर, धूमधाम से—ठाठ बाट के साथ कन्या को वर के घर ले जाते थे।

ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं जब वरपक्ष के जन कन्यापक्ष के घर परिणय के लिए गए, किन्तु ऐसे उदाहरण थोड़े हैं—अपवाद रूप हैं।

१३—तए णं तेयलिपुत्ते पोट्टिलं दारियं भारियत्ताए उवणीयं पासइ, पासित्ता पोट्टिलाए सद्धिं पट्टयं दुरुहइ, दुरुहित्ता सेयापीएहिं कलसेहिं अप्पाणं मज्जावेइ, मज्जावित्ता अग्गिहोमं करेइ,[1]

१. पाठान्तर—कारेइ, कारेत्ता

करित्ता पोट्टिलाए भारियाए मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परिजणं विपुलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पुप्फ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता पडिविसज्जेइ ।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र ने पोट्टिला दारिका को भार्या के रूप में आई हुई देखी। देखकर वह पोट्टिला के साथ पट्ट पर बैठा। बैठ कर श्वेत-पीत (चांदी-सोने के) कलशों से उसने स्वयं स्नान किया। स्नान करके अग्नि में होम किया। तत्पश्चात् पोट्टिला भार्या के मित्रजनों, ज्ञातिजनों, निजजनों, स्वजनों, संबंधियों एवं परिजनों का अशन पान खादिम स्वादिम से तथा पुष्प वस्त्र, गंध माला और अलंकार आदि से सत्कार—सन्मान करके उन्हें विदा किया।

१४—तए णं से तेयलिपुत्ते, पोट्टिलाए भारियाए अणुरत्ते अविरत्ते उरालाइं जाव [माणुस्साइं भोगभोगाइं भुंजमाणे] विहरइ ।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र अमात्य पोट्टिला भार्या में अनुरक्त होकर, अविरक्त-आसक्त होकर उदार यावत् [मानव संबंधी भोगने योग्य भोग भोगता] हुआ रहने लगा।

१५—तए णं से कणगरहे राया रज्जे य रट्ठे य बले य वाहणे य कोसे य कोट्ठागारे य अंतेउरे य मुच्छिए गढिए गिद्धे अज्झोववण्णे जाए जाए पुत्ते वियंगेइ, अप्पेगइयाणं हत्थंगुलियाओ छिंदइ, अप्पेगइयाणं हत्थंगुट्ठए छिंदइ, एवं पायंगुलियाओ पायंगुट्ठए वि कन्नसक्कुलीए वि नासापुडाइं फालेइ, अंगमंगाइं वियंगेइ ।

कनकरथ राजा राज्य में, राष्ट्र में, वल (सेना में), वाहनों में, कोष में, कोठार में तथा अन्तःपुर में अत्यन्त आसक्त था, लोलुप—गृद्ध और लालसामय था। अतएव वह जो जो पुत्र उत्पन्न होते उन्हें विकलांग कर देता था। किन्हीं की हाथ की अंगुलियाँ काट देता, किन्हीं के हाथ का अंगूठा काट देता, इसी प्रकार किसी के पैर की अंगुलियाँ, पैर का अंगूठा, कर्णशष्कुली (कान की पपड़ी) और किसी का नासिकापुट काट देता था। इस प्रकार उसने सभी पुत्रों को अवयवविकल-विकलांग कर दिया था।

विवेचन—कनकरथ को भय था कि यदि मेरा कोई पुत्र वयस्क हो गया तो संभव है वह मुझे सत्ताच्युत करके स्वयं राजसिंहासन पर आसीन हो जाए। मगर विकलांग पुरुष राजसिंहासन का अधिकारी नहीं हो सकता था। अतएव वह अपने प्रत्येक पुत्र को अंगहीन वना देता था।

राज्यलोलुपता अथवा सत्ता के प्रति आसक्ति जव अपनी सीमा का उल्लघंन कर जाती है तव कितनी अनर्थजनक हो जाती है और सत्तालोलुप मनुष्य को अधःपतन की किस सीमा तक ले जाती है, कनकरथ राजा इस सत्य का ज्वलंत उदाहरण है। राज्यलोभ ने उसे विवेकान्ध वना दिया था और वह मानो स्वयं को अजर-अमर मान रहा था।

१६—तए णं तीसे पउमावईए देवीए अन्नया पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अयमेयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था—'एवं खलु कणगरहे राया रज्जे य जाव[1] पुत्ते वियंगेइ जाव[2] अंगमंगाइं वियंगेइ, तं जइ अहं दारयं पयायामि, सेयं खलु ममं तं दारगं कणगरहस्स रहस्सियं चेव सारक्खमाणीए

१. अ. १४ सूत्र १५ २. अ. १४ सूत्र १५

संगोवेमाणीए विहरित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता तेयलिपुत्तं अमच्चं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

तत्पश्चात् पद्मावती देवी को एक बार मध्य रात्रि के समय इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—'कनकरथ राजा राज्य आदि में आसक्त होकर यावत् पुत्रों को विकलांग कर देता है, यावत् उनके अंग-अंग काट लेता है, तो यदि मेरे अब पुत्र उत्पन्न हो तो मेरे लिए यह श्रेयस्कर होगा कि उस पुत्र को मैं कनकरथ से छिपा कर पालूँ-पोसूँ।' पद्मावती देवी ने ऐसा विचार किया और विचार करके तेतलिपुत्र अमात्य को बुलवाया। बुलवा कर उससे कहा—

१७—'एवं खलु देवाणुप्पिया! कणगरहे राया रज्जे य जाव[1] वियंगेइ, तं जइ णं अहं देवाणुप्पिया! दारगं पयायामि, तए णं तुमं कणगरहस्स रहस्सियं चेव अणुपुव्वेण सारक्खमाणे संगोवेमाणे संवड्ढेहि, तए णं से दारए उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुपत्ते तव य मम य भिक्खाभायणे भविस्सइ।' तए णं से तेयलिपुत्ते अमच्चे पउमावईए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता पडिगए।

'हे देवानुप्रिय! कनकरथ राजा राज्य और राष्ट्र आदि में अत्यन्त आसक्त होकर सब पुत्रों को अपंग कर देता है, अतः मैं यदि अब पुत्र को जन्म दूँ तो कनकरथ से छिपा कर ही अनुक्रम से उसका संरक्षण, संगोपन एवं संवर्धन करना। ऐसा करने से वह बालक बाल्यावस्था पार करके, यौवन को प्राप्त होकर तुम्हारे लिए भी और मेरे लिए भी भिक्षा का भाजन बनेगा, अर्थात् वह तुम्हारा हमारा पालन-पोषण करेगा।' तब तेतलिपुत्र अमात्य ने पद्मावती के इस अर्थ (कथन) को अंगीकार किया। अंगीकार करके वह वापिस लौट गया।

१८—तए णं पउमावई य देवी पोट्टिला य अमच्ची सममेव गब्भं गेण्हंति, सममेव गब्भं परिवहंति, सममेव गब्भं परिवड्ढंति[2]? तए णं सा पउमावई देवी नवण्हं मासाणं पडिपुण्णाणं जाव[3] पियदंसणं सुरूवं दारगं पयाया।

जं रयणिं च णं पउमावई देवी दारयं पयाया तं रयणिं च पोट्टिला वि अमच्ची नवण्हं मासाणं पडिपुण्णाणं विणिहायमावन्नं दारियं पयाया।

तत्पश्चात् पद्मावती देवी ने और पोट्टिलानामक अमात्यी (अमात्य की पत्नी) ने एक ही साथ गर्भ धारण किया, एक ही साथ गर्भ वहन किया और साथ-साथ ही गर्भ की वृद्धि की। तत्पश्चात् पद्मावती देवी ने नौ मास [और साढ़े सात दिन] पूर्ण हो जाने पर देखने में प्रिय और सुन्दर रूप वाले पुत्र को जन्म दिया।

जिस रात्रि में पद्मावती देवी ने पुत्र को जन्म दिया, उसी रात्रि में पोट्टिला अमात्यपत्नी ने भी नौ मास [और साढ़े सात दिन] व्यतीत होने पर मरी हुई बालिका का प्रसव किया।

१९—तए णं सा पउमावई देवी अम्मधाइं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी-'गच्छह णं तुमे अम्मो! तेयलिपुत्तगिहे, तेयलिपुत्तं रहस्सियं चेव सद्दावेह।'

---

१. अ. १४ सूत्र १५ २. पाठान्तर-'सममेव गब्भं परिवड्ढंति' यह पाठ किसी-किसी प्रति में उपलब्ध नहीं है।
३-औप. सूत्र १४३.

तए णं सा अम्मधाई तह त्ति पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता अंतेउरस्स अवद्दारेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव तेयलिपुत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल जाव[1] एवं वयासी-'एवं खलु देवाणुप्पिया ! पउमावई देवी सद्दावेइ।'

उस समय पद्मावती देवी ने अपनी धाय माता को बुलाया और कहा—'माँ, तुम तेतलिपुत्र के घर जाओ और तेतलिपुत्र को गुप्त रूप से बुला लाओ।'

तब धाय माता ने 'बहुत अच्छा' इस प्रकार कहकर पद्मावती का आदेश स्वीकार किया। स्वीकार करके वह अन्तःपुर के पिछले द्वार से निकल कर तेतलिपुत्र के घर पहुँची। वहाँ पहुँच कर दोनों हाथ जोड़ कर (मस्तक पर अंजलि करके) उसने यावत् इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिय ! आप को पद्मावती देवी ने बुलाया है।'

२०—तए णं तेयलिपुत्ते अम्मधाईए अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ-तुट्ठे अम्मधाईए सद्धिं साओ गिहाओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता अंतेउरस्स अवद्दारेणं रहस्सियं चेव अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव पउमावई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं जाव एवं वयासी-'संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! जं मए कायव्वं।'

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र, धाय माता से यह अर्थ सुनकर और हृदय में धारण करके हृष्ट-तुष्ट होकर धाय माता के साथ अपने घर से निकला। निकल कर अन्तःपुर के पिछले द्वार से, गुप्त रूप से उसने प्रवेश किया। प्रवेश करके जहाँ पद्मावती देवी थी, वहाँ आया। आकर दोनों हाथ जोड़ कर [मस्तक पर अंजलि करके] बोला—'देवानुप्रिये ! मुझे जो करना है, उसके लिए आज्ञा दीजिए।'

२१—तए णं पउमावई देवी तेयलिपुत्तं एवं वयासी-'एवं खलु कणगरहे राया जाव[2] वियंगेइ, अहं च णं देवाणुप्पिया ! दारगं पयाया, तं तुमं णं देवाणुप्पिया ! तं दारगं गिण्हाहि, जाव[3] तव मम य भिक्खाभायणे भविस्सइ, त्ति कट्टु तेयलिपुत्तस्स हत्थे दलयइ।

तए णं तेयलिपुत्ते पउमावईए हत्थाओ दारगं गेण्हइ, गेण्हित्ता उत्तरिज्जेणं पिहेइ, पिहित्ता अंतेउरस्स रहस्सियं अवदारेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सए गिहे, जेणेव पोट्टिला भारिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोट्टिलं एवं वयासी—

तत्पश्चात् पद्मावती देवी ने तेतलिपुत्र से इस प्रकार कहा—'तुम्हें विदित ही है कि कनकरथ राजा यावत् [जन्मे हुए बालकों में से किसी के हाथ, किसी के कान आदि कटवाकर] सब पुत्रों को विकलांग कर देता है। हे देवानुप्रिय ! मैंने बालक का प्रसव किया है। अतः तुम इस बालक को ग्रहण करो—सँभालो। यावत् यह बालक तुम्हारे लिए और मेरे लिए भिक्षा का भाजन सिद्ध होगा।' ऐसा कहकर उसने वह बालक तेतलिपुत्र के हाथों में सौंप दिया।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र ने पद्मावती के हाथ से उस बालक को ग्रहण किया और अपने उत्तरीय वस्त्र से ढँक लिया। ढँक कर गुप्त रूप से अन्तःपुर के पिछले द्वार से बाहर निकल गया। निकल कर जहाँ अपना घर था और जहाँ पोट्टिला भार्या थी, वहाँ आया। आकर पोट्टिला से इस प्रकार कहा—

१-अ. १४ सूत्र ८. २-अ. १४ सूत्र १५. ३-अ. १४ सूत्र १७.

२२—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य जाव वियंगेइ, अयं च णं दारए कणगरहस्स पुत्ते पउमावईए अत्तए, तेणं तुमं देवाणुप्पिया ! इमं दारगं कणगरहस्स रहस्सियं चेव अणुपुव्वेणं सारक्खाहि य, संगोवेहि य, संवड्ढेहि य। तए णं एस दारए उम्मुक्कबालभावे तव य मम य पउमावईए य आहारे भविस्सइ, त्ति कट्टु पोट्टिलाए पासे णिक्खिवइ, पोट्टिलाए पासाओ तं विणिहायमावन्नियं दारियं गेण्हइ, गेण्हित्ता उत्तरिज्जेणं पिहेइ, पिहित्ता अंतेउरस्स अवद्दारेणं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव पउमावई देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पउमावईए देवीए पासे ठावेइ, ठावित्ता जाव पडिनिग्गए।

'देवानुप्रिये ! कनकरथ राजा राज्य आदि में यावत् अतीव आसक्त होकर अपने पुत्रों को यावत् अपंग कर देता है। और यह बालक कनकरथ का पुत्र और पद्मावती का आत्मज है, अतएव देवानुप्रिय ! इस बालक का, कनकरथ से गुप्त रख कर अनुक्रम से, संरक्षण, संगोपन और संवर्धन करना। इससे यह बालक बाल्यावस्था से मुक्त होकर तुम्हारे लिए, मेरे लिए और पद्मावती देवी के लिए आधारभूत होगा।' इस प्रकार कह कर उस बालक को पोट्टिला के पास रख दिया और पोट्टिला के पास से मरी हुई लड़की उठा ली। उठा कर उसे उत्तरीय वस्त्र से ढँक कर अन्त:पुर के पिछले छोटे द्वार से प्रविष्ट हुआ और पद्मावती देवी के पास पहुँचा। मरी लड़की पद्मावती देवी के पास रख दी और वह वापिस चला गया।

२३—तए णं तीसे पउमावईए अंगपडियारियाओ पउमावइं देविं विणिहायमावन्नियं च दारियं पयायं पासंति, पासित्ता जेणेव कणगरहे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल जाव[1] एवं वयासी-'एवं खलु सामी ! पउमावई देवी मइल्लियं दारियं पयाया।'

तत्पश्चात् पद्मवती की अंगपरिचारिकाओं ने पद्मावती देवी को और विनिघात को प्राप्त (मृत) जन्मी हुई बालिका को देखा। देख कर वे जहाँ कनकरथ राजा था, वहाँ पहुँच कर दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगीं—'स्वामिन् ! पद्मावती देवी ने मृत बालिका का प्रसव किया है।'

२४—तए णं कणगरहे राया तीसे मइल्लियाए दारियाए नीहरणं करेइ, बहूणि लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ, कालेणं विगयसोए जाए।

तत्पश्चात् कनकरथ राजा ने मरी हुई लड़की का नीहरण किया अर्थात् उसे श्मशान में ले गया। बहुत-से मृतक संबंधी लौकिक कार्य किये। कुछ समय के पश्चात् राजा शोक-रहित हो गया।

२५—तए णं तेयलिपुत्ते कल्ले कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी-'खिप्पामेव चारगसोधनं करेह जाव ठिइवडियं दसदेवसियं करेह कारवेह य, एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। जम्हा णं अम्हं एस दारए कणगरहस्स रज्जे जाए, तं होउ णं दारए नामेणं कणगज्झए जाव[2] अलं भोगसमत्थे जाए।

तत्पश्चात् दूसरे दिन तेतलिपुत्र ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुला कर कहा—'हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही चारक शोधन करो, अर्थात् कैदियों को कारागार से मुक्त करो। यावत् दस

१-अ.१४ सूत्र ८. २-अ. १ सूत्र १०१

दिनों की स्थितिपतिका करो—पुत्रजन्म का उत्सव करो। यह सब करके मेरी आज्ञा मुझे वापिस सौंपो। हमारा यह बालक राजा कनकरथ के राज्य में उत्पन्न हुआ है, अतएव इस बालक का नाम कनकध्वज हो।' धीरे-धीरे वह बालक बड़ा हुआ, कलाओं में कुशल हुआ, यौवन को प्राप्त होकर भोग भोगने में समर्थ हो गया।

२६—तए णं सा पोट्टिला अन्नया कयाई तेयलिपुत्तस्स अणिट्ठा जाया यावि होत्था, णेच्छइ य तेयलिपुत्ते पोट्टिलाए नामगोत्तमवि सवणयाए, किं पुण दरिसणं वा परिभोगं वा ?

तए णं तीसे पोट्टिलाए अन्नया कयाई पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था-'एवं खलु अहं तेयलिपुत्तस्स पुव्विं इट्ठा आसि, इयाणिं अणिट्ठा जाया, नेच्छइ य तेयलिपुत्ते मम नामं जाव परिभोगं वा।' ओहयमणसंकप्पा जाव [करयलपल्हत्थमुही अट्टज्झाणोवगया] झियायइ।

तत्पश्चात् किसी समय पोट्टिला, तेतलिपुत्र को अप्रिय हो गई। तेतलिपुत्र उसका नाम-गोत्र भी सुनना पसन्द नहीं करता था, तो दर्शन और परिभोग की तो बात ही क्या ?

तब एक बार मध्यरात्रि के समय पोट्टिला के मन में यह विचार आया कि—'तेतलिपुत्र को मैं पहले प्रिय थी, किन्तु आजकल अप्रिय हो गई हूँ। अतएव तेतलिपुत्र मेरा नाम भी नहीं सुनना चाहते, तो यावत् परिभोग तो चाहेंगे ही क्या ?' इस प्रकार, जिसके मन के संकल्प नष्ट हो गये हैं ऐसी वह पोट्टिला [हथेली पर मुख रखकर आर्त्तध्यान करने लगी] चिन्ता में डूब गई।

२७—तए णं तेयलिपुत्ते पोट्टिलं ओहयमणसंकप्पं जाव[1] झियायमाणिं पासइ, पासित्ता एवं वयासी—'मा णं तुमं देवाणुप्पिया! ओहयमणसंकप्पा, तुमं णं मम महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेहि, उवक्खडावित्ता बहूणं समणमाहण जाव अतिहि-किवण-वणीमगाणं देयमाणी य दवावेमाणी य विहराहि।'

तए णं सा पोट्टिला तेयलिपुत्तेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा तेयलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता कल्लाकल्लिं महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जाव उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता बहूणं समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगाणं देयमाणी य दवावेमाणी य विहरइ।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र ने भग्नमनोरथा पोट्टिला को चिन्ता में डूबी देखकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिये! भग्नमनोरथ मत होओ। तुम मेरी भोजनशाला में विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार तैयार करवाओ और करवा कर बहुत-से श्रमणों, ब्राह्मणों, अतिथियों और भिखारियों को दान देती-दिलाती हुई रहा करो।'

तेतलिपुत्र के ऐसा कहने पर पोट्टिला हर्षित और संतुष्ट हुई। उसने तेतलिपत्र के इस अर्थ (कथन) को अंगीकार करके प्रतिदिन भोजनशाला में वह विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार करवा कर श्रमणों, ब्राह्मणों अतिथियों और भिखारियों को दान देती और दिलाती रहती थी—अपना काल यापन करती थी।

---

१. अ. १४ सूत्र २६

२८—तेणं कालेणं तेणं समएणं सुव्वयाओ नामं अज्जाओ ईरियासमियाओ जाव [भासासमियाओ एसणासमियाओ आयाण-भंड-मत्त-णिक्खेवण-समियाओ उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-पारिट्ठावण-समियाओ मणसमियाओ, वइसमियाओ कायसमियाओ, मणगुत्ताओ वइगुत्ताओ कायगुत्ताओ, गुत्ताओ गुत्तिंदियाओ] गुत्तबंभयारिणीओ बहुस्सुयाओ बहुपरिवाराओ पुव्वाणुपुव्विं चरमाणीओ जेणामेव तेयलिपुरे नयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता, अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हंति, ओगिण्हित्ता संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणीओ विहरंति।

उस काल और उस समय में, ईर्या-समिति से युक्त यावत् [भाषा-समिति, एषणासमिति, आदान-भांड-मात्र निक्षेपणा समिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिष्ठापन समिति से युक्त, मनसमिति, वचनसमिति, कायसमिति से सम्पन्न, मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति से युक्त, गुप्त तथा इन्द्रियों का गोपन करने वाली] गुप्त ब्रह्मचारिणी, बहुश्रुत, बहुत परिवार वाली सुव्रता नामक आर्या अनुक्रम से विहार करती-करती तेतलिपुर नगर में आईं। आकर यथोचित उपाश्रय ग्रहण करके संयम और तप से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगीं।

२९—तए णं तासिं सुव्वयाणं अज्जाणं एगे संघाडए पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ जाव अडमाणीओ तेयलिपुत्तस्स गिहं अणुपविट्ठाओ। तए णं सा पोट्टिला ताओ अज्जाओ एज्जमाणीओ पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेइ, पडिलाभित्ता एवं वयासी—

तत्पश्चात् उन सुव्रता आर्या के एक संघाड़े ने प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया और दूसरे प्रहर में ध्यान किया। तीसरे प्रहर में भिक्षा के लिए यावत् अटन करती हुई वे साध्वियाँ तेतलिपुत्र के घर में प्रविष्ट हुईं। पोट्टिला उन आर्याओं को आती देखकर हृष्ट-तुष्ट हुई, अपने आसन से उठ खड़ी हुई, वंदना की, नमस्कार किया और विपुल अशन, पान खाद्य और स्वाद्य-आहार वहराया। आहार वहरा कर उसने कहा—

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र के 'पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ' के पश्चात् 'जाव' शब्द से विस्तृत पाठ का संकेत दिया गया है, जिसमें साधु-साध्वी के दैवसिक कार्यक्रम के कुछ अंश का उल्लेख है, साथ ही भिक्षा संबंधी विधि का भी उल्लेख किया गया है। उस पाठ का आशय इस प्रकार है—'साध्वियों ने प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया, द्वितीय प्रहर में ध्यान किया, तीसरा प्रहर प्रारंभ होने पर शीघ्रता, चपलता और संभ्रम के बिना अर्थात् जल्दी से गोचरी के लिए जाने की उत्कंठा न रखकर-निश्चिन्त और सावधान भाव से मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन किया, पात्रों और वस्त्रों की प्रतिलेखना की, पात्रों का प्रमार्जन किया, तत्पश्चात् पात्र ग्रहण करके अपनी प्रवर्त्तिका सुव्रता साध्वी के निकट गईं। उन्हें वन्दन—नमस्कार किया और भिक्षाचर्या के लिए तेतलिपुर नगर के उच्च, नीच एवं मध्यम घरों में जाने की आज्ञा मांगी

सुव्रता साध्वी ने उन्हें भिक्षा के लिए जाने की अनुमति दे दी। तत्पश्चात् वे आर्यिकाएँ उपाश्रय से बाहर निकलीं। धीमी, अचंचल और असंभ्रान्त गति से गमन करती हुई चार हाथ सामने की भूमि-मार्ग पर दृष्टि रक्खे हुए—ईर्या समिति से नगर में श्रीमन्तों, गरीबों तथा मध्यम परिवारों में भिक्षा के लिए अटन करने लगीं। अटन करती-करती वे तेतलिपुत्र के घर में पहुँची।'

इस वर्णन से स्पष्ट है कि भिक्षार्थ गमन करने से पूर्व साधु-साध्वी को वस्त्र-पात्रादि का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना आवश्यक है, वे जिसकी निश्रा (नेसराय) में हों उनकी आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए तथा शीघ्र भिक्षाप्राप्ति के विचार से त्वरा या चपलता नहीं करनी चाहिए। भिक्षा के लिए धनी, निर्धन एवं मध्यम वर्ग के घरों में जाना चाहिए। भिक्षा का आगमोक्त समय तृतीय प्रहर है, यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है, फिर भी इस विषय में देश-काल का विचार रखना चाहिए।

३०—एवं खलु अहं अज्जाओ ! तेयलिपुत्तस्स पुव्विं इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणामा आसि, इयाणिं अणिट्ठा अप्पिया, अकंता अमणुण्णा अमणामा जाया। नेच्छइ णं तेयलिपुत्ते मम नामगोयमवि सवणयाए, किं पुण दंसणं वा परिभोगं वा ? तं तुब्भे णं अज्जाओ सिक्खियाओ, बहुनायाओ, बहुपढियाओ, बहूणि गामागर जाव आहिंडह, राईसर जाव गिहाइं अणुपविसह, तं अत्थि याइं भे अज्जाओ ! केइ कहिंचि चुन्नजोए वा, मंतजोगे वा, कम्मणजोए वा, हियउड्डावणे वा, काउड्डावणे वा आभिओगिए वा, वसीकरणे वा, कोउयकम्मे वा, भूइकम्मे वा, मूले कंदे छल्ली वल्ली सिलिया वा गुलिया वा, ओसहे वा भेसज्जे वा उवलद्धपुव्वे जेणाहं तेयलिपुत्तस्स पुणरवि इट्ठा भवेज्जामि।

'हे आर्याओ ! मैं पहले तेतलिपुत्र की इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मणाम-मनगमती थी, किन्तु अब अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ, अमणाम हो गई हूँ। तेतलिपुत्र मेरा नाम-गोत्र भी सुनना नहीं चाहते, दर्शन और परिभोग की तो बात ही दूर ! हे आर्याओ ! तुम शिक्षित हो, बहुत जानकार हो, बहुत पढ़ी हो, बहुत-से नगरों और ग्रामों में यावत् भ्रमण करती हो, राजाओं और ईश्वरों-युवराजों आदि के घरों में प्रवेश करती हो, तो हे आर्याओ ! तुम्हारे पास कोई चूर्ण योग (स्तंभन आदि करने वाला) मंत्र योग, कामण योग, हृदयोड्डायन-हृदय को हरण करने वाला, काया का आकर्षण करने वाला, आभियोगिक-पराभव करने वाला, वशीकरण, कौतुककर्म-सौभाग्य प्रदान करने वाला स्नान आदि, भूतिकर्म-मंत्रित की हुई भभूत का प्रयोग, अथवा कोई मूल, कंद, छाल, वेल, शिलिका (एक प्रकार का घास) गोली, औषध या भेषज ऐसी है, जो पहले जानी हुई हो ? जिससे मैं फिर तेतलिपुत्र की इष्ट हो सकूँ ?'

३१—तए णं ताओ अज्जाओ पोट्टिलाए एवं वुत्ताओ समाणीओ दो वि कन्ने ठाइंति, ठाइत्ता पोट्टिलं एवं वयासी—'अम्हे णं देवाणुप्पिया ! समणीओ निग्गंथीओ जाव[1] गुत्तबंभचारिणीओ, नो खलु कप्पइ अम्हं एयप्पयारं कन्नेहि वि निसामेत्तए, किमंग पुण उवदिसित्तए वा, आयरित्तए वा ? अम्हे णं तव देवाणुप्पिया ! विचित्तं केवलिपन्नत्तं धम्मं परिकहिज्जामो।'

पोट्टिला के द्वारा इस प्रकार कहने पर उन आर्याओं ने अपने दोनों कान बन्द कर लिये। कान बन्द करके उन्होंने पोट्टिला से कहा—देवानुप्रिये ! हम निर्ग्रन्थ श्रमणियाँ हैं, यावत् गुप्त ब्रह्मचारिणियां हैं। अतएव ऐसे वचन हमें कानों से श्रवण करना भी नहीं कल्पता तो इस विषय का उपदेश देना या आचरण करना तो कल्प ही कैसे सकता है ? हाँ, देवानुप्रिये ! हम तुम्हें अद्भुत या अनेक प्रकार के केवलिप्ररूपित धर्म का भलीभांति उपदेश दे सकती हैं।'

---

१. अ. १४ सूत्र २८.

३२—तए णं सा पोट्टिला ताओ अज्जाओ एवं वयासी-इच्छामि णं अज्जाओ ! तुम्हं अंतिए केवलिपन्नत्तं धम्मं निसामित्तए। तए णं ताओ अज्जाओ पोट्टिलाए विचित्तं धम्मं परिकहेंति। तए णं सा पोट्टिला धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा एवं वयासी—'सद्दहामि णं अज्जाओ ! निग्गंथं पावयणं जाव[1] से जहेयं तुब्भे वयह, इच्छामि णं अहं तुब्भं अंतिए पंचाणुव्वइयं जाव सत्त सिक्खावइयं गिहि-धम्मं पडिवज्जित्तए।'

अहासुहं देवाणुप्पिए !

तत्पश्चात् पोट्टिला ने उन आर्याओं से कहा—हे आर्याओ ! मैं आपके पास से केवलिप्ररूपित धर्म सुनना चाहती हूँ।' तब उन आर्याओं ने पोट्टिला को अद्भुत या अनेक प्रकार के धर्म का उपदेश दिया। पोट्टिला धर्म का उपदेश सुनकर और हृदय में धारण करके हृष्ट-तुष्ट होकर इस प्रकार बोली—'आर्याओ ! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा करती हूँ। जैसा आपने कहा, वह वैसा ही है। अतएव मैं आपके पास से पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत वाले श्रावक के धर्म को अंगीकार करना चाहती हूँ।'

तब आर्याओं ने कहा—'देवानुप्रिये ! जैसे सुख उपजे, वैसा करो।'

३३—तए णं सा पोट्टिला तासिं अज्जाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं जाव धम्मं पडिवज्जइ, ताओ अज्जाओ वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पडिविसज्जेइ।

तए णं सा पोट्टिला समणोवासिया जाया जाव समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं ओसह-भेसज्जेणं पाडिहारिएणं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारएणं पडिलाभेमाणी विहरइ।

तत्पश्चात् उस पोट्टिला ने उन आर्याओं से पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत वाला केवलिप्ररूपित धर्म अंगीकार किया। उन आर्याओं को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना नमस्कार करके उन्हें विदा किया।

तत्पश्चात् पोट्टिला श्रमणोपासिका हो गई, यावत् साधु-साध्वियों को [प्रासुक-अचित्त, एषणीय-आधाकर्मादि दोषों से रहित-कल्पनीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम, तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, औषध, भेषज एवं प्रातिहारिक-वापिस लौटा देने के योग्य पीढ़ा, पाटा, शय्या-उपाश्रय और संस्तारक-बिछाने के लिए घास आदि] प्रदान करती हुई विचरने लगी।

३४—तए णं तीसे पोट्टिलाए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणीए अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अहं तेयलिपुत्तस्स पुव्विं इट्ठा ५ आसि, इयाणिं अणिट्ठा ५ जाया जाव[2] परिभोगं वा, तं सेयं खलु मम सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए पव्वइत्तए।' एवं संपेहेइ। संपेहित्ता कल्लं पाउप्पभायाए जेणेव तेयलिपुत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया !

१. अ. १ सूत्र ११५. २. अ. १४ सूत्र ३१

मए सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए धम्मे निसंते जाव से वि य मे धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तं इच्छामि णं तुब्भेहि अब्भणुन्नाया पव्वइत्तए।'

तदनन्तर एक बार, किसी समय, मध्य रात्रि में जब वह कुटुम्ब के विषय में चिन्ता करती जाग रही थी, तब उसे इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—'मैं पहले तेतलिपुत्र को इष्ट थी, अब अनिष्ट हो गई हूँ; यावत् दर्शन और परिभोग का तो कहना ही क्या है ? अतएव मेरे लिए सुव्रता आर्या के निकट दीक्षा ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है।' पोट्टिला ने ऐसा विचार किया। विचार करके दूसरे दिन, प्रभात होने पर, वह तेतलिपुत्र के पास गई। जाकर दोनों हाथ जोड़कर [अंजलि करके और मस्तक पर आवर्त्त करके] बोली—देवानुप्रिय ! मैंने सुव्रता आर्या से धर्म सुना है, वह धर्म मुझे इष्ट, अतीव इष्ट है, और रुचिकर लगा है, अतः आपकी आज्ञा पाकर मैं प्रव्रज्या अंगीकार करना चाहती हूँ।

३५—तए णं तेयलिपुत्ते पोट्टिलं एवं वयासी-'एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए ! मुंडा पव्वइया समाणी कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जिहिसि, तं जइ णं तुमं देवाणुप्पिए ! ममं ताओ देवलोयाओ आगम्म केवलिपन्नत्ते धम्मे बोहिहि, तो हं विसज्जेमि, अह णं तुमं ममं ण संबोहेसि तो ते ण विसज्जेमि।'

तए णं सा पोट्टिला तेयलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ।

तब तेतलिपुत्र ने पोट्टिला से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिये ! तुम मुंडित और प्रव्रजित होकर मृत्यु के समय काल करके किसी भी देवलोक में देव रूप से उत्पन्न होओगी, सो यदि देवानुप्रिये ! तुम उस देवलोक से आकर मुझे केवलिप्ररूपित धर्म का प्रतिबोध प्रदान करो तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। अगर तुम मुझे प्रतिबोध न दो तो मैं आज्ञा नहीं देता।'

तब पोट्टिला ने तेतलिपुत्र का अर्थ—कथन स्वीकार कर लिया।

३६—तए णं तेयलिपुत्ते विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता मित्तणाइ जाव आमंतेइ, आमंतित्ता जाव संमाणेइ, संमाणित्ता पोट्टिलं ण्हायं जाव [सव्वालंकार-विभूसियं] पुरिससहस्सवाहणीयं सीयं दुरुहित्ता मित्तणाइ जाव परिवुडे सव्विड्ढीए जाव रवेणं तेतलिपुरस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव सुव्वयाणं उवस्सए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीयाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता पोट्टिलं पुरओ कट्टु जेणेव सुव्वया अज्जा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

'एवं खलु देवाणुप्पिए ! मम पोट्टिला भारिया इट्ठा, एस णं संसारभउव्विग्गा जाव [भीया जम्मण-जर-मरणाणं, इच्छइ देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं] पव्वइत्तए। पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिए ! सिस्सिणिभिक्खं दलयामि।'

'अहासुहं मा पडिबंधं करेह।'

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र ने विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार बनवाया। मित्रों, ज्ञातिजनों आदि को आमंत्रित किया। उनका यथोचित सत्कार-सन्मान किया। सत्कार-सन्मान

करके पोट्टिला को स्नान कराया यावत् (सर्व अलंकारों से विभूषित किया) और हजार पुरुषों द्वारा वहन करने योग्य शिविका पर आरूढ करा कर मित्रों तथा ज्ञातिजनों आदि से परिवृत होकर, समस्त ऋद्धि-लवाजमे—के साथ, यावत् वाद्यों की ध्वनि के साथ तेतलिपुर के मध्य में होकर सुव्रता साध्वी के उपाश्रम में आया। वहाँ आकर सुव्रता आर्या को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा—

'देवानुप्रिये ! यह मेरी पोट्टिला भार्या मुझे इष्ट है। यह संसार के भय से उद्वेग को प्राप्त हुई है, यावत् (जन्म, जरा, मरण के दुःखों से भयभीत हुई है, अतः आपके निकट मुंडित होकर गृहत्यागिन बनना चाहती है—) दीक्षा अंगीकार करना चाहती है। सो देवानुप्रिये ! मैं आपको शिष्या रूप भिक्षा देता हूँ। इसे आप अंगीकार कीजिए।'

आर्या ने कहा—'जैसे सुख उपजे वैसा करो; प्रतिबन्ध मत करो—विलम्ब न करो।'

३७—तए णं सा पोट्टिला सुव्वयाहिं अज्जाहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ-तुट्ठा उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए सयमेव आभरण-मल्लालंकारं ओमुयइ, ओमुइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करित्ता जेणेव सुव्वयाओ अज्जाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'आलित्ते णं भंते ! लोए' एवं जहा देवाणंदा, जाव एक्कारस अंगाइं, बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणइ, पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झोसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणेणं छेइत्ता, आलोइय-पडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ना।

तत्पश्चात् सुव्रता आर्या के इस प्रकार कहने पर पोट्टिला हृष्ट-तुष्ट हुई। उसने उत्तर पूर्व-ईशान दिशा में जाकर अपने आप आभरण, माला और अलंकार उतार डाले। उतारकर स्वयं ही पचमुष्ठिक लोच किया। यह सब करके जहाँ सुव्रता आर्या थी, वहाँ आई। आकर उन्हें वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'हे भगवती (पूज्ये) ! यह संसार चारों ओर से जल रहा है, इत्यादि भगवती सूत्र में कथित देवानन्दा की दीक्षा के समान वर्णन कह लेना चाहिए।'[1] यावत् पोट्टिला ने दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। बहुत वर्षों तक चारित्र का पालन किया। पालन करके एक मास की संलेखना करके, अपने शरीर को कृश करके, साठ भक्त का अनशन करके, पापकर्म की आलोचना और प्रतिक्रमण करके, समाधिपूर्वक मृत्यु के अवसर पर काल करके वह किसी देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न हुई।

३८—तए णं से कणगरहे राया अन्नया कयाई कालधम्मुणा संजुत्ते यावि होत्था। तए णं राईसर जाव [तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइपभिइओ रोयमाणा कंदमाणा विलवमाणा तस्स कणगरहस्स सरीरस्स महया इड्ढी सक्कार-समुदएणं] णीहरणं करेंति, करित्ता अन्नमन्नं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य जाव पुत्ते वियंगित्था, अम्हे णं देवाणुप्पिया ! रायाहीणा, रायाहिट्ठिया, रायाहीणकज्जा, अयं च णं तेतली अमच्चे कणगरहस्स रण्णो सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु लद्धपच्चए दिन्नवियारे सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था। तं सेयं खलु अम्हं तेयलिपुत्तं अमच्चं कुमारं जाइत्तए' त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जेणेव तेयलिपुत्ते अमच्चे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तेयलिपुत्तं एवं वयासी—

१—विस्तृत वर्णन के लिए देखिए, भगवतीसूत्र शतक ९।

तत्पश्चात् किसी समय कनकरथ राजा कालधर्म से युक्त हो गया—मर गया। तब राजा, ईश्वर (तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति आदि ने रुदन करते हुए, चीख-चीखकर रोते हुए, विलाप करते हुए, खूब धूम-धाम से कनकरथ राजा का नीहरण किया—अन्तिम संस्कार किया। अन्तिम संस्कार करके वे परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'देवानुप्रियो ! कनकरथ राजा ने राज्य आदि में आसक्त होने के कारण अपने पुत्रों को विकलांग कर दिया है। देवानुप्रियो ! हम लोग तो राजा के अधीन हैं, राजा से अधिष्ठित होकर रहने वाले हैं, और राजा के अधीन रह-कर कार्य करने वाले हैं। तेतलिपुत्र अमात्य, राजा कनकरथ का, सब स्थानों में और सब भूमिकाओं में विश्वासपात्र रहा है, परामर्श—विचार देने वाला—विचारक है और सब काम चलाने वाला है। अतएव हमें तेतलिपुत्र अमात्य से कुमार की याचना करना चाहिए।' इस प्रकार विचार करके उन्होंने आपस में यह बात स्वीकार की। स्वीकार करके तेतलिपुत्र अमात्य के पास आये। आकर तेतलिपुत्र से इस प्रकार कहने लगे—

३९—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! कणगरहे राया रज्जे य रट्ठे य जाव वियंगेइ, अम्हे य णं देवाणुप्पिया ! रायाहीणा जाव रायाहीणकज्जा, तुमं च णं देवाणुप्पिया ! कणगरहस्स रण्णो सव्वट्ठाणेसु जाव रज्जधुराचिंतए। तं जइ णं देवाणुप्पिया ! अत्थि केइ कुमारे रायलक्खणसंपन्ने अभिसेयारिहे, तं णं तुमं अम्हं दलाहि, जा णं अम्हे महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचामो।'

'देवानुप्रिय ! बात ऐसी है—कनकरथ राजा राज्य में तथा राष्ट्र में आसक्त था। अतएव उसने अपने सभी पुत्रों को विकलांग कर दिया है। और हम लोग तो देवानुप्रिय ! राजा के अधीन रहने वाले यावत् राजा के अधीन रहकर कार्य करने वाले हैं। हे देवानुप्रिय ! तुम कनकरथ राजा के सभी स्थानों में विश्वासपात्र रहे हो, यावत् राज्यधुरा के चिन्तक हो। अतएव देवानुप्रिय ! यदि कोई कुमार राजलक्षणों से युक्त और अभिषेक के योग्य हो तो हमें दो, जिससे महान्-महान् राज्या-भिषेक से हम उसका अभिषेक करें।

४०—तए णं तेयलिपुत्ते तेसिं ईसरपभिईणं एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता कणगज्झयं कुमारं ण्हायं जाव सस्सिरीयं करेइ, करित्ता तेसिं ईसरपभिईणं उवणेइ, उवणित्ता एवं वयासी—

'एस णं देवाणुप्पिया ! कणगरहस्स रण्णो पुत्ते, पउमावईए देवीए अत्तए, कणगज्झए कुमारे अभिसेयारिहे रायलक्खणसंपन्ने। मए कणगरहस्स रण्णो रहस्सियं संवड्ढिए। एयं णं तुब्भे महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचह।' सव्वं च तेसिं (से) उट्ठाणपरियावणियं परिकहेइ।

तए णं ते ईसरपभिइओ कणगज्झयं कुमारं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचंति।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र ने उन ईश्वर आदि के इस कथन को अंगीकार किया। अंगीकार करके कनकध्वज कुमार को स्नान कराया और विभूषित किया। फिर उसे उन ईश्वर आदि के पास लाया। लाकर कहा—

'देवानुप्रियो ! यह कनकरथ राजा का पुत्र और पद्मावती देवी का आत्मज कनकध्वज कुमार अभिषेक के योग्य है और राजलक्षणों से सम्पन्न है। मैंने कनकरथ राजा से छिपा कर इसका संवर्धन किया है। तुम लोग महान्-महान् राज्याभिषेक से इसका अभिषेक करो।' इस प्रकार कहकर उसने कुमार के जन्म का और पालन-पोषण आदि का समग्र वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया।

४१—तए णं ते ईसरपभिइओ कणगज्झयं कुमारं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचंति। तए णं से कणगज्झए कुमारे राया जाए, महया हिमवंत-महंत-मलय-मंदर-महिंदसारे, वण्णओ, जाव रज्जं पसासेमाणे विहरइ। तए णं सा पउमावई देवी कणगज्झयं रायं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी-'एस णं पुत्ता! तव रज्जे य जाव [रट्ठे य बले य वाहणे य कोसे य कोट्ठागारे य पुरे य] अंतेउरे य तुमं च तेयलिपुत्तस्स पहावेणं, तं तुमं णं तेयलिपुत्तं अमच्चं आढाहि, परिजाणाहि, सक्कारेहि, सम्माणेहि, इंतं अब्भुट्ठेहि, ठियं पज्जुवासाहि, वच्चंतं पडिसंसाहेहि, अद्धासणेणं उवनिमंतेहि, भोगं च से अणुवड्ढेहि।

तत्पश्चात् उन ईश्वर आदि ने कनकध्वज कुमार का महान्-महान् राज्याभिषेक किया। अब कनकध्वज कुमार राजा हो गया महाहिमवान् और मलय पर्वत के समान इत्यादि राजा का वर्णन (औपपातिक सूत्र के अनुसार) यहां कहना चाहिए। यावत् वह राज्य का पालन करता हुआ विचरने लगा।

उस समय पद्मावती देवी ने कनकध्वज राजा को बुलाया और बुलाकर कहा—पुत्र! तुम्हारा यह राज्य यावत् (राष्ट्र, बल-सैन्य, वाहन-हस्ती अश्व आदि, कोष, कोठार पुर और) अन्तःपुर तुम्हें तेतलिपुत्र की कृपा से प्राप्त हुए हैं। यहां तक कि स्वयं तू भी तेतलिपुत्र के ही प्रभाव से राजा बना है। अतएव तू तेतलिपुत्र अमात्य का आदर करना, उन्हें अपना हितैषी जानना, उनका सत्कार करना, सन्मान करना, उन्हें आते देख कर खड़े होना, आकर खड़े होने पर उनकी उपासना करना, उनके जाने पर पीछे-पीछे जाना, बोलने पर वचनों की प्रशंसा करना, उन्हें आधे आसन पर बिठलाना और उनके भोग की (वेतन तथा जागीर आदि की) वृद्धि करना

४२—तए णं से कणगज्झए पउमावईए देवीए तह त्ति पडिसुणेइ, जाव[१] भोगं च से वड्ढेइ।

तत्पश्चात् कनकध्वज ने पद्मावती देवी के कथन को बहुत अच्छा कहकर अंगीकार किया। यावत् वह पद्मावती के आदेशानुसार तेतलिपुत्र का सत्कार-सन्मान करने लगा। उसने उसके भोग (वेतन-जागीर आदि) की वृद्धि कर दी।

४३—तए णं से पोट्टिले देवे तेयलिपुत्तं अभिक्खणं अभिक्खणं केवलिपन्नत्ते धम्मे संबोहेइ, नो चेव णं से तेयलिपुत्ते संबुज्झइ। तए णं तस्स पोट्टिलदेवस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु कणगज्झए राया तेयलिपुत्तं आढाइ, जाव भोगं च संवड्ढेइ तए णं से तेयली अभिक्खणं अभिक्खणं संबोहिज्जमाणे वि धम्मे नो संबुज्झइ, तं सेयं खलु कणगज्झयं तेयलिपुत्ताओ विप्परिणामित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कणगज्झयं तेयलिपुत्ताओ विप्परिणामेइ।

उधर पोट्टिल देव ने तेतलिपुत्र को बार-बार केवलि-प्ररूपित धर्म का प्रतिबोध दिया, परन्तु तेतलिपुत्र को प्रतिबोध हुआ ही नहीं। तब पोट्टिल देव को इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—'कनकध्वज राजा, तेतलिपुत्र का आदर करता है, यावत् उसका भोग बढ़ा दिया है, इस कारण तेतलिपुत्र बार-बार प्रतिबोध देने पर भी धर्म में प्रतिबुद्ध नहीं होता। अतएव यह उचित होगा

१. अ. १४ सूत्र ४१

कि कनकध्वज को तेतलिपुत्र से विरुद्ध (विमुख) कर दिया जाय।' देव ने ऐसा विचार किया और कनकध्वज को तेतलिपुत्र से विरुद्ध कर दिया।

४४—तए णं तेयलिपुत्ते कल्लं ण्हाए जाव [कयबलिकम्मे कयकोउय-मंगल-] पायच्छित्ते आसखंधवरगए बहूहिं पुरिसेहिं संपरिवुडे साओ गिहाओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव कणगज्झए राया तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तदनन्तर तेतलिपुत्र दूसरे दिन स्नान करके, यावत् (बलिकर्म एवं अमंगल-निवारण के लिए कौतुक, मंगल, प्रायश्चित्त करके) श्रेष्ठ अश्व की पीठ पर सवार होकर और बहुत-से पुरुषों से परिवृत होकर अपने घर से निकला। निकल कर जहां कनकध्वज राजा था, उसी ओर रवाना हुआ।

४५—तए णं तेयलिपुत्तं अमच्चं से जहा बहवे राईसरतलवर जाव [माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-] पभिइओ पासंति, ते तहेव आढायंति, परिजाणंति, अब्भुट्ठेंति, अब्भुट्ठित्ता अंजलिपरिग्गहं करेंति, करित्ता इट्ठाहिं कंताहिं जाव [पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं] वग्गूहिं आलवेमाणा संलवेमाणा य पुरतो य पिट्ठतो य पासतो य मग्गतो य समणुगच्छंति।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र अमात्य को (मार्ग में) जो-जो बहुत-से राजा, ईश्वर, तलवर, (माडंबिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह) आदि देखते, वे उसी तरह अर्थात् सदैव की भांति उसका आदर करते, उसे हितकारक जानते, और खड़े होते। खड़े होकर हाथ जोड़ते और हाथ जोड़कर इष्ट, कान्त, यावत् (प्रिय, मनोज्ञ और मनोहर) वाणी से बोलते और बार-बार बोलते। वे सब उसके आगे, पीछे और अगल-बगल में अनुसरण करके चलते थे।

४६—तए णं से तेयलिपुत्ते जेणेव कणगज्झए तेणेव उवागच्छइ। तए णं कणगज्झए तेयलिपुत्तं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता नो आढाइ, नो परियाणाइ, नो अब्भुट्ठेइ, अणाढायमाणे अपरियाणमाणे अणब्भुट्ठायमाणे परंमुहे संचिट्ठइ।

तए णं तेयलिपुत्ते अमच्चे कणगज्झयस्स रण्णो अंजलिं करेइ। तओ य णं कणगज्झए राया अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे अणब्भुट्ठेमाणे तुसिणीए परम्मुहे संचिट्ठइ।

तए णं तेयलिपुत्ते कणगज्झयं विप्परिणयं जाणित्ता भीए जाव [तत्थे तसिए उव्विग्गे] संजायभए एवं वयासी—'रुट्ठे णं मम कणगज्झए राया, हीणे णं मम कणगज्झए राया, अवज्झाए णं कणगज्झए राया। तं ण णज्जइ णं मम केणइ कु-मारेण मारेहि' त्ति कट्टु भीए तत्थे य जाव सणियं सणियं पच्चोसक्केइ, पच्चोसक्कित्ता तमेव आसखंधं दुरूहेइ, दुरूहित्ता तेतलिपुरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् वह तेतलिपुत्र जहाँ कनकध्वज राजा था, वहाँ आया। कनकध्वज ने तेतलिपुत्र को आते देखा, मगर देख कर उसका आदर नहीं किया, उसे हितैषी नहीं जाना, खड़ा नहीं हुआ, वल्कि आदर न करता हुआ, न जानता हुआ और खड़ा न होता हुआ पराङ्मुख (पीठ फेर कर) बैठा रहा।

तब तेतलिपुत्र ने कनकध्वज राजा को हाथ जोड़े। तब भी वह उसका आदर नहीं करता हुआ विमुख होकर वैठा ही रहा।

तब तेतलिपुत्र, कनकध्वज को अपने से विपरीत हुआ जानकर भयभीत हो गया। उसके हृदय में खूब भय उत्पन्न हो गया। वह इस प्रकार बोला—मन ही मन कहने लगा—कनकध्वज राजा मुझसे रुष्ट हो गया है, कनकध्वज राजा मुझ पर हीन हो गया है, कनकध्वज राजा ने मेरा बुरा सोचा है। सो न मालूम यह मुझे किस बुरी मौत से मारेगा।' इस प्रकार विचार करके वह डर गया, त्रास को प्राप्त हुआ, घबराया और धीरे-धीरे वहाँ से खिसक गया। खिसक कर उसी अश्व की पीठ पर सवार हुआ। सवार होकर तेतलिपुर के मध्यभाग में होकर अपने घर की तरफ रवाना हुआ।

४७—तए णं तेयलिपुत्तं जे जहा ईसर जाव पासंति ते तहा नो आढायंति, नो परियाणंति, नो अब्भुट्ठेंति, नो अंजलिपरिग्गहियं करेंति, इट्ठाहिं जाव णो संलवंति, नो पुरओ य पिट्ठओ य पासओ य मग्गओ य समणुगच्छंति।

तए णं तेयलिपुत्ते जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ। जा वि य से बाहिरिया परिसा भवइ, तंजहा-दासे इ वा, पेसे इ वा, भाइल्लए इ वा, सा वि य णं नो आढाइ, नो परियाणाइ, नो अब्भुट्ठेइ। जा वि य से अब्भिंतरिया परिसा भवइ, तंजहा-पिया इ वा मायाइ वा जाव भाया इ वा भगिणी इ वा भज्जा इ वा पुत्ता इ वा धूया इ वा सुण्हा इ वा, सा वि य णं नो आढाइ, नो परियाणाइ, नो अब्भुट्ठेइ।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र को वे ईश्वर आदि देखते हैं, किन्तु वे पहले की तरह उसका आदर नहीं करते, उसे नहीं जानते, सामने नहीं खड़े होते, हाथ नहीं जोड़ते, और इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोहर वाणी से बात नहीं करते। आगे, पीछे और अगल बगल में उसके साथ नहीं चलते।

तब तेतलिपुत्र जिधर अपना घर था, उधर आया। घर आने पर बाहर की जो परिषद् होती है; जैसे कि दास, प्रेष्य (बाहर जाने-आने का काम करने वाले), तथा भागीदार आदि; उस बाहर की परिषद् ने भी उसका आदर नहीं किया, उसे नहीं जाना, और न खड़ी हुई। और जो आभ्यन्तर परिषद् होती है, जैसे कि माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, पुत्रवधू आदि; उसने भी उसका आदर नहीं किया, उसे नहीं जाना और न उठ कर खड़ी हुई।

आत्मघात का प्रयत्न

४८—तए णं से तेयलिपुत्ते जेणेव वासघरे, जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सयणिज्जंसि णिसीयइ, णिसीइत्ता एवं वयासी—'एवं खलु अहं सयाओ गिहाओ निग्गच्छामि, तं चेव जाव अब्भिंतरिया परिसा नो आढाइ, नो परियाणाइ, नो अब्भुट्ठेइ, तं सेयं खलु मम अप्पाणं जीवियाओ ववरोवित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता तालउडं विसं आसगंसि पक्खिवइ, से य विसे णो संकमइ।

तए णं से तेयलिपुत्ते नीलुप्पल जाव गवल-गुलिय-अयसिकुसुमप्पगासं खुरधारं असिं खंधे ओहरइ, तत्थ वि य से धारा ओपल्ला।

तए णं से तेयलिपुत्ते जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पासगं गीवाए बंधइ, बंधित्ता रुक्खं दुरूहइ, दुरूहित्ता पासं रुक्खे बंधइ, बंधित्ता अप्पाणं मुयइ, तत्थ वि य से रज्जू छिन्ना।

तए णं से तेयलिपुत्ते महइमहालयसिलं गीवाए बंधइ, बंधित्ता अत्थाहमतारमपोरिसियंसि उदगंसि अप्पाणं मुयइ, तत्थ वि से थाहे जाए।

तए णं से तेयलिपुत्ते सुक्कंसि तणकूडंसि अगणिकायं पक्खिवइ, पक्खिवित्ता अप्पाणं मुयइ, तत्थ वि य से अगणिकाए विज्झाए।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र, जहाँ उसका अपना वासगृह था और जहाँ शय्या थी, वहाँ आया। आकर शय्या पर बैठा। बैठ कर (मन ही मन) इस प्रकार कहने लगा—'मैं अपने घर से निकला और राजा के पास गया। मगर राजा ने आदर-सत्कार नहीं किया। लौटते समय मार्ग में भी किसी ने आदर नहीं किया। घर आया तो बाह्य परिषद् ने भी आदर नहीं किया, यावत् आभ्यन्तर परिषद् ने भी आदर नहीं किया, मानो मुझे पहचाना ही नहीं, कोई खड़ा नहीं हुआ। ऐसी दशा में मुझे अपने को जीवन से रहित कर लेना ही श्रेयस्कर है।' इस प्रकार तेतलिपुत्र ने विचार किया। विचार करके तालपुट विष—जो बहुत तीव्र, प्राणसंहारक होता है—अपने मुख में डाला। परन्तु उस विष ने संक्रमण नहीं किया—असर नहीं किया।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र ने नीलकमल (भैंस के सींग, नील गुटिका एवं अलसी के पुष्प) के समान श्याम वर्ण की तलवार अपने कंधे पर वहन की—तलवार का प्रहार किया; मगर उसकी धार कुंठित हो गई।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र अशोक वाटिका में गया। वहाँ जाकर उसने अपने गले में पाश बाँधा—फांसी लगाई। फिर वृक्ष पर चढ़ा। चढ़कर वह पाश वृक्ष से बाँधा। फिर अपने शरीर को छोड़ा अर्थात् लटका दिया। किन्तु रस्सी टूट गई—फांसी नहीं लगी।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र ने बहुत बड़ी शिला गर्दन में बाँधी। बाँध कर अथाह, न तिरने योग्य और अपौरुष (कितने पुरुष प्रमाण है, यह न जाना जा सके ऐसे) जल में अपना शरीर छोड़ दिया। पर वहाँ वह जल थाह—छिछला हो गया।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र ने सूखे घास के ढेर में आग लगाई और अपने शरीर को उसमें डाल दिया। मगर वह अग्नि भी बुझ गई।

४९—तए णं से तेयलिपुत्ते एवं वयासी—'सद्धेयं खलु भो समणा वयंति, सद्धेयं खलु भो माहणा वयंति, सद्धेयं खलु भो समणा माहणा वयंति, अहं एगो असद्धेयं वयामि, एवं खलु

अहं सह पुत्तेहिं अपुत्ते, को मेदं सद्दहिस्सइ ?

सह मित्तेहिं अमित्ते, को मेदं सद्दहिस्सइ ?

एवं अत्थेणं दारेणं दासेहिं परिजणेणं।

एवं खलु तेयलिपुत्तेणं अमच्चेणं कणगज्झएणं रन्ना अवज्झाएणं समाणेणं तालपुडगे विसे आसगंसि पक्खित्ते, से वि य णो संकमइ, को मेदं सद्दहिस्सइ ?

तेयलिपुत्ते नीलुप्पल जाव खंधंसि ओहरिए, तत्थ वि य से धारा ओपल्ला, को मेदं सद्दहिस्सइ ?

तेयलिपुत्तेणं पासगं गीवाए बंधेत्ता जाव रज्जू छिन्ना, को मेदं सद्दहिस्सइ ?

तेयलिपुत्तेणं महासिलयं जाव बंधित्ता अत्थाह जाव उदगंसि अप्पा मुक्के, तत्थ वि य णं थाहे जाए, को मेदं सद्दहिस्सइ ?

तेयलिपुत्तेणं सुक्कंसि तणकूडे अग्गी विज्झाए, को मेदं सद्दहिस्सइ ?

ओहयमणसंकप्पे जाव [करयलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए] झियाइ ।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र मन ही मन इस प्रकार बोला—'श्रमण श्रद्धा करने योग्य वचन बोलते हैं, माहन श्रद्धा करने योग्य वचन बोलते हैं, श्रमण और माहन श्रद्धा करने योग्य वचन बोलते हैं । मैं ही एक हूँ जो अश्रद्धेय वचन कहता हूँ ।

मैं पुत्रों सहित होने पर भी पुत्रहीन हूँ, कौन मेरे इस कथन पर श्रद्धा करेगा ?

मैं मित्रों सहित होने पर भी मित्रहीन हूँ, कौन मेरी इस बात पर विश्वास करेगा ?

इसी प्रकार धन, स्त्री, दास और परिवार-से सहित होने पर भी मैं इनसे रहित हूँ, कौन मेरी इस बात पर श्रद्धा करेगा ?

इस प्रकार राजा कनकध्वज के द्वारा जिसका बुरा विचारा गया है, ऐसे तेतलिपुत्र अमात्य ने अपने मुख में विष डाला, मगर विष ने कुछ भी प्रभाव न दिखलाया, मेरे इस कथन पर कौन विश्वास करेगा ?

तेतलिपुत्र ने अपने गले में नील कमल जैसी तलवार का प्रहार किया, मगर उसकी धार कुंठित हो गई, कौन मेरी इस बात पर श्रद्धा करेगा ?

तेतलिपुत्र ने अपने गले में फांसी लगाई, मगर रस्सी टूट गई, मेरी इस बात पर कौन भरोसा करेगा ?

तेतलिपुत्र ने गले में भारी शिला बाँधकर अथाह जल में अपने आपको छोड़ दिया, मगर वह पानी थाह-छिछला हो गया; मेरी यह बात कौन मानेगा ?

तेतलिपुत्र सूखे घास में आग लगा कर उसमें कूद गया, मगर आग बुझ गई, कौन इस बात पर विश्वास करेगा ?

इस प्रकार तेतलिपुत्र भग्नमनोरथ होकर हथेली पर मुख रखकर आर्त्तध्यान करने लगा ।

५०—तए णं से पोट्टिले देवे पोट्टिलारूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता तेयलिपुत्तस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वयासी—'हं भो तेयलिपुत्ता ! पुरओ पवाए, पिट्ठओ हत्थिभयं, दुहओ अचक्खुफासे, मज्झे सराणि वरिसंति, गामे पलित्ते, रन्ने झियाइ, रन्ने पलित्ते गामे झियाइ, आउसो तेयलिपुत्ता ! कओ वयामो ?'

तब पोट्टिल देव ने पोट्टिला के रूप की विक्रिया की । विक्रिया करके तेतलिपुत्र से न बहुत दूर और न बहुत पास स्थित होकर इस प्रकार कहा—'हे तेतलिपुत्र ! आगे प्रपात (गड़हा) है और पीछे हाथी का भय है । दोनों बगलों में ऐसा अंधकार है कि आँखों से दिखाई नहीं देता । मध्य भाग में बाणों की वर्षा हो रही है । गांव में आग लगी है और वन धधक रहा है । वन में आग लगी है और

गाँव धधक रहा है, तो आयुष्मन् तेतलिपुत्र ! हम कहाँ जाएं ? कहाँ शरण लें ? अभिप्राय यह है कि जिसके चारों ओर घोर भय का वायुमण्डल हो और जिसे कहीं भी क्षेम-कुशल न दिखाई दे, उसे क्या करना चाहिए ? उसके लिए हितकर मार्ग क्या है ?

५१—तए णं से तेयलिपुत्ते पोट्टिलं देवं एवं वयासी—'भीयस्स खलु भो पव्वज्जा सरणं, उक्कंठियस्स सदेसगमणं, छुहियस्स अन्नं, तिसियस्स पाणं, आउरस्स भेसज्जं, माइयस्स रहस्सं, अभिजुत्तस्स पच्चयकरणं, अद्धाणपरिसंतस्स वाहणगमणं, तरिउकामस्स पवहणं किच्चं,[1] परं अभिओ-जितुकामस्स सहायकिच्चं, खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स एत्तो एगमवि ण भवइ।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र ने पोट्टिल देव से इस प्रकार कहा—अहो ! इस प्रकार सर्वत्र भयभीत पुरुष के लिए दीक्षा ही शरणभूत है। जैसे उत्कंठित हुए पुरुष के लिए स्वदेश गमन शरणभूत है, भूखे को अन्न, प्यासे को पानी, बीमार को औषध, मायावी को गुप्तता, अभियुक्त को (जिस पर अपराध करने का आरोप लगाया गया हो उसे) विश्वास उपजाना, थके-मांदे को वाहन पर चढ़ कर गमन करना, तिरने के इच्छुक को जहाज और शत्रु का पराभव करने वाले को सहायकृत्य (मित्रों की सहायता) शरणभूत है। क्षमाशील, इन्द्रियदमन करने वाले, जितेन्द्रिय (इन्द्रियविषयों में राग-द्वेष न करने वाले को इनमें से कोई भय नहीं होता।

विवेचन—सर्वत्र भयग्रस्त को दीक्षा क्यों शरणभूत है ? इसका स्पष्टीकरण यह है कि क्रोध का निग्रह करने वाले क्षमाशील, इन्द्रियों का और मन का दमन करने वाले तथा जितेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों के विषय में राग न रखने वाले पुरुष को इनमें से एक भी भय नहीं है। भय काया और माया के लिए ही होता है। जिसने दोनों की ममता त्याग दी, वह सदैव और सर्वत्र निर्भय है।

प्रस्तुत सूत्र ४६ से तेतलिपुत्र का जो वर्णन किया गया है, वह अत्यन्त विस्मयजनक है, पर यह सब दैवी माया का चमत्कार ही समझना चाहिए। दैवी चमत्कार तर्क की सीमा से बाहर एवं बुद्धि की परिधि में नहीं आने वाला होता है।

५२—तए णं से पोट्टिले देवे तेयलिपुत्तं अमच्चं एवं वयासी—सुट्ठु णं तुमं तेयलिपुत्ता ! एयमट्ठं आयाणाहि त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चंपि एवं वयइ, वइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

तत्पश्चात् पोट्टिल देव ने तेतलिपुत्र अमात्य से इस प्रकार कहा—'हे तेतलिपुत्र ! तुम ठीक कहते हो। अर्थात् भयग्रस्त के लिए प्रव्रज्या शरणभूत है, यह तुम्हारा कथन सत्य है। मगर इस अर्थ को तुम भलीभाँति जानो, अर्थात् इस समय तुम भयभीत हो तो तदनुसार आचरण करके यह बात समझो-दीक्षा ग्रहण करो। इस प्रकार कहकर देव ने दूसरी बार और तीसरी बार भी ऐसा ही कहा। कह-कर देव जिस दिशा से प्रकट हुआ था, उसी दिशा में वापिस लौट गया।

५३—तए णं तस्स तेयलिपुत्तस्स सुभेणं परिणामेणं जाइसरणे समुप्पन्ने। तए णं तस्स तेयलिपुत्तस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पन्ने— 'एवं खलु अहं इहेव जंबूद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे पोक्खलावतीविजए पोंडरीगिणीए रायहाणीए महापउमे नामं राया होत्था। तए णं अहं थेराणं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव [पव्वइए सामाइयमाइयाइं] चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासिआए संलेहणाए महासुक्के कप्पे देवे उववन्ने।

१. पाठान्तर—'पवहणकिच्चं।'

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र को शुभ परिणाम उत्पन्न होने से, जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हुई। तब तेतलिपुत्र के मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—निश्चय ही मैं इस जम्बूद्वीपनामक द्वीप में, महाविदेह क्षेत्र में पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी राजधानी में महापद्मनामक राजा था। फिर मैंने स्थविर मुनि के निकट मुण्डित होकर यावत् (दीक्षा अंगीकार करके सामयिक से लेकर) चौदह पूर्वो का अध्ययन करके, बहुत वर्षों तक श्रमणपर्याय (चारित्र) का पालन करके, अन्त में एक मास की संलेखना करके, महाशुक्र कल्प में देव रूप से जन्म लिया।

५४—तए णं अहं ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं इहेव तेयलिपुरे तेयलिस्स अमच्चस्स भद्दाए भारियाए दारगत्ताए पच्चायाए। तं सेयं खलु मम पुव्वुद्दिट्ठाइं महव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए' एवं संपेहेइ, संपेहित्ता सयमेव महव्वयाइं आरुहेइ, आरुहित्ता जेणेव पमयवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टयंसि सुहनिसन्नस्स अणुचिंतेमाणस्स पुव्वाहीयाइं सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं सयमेव अभिसमन्नागयाइं।

तए णं तस्स तेयलिपुत्तस्स अणगारस्स सुभेणं परिणामेणं जाव पसत्थेणं अज्झवसाएणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं कम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं पविट्ठस्स केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने।

तत्पश्चात् आयु का क्षय होने पर मैं उस देवलोक से (च्यवन करके) यहाँ तेतलिपुर में तेतलि अमात्य की भद्रा नामक भार्या के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। अतः मेरे लिए, पहले स्वीकार किये हुए महाव्रतों को स्वयं ही, अंगीकार करके विचरना श्रेयस्कर है।' ऐसा तेतलिपुत्र ने विचार किया। विचार करके स्वयं ही महाव्रतों को अंगीकार किया। अंगीकार करके जिधर प्रमदवन उद्यान था, उधर आया। आकर श्रेष्ठ अशोक वृक्ष के नीचे, पृथ्वीशिलापट्टक पर सुखपूर्वक बैठे हुए और विचारणा करते हुए उसे पहले अध्ययन किये हुए चौदह पूर्व स्वयं ही स्मरण हो आए।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र अनगार ने शुभ परिणाम से यावत् (प्रशस्त अध्यवसाय से तथा लेश्याओं की विशुद्धि होने से) तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से, कर्मरज का नाश करने वाले अपूर्वकरण में प्रवेश करके अर्थात् क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करके और चार घातिकर्मों का क्षय करके उत्तम केवलज्ञान तथा केवल-दर्शन प्राप्त किये।

५५—तए णं तेतलिपुरे नगरे अहासंनिहिएहिं देवेहिं देवीहि य देवदुंदुभीओ समाहयाओ, दसद्धवन्ने कुसुमे निवाइए, दिव्वे गीय-गंधव्वनिनाए कए यावि होत्था।

उस समय तेतलिपुर नगर के निकट रहे हुए वाण-व्यन्तर देवों और देवियों ने देवदुंदुभियाँ बजाई। पाँच वर्ण के फूलों की वर्षा की और दिव्य गीत-गंधर्व का निनाद किया अर्थात् केवलज्ञान सम्बन्धी महोत्सव मनाया।

५६—तए णं से कणगज्झए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं वयासी—'एवं खलु तेयलिपुत्ते मए अवज्झाए मुंडे भवित्ता पव्वइए, तं गच्छामि णं तेयलिपुत्तं अणगारं वंदामि नमंसामि, वंदित्ता नमंसित्ता एयमट्ठं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेमि।' एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए चाउरंगिणीए

सेणाए जेणेव पमयवणे उज्जाणे, जेणेव तेयलिपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तेयलिपुत्तं अणगारं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एयमट्ठं च विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेइ, नच्चासन्ने जाव [नाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे पंजलिउडे अभिमुहे विणएणं] पज्जुवासइ।

तत्पश्चात् कनकध्वज राजा इस कथा का अर्थ जानता हुआ अर्थात् यह वृत्तान्त जान कर (मन ही मन) बोला—निस्सन्देह मेरे द्वारा अपमानित होकर तेतलिपुत्र ने मुण्डित होकर दीक्षा अंगीकार की है। अतएव मैं जाऊँ और तेतलिपुत्र अनगार को वन्दना करूँ, नमस्कार करूँ और वन्दना—नमस्कार करके इस बात के लिए—अपमानित करने के लिए विनयपूर्वक बार-बार क्षमा-याचना करूँ।' कनकध्वज ने ऐसा विचार किया। विचार करके स्नान किया। फिर चतुरंगिणी सेना के साथ जहाँ प्रमदवन उद्यान था और जहाँ तेतलिपुत्र अनगार थे, वहां पहुँचा। पहुँच कर तेतलिपुत्र अनगार को वन्दन—नमस्कार किया। वन्दन—नमस्कार करके इस बात के लिए विनय के साथ पुनः पुनः क्षमायाचना की। न अधिक दूर और न अधिक समीप-यथायोग्य स्थान पर बैठ कर धर्म श्रवण की अभिलाषा करता हुआ, हाथ जोड़कर नमस्कार करता हुआ सन्मुख होकर विनय के साथ वह उपासना करने लगा।

५७—तए णं से तेयलिपुत्ते अणगारे कणगज्झयस्स रन्नो तीसे य महइमहालियाए परिसाए धम्मं परिकहेइ।

तए णं कणगज्झए राया तेयलिपुत्तस्स केवलिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं सावगधम्मं पडिवज्जइ। पडिवज्जित्ता समणोवासए जाए जाव[1] अहिगयजीवाजीवे।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र अनगार ने कनकध्वज राजा को और उपस्थित महती परिषद् को धर्म का उपदेश दिया।

उस समय कनकध्वज राजा ने तेतलिपुत्र केवली से धर्मोपदेश श्रवणकर और उसे हृदय में धारण करके पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का श्रावकधर्म अंगीकार किया। श्रावकधर्म अंगीकार करके वह जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता श्रमणोपासक हो गया।

५८—तए णं तेयलिपुत्ते केवली बहूणि वासाणि केवलिपरियागं पाउणित्ता जाव सिद्धे।

तत्पश्चात् तेतलिपुत्र केवली बहुत वर्षों तक केवली—अवस्था में रहकर यावत् सिद्ध हुए!

५९—एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं चोद्दसमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने उत्तर का उपसंहार करते हुए कहते हैं—'हे जम्बू! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने चौदहवें ज्ञात-अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ कहा है। जैसा मैंने सुना वैसा ही कहा है।

---

१. अ. १२ सूत्र २४

पन्द्रहवाँ अध्ययन : नन्दीफल

सार : संक्षेप

प्रस्तुत अध्ययन का मूल स्वर अन्य अध्ययनों की भांति साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण होने वाले साधकों को, आपाततः रमणीय प्रतीत होने वाले एवं मन को लुभाने वाले इन्द्रिय-विषयों से सावधान रहने की सूचना देना ही है। यही वह मूल स्वर है जो प्रस्तुत आगम में प्रारंभ से लेकर अन्त तक गूंजता सुनाई देता है। किन्तु उस स्वर को सुबोध एवं सुगम बनाने के लिए जिन उदाहरणों की योजना की गई है, वे विभिन्न प्रकार के हैं। ऐसे ही उदाहरणों में से 'नन्दीफल' भी एक उदाहरण है।

चम्पा नगरी का निवासी धन्य सार्थवाह एक बड़ा व्यापारी है। उसने एक बार विक्रय के लिए माल लेकर अहिच्छत्रा नगरी जाने का विचार किया। उस समय के व्यापारी का स्वरूप एक प्रकार के समाजसेवक का था और उस समय का व्यापार समाज-सेवा का एक माध्यम भी था। यह तो सर्वविदित है कि प्रत्येक देश में प्रजा के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं की उपज नहीं होती और न ऐसी कलाओं का ही प्रसार होता है कि प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक देश में निर्माण हो सके। अतएव आयात और निर्यात के द्वारा सब जगह सब वस्तुओं की पूर्ति की जाती है।

कोई वस्तु किसी देश-प्रदेश में इतनी प्रचुर मात्रा में होती है कि वहाँ की प्रजा उसका उपयोग नहीं कर पाती एवं उस उत्पादन का उसे उचित मूल्य नहीं मिलता। वहां वह व्यर्थ बन जाती है। उसी वस्तु के अभाव में दूसरे देश-प्रदेश के लोग बहुत कष्ट पाते हैं। आयात-निर्यात होने से दोनों ओर की यह समस्या सुलझ जाती है। उत्पादकों को उनके उत्पादन-श्रम का बदला मिल जाता है और अभाव वाले प्रदेश की आवश्यकतापूर्त्ति हो जाती है। इसी प्रकार के पारस्परिक आदान-प्रदान-विनिमय से आज भी संसार का काम चल रहा है।

आयात-निर्यात का यह कार्य सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस अनिवार्य महत्त्व के काम के लिए एक पृथक् वर्ग की आवश्यकता होती है। वही वर्ग वाणिक् वर्ग कहलाता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से वाणिक् वर्ग समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा करता है। इसी सेवा-कार्य में से वह अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए भी कुछ लाभांश प्राप्त कर लेता है। यही व्यापार का मूल आदर्श है।

इस भावना से प्रेरित होकर धन्य सार्थवाह ने चम्पा नगरी का पण्य (माल) अहिच्छत्रा नगरी ले जाने का संकल्प किया। प्राचीन काल में वाणिक् वर्ग के अन्तर्गत एक वर्ग सार्थवाहों का था। सार्थवाह वह बड़ा व्यापारी होता था जो अपने साथ अन्य अनेक लोगों को ले जाता था और उन्हें कुशलपूर्वक, उनके गन्तव्य स्थानों तक पहुँचा देता था। इस विषय का विशद विवेचन प्रकृत अध्ययन में ही किया गया है।

धन्य सार्थवाह अपने सेवकों द्वारा चम्पा की गली-गली में यह घोषणा करवाता है कि—धन्य सार्थवाह अहिच्छत्रा नगरी जा रहा है। जिसे साथ चलना हो, चले। जिसके पास जिस साधन का

अभाव होगा, वह उसकी पूर्त्ति करेगा। विना छतरी वालों को छतरी और विना जूतों वालों को जूते की व्यवस्था करेगा। जिसके पास मार्ग में खाने की सामग्री नहीं उसे वह सामग्री देगा। आवश्यकतानुसार मार्गव्यय के लिए धन देगा। रोगी होजाने पर उसकी चिकित्सा कराएगा। तात्पर्य यह कि वह अपने साथ चलने वालों को सभी प्रकार की सुविधाएँ कर देगा।

इस प्रकार अपने साथ असहाय जनों को ले जाने वाला और सभी प्रकार से उनकी सेवा करने वाला व्यापारी 'सार्थवाह' कहलाता था। सार्थ को अर्थात् सहयात्रियों के समूह को, वहन करने वाला अर्थात् कुशल-क्षेमपूर्वक यथास्थान पहुँचाने वाला 'सार्थवाह'।

जब आज जैसे सुपथ-राजमार्ग नहीं थे, साधनाभाव के कारण लोगों का आवागमन कम होता था, उनके संबंध दूर-दूर तक फैले नहीं थे और पद-पद पर लुटेरों तथा हिंसक जन्तुओं का भय बना रहता था, द्रुतगामी वाहन नहीं थे, उस परिस्थिति को सामने रखकर विचार करने पर विदित होगा कि यह भी एक बहुत बड़ी सेवा थी, जिसे सार्थवाह वणिक् स्वेच्छापूर्वक करता था।

धन्य श्रेष्ठी का सार्थ चम्पा नगरी से रवाना हो गया। चलते-चलते और बीच-बीच में विश्रान्ति लेते-लेते सार्थ एक बहुत बड़ी अटवी के निकट पहुँचा। अटवी बड़ी विकट थी, उसमें लोगों का आवागमन नहीं जैसा था। उसके मध्यभाग में एक जाति के विषैले वृक्ष थे, जिनके फल, पत्ते, छाल आदि छूने, चखने, सूंघने और देखने में अत्यन्त मनोहर लगते थे, किन्तु वे सब, यहां तक कि उनकी छाया भी प्राणहरण करने वाली थी। अनुभवी धन्य सार्थवाह उन नन्दीफल (तात्कालिक आनन्द प्रदान करने वाले फल वाले) वृक्षों से परिचित था। अतएव समस्त सार्थ को उसने पहले ही चेतावनी दे दी—'सार्थ का कोई भी व्यक्ति नन्दीफल वृक्षों की छाया के निकट भी न फटके।' इस प्रकार उसने अपने उत्तरदायित्व का पूरी तरह निर्वाह किया।

धन्य सार्थवाह की चेतावनी पर कुछ लोगों ने अमल किया, कुछ ऐसे भी निकले जो उन वृक्षों के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के प्रलोभन को रोक न सके। जो उनसे बचे रहे वे सकुशल यथेष्ट स्थान पर पहुँच कर सुख के भागी बने। जो-इन्द्रियों के वशीभूत होकर अपने मन पर नियंत्रण न रख सके उन्हें मृत्यु का शिकार होना पड़ा।

तात्पर्य यह है कि यह संसार भयानक अटवी है। इसमें इन्द्रियों के विविध विषय नन्दीफल के सदृश हैं। इन्द्रिय-विषय भोगते समय-क्षण भर सुखद प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके भोग का परिणाम अत्यन्त शोचनीय होता है। दीर्घ काल पर्यन्त विविध प्रकार की व्यथाएँ सहन करनी पड़ती हैं। अतएव साधक के लिए यही श्रेयस्कर है कि वह विषय-भोगों से बचे, उनकी छाया से भी दूर रहे।

यही इस अध्ययन का सार-अंश है।

पण्णरसमं अज्झयणं : नंदीफले

जम्बू स्वामी की जिज्ञासा

१—'जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं चोद्दसमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, पन्नरसमस्स णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पन्नत्ते ?'

श्री जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मा स्वामी के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहा—'भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने चौदहवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है तो पन्द्रहवें ज्ञात-अध्ययन का श्रमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है ?'

समाधान

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं नयरी होत्था। पुन्नभद्दे नामं चेइए। जियसत्तू नामं राया होत्था। तत्थ णं चंपाए नयरीए धन्ने नामं सत्थवाहे होत्था, अड्ढे जाव[1] अपरिभूए।

श्री सुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—जम्बू ! उस काल और उस समय में चम्पानामक नगरी थी। उसके बाहर पूर्णभद्रनामक चैत्य था। जितशत्रुनामक राजा था। उस चम्पा नगरी में धन्य नामक सार्थवाह था, जो सम्पन्न था यावत् किसी से पराभूत होने वाला नहीं था।

३—तीसे णं चंपाए नयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए अहिच्छत्ता नामं नयरी होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धा, वन्नओ[2]। तत्थ णं अहिच्छत्ताए नयरीए कणगकेऊ नामं राया होत्था, महया वन्नओ[3]।

उस चम्पा नगरी से उत्तर-पूर्व दिशा में अहिच्छत्रानामक नगरी थी। वह धन-धान्य आदि से परिपूर्ण थी। यहाँ नगरी का वर्णन कह लेना चाहिए। उस अहिच्छत्रा नगरी में कनककेतुनामक राजा था। वह महाहिमवन्त पर्वत के समान आदि विशेषणों से युक्त था। यहाँ राजा का वर्णन कह लेना चाहिए। (नगरी और राजा का विस्तृत वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए।)

धन्य सार्थवाह की घोषणा

४—तस्स धणस्स सत्थवाहस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—'सेयं खलु मम विपुलं पणियभंडमायाए अहिच्छत्तं नगरिं वाणिज्जाए गमित्तए' एवं संपेहेइ, संपेहित्ता गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च चउव्विहं भंडं गेण्हइ, गेण्हित्ता सगडीसागडं सज्जेइ, सज्जित्ता सगडीसागडं भरेइ, भरित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी:—

१. अ. ५ सू. ६ २. औप. सू० १ ३. औपपा. सू० ७

किसी समय धन्य सार्थवाह के मन में मध्य रात्रि के समय इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तित (मन में स्थित) प्रार्थित (मन को इष्ट), मनोगत (मन में ही गुप्त रहा हुआ) संकल्प (विचार) उत्पन्न हुआ—'विपुल (घी, तेल, गुड़, खांड आदि) माल लेकर मुझे अहिच्छत्रा नगरी में व्यापार करने के लिए जाना श्रेयस्कर है।' उसने ऐसा विचार किया। विचार करके गणिम (गिन-गिन कर बेचने योग्य नारियल आदि), धरिम (तोल कर बेचने योग्य गुड़ आदि), मेय (पायली आदि से माप कर बेचने योग्य अन्न आदि) और पारिच्छेद्य (काट-काट कर बेचने योग्य वस्त्र वगैरह) माल को ग्रहण किया। ग्रहण करके गाड़ी-गाड़े तैयार किये। तैयार करके गाड़ी-गाड़े भरे। भर कर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुला कर उनसे इस प्रकार कहा—

५—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! चंपाए नयरीए सिंघाडग जाव पहेसु उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह—एवं खलु देवाणुप्पिया! धण्णे सत्थवाहे विपुले पणियं आदाय इच्छइ अहिच्छत्तं नगरिं वाणिज्जाए गमित्तए। तं जो णं देवाणुप्पिया! चरए वा, चीरिए वा, चम्मखण्डिए वा, भिच्छुंडे वा, पंडुरंगे वा, गोयमे वा, गोवईए वा, गिहिधम्मे वा, गिहिधम्मचिंतए[1] वा, अविरुद्ध-विरुद्ध-वुड्ढ-सावग-रत्तपड-निग्गंथप्पभिई पासंडत्थे वा गिहत्थे वा, तस्स णं धण्णेणं सद्धिं अहिच्छत्तं नयरिं गच्छइ, तस्स णं धण्णे सत्थवाहे अच्छत्तगस्स छत्तगं दलयइ, अणुवाहणस्स उवाहणाओ दलयइ, अकुंडियस्स कुंडियं दलयइ, अपत्थयणस्स पत्थयणं दलयइ, अपक्खेवगस्स पक्खेवं दलयइ, अंतरा वि य से पडियस्स वा भग्गलुग्गस्स साहेज्जं दलयइ, सुहंसुहेण य णं अहिच्छत्तं संपावेइ'

त्ति कट्टु दोच्चं पि तच्चं पि घोसेह, घोसित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।'

'देवानुप्रियो! तुम जाओ। चम्पा के शृंगाटक यावत् सब मार्गों में, गली-गली में घोषणा कर दो—

'हे देवानुप्रियो! धन्य सार्थवाह विपुल माल भर कर अहिच्छत्रा नगरी में वाणिज्य के निमित्त जाना चाहता है। अतएव हे देवानुप्रियो! जो भी चरक (चरक मत का भिक्षुक), चीरिक (गली में पड़े चीथड़ों को पहनने वाला) चर्मखंडिक (चमड़े का टुकड़ा पहनने वाला) भिक्षांड (बौद्ध भिक्षुक) पांडुरक (शैवमतावलम्बी भिक्षाचर), गोतम (बैल को विचित्र-विचित्र प्रकार की करामात सिखा कर उससे आजीविका चलाने वाला), गोव्रती (जब गाय खाय तो आप खाय, गाय पानी पीए तो आप पानी पीए, गाय सोये तो आप सोये, गाय चले तो आप चले, इस प्रकार के व्रत का आचरण करने वाला), गृहिधर्मा (गृहस्थधर्म को श्रेष्ठ मानने वाला), गृहस्थधर्म का चिन्तन करने वाला, अविरुद्ध (विनयवान्), विरुद्ध (अक्रियावादि-नास्तिक आदि), वृद्ध-तापस, श्रावक अर्थात् ब्राह्मण, रक्तपट (परिव्राजक), निर्ग्रंथ (साधु) आदि व्रतवान् या गृहस्थ—जो भी कोई—धन्य सार्थवाह के साथ अहिच्छत्रा नगरी में जाना चाहे, उसे धन्य सार्थवाह अपने साथ ले जायगा। जिसके पास छतरी न होगी उसे छतरी दिलाएगा। वह बिना जूते वाले को जूते दिलाएगा, जिसके पास कमंडलु नहीं होगा उसे कमंडलु दिलाएगा, जिसके पास पथ्यदन (मार्ग में खाने के लिए भोजन) न होगा उसे पथ्यदन दिलाएगा, जिसके पास प्रक्षेप (चलते-चलते पथ्यदन समाप्त हो जाने पर रास्ते में पथ्यदन खरीदने के लिए आवश्यक धन) न होगा, उसे प्रक्षेप दिलाएगा, जो पड़ जाएगा, भग्न हो जायगा या रुग्ण हो

---

१. पाठान्तर—'धम्मचिंतए वा।'

जायगा, उसकी सहायता करेगा और सुख-पूर्वक अहिच्छत्रा नगरी तक पहुँचाएगा।

'दो बार और तीन बार ऐसी घोषणा कर दो। घोषणा करके मेरी यह आज्ञा वापिस लौटाओ—मुझे सूचित करो।'

६—तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव एवं वयासी—हंदि! सुणंतु भगवंतो चंपानगरीवत्थव्वा बहवे चरगा य जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने यावत् इस प्रकार घोषणा की—'हे चम्पा नगरी के निवासी भगवंतो! चरक आदि! सुनो, इत्यादि कहकर पूर्वोक्त घोषणा करके उन्होंने धन्य सार्थवाह की आज्ञा उसे वापिस सौंपी।

७—तए णं से कोडुंवियघोसणं सुच्चा चंपाए णयरीए बहवे चरगा य जाव गिहत्था य जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छंति। तए णं धण्णे तेसिं चरगाण य जाव गिहत्थाणय अच्छत्तगस्स छत्तं दलयइ, जाव पत्थयणं दलयइ। दलइत्ता एवं वयासी—'गच्छह णं देवाणुप्पिया! चंपाए नयरीए बहिया अग्गुज्जाणंसि ममं पडिवालेमाणा चिट्ठह।'

कौटुम्बिक पुरुषों की पूर्वोक्त घोषणा सुनकर चम्पा नगरी के बहुत-से चरक यावत् गृहस्थ धन्य सार्थवाह के समीप पहुँचे। तब उन चरक यावत् गृहस्थों में से जिनके पास जूते नहीं थे, उन्हें धन्य सार्थवाह ने जूते दिलवाये, यावत् पथ्यदन दिलवाया। फिर उनसे कहा—'देवानुप्रियो! तुम जाओ और चम्पा नगरी के बाहर उद्यान में मेरी प्रतीक्षा करते हुए ठहरो।

धन्य का प्रस्थान

८—तए णं चरगा य जाव गिहत्था य धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा जाव चिट्ठंति।

तए णं धण्णे सत्थवाहे सोहणंसि तिहि-करण-नक्खत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता मित्तनाइ [नियग-सयण-संबंधि-परियणं] आमंतेइ, आमंतित्ता भोयणं भोयावेइ, भोयावित्ता आपुच्छइ, आपुच्छित्ता सगडीसागडं जोयावेइ, जोयावित्ता चंपानगरीओ निग्गच्छइ। निग्गच्छित्ता णाइविप्पगिट्ठेहिं अद्धाणेहिं वसमाणे वसमाणे सुहेहिं वसहिपायरासेहिं अंगं जणवयं मज्झंमज्झेणं जेणेव देसग्गं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सगडीसागडं मोयावेइ, मोयावित्ता सत्थणिवेसं करेइ, करित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

तदनन्तर वे पूर्वोक्त चरक यावत् गृहस्थ आदि धन्य सार्थवाह के इस प्रकार कहने पर प्रधान उद्यान में पहुँचकर उसकी प्रतीक्षा करते हुए ठहरे।

तब धन्य सार्थवाह ने शुभ तिथि, करण और नक्षत्र में, विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन बनवाया। बनवाकर मित्रों, ज्ञातिजनों आदि को आमंत्रित करके उन्हें जिमाया। जिमा कर उनसे अनुमति ली। अनुमति लेकर गाड़ी-गाड़े जुतवाये और फिर चम्पा नगरी से बाहर निकला। निकल कर बहुत दूर-दूर पर पड़ाव न करता हुआ अर्थात् थोड़ी-थोड़ी दूर पर मार्ग में बसता-बसता, सुखजनक, वसति (रात्रिवास) और प्रातराश (प्रात:कालीन भोजन) करता हुआ अंग

देश के वीचोंवीच होकर देश की सीमा पर जा पहुँचा। वहाँ पहुँच कर गाड़ी-गाड़े खोले। पड़ाव डाला। फिर कौटुम्बिक पुरुषों को वुला कर इस प्रकार कहा:—

उपयोगी चेतावनी

९—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया! मम सत्थनिवेसंसि महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वदह-

एवं खलु देवाणुप्पिया! इमीसे आगामियाए छिन्नावायाए दीहमद्धाए अडवीए बहुमज्झ-देसभाए बहवे णंदिफला नामं रुक्खा पन्नत्ता—किण्हा जाव पत्तिया पुप्फिया फलिया हरिया रेरिज्जमाणा सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणा चिट्ठंति, मणुण्णा वन्नेणं, मणुण्णा गंधेणं, मणुण्णा रसेणं, मणुण्णा फासेणं, मणुण्णा छायाए, तं जो णं देवाणुप्पिया! तेसिं नंदिफलाणं रुक्खाणं मूलाणि वा कंदाणि वा तयाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा आहारेइ, छायाए वा वीसमइ, तस्स णं आवाए भद्दए भवइ, ततो पच्छा परिणममाणा परिणममाणा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेंति। तं मा णं देवाणुप्पिया! केइ तेसिं नंदिफलाणं मूलाणि वा जाव छायाए वा वीसमउ। मा णंसे ऽवि अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जिस्सइ। तुब्भे णं देवाणुप्पिया! अन्नेसिं रुक्खाणं मूलाणि य जाव हरियाणि य आहारेह, छायासु वीसमह, त्ति घोसणं घोसेह'।

जाव पच्चप्पिणंति।

देवानुप्रियो! तुम मेरे सार्थ के पड़ाव में, ऊँचे-ऊँचे शब्दों से वार-वार उद्घोषणा करते हुए ऐसा कहो कि—

हे देवानुप्रियो! आगे आने वाली अटवी में मनुष्यों का आवागमन नहीं होता और वह वहुत लम्बी है। उस अटवी के मध्य भाग में 'नन्दीफल' नामक वृक्ष हैं। वे गहरे हरे (काले) वर्ण-वाले यावत् पत्तोंवाले, पुष्पोंवाले, फलोंवाले, हरे, शोभायमान और सौन्दर्य से अतीव-अतीव शोभित हैं। उनका रूप-रंग मनोज्ञ है यावत् (रस गंध) स्पर्श मनोहर है और छाया भी मनोहर है। किन्तु हे देवानुप्रियो! जो कोई भी मनुष्य उन नन्दीफल वृक्षों के मूल, कंद, छाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज या हरित का भक्षण करेगा अथवा उनकी छाया में भी वैठेगा, उसे आपाततः (थोड़ी-सी देर-क्षण भर) तो अच्छा लगेगा, मगर वाद में उनका परिणमन होने पर अकाल में ही वह मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। अतएव हे देवानुप्रियो! कोई उन नंदीफलों के मूल आदि का सेवन न करे यावत् उनकी छाया में विश्राम भी न करे, जिससे अकाल में ही जीवन का नाश न हो। हे देवानुप्रियो! तुम दूसरे वृक्षों के मूल यावत् हरित का भक्षण करना और उनकी छाया में विश्राम लेना।' इस प्रकार की आघोषणा कर दो। मेरी आज्ञा वापिस लौटा दो।'

कौटुम्बिक पुरुषों ने आज्ञानुसार घोषणा करके आज्ञा वापिस लौटा दी।

१०—तए णं धण्णे सत्थवाहे सगडीसागडं जोएइ, जोइत्ता जेणेव नंदिफला रुक्खा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तेसिं नंदिफलाणं अदूरसामंते सत्थनिवेसं करेइ, करित्ता दोच्चं पि तच्चं पि कोडुंवियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—तुब्भे णं देवाणुप्पिया! मम सत्थनिवेसंसि महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह—'एए णं देवाणुप्पिया! ते णंदिफला किण्हा जाव मणुण्णा छायाए, तं जो णं देवाणुप्पिया! एएसिं णंदिफलाणं रुक्खाणं मूलाणि वा कंदाणि वा पुप्फाणि वा तयाणि वा पत्ताणि वा फलाणि वा जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेंति तं, मा णं

तुब्भे जाव दूरं दूरेणं परिहरमाणा वीसमह, मा णं अकाले जीवियाओ ववरोविस्संति। अन्नेसिं रुक्खाणं मूलाणि य जाव वीसमह त्ति कट्टु घोसणं' पच्चप्पिणंति।

इसके बाद धन्य सार्थवाह ने गाड़ी-गाड़े जुतवाए। जुतवाकर जहाँ नंदीफलनामक वृक्ष थे, वहाँ आ पहुँचा। उन नन्दी फल वृक्षों से न बहुत दूर न समीप में पड़ाव डाला। फिर दूसरी बार और तीसरी बार कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनसे कहा—'देवानुप्रियो! तुम लोग मेरे पड़ाव में ऊँची-ऊँची ध्वनि से पुन: पुन: घोषणा करते हुए कहो कि—'हे देवानुप्रियो। वे नन्दीफल वृक्ष ये हैं, जो कृष्ण वर्ण वाले, मनोज्ञ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाले और मनोहर छाया वाले हैं। अतएव हे देवानुप्रियो! इन नन्दीफल वृक्षों के मूल, कंद, पुष्प, त्वचा, पत्र या फल आदि का सेवन मत करना, क्योंकि ये यावत् अकाल में ही जीवन से रहित कर देते हैं। अतएव कहीं ऐसा न हो कि इनका सेवन करके जीवन का नाश कर लो। इससे दूर ही रहकर विश्राम करना, जिससे ये जीवन का नाश न करें। हाँ. दूसरे वृक्षों के मूल आदि का भले सेवन करना और उनकी छाया में विश्राम करना।'

कौटुम्बिक पुरुषों ने इसी प्रकार घोषणा करके आज्ञा वापिस सौंपी।

चेतावनी का पालन

११—तत्थ णं अत्थेगइया पुरिसा धन्नस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं सद्दहंति, पत्तियंति रोयंति, एयमट्ठं सद्दहमाणा तेसिं नंदिफलाणं दूरं दूरेणं परिहरमाणा अन्नेसिं रुक्खाणं मूलाणि य जाव वीसमंति तेसि णं आवाए नो भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणा परिणममाणा सुहरूवत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

उनमें से किन्हीं-किन्हीं पुरुषों ने धन्य सार्थवाह की बात पर श्रद्धा की, प्रतीति की, एवं रुचि की। वे धन्य सार्थवाह के कथन पर श्रद्धा करते हुए, उन नन्दीफलों का दूर ही दूर से त्याग करते हुए, दूसरे वृक्षों के मूल आदि का सेवन करते थे और उन्हीं की छाया में विश्राम करते थे। उन्हें तात्कालिक भद्र (सुख) तो प्राप्त न हुआ, किन्तु उसके पश्चात् ज्यों-ज्यों उनका परिणमन होता चला त्यों-त्यों वे बार-बार सुख रूप ही परिणत होते चले गए।

उपसंहार

१२—एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा जाव [आयरिय-उवज्झायाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे] पंचसु कामगुणेसु नो सज्जेइ, नो रज्जेइ, से णं इहभवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावयाणं सावियाणं अच्चणिज्जे भवइ, परलोए वि य नो आगच्छइ जाव [नो बहूणि हत्थछेयणाणि य कण्णछेयणाणि य नासाछेयणाणि य, एवं हिययउप्पायणाणि य वसणुप्पायणाणि उल्लंबणाणि य पाविहिइ, पुणो अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं] वीईवइस्सइ जहा व ते पुरिसा।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! हमारा जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी यावत् (आचार्य-उपाध्याय के समीप गृहत्याग कर अनगार रूप में प्रव्रजित होकर) पांच इन्द्रियों के कामभोगों में आसक्त नहीं होता और अनुरक्त नहीं होता, वह इसी भव में बहुत-से श्रमणों, श्रमणियों श्रावकों और श्राविकाओं का पूजनीय होता है और परलोक में भी दुःख नहीं पाता है, जैसे—हाथ, कान, नाक

आदि का छेदन, हृदय एवं वृषणों का उत्पाटन, फांसी, आदि। उसे अनादि अनन्त संसार-अटवी में चतुरशीति योनियों में भ्रमण नहीं करना पड़ता। वह अनुक्रम से संसार-कान्तार को पार कर जाता है—सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

१३—तत्थ णं जे से अप्पेगइया पुरिसा धण्णस्स एयमट्ठं नो सद्दहंति नो पत्तियंत्ति नो रोयंति, धन्नस्स एयमट्ठं असद्दहमाणा जेणेव ते णंदिफला तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तेसिं नंदिफलाणं मूलाणि य जाव वीसमंति, तेसिं णं आवाए भद्दए भवइ, ततो पच्छा परिणममाणा जाव ववरोवेंति।

उनमें से जिन कितनेक पुरुषों ने धन्य सार्थवाह की इस बात पर श्रद्धा नहीं की, प्रतीति नहीं की, रुचि नहीं की, वे धन्य सार्थवाह की बात पर श्रद्धा न करते हुए जहाँ नन्दीफल वृक्ष थे, वहाँ गए। जाकर उन्होंने उन नन्दीफल वृक्षों के मूल आदि का भक्षण किया और उनकी छाया में विश्राम किया। उन्हें तात्कालिक सुख तो प्राप्त हुआ, किन्तु बाद में उनका परिणमन होने पर उन्हें जीवन से मुक्त होना पड़ा—मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा।

१४—एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा पव्वइए पंचसु कामगुणेसु सज्जेइ, जाव अणुपरियट्टिस्सइ, जहा व ते पुरिसा।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! हमारा जो साधु या साध्वी प्रव्रजित होकर पाँच इन्द्रियों के विषयभोगों में आसक्त होता है, वह उन पुरुषों की तरह यावत् हस्तच्छेदन, कर्णच्छेदन, हृदयोत्पाटन आदि पूर्वोक्त दुःखों का भागी होता है और चतुर्गतिरूप संसार में पुनः पुनः परिभ्रमण करता है।

धन्य का अहिच्छत्रा पहुँचना

१५—तए णं से धण्णे सगडीसागडं जोयावेइ जोयावित्ता जेणेव अहिच्छत्ता णयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहिच्छत्ताए णयरीए बहिया अग्गुज्जाणे सत्थनिवेसं करेइ, करित्ता सगडी-सागडं मोयावेइ।

तए णं से धण्णे सत्थवाहे महत्थं महग्घं महरिहं रायरिहं पाहुडं गेण्हइ, गेण्हित्ता बहुपुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे अहिच्छत्तं नयरिं मज्झंमज्झेणं अणुप्पविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव कणगकेऊ राया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता करयल जाव वद्धावेइ, वद्धावित्ता तं महत्थं पाहुडं उवणेइ।

इसके पश्चात् धन्य सार्थवाह ने गाड़ी-गाड़े जुतवाए। जुतवाकर वह जहाँ अहिच्छत्रा नगरी थी, वहाँ पहुंचा। वहाँ पहुँच कर अहिच्छत्रा नगरी के बाहर प्रधान उद्यान में पड़ाव डाला और गाड़ी-गाड़े खुलवा दिए।

फिर धन्य सार्थवाह ने महामूल्यवान् और राजा के योग्य उपहार लिया और बहुत पुरुषों के साथ, उनसे परिवृत होकर, अहिच्छत्रा नगरी में, मध्यभाग में होकर, प्रवेश किया। प्रवेश करके कनककेतु राजा के पास गया। वहाँ जाकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करके राजा का अभिनन्दन किया। अभिनन्दन करने के पश्चात् वह बहुमूल्य उपहार उसके समीप रख दिया।

माल का क्रय-विक्रय

१६—तए णं से कणगकेऊ राया हट्ठतुट्ठे धण्णस्स सत्थवाहस्स तं महत्थं जाव पाहुडं पडिच्छइ। पडिच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं सक्कारेइ, संमाणेइ, सक्कारित्ता संमाणित्ता उस्सुक्कं वियरइ, वियरित्ता पडिविसज्जेइ। भंडविणिमयं करेइ, करित्ता पडिभंडं गेण्हइ, गेण्हित्ता सुहंसुहेणं जेणेव चंपा नयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मित्तणाइअभिसमन्नागए विउलाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

उपहार प्राप्त करके राजा कनककेतु हर्षित और संतुष्ट हुआ। उसने धन्य सार्थवाह के उस मूल्यवान् उपहार को स्वीकार किया। स्वीकार करके धन्य सार्थवाह का सत्कार-सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके शुल्क (जकात) माफ कर दिया और उसे विदा किया। फिर धन्य सार्थवाह ने अपने भाण्ड (माल) का विनिमय किया। विनिमय करके अपने माल के वदले में दूसरा माल लिया। तत्पश्चात् सुखपूर्वक लौटकर चम्पानगरी में आ पहुँचा। आकर अपने मित्रों एवं ज्ञातिजनों आदि से मिला और मनुष्य संबंधी विपुल भोगने योग्य भोग भोगता हुआ रहने लगा।

धन्य की प्रव्रज्या : भविष्य

१७—तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरागमणं। धण्णे सत्थवाहे विणिग्गए, धम्मं सोच्चा जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेत्ता पव्वइए। एक्कारस सामाइमाइयाइं अंगाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता सट्ठिभत्ताइं अणसणाइं छेदित्ता अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने। से णं देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, जाव अंतं काहिइ।

उस काल और उस समय में स्थविर भगवन्त का आगमन हुआ। धन्य सार्थवाह उन्हें वन्दना करने के लिए निकला। धर्मदेशना सुन कर और ज्येष्ठ पुत्र को अपने कुटुम्ब में स्थापित करके (कुटुम्ब का प्रधान बना कर) स्वयं दीक्षित हो गया। सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन करके और बहुत वर्षों तक संयम का पालन करके, एक मास की संलेखना करके, साठ भक्त का अनशन करके अन्यतर—किसी देवलोक में देव पर्याय में उत्पन्न हुआ। वह देव उस देवलोक से आयु का क्षय होने पर च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त करेगा, यावत् जन्म मरण का अन्त करेगा।

निक्षेप

१८—एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं पन्नरसमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

इस प्रकार हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने पन्द्रहवें ज्ञात-अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा है। जैसा मैंने सुना वैसा कहा है।

सोलहवाँ अध्ययन : द्रौपदी

सार : संक्षेप

मनुष्य कभी-कभी साधारण-से लाभ की इच्छा से प्रेरित होकर ऐसा अत्यन्त कुत्सित एवं क्रूर कर्म कर बैठता है कि उसका उसे अतीव दारुण दुष्फल भोगना पड़ता है। उसका भविष्य दीर्घाति-दीर्घ काल के लिए घोर अन्धकारमय बन जाता है। द्रौपदी-ज्ञात इस तथ्य को सरल, सरस और सुगम रूप से प्रदर्शित करता है।

द्रौपदी के जीव की कथा उसके नागश्री ब्राह्मणी के भव से प्रारम्भ होती है। नागश्री अपने परिवार के लिए भोजन तैयार करती है। उसने तूंबे का उत्तम शाक बनाया। मगर जब चखकर देखा तो ज्ञात हुआ कि तूंबा कटुक-विषाक्त है। उसने उपालम्भ अथवा अपयश से बचने के लिए उस शाक को एक जगह छिपाकर रख दिया। पारिवारिक जन भोजन करके अपने-अपने काम में लग गए। घर में जब नागश्री अकेली रह गई तब मासखमण के पारणक के दिन धर्मरुचि अनगार भिक्षा के लिए उसके घर पहुँचे। नाग से अमृत की आशा नहीं की जा सकती, उससे तो विष ही मिल सकता है। नाग-श्री मानवी के रूप में नागिन थी। उसने परम तपस्वी मुनि को विष ही प्रदान किया—विषाक्त तूंबे का शाक उनके पात्र में उंडेल दिया।

मुनि धर्मरुचि वही आहार लेकर अपने गुरु के पास पहुंचते हैं। गुरुजी उसकी गंध से ही समझ जाते हैं कि यह शाक-आहार विषैला है। फिर भी उसमें से एक बूंद लेकर चखते हैं और धर्म-रुचि को परठ देने का आदेश देते हैं। कहते हैं—यह शाक प्राणहारी है।

धर्मरुचि परठने जाते हैं। उसमें से एक बूंद लेकर भूमि पर डाल कर उसकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करते हैं। कीड़ियां आती हैं, ज्यों ही उसके रस का आस्वादन करती हैं, प्राण गँवा बैठती हैं। यह दृश्य देखकर मुनि का सदय हृदय दहल उठता है। सोचते हैं—सारा का सारा शाक परठ दिया जाए तो असंख्य जानवरों का घात हो जाएगा। इससे तो यही श्रेयस्कर है कि मैं अपने ही उदर में इसे परठ लूँ! मुनि यही करते हैं। समाधिपूर्वक उनके जीवन का अन्त हो जाता है।

मगर नागश्री का पाप छिपा न रहा। सर्वत्र उसकी चर्चा फैल गई। घर वालों ने ताड़ना-तर्जना करके उसे बाहर निकाल दिया। वह भिखारिन बन गई। उस समय की उसकी दुर्दशा का मूल में जो चित्रण किया गया है वह मूल से ही ज्ञात होगा। अन्तिम अवस्था में वह एक साथ सोलह भयानक रोगों से ग्रस्त होकर, अत्यन्त तीव्र दुःखों का अनुभव करती—हाय-हाय करती मरती है और छठी नरकभूमि में पैदा होती है। इसके साथ उसके तीव्रतम पाप-कर्म के फलभोग का जो सिलसिला शुरू होता है, वह इतने दीर्घ-अतिदीर्घ काल तक चालू रहता है कि वहाँ वर्षों की और युगों की गणना भी हार मान जाती है। वह प्रत्येक नरक में सागरोपमों की आयु से, एकाधिक बार जन्म लेती है, बीच बीच में मत्स्य आदि की योनियों में भी जन्म लेती है। शस्त्रों से उसका वध किया जाता है। जलचर, नभचर और भूचर, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि-आदि तिर्यंचपर्यायों में दुःखपूर्वक जन्म लेती, दुःखमय जीवनयापन करती और दुःख के साथ ही मरती है।

लम्बे काल तक के इस जन्म-मरण के पश्चात् उसे मनुष्यभव की प्राप्ति होती है। एक सेठ के घर पुत्री के रूप में जन्म होता है। 'सुकुमालिका' नाम रक्खा जाता है। किन्तु अब भी उसके पाप-फल का अन्त नहीं होता। विवाहित होने पर पति द्वारा उसका परित्याग कर दिया जाता है। उसके शरीर का स्पर्श उसे तलवार की धार जैसा तीक्ष्ण और अग्नि जैसा उष्ण लगता है। दवाव डालने पर पति कहता है—मैं मृत्यु का आलिंगन करने को तैयार हूँ, मगर सुकुमालिका के शरीर के स्पर्श को सहन नहीं कर सकता।

सुकुमालिका का पुनर्विवाह किया जाता है एक अत्यन्त दीन भिखारी के साथ। सुकुमालिका के पिता को, खाने-पीने के लिए मिट्टी के ढीकरे लिये, फटे चींथड़े शरीर पर लपेटे एक भिखारी, दिखाई देता है। वह उसे अंदर बुलवाता है। मालिश, मर्दन, उवटन, स्नान और केशश्रृंगार करवा कर, सुस्वादु भोजन जिमा कर विठलाता है। सुकुमालिका से विवाह करने का प्रस्ताव करता है। भिखारी उसे स्वीकार कर लेता है। रात्रि में शयनागार में जाने पर वही स्थिति उत्पन्न होती है जो प्रथम विवाह के समय हुई थी। भिखारी भी रात में ही उसे छोड़ कर भाग जाता है। सुकुमालिका का अंगस्पर्श उसे भी सहन न हो सका।

एक अतिशय दीन भिखारी, सेठ के असीम वैभव एवं स्वर्ग जैसे सुख के प्रलोभन को भी ठुकरा कर भाग गया तो आशा की कोई किरण शेष नहीं रही। पिता ने निराश होकर कहा—'वेटी, तेरे पाप-कर्म का उदय है, उसे सन्तोष के साथ भोग।' पिता ने दानशाला खोल दी। सुकुमालिका दान देती अपना समय व्यतीत करने लगी।

कुछ समय पश्चात् उसकी दानशाला में आर्यिकाओं का भिक्षा के लिए आगमन हुआ। सुकुमालिका ने वशीकरण मंत्र, तंत्र, कामण आदि की याचना की। आर्यिकाओं ने उसे अपना धर्म समझाया। कहा—ऐसी वात सुनना भी हमारे लिए अयोग्य है। हम ब्रह्मचारिणी हैं। यंत्र-तंत्र से हमारा क्या वास्ता?

आखिर सुकुमालिका उनके पास साध्वी-दीक्षा अंगीकार कर लेती है। मगर उसके जीवन में, अन्तरतर में जो मलीनता जमी हुई थी, वह धुली नहीं थी। वह वहाँ भी शिथिलाचारिणी हो जाती है और स्वच्छंद होकर साध्वी-समुदाय को छोड़ एकाकिनी रहने लगती है। वाहर जाकर आतापना लेती है। इसी प्रसंग में एक वार उसे पांच पुरुषों के साथ विलास करती एक वेश्या दृष्टि-गोचर होती है। वेश्या एक पुरुष की गोद में वैठी है; शेष चार में से एक पुरुष उसके मस्तक पर छत्र लिये खड़ा है, कोई चंवर ढोल रहा है तो कोई उसके पैर दवा रहा है। यह दृश्य देख कर सुकुमालिका के मन में इसी प्रकार के सुखभोग की लालसा उत्पन्न होती है। वह संकल्प करती है—मेरी तपस्या का फल हो तो यही कि मैं भी इसी प्रकार का सुख प्राप्त करूँ।

अन्त में मर कर वह देव पर्याय तो पाती है, मगर वहाँ भी देव-गणिका के रूप में उत्पन्न होती है।

देवभव का अन्त होने पर पंचालनृपति राजा द्रुपद की कन्या के रूप में उसका जन्म हुआ। उचित वय होने पर स्वयंवर का आयोजन किया गया। स्वयंवर में वासुदेव श्रीकृष्ण, पाण्डव आदि सहस्रों राजा आदि उपस्थित हुए। द्रौपदी ने पांचों पाण्डवों का वरण किया। उसके इस स्वयंवरण

पर किसी ने कोई आपत्ति नहीं की, मानो वह एक साधारण घटना थी। इससे तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

द्रौपदी पाण्डवों के साथ हस्तिनापुर चली गई। वहाँ भी कुछ विधि-विधान हुए। वारी-वारी से वह पाण्डवों के साथ मानवीय सुखों का उपभोग करने लगी।

एक वार नारदजी अचानक हस्तिनापुर जा पहुँचे। द्रौपदी के सिवाय सब ने उनकी यथोचित प्रतिपत्ति की। नारदजी द्रौपदी से रुष्ट हो गए। बदला लेने के विचार से धातकी खण्ड द्वीप में अमरकंका के राजा पद्मनाभ के वहाँ गये। द्रौपदी के रूप-लावण्य की अतिशय प्रशंसा करके पद्मनाभ को ललचाया। पद्मनाभ ने दैवी सहायता से द्रौपदी का हरण करवाया। द्रौपदी के संस्कार अव बदल चुके थे। वह पतिव्रता थी। पद्मनाभ ने द्रौपदी को भोग के लिए आमंत्रित किया तो उसने छह महीने की मोहलत मांग ली। उसे विश्वास था कि इस बीच उसके रिश्ते के भाई श्रीकृष्ण आकर अवश्य मेरा उद्धार करेंगे। हुआ भी यही। पाण्डवों को साथ लेकर कृष्णजी अमरकंका राजधानी जा पहुँचे। उन्होंने पद्मनाभ को युद्ध में पराजित किया। राजधानी को तहस-नहस कर दिया। द्रौपदी का उद्धार हुआ।

यथासमय द्रौपदी ने एक पुत्र को जन्म दिया। नाम हुआ पाण्डुसेन। पाण्डुसेन जव समर्थ, कलाकुशल और राज्य का संचालन करने योग्य हो गया तब पाण्डव उसे सिंहासनासीन करके दीक्षित हो गए। द्रौपदी ने अपने पतियों का अनुसरण किया। अन्त में पाण्डवों ने मुक्ति प्राप्त की और द्रौपदी आर्या ने स्वर्ग प्राप्त किया।

प्रस्तुत अध्ययन काफी विस्तृत है। यह इस अध्ययन का अतिसंक्षिप्त सार है। विशेष के लिये जिज्ञासु स्वयं इस अध्ययन का स्वाध्याय करें।

सोलसमं अज्झयणं : अवरकंका (दोवई)

जम्बू स्वामी का प्रश्न

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं पन्नरसमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, सोलसमस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

श्री जम्बू स्वामी ने श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया—'भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने पन्द्रहवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है, तो सोलहवें ज्ञात-अध्ययन का श्रमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है ?'

सुधर्मा स्वामी का उत्तर

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था । तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुच्छिमे दिसीभाए सुभूमिभागे णामं उज्जाणे होत्था ।

श्रीसुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'जम्बू ! उस काल और उस समय में चम्पानामक नगरी थी । उस चम्पा नगरी से बाहर उत्तर पूर्व (ईशान) दिशा के भाग में सुभूमिभागनामक उद्यान था ।

३—तत्थ णं चंपाए नयरीए तओ माहणा भायरो परिवसंति, तंजहा-सोमे, सोमदत्ते, सोमभूई, अड्ढा जाव [अपरिभूया] रिउव्वेय [जउव्वेय-सामवेय-अथव्वणवेय जाव बंभण्णएसु य सत्थेसु] सुपरिनिट्ठिया ।

तेसि णं माहणाणं तओ भारियाओ होत्था, तंजहा-नागसिरी, भूयसिरी, जक्खसिरी, सुकुमाल-पाणिपायाओ जाव तेसि णं माहणाणं इट्ठाओ, विपुले माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभवमाणीओ विहरंति ।

उस चम्पा नगरी में तीन ब्राह्मण-बन्धु निवास करते थे । उनके नाम इस प्रकार थे—सोम, सोमदत्त और सोमभूति । वे धनाढ्य थे यावत् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा अन्य ब्राह्मणशास्त्रों में यावत् अत्यन्त प्रवीण थे ।

उन तीन ब्राह्मणों की तीन पत्नियाँ थीं । वे इस प्रकार—नागश्री, भूतश्री और यक्षश्री । वे सुकुमार हाथ पैर आदि अवयवों वाली यावत् उन ब्राह्मणों की इष्ट थीं । वे मनुष्य संबंधी विपुल कामभोग भोगती हुई रहती थीं ।

सहभोज का निर्णय

४—तए णं तेसिं माहणाणं अन्नया कयाई एगयओ सहियाणं समुवागयाणं, जाव [सन्निसन्नाणं सण्णिविट्ठाणं] इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमे विपुले धण जाव [—कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-संत-सार—] सावतेज्जे

अलाहि जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं, पकामं भोत्तुं, पकामं परिभाएउं, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! अन्नमन्नस्स गिहेसु कल्लाकल्लि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेउं उवक्खडेउं परिभुंजेमाणाणं विहरित्तए।

किसी समय, एक बार एक साथ मिले हुए [साथ ही बैठे हुए] उन तीनों ब्राह्मणों में इस प्रकार का समुल्लाप (वार्तालाप) हुआ—'देवानुप्रियो ! हमारे पास यह प्रभूत धन यावत् [कनक, रत्न, मणि, मोती, शंख, शिला, प्रवाल, लाल आदि सारभूत] स्वापतेय-द्रव्य आदि विद्यमान हैं। सात पीढियों तक खूब दिया जाय, खूब भोगा जाय, और खूब बाँटा जाय तो भी पर्याप्त है। अतएव हे देवानुप्रियो ! हम लोगों का एक-दूसरे के घरों में, प्रतिदिन बारी-बारी से, विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम—यह चार प्रकार का आहार बनवा-बनवा कर एक साथ बैठ कर भोजन करना अच्छा रहेगा।'

५—अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, कल्लाकल्लि अन्नमन्नस्स गिहेसु विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति, उवक्खडावित्ता परिभुंजेमाणा विहरंति।

तीनों ब्राह्मणबन्धुओं ने आपस की यह बात स्वीकार की। वे प्रतिदिन एक-दूसरे के घरों में प्रचुर अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार बनवाने लगे और बनवा कर साथ-साथ भोजन करने लगे।'

नागश्री द्वारा कटु तूंबे का शाक पकाना

६—तए णं तीसे नागसिरीए माहणीए अन्नया भोयणवारए जाए यावि होत्था। तए णं सा नागसिरी विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेइ, उवक्खडित्ता एगं महं सालइयं[1] तित्तालाउअं बहुसंभार-संजुत्तं णेहावगाढं उवक्खडेइ, एगं बिंदुयं करयलंसि आसाइए, तं खारं कडुयं अखज्जं अभोज्जं विसब्भूयं जाणित्ता एवं वयासी—'धिरत्थु णं मम नागसिरीए अहन्नाए अपुन्नाए दूभगाए दूभगसत्ताए दूभगणिबोलियाए, जीए णं मए सालइए बहुसंभारसंभिए नेहावगाढे उवक्खडिए सुबहुदव्वक्खए नेहक्खए य कए।

तत्पश्चात् एक बार नागश्री ब्राह्मणी के यहाँ भोजन की बारी आई। तब नागश्री ने विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन बनाया। भोजन बना कर एक बड़ा-सा शरद् ऋतु संबंधी अथवा सार (रस) युक्त तूंबा (तूंबे का शाक) बहुत-से मसाले डाल कर और तेल से व्याप्त (छौंक) कर तैयार किया। उस शाक में से एक बूंद अपनी हथेली में लेकर चखा तो मालूम हुआ कि यह खारा, कड़वा, अखाद्य और विष जैसा है। यह जान कर वह मन ही मन कहने लगी—'मुझ अधन्या, पुण्यहीना, अभागिनी, भाग्यहीन, अत्यन्त अभागिनी-निंबोली के समान अनादरणीय नागश्री को धिक्कार है, जिस (मैं) ने यह शरद्-ऋतु संबंधी या रसदार तूंबा बहुत-से मसालों से युक्त और तेल से छौंका हुआ तैयार किया। इसके लिए बहुत-सा द्रव्य बिगाड़ा और तेल का भी सत्यानाश किया।

---

१. 'सालइय' शब्द के टीकाकार ने दो संस्कृतरूप बतलाए हैं—'शारदिक' और 'सारचित।'

७—तं जइ णं ममं जाउयाओ जाणिस्संति, तो णं मम खिंसिस्संति, तं जाव ताव ममं जाउयाओ ण जाणंति, ताव मम सेयं एयं सालइयं तित्तालाउं बहुसंभारनेहकडं एगंते गोवेत्तए, अन्नं सालइअं महुरालाउयं जाव नेहावगाढं उवक्खडेत्तए।' एवं संपेहेइ, संपेहित्ता तं सालइयं जाव गोवेइ, अन्नं सालइयं महुरालाउयं उवक्खडेइ।

सो यदि मेरी देवरानियाँ यह वृत्तान्त जानेंगी तो मेरी निन्दा करेंगी। अतएव जब तक मेरी देवरानियाँ न जान पाएँ तब तक मेरे लिए यही उचित होगा कि इस शरद्ऋतु संबंधी, बहुत मसालेदार और स्नेह (तेल) से युक्त कटुक तूंबे को किसी जगह छिपा दिया जाय। और दूसरा शरद्ऋतु संबंधी या सारयुक्त मीठा तूंबा मसाले डाल कर और बहुत-से तेल से छौंक कर तैयार किया जाय।' नागश्री ने इस प्रकार विचार किया। विचार करके उस कटुक शरद्ऋतु संबंधी तूंबे को यावत् छिपा दिया और मीठा तूंबा तैयार किया।

८—उवक्खडेत्ता तेसिं माहणाणं ण्हायाणं जाव सुहासणवरगयाणं तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिवेसेइ। तए णं ते माहणा जिमियभुत्तुत्तरागया समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूया सकम्मसंपउत्ता जाया यावि होत्था। तए णं ताओ माहणीओ ण्हायाओ जाव विभूसियाओ तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आहारेंति, आहारित्ता जेणेव सयाइं गेहाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सकम्मसंपउत्ताओ जायाओ।

तत्पश्चात् वे ब्राह्मण स्नान करके यावत् सुखासन पर बैठे। उन्हें वह प्रचुर अशन, पान, खादिम और स्वादिम परोसा गया। वे ब्राह्मण भोजन कर चुकने के पश्चात् आचमन करके स्वच्छ होकर और परम शुचि होकर अपने-अपने काम में संलग्न हो गए। तत्पश्चात् स्नान की हुई और विभूषित हुई उन ब्राह्मणियों ने विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार जीमा। जीमकर वे अपने-अपने घर चली गईं। जाकर वे भी अपने-अपने काम में लग गईं।

स्थविर-आगमन

९—तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा नामं थेरा जाव बहुपरिवारा जेणेव चंपा णामं नयरी, जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं जाव [ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा] विहरंति। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया।

उस काल और उस समय में धर्मघोषनामक स्थविर यावत् बहुत बड़े परिवार के साथ चम्पानामक नगरी के सुभूमिभाग उद्यान में पधारे। पधार कर साधु के योग्य उपाश्रय की याचना करके, यावत् [संयम और तप से आत्मा को भावित करते] विचरने लगे। उन्हें वन्दना करने के लिए परिषद् निकली। स्थविर मुनिराज ने धर्म का उपदेश दिया। उपदेश सुन कर परिषद् वापिस चली गई।

धर्मरुचि अनगार का भिक्षार्थ गमन

१०—तए णं तेसिं धम्मघोसाणं थेराणं अंतेवासी धम्मरुई नामं अणगारे ओराले जाव[घोरे

घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउल] तेउलेस्से मासंमासेणं खममाणे विहरइ। तए णं से धम्मरुई अणगारे मासखमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, करित्ता बीयाए पोरिसीए एवं जहा गोयमसामी तहेव उग्गाहेइ, उग्गाहित्ता तहेव धम्मघोसं थेरं आपुच्छइ, जाव चंपाए नयरीए उच्च-नीय-मज्झिमकुलाइं जाव अडमाणे जेणेव नागसिरीए माहणीए गिहे तेणेव अणुपविट्ठे।

धर्मघोष स्थविर के शिष्य धर्मरुचिनामक अनगार थे। वह उदार-प्रधान अथवा उराल-उग्र तपश्चर्या करने के कारण पार्श्वस्थों-पासत्थों के लिए अति भयानक लगते थे। [घोर अर्थात् परीषह एवं इन्द्रियों रूपी शत्रुगणों को जीतने में उन पर दयाहीन थे। घोरगुण थे अर्थात् जिन महाव्रतों आदि के सेवन में दूसरे कठिनाई अनुभव करते हैं ऐसे गुणों का आचरण करने वाले थे। घोर तपस्वी—घोर तपस्या करने वाले थे। घोर ब्रह्मचारी—साधारण जनों द्वारा दुरनुचर ब्रह्मचर्य का सेवन करने वाले थे। शरीर में रहते हुए भी शरीर-संस्कार के त्यागी होने के कारण उच्छूढसरीर-शरीर के त्यागी—शारीरिक ममत्व से अस्पृष्ट-देहातीत दशा में रमण करने वाले थे। अनेक योजन-परिमाण क्षेत्र में स्थित वस्तु को भी भस्म कर देने वाली विपुल तेजोलेश्या जिनके शरीर में ही रहने के कारण संक्षिप्त थी, अर्थात् अपनी विपुल तेजोलेश्या का कभी प्रयोग नहीं करते थे।] वे धर्मरुचि अनगार मास-मास का तप करते हुए विचरते थे। किसी दिन धर्मरुचि अनगार के मासक्षपण की पारणा का दिन आया। उन्होंने पहली पौरुषी में स्वाध्याय किया, दूसरी में ध्यान किया। इत्यादि सब वृत्तान्त गौतम स्वामी के वर्णन के समान कहना चाहिए, तीसरे प्रहर में पात्रों का प्रतिलेखन करके उन्हें ग्रहण किया। ग्रहण करके धर्मघोष स्थविर से भिक्षा-गोचरी लाने की आज्ञा प्राप्त की। यावत् वे चम्पा नगरी में उच्च, नीच और मध्यम कुलों में भ्रमण करते हुए नागश्री ब्राह्मणी के घर में प्रविष्ट हुए।

कटुक तूंबे का दान

११—तए णं सा नागसिरी माहणी धम्मरुइं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता तस्स सालइयस्स तित्तकडुयस्स बहुसंभारसंजुत्तं णेहावगाढं निसिरणट्ठयाए हट्ठतुट्ठा उट्ठेइ, उट्ठित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं सालइयं तित्तकडुयं च बहुनेहं धम्मरुइस्स अणगारस्स पडिग्गहंसि सव्वमेव निसिरइ।

तब नागश्री ब्राह्मणी ने धर्मरुचि अनगार को आते देखा। देख कर वह उस शरद्ऋतु संबंधी, बहुत-से मसालों वाले और तेल से युक्त तूंबे के शाक को निकाल देने का योग्य अवसर जानकर हृष्ट-तुष्ट हुई और खड़ी हुई। खड़ी होकर भोजनगृह में गई। वहाँ जाकर उसने वह शरद्ऋतु संबंधी तिक्त और कडुवा बहुत तेल वाला सब का सब शाक धर्मरुचि अनगार के पात्र में डाल दिया।

१२—तए णं से धम्मरुई अणगारे अहापज्जत्तमिति कट्टु णागसिरीए माहणीए गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता चंपाए नगरीए मज्झंमज्झेणं पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता जेणेव सुभूमिभागे उज्जाणे जेणेव धम्मघोसा थेरा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मघोसस्स अदूरसामंते इरियावहियं पडिक्कमइ, अन्नपाणं पडिलेहेइ अन्नपाणं करयलंसि पडिदंसेइ।

तत्पश्चात् धर्मरुचि अनगार 'आहार पर्याप्त है' ऐसा जानकर नागश्री ब्राह्मणी के घर से बाहर निकले। निकल कर चम्पा नगरी के बीचोंबीच होकर निकले। निकलकर सुभूमिभाग उद्यान में आए। आकर उन्होंने धर्मघोष स्थविर के समीप ईर्यापथ का प्रतिक्रमण करके अन्न-पानी का प्रतिलेखन किया। प्रतिलेखन करके, हाथ में अन्न-पानी लेकर स्थविर गुरु को दिखलाया।

स्थविर का आदेश

१३—तए णं ते धम्माघोसा थेरा तस्स सालइयस्स नेहावगाढस्स गंधेण अभिभूया समाणा तओ सालइयाओ नेहावगाढाओ एगं बिंदुगं गहाय करयलंसि आसाएइ, तित्तगं खारं कडुयं अखज्जं अभोज्जं विसभूयं जाणित्ता धम्मरुइं अणगारं एवं वयासी—'जइ णं तुमं देवाणुप्पिया! एयं सालइयं जाव नेहावगाढं आहारेसि तो णं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि, तं मा णं तुमं देवाणुप्पिया! इमं सालइयं जाव आहारेसि, मा णं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि। तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिया! इमं सालइयं एगंतमणावाए अचित्ते थंडिले परिट्ठवेहि, परिट्ठवित्ता अन्नं फासुयं एसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेहि।'

उस समय धर्मघोष स्थविर ने, उस शरद्ऋतु संबंधी, तेल से व्याप्त शाक की गंध से उद्विग्न होकर-पराभव को प्राप्त होकर, उस शरद्ऋतु संबंधी एवं तेल से व्याप्त शाक में से एक बूंद हाथ में ली, उसे चखा। तब उसे तिक्त, खारा, कड़वा, अखाद्य अभोज्य और विष के समान जानकर धर्मरुचि अनगार से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय! यदि तुम यह शरद्ऋतु संबंधी यावत् तेल वाला तूंबे का शाक खाओगे तो तुम असमय में ही जीव से रहित हो जाओगे, अतएव हे देवानुप्रिय! तुम इस शरद्ऋतु संबंधी शाक को मत खाना। ऐसा न हो कि असमय में ही तुम्हारे प्राण चले जाएँ। अतएव हे देवानुप्रिय! तुम जाओ और यह शरद्ऋतु संबंधी तूंबे का शाक एकान्त, आवागमन से रहित, अचित्त भूमि में परठ दो। इसे परठ कर दूसरा प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण करके उसका आहार करो।'

१४—तए णं से धम्मरुई अणगारे धम्मघोसेणं थेरेणं एवं वुत्ते समाणे धम्मघोसस्स थेरस्स अंतियाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता सुभूमिभागाओ उज्जाणाओ अदूरसामंते थंडिल्लं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता तओ सालइयाओ एगं बिंदुगं गहेइ, गहित्ता थंडलंसि निसिरइ।

तत्पश्चात् धर्मघोष स्थविर के ऐसा कहने पर धर्मरुचि अनगार धर्मघोष स्थविर के पास से निकले। निकलकर सुभूमिभाग उद्यान से न अधिक दूर न अधिक समीप अर्थात् कुछ दूर पर उन्होंने स्थंडिल (भूभाग) की प्रतिलेखना करके उस शरद् संबंधी तूंबे के शाक की बूंद ली और उस भूभाग में डाली।

परठने से होने वाली हिंसा-स्वशरीर में प्रक्षेप

१५—तए णं तस्स सालइयस्स तित्तकडुयस्स बहुनेहावगाढस्स गंधेणं बहूणि पिपीलिगासहस्साणि पाउब्भूयाइं। जा जहा य णं पिपीलिगा आहारेइ सा तहा अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जइ।

तए णं तस्स धम्मरुइस्स अणगारस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'जइ ताव इमस्स सालइयस्स जाव एगंमि बिंदुगंमि पक्खित्तंमि अणेगाइं पिपीलिगासहस्साइं ववरोविज्जंति, तं जई णं अहं एयं सालइयं थंडिल्लंसि सव्वं निसिरामि, तए णं बहूणं पाणाणं भूआणं जीवाणं सत्ताणं वहकारणं भविस्सइ। तं सेयं खलु ममेयं सालइयं जाव गाढं सयमेव आहारेत्तए, मम चेव एएणं सरीरेणं णिज्जाउ' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता मुहपोत्तियं, पडिलेहइ, पडिलेहित्ता ससीसोवरियं कायं पमज्जेइ, पमज्जित्ता तं सालइयं तित्तकडुयं बहुनेहावगाढं बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं सव्वं सरीरकोट्ठंसि पक्खिवइ।

तत्पश्चात् उस शरद् संबंधी तिक्त कटुक और तेल से व्याप्त शाक की गंध से बहुत-हजारों कीड़ियां वहाँ आ गईं। उनमें से जिस कीड़ी ने जैसे ही वह शाक खाया, वैसे ही वह असमय में ही मृत्यु को प्राप्त हुई।

तब धर्मरुचि अनगार के मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—यदि इस शरद् संबंधी यावत् शाक का एक बिन्दु डालने पर अनेक हजार कीड़ियाँ मर गईं, तो यदि मैं सब का सब यह शाक भूमि पर डाल दूंगा तो यह बहुत-से प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के वध का कारण होगा। अतएव इस शरद् संबंधी यावत् तेल वाले शाक को स्वयं ही खा जाना मेरे लिए श्रेयस्कर होगा। यह शाक इसी (मेरे) शरीर से ही समाप्त हो जाय—झर जाय। अनगार ने ऐसा विचार करके मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की। प्रतिलेखना करके मस्तक सहित ऊपर शरीर का प्रमार्जन किया। प्रमार्जन करके वह शरद् संबंधी तूंबे का तिक्त कटुक और बहुत तेल से व्याप्त शाक स्वयं ही, आस्वादन किये बिना अपने शरीर के कोठे में डाल लिया। जैसे सर्प सीधा ही बिल में प्रवेश करता है, उसी प्रकार वह आहार सीधा उनके उदर में चला गया।

१६—तए णं तस्स धम्मरुइस्स तं सालइयं जाव नेहावगाढं आहारियस्स समाणस्स मुहुत्तंतरेणं परिणममाणंसि सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला जाव [विउला कक्खडा पगाढा चंडा दुक्खा] दुरहियासा।

शरद् संबंधी तूंबे का यावत् तेल वाला शाक खाने पर धर्मरुचि अनगार के शरीर में, एक मुहूर्त्त में (थोडी सी देर में) ही उसका असर हो गया। उनके शरीर में वेदना उत्पन्न हो गई। वह वेदना उत्कट थी, यावत् [विपुल, कर्कश, प्रगाढ तथा] दुस्सह थी।

१७—तए णं धम्मरुई अणगारे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कार-परक्कमे अधारणिज्जमिति कट्टु आयारभंडगं एगंते ठवेइ, ठवित्ता थंडिल्लं पडिलेहइ, पडिलेहित्ता दब्भसंथारगं संथारेइ संथारित्ता दब्भसंथारगं दुरूहइ, दुरूहित्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

शाक पेट में डाल लेने के पश्चात् धर्मरुचि अनगार स्थाम (उठने-बैठने की शक्ति) से रहित, बलहीन, वीर्य से रहित तथा पुरुषकार और पराक्रम से हीन हो गये। 'अब यह शरीर धारण नहीं किया जा सकता' ऐसा जानकर उन्होंने आचार के भाण्ड-पात्र एक जगह रख दिये। उन्हें रख कर स्थंडिल का प्रतिलेखन किया। प्रतिलेखन करके दर्भ का संथारा बिछाया और वे उस पर आसीन हो

गये। पूर्व दिशा की ओर मुख करके पर्यंक आसन से बैठ कर, दोनों हाथ जोड़ कर, मस्तक पर आवर्त्तन करके, अंजलि करके इस प्रकार कहा—

१८—नमोऽत्थु णं अरहंताणं जाव संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं धम्मघोसाणं थेराणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसगाणं; पुव्विं पि णं मए धम्मघोसाणं थेराणं अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव परिग्गहे,[१] इयाणिं पि णं अहं तेसिं चेव भगवंताणं अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जाव परिग्गहं पच्चक्खामि जावजीवाए, जहा खंदओ जाव चरिमेहिं उस्सासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालगए।

'अरिहंतों यावत् सिद्धिगति को प्राप्त भगवन्तों को नमस्कार हो। मेरे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक धर्मघोष स्थविर को नमस्कार हो। पहले भी मैंने धर्मघोष स्थविर के पास सम्पूर्ण प्राणातिपात का जीवन पर्यन्त के लिए प्रत्याख्यान किया था, यावत् परिग्रह का भी, इस समय भी मैं उन्हीं भगवंतों के समीप (उनकी साक्षी से) सम्पूर्ण प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ यावत् सम्पूर्ण परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ जीवन पर्यन्त के लिए। जैसे स्कंदक मुनि ने त्याग किया, उसी प्रकार यहाँ जानना चाहिए। यावत् अन्तिम श्वासोच्छ्वास के साथ अपने इस शरीर का भी परित्याग करता हूँ।' इस प्रकार कह कर आलोचना और प्रतिक्रमण करके, समाधि के साथ मृत्यु को प्राप्त हुए।

१९—तए णं ते धम्मघोसा थेरा धम्मरुइं अणगारं चिरं गयं जाणित्ता समणे निग्गंथे सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! धम्मरुइस्स अणगारस्स मासखमणपारणगंसि सालाइयस्स जाव गाढस्स णिसिरणट्ठयाए बहिया निग्गए चिरावेइ, तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेह।'

तत्पश्चात् धर्मघोष स्थविर ने धर्मरुचि अनगार को चिरकाल से गया जान कर निर्ग्रन्थ श्रमणों को बुलाया। बुलाकर उनसे कहा—'देवानुप्रियो! धर्मरुचि अनगार को मासखमण के पारणक में शरद् संबंधी यावत् तेल वाला कटुक तूंबे का शाक मिला था। उसे परठने के लिए वह बाहर गये थे। बहुत समय हो चुका है। अतएव देवानुप्रिय! तुम जाओ और धर्मरुचि अनगार की सब ओर मार्गणा—गवेषणा (तलाश) करो।'

२०—तए णं ते समणा निग्गंथा जाव पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता धम्मघोसाणं थेराणं अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणा जेणेव थंडिल्ले तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता धम्मरुइस्स अणगारस्स सरीरगं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीवविप्पजढं पासंति, पासित्ता 'हा हा! अहो अकज्ज' मिति कट्टु धम्मरुइस्स अणगारस्स परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेंति, करित्ता धम्मरुइस्स अणगारस्स आयारभंडगं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव धम्मघोसा थेरा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता गमणागमणं पडिक्कमंति, पडिक्कमित्ता एवं वयासी—

---

१. धर्मरुचि अनगार को मध्यवर्त्ती तीर्थंकर-शासन में हुए मानकर 'अंगसुत्ताणि में 'बहिद्धादाणे' पाठ का सुझाव दिया है।

तत्पश्चात् श्रमण निर्ग्रंथों ने अपने गुरु का आदेश अंगीकार किया। अंगीकार करके वे धर्मघोष स्थविर के पास से बाहर निकले। बाहर निकल कर सब ओर धर्मरुचि अनगार की मार्गणा—गवेषणा करते हुए जहाँ स्थंडिल भूमि थी वहाँ आये। आकर देखा—धर्मरुचि अनगार का शरीर निष्प्राण, निश्चेष्ट और निर्जीव पड़ा है। उसे देख कर उनके मुख से सहसा निकल पड़ा—'हा हा! अहो! यह अकार्य हुआ—बुरा हुआ!' इस प्रकार कह कर उन्होंने धर्मरुचि अनगार के आचार-भांडक (पात्र) ग्रहण किये और धर्मघोष स्थविर के निकट पहुंचे। पहुंच कर गमनागमन का प्रतिक्रमण किया। प्रतिक्रमण करके बोले:—

२१—एवं खलु अम्हे तुब्भं अंतियाओ पडिनिक्खमामो पडिनिक्खमित्ता सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स परिपेरंतेणं धम्मरुइस्स अणगारस्स सव्वओ समंता मग्गण-गवेसणं करेमाणा जेणेव थंडिल्ले तेणेव उवागच्छामो, उवागच्छित्ता जाव इहं हव्वमागया। तं कालगए णं भंते! धम्मरुई अणगारे, इमे से आयारभंडए।'

'आपका आदेश पा करके हम आपके पास से निकले थे। निकल कर सुभूमिभाग उद्यान के चारों तरफ धर्मरुचि अनगार की यावद् सभी ओर मार्गणा—गवेषणा करते हुए स्थंडिल भूमि में गये। वहां जाकर यावत् जल्दी ही यहाँ लौट आए हैं। भगवन्! धर्मरुचि अनगार कालधर्म को प्राप्त हो गए हैं। यह उनके आचार-भांड हैं। (इस प्रकार वहाँ का समग्र वृत्तान्त निवेदन कर पात्र आदि उपकरण गुरु महाराज के सामने रख दिए।)

२२—तए णं ते धम्मघोसा थेरा पुव्वगए उवओगं गच्छंति, गच्छित्ता समणे निग्गंथे निग्गंथीओ य सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु अज्जो! मम अंतेवासी धम्मरुई नामं अणगारे पगइभद्दए जाव [पगइउवसंते पगइपयणुकोहमाणमायालोहे, मिउमद्दवसंपण्णे अल्लीणे भद्दए] विणीए मासंमासेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे जाव नागसिरीए माहणीए गिहे अणुपविट्ठे, तए णं सा नागसिरी माहणी जाव निसिरइ।

तए णं से धम्मरुई अणगारे अहापज्जत्तमिति कट्टु जाव कालं अणवकंखेमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् स्थविर धर्मघोष ने पूर्वश्रुत में उपयोग लगाया। उपयोग लगा कर (समग्र घटित घटना को जान लिया, तब) श्रमण निर्ग्रन्थों को और निर्ग्रन्थियों को बुलाकर उनसे कहा—'हे आर्यो। निश्चय ही मेरा अन्तेवासी धर्मरुचिनामक अनगार स्वभाव से भद्र यावत् [स्वभाव से उपशान्त-मंद क्रोध, मान, माया, लोभ वाला, मृदुता से सम्पन्न, आत्मभाव में लीन, भद्र और] विनीत था। वह मासखमण की तपस्या कर रहा था। यावत् वह नागश्री ब्राह्मणी के घर पारणक-भिक्षा के लिए गया। तब नागश्री ब्राह्मणी ने उसके पात्र में सब का सब कटुक, विष-सदृश तूंबे का शाक उंडेल दिया।

तब धर्मरुचि अनगार अपने लिए पर्याप्त आहार जान कर यावत् काल की आकांक्षा न करते हुए विचरने लगे। तात्पर्य यह कि स्थविर ने पिछला समग्र वृत्तान्त अपने शिष्यों को सुना दिया।

देवपर्याय की प्राप्ति

२३—से णं धम्मरुई अणगारे बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता आलोइयपडिक्कंते

समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं सोहम्म जाव सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अजहण्णमणुक्कोसं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ धम्मरुइस्स वि देवस्स तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। से णं धम्मरुई देवे ताओ देवलोगाओ जाव [आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता] महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

धर्मरुचि अनगार बहुत वर्षों तक श्रामण्य पर्याय पाल कर, आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधि में लीन होकर काल-मास में काल करके, ऊपर सौधर्म आदि देवलोकों को लांघ कर, यावत् सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमान में देवरूप से उत्पन्न हुए हैं। वहाँ जघन्य-उत्कृष्ट भेद से रहित एक ही समान सब देवों की तेतीस सागरोपम की स्थिति कही गई है। वह धर्मरुचि देव उस सर्वार्थसिद्ध देवलोक से आयु. स्थिति और भव का क्षय होने पर च्युत होकर सीधे महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा।

२४—'तं धिरत्थु णं अज्जो ! णागसिरीए माहणीए अधन्नाए अपुन्नाए जाव णिंबोलियाए, जाए णं तहारूवे साहू धम्मरुई अणगारे मासखमणपारणगंसि सालइएणं जाव गाढेणं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविए।'

'तो हे आर्यो ! उस अधन्य, अपुण्य यावत् निंबोली के समान कटुक नागश्री ब्राह्मणी को धिक्कार है, जिसने तथारूप के साधु धर्मरुचि अनगार को मासखमण के पारणक में शरद संबंधी यावत् तेल से व्याप्त कटुक, विषाक्त तूंबे का शाक देकर असमय में ही मार डाला।'

२५— तए णं ते समणा निग्गंथा धम्मघोसाणं थेराणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म चंपाए सिंघाडग-तिग जाव [चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु] बहुजणस्स एवमाइक्खंति—'धिरत्थु णं देवाणुप्पिया ! नागसिरीए माहणीए जाव णिंबोलियाए, जाए णं तहारूवे साहू साहुरूवे सालइएणं जीवियाओ ववरोविए।'

तत्पश्चात् उन निर्ग्रन्थ श्रमणों ने धर्मघोष स्थविर के पास से यह वृत्तान्त सुनकर और समझ कर चम्पानगरी के शृंगाटक, त्रिक, चौक, चत्वर, चतुर्मुख राजमार्ग, गली आदि मार्गों में जाकर यावत् बहुत लोगों से इस प्रकार कहा— धिक्कार है उस यावत् निंबोली के समान कटुक नागश्री ब्राह्मणी को; जिसने उस प्रकार के साधु और साधु रूप धारी, मासखमण का तप करने वाले धर्मरुचिनामक अनगार को शरद् संबंधी यावत् विष सदृश कटुक शाक देकर मार डाला।'

२६—तए णं तेसिं समणाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ—'धिरत्थु णं नागसिरीए माहणीए जाव जीवियाओ ववरोविए।'

तब उन श्रमणों से इस वृत्तान्त को सुन कर और समझ कर बहुत-से लोग आपस में इस प्रकार कहने लगे और बातचीत करने लगे—'धिक्कार है उस नागश्री ब्राह्मणी को, जिसने यावत मुनि को मार डाला।'

नागश्री की दुर्दशा

२७—तए णं ते माहणा चंपाए नयरीए बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ता

जाव [रुट्ठा कुविया चंडिक्किया] मिसिमिसेमाणा जेणेव नागसिरी माहणो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता णागसिरिं माहणिं एवं वयासी—

'हं भो नागसिरी ! अपत्थियपत्थिए दुरंतपंतलक्खणे हीणपुण्णचाउद्दसे थिरत्थु णं तव अधन्नाए अपुन्नाए दूभगाए दूभगसत्ताए दूभग-णिंबोलियाए, जाए णं तुमे तहारूवे साहू साहुरूवे मासखमणपारणगंसि सालइएणं जाव ववरोविए।' उच्चावएहिं अक्कोसणाहिं अक्कोसंति, उच्चावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेंति, उच्चावयाहिं णिब्भत्थणाहिं णिब्भत्थंति, उच्चावयाहिं णिच्छोडणाहिं णिच्छोडेंति, तज्जेंति, तालेंति, तज्जेत्ता तालेत्ता सयाओ गिहाओ निच्छुभंति।

तत्पश्चात् वे सोम, सोमदत्त और सोमभूति ब्राह्मण, चम्पानगरी में बहुत-से लोगो से यह वृत्तान्त सुनकर और समझकर, कुपित हुए यावत् [क्रोध से जल उठे, रुष्ट हुए, अतीव कुपित हुए, तीव्र क्रोध के वशीभूत हो गए] और मिसमिसाने (जलने) लगे। वे वहीं जा पहुँचे जहाँ नागश्री थी। उन्होंने वहाँ जाकर नागश्री से इस प्रकार कहा—

अरी नागश्री ! अप्रार्थित (मरण) की प्रार्थना करने वाली ! दुष्ट और अशुभ लक्षणों वाली ! निकृष्ट कृष्ण चतुर्दशी में जन्मी हुई ! अधन्य, अपुण्य, भाग्यहीने ! अभागिनी ! अतीव 'दुर्भागिनी ! निंबोली के समान कटुक ! तुझे धिक्कार है; जिसने तथारूप साधु और साधु रूप धारी को मासखमण के पारणक में शरद् संबंधी यावत् विषैला शाक बहरा कर मार डाला !'

इस प्रकार कह कर उन ब्राह्मणों ने ऊँचे-नीचे आक्रोश (तू मरजा आदि) वचन कह कर आक्रोश किया अर्थात् गालियाँ दीं, ऊँचे-नीचे उद्धंसना वचन (तू नीच कुल की है, आदि) कह कर उद्धंसना की, ऊँचे-नीचे भर्त्सना वचन (निकल जा हमारे घर से आदि) कह कर भर्त्सना की, तथा ऊँचे-नीचे निश्छोटन वचन(हमारे गहने, कपड़े उतार दे, इत्यादि)कह कर निश्छोटना की, 'हे पापिनी! तुझे पाप का फल भुगतना पड़ेगा' इत्यादि वचनों से तर्जना की और थप्पड़ आदि मार-मार कर ताड़ना की। इस प्रकार तर्जना और ताड़ना करके उसे घर से निकाल दिया।

२८—तए णं सा नागसिरी सयाओ गिहाओ निच्छूढा समाणी चंपाए नयरीए सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु बहुजणेणं हीलिज्जमाणी खिंसिज्जमाणी निंदिज्जमाणी गरहिज्जमाणी तज्जिज्जमाणी पव्वहिज्जमाणी धिक्कारिज्जमाणी थुक्कारिज्जमाणी कत्थइ ठाणं वा निलयं वा अलभमाणी दंडीखंडनिवसना खंडमल्लग-खंडघडग-हत्थगया फुट्ट-हडाहड-सीसा मच्छिया-चडगरेणं अन्निज्जमाणमग्गा गेहंगेहेणं देहं-बलियाए वित्ति कप्पेमाणी विहरइ।

तत्पश्चात् वह नागश्री अपने घर से निकाली हुई चंपानगरी में शृंगाटकों (सिंघाड़े के आकार के मार्गों) में, त्रिक (तीन रास्ते जहाँ मिलते हों ऐसे मार्गों) में, चतुष्क (चौकों) में, चत्वरों (चबूतरों) तथा चतुर्मुख (चार द्वार वाले देवकुल आदि) में, बहुत जनों द्वारा अवहेलना की पात्र होती हुई, कुत्सा (बुराई) की जाती हुई, निन्दा और गर्हा की जाती हुई, उंगली दिखा-दिखा कर तर्जना की जाती हुई, डंडों आदि की मार से व्यथित की जाती हुई, धिक्कारी जाती हुई तथा थूकी जाती हुई, न कहीं भी ठहरने का ठिकाना पा सकी और न कहीं रहने को स्थान पा सकी। टुकड़े-टुकड़े साँधे हुए वस्त्र पहने, भोजन के लिए सिकोरे का टुकड़ा लिए, पानी पीने के लिए घड़े का टुकड़ा हाथ में लिए, मस्तक पर अत्यन्त बिखरे बालों को धारण किए, जिसके पीछे मक्खियों के झुंड भिन-भिना रहे

थे, ऐसी वह नागश्री घर-घर देहवलि (अपने-अपने घरों पर फैंकी हुई वलि) के द्वारा अपनी जीविका चलाती हुई-पेट पालती हुई भटकने लगी।

२९—तए णं तीसे नागसिरीए माहणीए तब्भवंसि जेव सोलसरोगायंका पाउब्भूया, तंजहा—सासे कासे जोणिसूले जाव कोढे। तए णं नागसिरी माहणी सोलसेहिं रोगायंकेहिं अभिभूया समाणी अट्टदुहट्टवसट्टा कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं वावीससागरोवमठिइएसु नरएसु नेरइयत्ताए उववन्ना।

तदनन्तर उस नागश्री ब्राह्मणी को उसी (वर्त्तमान) भव में सोलह रोगातंक उत्पन्न हुए। वे इस प्रकार-श्वास, कास योनिशूल यावत् कोढ़[1]। तत्पश्चात् नागश्री ब्राह्मणी सोलह रोगातंकों से पीडित होकर अतीव दुःख के वशीभूत होकर, कालमास में काल करके, छठी पृथ्वी (नरकभूमि) में उत्कृष्ट वाईस सागरोपम की स्थिति वाले नारक के रूप में उत्पन्न हुई।

३०—सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता मच्छेसु उववन्ना, तत्थ णं सत्थवज्झा दाहवक्कतीए कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमीए पुढवीए उक्कोसाए तित्तीससागरोवमठिइएसु नेरइएसु उववन्ना।

तत्पश्चात् नरक से सीधी निकल कर वह नागश्री मत्स्य योनि में उत्पन्न हुई। वहाँ वह शस्त्र से वध करने योग्य हुई—उसका वध शस्त्र से किया गया। अतएव दाह की उत्पत्ति से कालमास में काल करके, नीचे सातवीं पृथ्वी (नरकभूमि) में उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति वाले नारकों में नारक पर्याय में उत्पन्न हुई।

३१—सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता दोच्चं पि मच्छेसु उववज्जइ, तत्थ वि य णं सत्थवज्झा दाहवक्कंतीए दोच्चं पि अहे सत्तमीए पुढवीए उक्कोसं तेत्तीससागरोवमठिइएसु नेरइएसु उववज्जइ।

तत्पश्चात् नागश्री सातवीं पृथ्वी से निकल कर सीधी दूसरी वार मत्स्य योनि में उत्पन्न हुई। वहाँ भी उसका शस्त्र से वध किया गया और दाह की उत्पत्ति होने से मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः नीचे सातवीं पृथ्वी में उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की आयु वाले नारकों में उत्पन्न हुई।

३२—सा णं तओहिंतो जाव उव्वट्टित्ता तच्चं पि मच्छेसु उववन्ना, तत्थ वि य णं सत्थवज्झा जाव कालं किच्चा दोच्चं पि छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं वावीससागरोवमठिइएसु नरएसु उववन्ना।

सातवीं पृथ्वी से निकल कर तीसरी वार भी मत्स्य योनि में उत्पन्न हुई। वहाँ भी वह शस्त्र से वध करने योग्य हुई। यावत् काल करके दूसरी वार छठी पृथ्वी में वाईस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु वाले नारकों में नारक रूप में उत्पन्न हुई।

३३—तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता उरएसु, एवं जहा गोसाले तहा नेयव्वं जाव रयणप्पहाए सत्तसु उववन्ना। तओ उववट्टित्ता जाव इमाइं खहयरविहाणाइं जाव अदुत्तरं च णं खरवायर-पुढविकाइयत्ताए तेसु अणेगसयसहस्सखुत्तो।

१. देखो नन्दन मणियार अध्ययन

वहाँ से निकलकर वह उरग योनि में उत्पन्न हुई। इस प्रकार जैसे गोशालक के विषय में (भगवती सूत्र में) कहा है, वही सब वृत्तान्त यहाँ समझना चाहिए, यावत् रत्नप्रभा आदि सातों नरक भूमियों में उत्पन्न हुई। वहाँ से निकल कर यावत् खेचरों की विविध योनियों में उत्पन्न हुई। तत्पश्चात् खर (कठिन) बादर पृथ्वीकाय के रूप में अनेक लाख वार उत्पन्न हुई।

विवेचनः—नागश्री ने जो पाप किया वह असाधारण था। धर्मरुचि एक महान् संयमनिष्ठ साधु थे। जगत् के समस्त प्राणियों को आत्मवत् जानने वाले, करुणा के सागर थे। कीड़ी जैसे क्षुद्र प्राणियों की रक्षा के लिए जिन्होंने शरीरोत्सर्ग कर दिया, उनसे अधिक दयावान् अन्य कौन होगा ? अन्तिम समय में भी उनका समाधिभाव खंडित नहीं हुआ। उन्होंने आलोचना प्रतिक्रमण किया और समाधिभाव में स्थिर रहे। चित्त की शान्ति और समता को यथावत् अखंडित रक्खा। नागश्री ब्राह्मणी के प्रति लेश मात्र भी द्वेषभाव उनके मन में नहीं आया, जो ऐसे अवसर पर आ जाना असंभव नहीं था। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके लिए जो 'उच्छूढसरीरे' विशेषण का प्रयोग किया गया है वह केवल प्रशंसापरक नहीं किन्तु यथार्थता का द्योतक है। (देखिए सूत्र १०) वास्तव में धर्म-रुचि अनगार देहस्थ होने पर भी देहदशा से अतीत थे—विदेह थे। शरीर और आत्मा का पृथक्त्व वे जानते ही नहीं थे, प्रत्युत अनुभव भी करते थे। शरीर का पात होने पर भी आत्मा अजर-अमर अविनाशी है, यह अनुभूति उनके जीवन का अंग बन चुकी थी। इसी अनुभूति के प्रवल वल से वे सहज समभाव में रमण करते हुए शरीर-त्याग करने में सफल हुए।

जीवन-अवस्था में किये हुए आचरण के संस्कार व्यक्त या अव्यक्त रूप में संचित होते रहते हैं और मरण-काल में वे प्राणी की बुद्धि-भावना-विचारधारा को प्रभावित करते हैं। आगम का विधान है कि जीव जिस लेश्या में मरता है, उसी लेश्या के वशीभूत होकर आगामी जन्म लेता है। अन्तिम समय की लेश्या जीवन में संचित संस्कारों के अनुरूप ही होती है। कुछ लोग सोचते हैं-अभी कुछ भी करें, जीवन का अन्त संवार लेंगे, परन्तु यह विचार भ्रान्त है। जीवन का क्षण-क्षण संवारा हुआ हो तो ही अन्तिम समय संवरने की संभावना रहती है। कुछ अपवाद हो सकते हैं किन्तु वे मात्र अपवाद ही हैं।

नागश्री ने एक उत्कृष्ट संयमशील साधु का जान-बूझ कर हनन किया। यह अधमतम पाप था। इसका भयंकर से भयंकर फल उसे भुगतना पड़ा। उसे समस्त नरकभूमियों में, उरग, जलचर, खेचर, असंज्ञी, संज्ञी आदि पर्यायों में अनेक-अनेक वार जन्म-मरण की दुस्सह यातनाएँ सहन करनी पड़ीं।

प्रस्तुत सूत्र में पाठ कुछ संक्षिप्त है। प्रतीत होता है कि टीकाकार अभयदेव सूरि समक्ष दोनों पाठ विद्यमान थे। वे अपनी टीका में लिखते हैं—'गोशालकाध्ययनसमानं' सूत्रं ततएव दृश्यं, वहुत्वात्तु न लिखितम्।'

अर्थात् नागश्री के भवभ्रमण का वृत्तान्त वहुत विस्तृत है, अतः उसे यहाँ लिखा नहीं गया है, परन्तु गोशालक अध्ययन (भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक) के अनुसार वह वर्णन जान लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में 'जाव' शब्दों के प्रयोग द्वारा उसको ग्रहण कर लिया गया है।

कहीं-कहीं प्रस्तुत सूत्र में आए 'जहा गोसाले तहा नेयव्वं जाव' इस पाठ के स्थान पर निम्न-लिखित पाठ अधिक उपलब्ध होता है—

'रयणप्पभाओ पुढवीओ उव्वट्टित्ता सण्णीसु उववन्ना । तओ उव्वट्टित्ता असण्णीसु उववन्ना । तत्थ वि य णं सत्थवज्झा दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा दोच्चं पि रयणप्पभाए पुढवीए पलिओवमस्स असंखिज्जइभागट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववण्णा । तओ उव्वट्टित्ता जाइं इमाइं खहयरविहाणाइं.......'

इसका अर्थ इस प्रकार है—वह नागश्री रत्नप्रभा पृथ्वी से उद्वर्त्तन करके-निकलकर संज्ञी जीवों में उत्पन्न हुई । वहां से मरण-प्राप्त होकर असंज्ञी प्राणियों में जन्मी । वहां भी उसका शस्त्र द्वारा वध किया गया । उसके शरीर में दाह उत्पन्न हुआ । यथासमय मरकर दूसरी वार रत्नप्रभा पृथ्वी में पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नारकों में नारक-पर्याय में जन्मी । वहां से निकलकर खेचरों की योनियों में उत्पन्न हुई ।—अंगसुत्ताणि, तृतीय भाग, पृ० २८०

सुकुमालिका का कथानक

३४—सा णं तओऽणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे, भारहे वासे, चंपाए नयरीए, सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए पच्चायाया । तए णं सा भद्दा सत्थवाही णवण्हं मासाणं दारियं पयाया । सुकुमालकोमलियं गयतालुयसमाणं ।

तत्पश्चात् वह पृथ्वीकाय से निकल कर इसी जम्बू द्वीप में, भारतवर्ष में, चम्पा नगरी में सागरदत्त सार्थवाह की भद्रा भार्या की कूख में वालिका के रूप में उत्पन्न हुई । तव भद्रा सार्थवाही ने नौ मास पूर्ण होने पर वालिका का प्रसव किया । वह वालिका हाथी के तालु के समान अत्यन्त सुकुमार और कोमल थी ।

३५—तीसे दारियाए निव्वत्ते वारसाहियाए अम्मापियरो इमं एयारूवं गोन्नं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेंति,—'जम्हा णं अम्हं एसा दारिया सुकुमाला गयतालुयसमाणा तं होउ णं अम्हं इमीसे दारियाए नामधेज्जं सुकुमालिया ।' तए णं तीसे दारियाए अम्पापियरो नामधेज्जं करेंति सुकुमालिय त्ति ।

उस वालिका के वारह दिन व्यतीत हो जाने पर माता-पिता ने उसका यह गुण वाला और और गुण से वना हुआ नाम रक्खा—'क्योंकि हमारी यह वालिका हाथी के तालु के समान अत्यन्त कोमल है, अतएव हमारी इस पुत्री का नाम सुकुमालिका हो ।' तव वालिका के माता-पिता ने उसका 'सुकुमालिका' ऐसा नाम नियत कर दिया ।

३६—तए णं सा सूमालिया दारिया पंचधाईपरिग्गहिया, तंजहा—खीरधाईए (मज्जणधाईए) मंडणधाईए, अंकधाईए, कीलावणधाईए, जाव [अंकाओ अंकं साहरिज्जमाणी रम्मे मणिकोट्टिमतले] गिरिकंदरमल्लीणा इव चंपकलया निव्वाय-निव्वाघायंसि जाव [सुहंसुहेणं] परिवड्ढइ । तए णं सा सूमालिया दारिया उम्मुक्कवालभावा जाव रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा जाया [विण्णाणपरिणयमेत्ता जोव्वणगमणुपत्ता] यावि होत्था ।

तदनन्तर सुकुमालिका वालिका को पाँच धायों ने ग्रहण किया अर्थात् पाँच धायें उसका पालन-पोषण करने लगीं । वे इस प्रकार थीं—(१) दूध पिलाने वाली धाय (२) स्नान कराने

वाली धाय (३) आभूषण पहनाने वाली धाय (४) गोद में लेने वाली धाय और (५) खेलाने वाली धाय। यावत् एक गोद से दूसरी गोद में ले जाई जाती हुई वह बालिका, पर्वत की गुफा में रही हुई चंपकलता जैसे वायुविहीन प्रदेश में व्याघात रहित बढ़ती है, उसी प्रकार सुखपूर्वक बढ़ने लगी। तत्पश्चात् सुकुमालिका बाल्यावस्था से मुक्त हुई, यावत् (समझदार हो गई, यौवन को प्राप्त हुई) रूप से, यौवन से और लावण्य से उत्कृष्ट और उत्कृष्ट शरीर वाली हो गई।

३७—तत्थ णं चंपाए नयरीए जिणदत्ते नामं सत्थवाहे अड्ढे, तस्स णं जिणदत्तस्स भद्दा भारिया सूमाला इट्ठा जाव माणुस्सए कामभोए पच्चणुब्भवमाणा विहरइ। तस्स णं जिणदत्तस्स पुत्ते भद्दाए भारियाए अत्तए सागरए नामं दारए सुकुमालपाणिपाए जाव सुरूवे।

चम्पानगरी में जिनदत्त नामक एक धनिक सार्थवाह निवास करता था। उस जिनदत्त की भद्रानामक पत्नी थी। वह सुकुमारी थी, जिनदास को प्रिय थी यावत् मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों का आस्वादन करती हुई रहती थी। उस जिनदत्त सार्थवाह का पुत्र और भद्रा भार्या का उदरजात सागर नामक लड़का था। वह भी सुकुमार (हाथों-पैरों वाला) एवं सुन्दर रूप से सम्पन्न था।

३८—तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे अन्नया कयाई साम्रो गिहाम्रो पडिणिक्खमइ, पडिणिक्ख-मित्ता सागरदत्तस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं वीईवयइ, इमं च णं सूमालिया दारिया ण्हाया चेडियासंघ-परिवुडा[1] उप्पि आगासतलगंसि कणगतेंदूसएणं कीलमाणी कीलमाणी विहरइ।

एक बार किसी समय जिनदत्त सार्थवाह अपने घर से निकला। निकल कर सागरदत्त के घर के कुछ पास से जा रहा था। उधर सुकुमालिका लड़की नहा-धोकर, दासियों के समूह से घिरी हुई, भवन के ऊपर छत पर सुवर्ण की गेंद से क्रीड़ा करती-करती विचर रही थी।

३९—तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सूमालियं दारियं पासइ, पासित्ता सूमालियाए दारियाए रूवे य जोव्वणे य लावण्णे य जायविम्हए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एस णं देवाणुप्पिया! कस्स दारिया? किं वा णामधेज्जं से?'

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जिणदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा करयल जाव एवं वयासी—'एस णं देवाणुप्पिया! सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स धूया भद्दाए अत्तया सूमालिया नामं दारिया सुकुमालपाणिपाया जाव उक्किट्ठा।'

उस समय जिनदत्त सार्थवाह ने सुकुमालिका लड़की को देखा। देखकर सुकुमालिका लड़की के रूप पर, यौवन पर और लावण्य पर उसे आश्चर्य हुआ। उसने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और पूछा—'देवानुप्रियो! वह किसकी लड़की हैं? उसका नाम क्या है?

जिनदत्त सार्थवाह के ऐसा कहने पर वे कौटुम्बिक पुरुष हर्षित और सन्तुष्ट हुए। उन्होंने हाथ जोड़ कर इस प्रकार उत्तर दिया—'देवानुप्रिय! यह सागरदत्त सार्थवाह की पुत्री, भद्रा की आत्मजा सुकुमालिकानामक लड़की है। सुकुमार हाथ-पैर आदि अवयवों वाली यावत् उत्कृष्ट शरीर वाली है।'

४०—तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे तेसिं कोडुंबियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सए

१. पाठान्तर—चेडियाचक्कवाल०

गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ण्हाए जाव मित्तनाइपरिवुडे चंपाए नयरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव सायरदत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ। तए णं सागरदत्ते सत्थवाहे जिणदत्तं सत्थवाहं एज्जमाणं पासइ, एज्जमाणं पासइत्ता आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता आसणेणं उवणिमंतेइ, उवणिमंतित्ता आसत्थंवीसत्थं सुहासणवरगयं एवं वयासी—'भण देवाणुप्पिया ! किमागमणपओयणं ?'

जिनदत्त सार्थवाह उन कौटुम्बिक पुरुषों से इस अर्थ (बात) को सुन कर अपने घर चला गया। फिर नहा-धोकर तथा मित्रजनों एवं ज्ञातिजनों आदि से परिवृत होकर चम्पा नगरी के मध्य-भाग में होकर वहाँ आया जहाँ सागरदत्त का घर था। तब सागरदत्त सार्थवाह ने जिनदत्त सार्थवाह को आता देखा। आता देख कर वह आसन से उठ खड़ा हुआ। उठ कर उसने जिनदत्त को आसन ग्रहण करने के लिए निमंत्रित किया। निमंत्रित करके विश्रान्त एवं विश्वस्त हुए तथा सुखद आसन पर आसीन हुए जिनदत्त से पूछा—'कहिए देवानुप्रिय ! आपके आगमन का क्या प्रयोजन है ?

४१—तए णं से जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी—'एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! तव धूयं भद्दाए अत्तियं सूमालियं सागरदत्तस्स भारियत्ताए वरेमि। जइ णं जाणह देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, ता दिज्जउ णं सूमालिया सागरस्स। तए णं देवाणुप्पिया ! किं दलयामो सुंकं सूमालियाए ?'

तब जिनदत्त सार्थवाह ने सागरदत्त सार्थवाह से कहा—'देवानुप्रिय ! मैं आपकी पुत्री, भद्रा सार्थवाही की आत्मजा सुकुमालिका की सागरदत्त की पत्नी के रूप में मँगनी करता हूँ। देवानुप्रिय ! अगर आप यह युक्त समझें, पात्र समझें, श्लाघनीय समझें और यह समझें कि यह संयोग समान है, तो सुकुमालिका सागरदत्त को दीजिए। अगर आप यह संयोग इष्ट समझते हैं तो देवानुप्रिय ! सुकुमालिका के लिए क्या शुल्क दें ?'

४२—तए णं से सागरदत्ते तं जिणदत्तं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! सूमालिया दारिया मम एगा एगजाया इट्ठा जाव किमंग पुण पासणयाए ? तं नो खलु अहं इच्छामि सूमालियाए दारियाए खणमवि विप्पओगं। तं जइ णं देवाणुप्पिया ! सागरदारए मम घरजामाउए भवइ, तो णं अहं सागरस्स सूमालियं दलयामि।

उत्तर में सागरदत्त ने जिनदत्त से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! सुकुमालिका पुत्री हमारी एकलौती सन्तति है, एक ही उत्पन्न हुई है, हमें प्रिय है। उसका नाम सुनने से भी हमें हर्ष होता है तो देखने की तो बात ही क्या है ? अतएव देवानुप्रिय ! मैं क्षण भर के लिए भी सुकुमालिका का वियोग नहीं चाहता। देवानुप्रिय ! यदि सागर हमारा गृह-जामाता (घर-जमाई) बन जाय तो मैं सागर दारक को सुकुमालिका दे दूं।'

४३—तए णं जिणदत्ते सत्थवाहे सागरदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सागरदारगं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु पुत्ता ! सागरदत्ते सत्थवाहे मम एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! सूमालिया दारिया इट्ठा, तं चेव, तं जइ णं सागरदत्तए मम घरजामाउए भवइ ता दलयामि।

तए णं से सागरए दारए जिणदत्तेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ।

तत्पश्चात् जिनदत्त सार्थवाह, सागरदत्त सार्थवाह के इस प्रकार कहने पर अपने घर गया। घर जाकर सागरनामक अपने पुत्र को बुलाया और उससे कहा—'हे पुत्र ! सागरदत्त सार्थवाह ने मुझसे ऐसा कहा है कि—'हे देवानुप्रिय ! सुकुमालिका लड़की मेरी प्रिय है, इत्यादि पूर्वोक्त यहाँ दोहरा लेना चाहिए। सो यदि सागर मेरा गृहजामाता बन जाय तो मैं अपनी लड़की दूँ।'

जिनदत्त सार्थवाह के ऐसा कहने पर सागर पुत्र मौन रहा। (मौन रह कर अपनी स्वीकृति प्रकट की)।

४४—तए णं जिणदत्ते सत्थवाहे अन्नया कयाई सोहणंसि तिहि-करण-नक्खत्त-मुहुत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता मित्तनाइनियग-सयण-संबंधिपरियणं आमंतेइ, जाव संमाणित्ता सागरं दारयं ण्हायं जाव सव्वालंकारविभूसियं करेइ, करित्ता पुरिससहस्स-वाहिणिं सीयं दुरूहावेइ, दुरूहावित्ता मित्तणाइ जाव संपरिवुडे सव्विड्ढीए साओ गिहाओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता चंपानयरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव सागरदत्तस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीयाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता सागरगं दारगं सागरदत्तस्स सत्थवाहस्स उवणेइ।

तत्पश्चात् एक बार किसी समय शुभ तिथि, करण नक्षत्र और मुहूर्त में जिनदत्त सार्थवाह ने विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार करवाया। तैयार करवाकर मित्रों, निज जनों, स्वजनों, संबंधियों तथा परिजनों को आमंत्रित किया, यावत् जिमाने के पश्चात् सम्मानित किया। फिर सागर पुत्र को नहला-धुला कर यावत् सब अलंकारों से विभूषित किया। पुरुषसहस्रवाहिनी पालकी पर आरूढ किया। आरूढ करके मित्रों एवं ज्ञातिजनों आदि से परिवृत होकर यावत् पूरे ठाठ के साथ अपने घर से निकला। निकल कर चम्पानगरी के मध्य भाग में होकर जहाँ सागरदत्त का घर था, वहाँ पहुँचा। वहाँ पहुँच कर सागर पुत्र को पालकी से नीचे उतारा। फिर उसे सागरदत्त सार्थवाह के समीप ले गया।

सुकुमालिका का विवाह

४५—तए णं सागरदत्ते सत्थवाहे विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता जाव संमाणेत्ता सागरगं दारगं सूमालियाए दारियाए सद्धिं पट्टयं दुरूहावेइ, दुरूहावित्ता सेयापीयएहिं कलसेहिं मज्जावेइ, मज्जावित्ता होमं करावेइ, करावित्ता सागरं दारयं सूमालियाए दारियाए पाणिं गेण्हावेइ।

तत्पश्चात् सागरदत्त सार्थवाह ने विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य भोजन तैयार करवाया। तैयार करवा कर यावत् उनका सन्मान करके सागर पुत्र को सुकुमालिका पुत्री के साथ पाट पर बिठलाया। बिठला कर श्वेत और पीत अर्थात् चाँदी और सोने के कलशों से स्नान करवाया। स्नान करवा कर होम करवाया। होम के बाद सागर पुत्र को सुकुमालिका पुत्री का पाणि-ग्रहण करवाया। (विवाह की विधि सम्पन्न करवाई)।

४६—तए णं सागरदारए सूमालियाए दारियाए इमं एयारूवं पाणिफासं पडिसंवेदेइ से

जहानामए-असिपत्ते इ वा जाव मुम्मुरे इ वा, इत्तो अणिट्ठतराए चेव पाणिफासं पडिसंवेदेइ। तए णं से सागरए अकामए अवसव्वसे तं मुहुत्तमित्तं संचिट्ठइ।

उस समय सागर पुत्र को सुकुमालिका पुत्री के हाथ का स्पर्श ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई तलवार हो अथवा यावत् मुर्मुर आग हो। इतना ही नहीं बल्कि इससे भी अधिक अनिष्ट हस्त-स्पर्श का वह अनुभव करने लगा। किन्तु उस समय वह सागर बिना इच्छा के, विवश होकर, उस हस्तस्पर्श का अनुभव करता हुआ मुहूर्त्त मात्र (थोड़ी देर) बैठा रहा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में संक्षिप्त पाठ ही दिया गया है। अन्यत्र विस्तृत पाठ है, जो इस प्रकार है—

(असिपत्ते इ वा) करपत्ते इ वा खुरपत्ते इ वा कलंबचीरियापत्ते इ वा सत्तिअग्गे इ वा कोंतग्गे इ वा तोमरग्गे इ वा भिंडिमालग्गे इ वा सूचिकलावए इ वा विच्छुयडंके इ वा कविकच्छू इ वा इंगाले इ वा मुम्मुरे इ वा अच्ची इ वा जाले इ वा अलाए इ वा सुद्धागणी इ वा, भवे एयारूवे?

नो इणट्ठे समट्ठे। एत्तो अणिट्ठतराए चेव अकंततराए चेव अप्पियतराए चेव अमणुण्णतराए चेव अमणामतराए चेव।"

—टीका—(अभयदेव सूरि)
—अंगसुत्ताणि तृ. भाग

संक्षिप्त पाठ और विस्तृत पाठ के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। दोनों पाठों में सुकुमालिका के हाथ की दो विशेषताएं प्रदर्शित की गई हैं—तीक्ष्णता और उष्णता। संक्षिप्त पाठ में इन दोनों विशेषताओं को प्रदर्शित करने के लिए 'असिपत्ते इ वा' और 'मुम्मुरे इ वा' पदों का प्रयोग किया गया है, जब कि इन्हीं दोनों विशेषताओं को दिखाने के लिए विस्तृत पाठ में अनेक-अनेक उदाहरणों का प्रयोग हुआ है।

किन्तु संक्षिप्त पाठ में 'जाव मुम्मुरे इ वा' है, जबकि विस्तृत पाठ में अन्त में 'सुद्धागणी इ वा' पाठ है। जान पड़ता है कि दोनों पाठों में से किसी एक में पद आगे-पीछे हो गए हैं। या तो संक्षिप्त पाठ में 'जाव सुद्धागणी इ वा' होना चाहिए अथवा विस्तृत पाठ में 'मुम्मुरे इ वा' शब्द अन्त में होना चाहिए। टीका वाली प्रति में भी यहाँ गृहीत संक्षिप्त पाठ के अनुसार ही पाठ है। इस व्यतिक्रम को लक्ष्य में रखकर यहाँ विस्तृत पाठ कोष्ठक में न देकर विवेचन में दिया गया है। विस्तृत पाठ के शब्दों का भावार्थ इस प्रकार है—

सुकुमालिका के हाथ का स्पर्श ऐसा था कि (मानो तलवार हो) करोंत हो, छुरा हो, कदम्बचीरिका हो, शक्तिनामक शस्त्र का अग्रभाग हो, भिंडिमाल शस्त्र का अग्रभाग हो, सुइयों का समूह हो—अनेक सुइयों की नोकें हों, बिच्छू का डंक हो, कपिकच्छू—एक दम खुजली उत्पन्न करने वाली वनस्पति—करेंच हो, अंगार (ज्वालारहित अग्निकण) हों, मुर्मुर (अग्निमिश्रित भस्म) हो, अर्चि (इंधन से लगी अग्नि) हो, ज्वाला (इंधन से पृथक् ज्वाला-लपट) हो, अलात (जलती लकड़ी) हो या शुद्धाग्नि (लोहे के पिण्ड के अन्तर्गत अग्नि) हो।

क्या सूकुमालिका के हाथ का स्पर्श वास्तव में ऐसा था?

नहीं, इनसे भी अधिक अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ और अमनाम था।

४७—तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे सागरस्स दारगस्स अम्मापियरो मित्तणाइ [नियग-सयण-संबंधि-परियणं] विपुलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पुप्फवत्थ जाव [गंध-मल्लालंकारेण य सक्कारेत्ता] संमाणेत्ता पडिविसज्जेइ।

तए णं सागरए दारए सूमालियाए सद्धि जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सूमालियाए दारियाए सद्धि तलिगंसि निवज्जइ।

तत्पश्चात् सागरदत्त सार्थवाह ने सागर पुत्र के माता-पिता को तथा मित्रों, ज्ञातिजनों आत्मीय जनों, स्वजनों, संबंधियों तथा परिजनों को विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन से तथा पुष्प वस्त्र [गंध, माला, अलंकार, से सत्कृत एवं] सम्मानित करके विदा किया।

तत्पश्चात् सागरपुत्र, सुकुमालिका के साथ जहाँ वासगृह (शयनागार) था, वहाँ आया। आकर सुकुमालिका के साथ शय्या पर सोया—लेटा।

४८—तए णं से सागरए दारए सूमालियाए दारियाए इमं एयारूवं अंगफासं पडिसंवेदेइ, से जहानामए असिपत्ते इ वा जाव[1] अमणामयरागं चेव अंगफासं पच्चणुभवमाणे विहरइ। तए णं से सागरए दारए अंगफासं असहमाणे अवसव्वसे मुहुत्तमित्तं संचिट्ठइ। तए णं से सागरदारए सूमालियं दारियं सुहपसुत्तं जाणित्ता सूमालियाए दारियाए पासाओ उट्ठेइ, उट्ठित्ता जेणेव सए सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सयणीयंसि निवज्जइ।

उस समय सागरपुत्र ने सुकुमालिका के इस प्रकार के अंगस्पर्श को ऐसा अनुभव किया जैसे कोई तलवार हो, इत्यादि। वह अत्यन्त ही अमनोज्ञ अंगस्पर्श को अनुभव करता रहा। तत्पश्चात् सागरपुत्र उस अंगस्पर्श को सहन न कर सकता हुआ, विवश होकर, मुहूर्त्त मात्र—कुछ समय तक—वहाँ रहा। फिर वह सागरपुत्र सुकुमालिका दारिका को सुखपूर्वक गाढ़ी नींद में सोई जानकर उसके पास से उठा और जहां अपनी शय्या थी, वहाँ आ गया। आकर अपनी शय्या पर सो गया।

४९—तए णं सूमालिया दारिया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा समाणी पइव्वया पइमणुरत्ता पतिं पासे अपस्समाणी तलिमाउ उट्ठेइ, उट्ठित्ता जेणेव से सयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सागरस्स पासे णिवज्जइ।

तदनन्तर सुकुमालिका पुत्री एक मुहूर्त्त में—थोड़ी देर में जाग उठी। वह पतिव्रता थी और पति में अनुराग वाली थी, अतएव पति को अपने पार्श्व-पास में न देखती हुई शय्या से उठ बैठी। उठकर वहाँ गई जहाँ उसके पति की शय्या थी। वहाँ पहुँच कर वह सागर के पास सो गई।

पति द्वारा परित्याग

५०—तए णं सागरदारए सूमालियाए दारियाए दुच्चं पि इमं एयारूवं अंगफासं पडिसंवेदेइ, जाव अकामए अवसव्वसे मुहुत्तमित्तं संचिट्ठइ।

तए णं से सागरदारए सूमालियं दारियं सुहपसुत्तं जाणित्ता सयणिज्जाओ उट्ठेइ, उट्ठित्ता

१-अ. १६ सूत्र ४६।

वासघरस्स दारं विहाडेइ, विहाडित्ता मारामुक्के विव काए जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

तत्पश्चात् सागरदारक ने दूसरी वार भी सुकुमालिका के पूर्वोक्त प्रकार के अंगस्पर्श को अनुभव किया। यावत् वह विना इच्छा के विवश होकर थोड़ी देर तक वहाँ रहा।

फिर सागरदारक, सुकुमालिका को सुखपूर्वक सोई जान कर शय्या से उठा। उसने अपने वासगृह (शयनागार) का द्वार उघाड़ा। द्वार उघाड़ कर वह मरण से अथवा मारने वाले पुरुष से छुटकारा पायें काक पक्षी की तरह शीघ्रता के साथ जिस दिशा से आया था उसी दिशा में लौट गया—अपने घर चला गया।

५१—तए णं सूमालिया दारिया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा पइव्वया जाव[1] अपासमाणी सयणिज्जाओ उट्ठेइ, सागरस्स दारगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणी वासघरस्स दारं विहाडियं पासइ, पासित्ता एवं वयासी—'गए से सागरे' त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा जाव [करयल-पल्हत्थमुही अट्टज्झाणोवगया] झियायइ।

सुकुमालिका दारिका थोडी देर में जागी। वह पतिव्रता एवं पति में अनुरक्ता थी, अतः पति को अपने पास न देखती हुई शय्या से उठी। उसने सागर दारक की सब तरफ मार्गणा—गवेषणा की। गवेषणा करते-करते शयनागार का द्वार खुला देखा तो, कहा (मन ही मन विचार किया)—'सागर तो चल दिया!' उसके मन का संकल्प मारा गया, अतएव वह हथेली पर मुख रखकर आर्त्तध्यान-चिन्ता करने लगी।

५२—तए णं सा भद्दा सत्थवाही कल्लं पाउप्पभायाए दासचेडियं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिए! बहुवरस्स मुहसोहणियं उवणेहि।' तए णं सा दासचेडी भद्दाए एवं वुत्ता समाणी एयमट्ठं तह त्ति पडिसुणेइ, मुहधोवणियं गेण्हित्ता जेणेव वासघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सूमालियं दारियं जाव झियायमाणिं पासइ, पासित्ता एवं वयासी—'किं णं तुमं देवाणुप्पिए! ओहयमणसंकप्पा झियाहि?'

तत्पश्चात् भद्रा सार्थवाही ने कल (दूसरे दिन) प्रभात होने पर दासचेटी (दासी) को बुलाया और उससे कहा—'देवानुप्रिये! तू जा और वर-वधू (वधू और वर) के लिए मुख-शोधनिका (दातौन-पानी) लेजा।' तत्पश्चात् उस दासचेटी ने भद्रा सार्थवाही के इस प्रकार कहने पर, इस अर्थ को 'बहुत अच्छा' कह कर अंगीकार किया। उसने मुखशोधनिका ग्रहण की। ग्रहण करके जहाँ वासगृह था, वहाँ पहुँची। वहाँ पहुँच कर सुकुमालिका दारिका को चिन्ता करती देख कर पूछा—'देवानुप्रिये! तुम भग्नमनोरथ होकर चिन्ता क्यों कर रही हो?'

५३—तए णं सा सूमालिया दारिया तं दासचेडिं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिए! सागरए दारए मम सुहपसुत्तं जाणित्ता मम पासाओ उट्ठेइ, उट्ठित्ता वासघरदुवारं अवंगुणेइ, जाव पडिगए। ततो अहं मुहुत्तंतरस्स जाव विहाडियं पासामि, गए से सागरए त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा जाव झियायामि।'

१. अ. १६ सूत्र ४९।

दासी का प्रश्न सुन कर सुकुमालिका दारिका ने दासचेटी से इस प्रकार कहा—हे देवानुप्रिये ! सागर दारक मुझे सुख से सोया जान कर मेरे पास से उठा और वासगृह का द्वार उघाड़ कर यावत् [व्याध से छुटकारा पाये काक की तरह] वापिस चला गया—भाग गया है। तदनन्तर मैं थोड़ी देर वाद उठी यावत् द्वार उघाड़ा देखा तो मैंने सोचा—'सागर चला गया।' इसी कारण भग्नमनोरथ होकर मैं चिन्ता कर रही हूँ।'

५४—तए णं सा दासचेडी सूमालियाए दारियाए एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सागरदत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सागरदत्तस्स एयमट्ठं निवेएइ।

दासचेटी सुकुमालिका दारिका के इस अर्थ (वृत्तान्त) को सुन कर वहाँ गई जहाँ सागरदत्त था। वहाँ जाकर उसने सागरदत्त सार्थवाह से यह वृत्तान्त निवेदन किया।

५५—तए णं से सागरदत्ते दासचेडीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जेणेव जिणदत्तसत्थवाहगिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जिणदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी—'किं णं देवाणुप्पिया ! एवं जुत्तं वा पत्तं वा कुलाणुरूवं वा कुलसरिसं वा, जं णं सागरदारए सूमालियं दारियं अदिट्ठदोसं पइव्वयं विप्पजहाय इहमागओ ?' बहूहिं खिज्जणियाहि य रुंटणियाहि य उवालभइ।

दासचेटी से यह वृत्तान्त सुन-समझ कर सागरदत्त कुपित होकर जहाँ जिनदत्त सार्थवाह का घर था, वहाँ पहुँचा। पहुँचकर उसने जिनदत्त सार्थवाह से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय ! क्या यह योग्य है ? प्राप्त—उचित है ? यह कुल के अनुरूप और कुल के सदृश है कि सागर दारक सुकुमालिका दारिका को, जिसका कोई दोष नहीं देखा गया और जो पतिव्रता है, छोड़कर यहाँ आ गया है ? यह कह कर बहुत-सी खेद युक्त क्रियाएं करके तथा रुदन की चेष्टाएँ करके उसने उलहना दिया।

५६—तए णं जिणदत्ते सागरदत्तस्स एयमट्ठं सोच्चा जेणेव सागरे दारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सागरयं दारयं एवं वयासी—'दुट्ठु णं पुत्ता ! तुमे कयं सागरदत्तस्स गिहाओ इहं हव्वमागए। तं गच्छह णं तुमं पुत्ता ! एवमवि गए सागरदत्तस्स गिहे।'

तब जिनदत्त, सागरदत्त के इस अर्थ को सुनकर जहाँ सागर दारक था, वहाँ आया। आकर सागर दारक से बोला—'हे पुत्र ! तुमने बुरा किया जो सागरदत्त के घर से यहाँ एकदम चले आये। अतएव हे पुत्र ! जो हुआ सो हुआ, अब तुम सागरदत्त के घर चले जाओ।'

५७—तए णं से सागरए जिणदत्तं एवं वयासी—'अवि याइं अहं ताओ ! गिरिपडणं वा तरुपडणं वा मरुप्पवायं वा जलप्पवेसं वा जलणप्पवेसं वा विसभक्खणं वा वेहाणसं वा सत्थोवाडणं वा गिद्धपिट्ठं वा पव्वज्जं वा विदेसगमणं वा अब्भुवगच्छिज्जामि, नो खलु अहं सागरदत्तस्स गिहं गच्छिज्जा।'

तब सागर पुत्र ने जिनदत्त से इस प्रकार कहा—'हे तात ! मुझे पर्वत से गिरना स्वीकार है, वृक्ष से गिरना स्वीकार है, मरुप्रदेश (रेगिस्तान) में पड़ना स्वीकार है, जल में डूब जाना, आग में

१. अ. १६ सूत्र ५०।

प्रवेश करना, विषभक्षण करना, अपने शरीर को श्मशान में या जंगल में छोड़ देना कि जिससे जानवर या प्रेत खा जाएँ, गृध्र-पृष्ठ मरण (हाथी आदि के मुर्दे में प्रवेश कर जाना कि जिससे गीध आदि खा जाएँ) इसी प्रकार दीक्षा ले लेना या परदेश में चला जाना स्वीकार है, परन्तु मैं निश्चय ही सागरदत्त के घर नहीं जाऊंगा।

५८—तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे कुड्डंतरिए सागरस्स एयमट्ठं निसामेइ, निसामित्ता लज्जिए विलीए विड्डे जिणदत्तस्स गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुकुमालियं दारियं सद्दावेइ, सद्दावित्ता अंके निवेसेइ, निवेसित्ता एवं वयासी—

'किं णं तव पुत्ता ! सागरएणं दारएणं मुक्का ! अहं णं तुमं तस्स दाहामि जस्स णं तुमं इट्ठा जाव मणामा भविस्ससि' त्ति सूमालियं दारियं ताहिं इट्ठाहिं वग्गूहिं समासासेइ, समासासित्ता पडिविसज्जेइ।

उस समय सागरदत्त सार्थवाह ने दीवार के पीछे से सागर पुत्र के इस अर्थ को सुन लिया। सुनकर वह ऐसा लज्जित हुआ कि धरती फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊं। वह जिनदत्त के घर से बाहर निकल आया। निकलकर अपने घर आया। घर आकर सुकुमालिका पुत्री को बुलाया और उसे अपनी गोद में बिठलाया। फिर उसे इस प्रकार कहा—

'हे पुत्री ! सागर दारक ने तुझे त्याग दिया तो क्या हो गया ? अब तुझे मैं ऐसे पुरुष को दूंगा, जिसे तू इष्ट, कान्त, प्रिय और मनोज्ञ होगी।' इस प्रकार कह कर सुकुमालिका पुत्री को इष्ट वाणी द्वारा आश्वासन दिया। आश्वासन देकर उसे विदा किया।

सुकुमालिका का पुनर्विवाह

५९—तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे अन्नया उप्पिं आगासतलगंसि सुहनिसण्णे रायमग्गं आलोएमाणे आलोएमाणे चिट्ठइ। तए णं से सागरदत्ते एगं महं दमगपुरिसं पासइ, दंडिखंडनिवसणं खंडमल्लग-खंडघडगहत्थगयं फुट्टहडाहडसीसं मच्छियासहस्सेहिं जाव अन्निज्जमाणमग्गं।

तत्पश्चात् सागरदत्त सार्थवाह किसी समय ऊपर भवन की छत पर सुखपूर्वक बैठा हुआ बार-बार राजमार्ग को देख रहा था। उस समय सागरदत्त ने एक अत्यन्त दीन भिखारी पुरुष को देखा। वह साँधे हुए टुकड़ों का वस्त्र पहने था। उसके हाथ में सिकोरे का टुकड़ा और पानी के घड़े का टुकड़ा था। उसके बाल बिखरे हुए—अस्तव्यस्त थे। हजारों मक्खियाँ उसके मार्ग का अनुसरण कर रही थीं—उसके पीछे भिनभिनाती हुई उड़ रही थीं।

६०—तए णं से सागरदत्ते कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! एयं दमगपुरिसं विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पलोभेह, पलोभित्ता गिहं अणुप्पवेसेह, अणुप्पवेसित्ता खंडगमल्लगं खंडघडगं च से एगंते एडेह, एडित्ता अलंकारियकम्मं कारेह, कारित्ता ण्हायं कयबलिकम्मं जाव सव्वालंकारविभूसियं करेह, करित्ता मणुण्णं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेह, भोयावित्ता मम अंतियं उवणेह।'

तत्पश्चात् सागरदत्त ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर उनसे कहा—'देवानुप्रियो! तुम जाओ और उस द्रमक पुरुष (भिखारी) को विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का लोभ दो। लोभ देकर घर के भीतर लाओ। भीतर लाकर सिकोरे और घड़े के टुकड़े को एक तरफ फेंक दो। फेंक कर आलंकारिक कर्म (हजामत आदि विभूषा) कराओ। फिर स्नान करवा कर, बलिकर्म करवा कर, यावत् सर्व अलंकारों से विभूषित करो। फिर मनोज्ञ अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य भोजन जिमाओ। भोजन जिमा कर मेरे निकट ले आना।'

६१—तए णं कोडुंबियपुरिसा जाव पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जेणेव से दमगपुरिसे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तं दमगं असणं पाणं खाइमं साइमं उवप्पलोभेंति, उपप्पलोभित्ता सयं गिहं अणुप्पवेसेंति, अणुप्पवेसित्ता तं खंडमल्लगं खंडघडगं च तस्स दमगपुरिसस्स एगंते एडेंति।

तए णं से दमगे तं खंडमल्लगंसि खंडघडगंसि य एगंते एडिज्जमाणंसि महया महया सद्देणं आरसइ।

तब उन कौटुम्बिक पुरुषों ने सागरदत्त की आज्ञा अंगीकार की। अंगीकार करके वे उस भिखारी पुरुष के पास गये। जाकर उस भिखारी को अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन का प्रलोभन दिया। प्रलोभन देकर उसे अपने घर में ले आए। लाकर उसके सिकोरे के टुकड़े को तथा घड़े के ठीकरे को एक तरफ डाल दिया।

सिकोरे का टुकड़ा और घड़े का टुकड़ा एक जगह डाल देने पर वह भिखारी जोर-जोर से आवाज करके रोने-चिल्लाने लगा। (क्योंकि वही उसका सर्वस्व था।)

६२—तए णं से सागरदत्ते तस्स दमगपुरिसस्स तं महया महया आरसियसद्दं सोच्चा निसम्म कोडुंबियपुरिसे एवं वयासी—'किं णं देवाणुप्पिया! एस दमगपुरिसे महया महया सद्देणं आरसइ?' तए णं ते कोडुंबियपुरिसा एवं वयासी—'एस णं सामी! तंसि खंडमल्लगंसि खंडघडगंसि य एगंते एडिज्जमाणंसि महया महया सद्देणं आरसइ।' तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे ते कोडुंबियपुरिसे एवं वयासी—'मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया! एयस्स दमगस्स तं खंडं जाव एडेह, पासे ठवेह, जहा णं पत्तियं भवइ।' ते वि तहेव ठविंति।

तत्पश्चात् सागरदत्त ने उस भिखारी पुरुष को ऊंचे स्वर से रोने चिल्लाने का शब्द सुनकर और समझ कर कौटुम्बिक पुरुषों को कहा—'देवानुप्रियो! यह भिखारी पुरुष क्यों जोर-जोर से चिल्ला रहा है?' तब कौटुम्बिक पुरुषों ने कहा—'स्वामिन्! उस सिकोरे के टुकड़े और घट के ठीकरे को एक ओर डाल देने के कारण वह जोर-जोर से चिल्ला रहा है।' तब सागरदत्त सार्थवाह ने उन कौटुम्बिक पुरुषों से कहा—'देवानुप्रियो! तुम उस भिखारी को उस सिकोरे और घड़े के खंड को एक ओर मत डालो, उसके पास रख दो, जिससे उसे प्रतीति हो-विश्वास रहे।' यह सुन कर उन्होंने वे टुकड़े उसके पास ही रख दिए।

६३—तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तस्स दमगस्स अलंकारियकम्मं करेंति, करित्ता सयपाग-सहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगेंति, अब्भंगिए समाणे सुरभिगंधुव्वट्टणेणं गायं उव्वट्टिंति उव्वट्टित्ता उसिणोदगगंधोदएणं ण्हाणेंति, सीतोदगेणं ण्हाणेंति, ण्हाणित्ता पम्हलसुकुमालगंधकासाईए गायाइं

लूहेंति, लूहित्ता हंसलक्खणं पट्टसाडगं परिहेंति, परिहित्ता सव्वालंकारविभूसियं करेंति, करित्ता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं भोयावेंति भोयावित्ता सागरदत्तस्स उवणेंति।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने उस भिखारी का अलंकारकर्म (हजामत आदि) कराया। फिर शतपाक और सहस्रपाक (सौ या हजार मोहरें खर्च करके या सौ या हजार औषध डालकर बनाये गए) तेल से अभ्यंगन (मर्दन) किया। अभ्यंगन हो जाने पर सुवासित गंधद्रव्य के उवटन से उसके शरीर का उवटन किया। फिर उष्णोदक, गंधोदक और शीतोदक से स्नान कराया। स्नान करवा कर बारीक और सुकोमल गंधकाषाय वस्त्र से शरीर पोंछा। फिर हंस लक्षण (श्वेत) वस्त्र पहनाया। वस्त्र पहनाकर सर्व अलंकारों से विभूषित किया। विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन कराया। भोजन के बाद उसे सागरदत्त के समीप ले गए।

६४—तए णं सागरदत्ते सूमालियं दारियं ण्हायं जाव सव्वालंकारविभूसियं करित्ता तं दमगपुरिसं एवं वयासी—'एस णं देवाणुप्पिया! मम धूया इट्ठा, एयं च णं अहं तव भारियत्ताए दलामि भद्दियाए भद्दओ भविज्जासि।

तत्पश्चात् सागरदत्त ने सुकुमालिका दारिका को स्नान कराकर यावत् समस्त अलंकारों से अलंकृत करके, उस भिखारी पुरुष से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिय! यह मेरी पुत्री मुझे इष्ट है। इसे मैं तुम्हारी भार्या के रूप में देता हूँ। तुम इस कल्याणकारिणी के लिए कल्याणकारी होना।'

पुनः परित्याग

६५—तए णं से दमगपुरिसे सागरदत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, परिसुणित्ता सूमालियाए दारियाए सद्धिं वासघरं अणुपविसइ, सूमालियाए दारियाए सद्धिं तलिगंसि निवज्जइ।

तए णं से दमगपुरिसे सूमालियाए इमं एयारूवं अंगफासं पडिसंवेदेइ, सेसं जहा सागरस्स जाव सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता वासघराओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता खंडमल्लगं खंडघडं च गहाय मारामुक्के विव काए जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।

तए णं सा सूमालिया जाव 'गए णं से दमगपुरिसे' त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा जाव झियायइ।

उस द्रमक (भिखारी) पुरुष ने सागरदत्त की यह बात स्वीकार करली। स्वीकार करके सुकुमालिका दारिका के साथ वासगृह में प्रविष्ट हुआ और सुकुमालिका दारिका के साथ एक शय्या में सोया।

उस समय उस द्रमक पुरुष ने सुकुमालिका के अंगस्पर्श को उसी प्रकार का अनुभव किया। शेष वृत्तान्त सागर दारक के समान समझना चाहिए। यावत् वह शय्या से उठा। उठ कर शयनागार से बाहर निकला। बाहर निकल कर अपना वही सिकोरे का टुकड़ा और घड़े का टुकड़ा ले करके जिधर से आया था, उधर ही ऐसा चला गया मानो किसी कसाईखाने से मुक्त हुआ हो या मारने वाले पुरुष से छुटकारा पाकर काक भागा हो।

'वह द्रमक पुरुष चल दिया।' यह सोचकर सुकुमालिका भग्नमनोरथ होकर यावत् चिन्ता करने लगी।

६६—तए णं सा भद्दा कल्लं पाउप्पभायाए दासचेडिं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी,—जाव सागरदत्तस्स एयमट्ठं निवेदेइ। तए णं से सागरदत्ते तहेव संभंते समाणे जेणेव वासहरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सूमालियं दारियं अंके निवेसेइ, निवेसित्ता एवं वयासी—'अहो णं तुमं पुत्ता! पुरापोराणाणं जाव [दुच्चिण्णाणं दुप्पराकंताणं कडाण पावाणं कम्माणं पावं फलवित्तिविसेसं] पच्चणुब्भवमाणी विहरसि, तं मा णं तुमं पुत्ता! ओहयमणसंकप्पा जाव झियाहि, तुमं णं पुत्ता! मम महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जहा पोट्टिला[1] जाव परिभाएमाणी विहराहि।'

तत्पश्चात् भद्रा सार्थवाही ने दूसरे दिन प्रभात होने पर दासचेटी को बुलाया। बुलाकर पूर्ववत् कहा—सागरदत्त के प्रकरण में कथित दातौन-पानी ले जाने आदि का वृत्तान्त यहाँ जानना चाहिए। यहाँ तक कि दासचेटी ने सागरदत्त सार्थवाह के पास जाकर यह अर्थ निवेदन किया। तब सागरदत्त उसी प्रकार संभ्रान्त होकर वासगृह में आया। आकर सुकुमालिका को गोद में बिठलाकर कहने लगा—'हे पुत्री! तू पूर्व जन्म में किए हिंसा आदि दुष्कृत्यों द्वारा उपार्जित पापकर्मों का फल भोग रही है। अतएव बेटी! भग्नमनोरथ होकर यावत् चिन्ता मत कर। हे पुत्री! मेरी भोजनशाला में तैयार हुए विपुल अशन, पान खाद्य और स्वाद्य आहार को—पोट्टिला की तरह कहना चाहिए[2]—यावत् श्रमणों आदि को देती हुई रह।

सुकुमालिका की दानशाला

६७—तए णं सा सूमालिया दारिया एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता महाणसंसि विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जाव दलमाणी विहरइ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं गोवालियाओ अज्जाओ बहुस्सुयाओ एवं जहेव तेयलिणाए सुव्वयाओ तहेव समोसढाओ, तहेव संघाडओ जाव अणुपविट्ठे, तहेव जाव सूमालिया पडिलाभित्ता एवं वयासी—'एवं खलु अज्जाओ! अहं सागरस्स अणिट्ठा जाव अमणामा, नेच्छइ णं सागरए मम नामं वा जाव परिभोगं वा, जस्स जस्स वि य णं दिज्जामि तस्स तस्स वि य णं अणिट्ठा जाव अमणामा भवामि, तुब्भे य णं अज्जाओ! बहुनायाओ, एवं जहा पोट्टिला जाव उवलद्धे जेणं अहं सागरस्स दारगस्स इट्ठा कंता जाव भवेज्जामि।'

तब सुकुमालिका दारिका ने यह बात स्वीकार की। स्वीकार करके भोजनशाला में विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आहार देती-दिलाती हुई रहने लगी।

उस काल और उस समय में गोपालिकानामक बहुश्रुत आर्या, जैसे तेतलिपुत्र नामक अध्ययन में सुव्रता साध्वी के विषय में कहा है, उसी प्रकार पधारीं। उसी प्रकार उनके संघाड़े ने यावत् सुकुमालिका के घर में प्रवेश किया। उसी प्रकार सुकुमालिका ने यावत् आहार वहरा कर इस प्रकार कहा—'हे आर्याओ! मैं सागर के लिए अनिष्ट हूँ यावत् अमनोज्ञ हूँ। सागर मेरा नाम भी नहीं सुनना चाहता, यावत् परिभोग भी नहीं चाहता। जिस-जिस को भी मैं दी गई, उसी-उसी को अनिष्ट यावत् अमनोज्ञ हुई हूँ। आर्याओ! आप बहुत ज्ञानवाली हो। इस प्रकार पोट्टिला ने जो कहा था, वह सब यहां भी जानना चाहिए। यहां तक कि—आपने कोई मंत्र-तंत्र आदि प्राप्त किया है, जिससे मैं सागर दारक की इष्ट कान्त यावत् प्रिय हो जाऊँ?'

१. देखिए, तेतलिपुत्र अध्ययन १४

२. देखिए, तेतलिपुत्र अध्ययन।

दीक्षाग्रहण

६८—अज्जाओ तहेव भणंति, तहेव साविया जाया, तहेव चिंता, तहेव सागरदत्तं सत्थवाहं आपुच्छइ, जाव गोवालियाणं अंतिए पव्वइया। तए णं सा सूमालिया अज्जा जाया ईरियासमिया जाव बंभयारिणी बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम जाव विहरइ।

आर्याओं ने उसी प्रकार-सुव्रता की आर्याओं के समान—उत्तर दिया। अर्थात् उन्होंने कहा कि ऐसी बात सुनना भी हमें नहीं कल्पता तो फिर उपदेश करने—इष्ट होने का उपाय बताने की तो बात ही दूर रही। तब वह उसी प्रकार (पोट्टिला की भांति) श्राविका हो गई। उसने उसी प्रकार दीक्षा अंगीकार करने का विचार किया और उसी प्रकार सागरदत्त सार्थवाह से दीक्षा की आज्ञा ली। यावत् वह गोपालिका आर्या के निकट दीक्षित हुई। तत्पश्चात् वह सुकुमालिका आर्या हो गई। ईर्यासमिति से सम्पन्न यावत् ब्रह्मचारिणी हुई और बहुतसे उपवास, बेला, तेला आदि की तपस्या करती हुई विचरने लगी।

६९—तए णं सा सूमालिया अज्जा अन्नया कयाइ जेणेव गोवालियाओ अज्जाओ तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं अज्जाओ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी चंपाओ बाहिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं सूराभिमुही आयावेमाणी विहरित्तए।

तत्पश्चात् सुकुमालिका आर्या किसी समय, एक बार, गोपालिका आर्या के पास गई। जाकर उन्हें वन्दन किया, नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'हे आर्या (गुरुणीजी)! मैं आपकी आज्ञा पाकर चंपा नगरी से बाहर, सुभूमिभाग उद्यान से न बहुत दूर और न बहुत समीप के भाग में बेले-बेले का निरन्तर तप करके, सूर्य के सन्मुख आतापना लेती हुई विचरना चाहती हूँ।'

७०—तए णं ताओ गोवालियाओ अज्जाओ सूमालियं एवं वयासी—'अम्हे णं अज्जे! समणीओ निग्गंथीओ ईरियासमियाओ जाव गुत्तबंभचारिणीओ, नो खलु अम्हं कप्पइ बहिया गामस्स सन्निवेसस्स वा छट्ठंछट्ठेणं जाव [अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं सूराभिमुहीणं आयावेमाणीणं] विहरित्तए। कप्पइ णं अम्हं अंतो उवस्सयस्स वइपरिक्खित्तस्स संघाडिपडिबद्धियाए णं समतल-पइयाए आयावित्तए।'

तब उन गोपालिका आर्या ने सुकुमालिका आर्या से इस प्रकार कहा—'हे आर्ये! हम निर्ग्रन्थ श्रमणियाँ हैं, ईर्यासमिति वाली यावत् गुप्त ब्रह्मचारिणी हैं। अतएव हमको गांव यावत् सन्निवेश (बस्ती) से बाहर जाकर बेले-बेले की तपस्या करके, सूर्याभिमुख होकर आतापना लेते हुए विचरना नहीं कल्पता। किन्तु वाड़ से घिरे हुए उपाश्रय के अन्दर ही, संघाटी (वस्त्र) से शरीर को आच्छादित करके या साध्वियों के परिवार के साथ रहकर तथा पृथ्वी पर दोनों पदतल समान रख कर आतापना लेना कल्पता है।

७१—तए णं सा सूमालिया गोवालियाए अज्जाए एयमट्ठं नो सद्दहइ, नो पत्तियइ, नो रोएइ, एयमट्ठं असद्दहमाणी अपत्तियमाणी अरोएमाणी सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठंछट्ठेणं जाव विहरइ।

तब सुकुमालिका को गोपालिका आर्या की इस बात पर श्रद्धा नहीं हुई, प्रतीति नहीं हुई, रुचि नहीं हुई। वह सुभूमिभाग उद्यान से कुछ समीप में निरन्तर वेले-वेले का तप करती हुई यावत् आतापना लेती हुई विचरने लगी।

सुकुमालिका का निदान

७२—तत्थ णं चंपाए नयरीए ललिया नामं गोट्ठी परिवसइ नरवइदिण्णवि (प) यारा, अम्मापिइनिययनिप्पिवासा, वेसविहारकयनिकेया, नाणाविहअविणयप्पहाणा अड्ढा जाव अपरिभूया।

चम्पा नगरी में ललिता (क्रीड़ा में संलग्न रहने वाली) एक गोष्ठी (टोली) निवास करती थी। राजा ने उसे इच्छानुसार विचरण करने की छूट दे रक्खी थी। वह टोली माता-पिता आदि स्वजनों की परवाह नहीं करती थी। वेश्या का घर ही उसका घर था। वह नाना प्रकार का अविनय (अनाचार) करने में उद्धत थी, वह धनाढ्य लोगों की टोली थी और यावत् किसी से दवती नहीं थी अर्थात् कोई उसका पराभव नहीं कर सकता था।

७३—तत्थ णं चंपाए नयरीए देवदत्ता नामं गणिया होत्था सुकुमाला जहा अंड-णाए।

तए णं तीसे ललियाए गोट्ठीए अन्नया पंच गोट्ठिल्लपुरिसा देवदत्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। तत्थ णं एगे गोट्ठिल्लगपुरिसे देवदत्तं गणियं उच्छंगे धरइ, एगे पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ, एगे पुप्फपूरयं रएइ, एगे पाए रएइ, एगे चामरुक्खेवं करेइ।

उस चम्पा नगरी में देवदत्ता नाम की गणिका रहती थी। वह सुकुमाल थी। (तीसरे) अंडक अध्ययन के अनुसार उसका वर्णन समझ लेना चाहिए।

एक बार उस ललिता गोष्ठी के पाँच गोष्ठिक पुरुष देवदत्ता गणिका के साथ, सुभूमिभाग उद्यान की लक्ष्मी (शोभा) का अनुभव कर रहे थे। उनमें से एक गोष्ठिक पुरुष ने देवदत्ता गणिका को अपनी गोद में बिठलाया, एक ने पीछे से छत्र धारण किया, एक ने उसके मस्तक पर पुष्पों का शेखर रचा, एक उसके पैर (महावर से) रंगने लगा, और एक उस पर चामर ढोरने लगा।

७४—तए णं सा सूमालिया अज्जा देवदत्तं गणियं पंचहिं गोट्ठिल्लपुरिसेहिं सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणिं पासइ, पासित्ता इमेयारूवे संकप्पे समुप्पज्जित्था—'अहो णं इमा इत्थिया पुरापोराणाणं जाव [सुचिण्णाणं सुपरक्कंताणं कडाण कल्लाणाणं कम्माणं, फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणी] विहरइ, तं जइ णं केइ इमस्स सुचरियस्स तवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तो णं अहमवि आगमिस्सेणं भवग्गहणेणं इमेयारूवाइं उरालाइं जाव [माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी] विहरिज्जामि' त्ति कट्टु नियाणं करेइ, करित्ता आयावण-भूमीओ पच्चोरुहइ।

उस सुकुमालिका आर्या ने देवदत्ता गणिका को पाँच गोष्ठिक पुरुषों के साथ उच्चकोटि के मनुष्य संबंधी कामभोग भोगते देखा। देखकर उसे इस प्रकार का संकल्प उत्पन्न हुआ—'अहा! यह स्त्री पूर्व में आचरण किये हुए शुभ कर्मों का फल अनुभव कर रही है। सो यदि अच्छी तरह से आचरण किये गये इस तप, नियम और ब्रह्मचर्य का कुछ भी कल्याणकारी फल-विशेष हो, तो मैं भी आगामी

भव में इसी प्रकार के मनुष्य संबंधी कामभोगों को भोगती हुई विचरूँ।' उसने इस प्रकार निदान किया। निदान करके आतापनाभूमि से वापिस लौटी।

सुकुमालिका की बकुशता

७५—तए णं सा सूमालिया अज्जा सरीरबउसा जाया यावि होत्था, अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवेइ, पाए धोवेइ, सीसं धोवेइ, मुहं धोवेइ, थणंतराइं धोवेइ, कक्खंतराइं धोवेइ, गोज्झंतराइं धोवेइ, जत्थ णं ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, तत्थ वि य णं पुव्वामेव उदएणं अब्भुक्खइत्ता तओ पच्छा ठाणं वा सेज्जं वा चेएइ।

तत्पश्चात् वह सुकुमालिका आर्या शरीरबकुश हो गई, अर्थात् शरीर को साफ-सुथरा-सुशोभन रखने में आसक्त हो गई। वह बार-बार हाथ धोती, पैर धोती, मस्तक धोती, मुँह धोती, स्तनान्तर (छाती) धोती, बगलें धोती तथा गुप्त अंग धोती। जिस स्थान पर वह खड़ी होती या कायोत्सर्ग करती, सोती, स्वाध्याय करती, वहाँ भी पहले ही जमीन पर जल छिड़कती थी और फिर खड़ी होती, कायोत्सर्ग करती, सोती या स्वाध्याय करती थी।

७६—तए णं ताओ गोवालियाओ अज्जाओ सूमालियं अज्जं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिए! अज्जे! अम्हे समणीओ निग्गंथाओ ईरियासमियाओ जाव बंभचेरधारिणीओ, नो खलु कप्पइ अम्हं सरीरबाउसियाए होत्तए, तुमं च णं अज्जे! सरीरबाउसिया अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवसि जाव चेएसि, तं तुमं णं देवाणुप्पिए! तस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि।

तब उन गोपालिका आर्या ने सुकुमालिका आर्या से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिये! हम निर्ग्रन्थ साध्वियाँ हैं, ईर्यासमिति से सम्पन्न यावत् ब्रह्मचारिणी हैं। हमें शरीरबकुश होना नहीं कल्पता, किन्तु हे आर्ये! तुम शरीरबकुश हो गई हो, बार-बार हाथ धोती हो, यावत् फिर स्वाध्याय आदि करती हो। अतएव देवानुप्रिये! तुम बकुशचारित्र रूप स्थान की आलोचना करो यावत् प्रायश्चित्त अंगीकार करो।

७७—तए णं सूमालिया गोवालियाणं अज्जाणं एयमट्ठं नो आढाइ, नो परिजाणइ, अणाढायमाणी अपरिजाणमाणी विहरइ। तए णं ताओ अज्जाओ सूमालियं अज्जं अभिक्खणं अभिक्खणं अभिहीलंति जाव [निंदंति खिसंति गरिहंति] परिभवंति, अभिक्खणं अभिक्खणं एयमट्ठं निवारेंति।

तब सुकुमालिका आर्या ने गोपालिका आर्या के इस अर्थ (कथन) का आदर नहीं किया, उसे अंगीकार नहीं किया। वरन अनादर करती हुई और अस्वीकार करती हुई उसी प्रकार रहने लगी। तत्पश्चात् दूसरी आर्याएं सुकुमालिका आर्या की बार-बार अवहेलना करने लगीं, यावत् [निन्दा करने लगीं, खीजने लगीं, गर्हा करने लगीं] अनादर करने लगीं और बार-बार इस अनाचार के लिए उसे रोकने लगीं।

सुकुमालिका का पृथक् विहार

७८—तए णं तीसे सूमालियाए समणीहिं निग्गंथीहिं हीलिज्जमाणीए जाव वारिज्जमाणीए इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'जया णं अहं अगारवासमज्झे वसामि, तया णं अहं

अप्पवसा, जया णं अहं मुंडे भवित्ता पव्वइया, तया णं अहं परवसा, पुव्विं च णं ममं समणीओ आढायंति, इयाणिं नो आढायंति, तं सेयं खलु मम कल्लं पाउप्पभायाए गोवालियाणं अंतियाओ पडिणिक्खमित्ता पाडिएक्कं उवस्सगं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कल्लं पाउप्पभायाए गोवालियाणं अज्जाणं अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता पाडिएक्कं उवस्सगं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ।

निर्ग्रन्थ श्रमणियों द्वारा अवहेलना की गई और रोकी गई उस सुकुमालिका के मन में इस प्रकार का विचार यावत् मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—'जब मैं गृहस्थवास में वसती थी, तब मैं स्वाधीन थी। जब मैं मुंडित होकर दीक्षित हुई तव मैं पराधीन हो गई। पहले ये श्रमणियाँ मेरा आदर करती थीं किन्तु अब आदर नहीं करती हैं। अतएव कल प्रभात होने पर गोपालिका के पास से निकलकर, अलग उपाश्रय (स्थान) में जा करके रहना मेरे लिए श्रेयस्कर होगा।' उसने ऐसा विचार किया। विचार करके कल (दूसरे दिन) प्रभात होने पर गोपालिका आर्या के पास से निकल गई। निकलकर अलग उपाश्रय में जाकर रहने लगी।

निधन : स्वर्गप्राप्ति

७९—तए णं सा सूमालिया अज्जा अणोहट्टिया अनिवारिया सच्छंदमई अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवेइ, जाव[1] चेएइ, तत्थ वि य णं पासत्था, पासत्थविहारी, ओसण्णा ओसण्णविहारी, कुसीला, कुसीलविहारी, संसत्ता, संसत्तविहारी बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणइ, अद्धमासियाए संलेहणाए तस्स ठाणस्स अणालोइय-अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे अण्णयरंसि विमाणंसि देवगणियत्ताए उववण्णा। तत्थेगइयाणं देवीणं नव पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं सूमालियाए देवीए नव पलिओवमाइं ठिई पन्नत्ता।

तत्पश्चात् कोई हटकने-मना करने वाला न होने से एवं रोकने वाला न होने से सुकुमालिका स्वच्छंदबुद्धि होकर बार-बार हाथ धोने लगी यावत् जल छिड़ककर कायोत्सर्ग आदि करने लगी। तिस पर भी वह पार्श्वस्थ अर्थात् शिथिलाचारिणी हो गई। पार्श्वस्थ की तरह विहार करने-रहने लगी। वह अवसन्न हो गई अर्थात् ज्ञान दर्शन और चारित्र के विषय में आलसी हो गई और आलस्य-मय विहार वाली हो गई। कुशीला अर्थात् अनाचार का सेवन करने वाली और कुशीलों के समान व्यवहार करने वाली हो गई। संसक्ता अर्थात् ऋद्धि रस और साता रूप गौरवों में आसक्त और संसक्तविहारिणी हो गई। इस प्रकार उसने बहुत वर्षों तक साध्वी-पर्याय का पालन किया। अन्त में अर्ध मास की संलेखना करके, अपने अनुचित आचरण की आलोचना और प्रतिक्रमण किये विना ही काल-मास में काल करके ईशान कल्प में, किसी विमान में देवगणिका के रूप में उत्पन्न हुई। वहाँ किन्हीं-किन्हीं देवियों की नौ पल्योपम की स्थिति कही गई है। सुकुमालिका देवी की भी नौ पल्योपम की स्थिति हुई।

द्रौपदी-कथा

८०—तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरे

१. अ. १६ सूत्र ७५.

नामं नगरे होत्था। वन्नश्रो। तत्थ णं दुवए नामं राया होत्था, वन्नश्रो। तस्स णं चुलणी देवी, धट्ठज्जुण्णे कुमारे जुवराया।

उस काल में और उस समय में, इसी जम्बूद्वीपनामक द्वीप में, भरतक्षेत्र में, पांचाल देश में काम्पिल्यपुरनामक नगर था। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार कहना चाहिए। वहाँ द्रुपद राजा था। उसका वर्णन भी औपपातिक सूत्रानुसार कहना चाहिए। द्रुपद राजा की चुलनी नामक पटरानी थी और धृष्टद्युम्ननामक कुमार युवराज था।

द्रौपदी का जन्म

८१—तए णं सा सूमालिया देवी ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं जाव [ठिइक्खएणं भवक्खएणं अणंतरं चयं] चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरे नयरे दुपयस्स रण्णो चुलणीए देवीए कुच्छिंसि दारियत्ताए पच्चायाया। तए णं सा चुलणी देवी नवण्हं मासाणं जाव दारियं पयाया।

सुकुमालिका देवी उस देवलोक से, आयु, भव और स्थिति को समाप्त करके यावत् देवीशरीर का त्याग करके इसी जम्बूद्वीप में, भारत वर्ष में, पंचाल जनपद में, काम्पिल्यपुर नगर में, द्रुपद राजा की चुलनी रानी की कूंख में लड़की के रूप में उत्पन्न हुई। तत्पश्चात् चुलनी देवी ने नौ मास पूर्ण होने पर यावत् पुत्री को जन्म दिया।

नामकरण

८२—तए णं तीसे दारियाए निव्वत्तवारसाहियाए इमं एयारूवं नामधेज्जं—जम्हा णं एसा दारिया दुवयस्स रण्णो धूया चुलणीए देवीए अत्तया, तं होउ णं अम्हं इमीसे दारियाए नामधिज्जे दोवई। तए णं तीसे अम्मापियरो इमं एयारूवं गुण्णं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करिंति—'दोवई'।

तत्पश्चात् बारह दिन व्यतीत हो जाने पर उस बालिका का ऐसा नाम रक्खा गया—'क्योंकि यह बालिका द्रुपद राजा की पुत्री है और चुलनी रानी की आत्मजा है, अतः हमारी इस बालिका का नाम 'द्रौपदी' हो। तब उसके माता-पिता ने इस प्रकार कह कर उसका गुण वाला एवं गुणनिष्पन्न नाम 'द्रौपदी' रक्खा।

८३—तए णं सा दोवई दारिया पंचधाइपरिग्गहिया जाव गिरिकंदरमल्लीण इव चंपगलया निवायनिव्वाघायंसि सुहंसुहेणं परिवड्ढइ। तए णं सा दोवई रायवरकन्ना उम्मुक्कबालभावा जाव[1] उक्किट्ठसरीरा जाया यावि होत्था।

तत्पश्चात् पाँच धायों द्वारा ग्रहण की हुई वह द्रौपदी दारिका पर्वत की गुफा में स्थित वायु आदि के व्याघात से रहित चम्पकलता के समान सुखपूर्वक बढ़ने लगी। वह श्रेष्ठ राजकन्या बाल्यावस्था से मुक्त होकर यावत् [क्रमशः यौवनावस्था को प्राप्त हुई, समझदार हो गई, उत्कृष्ट रूप, यौवन एवं लावण्य से सम्पन्न तथा] उत्कृष्ट शरीर वाली भी हो गई।

---

१. अ. १६ सूत्र ३६.

८४—तए णं तं दोवइं रायवरकन्नं अण्णया कयाइं अंतेउरियाओ ण्हायं जाव विभूसियं करेंति, करित्ता दुवयस्स रण्णो पायवंदियं पेसंति। तए णं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव दुवए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता दुवयस्स रण्णो पायग्गहणं करेइ।

राजवरकन्या द्रौपदी को एक वार अन्तःपुर की रानियों (अथवा दासियों) ने स्नान कराया यावत् सर्व अलंकारों से विभूषित किया। फिर द्रुपद राजा के चरणों की वन्दना करने के लिए उसके पास भेजा। तब श्रेष्ठ राजकुमारी द्रौपदी द्रुपद राजा के पास गई। वहाँ जाकर उसने द्रुपद राजा के चरणों का स्पर्श किया।

८५—तए णं से दुवए राया दोवइं दारियं अंके निवेसेइ, निवेसित्ता दोवईए रायवरकन्नाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य जायविम्हए दोवइं रायवरकन्नं एवं वयासी—'जस्स णं अहं पुत्ता! रायस्स वा जुवरायस्स वा भारियत्ताए सयमेव दलइस्सामि, तत्थ णं तुमं सुहिया वा दुक्खिया वा भविज्जासि, तए णं ममं जावजीवाए हिययडाहे भविस्सइ, तं णं अहं तव पुत्ता! अज्जयाए सयंवरं विरयामि, अज्जयाए णं तुमं दिण्णसयंवरा, जं णं तुमं सयमेव रायं वा जुवरायं वा वरेहिसि, से णं तव भत्तारे भविस्सइ,' त्ति कट्टु ताहिं इट्ठाहिं जाव आसासेइ, आसासित्ता पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् द्रुपद राजा ने द्रौपदी दारिका को अपनी गोद में विठलाया। फिर राजवर कन्या द्रौपदी के रूप, यौवन और लावण्य को देखकर उसे विस्मय हुआ। उसने राजवरकन्या द्रौपदी से कहा—'हे पुत्री! मैं स्वयं किसी राजा अथवा युवराज की भार्या के रूप में तुझे दूंगा तो कौन जाने वहां तू सुखी हो या दुःखी? (दुःखी हुई तो) मुझे जिन्दगी भर हृदय में दाह होगा। अतएव हे पुत्री! मैं आज से तेरा स्वयंवर रचता हूँ। आज से ही मैंने तुझे स्वयंवर में दी। अतएव तू अपनी इच्छा से जिस किसी राजा या युवराज का वरण करेगी, वही तेरा भर्त्तार होगा।' इस प्रकार कहकर इष्ट, प्रिय और मनोज्ञ वाणी से द्रौपदी को आश्वासन दिया। आश्वासन देकर विदा कर दिया।

द्रौपदी का स्वयंवर

८६—तए णं से दुवए राया दूयं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! बारवइं नयरिं, तत्थ णं तुमं कण्हं वासुदेवं, समुद्दविजयपामोक्खे दस दसारे, वलदेवपामुक्खे पंच महावीरे, उग्गसेणपामोक्खे सोलस रायसहस्से, पज्जुण्णपामुक्खाओ अद्धुट्ठाओ कुमारकोडीओ, संबपामोक्खाओ सट्ठिं दुद्दन्तसाहस्सीओ, वीरसेणपामुक्खाओ इक्कवीसं वीरपुरिससाहस्सीओ, महसेणपामोक्खाओ छप्पन्नं बलवगसाहस्सीओ, अन्ने य वहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहपभिइओ करयलपरिग्गहिअं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेहि, वद्धावित्ता एवं वयाहि—

तत्पश्चात् द्रुपद राजा ने दूत बुलवाया। बुलवा कर उससे कहा—'देवानुप्रिय! तुम द्वारवती (द्वारका) नगरी जाओ। वहां तुम कृष्ण वासुदेव को, समुद्रविजय आदि दस दसारों को, वलदेव आदि पांच महावीरों को, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजाओं को, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन कोटि कुमारों को, शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्तों (उद्धत बलवानों) को, वीरसेन आदि इक्कीस हजार वीर पुरुषों को, महासेन आदि छप्पन हजार बलवान वर्ग को, तथा अन्य बहुत-से राजाओं, युवराजों,

तलवर, माडंविक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह प्रभृति को दोनों हाथ जोड़कर, दसों नख मिला कर मस्तक पर आवर्त्तन करके, अंजलि करके और 'जय-विजय' शब्द कह कर वधाना—उनका अभिनन्दन करना। अभिनन्दन करके इस प्रकार कहना:—

८७—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! कंपिल्लपुरे नयरे दुवयस्स रण्णो धूयाए चुलणीए देवीए अत्तयाए धट्ठज्जुण्ण-कुमारस्स भगिणीए दोवईए रायवर-कण्णाए सयंवरे भविस्सइ, तं णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! दुवयं रायं अणुगिण्हेमाणा अकालपरिहीणं चेव कंपिल्लपुरे नयरे समोसरह।'

'हे देवानुप्रियो ! काम्पिल्यपुर नगर में द्रुपद राजा की पुत्री, चुलनी देवी की आत्मजा और राजकुमार धृष्टद्युम्न की भगिनी श्रेष्ठ राजकुमारी द्रौपदी का स्वयंवर होने वाला है। अतएव हे देवानुप्रियो ! आप सब द्रुपद राजा पर अनुग्रह करते हुए, विलम्ब किये बिना-उचित समय पर-कांपिल्यपुर नगर में पधारना।'

८८—तए णं से दूए करयल जाव कट्टु दुवयस्स रण्णो एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह।' जाव ते वि तहेव उवट्ठवेंति।

तत्पश्चात् दूत ने दोनों हाथ जोड़कर यावत् मस्तक पर अंजलि करके द्रुपद राजा का यह अर्थ (कथन) विनय के साथ स्वीकार किया। स्वीकार करके अपने घर आकर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुला कर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! शीघ्र ही चार घंटाओं वाला अश्वरथ जोत कर उपस्थित करो।' कौटुम्बिक पुरुषों ने यावत् रथ उपस्थित किया।

८९—तए णं से दूए ण्हाए जाव अलंकारविभूसियसरीरे चाउग्घंटं आसरहं दुरुहइ, दुरुहित्ता बहूहिं पुरिसेहिं सन्नद्ध जाव] बद्ध-वम्मिय-कवएहिं उप्पीलियसरासण-पट्टिएहिं पिणद्धगेविज्जेहिं आविद्ध-विमल-वरचिंधपट्टेहिं] गहियाऽऽउह-पहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे कंपिल्लपुरं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता पंचालजणवयस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुरट्ठाजणवयस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव वारवई नयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वारवइं नगरिं मज्झंमज्झेणं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चाउग्घंटं आसरहं ठवेइ, ठवित्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता मणुस्सवग्गुरापरिक्खित्ते पायविहारचारेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता कण्हं वासुदेवं समुद्दविजयपामुक्खे य दस दसारे जाव बलवगसाहस्सीओ करयल तं चेव जाव[1] समोसरह।

तत्पश्चात् स्नान किये हुए और अलंकारों से विभूषित शरीर वाले उस दूत ने चार घंटाओं वाले अश्वरथ पर आरोहण किया। आरोहण करके [अंगरक्षा के लिए कवच धारण करके, धनुष लेकर अथवा भुजाओं पर चर्म की पट्टी बांधकर, ग्रीवारक्षक धारण करके मस्तक पर गाढ़ा बंधा चिह्नपट्ट धारण करके] तैयार हुए अस्त्र-शस्त्रधारी बहुत-से पुरुषों के साथ कांपिल्यपुर नगर के

१—अ. १६ सूत्र ८७.

मध्य भाग से होकर निकला। वहाँ से निकल कर पंचाल देश के मध्य भाग में होकर देश की सीमा पर आया। फिर सुराष्ट्र जनपद के बीच में होकर जिधर द्वारवती नगरी थी, उधर चला। चलकर द्वारवती नगरी के मध्य में प्रवेश किया। प्रवेश करके जहाँ कृष्ण वासुदेव की बाहरी सभा थी, वहाँ आया। चार घंटाओं वाले अश्वरथ को रोका। रथ से नीचे उतरा। फिर मनुष्यों के समूह से परिवृत होकर पैदल चलता हुआ कृष्ण वासुदेव के पास पहुँचा। वहाँ पहुँच कर कृष्ण वासुदेव को, समुद्रविजय आदि दस दसारों को यावत् महासेन आदि छप्पन हजार बलवान् वर्ग को दोनों हाथ जोड़ कर द्रुपद राजा के कथनानुसार अभिनन्दन करके यावत् स्वयंवर में पधारने का निमंत्रण दिया।

९०—तए णं से कण्हे वासुदेवे तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ जाव हियए तं दूयं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव उस दूत से यह वृत्तान्त सुनकर और समझ कर प्रसन्न हुए, यावत् वे हर्षित एवं सन्तुष्ट हुए। उन्होंने उस दूत का सत्कार किया, सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करने के पश्चात् उसे विदा किया।

स्वयंवर के लिए कृष्ण का प्रस्थान

९१—तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! सभाए सुहम्माए सामुदाइयं भेरिं तालेहि।

तए णं से कोडुंबियपुरिसे करयल जाव कण्हस्स वासुदेवस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जेणेव सभाए सुहम्माए सामुदाइया भेरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सामुदाइयं भेरिं महया महया सद्देणं तालेइ।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने कौटुम्बिक पुरुष को बुलाया। बुला कर उससे कहा—'देवानुप्रिय ! जाओ और सुधर्मा सभा में रक्खी हुई सामुदानिक भेरी बजाओ।'

तब उस कौटुम्बिक पुरुष ने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करके कृष्ण वासुदेव के इस अर्थ को अंगीकार किया। अंगीकार करके जहाँ सुधर्मा सभा में सामुदानिक भेरी थी, वहाँ आया। आकर जोर-जोर के शब्द से उसे ताड़न किया।

९२—तए णं ताए सामुदाइयाए भेरीए तालियाए समाणीए समुद्दविजयपामोक्खा दस दसारा जाव महसेणपामोक्खाओ छप्पन्नं बलवगसाहस्सीओ ण्हाया जाव[1] विभूसिया जहाविभव-इड्ढि-सक्कार-समुदएणं अप्पेगइया जाव [हयगया एवं गयगया रह-सीया-संदमाणीगया अप्पेगइया] पायविहार-चारेणं जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल जाव[2] कण्हं वासुदेवं जएणं विजएणं वद्धावेंति।

तत्पश्चात् उस सामुदानिक भेरी के ताडन करने पर समुद्रविजय आदि दस दसार यावत् महासेन आदि छप्पन हजार बलवान् नहा-धोकर यावत् विभूषित होकर अपने-अपने वैभव के अनुसार ऋद्धि एवं सत्कार के समुदाय के अनुसार कोई-कोई [अश्व पर आरूढ होकर, कोई-कोई हाथी पर,

१. अ. १६ सूत्र ८९ २. अ. १६ सूत्र ८६

शिविका पर स्यंदमाणी-म्याने पर सवार होकर और कोई-कोई पैदल चल कर जहाँ कृष्ण वासुदेव थे, वहाँ पहुँचे। पहुँचकर दोनों हाथ जोड़ कर सबने कृष्ण वासुदेव का जय-विजय के शब्दों से अभिनन्दन किया।

९३—तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह, हयगय जाव [रह-पवरजोहकलियं चउरंगिणि सेनं सण्णाहेह सण्णाहेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह। ते वि तहेव] पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही पट्टाभिषेक किये हुए हस्तीरत्न (सर्वोत्तम हाथी) को तैयार करो तथा घोड़ों, हाथियों [रथों और उत्तम पदातियों की चतुरंगिणी सेना सज्जित करके मेरी आज्ञा वापिस सौंपो।] यह आज्ञा सुन कर कौटुम्बिक पुरुषों ने तदनुसार कार्य करके आज्ञा वापिस सौंपी।

९४—तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समुत्तजाला-कुलाभिरामे जाव (विचित्तमणि-रयणकुट्टिमतले रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि णाणामणि-रयणभत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहणिसण्णे सुहोदएहिं गंधोदएहिं पुप्फोदएहिं सुद्धोदएहिं पुणो पुणो कल्लाणग-पवरमज्जण-विहीए मज्जिए) अंजणगिरिकूडसंनिभं गयवइं नरवई दुरूढे।

तए णं से कण्हे वासुदेवे समुद्दविजयपामुक्खेहिं दसहिं दसारेहिं जाव[1] अणंगसेणापामुक्खेहिं अणेगाहिं गणियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव रवेणं बारवइं नयरिं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता सुरट्ठाजणवयस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पंचालजणवयस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव कंपिल्लपुरे नयरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव मज्जनगृह (स्नानागार) में गये। मोतियों के गुच्छों से मनोहर [तथा चित्र-विचित्र मणियों और रत्नों के फर्शवाले मनोरम स्नानगृह में, अनेक प्रकार की मणियों और रत्नों की रचना के कारण अद्भुत स्नानपीठ (स्नान करने के पीढ़े) पर सुखपूर्वक आसीन हुए। तत्पश्चात् शुभ अथवा सुखजनक जल से, सुगंधित जल से तथा पुष्प-सौरभयुक्त जल से बार-बार उत्तम मांगलिक विधि से स्नान किया] स्नान करके विभूषित होकर यावत् अंजनगिरि के शिखर के समान (श्याम और ऊँचे) गजपति पर वे नरपति आरूढ हुए।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव, समुद्रविजय आदि दस दसारों के साथ यावत् अनंगसेना आदि कई हजार गणिकाओं के साथ परिवृत होकर, पूरे ठाठ के साथ यावत् वाद्यों की ध्वनि के साथ द्वारवती नगरी के मध्य में होकर निकले। निकल कर सुराष्ट्र जनपद के मध्य में होकर देश की सीमा पर पहुँचे। वहाँ पहुँच कर पंचाल जनपद के मध्य में होकर जिस ओर कांपिल्यपुर नगर था, उसी ओर जाने के लिए उद्यत हुए।

हस्तिनापुर को दूतप्रेषण

९५—तए णं से दुवए राया दोच्चं दूयं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छ णं तुमं

---

१. अ. १६ सूत्र ८६

देवाणुप्पिया ! हत्थिणाउरं नगरं, तत्थ णं तुमं पंडुरायं सपुत्तयं—जुहिट्ठिलं भीमसेणं अज्जुणं नउलं सहदेवं, दुज्जोहणं भाइसयसमग्गं गंगेयं विदुरं दोणं जयद्दहं सउणि कीवं आसत्थामं करयल जाव कट्टु तहेव समोसरह ।'

तत्पश्चात् (प्रथम दूत को द्वारिका भेजने के तुरन्त वाद में) द्रुपद राजा ने दूसरे दूत को वुलाया । वुलाकर उससे कहा—'देवानुप्रिय ! तुम हस्तिनापुर नगर जाओ । वहाँ तुम पुत्रों सहित पाण्डु राजा को—उनके पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को, सौ भाइयों समेत दुर्योधन को, गांगेय, विदुर, द्रोण जयद्रथ, शकुनि क्लीव (कर्ण) और अश्वत्थामा को दोनों हाथ जोड़ कर यावत् मस्तक पर अंजलि करके उसी प्रकार (पहले के समान) कहना, यावत्—समय पर स्वयंवर में पधारिए ।

९६—तए णं से दूए एवं वयासी जहा वासुदेवे, नवरं भेरी नत्थि, जाव जेणेव कंपिल्लपुरे नयरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।

तत्पश्चात् दूत ने हस्तिनापुर जाकर उसी प्रकार कहा जैसा प्रथम दूत ने श्रीकृष्ण को कहा था । तव जैसा कृष्ण वासुदेव ने किया, वैसा ही पाण्डु राजा ने किया । विशेषता यह है कि हस्तिनापुर में भेरी नहीं थी । (अतएव दूसरे उपाय से सव को सूचना देकर और साथ लेकर पाण्डु राजा भी) कांपिल्यपुर नगर की ओर गमन करने को उद्यत हुए ।

अन्य दूतों का अन्यत्र प्रेषण

९७—एएणेव कमेणं तच्चं दूयं चंपानयरिं, तत्थ णं तुमं कण्हं अंगरायं, सेल्लं, नंदिरायं, करयल तहेव जाव समोसरह ।

इसी क्रम से तीसरे दूत को चम्पा नगरी भेजा और उससे कहा—'तुम वहाँ जाकर अंगराज कृष्ण को, सेल्लक राजा को और नंदिराज को दोनों हाथ जोड़ कर यावत् कहना कि स्वयंवर में पधारिए ।'

९८—चउत्थं दूयं सुत्तिमइं नयरिं, तत्थ णं सिसुपालं दमघोससुयं पंचभाइसयसंपरिवुडं करयल तहेव जाव समोसरह ।

चौथा दूत शुक्तिमती नगरी भेजा और उसे आदेश दिया—'तुम दमघोष के पुत्र और पांच सौ भाइयों से परिवृत शिशुपाल राजा को हाथ जोड़ कर उसी प्रकार कहना, यावत् स्वयंवर में पधारिए ।'

९९—पंचमगं दूयं हत्थिसीसनगरं, तत्थ णं तुमं दमदंतं नाम रायं करयल तहेव जाव समोसरह ।

पाँचवाँ दूत हस्तीशीर्ष नगर भेजा और कहा—'तुम दमदंत राजा को हाथ जोड़ कर उसी प्रकार कहना यावत् स्वयंवर में पधारिए ।'

१००—छट्ठं दूयं महुरं नयरिं, तत्थ णं तुमं धरं रायं करयलं तहेव जाव समोसरह।

छठा दूत मथुरा नगरी भेजा। उससे कहा—'तुम धर नामक राजा को हाथ जोड़ कर यावत् कहना—स्वयंवर में पधारिए।

१०१—सत्तमं दूयं रायगिहं नगरं, तत्थ णं तुमं सहदेवं जरासिंधुसुयं करयल तहेव जाव समोसरह।

सातवाँ दूत राजगृह नगर भेजा। उससे कहा—'तुम जरासिन्धु के पुत्र सहदेव राजा को हाथ जोड़ कर उसी प्रकार कहना—'यावत् स्वयंवर में पधारिए।'

१०२—अट्ठमं दूयं कोडिण्णं नयरं, तत्थ तं तुमं रुप्पि भेसगसुयं करयल तहेव जाव समोसरह।

आठवाँ दूत कौण्डिन्य नगर भेजा। उससे कहा—'तुम भीष्मक के पुत्र रुक्मी राजा को हाथ जोड़ कर उसी प्रकार कहना, यावत् स्वयंवर में पधारो।'

१०३—नवमं दूयं विराडनगरं तत्थ णं तुमं कीयगं भाउसयसमग्गं करयल तहेव जाव समोसरह।

नौवां दूत विराट नगर भेजा। उससे कहा—'तुम सौ भाइयों सहित कीचक राजा को हाथ जोड़ कर उसी प्रकार कहना, यावत् स्वयंवर में पधारो।'

१०४—दसमं दूयं अवसेसेसु य गामागरनगरेसु अणेगाइं रायसहस्साइं जाव समोसरह।

दसवाँ दूत शेष ग्राम, आकर और नगर आदि में भेजा। उससे कहा—तुम वहाँ के अनेक सहस्र राजाओं को उसी प्रकार कहना, यावत् स्वयंवर में पधारो।'

१०५—तए णं से दए तहेव निग्गच्छइ, जेणेव गामागर जाव समोसरह।

तत्पश्चात् वह दूत उसी प्रकार निकला और जहाँ ग्राम, आकर नगर आदि थे वहाँ जाकर सब राजाओं को उसी प्रकार कहा—यावत् 'स्वयंवर में पधारो।'

१०६—तए णं ताइं अणेगा रायसहस्सा तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा तं दूयं सक्कारेंति संमाणेंति, सक्कारित्ता संमाणित्ता पडिविसज्जिंति।

तत्पश्चात् अनेक हजार राजाओं ने उस दूत से यह अर्थ-संदेश सुनकर और समझ कर हृष्ट-तुष्ट होकर उस दूत का सत्कार-सन्मान करके उसे विदा किया।

१०७—तए णं ते वासुदेवपामोक्खा बहवे रायसहस्सा पत्तेयं पत्तेयं ण्हाया संनद्धबद्धवम्मिय-कवया हत्थिखंधवरगया हयगयरहपवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेनाए सद्धिं संपरिवुडा महया भडचडगररहपहगरविंदपरिक्खित्ता सएहिं सएहिं नगरेहिंतो अभिनिग्गच्छंति, अभिनिग्गच्छित्ता जेणेव पंचाले जणवए तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् आमंत्रित किए हुए वासुदेव आदि बहुसंख्यक हजारों राजाओं में से प्रत्येक-प्रत्येक ने स्नान किया। वे कवच धारण करके तैयार हुए और सजाए हुए श्रेष्ठ हाथी के स्कंध पर आरूढ हुए। फिर घोड़ों, हाथियों रथों और बड़े-बड़े भटों के समूह के समूह रूप चतुरंगिणी सेना के साथ अपने-अपने नगरों से निकले। निकल कर पंचाल जनपद की ओर गमन करने के लिए उद्यत हुए।

स्वयंवरमंडप का निर्माण

१०८—तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! कंपिल्लपुरे नयरे बहिया गंगाए महानदीए अदूरसामंते एगं महं सयंवरमंडवं करेह अणेगखंभसयसन्निविट्ठं, लीलट्ठियसालभंजियागं' जाव[1] पच्चप्पिणंति।

उस समय द्रुपद राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर उनसे कहा—'देवानुप्रियो! तुम जाओ और कांपिल्यपुर नगर के बाहर, गंगा नदी से न अधिक दूर और न अधिक समीप में, एक विशाल स्वयंवर-मंडप बनाओ, जो अनेक सैकड़ों स्तंभों से बना हो और जिसमें लीला करती हुई पुतलियाँ बनी हों। जो प्रसन्नताजनक, सुन्दर, दर्शनीय एवं अतीव रमणीक हो।' उन कौटुम्बिक पुरुषों ने मंडप तैयार करके आज्ञा वापिस सौंपी।

आवास-व्यवस्था

१०९—तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! वासुदेवपामोक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं आवासे करेह।' ते वि करित्ता पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् द्रुपद राजा ने फिर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर उनसे कहा—'देवानुप्रियो! शीघ्र ही वासुदेव वगैरह बहुसंख्यक सहस्रों राजाओं के लिए आवास तैयार करो।' उन्होंने आवास तैयार करके आज्ञा वापिस लौटाई।

११०—तए णं दुवए राया वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं आगमणं जाणेत्ता पत्तेयं पत्तेयं हत्थिखंधवरगए जाव परिवुडे अग्घं च पज्जं च गहाय सव्विड्ढीए कंपिल्लपुराओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव ते वासुदेवपामोक्खा बहवे रायसहस्सा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ताइं वासुदेवपामुक्खाइं अग्घेण य पज्जेण य सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं पत्तेयं पत्तेयं आवासे वियरइ।

तत्पश्चात् द्रुपद राजा वासुदेव प्रभृति बहुत से राजाओं का आगमन जान कर, प्रत्येक राजा का स्वागत करने के लिए, हाथी के स्कंध पर आरूढ होकर यावत् सुभटों के परिवार से परिवृत होकर अर्घ्य (पूजा की सामग्री) और पाद्य (पैर धोने के लिए पानी) लेकर, सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ, कांपिल्यपुर से बाहर निकला। निकल कर जिधर वासुदेव आदि बहुसंख्यक हजारों राजा थे, उधर गया। वहाँ जाकर उन वासुदेव प्रभृति का अर्घ्य और पाद्य से सत्कार-सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके उन वासुदेव आदि को अलग-अलग आवास प्रदान किए।

---

१. अ. १ सूत्र।

१११—तए णं ते वासुदेवपामोक्खा जेणेव सया सया आवासा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता हत्थिखंधेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता पत्तेयं पत्तेयं खंधावारनिवेसं करेंति, करित्ता सए सए आवासे अणुपविसंति, अणुपविसित्ता सएसु सएसु आवासेसु आसणेसु य सयणेसु य सन्निसन्ना य संतुयट्ठा य बहूहिं गंधव्वेहि य नाडएहि य उवगिज्जमाणा य उवणच्चिज्जमाणा य विहरंति।

तत्पश्चात् वे वासुदेव प्रभृति नृपति अपने-अपने आवासों में पहुँचे। पहुँचकर हाथियों के स्कंध से नीचे उतरे। उतर कर सब ने अपने-अपने पड़ाव डाले और अपने-अपने आवासों में प्रविष्ट हुए। आवासों में प्रवेश करके अपने-अपने आवासों में आसनों पर बैठे और शय्याओं पर सोये। बहुत-से गंधर्वों से गान कराने लगे और नट नाटक करने लगे।

११२—तए णं से दुवए राया कंपिल्लपुरं नगरं अणुपविसइ, अणपविसित्ता, विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च मज्जं च मंसं च सीधुं च पसण्णं च सुबहुपुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारं च वासुदेव-पामोक्खाणं रायसहस्साणं आवासेसु साहरह।' ते वि साहरंति।

तत्पश्चात् अर्थात् सब आगन्तुक अतिथि राजाओं को यथास्थान ठहरा कर द्रुपद राजा ने काम्पिल्यपुर नगर में प्रवेश किया। प्रवेश करके विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन तैयार करवाया। फिर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—'देवानुप्रियो! तुम जाओ और यह विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम,[1] सुरा, मद्य, मांस, सीधु और प्रसन्ना तथा प्रचुर पुष्प, वस्त्र, गंध, मालाएँ एवं अलंकार वासुदेव आदि हजारों राजाओं के आवासों में ले जाओ।' यह सुन कर वे, वे सब वस्तुएँ ले गये।

११३—तए णं वासुदेवपामुक्खा तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जाव पसन्नं च आसाएमाणा आसाएमाणा विहरंति, जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता जाव सुहासणवरगया बहूहिं गंधव्वेहिं जाव विहरंति।

तब वासुदेव आदि राजा उस विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम यावत् प्रसन्ना का पुनः पुनः आस्वादन करते हुए विचरने लगे। भोजन करने के पश्चात् आचमन करके यावत् सुखद आसनों पर आसीन होकर बहुत-से गंधर्वों से संगीत कराते हुए यावत् विचरने लगे।

---

१. सुरा, मद्य, सीधु और प्रसन्ना, यह मदिरा की ही जातियां हैं। स्वयंवर में सभी प्रकार के राजा और उनके सैनिक आदि आये थे। द्रुपद राजा ने उन सबका उनकी आवश्यक वस्तुओं से सत्कार किया। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कृष्णजी स्वयं मदिरा आदि का सेवन करते थे। यह वर्णन सामान्य रूप से है। कृष्णजी सभी आगत राजाओं में प्रधान थे, अतएव उनका नामोल्लेख विशेष रूप से हुआ प्रतीत होता है।

स्वयंवर : घोषणा

११४—तए णं से दुवए राया पुव्वावरण्हकालसमयंसि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुमे देवाणुप्पिया ! कंपिल्लपुरे संघाडग जाव पहेसु वासुदेवपामुक्खाण य रायसहस्साणं आवासेसु हत्थिखंधवरगया महया महया सद्देणं जाव उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वदह—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! कल्लं पाउप्पभायाए दुवयस्स रण्णो धूयाए, चुलणीए देवीए अत्तयाए, धट्ठज्जुण्णस्स भगिणीए दोवईए रायवरकण्णाए सयंवरे भविस्सइ, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! दुवयं रायाणं अणुगिण्हेमाणा ण्हाया जाव विभूसिया हत्थिखंधवरगया सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामरांहि वीइज्जमाणा हयगयरहपवरजोहकलियाए चउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडा महया भडचडगरेणं जाव परिक्खित्ता जेणेव सयंवरमंडवे तेणेव उवागच्छह, उवागच्छित्ता पत्तेयं पत्तेयं नामंकेसु आसणेसु निसीयह, निसीइत्ता दोवइं रायवरकण्णं पडिवालेमाणा पडिवालेमाणा चिट्ठह' त्ति घोसणं घोसेह, मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।' तए णं कोडुंबिया तहेव जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् द्रुपद राजा ने पूर्वापराह्ण काल (सायंकाल) के समय कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! तुम जाओ और कांपिल्यपुर नगर के शृंगाटक आदि मार्गों में तथा वासुदेव आदि हजारों राजाओं के आवासों में, हाथी के स्कंध पर आरूढ होकर, बुलंद आवाज से यावत् बार-बार उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार कहो—, देवानुप्रियो ! कल प्रभात काल में, द्रुपद राजा की पुत्री, चुलनी देवी की आत्मजा और धृष्टद्युम्न की भगिनी द्रौपदी राजवर-कन्या का स्वयंवर होगा। अतएव हे देवानुप्रियो ! आप सब द्रुपद राजा पर अनुग्रह करते हुए, स्नान करके यावत् विभूषित होकर, हाथी के स्कंध पर आरूढ होकर, कोरंट वृक्ष की पुष्पमाला सहित छत्र को धारण करके, उत्तम श्वेत चामरों से विंजाते हुए, घोड़ों, हाथियों, रथों तथा बड़े-बड़े सुभटों के समूह से युक्त चतुरंगिणी सेना से परिवृत होकर जहाँ स्वयंवर-मंडप है, वहाँ पहुँचें। वहाँ पहुँचकर अलग-अलग अपने नामांकित आसनों पर बैठें और राजवरकन्या द्रौपदी की प्रतीक्षा करें।' इस प्रकार की घोषणा करो और मेरी आज्ञा वापिस करो।' तब वे कौटुम्बिक पुरुष इस प्रकार घोषणा करके यावत् राजा द्रुपद की आज्ञा वापिस करते हैं।

११५—तए णं से दुवए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सयंवरमंडवं आसियसंमज्जियोवलित्तं सुगंधवरगंधियं पंचवण्णपुप्फपुंजोवयार-कलियं कालागरु-पवर-कुंदुरुक्क-तुरुक्क जाव[1] गंधवट्टिभूयं मंचाइमंचकलियं करेह। करित्ता वासुदेवपामोक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं पत्तेयं पत्तेयं नामंकियाइं आसणाइं अत्थुय सेयवत्थ पच्चत्थुयाइं रएह, रयइत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।' ते वि जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् द्रुपद राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को पुनः बुलाया। बुला कर कहा—'देवानुप्रियो ! तुम स्वयंवर-मंडप में जाओ और उसमें जल का छिड़काव करो, उसे झाड़ो, लीपो और श्रेष्ठ सुगंधित द्रव्यों से सुगंधित करो। पाँच वर्ण के फूलों के समूह से व्याप्त करो। कृष्ण अगर, श्रेष्ठ कुंदुरुक्क (चीड़ा) और तुरुष्क (लोभान) आदि की धूप से गंध की वर्त्ती (बाट) जैसा कर दो। उसे

१—अ. १ सूत्र

मंचों (मचानों) और उनके ऊपर मंचों (मचानों) से युक्त करो। फिर वासुदेव आदि हजारों राजाओं के नामों से अंकित अलग-अलग आसन श्वेत वस्त्र से आच्छादित करके तैयार करो। यह सब करके मेरी आज्ञा वापिस लौटाओ।' वे कौटुम्बिक पुरुष भी सब कार्य करके यावत् आज्ञा लौटाते हैं।

स्वयंवर

११६—तए णं वासुदेवपामोक्खा बहवे रायसहस्सा कल्लं पाउप्पभायाए ण्हाया जाव विभूसिया हत्थिखंधवरगया सकोरंट सेयवरचामरांहि हयगय जाव[1] परिवुडा सव्विड्ढीए जाव रवेणं जेणेव सयंवरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अणुपविसंति, अणुपविसित्ता पत्तेयं पत्तेयं नामंकिएसु आसणेसु निसीयंति, दोवइं रायवरकण्णं पडिवालेमाणा चिट्ठंति।

तत्पश्चात् वासुदेव प्रभृति अनेक हजार राजा कल (दूसरे दिन) प्रभात होने पर स्नान करके यावत् विभूषित हुए। श्रेष्ठ हाथी के स्कंध पर आरूढ़ हुए। उन्होंने कोरंट वृक्ष के फूलों की माला वाले छत्र को धारण किया। उन पर चामर ढोरे जाने लगे। अश्व, हाथी, भटों आदि से परिवृत होकर सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ यावत् वाद्यध्वनि के साथ जिधर स्वयंवरमंडप था, उधर पहुंचे। मंडप में प्रविष्ट हुए। प्रविष्ट होकर पृथक्-पृथक् अपने-अपने नामों से अंकित आसनों पर बैठ गये और राजवरकन्या द्रौपदी की प्रतीक्षा करने लगे।

११७—तए णं से दुवए राया कल्लं ण्हाए जाव विभूसिए हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धारिज्जमाणेणं सेयचामरांहि वीइज्जमाणे हय-गय-रह-पवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धि संपरिवुडे महया भडचडकर-रहपरिकरविंदपरिक्खित्ते कंपिल्लपुरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सयंवरमंडवे, जेणेव वासुदेवपामोक्खा बहवे रायसहस्सा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं करयल जाव वद्धावेत्ता कण्णस्स वासुदेवस्स सेयवरचामरं गहाय उववीयमाणे चिट्ठइ।

तत्पश्चात् द्रुपद राजा प्रभात में स्नान करके यावत् विभूषित होकर, हाथी के स्कंध पर सवार होकर, कोरंट वृक्ष के फूलों की माला वाले छत्र को धारण करके, अश्वों, गजों, रथों और उत्तम योद्धाओं वाली चतुरंगिणी सेना के साथ, तथा अन्य भटों एवं रथों से परिवृत होकर कांपिल्यपुर के मध्य से बाहर निकला। निकल कर जहाँ स्वयंवरमंडप था और जहाँ वासुदेव आदि बहुत-से हजारों राजा थे, वहाँ आया। आकर उन वासुदेव वगैरह का हाथ जोड़कर अभिनन्दन किया और कृष्ण वासुदेव पर श्रेष्ठ श्वेत चामर ढोरने लगा।

११८—तए णं सा दोवई रायवरकन्ना कल्लं पाउप्पभायाए जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता ण्हाया जाव सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिया जिणपडिमाणं अच्चणं करेइ, करित्ता जेणेव अंतेउरे तेणेव उवागच्छइ।

उधर वह राजवरकन्या द्रौपदी प्रभात काल होने पर स्नानगृह की ओर गई। वहाँ जाकर

१. अ. १६ सूत्र ११४।

स्नानगृह में प्रविष्ट हुई। प्रविष्ट होकर उसने स्नान किया यावत् शुद्ध और सभा में प्रवेश करने योग्य मांगलिक उत्तम वस्त्र धारण किये। जिन प्रतिमाओं का पूजन किया। पूजन करके अन्तःपुर में चली गई।*

११६—तए णं तं दोवइं रायवरकन्नं अंतेउरियाओ सव्वालंकारविभूसियं करेंति, किं ते? वरपायपत्तणेउरा जाव[1] चेडिया-चक्कवाल-मयहरग-विंदपरिक्खित्ता अंतेउराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता किड्डावियाए लेहियाए सद्धिं चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ।

तत्पश्चात् अन्तःपुर की स्त्रियों ने राजवरकन्या द्रौपदी को सब अलंकारों से विभूषित किया। किस प्रकार? पैरों में श्रेष्ठ नूपुर पहनाए, (इसी प्रकार सब अंगों में भिन्न-भिन्न आभूषण पहनाए) यावत् वह दासियों के समूह से परिवृत होकर अन्तःपुर से बाहर निकली। बाहर निकलकर जहाँ बाह्य उपस्थानशाला (सभा) थी और जहाँ चार घंटाओं वाला अश्वरथ था, वहाँ आई। आकर क्रीडा

---

* इस पाठ के विषय में वाचनाभेद पाया जाता है। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में उपलब्ध होने वाला पाठ ऊपर दिया गया है। यह पाठ शीलांकाचार्यकृत टीका में भी वाचनान्तर के रूप में ग्रहण किया गया है। किन्तु कुछ अर्वाचीन प्रतियों में जो पाठान्तर पाया जाता है, वह इस प्रकार है:—

तए णं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिया मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जिणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करित्ता लोमहत्थयं परामुसइ, एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ, अच्चित्ता तहेव भाणियव्वं जाव धूवं डहइ, डहित्ता वामं जाणुं अंचेइ, दाहिणं धरणियलंसि णिवेसेइ, णिवेसित्ता तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणियलंसि नमेइ, नमइत्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, करयल जाव कट्टु एवं वयासी—'नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं' वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जिणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव अंतेउरे तेणेव उवागच्छइ।

अर्थात् तत्पश्चात् द्रौपदी राजवरकन्या स्नानगृह में गई। वहाँ जाकर उसने स्नान किया, बलिकर्म किया, मसीतिलक आदि कौतुक, दूर्वादिक मंगल और अशुभ की निवृत्ति के अर्थ प्रायश्चित्त किया। शुद्ध और शोभा देने वाले मांगलिक वस्त्र धारण किये। फिर वह स्नानगृह से बाहर निकली। निकल कर जिनगृह—जिनचैत्य में गई और उसके भीतर प्रविष्ट हुई। वहाँ जिनप्रतिमाओं पर दृष्टि पड़ते ही उन्हें प्रणाम किया। प्रणाम करके मयूर-पिच्छी ग्रहण की। फिर सूर्याभ देव की भांति जिनप्रतिमाओं की पूजा की। पूजा करके उसी प्रकार (सूर्याभ देव की तरह) यावत् धूप जलाई। धूप जला कर बायें घुटने को ऊँचा रक्खा और दाहिने घुटने को पृथ्वीतल पर रख कर मस्तक नमाया। नमाने के बाद मस्तक थोड़ा ऊपर उठाया। फिर दोनों हाथ जोड़ कर यावत् मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहा—'अरिहन्त भगवन्तों को यावत् सिद्धपद को प्राप्त जिनेश्वरों को नमस्कार हो।' ऐसा कह कर वन्दन—नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके जिनगृह से बाहर निकली। बाहर निकल कर जहाँ अन्तःपुर था, वहाँ आगई।

१. अ० १ सू०

कराने वाली धाय और लेखिका (लिखने वाली) दासी के साथ उस चार घंटा वाले रथ पर आरूढ हुई।

१२०—तए णं धट्ठज्जुण्णे कुमारे दोवईए कण्णाए सारत्थं करेइ। तए णं सा दोवई रायवरकण्णा कंपिल्लपुरं नयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सयंवरमंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता रहं ठवेइ, ठवित्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता किड्डावियाए लेहियाए य सद्धिं सयंवरमंडवं अणुपविसइ, करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु तेसिं वासुदेवपामुक्खाणं बहूणं रायवरसहस्साणं पणामं करेइ।

उस समय धृष्टद्युम्न कुमार ने द्रौपदी कुमारी का सारथ्य किया, अर्थात् सारथी का कार्य किया। तत्पश्चात् राजवरकन्या द्रौपदी कंपिल्यपुर नगर के मध्य में होकर जिधर स्वयंवर-मंडप था, उधर पहुंची। वहाँ पहुंच कर रथ रोका गया और वह रथ से नीचे उतरी। नीचे उतर कर क्रीडा कराने वाली धाय और लेखिका दासी के साथ उसने स्वयंवरमण्डप में प्रवेश किया। प्रवेश करके दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करके वासुदेव प्रभृति बहुसंख्यक हजारों राजाओं को प्रणाम किया।

१२१—तए णं सा दोवई रायवरकन्ना एगं महं सिरिदामगंडं, किं ते ? पाडल-मल्लिय-चंपय जाव सत्तच्छयाईहिं गंधद्धणिं मुयंतं परमसुहफासं दरिसणिज्जं गिण्हइ।

तत्पश्चात् राजवरकन्या द्रौपदी ने एक बड़ा श्रीदामकाण्ड (सुशोभित मालाओं का समूह) ग्रहण किया। वह कैसा था ? पाटल, मल्लिका, चम्पक आदि यावत् सप्तपर्ण आदि के फूलों से गूंथा हुआ था। अत्यन्त गंध को फैला रहा था। अत्यन्त सुखद स्पर्श वाला था और दर्शनीय था।

१२२—तए णं सा किड्डाविया सुरूवा जाव [साभावियघंसं चोद्दहजणस्स उस्सुयकरं विचित्तमणि-रयणबद्धच्छरुहं] वामहत्थेणं चिल्लगं दप्पणं गहेऊण सललियं दप्पणसंकेतबिंबसंदंसिए य से दाहिणेणं हत्थेणं दरिसिए पवररायसीहे। फुड-विसय-विसुद्ध-रिभिय-गंभीर-महुर-भणिया सा तेसिं सव्वेसिं पत्थिवाणं अम्मापिऊणं वंस-सत्त-सामत्थ-गोत्त-विक्कंति-कंति-बहुविहआगम-माहप्प-रूव-जोव्वणगुण-लावण्ण-कुल-सील-जाणिया कित्तणं करेइ।

तत्पश्चात् उस क्रीडा कराने वाली यावत् सुन्दर रूप वाली धाय ने बाएँ हाथ में चिलचिलाता हुआ दर्पण लिया। [वह दर्पण स्वाभाविक घर्षण से युक्त एवं तरुण जनों में उत्सुकता उत्पन्न करने वाला था। उसकी मूठ विचित्र मणि-रत्नों से जटित थी।] उस दर्पण में जिस-जिस राजा का प्रतिबिम्ब पड़ता था, उस प्रतिबिम्ब द्वारा दिखाई देने वाले श्रेष्ठ सिंह के समान राजा को अपने दाहिने हाथ से द्रौपदी को दिखलाती थी। वह धाय स्फुट (प्रकट अर्थ वाले) विशद (निर्मल अक्षरों वाले) विशुद्ध (शब्द एवं अर्थ के दोषों से रहित) रिभित (स्वर की घोलना सहित) मेघ की गर्जना के समान गंभीर और मधुर (कानों को सुखदायी) वचन बोलती हुई, उन सब राजाओं के माता-पिता के वंश, सत्त्व (दृढ़ता एवं धीरता), सामर्थ्य (शारीरिक बल), गोत्र, पराक्रम, कान्ति नाना प्रकार के ज्ञान, माहात्म्य, रूप, यौवन, गुण, लावण्य, कुल और शील को जानने वाली होने के कारण उनका बखान करने लगी।

१२३—पढमं जाव वण्हिपुंगवाणं दसदसारवरवीरपुरिसाणं तेलोक्कबलवगाणं सत्तु-सय-सहस्स-माणावमद्दगाणं भवसिद्धिय-पवरपुंडरीयाणं चिल्लगाणं बल-वीरिय-रूव-जोव्वण-गुण-लावण्ण-कित्तिया कित्तणं करेइ, ततो पुणो उग्गसेणमाईणं जायवाणं, भणइ य—'सोहग्गरूवकलिए वरेहि वरपुरिसगंधहत्थीणं जो हु ते होइ हियय-दइयो।'

उनमें से सर्वप्रथम वृष्णियों (यादवों) में प्रधान समुद्रविजय आदि दस दसारों अथवा दसार के श्रेष्ठ वीर पुरुषों के, जो तीनों लोकों में बलवान् थे, लाखों शत्रुओं का मान मर्दन करने वाले थे, भव्य जीवों में श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान प्रधान थे, तेज से देदीप्यमान थे, बल, वीर्य, रूप, यौवन, गुण और लावण्य का कीर्त्तन करने वाली उस धाय ने कीर्त्तन किया। और फिर उग्रसेन आदि यादवों का वर्णन किया, तदनन्तर कहा—'ये यादव सौभाग्य और रूप से सुशोभित हैं और श्रेष्ठ पुरुषों में गंधहस्ती के समान हैं। इनमें से कोई तेरे हृदय को वल्लभ-प्रिय हो तो उसे वरण कर।

पाण्डवों का वरण

१२४—तए णं सा दोवई रायवरकन्नगा बहूणं रायवरसहस्साणं मज्झंमज्झेणं समतिच्छमाणी समतिच्छमाणी पुव्वकयनियाणेणं चोइज्जमाणी चोइज्जमाणी जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ते पंच पंडवे तेणं दसद्धवण्णेणं कुसुमदामेणं आवेढियपरिवेढियं करेइ, करित्ता एवं वयासी—'एए णं मए पंच पंडवा वरिया।'

तत्पश्चात् राजवरकन्या द्रौपदी अनेक सहस्र श्रेष्ठ राजाओं के मध्य में होकर, उनका अतिक्रमण करती-करती, पूर्वकृत निदान से प्रेरित होती-होती, जहाँ पाँच पाण्डव थे, वहाँ आई। वहाँ आकर उसने, उन पाँचों पाण्डवों को, पँचरंगे कुसुमदाम-फूलों की माला-श्रीदामकाण्ड-से चारों तरफ से वेष्टित कर दिया। वेष्टित करके कहा—'मैंने इन पाँचों पाण्डवों का वरण किया।'

१२५—तए णं तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं बहूणि रायसहस्साणि महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयंति—'सुवरियं खलु भो! दोवईए रायवरकन्नाए' त्ति कट्टु सयंवरमंडवाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सया सया आवासा तेणेव उवागच्छंति।

तत्पश्चात् उन वासुदेव प्रभृति अनेक सहस्र राजाओं ने ऊँचे-ऊँचे शब्दों से बार-बार उद्घोषणा करते हुए कहा—'अहो! राजवरकन्या द्रौपदी ने अच्छा वरण किया!' इस प्रकार कह कर वे स्वयंवर मण्डप से बाहर निकले। निकल कर अपने-अपने आवासों में चले गये।

१२६—तए णं धट्ठज्जुण्णे कुमारे पंच पंडवे दोवइं रायवरकण्णं चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, दुरूहित्ता कंपिल्लपुरं मज्झंमज्झेणं जाव सयं भवणं अणुपविसइ।

तत्पश्चात् धृष्टद्युम्न कुमार ने पांचों पाण्डवों को और राजवरकन्या द्रौपदी को चार घंटाओं वाले अश्वरथ पर आरूढ किया और कांपिल्यपुर के मध्य में होकर यावत् अपने भवन में प्रवेश किया।

विवाह-विधि

१२७—तए णं दुवए राया पंच पंडवे दोवइं रायवरकण्णं पट्टयं दुरूहेइ, दुरूहित्ता सेयापीएहिं कलसेहिं मज्जावेइ, मज्जावित्ता अग्गिहोमं करावेइ, पंचण्हं पंडवाणं दोवईए य पाणिग्गहणं करावेइ।

तत्पश्चात् द्रुपद्र राजा ने पाँचों पाण्डवों को तथा राजवरकन्या द्रौपदी को पट्ट पर आसीन किया। आसीन करके श्वेत और पीत अर्थात् चांदी और सोने के कलशों से स्नान कराया। स्नान करवा कर अग्निहोम करवाया। फिर पाँचों पाण्डवों का द्रौपदी के साथ पाणिग्रहण कराया।

१२८—तए णं से दुवए राया दोवईए रायवरकण्णयाए इमं एयारूवं पीइदाणं दलयइ, तंजहा—अट्ठ हिरण्णकोडीओ जाव[1] अट्ठ पेसणकारीओ दासचेडीओ, अण्णं च विपुलं धणकणग जाव [रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-सन्त-सार-सावएज्जं अलाहि जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं, पकामं भोत्तुं, पकामं परिभाएउं] दलयइ।

तए णं से दुवए राया ताइं वासुदेवपामोक्खाइं विपुलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पुप्फवत्थ-गंध जाव [मल्लालंकारेणं सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता] पडिविसज्जइ।

तत्पश्चात् द्रुपद राजा ने राजवरकन्या द्रौपदी को इस प्रकार का प्रीतिदान (दहेज) दिया—आठ करोड़ हिरण्य आदि यावत् आठ प्रेषणकारिणी (इधर-उधर जाने-आने का काम करने वाली) दास-चेटियां। इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-सा धन-कनक यावत् [रजत, मणि, मोती, शंख, सिला प्रवाल, लाल, उत्तम सारभूत द्रव्य जो सात पीढी तक प्रचुर मात्रा में देने, भोगने और विभाजित करने के लिए पर्याप्त था] प्रदान किया।

तत्पश्चात् द्रुपद राजा ने उन वासुदेव प्रभृति राजाओं को विपुल अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम तथा पुष्प, वस्त्र, गंध, माला और अलंकार आदि से सत्कार करके विदा किया।

पाण्डुराजा द्वारा निमंत्रण

१२९—तए णं से पंडू राया तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं करयल जाव एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरे नयरे पंचण्हं पंडवाणं दोवईए य देवीए कल्लाणकरे भविस्सइ, तं तुब्भे णं देवाणप्पिया! ममं अणुगिण्हमाणा अकालपरिहीणं समोसरह।

तत्पश्चात् पाण्डु राजा ने उन वासुदेव प्रभृति अनेक सहस्र राजाओं से हाथ जोड़कर यावत् इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो! हस्तिनापुर नगर में पांच पाण्डवों और द्रौपदी देवी का कल्याणकरण महोत्सव (मांगलिक क्रिया) होगा। अतएव देवानुप्रियो! तुम सब मुझ पर अनुग्रह करके यथासमय विलंब किये बिना पधारना।'

१३०—तए णं वासुदेवपामोक्खा पत्तेयं पत्तेयं जाव जेणेव हत्थिणाउरे नयरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

१. अ. १ सूत्र १०५

तत्पश्चात् वे वासुदेव आदि नृपतिगण अलग-अलग यावत् हस्तिनापुर की ओर गमन करने के लिए उद्यत हुए।

१३१—तए णं पंडुराया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरे पंचण्हं पंडवाणं पंच पासायवडिंसए कारेह, अब्भुग्गयमूसिय वण्णओ जाव[1] पडिरूवे।

तत्पश्चात् पाण्डु राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर इस प्रकार आदेश दिया—'देवानुप्रियो! तुम जाओ और हस्तिनापुर में पाँच पाण्डवों के लिए पांच उत्तम प्रासाद बनवाओ, वे प्रासाद खूब ऊँचे हों और सात भूमि (मंजिल) के हों इत्यादि वर्णन यहां पूर्ववत् कहना चाहिए, यावत् वे अत्यन्त मनोहर हों।

१३२—तए णं ते कोडुंबियपुरिसा पडिसुणेंति जाव करावेंति। तए णं से पंडुए पंचहिं पंडवेहिं दोवईए देवीए सद्धिं हयगयसंपरिवुडे कंपिल्लपुराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव हत्थिणाउरे तेणेव उवागए।

तब कौटुम्बिक पुरुषों ने यह आदेश अंगीकार किया, यावत् उसी प्रकार के प्रासाद बनवाये। तब पाण्डु राजा पाँचों पाण्डवों और द्रौपदी देवी के साथ अश्वसेना, गजसेना आदि से परिवृत होकर कांपिल्यपुर नगर से निकल कर जहाँ हस्तिनापुर था, वहाँ आ पहुंचा।

१३३—तए णं पंडुराया तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं आगमणं जाणित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरस्स नयरस्स बहिया वासुदेव-पामोक्खाणं बहूणं रायसहस्साणं आवासे कारेह अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे' तहेव जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् पाण्डु राजा ने उन वासुदेव आदि राजाओं का आगमन जान कर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनसे कहा—'देवानुप्रियो! तुम जाओ और हस्तिनापुर नगर के बाहर वासुदेव आदि बहुत हजार राजाओं के लिए आवास तैयार कराओ जो अनेक सैकड़ों स्तंभों आदि से युक्त हों इत्यादि पूर्ववत् कह लेना चाहिए। कौटुम्बिक पुरुष उसी प्रकार आज्ञा का पालन करके यावत् आज्ञा वापिस करते हैं।

१३४—तए णं ते वासुदेवपामोक्खा बहवे रायसहस्सा जेणेव हत्थिणाउरे नयरे तेणेव उवागच्छंति।

तए णं से पंडुराया तेसिं वासुदेवपामोक्खाणं आगमणं जाणित्ता हट्ठतुट्ठे ण्हाए कयबलिकम्मे जहा दुपए जाव जहारिहं आवासे दलयइ।

तए णं ते वासुदेवपामुक्खा बहवे रायसहस्सा जेणेव सयाइं सयाइं आवासाइं तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तहेव जाव विहरंति।

तत्पश्चात् वे वासुदेव वगैरह हजारों राजा हस्तिनापुर नगर में आये।

१. अ. १ सूत्र १०३

तब पाण्डु राजा उन वासुदेव आदि राजाओं का आगमन जान कर हर्षित और संतुष्ट हुआ। उसने स्नान किया बलिकर्म किया और द्रुपद राजा के समान उनके सामने जाकर सत्कार किया, यावत् उन्हें यथायोग्य आवास प्रदान किए।

तब वे वासुदेव आदि हजारों राजा जहाँ अपने-अपने आवास थे, वहाँ गये और उसी प्रकार (पहले कहे अनुसार संगीत-नाटक आदि से मनोविनोद करते हुए) यावत् विचरने लगे।

१३५—तए णं से पंडुराया हत्थिणाउरं नयरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं' तहेव जाव उवणेंति।

तए णं वासुदेवपामोक्खा बहवे राया ण्हाया कयबलिकम्मा तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं तहेव जाव विहरंति।

तत्पश्चात् पाण्डु राजा ने हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया। प्रवेश करके कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और कहा—'हे देवानुप्रियो ! तुम विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तैयार कराओ।' उन कौटुम्बिक पुरुषों ने उसी प्रकार किया यावत् वे भोजन तैयार करवा कर ले गये। तब उन वासुदेव आदि बहुत-से राजाओं ने स्नान एवं बलिकार्य करके उस विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम का आहार किया और उसी प्रकार (पहले कहे अनुसार) विचरने लगे।

हस्तिनापुर में कल्याणकरण

१३६—तए णं से पंडुराया पंच पंडवे दोवइं च देविं पट्टयं दुरूहेइ, दुरूहित्ता सेयापीएहिं कलसेहिं ण्हावेंति, ण्हावित्ता कल्लाणकरं करेइ, करित्ता ते वासुदेवपामोक्खे बहवे रायसहस्से विपुलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पुप्फवत्थेणं सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता जाव पडिविसज्जेइ। तए णं ते वासुदेवपामोक्खा जाव [बहवे रायसहस्सा पंडुएणं रण्णा विसज्जिया समाणा जेणेव साइं साइं रज्जाइं जेणेव साइं साइं नयराइं तेणेव] पडिगया।

तत्पश्चात् पाण्डु राजा ने पाँच पाण्डवों को तथा द्रौपदी को पाट पर बिठलाया। बिठला कर श्वेत और पीत कलशों से उनका अभिषेक किया—उन्हें नहलाया। फिर कल्याणकर उत्सव किया। उत्सव करके उन वासुदेव आदि बहुत हजार राजाओं का विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम से तथा पुष्पों और वस्त्रों से सत्कार किया, सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके यावत् उन्हें विदा किया। तब वे वासुदेव वगैरह बहुत से राजा यावत् अपने-अपने राज्यों एवं नगरों को लौट गए।

१३७—तए णं ते पंच पंडवा दोवईए देवीए सद्धिं अंतो[1] अंतेउरपरियालसद्धिं कल्लाकल्लिं वारंवारेणं ओरालाइं भोगभोगाइं जाव [भुंजमाणा] विहरंति।

तत्पश्चात् पाँच पाण्डव द्रौपदी देवी के साथ अन्तःपुर के परिवार सहित, एक-एक दिन, बारी-बारी के अनुसार उदार कामभोग भोगते हुए यावत् रहने लगे।

१. अ. १ सूत्र १०७

१३८—तए णं से पंडुराया अन्नया कयाई पंचहिं पंडवेहिं कोंतीए देवीए दोवईए देवीए य सद्धिं अंतो अंतेउरपरियाल सद्धिं संपरिवुडे सीहासणवरगए यावि होत्था।

पाण्डु राजा एक बार किसी समय पाँच पाण्डवों, कुन्ती देवी और द्रौपदी देवी के साथ तथा अन्तःपुर के अन्दर के परिवार के साथ परिवृत होकर श्रेष्ठ सिंहासन पर आसीन थे।

नारद का आगमन

१३९—इमं च णं कच्छुल्लणारए दंसणेणं अइभद्दए विणीए अंतो अंतो य कलुसहियए मज्झत्थोवत्थिए य अल्लीण-सोम-पिय-दंसणे सुरूवे अमइलसगलपरिहिए कालमियचम्म-उत्तरासंग-रइयवत्थे दंडकमंडलुहत्थे जडामउडदित्तसिरए जन्नोवइय-गणेत्तिय-मुंजमेहल-वागलधरे हत्थकय-कच्छभीए पियगंधव्वे धरणिगोयरप्पहाणे संवरणावरणिओवयणउप्पयणि-लेसणीसु य संकामणि-अभिओगि-पण्णत्ति-गमणी-थंभीसु य बहुसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुन्न-पईव-संब-अनिरुद्ध-निसढ-उम्मुय-सारण-गय-सुमुह-दुम्मुहाईण जायवाणं अद्धुट्ठाण कुमारकोडीणं हिययदइए संथवए कलह-जुद्ध-कोलाहलप्पिए भंडणाभिलासी बहुसु य समरेसु य संपराएसु य दंसणरए समंतओ कलहं सदक्खिणं अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसारवरवीरपुरिसति-लोक्कबलवगाणं आमंतेऊण तं भगवतिं पक्कमणिं गगण-गमण-दच्छं उप्पइओ गगणमभिलंघयंतो गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टण-संवाह-सहस्समंडियं थिमियमेइणीतलं निब्भरजणपदं वसुहं ओलोइंतो रम्मं हत्थिणाउरं उवागए पंडुरायभवणंसि अइवेगेण समोवइए।

इधर कच्छुल्लनामक नारद वहाँ आ पहुँचे। वे देखने में अत्यन्त भद्र और विनीत जान पड़ते थे, परन्तु भीतर से केलिप्रिय होने के कारण उनका हृदय कलुषित था। ब्रह्मचर्यव्रत के धारक होने से वे मध्यस्थता को प्राप्त थे। आश्रित जनों को उनका दर्शन प्रिय लगता था। उनका रूप मनोहर था। उन्होंने उज्ज्वल एवं सकल (अखंड अथवा शकल अर्थात् वस्त्रखंड) पहन रखा था। काला मृगचर्म उत्तरासंग के रूप में वक्षस्थल में धारण किया था। हाथ में दंड और कमण्डलु था। जटा रूपी मुकुट से उनका मस्तक शोभायमान था। उन्होंने यज्ञोपवीत एवं रुद्राक्ष की माला के आभरण, मूंज की कटिमेखला और वल्कल वस्त्र धारण किए थे। उनके हाथ में कच्छपी नामकी वीणा थी। उन्हें संगीत से प्रीति थी। आकाश में गमन करने की शक्ति होने से वे पृथ्वी पर बहुत कम गमन करते थे। संचरणी (चलने की), आवरणी (ढँकने की), अवतरणी (नीचे उतरने की), उत्पतनी (ऊँचे उड़ने की), श्लेषणी (चिपट जाने की), संक्रामणी (दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की), अभियोगिनी (सोना चांदी आदि बनाने की), प्रज्ञप्ति (परोक्ष वृत्तान्त को बतला देने की), गमनी (दुर्गम स्थान में भी जा सकने की) और स्तंभिनी (स्तब्ध कर देने की), आदि बहुत-सी विद्याधरों संबंधी विद्याओं में प्रवीण होने से उनकी कीर्त्ति फैली हुई थी। वे बलदेव और वासुदेव के प्रेमपात्र थे। प्रद्युम्न, प्रदीप, सांब, अनिरुद्ध, निषध, उन्मुख, सारण, गजसुकुमाल, सुमुख और दुर्मुख आदि यादवों के साढ़े तीन कोटि कुमारों के हृदय के प्रिय थे और उनके द्वारा प्रशंसनीय थे। कलह (वाग्युद्ध) युद्ध (शस्त्रों का समर) और कोलाहल उन्हें प्रिय था। वे भांड के समान वचन बोलने के अभिलाषी थे। अनेक समर और सम्पराय (युद्ध विशेष) देखने के रसिया थे। चारों ओर दक्षिणा देकर (दान देकर) भी कलह की खोज किया करते थे, अर्थात् कलह कराने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। कलह कराकर दूसरों के

चित्त में असमाधि उत्पन्न करते थे। ऐसे वह नारद तीन लोक में बलवान् श्रेष्ठ दसारवंश के वीर पुरुषों से वार्त्तालाप करके, उस भगवती (पूज्य) प्राकाम्यनामक विद्या का, जिसके प्रभाव से आकाश में गमन किया जा सकता था, स्मरण करके उड़े और आकाश को लांघते हुए हजारों ग्राम, आकर (खान) नगर, खेट, कर्वट, मडंव, द्रोणमुख, पट्टन और संवाध से शोभित और भरपूर देशों से व्याप्त पृथ्वी का अवलोकन करते-करते रमणीय हस्तिनापुर में आये और बड़े वेग के साथ पाण्डु राजा के महल में उतरे।

१४०—तए णं से पंडुराया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता पंचहिं पंडवेहिं कुंतीए य देवीए सद्धिं आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता कच्छुल्लनारयं सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्गच्छइ, पच्चुग्गच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता महरिहेणं आसणेणं उवणिमंतेइ।

उस समय पाण्डु राजा ने कच्छुल्ल नारद को आता देखा। देख कर पाँच पाण्डवों तथा कुन्ती देवी सहित वे आसन से उठ खड़े हुए। खड़े होकर सात-आठ पैर कच्छुल्ल नारद के सामने गये। सामने जाकर तीन वार दक्षिण दिशा से आरंभ करके प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वंदन किया, नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके महान् पुरुष के योग्य अथवा बहुमूल्य आसन ग्रहण करने के लिए आमंत्रण किया।

१४१—तए णं से कच्छुल्लनारए उदगपरिफोसियाए दब्भोवरिपच्चत्थुयाए भिसियाए णिसीयइ, णिसीइत्ता पंडुरायं रज्जे जाव [य रट्ठे य कोसे य कोट्ठागारे य बले य वाहणे य पुरे य] अंतेउरे य कुसलोदंतं पुच्छइ।

तए णं से पंडुराया कोंती देवी पंच य पंडवा कच्छुल्लणारयं आढायंति-जाव [परियाणंति अब्भुट्ठेंति] पज्जुवासंति।

तत्पश्चात् उन कच्छुल्ल नारद ने जल छिड़ककर और दर्भ बिछाकर उस पर अपना आसन बिछाया और वे उस पर बैठे। बैठ कर पाण्डु राजा, राज्य यावत् [राष्ट्र, कोष, कोठार, बल, वाहन नगर और] अन्तःपुर के कुशल-समाचार पूछे। उस समय पाण्डु राजा ने, कुन्ती देवी ने और पांचों पाण्डवों ने कच्छुल्ल नारद का खड़े होकर आदर-सत्कार किया। उनकी पर्युपासना की।

१४२—तए णं सा दोवई देवी कच्छुल्लनारयं अस्संजयं अविरयं अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं ति कट्टु नो आढाइ, नो परियाणाइ, नो अब्भुट्ठेइ, नो पज्जुवासइ।

किन्तु द्रौपदी देवी ने कच्छुल्ल नारद को असंयमी, अविरत तथा पूर्वकृत पाप कर्म का निन्दादि द्वारा नाश न करने वाला तथा आगे के पापों का प्रत्याख्यान न करने वाला जान कर उनका आदर नहीं किया, उनके आगमन का अनुमोदन नहीं किया, उनके आने पर वह खड़ी नहीं हुई। उसने उनकी उपासना भी नहीं की।

द्रौपदी पर नारद का रोष

१४३—तए णं तस्स कच्छुल्लणारयस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे

समुप्पज्जित्था—'अहो णं दोवई देवी रूवेणं जाव [जोव्वणेण य] लावण्णेण य पंचहिं पंडवेहिं अणुबद्धा समाणी ममं नो आढाइ, जाव नो पज्जुवासइ, तं सेयं खलु मम दोवईए देवीए विप्पियं करित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता पंडुयरायं आपुच्छइ, आपुच्छित्ता उप्पयणिं विज्जं आवाहेइ, आवाहित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव विज्जाहरगईए लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं पुरत्थाभिमुहे वीइवइउं पयत्ते यावि होत्था।

तब कच्छुल्ल नारद को इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तित (विचार) प्रार्थित (इष्ट), मनोगत (मन में स्थित) संकल्प उत्पन्न हुआ कि 'अहो ! यह द्रौपदी देवी अपने रूप यौवन, लावण्य और पांच पाण्डवों के कारण अभिमानिनी हो गई है, अतएव मेरा आदर नहीं करती यावत् मेरी उपासना नहीं करती। अतएव द्रौपदी देवी का अनिष्ट करना मेरे लिए उचित है।' इस प्रकार नारद ने विचार किया। विचार करके पाण्डु राजा से जाने की आज्ञा ली। फिर उत्पतनी (उड़ने की) विद्या का आह्वान किया। आह्वान करके उस उत्कृष्ट यावत् विद्याधर योग्य गति से, लवण समुद्र के मध्यभाग में होकर, पूर्व दिशा के सन्मुख, चलने के लिए प्रयत्नशील हुए।

नारद का अमरकंका-गमन—जाल रचना

१४४—तेणं कालेणं तेणं समएणं धायइसंडे दीवे पुरत्थिमद्धदाहिणड्ढभरहवासे अमरकंका नामं रायहाणी होत्था। तत्थ णं अमरकंकाए रायहाणीए पउमणाभे णामं राया होत्था, महया हिमवंत वण्णओ। तस्स णं पउमणाभस्स रण्णो सत्त देवीसयाइं ओरोहे होत्था। तस्स णं पउमणाभस्स रण्णो सुनाभे नामं पुत्ते जुवराया यावि होत्था। तए णं से पउमनाभे राया अंतो अंतेउरंसि ओरोहसंपरिवुडे सिंहासणवरगए विहरइ।

उस काल और उस समय में धातकीखण्डनामक द्वीप में, पूर्व[1] दिशा की तरफ क दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र में अमरकंकानामक राजधानी थी। उस अमरकंका राजधानी में पद्मनाभनामक राजा था। वह महान् हिमवन्त पर्वत के समान सार वाला था, इत्यादि वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार समझना चाहिए। उस पद्मनाभ राजा के अन्तःपुर में सात सौ रानियाँ थीं। उनके पुत्र का नाम सुनाभ था। वह युवराज भी था। (जिस समय का यह वर्णन है) उस समय पद्मनाभ राजा अन्तःपुर में रानियों के साथ उत्तम सिंहासन पर बैठा था।

१४५—तए णं से कच्छुल्लणारए जेणेव अमरकंका रायहाणी, जेणेव पउमनाभस्स भवणे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पउमनाभस्स रन्नो भवणंसि झत्ति वेगेणं समोवइए।

तए णं से पउमणाभे राया कच्छुल्लं नारयं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता आसणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता अग्घेणं जाव[2] आसणेणं उवणिमंतेइ।

तत्पश्चात् कच्छुल्ल नारद जहाँ अमरकंका राजधानी थी और जहाँ राजा पद्मनाभ का भवन था, वहाँ आये। आकर पद्मनाभ राजा के भवन में, वेगपूर्वक शीघ्रता के साथ उतरे।

१. धातकीखण्ड द्वीप में भरत आदि सभी क्षेत्र दो-दो की संख्या में हैं। उनमें से पूर्व दिशा के भरतक्षेत्र के दक्षिण भाग में अमरकंका राजधानी थी।

२. अ. १६ सूत्र. १४०।

उस समय पद्मनाभ राजा ने कच्छुल्ल नारद को आता देखा। देखकर वह आसन से उठा। उठ कर [सात-आठ कदम सामने गया, तीन वार प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया] अर्घ्य से उनकी पूजा की यावत् आसन पर वैठने के लिए उन्हें आमंत्रित किया।

१४६—तए णं से कच्छुल्लणारए उदयपरिफोसियाए दब्भोवरिपच्चत्थुयाए भिसियाए निसीयइ, जाव[1] कुसलोदंतं आपुच्छइ।

तत्पश्चात् कच्छुल्ल नारद ने जल से छिड़काव किया, फिर दर्भ विछा कर उस पर आसन विछाया और फिर वे उस आसन पर वैठे। वैठने के वाद यावत् कुशल-समाचार पूछे।

१४७—तए णं से पउमनाभे राया णियगओरोहे जायविम्हए कच्छुल्लणारयं एवं वयासी—'तुब्भं देवाणुप्पिया! वहूणि गामाणि जाव गेहाइं अणुपविससि, तं अत्थि याइं ते कहिंचि देवाणुप्पिया! एरिसए ओरोहे दिट्ठपुव्वे जारिसए णं मम ओरोहे?'

इसके वाद पद्मनाभ राजा ने अपनी रानियों (के सौन्दर्य आदि) में विस्मित होकर कच्छुल्ल नारद से प्रश्न किया—'देवानुप्रिय! आप वहुत-से ग्रामों यावत् गृहों में प्रवेश करते हो, तो देवानुप्रिय! जैसा मेरा अन्तःपुर है, वैसा अन्तःपुर आपने पहले कभी कहीं देखा है?'

१४८—तए णं से कच्छुल्लनारए पउमनाभेणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे ईसिं विहसियं करेइ, करित्ता एवं वयासी—'सरिसे णं तुमं पउमणाभा! तस्स अगडदद्दुरस्स।'

'के णं देवाणुप्पिया! से अगडदद्दुरे?'

एवं जहा मल्लिणाए।

एवं खलु देवाणुप्पिया! जंवुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे दुपयस्स रण्णो धूया, चुलणीए देवीए अत्तया, पंडुस्स सुण्हा पंचण्हं पंडवाणं भारिया दोवई देवी रूवेण य जाव उक्किट्ठसरीरा। दोवईए णं देवीए छिन्नस्स वि पायंगुट्ठयस्स अयं तव ओरोहे सइमं पि कलं ण अग्घइ त्ति कट्टु पउमणाभं आपुच्छइ, आपुच्छित्ता जाव पडिगए।

तत्पश्चात् राजा पद्मनाभ के इस प्रकार कहने पर कच्छुल्ल नारद थोड़ा मुस्कराए। मुस्करा कर वोले—'पद्मनाभ! तुम कुए के उस मेंढक के सदृश हो।'

(पद्मनाभ ने पूछा) देवानुप्रिय! कौन-सा वह कुए का मेंढक?'

जैसा मल्ली ज्ञात (अध्ययन) में कहा है वही यहाँ कहना चाहिए।[2]

(फिर वोले) 'देवानुप्रिय! जम्बू द्वीप में, भरतवर्ष में, हस्तिनापुर नगर में द्रुपद राजा की पुत्री, चुलनी देवी की आत्मजा पाण्डु राजा की पुत्रवधू और पाँच पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी देवी रूप से यावत् लावण्य से उत्कृष्ट है, उत्कृष्ट शरीर वाली है। तुम्हारा यह सारा अन्तःपुर द्रौपदी देवी के कटे हुए पैर के अंगूठे की सौवीं कला (अंश) की भी वरावरी नहीं कर सकता।' इस प्रकार कह कर नारद ने पद्मनाभ से जाने की अनुमति ली। अनुमति पाकर वह यावत् (तीव्र गति से) चल दिये।

१. अ. १६, सूत्र १४१. २. देखिए पृ. २५७

पद्मनाभ की दुर्लालसा

१४९—तए णं से पउमनाभे राया कच्छुल्लनारयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म दोवईए देवीए रूवे य जोव्वणे य लावण्णे य मुच्छिए गढिए लुद्धे (गिद्धे) अज्झोववन्ने जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोसहसालं जाव [अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता पुव्वसंगइयं देवं मणसीकरेमाणे-मणसीकरेमाणे चिट्ठइ।

'तए णं पउमनाभस्स रण्णो अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि पुव्वसंगइओ देवो जाव आगओ।

'भणंतु णं देवाणुप्पिया! जं मए कायव्वं।'

तए णं पउमणाभे]

पुव्वसंगतियं देवं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे नयरे जाव उक्किट्ठसरीरा, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! दोवइं देविं इहमाणियं[1]।'

तत्पश्चात् पद्मनाभ राजा, कच्छुल्ल नारद से यह अर्थ सुन कर और समझ कर द्रौपदी देवी के रूप, यौवन और लावण्य में मुग्ध हो गया, गृद्ध हो गया, लुब्ध हो गया और (उसे पाने के लिए) आग्रहवान् हो गया। वह पौषधशाला में पहुँचा। पौषधशाला को [पूंज कर, अपने पूर्व के साथी देव का मन में ध्यान करके, तेला करके बैठ गया। उसका अष्टमभक्त जब पूरा होने आया तो वह पूर्वभव का साथी देव आया।

उसने कहा—'देवानुप्रिय! कहो, मुझे क्या करना है?'

तब राजा पद्मनाभ ने] उस पहले के साथी देव से कहा—'देवानुप्रिय! जम्बूद्वीपनामक द्वीप में, भारत वर्ष में, हस्तिनापुर नगर में, यावत् द्रौपदी देवी उत्कृष्ट शरीर वाली है। देवानुप्रिय! मैं चाहता हूँ कि द्रौपदी देवी यहाँ ले आई जाय।'

१५०—तए णं पुव्वसंगतिए देवे पउमनाभं एवं वयासी—'नो खलु देवाणुप्पिया! एयं भूयं, भव्वं वा, भविस्सं वा, जं णं दोवई देवी पंच पंडवे मोत्तूण अन्नेणं पुरिसेणं सद्धिं ओरालाइं जाव [माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी] विहरिस्सइ, तहावि य णं अहं तव पियट्ठयाए दोवइं देविं इहं हव्वमाणेमि' त्ति कट्टु पउमणाभं आपुच्छइ, आपुच्छित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव देवगईए लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं जेणेव हत्थिणाउरे णयरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

तत्पश्चात् पूर्वसंगतिक (पहले के साथी) देव ने पद्मनाभ से कहा—'देवानुप्रिय! यह कभी हुआ नहीं, होता नहीं और होगा भी नहीं कि द्रौपदी देवी पाँच पाण्डवों को छोड़कर दूसरे पुरुष के साथ मानवीय उदार काम भोग भोगती हुई विचरेगी। तथापि मैं तुम्हारा प्रिय (इष्ट) करने के लिए द्रौपदी देवी को अभी यहाँ ले आता हूँ।' इस प्रकार कह कर देव ने पद्मनाभ से पूछा। पूछ कर वह उत्कृष्ट देव-गति से लवणसमुद्र के मध्य में होकर जिधर हस्तिनापुर नगर था, उधर ही गमन करने के लिए उद्यत हुआ।

द्रौपदी-हरण

१५१—तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिणाउरे जुहिट्ठिले राया दोवईए देवीए सद्धिं आगासतलंसि सुहपसुत्ते यावि होत्था।

१. पाठान्तर—'हव्वमाणियं'।

उस काल और उस समय में, हस्तिनापुर नगर में युधिष्ठिर राजा द्रौपदी देवी के साथ महल की छत पर सुख से सोया हुआ था।

१५२—तए णं से पुव्वसंगतिए देवे जेणेव जुहिट्ठिले राया, जेणेव दोवई देवी, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता दोवईए देवीए ओसोवणियं दलयइ, दलइत्ता दोवइं देविं गिण्हइ, गिण्हित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव देवगईए जेणेव अमरकंका, जेणेव पउमणाभस्स भवणे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पउमणाभस्स भवणंसि असोगवणियाए दोवइं देविं ठावेइ, ठावित्ता ओसोवणिं अवहरइ, अवहरित्ता जेणेव पउमणाभे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एवं वयासी—'एस णं देवाणुप्पिया! मए हत्थिणाउराओ दोवई देवी इह हव्वमाणीया, तव असोगवणियाए चिट्ठइ, अतो परं तुमं जाणसि' त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

उस समय वह पूर्वसंगतिक देव जहाँ राजा युधिष्ठिर था और जहाँ द्रौपदी देवी थी, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर उसने द्रौपदी देवी को अवस्वापिनी निद्रा दी—अवस्वापिनी विद्या से निद्रा में सुला दिया। द्रौपदी देवी को ग्रहण करके, देवोचित उत्कृष्ट गति से अमरकंका राजधानी में पद्मनाभ के भवन में आ पहुँचा। आकर पद्मनाभ के भवन में, अशोक वाटिका में, द्रौपदी देवी को रख दिया। रख कर अवस्वापिनी विद्या का संहरण किया। संहरण करके जहाँ पद्मनाभ था, वहां आया। आकर इस प्रकार बोला—'देवानुप्रिय! मैं हस्तिनापुर से द्रौपदी देवी को शीघ्र ही यहाँ ले आया हूँ। वह तुम्हारी अशोक वाटिका में है। इससे आगे तुम जानो।' इतना कह कर वह देव जिस ओर से आया था उसी ओर लौट गया।

विवेचन—प्रस्तुत आगम में तथा अन्य अन्य कथानकप्रधान आगमों में भी जहाँ गति की तीव्रता प्रदर्शित करना अभीष्ट होता है, वहाँ गति के साथ कोई न कोई विशेषण लगाया गया है। यहाँ 'उक्किट्ठाए देवगईए' में 'देव' यह विशेषण है। इसका अभिप्राय यह है कि तीव्र और मन्द, ये शब्द सापेक्ष हैं। इन शब्दों से किसी नियत अर्थ का बोध नहीं होता। एक बालक अथवा अतिशय वृद्ध की अपेक्षा जो गति तीव्र कही जा सकती है, वही एक बलवान् युवा की अपेक्षा मन्द भी हो सकती है। साइकिल की तीव्र गति मोटर की अपेक्षा मंद है और वायुयान की अपेक्षा मोटर की गति मन्द है। अतएव तीव्रता की विशेषता दिखलाने के लिए ही यहां 'उत्कृष्ट देवगति से' ऐसा कहा गया है। तात्पर्य यह है कि यहां देवगति की अपेक्षा से ही तीव्रता समझना चाहिए, मेंढक या मनुष्यादि की अपेक्षा से नहीं। अन्यत्र भी यही आशय समझना चाहिए।

१५३—तए णं सा दोवई देवी तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धा समाणी तं भवणं असोगवणियं च अपच्चभिजाणमाणी एवं वयासी—नो खलु अम्हं एस सए भवणे, णो खलु एसा अम्हं सगा असोगवणिया, तं ण णज्जइ णं अहं केणई देवेण वा, दाणवेण वा, किंपुरिसेण वा, किन्नरेण वा, महोरगेण वा, गंधव्वेण वा, अन्नस्स रण्णो असोगवणियं साहरिय' त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पा जाव झियायइ।

तत्पश्चात् थोड़ी देर में जब द्रौपदी देवी की निद्रा भंग हुई तो वह उस अशोक वाटिका को पहचान न सकी। तब मन ही मन कहने लगी—'यह भवन मेरा अपना नहीं है, वह अशोक

वाटिका मेरी अपनी नहीं है। न जाने किसी देव ने, दानव ने, किंपुरुष ने, किन्नर ने, महोरग ने, या गंधर्व ने किसी दूसरे राजा की अशोकवाटिका में मेरा संहरण किया है।' इस प्रकार विचार करके वह भग्न-मनोरथ होकर यावत् चिन्ता करने लगी।

पद्मनाभ का द्रौपदी को भोग-आमंत्रण

१५४—तए णं से पउमणाभे राया ण्हाए जाव सव्वालंकारविभूसिए अंतेउरपरियालसंपरिवुडे जेणेव असोगवणिया, जेणेव दोवई देवी, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता दोवइं देविं ओहयमणसंकप्पं जाव झियायमाणिं पासइ, पासित्ता एवं वयासी—'किं णं तुणं देवाणुप्पिए! ओहयमणसंकप्पा जाव झियाहि? एवं खलु तुमं देवाणुप्पिए! मम पुव्वसंगतिएणं देवेणं जंबुद्दीवाओ दीवाओ, भारहाओ वासाओ, हत्थिणाउराओ नयराओ, जुहिट्ठिलस्स रण्णो भवणाओ साहरिया, तं मा णं तुमं देवाणुप्पिए! ओहयमणसंकप्पा जाव झियाहि। तुमं मए सद्धिं विपुलाइं भोगभोगाइं जाव [भुंजमाणी] विहराहि।'

तदनन्तर राजा पद्मनाभ स्नान करके, यावत् सब अलंकारों से विभूपित होकर तथा अन्तःपुर के परिवार से परिवृत होकर, जहाँ अशोकवाटिका थी और जहाँ द्रौपदी देवी थी, वहाँ आया। आकर उसने द्रौपदी देवी को भग्नमनोरथ एवं चिन्ता करती देख कर कहा—'देवानुप्रिये! तुम भग्नमनोरथ होकर चिन्ता क्यों कर रही हो? देवानुप्रिये! मेरा पूर्वसांगतिक देव जम्बूद्वीप से, भारतवर्ष से, हस्तिनापुर नगर से और युधिष्ठिर राजा के भवन से संहरण करके तुम्हें यहाँ ले आया है। अतएव देवानुप्रिये! तुम हतमनःसंकल्प होकर चिन्ता मत करो। तुम मेरे साथ विपुल भोगने योग्य भोग भोगती हुई रहो।

१५५—तए णं सा दोवई देवी पउमणाभं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वारवईए नयरीए कण्हे णामं वासुदेवे मम पियभाउए परिवसइ, तं जइ णं से छण्हं मासाणं ममं कूवं नो हव्वमागच्छइ तए णं अहं देवाणुप्पिया! जं तुमं वदसि तस्स आणा-ओवाय-वयण-णिद्देसे चिट्ठिस्सामि।'

तब द्रौपदी देवी ने पद्मनाभ से इस इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय! जम्बूद्वीप में, भारत वर्ष में द्वारवती नगरी में कृष्णनामक वासुदेव मेरे स्वामी के भ्राता रहते हैं। सो यदि छह महीनों तक वे मुझे छुड़ाने—सहायता करने या वापिस ले जाने के लिए यहाँ नहीं आएँगे तो मैं, हे देवानुप्रिय! तुम्हारी आज्ञा, उपाय, वचन और निर्देश में रहूँगी, अर्थात् आप जो कहेंगे, वही करूँगी।'

१५६—तए णं से पउमे राया दोवईए एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता दोवइं देविं कण्णंतेउरे ठवेइ। तए णं सा दोवई देवी छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणी विहरइ।

तब पद्मनाभ राजा ने द्रौपदी का कथन अंगीकार किया। अंगीकार करके द्रौपदी देवी को कन्याओं के अन्तःपुर में रख दिया। तत्पश्चात् द्रौपदी देवी निरन्तर षष्ठभक्त और पारणा में आयंबिल के तपःकर्म से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी।

विवेचन—द्रौपदी, छह महीने तक श्री कृष्ण यदि लेने न आएँ तो पद्मनाभ की आज्ञा मान्य करने की तैयारी बतलाती है। इस तैयारी के पीछे द्रौपदी की मानसिक दुर्बलता या चारित्रिक शिथिलता है, ऐसा किसी को आभास हो सकता है। किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। द्रौपदी को कृष्ण के असाधारण सामर्थ्य पर पूरा विश्वास है। वह जानती है कि कृष्णजी आए विना रह नहीं सकते। इसी कारण उसने पाण्डवों का उल्लेख न करके श्रीकृष्ण का उल्लेख किया। उसकी चारित्रिक दृढता में संदेह करने का कोई कारण नहीं है। सूत्रकार ने देवता के मुख से भी यह कहलवा दिया है कि द्रौपदी पाण्डवों के सिवाय अन्य पुरुष की कामना त्रिकाल में भी नहीं कर सकती। वह तो किसी युक्ति से श्री कृष्ण के आने तक समय निकालना चाहती थी। उसकी युक्ति काम कर गई।

उधर पद्मनाभ ने बड़ी सरलता से द्रौपदी की बात मान्य कर ली। इसका कारण उसका यह विश्वास रहा होगा कि कहाँ जम्बूद्वीप और कहाँ धातकीखंड द्वीप! दोनों द्वीपों के बीच दो लाख योजन के महान् विस्तार वाला लवणसमुद्र है। प्रथम तो श्रीकृष्ण को पता ही नहीं चलेगा कि द्रौपदी कहाँ है! पता चल भी गया तो उनका यहाँ पहुँचना असंभव है।

अपने इस विश्वास के कारण पद्मनाभ ने द्रौपदी की शर्त आनाकानी किए विना स्वीकार कर ली। इसके अतिरिक्त कामान्ध पुरुष की विवेकशक्ति भी नष्ट हो जाती है।

द्रौपदी की गवेषणा

१५७—तए णं से जुहिट्ठिले राया तओ मुहुत्तंतरस्स पडिबुद्धे समाणे दोवइं देविं पासे अपासमाणो सयणिज्जाओ उट्ठेइ, उट्ठित्ता दोवईए देवीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, करित्ता दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा अलभमाणे जेणेव पंडुराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पंडुरायं एवं वयासी—

इधर द्रौपदी का हरण हो जाने के पश्चात्, थोड़ी देर में युधिष्ठिर राजा जागे। वे द्रौपदी देवी को अपने पास न देखते हुए शय्या से उठे। उठकर सब तरफ द्रौपदी देवी की मार्गणा-गवेषणा करने लगे। किन्तु द्रौपदी देवी की कहीं भी श्रुति (शब्द), क्षुति (छींक वगैरह) या प्रवृत्ति (खबर) न पाकर जहाँ पाण्डु राजा थे, वहाँ पहुंचे। वहाँ पहुंच कर पाण्डु राजा से इस प्रकार बोले—

१५८—एवं खलु ताओ! ममं आगासतलगंसि पसुत्तस्स पासाओ दोवई देवी न णज्जइ केणइ देवेण वा, दाणवेन वा, किन्नरेण वा, महोरगेण वा, गंधव्वेण वा, हिया वा, णीया वा, अवक्खित्ता वा? इच्छामि णं ताओ! दोवईए देवीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करित्तए।'

हे तात! मैं आकाशतल (अगासी) पर सो रहा था। मेरे पास से द्रौपदी देवी को न जाने कौन देव, दानव, किन्नर, महोरग अथवा गंधर्व हरण कर गया, ले गया या खींच ले गया! तो हे तात! मैं चाहता हूँ कि द्रौपदी देवी की सब तरफ मार्गणा-गवेषणा की जाय।'

१५९—तए णं से पंडुराया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरे नयरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-महापह-पहेसु महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वदह—'एवं खलु देवाणुप्पिया! जुहिट्ठिल्लस्स रण्णो

आगासतलगंसि सुहपसुत्तस्स पासाओ दोवई देवी न णज्जइ केणइ देवेण वा, दाणवेण वा, किंपुरिसेण वा, किन्नरेण वा, महोरगेण वा, गंधव्वेण वा हिया वा नीया वा अवक्खित्ता वा? तं जो णं देवाणुप्पिया! दोवईए देवीए सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा परिकहेइ तस्स णं पंडू राया विउलं अत्थ-संपयाणं दलयइ' त्ति कट्टु घोसणं घोसावेह, घोसावित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।'

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव पच्चप्पिणंति।

तत्पश्चात् पाण्डु राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और बुलाकर यह आदेश दिया—'देवानुप्रियो! हस्तिनापुर नगर में शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, महापथ और पथ आदि में जोर-जोर के शब्दों से घोषणा करते-करते इस प्रकार कहो—हे देवानुप्रियो (लोगो) अकाशतल (अगासी) पर सुख से सोये हुए युधिष्ठिर राजा के पास से द्रौपदी देवी को न जाने किस देव, दानव, किंपुरुष, किन्नर, महोरग या गंधर्व देवता ने हरण किया है, ले गया है, या खींच ले गया है? तो हे देवानुप्रियो! जो कोई द्रौपदी देवी की श्रुति, क्षुति या प्रवृत्ति बताएगा, उस मनुष्य को पाण्डु राजा विपुल सम्पदा का दान देंगे-इनाम देंगे।' इस प्रकार की घोषणा करो। घोषणा करके मेरी यह आज्ञा वापिस लौटाओ।'

तब कौटुम्बिक पुरुषों ने उसी प्रकार घोषणा करके यावत् आज्ञा वापिस लौटाई।

१६०—तए णं से पंडू राया दोवईए देवीए कत्थइ सुइं वा जाव अलभमाणे कोंतिं देविं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिये! बारवइं नयरिं कण्हस्स वासुदेवस्स एयमट्ठं णिवेदेहि। कण्हे णं परं वासुदेवे दोवईए देवीए मग्गणगवेसणं करेज्जा, अन्नहा न नज्जइ दोवईए देवीए सुइं वा खुइं वा पवित्तिं वा उवलभेज्जा।'

पूर्वोक्त घोषणा कराने के पश्चात् भी पाण्डु राजा द्रौपदी देवी की कहीं भी श्रुति यावत् समाचार न पा सके तो कुन्ती देवी को बुला कर इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रिये! तुम द्वारवती (द्वारिका) नगरी जाओ और कृष्ण वासुदेव को यह अर्थ निवेदन करो। कृष्ण वासुदेव ही द्रौपदी देवी की मार्गणा—गवेषणा करेंगे, अन्यथा द्रौपदी देवी की श्रुति, क्षुति या प्रवृत्ति अपने को ज्ञात हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। अर्थात् हम द्रौपदी का पता नहीं पा सकते, केवल कृष्ण ही उसका पता लगा सकते हैं।

१६१—तए णं कोंती देवी पंडुरण्णा एवं वुत्ता समाणी जाव पडिसुणइ, पडिसुणित्ता ण्हाया कयबलिकम्मा हत्थिखंधवरगया हत्थिणाउरं नयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता कुरुजणवयं मज्झंमज्झेणं जेणेव सुरट्ठजणवए, जेणेव बारवई णयरी, जेणेव अग्गुज्जाणे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! बारवइं णयरिं जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स गिहे तेणेव अणुपविसह, अणुपविसित्ता कण्हं वासुदेवं करयलपरिग्गहियं एवं वयह—'एवं खलु सामी! तुब्भं पिउच्छा कोंती देवी हत्थिणाउराओ नयराओ इह हव्वमागया तुब्भं दंसणं कंखति।'

पाण्डु राजा के द्वारका जाने के लिए कहने पर कुन्ती देवी ने उनकी बात यावत् स्वीकार की। वह नहा-धोकर बलिकर्म करके, हाथी के स्कंध पर आरूढ होकर हस्तिनापुर नगर के मध्य में

होकर निकली। निकल कर कुरु देश के बीचोंबीच होकर जहाँ सुराष्ट्र जनपद था, जहाँ द्वारवती नगरी थी और नगर के बाहर श्रेष्ठ उद्यान था, वहां आई। आकर हाथी के स्कंध से नीचे उतरी। उतर कर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनसे इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! तुम जहाँ द्वारका नगरी है वहाँ जाओ, द्वारका नगरी के भीतर प्रवेश करो। प्रवेश करके कृष्ण वासुदेव को दोनों हाथ जोड़ कर, मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहना—'हे स्वामिन् ! आपके पिता की वहन (भुआ) कुन्ती देवी हस्तिनापुर नगर से यहां आ पहुची हैं और तुम्हारे दर्शन की इच्छा करती हैं—तुमसे मिलना चाहती हैं।'

१६२—तए णं ते कोडु बियपुरिसा जाव कहेंति। तए णं कण्हे वासुदेवे कोडु बियपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे हत्थिखंधवरगए बारवईए नयरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव कोंती देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता हत्थिखंधाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता कोंतीए देवीए पायग्गहणं करेइ, करित्ता कोंतीए देवीए सद्धि हत्थिखंधं दुरूहइ, दुरूहित्ता बारवईए नगरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सयं गिहं अणुपविसइ।

तब कौटुम्बिक पुरुषों ने यावत् कृष्ण वासुदेव के पास जाकर कुन्ती देवी के आगमन का समाचार कहा। कृष्ण वासुदेव कौटुम्बिक पुरुषों के पास से कुन्ती देवी के आगमन का समाचार सुनकर हर्षित और सन्तुष्ट हुए। हाथी के स्कंध पर आरूढ होकर द्वारवती नगरी के मध्यभाग में होकर जहाँ कुन्ती देवी थी, वहाँ आये आकर हाथी के स्कन्ध से नीचे उतरे। नीचे उतर कर उन्होंने कुन्ती देवी के चरण ग्रहण किए—पैर छुए। फिर कुन्ती देवी के साथ हाथी पर आरूढ हुए। आरूढ होकर द्वारवती नगरी के मध्य भाग में होकर जहाँ अपना महल था, वहाँ आये। आकर अपने महल में प्रवेश किया।

१६३—तए णं से कण्हे वासुदेवे कोंति देविं ण्हायं कयबलिकम्मं जिमियभुत्तुत्तरागयं जाव सुहासणवरगयं एवं वयासी—'संदिसउ णं पिउच्छा ! किमागमणपओयणं ?'

कुन्ती देवी जब स्नान करके, बलिकर्म करके और भोजन कर चुकने के पश्चात् सुखासन पर बैठी, तब कृष्ण वासुदेव ने इस प्रकार कहा—'हे पितृभगिनी ! कहिए, आपके यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ?'

१६४—तए णं सा कोंती देवी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—'एवं खलु पुत्ता ! हत्थिणाउरे णयरे जुहिट्ठिल्लस्स आगासतले सुहपसुत्तस्स दोवई देवी पासाओ ण णज्जइ केणइ अवहिया वा, णीया वा, अवक्खित्ता वा, तं इच्छामि णं पुत्ता ! दोवईए देवीए मग्गणगवेसणं कयं।'

तब कुन्ती देवी ने कृष्ण वासुदेव से इस प्रकार कहा—'हे पुत्र ! हस्तिनापुर नगर में, युधिष्ठिर आकाशतल (अगासी) पर सुख से सो रहा था। उसके पास से द्रौपदी देवी को न जाने कौन अपहरण करके ले गया, अथवा खींच ले गया। अतएव हे पुत्र ! मैं चाहती हूँ कि द्रौपदी देवी की मार्गणा-गवेषणा करो।'

१६५—तए णं से कण्हे वासुदेवे कोंतिं पिउच्छि एवं वयासी—'जं नवरं पिउच्छा ! दोवईए

देवीए कत्थइ सुइं वा जाव [खुइं वा पवित्ति वा] लभामि तो णं अहं पायालाओ वा भवणाओ वा अद्धभरहाओ वा समंतओ दोवइं साहत्थि उवणेमि' त्ति कट्टु कोंतिं पिउच्छि सक्कारेइ, सम्माणेइ जाव पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने अपनी पितृभगिनी (फूफी) कुन्ती से कहा—'भुआजी ! अगर मैं कहीं भी द्रौपदी देवी की श्रुति (शब्द) यावत् [छींक आदि ध्वनि या समाचार] पाऊँ, तो मैं पाताल से, भवन में से या अर्धभरत में से, सभी जगह से, हाथोंहाथ ले आऊंगा।' इस प्रकार कह कर उन्होंने कुन्ती भुआ का सत्कार किया, सन्मान किया, यावत् उन्हें विदा किया।

१६६—तए णं सा कोंती देवी कण्हेणं वासुदेवेणं पडिविसज्जिया समाणी जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया।

कृष्ण वासुदेव से यह आश्वासन पाने के पश्चात् कुन्ती देवी, उनसे विदा होकर जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा में लौट गई।

१६७—तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! बारवइं नयरिं' एवं जहा पंडू तहा घोसणं घोसावेइ, जाव पच्चप्पिणंति, पंडुस्स जहा।

कुन्ती देवी के लौट जाने पर कृष्ण वासुदेव ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुला कर उनसे कहा—देवानुप्रियो ! तुम द्वारका में जाओ इत्यादि कह कर द्रौपदी के विषय में घोषणा करने का आदेश दिया। जैसे पाण्डु राजा ने घोषणा करवाई थी, उसी प्रकार कृष्ण वासुदेव ने भी करवाई। यावत् उनकी आज्ञा कौटुम्बिक पुरुषों ने वापिस की। सब वृत्तान्त पाण्डु राजा के समान कहना चाहिए।

१६८—तए णं से कण्हे वासुदेवे अन्नया अंतो अंतेउरगए ओरोहे जाव विहरइ। इमं च णं कच्छुल्लए जाव समोवइए जाव णिसीइत्ता कण्हं वासुदेवं कुसलोदंतं पुच्छइ।

तत्पश्चात् किसी समय कृष्ण वासुदेव अन्तःपुर के अन्दर रानियों के साथ रहे हुए थे। उसी समय वह कच्छुल्ल नारद यावत् आकाश से नीचे उतरे। यावत् कृष्ण वासुदेव के निकट जाकर पूर्वोक्त रीति से आसन पर बैठ कर कृष्ण वासुदेव से कुशल-वृत्तान्त पूछने लगे।

१६९—तए णं से कण्हे वासुदेवे कच्छुल्लं णारयं एवं वयासी—'तुमं णं देवाणुप्पिया ! बहूणि गामागर जाव[1] अणुपविससि, तं अत्थि याइं ते कहिं वि दोवईए देवीए सुई वा जाव उवलद्धा ?'

तए णं से कच्छुल्ले णारए कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! अन्नया धायईसंडे दीवे पुरत्थिमद्धं दाहिणड्ढभरहवासं अमरकंकारायहाणिं गए, तत्थ णं मए पउमनाभस्स रण्णो भवणंसि दोवई देवी जारिसिया दिट्ठपुव्वा यावि होत्था।'

१-अ. १६, सूत्र १३९.

तए णं कण्हे वासुदेवे कच्छुल्लं णारयं एवं वयासी—'तुब्भं चेव णं देवाणुप्पिया! एवं पुव्वकम्मं।'

तए णं से कच्छुल्लनारए कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे उप्पयणिं विज्जं आवाहेइ, आवाहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने कच्छुल्ल नारद से कहा—'देवानुप्रिय! तुम बहुत-से ग्रामों, आकरों नगरों आदि में प्रवेश करते हो। तो किसी जगह द्रौपदी देवी की श्रुति आदि कुछ मिली है?

तब कच्छुल्ल नारद ने कृष्ण वासुदेव से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय! एक बार मैं धातकी-खण्ड द्वीप में, पूर्व दिशा के दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र में अमरकंकानामक राजधानी में गया था। वहां मैंने पद्मनाभ राजा के भवन में द्रौपदी देवी जैसी (कोई महिला) देखी थी।'

तब कृष्ण वासुदेव ने कच्छुल्ल नारद से कहा—देवानुप्रिय! यह तुम्हारी ही करतूत जान पड़ती है।'

कृष्ण वासुदेव के द्वारा इस प्रकार कहने पर कच्छुल्ल नारद ने उत्पतनी विद्या का स्मरण किया। स्मरण करके जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में चल दिए।

द्रौपदी का उद्धार

१७०—तए णं से कण्हे वासुदेवे दूयं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! हत्थिणाउरं, पंडुस्स रण्णो एयमट्ठं निवेदेहि—'एवं खलु देवाणुप्पिया! धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे अमरकंकाए रायहाणीए पउमनाभभवणंसि दोवईए देवीए पउत्ती उवलद्धा। तं गच्छंतु पंच पंडवा चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडा पुरच्छिम-वेयालीए ममं पडिवालेमाणा चिट्ठंतु।'

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने दूत को बुलाया। बुला कर उससे कहा—'देवानुप्रिय! तुम हस्तिनापुर जाओ और पाण्डु राजा को यह अर्थ निवेदन करो कि—'हे देवानुप्रिय! धातकीखण्ड द्वीप में, पूर्वार्ध भाग में, अमरकंका राजधानी में, पद्मनाभ राजा के भवन में द्रौपदी देवी का पता लगा है। अतएव पाँचों पाण्डव चतुरंगिणी सेना से परिवृत होकर रवाना हों और पूर्व दिशा के वेतालिक[1] (लवणसमुद्र) के किनारे मेरी प्रतीक्षा करें।'

१७१—तए णं दूए जाव भणइ—'पडिवालेमाणा चिट्ठह।' ते वि जाव चिट्ठंति।

तत्पश्चात् दूत ने जाकर यावत् कृष्ण के कथनानुसार पाण्डवों से प्रतीक्षा करने को कहा। तब पांचों पाण्डव वहां जाकर यावत् कृष्ण वासुदेव की प्रतीक्षा करने लगे।

१७२—तए णं से कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! सन्नाहियं भेरिं ताडेह।' ते वि तालेंति।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर कर कहा—'देवानुप्रियो!

१. जहां समुद्र की वेल चढ़ कर गंगा नदी में मिलती है, वह स्थान।

तुम जाओ और सान्नाहिक (सामरिक) भेरी बजाओ।' यह सुन कर कौटुम्बिक पुरुषों ने सामरिक भेरी बजाई।

१७३—तए णं तीसे सण्णाहियाए भेरीए सद्दं सोच्चा समुद्दविजयपामोक्खा दस दसारा जाव[1] छप्पण्णं बलवयसाहस्सीओ सन्नद्धबद्ध जाव[2] गहियाउहपहरणा अप्पेगइया हयगया जाव वग्गुरापरिक्खित्ता जेणेव सभा सुहम्मा, जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल जाव वद्धावेंति।

सान्नाहिक भेरी की ध्वनि सुन कर समुद्रविजय आदि दस दसार यावत् छप्पन हजार बलवान् योद्धा, कवच पहन कर, तैयार होकर, आयुध और प्रहरण ग्रहण करके, कोई-कोई घोड़ों पर सवार होकर, कोई हाथी आदि पर सवार होकर, सुभटों के समूह के साथ जहां कृष्ण वासुदेव की सुधर्मा सभा थी और जहां कृष्ण वासुदेव थे, वहाँ आये। आकर हाथ जोड़ कर यावत् उनका अभिनन्दन किया।

१७४—तए णं कण्हे वासुदेवे हत्थिखंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं वीइज्जमाणे महया हय-गय-रह-पवरजोहकलियाए चउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महया भडचडगरपहकरविंदपरिक्खित्ते बारवईए णयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता जेणेव पुरच्छिमवेयाली तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं एगयओ मिलइ, मिलित्ता खंधावारणिवेसं करेइ, करित्ता पोसहसालं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता सुट्ठियं देवं मणसि करेमाणे करेमाणे चिट्ठइ।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव श्रेष्ठ हाथी के स्कंध पर आरूढ हुए। कोरंट वृक्ष के फूलों की मालाओं से युक्त छत्र उनके मस्तक के ऊपर धारण किया गया। दोनों पार्श्वों में उत्तम श्वेत चामर ढोरे जाने लगे। वे बड़े-बड़े अश्वों, गजों, रथों और उत्तम पदाति-योद्धाओं की चतुरंगिणी सेना और अन्य सुभटों के समूहों से परिवृत होकर द्वारका नगरी के मध्य भाग में होकर निकले। निकल कर जहां पूर्व दिशा का वेतालिक था, वहाँ आए। वहां आकर पाँच पाण्डवों के साथ इकट्ठे हुए (मिले) फिर पड़ाव डाल कर पौषधशाला में प्रवेश किया। प्रवेश करके सुस्थित देव का मन में पुनः पुनः चिन्तन करते हुए स्थित हुए।

कृष्ण द्वारा देव का आह्वान

१७५—तए णं कण्हस्स वासुदेवस्स अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि सुट्ठिओ जाव आगओ—'भण देवाणुप्पिया! जं मए कायव्वं।'

तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं देवं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! दोवई देवी जाव पउमनाभस्स रण्णो भवणंसि साहरिया, तं णं तुमं देवाणुप्पिया! मम पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठस्स छण्हं रहाणं लवणसमुद्दे मग्गं वियरेहि। जं णं अहं अमरकंकारायहाणिं दोवईए देवीए कूवं गच्छामि।'

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव का अष्टमभक्त पूरा होने पर सुस्थित देव यावत् उनके समीप

१. अ. १६ सूत्र ८६, २. अ. १६ सूत्र १०७

आया। उसने कहा-'देवानुप्रिय ! कहिए मुझे क्या करना है ?

तब कृष्ण वासुदेव ने सुस्थित देव से इस प्रकार कहा-'देवानुप्रिय ! द्रौपदी देवी यावत् पद्मनाभ राजा के भवन में हरण की गई है, अतएव तुम हे देवानुप्रिय ! पाँच पाण्डवों सहित छठे मेरे छह रथों को लवणसमुद्र में मार्ग दो, जिससे मैं (पाण्डवों सहित) अमरकंका राजधानी में द्रौपदी देवी, को वापस छीनने के लिए जाऊँ।'

१७६—तए णं से सुत्थिए देवे कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—'किण्णं देवाणुप्पिया ! जहा चेव पउमनाभस्स रण्णो पुव्वसंगतिएणं देवेणं दोवई देवी जाव [जंबुद्दीवाओ दीवाओ भारहाओ वासाओ हत्थिणाउराओ नयराओ जुहिट्ठिलस्स रण्णो भवणाओ] संहरिया, तहा चेव दोवइं देविं धायईसंडाओ दीवाओ भारहाओ [वासाओ अमरकंकाओ रायहाणीओ पउमनाभस्स रण्णो भवणाओ] जाव हत्थिणाउरं साहरामि ? उदाहु पउमनाभं रायं सपुरबलवाहणं लवणसमुद्दे पक्खिवामि ?'

तत्पश्चात् सुस्थित देव ने कृष्ण वासुदेव से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय ! जैसे पद्मनाभ राजा के पूर्व संगतिक देव ने द्रौपदी देवी का [जम्बूद्वीपवर्त्ती भरत क्षेत्र के हस्तिनापुर नगर से युधिष्ठिर राजा के भवन से] संहरण किया, उसी प्रकार क्या मैं द्रौपदी देवी को धातकी खंड द्वीप के भरत क्षेत्र से यावत् अमरकंका राजधानी में स्थित पद्मनाभ राजा के भवन से हस्तिनापुर ले जाऊँ ? अथवा पद्मनाभ राजा को उसके नगर, सैन्य और वाहनों के साथ लवणसमुद्र में फेंक दूं ?'

१७७—तए णं कण्हे वासुदेवे सुत्थियं देवं एवं वयासी—'मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! जाव साहराहि तुमं णं देवाणुप्पिया ! लवणसमुद्दे अप्पछट्ठस्स छण्हं रहाणं मग्गं वियराहि, सयमेव णं अहं दोवईए देवीए कूवं गच्छामि।'

तब कृष्ण वासुदेव ने सुस्थित देव से कहा—'देवानुप्रिय ! तुम यावत् संहरण मत करो। देवानुप्रिय ! तुम तो पाँच पाँडवों सहित छठे हमारे छह रथों को लवणसमुद्र में जाने का मार्ग दे दो। मैं स्वयं ही द्रौपदी देवी को वापिस लाने के लिए जाऊँगा।'

१७८—तए णं से सुट्ठिए देवे कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—'एवं होउ।' पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठस्स छण्हं रहाणं लवणसमुद्दे मग्गं वियरइ।

तब सुस्थित देव ने कृष्ण वासुदेव से कहा-'ऐसा ही हो-तथास्तु।' ऐसा कह कर उसने पाँच पाण्डवों सहित छठे वासुदेव के छह रथों को लवणसमुद्र में मार्ग प्रदान किया।

पद्मनाभ के पास दूत-प्रेषण

१७९—तए णं से कण्हे वासुदेवे चाउरंगिणिं सेणं पडिविसज्जेइ, पडिविसज्जित्ता पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे छहिं रहेहिं लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीईवयइ, वीईवइत्ता जेणेव अमरकंका रायहाणी, जेणेव अमरकंकाए अग्गुज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता रहं ठवेइ, ठवित्ता दारुयं सारहिं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने चतुरंगिणी सेना को विदा करके पाँच पाण्डवों के साथ छठे

आप स्वयं छह रथों में बैठ कर, लवणसमुद्र के मध्यभाग में होकर जाने लगे। जाते-जाते जहाँ अमरकंका राजधानी थी और जहाँ अमरकंका का प्रधान उद्यान था, वहाँ पहुँचे। पहुँचने के बाद रथ रोका और दारुकनामक सारथी को बुलाया। उसे बुलाकर कहा—

१८०—'गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! अमरकंकारायहाणिं अणुपविसाहि, अणुपविसित्ता पउमणाभस्स रण्णो वामेणं पाएणं पायपीढं अवक्कमित्ता कुंतग्गेणं लेहं पणामेहि; तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु आसुरुत्ते रुट्ठे कुद्धे कुविए चंडिक्किए एवं वदह—'हं भो पउमणाहा ! अपत्थियपत्थिया ! दुरंतपंतलक्खणा ! हीणपुण्णचाउद्दसा ! सिरिहिरिधीपरिवज्जिया ! अज्ज ण भवसि, किं णं तुमं ण जाणासि कण्हस्स वासुदेवस्स भगिणिं दोवइं देविं इहं हव्वं आणमाणे ? तं एयमवि गए पच्चप्पिणाहि णं तुमं दोवइं देविं कण्हस्स वासुदेवस्स, अहवा णं जुद्धसज्जे णिग्गच्छाहि, एस णं कण्हे वासुदेवे पंचहिं पंडवेहिं अप्पछट्ठे दोवईदेवीए कूवं हव्वमागए।'

देवानुप्रिय ! तू जा और अमरकंका राजधानी में प्रवेश कर। प्रवेश करके पद्मनाभ राजा के समीप जाकर उसके पादपीठ को अपने बाँयें पैर से आक्रान्त करके-ठोकर मार करके भाले की नोंक द्वारा यह (लेख) पत्र देना। फिर कपाल पर तीन वल वाली भृकुटि चढ़ा कर, आँखें लाल करके, रुष्ट होकर, क्रोध करके, कुपित होकर, और प्रचण्ड रूप धारण कर कहना-'अरे पद्मनाभ ! मौत की कामना करने वाले ! अनन्त कुलक्षणों वाले ! पुण्यहीन ! चतुर्दशी के दिन जन्मे हुए (अथवा हीनपुण्य वाली चतुर्दशी अर्थात् कृष्ण पक्ष की चौदस को जन्मे हुए।) श्री, लज्जा और बुद्धि से हीन ! आज तू नहीं बचेगा। क्या तू नहीं जानता कि तू कृष्ण वासुदेव की भगिनी द्रौपदी देवी को यहां ले आया है ? खैर, जो हुआ सो हुआ, अब भी तू द्रौपदी देवी कृष्ण वासुदेव को लौटा दे अथवा युद्ध के लिए तैयार होकर बाहर निकल। कृष्ण वासुदेव पाँच पाण्डवों के साथ छठे आप द्रौपदी देवी को वापिस छीनने के लिए अभी-अभी यहाँ आ पहुंचे हैं।

१८१—तए णं से दारुए सारही कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे जाव पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता अमरकंकारायहाणिं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव पउमनाभे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल जाव वद्धावेत्ता एवं वयासी—'एस णं सामी ! मम विणयपडिवत्ती, इमा अन्ना मम सामियस्स समुहाणत्ति' त्ति कट्टु आसुरत्ते वामपाएणं पायपीढं अणुक्कमति, अणुक्कमित्ता कोंतग्गेणं लेहं पणामइ, पणामित्ता जाव कूवं हव्वमागए।

तत्पश्चात् वह दारुक सारथि कृष्ण वासुदेव के इस प्रकार कहने पर हर्षित और संतुष्ट हुआ। यावत् उसने यह आदेश अंगीकार किया। अंगीकार करके अमरकंका राजधानी में प्रवेश किया। प्रवेश करके पद्मनाभ के पास गया। वहाँ जाकर दोनों हाथ जोड़कर यावत् अभिनन्दन किया और कहा-'स्वामिन् ! यह मेरी अपनी विनय-प्रतिपत्ति (शिष्टाचार) है।' मेरे स्वामी के मुख से कही हुई आज्ञा दूसरी है। वह यह है।' इस प्रकार कह कर उसने नेत्र लाल करके और क्रुद्ध होकर अपने वाम पैर से उसके पादपीठ को आक्रान्त किया—ठुकराया। भाले की नोंक से लेख दिया। फिर कृष्ण वासुदेव का समस्त आदेश कह सुनाया, यावत् वे स्वयं द्रौपदी को वापिस लेने के लिए आ पहुंचे हैं।

१८२—तए णं से पउमणाभे दारुएणं सारहिणा एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते तिवलिं भिउडिं

निडाले साहट्टु एवं वयासी—'णो अप्पणामि णं अहं देवाणप्पिया ! कण्हस्स वासुदेवस्स दोवइं, एस णं अहं सयमेव जुज्झसज्जो निग्गच्छामि, त्ति कट्टु दारुयं सारहिं एवं वयासी—'केवलं भो ! रायसत्थेसु दूए अवज्झे' त्ति कट्टु असक्कारिय असम्माणिय अवद्दारेणं णिच्छुभावेइ ।

तत्पश्चात् पद्मनाभ ने दारुक सारथि के इस प्रकार कहने पर नेत्र रक्त करके और क्रोध से कपाल पर तीन सल वाली भृकुटी चढ़ा कर कहा—'देवानुप्रिय ! मैं कृष्ण वासुदेव को द्रौपदी वापिस नहीं दूंगा । मैं स्वयं ही युद्ध करने के लिए सज्ज होकर निकलता हूँ ।' इस प्रकार कहकर फिर दारुक सारथि से कहा—'हे दूत ! राजनीति में दूत अवध्य है (केवल इसी कारण मैं तुझे नहीं मारता) ।' इस प्रकार कह कर सत्कार—सन्मान न करके—अपमान करके, पिछले द्वार से उसे निकाल दिया ।

१८३—तए णं से दारुए सारही पउमनाभेणं असक्कारिय जाव [असम्माणिय अवद्दारेणं] निच्छूढे समाणे जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं जाव कण्हं एवं वयासी—'एवं खलु अहं सामी ! तुब्भं वयणेणं जाव णिच्छुभावेइ ।'

वह दारुक सारथि पद्मनाभ राजा के द्वारा असत्कृत हुआ, यावत् पिछले द्वार से निकाल दिया गया, तब कृष्ण वासुदेव के पास पहुंचा । पहुंच कर दोनों हाथ जोड़ कर कृष्ण वासुदेव से यावत् बोला—'स्वामिन् ! मैं आपके वचन (आदेश) से राजा पद्मनाभ के पास गया था, इत्यादि पूर्ववत्; यावत् उसने मुझे पिछले द्वार से निकाल दिया—इत्यादि समग्र वृत्तान्त कहा ।

पद्मनाभ-पाण्डव युद्ध

१८४—तए णं से पउमणाभे वलवाउयं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह ।' तयाणंतरं च णं छेयायरिय-उवदेस-मइ-विकप्पणा-विगप्पेहिं जाव [सुनिउणेहिं उज्जलणेवत्थि-हत्थपरिवत्थियं सुसज्जं जाव आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेह पडिकप्पेत्ता] उवणेइ । तए णं से पउमनाहे सन्नद्ध जाव[1] अभिसेयं दुरूहइ, दुरूहित्ता हयगय[2] जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।

कृष्ण वासुदेव के दूत को निकलवा देने के पश्चात् इधर पद्मनाभ राजा ने सेनापति को बुलाया और उससे कहा—'देवानुप्रिय ! अभिषेक किए हुए हस्तीरत्न को तैयार करके लाओ ।' यह आदेश सुनकर कुशल आचार्य के उपदेश से उत्पन्न हुई बुद्धि की कल्पना के विकल्पों (प्रकारों) से निपुण पुरुषों (महावतों) ने अभिषेक किया हुआ हस्ती उपस्थित किया । वह उज्ज्वल वेष से परिवृत था, सुसज्जित था । तत्पश्चात् पद्मनाभ राजा कवच आदि धारण करके सज्जित हुआ, यावत् अभिषेक किये हाथी पर सवार हुआ । सवार होकर अश्वों, हाथियों आदि की चतुरंगिणी सेना के साथ, वहां जाने को उद्यत हुआ जहां वासुदेव कृष्ण थे ।

१८५—तए णं से कण्हे वासुदेवे पउमनाभं रायाणं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता ते पंच पंडवे एवं वयासी—'हं भो दारगा ! किं णं तुब्भे पउमनाभेणं सद्धि जुज्झिहिह उदाहु पेच्छिहिह ?'

१. अ. १६, सूत्र १०७.; २. अ. १६ सूत्र १७४ ।

तए णं पंच पंडवा कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—'अम्हे णं सामी ! जुज्झामो,तुब्भे पेच्छह ।'

तए णं पंच पंडवे सन्नद्ध जाव पहरणा रहे दुरूहंति, दुरूहित्ता जेणेव पउमनाभे राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता एवं वयासी—'अम्हे पउमणाभे वा राय त्ति कट्टु पउमनाभेणं सद्धिं संपलग्गा यावि होत्था ।

तत्पश्चात् वासुदेव ने पद्मनाभ राजा को आता देखा । देख कर वह पाँचों पाण्डवों से बोले—'अरे बालको ! तुम पद्मनाभ के साथ युद्ध करोगे या युद्ध देखोगे ?'

तब पाँच पाण्डवों ने कृष्ण वासुदेव से कहा—'स्वामिन् ! हम युद्ध करेंगे और आप हमारा युद्ध देखिए ।'

तत्पश्चात् पांचों पाण्डव तैयार होकर यावत् शस्त्र लेकर रथ पर सवार हुए और जहाँ पद्मनाभ था, वहाँ पहुँचे । पहुँच कर 'आज हम हैं या पद्मनाभ राजा है ।' ऐसा कहकर वे युद्ध करने में जुट गये ।

पाण्डवों का पराजय

१८६—तए णं से पउमनाभे राया ते पंच पंडवे खिप्पामेव हय-महिय-पवरवीर-घाइय-विवडिय-चिंधद्धय-पडागे जाव [किच्छोवगयपाणे] दिसोदिसिं पडिसेहेइ । तए णं ते पंच पंडवा पउमणाभेण रण्णा हयमहियपवरवीर-घाइयविवडिय जाव पडिसेहिया समाणा अत्थामा जाव अधारणिज्ज त्ति कट्टु जेणेव कण्हे वासुदेवे तेणेव उवागच्छंति । तए णं से कण्हे वासुदेवे ते पंच पंडवे एवं वयासी—'कहण्णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! पउमनाभेण रण्णा सद्धिं संपलग्गा ?'

तए णं ते पंच पंडवा कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणा सन्नद्ध-बद्ध-वम्मिय-कवया रहे दुरूहामो, दुरूहित्ता जेणेव पउमणाभे जाव पडिसेहइ ।

तत्पश्चात् पद्मनाभ राजा ने उन पाँचों पाण्डवों पर शीघ्र ही शस्त्र से प्रहार किया, उनके अहंकार को मथ डाला और उनकी उत्तम चिह्न से चिह्नित पताका गिरा दी । मुश्किल से उनके प्राणों की रक्षा हुई । उसने उन्हें इधर-उधर भगा दिया । तब वे पाँचों पाण्डव पद्मनाभ राजा द्वारा शस्त्र से आहत, मथित अहंकार वाले और पतित पताका वाले होकर यावत् पद्मनाभ के द्वारा भगाए हुए, शत्रुसेना का निराकरण करने में असमर्थ होकर, वासुदेव कृष्ण के पास आये । तब वासुदेव कृष्ण ने पाँचों पाण्डवों से कहा—'देवानुप्रियो ! तुम लोग पद्मनाभ राजा के साथ किस प्रकार (किस शर्त के साथ) युद्ध में संलग्न हुए थे ?

तब पांचों पाण्डवों ने कृष्ण वासुदेव से इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय ! हम आपकी आज्ञा पाकर सुसज्जित होकर रथ पर आरूढ हुए । आरूढ होकर पद्मनाभ के सामने गये; इत्यादि सब पूर्ववत् कहना चाहिए, यावत् उसने हमें भगा दिया ।'

१८७—तए णं कण्हे वासुदेवे ते पंच पंडवे एवं वयासी—'जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! एवं वयंता-अम्हे, णो पउमणाभे राय त्ति पउमणाभेणं सद्धिं संपलग्गंता, तो णं तुब्भे णो पउमनाहे

हयमहियपवर जाव पडिसेहंते। तं पेच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! 'अहं, णो पउमणाभे राय' त्ति कट्टु पउमनाभेणं रन्ना सद्धिं जुज्झामि। रहं दुरूहइ, दुरूहित्ता जेणेव पउमनाभे राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सेयं गोखीर-हार-धवलं तणसोल्लिय-सिंदुवार-कुंदेंदु-सन्निगासं निययबलस्स हरिसजणणं रिउसेण्णविणासकरं पंचजण्णं संखं परामुसइ, परामुसित्ता मुहवायपूरियं करेइ।

पाण्डवों का उत्तर सुनकर कृष्ण वासुदेव ने पाँच पाण्डवों से कहा—देवानुप्रियो ! अगर तुम ऐसा बोले होते कि 'हम हैं, पद्मनाभ राजा नहीं' और ऐसा कहकर पद्मनाभ के साथ युद्ध में जुटते तो पद्मनाभ राजा तुम्हारा हनन नहीं कर सकता था। (तुमने बोलने में भूल की, इसी कारण तुम्हें भाग कर आना पड़ा।) हे देवानुप्रियो ! अब तुम देखना। 'मैं हूँ, पद्मनाभ राजा नहीं' इस प्रकार कह कर मैं पद्मनाभ के साथ युद्ध करता हूँ।' इसके बाद कृष्ण वासुदेव रथ पर आरूढ हुए। आरूढ होकर पद्मनाभ राजा के पास पहुँचे। पहुँच कर उन्होंने श्वेत, गाय के दूध और मोतियों के हार के समान उज्ज्वल, मल्लिका के फूल, मालती-कुसुम सिन्दुवार-पुष्प, कुन्दपुष्प, और चन्द्रमा के समान श्वेत, अपनी सेना को हर्ष उत्पन्न करने वाला पाञ्चजन्य शंख हाथ में लिया और मुख की वायु से उसे पूर्ण किया, अर्थात् फूंका।

१८८—तए णं तस्स पउमनाहस्स तेणं संखसद्देणं बल-तिभाए हए जाव[1] पडिसेहिए। तए णं से कण्हे वासुदेवे धणुं परामुसइ, वेढो, धणुं पूरेइ, पूरित्ता धणुसद्दं करेइ। तए णं तस्स पउमनाभस्स दोच्चे बल-तिभाए धणुसद्देणं हयमहिय जाव पडिसेहिए। तए णं से पउमनाभे राया तिभागबलावसेसे अत्थामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जं ति कट्टु सिग्घं तुरियं जेणेव अमरकंका तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अमरकंकं रायहाणिं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता दाराइं पिहेइ, पिहित्ता रोहसज्जे चिट्ठइ।

तत्पश्चात् उस शंख के शब्द से पद्मनाभ की सेना का तिहाई भाग हत हो गया, यावत् दिशा-दिशा में भाग गया। उसके बाद कृष्ण वासुदेव ने सारंगनामक धनुष हाथ में लिया। यहां एक वेढ कह लेना चाहिए। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाई। प्रत्यंचा चढ़ा कर टंकार की। तब पद्मनाभ की सेना का दूसरा तिहाई भाग उस धनुष की टंकार से हत-मथित हो गया यावत् इधर-उधर भाग छूटा। तब पद्मनाभ की सेना का एक तिहाई भाग ही शेष रह गया। अतएव पद्मनाभ सामर्थ्यहीन, बलहीन, वीर्यहीन और पुरुषार्थ पराक्रम से हीन हो गया। वह कृष्ण के प्रहार को सहन करने या निवारण करने में असमर्थ होकर शीघ्रतापूर्वक, त्वरा के साथ, अमरकंका राजधानी में जा घुसा। उसने अमरकंका राजधानी के अन्दर घुस कर द्वार बंद कर लिए। द्वार बंद करके वह नगररोध के लिए सज्ज होकर स्थित हो गया।

विवेचन—मूल में आए वेढ (वेष्टक)—अर्थ है—एक वस्तुविषयक पदपद्धति। यह वेढ यहां धनुषविषयक समझना चाहिए। टीका के अनुसार वह इस प्रकार है—

अइरुग्गयबालचंद-इंदधणुसन्निगासं वरमहिस-दरिय-दप्पिय-दढघणसिंगग्गरइयसारं, उरगवर-पवरगवल-पवरपरहुय-भमरकुल-नीलिनिद्ध-धंतधोयपट्टं, निउणोविय-मिसिमिसिंत-मणिरयणघंटिया-

१. अ. १६ सूत्र १८६.

जालपरिक्खित्तं, तडित-तरुणकिरण-तवणिज्जवद्धचिंधं, दद्दरमलयगिरिसिहर-केसरचामरवाल-अद्धचंदचिंधं, काल-हरिय-रत्त-पीय-सुक्किल्ल-बहुण्हारुणिसंपिणद्धजीवं, जीवियंतकरं—

भावार्थ—यह श्री कृष्ण के धनुष का वर्णन है। वह इस प्रकार है—कृष्ण का धनुष शुक्लपक्ष की द्वितीया के अचिर-उदित—जिसे उदित हुए बहुत समय न हुआ हो ऐसे चन्द्रमा और इन्द्रधनुष के समान वक्र था, अतीव दृप्त-मदमाते उत्तम महिष के दृढ़ और सघन शृंगों के अग्रभागों से बनाया गया था, कृष्ण सर्प, श्रेष्ठ भैंसे के सींग, उत्तम कोकिला, भ्रमर-निकर और नील की गोली के सदृश उज्ज्वल स्निग्ध-काली कान्ति से युक्त उसका पृष्ठ भाग था, किसी कुशल कलाकार द्वारा उजाले गए—चमकाए हुए—मणिरत्नों की घंटियों के समूह से वेष्टित था, चमकती बिजली की किरणों जैसे स्वर्ण-चिह्नों से सुशोभित था, दर्दर और मलय पर्वत शिखरों पर विचरण करने वाले सिंह की गर्दन के बालों (अयाल) तथा चमरों की पूंछ के केशों के एवं अर्द्ध चन्द्र के लक्षणों—चिह्नों से युक्त था, काली, हरी, लाल, पीली और श्वेत वर्ण की नसों से उसकी जीवा (प्रत्यंचा) बंधी थी। वह धनुष शत्रुओं के जीवन का अन्त करने वाला था।

१८९—तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव अमरकंका तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता रहं ठवेइ, ठवित्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता एगं महं णरसीहरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता महया महया सद्देणं पाददद्दरियं करेइ। तए णं से कण्हेणं वासुदेवेणं महया महया सद्देणं पाददद्दरएणं कएणं समाणेणं अमरकंका रायहाणी संभग्गपागार-गोपुराट्टालय-चरिय-तोरण-पल्हत्थियपवरभवण-सिरिघरा सरस्सरस्स धरणियले सन्निवइया।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव जहां अमरकंका राजधानी थी, वहां गये। वहां जाकर रथ ठहराया। रथ से नीचे उतरे। वैक्रियसमुद्घात से समवहत हुए अर्थात् समुद्घात किया। समुद्घात करके उन्होंने एक महान् नरसिंह का रूप धारण किया। फिर जोर-जोर के शब्द करके पैरों का आस्फालन किया—पैर पछाड़े। कृष्ण वासुदेव के जोर-जोर की गर्जना के साथ पैर पछाड़ने से अमरकंका राजधानी के प्राकार (परकोटा) गोपुर (फाटक) अट्टालिका (झरोखे), चरिका (परकोटा और नगर के बीच का मार्ग) और तोरण (द्वार का ऊपरी भाग) गिर गये और श्रेष्ठ महल तथा श्रीगृह (भंडार) चारों ओर से तहसनहस होकर सरसराट् करके धरती पर आ पड़े।

पद्मनाभ द्रौपदी की शरण में

१९०—तए णं से पउमणाभे राया अमरकंकं रायहाणिं संभग्गं जाव पासित्ता भीए दोवइं देविं सरणं उवेइ। तए णं सा दोवई देवी पउमनाभं रायं एवं वयासी—'किण्णं तुमं देवाणुप्पिया! न जाणसि कण्हस्स वासुदेवस्स उत्तमपुरिसस्स विप्पियं करेमाणे ममं इह हव्वमाणेसि? तं एवमवि गए गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! ण्हाए उल्लपडसाडए अवचूलगवत्थणियत्थे अंतेउरपरियालसंपरिवुडे अग्गाइं वराइं रयणाइं गहाय मम पुरतो काउं कण्हं वासुदेवं करयलपायपडिए सरणं उवेहि, पणिवइयवच्छला णं देवाणुप्पिया! उत्तमपुरिसा।

तत्पश्चात् पद्मनाभ राजा अमरकंका राजधानी को पूर्वोक्त प्रकार से बुरी तरह भग्न हुई जानकर भयभीत होकर द्रौपदी देवी की शरण में गया। तब द्रौपदी देवी ने पद्मनाभ राजा से

कहा—देवानुप्रिय ! क्या तुम नहीं जानते कि पुरुषोत्तम कृष्ण वासुदेव का विप्रिय करते हुए तुम मुझे यहां लाये हो ? किन्तु जो हुआ सो हुआ । अब देवानुप्रिय ! तुम जाओ । स्नान करो । पहनने और ओढ़ने के वस्त्र गीले (पानी नितरते हुए) धारण करो । पहने हुए वस्त्र का छोर नीचा रक्खो अर्थात् कांछ खुली रखो । अन्तःपुर की रानियों आदि परिवार को साथ में ले लो । प्रधान और श्रेष्ठ रत्न भेंट के लिए लो । मुझे आगे कर लो । इस प्रकार चलकर कृष्ण वासुदेव को दोनों हाथ जोड़ कर उनके पैरों में गिरो और उनकी शरण ग्रहण करो । देवानुप्रिय ! उत्तम पुरुष प्रणिपतितवत्सल होते हैं—अर्थात् जो उनके सामने नम्र होते हैं, उन पर दया और प्रसन्नता प्रकट करते हैं । (ऐसा करने से ही तुम्हारी नगरी आदि की रक्षा होगी । अन्यथा नहीं) ।

द्रौपदी-समर्पण

१६१—तए णं से पउमणाभे दोवईए देवीए एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता ण्हाए जाव सरणं उवेइ, उवइत्ता करयल एवं वयासी—'दिट्ठा णं देवाणुप्पियाणं इड्ढी जाव परक्कमे, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! जाव खमंतु णं जाव णाहं भुज्जो एवं करणयाए' त्ति कट्टु पंजलिउडे पायवडिए कण्हस्स वासुदेवस्स दोवइं देविं साहत्थि उवणेइ ।

उस समय पद्मनाभ ने द्रौपदी देवी के इस अर्थ को अंगीकार किया । अंगीकार करके द्रौपदी देवी के कथनानुसार स्नान आदि करके कृष्ण वासुदेव की शरण में गया । वहाँ जाकर दोनों हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगा—'मैंने आप देवानुप्रिय की ऋद्धि देख ली, पराक्रम देख लिया । हे देवानुप्रिय ! मैं क्षमा की प्रार्थना करता हूँ, आप यावत् क्षमा करें । यावत् मैं पुनः ऐसा नहीं करूंगा ।' इस प्रकार कह कर उसने हाथ जोड़े । पैरों में गिरा । उसने अपने हाथों द्रौपदी देवी सौंपी ।

१६२—तए णं से कण्हे वासुदेवे पउमणाभं एवं वयासी—'हं भो पउमणाभा ! अप्पत्थियपत्थिया ! किण्णं तुमं ण जाणसि मम भगिणिं दोवइं देविं इह हव्वमाणमाणे ? तं एवमवि गए णत्थि ते ममाहितो इयाणिं भयमत्थि' त्ति कट्टु पउमणाभं पडिविसज्जेइ, पडिविसज्जित्ता दोवइं देविं गिण्हइ, गिण्हित्ता रहं दुरूहेइ, दुरूहित्ता जेणेव पंच पंडवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पंचण्हं पंडवाणं दोवइं देविं साहत्थि उवणेइ ।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव ने पद्मनाभ से इस प्रकार कहा—'अरे पद्मनाभ अप्रार्थित (मृत्यु) की प्रार्थना करने वाले ! क्या तू नहीं जानता कि तू मेरी भगिनी द्रौपदी देवी को जल्दी से यहां ले आया है ? ऐसा होने पर भी, अब तुझे मुझसे भय नहीं है !' इस प्रकार कह कर पद्मनाभ को छुट्टी दी । उसे छुटकारा देकर द्रौपदी देवी को ग्रहण किया और रथ पर आरूढ हुए । रथ पर आरूढ होकर पांच पाण्डवों के समीप आये । वहां आकर द्रौपदी देवी को हाथों-हाथ पांचों पाण्डवों को सौंप दिया ।

१६३—तए णं से कण्हे पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे छहिं रहेहिं लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे, जेणेव भारहे वासे, तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।

तत्पश्चात् पांच पाण्डवों के साथ, छठे आप स्वयं कृष्ण वासुदेव छह रथों में बैठ कर, लवणसमुद्र के बीचों बीच होकर जिधर जम्बूद्वीप था और जिधर भारतवर्ष था, उधर जाने को उद्यत हुए ।

१९४—तेणं कालेणं तेणं समएणं धायइसंडे पुरच्छिमद्धे भारहे वासे चंपा णामं णयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए। तत्थ णं चंपाए णयरीए कविले णामं वासुदेवे राया होत्था, महया हिमवंत वण्णओ[1]।

उस काल और उस समय में, धातकी खंड द्वीप में, पूर्वार्ध भाग में, चम्पा नामक नगरी थी। पूर्णभद्र नामक चैत्य था। उस चम्पा नगरी में कपिलनामक वासुदेव राजा था। वह महान् हिमवान् पर्वत के समान महान् था। यहां राजा का वर्णन कह लेना चाहिए।

वासुदेवों का ध्वनि-मिलन

१९५—तेणं कालेणं तेणं समएणं मुणिसुव्वए अरहा चंपाए पुण्णभद्दे समोसढे। कविले वासुदेवे धम्मं सुणेइ। तए णं से कविले वासुदेवे मुणिसुव्वयस्स अरहओ धम्मं सुणमाणे कण्हस्स वासुदेवस्स संखसद्दं सुणेइ। तए णं तस्स कविलस्स वासुदेवस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था—'किं मण्णे धायइसंडे दीवे भारहे वासे दोच्चे वासुदेवे समुप्पण्णे जस्स णं अयं संखसद्दे ममं पिव मुहवायपूरिए वियंभइ?'

उस काल और उस समय में मुनिसुव्रतनामक अरिहन्त चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे। कपिल वासुदेव ने उनसे धर्मोपदेश श्रवण किया। उसी समय मुनिसुव्रत अरिहन्त से धर्म श्रवण करते-करते कपिल वासुदेव ने कृष्ण वासुदेव के पांचजन्य शंख का शब्द सुना। तब कपिल वासुदेव के चित्त में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ—'क्या धातकीखंड द्वीप के भारत वर्ष में दूसरा वासुदेव उत्पन्न हो गया है? जिसके शंख का शब्द ऐसा फैल रहा है, जैसे मेरे मुख की वायु से पूरित हुआ हो—मैंने बजाया हो।'

१९६—'कविला वासुदेवा, सद्दाइं (सुणेइ)' मुणिसुव्वए अरहा कविलं वासुदेवं एवं वयासी—'से णूणं ते कविला! वासुदेवा! मम अंतिए धम्मं णिसामेमाणस्स संखसद्दं आकण्णित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए समुप्पण्णे—'किं मण्णे जाव वियंभइ, से नूणं कविला! वासुदेवा! अयमट्ठे समट्ठे?'

'हंता अत्थि।'

'कपिल वासुदेव' इस प्रकार से संबोधित करके मुनिसुव्रत अरिहंत ने कपिल वासुदेव से कहा—'हे कपिल वासुदेव! मेरे पास धर्म श्रवण करते हुए तुम्हें यह विचार आया है कि—'क्या इस भरतक्षेत्र में दूसरा वासुदेव उत्पन्न हो गया है, जिसके शंख का यह शब्द फैल रहा है आदि; हे कपिल वासुदेव! मेरा यह अर्थ (कथन) सत्य है?'

(कपिल वासुदेव ने उत्तर दिया)—'हां सत्य है।'

१९७—'नो खलु कपिला! वासुदेवा! एवं भूयं वा, भवइ वा, भविस्सइ वा जण्णं एगे खेत्ते, एगे जुगे, एगे समए दुवे अरहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा उप्पज्जिसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा। एवं खलु वासुदेवा! जंबुद्दीवाओ दीवाओ भारहाओ वासाओ

१. औपपातिक सूत्र में राजवर्णन देखिए।

हत्थिणाउरनयराओ पंडुस्स रण्णो सुण्हा पंचण्हं पंडवाणं भारिया दोवई देवी तव पउमणाभस्स रण्णो पुव्वसंगतिएणं देवेणं अमरकंकाणयरिं साहरिया। तए णं से कण्हे वासुदेवे पंचहिं पंडवेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे छहिं रहेहिं अमरकंकं रायहाणिं दोवईए देवीए कूवं हव्वमागए। तए णं तस्स कण्हस्स वासुदेवस्स पउमनाभेणं रण्णा सद्धिं संगामं संगामेमाणस्स अयं संखसद्दे तव मुहवायपूरिते इव इट्ठे कंते इहेव वियंभइ।'[1]

मुनिसुव्रत अरिहंत ने पुनः कहा—'कपिल वासुदेव ! ऐसा कभी हुआ नहीं, होता नहीं और होगा नहीं कि एक क्षेत्र में एक ही युग में और एक ही समय में दो तीर्थंकर, दो चक्रवर्ती दो बलदेव अथवा दो वासुदेव उत्पन्न हुए हों, उत्पन्न होते हों या उत्पन्न होंगे। हे वासुदेव ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप से, भरतक्षेत्र से, हस्तिनापुर नगर से पाण्डु राजा की पुत्र-वधू और पाँच पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी देवी को तुम्हारे पद्मनाभ राजा का पहले का साथी देव हरण करके ले आया था। तब कृष्ण वासुदेव पाँच पाण्डवों समेत आप स्वयं छठे द्रौपदी देवी को वापिस छीनने के लिए शीघ्र आये हैं। वह पद्मनाभ राजा के साथ संग्राम कर रहे हैं। अतः कृष्ण वासुदेव के शंख का यह शब्द है, जो ऐसा जान पड़ता है कि तुम्हारे मुख की वायु से पूरित किया गया हो और जो इष्ट है, कान्त है और यहां तुम्हें सुनाई दिया है।

१९८—तए णं से कविले वासुदेवे मुणिसुव्वयं वंदइ, नमंसइ,वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—'गच्छामि णं अहं भंते ! कण्हं वासुदेवं उत्तमपुरिसं पासामि।'

तए णं मुणिसुव्वए अरहा कविलं वासुदेवं एवं वयासी—'नो खलु देवाणुप्पिया ! एवं भूयं वा, भवइ वा, भविस्सइ वा जण्णं अरिहंता वा अरिहंतं पासंति, चक्कवट्टी वा चक्कवट्टिं पासंति, बलदेवा वा बलदेवं पासंति, वासुदेवा वा वासुदेवं पासंति। तह वि य णं तुमं कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेण वीइवयमाणस्स सेयापीयाइं धयग्गाइं पासिहिसि।'

तत्पश्चात् कपिल वासुदेव ने मुनिसुव्रत तीर्थंकर को वन्दना की, नमस्कार किया। वंदना-नमस्कार करके कहा—'भगवन् ! मैं जाऊँ और पुरुषोत्तम कृष्ण वासुदेव को देखूँ—उनके दर्शन करूँ।'

तब मुनिसुव्रत अरिहन्त ने कपिल वासुदेव से कहा—देवानुप्रिय ! ऐसा हुआ नहीं, होता नहीं और होगा नहीं कि एक तीर्थंकर दूसरे तीर्थंकर को देखें, एक चक्रवर्ती दूसरे चक्रवर्ती को देखें, एक बलदेव दूसरे बलदेव को देखें, और एक वासुदेव दूसरे वासुदेव को देखें। तब भी तुम लवणसमुद्र के मध्य भाग में होकर जाते हुए कृष्ण वासुदेव के श्वेत एवं पीत ध्वजा के अग्रभाग को देख सकोगे।'

१९९—तए णं से कविले वासुदेवे मुणिसुव्वयं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता हत्थिखंधं दुरूहइ, दुरूहित्ता सिग्घं सिग्घं जेणेव वेलाउले तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीइवयमाणस्स सेयापीयाइं धयग्गाइं पासइ, पासित्ता एवं वयइ—'एस णं मम सरिसपुरिसे उत्तमपुरिसे कण्हे वासुदेवे लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीईवयइ' त्ति कट्टु पंचयन्नं संखं परामुसइ मुहवायपूरियं करेइ।

तत्पश्चात् कपिल वासुदेव ने मुनिसुव्रत तीर्थंकर को वन्दन और नमस्कार किया। वन्दन

१. पाठान्तर—'इव वियंभइ'।

नमस्कार करके वह हाथी के स्कंध पर आरूढ हुए। आरूढ होकर जल्दी-जल्दी जहाँ वेलाकूल (लवण समुद्र का किनारा) था, वहाँ आये। वहाँ आकर लवण समुद्र के मध्य में होकर जाते हुए कृष्ण वासुदेव की श्वेत-पीत ध्वजा का अग्रभाग देखा। देख कर कहने लगे—'यह मेरे समान पुरुष हैं, यह पुरुषोत्तम कृष्ण वासुदेव हैं लवण के मध्य में होकर जा रहे हैं।' ऐसा कह कर कपिल वासुदेव ने अपना पाञ्चजन्य शंख हाथ में लिया और उसे अपने मुख की वायु से पूरित किया—फूंका।

२००—तए णं से कण्हे वासुदेवे कविलस्स वासुदेवस्स संखसद्दं आयन्नेइ, आयन्नित्ता पंचयन्नं जाव पूरियं करेइ। तए णं दो वि वासुदेवा संखसद्दसामायारिं करेंति।

तब कृष्ण वासुदेव ने कपिल वासुदेव के शंख का शब्द सुना। सुनकर उन्होंने भी अपने पाञ्चजन्य को यावत् मुख की वायु से पूरित किया। उस समय दोनों वासुदेवों ने शंख शब्द की समाचारी की, अर्थात् शंख के शब्द द्वारा मिलाप किया।

२०१—तए णं से कविले वासुदेवे जेणेव अमरकंका तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अमरकंकं रायहाणिं संभग्गतोरणं जाव[1] पासइ, पासित्ता पउमणाभं एवं वयासी—'किण्णं देवाणुप्पिया! एसा अमरकंका रायहाणी संभग्ग जाव[2] सन्निवइया?'

तत्पश्चात् कपिल वासुदेव जहाँ अमरकंका राजधानी थी, वहां आए। आकर उन्होंने देखा कि अमरकंका के तोरण आदि टूट-फूट गये हैं। यह देख कर उन्होंने पद्मनाभ से पूछा—'देवानुप्रिय! अमरकंका के तोरण आदि भग्न होकर क्यों पड़ गए हैं?

२०२—तए णं से पउमनाभे कविलं वासुदेवं एवं वयासी—'एवं खलु सामी! जंबुद्दीवाओ दीवाओ भारहाओ वासाओ इहं हव्वमागम्म कण्हेणं वासुदेवेणं तुब्भे परिभूय अमरकंका जाव[3] सन्निवाइया।'

तब पद्मनाभ ने कपिल वासुदेव से इस प्रकार कहा—'स्वामिन्! जम्बूद्वीपनामक द्वीप से, भारतवर्ष से, यहाँ एकदम आकर कृष्ण वासुदेव ने, आपका पराभव करके, आपका अपमान करके, अमरकंका को यावत् गिरा दिया है—अर्थात् इस भग्नावस्था में पहुंचा दिया है।'

२०३—तए णं से कविले वासुदेवे पउमणाहस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा पउमणाहं एवं वयासी—'हं भो पउमणाभा! अपत्थियपत्थिया! किं णं तुमं न जाणसि मम सरिसपुरिसस्स कण्हस्स वासुदेवस्स विप्पियं करेमाणे?' आसुरुत्ते जाव [रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु] पउमणाहं णिव्विसयं आणवेइ, पउमणाहस्स पुत्तं अमरकंकारायहाणीए महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचइ, जाव पडिगए।

श्रीकृष्ण का लौटना : पांडवों की शरारत

तत्पश्चात् कपिल वासुदेव, पद्मनाभ से उत्तर सुनकर पद्मनाभ से बोले—'अरे पद्मनाभ! अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले! क्या तू नहीं जानता कि तू ने मेरे समान पुरुष कृष्ण वासुदेव का

१.-२. अ. १६ सूत्र २०१. ३. अ. १६ सूत्र २०२.

अनिष्ट किया है ? इस प्रकार कहकर वह क्रुद्ध हुए, यावत् [रुष्ट, कुपित, प्रचण्ड हुए, मस्तक पर त्रिवलियुक्त भृकुटि चढ़ाकर] पद्मनाभ को देश-निर्वासन की आज्ञा दे दी। पद्मनाभ के पुत्र को अमरकंका राजधानी में महान् राज्याभिषेक से अभिषिक्त किया। यावत् कपिल वासुदेव वापिस चले गये।

२०४—तए णं से कण्हे वासुदेवे लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वीइवयइ, गंगं उवागए, ते पंच पंडवे एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! गंगामहानदिं उत्तरह जाव ताव अहं सुट्ठियं देवं लवणाहिवइं पासामि।'

तए णं पंच पंडवा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ता समाणा जेणेव गंगा महानदी तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता एगट्ठियाए णावाए मग्गणगवेसणं करेंति, करित्ता एगट्ठियाए नावाए गंगामहानदिं उत्तरंति, उत्तरित्ता अण्णमण्णं एवं वयंति—'पहू णं देवाणुप्पिया ! कण्हे वासुदेवे गंगामहाणइं बाहाहिं उत्तरित्तए ? उदाहु णो पभू उत्तरित्तए ?' त्ति कट्टु एगट्ठियं नावं णूमेंति, णूमित्ता कण्हं वासुदेवं पडिवालेमाणा पडिवालेमाणा चिट्ठंति।

इधर कृष्ण वासुदेव लवण समुद्र के मध्य भाग से जाते हुए गंगा नदी के पास आये। तब उन्होंने पांच पाण्डवों से कहा—'देवानुप्रियो ! तुम लोग जाओ। जब तक गंगा महानदी को उतरो, तब तक मैं लवणसमुद्र के अधिपति सुस्थित देव से मिल लेता हूं।'

तब वे पाँचों पाण्डव, कृष्ण वासुदेव के ऐसा कहने पर जहां गंगा महानदी थी, वहां आये। आकर एक नौका की खोज की। खोज कर उस नौका से गंगा महानदी उतरे। उतरकर परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'देवानुप्रिय ! कृष्ण वासुदेव गंगा महानदी को अपनी भुजाओं से पार करने में समर्थ हैं अथवा समर्थ नहीं हैं ? (चलो, इस बात को परीक्षा करें) ऐसा कह कर उन्होंने वह नौका छिपा दी। छिपा कर कृष्ण वासुदेव की प्रतीक्षा करते हुए स्थित रहे।

२०५—तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं लवणाहिवइं पासइ, पासित्ता जेणेव गंगा महाणदी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एगट्ठियाए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ, करित्ता एगट्ठियं णावं अपासमाणे एगाए बाहाए रहं सतुरगं ससारहिं गेण्हइ, एगाए बाहाए गंगं महाणदिं बासट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयणं च विच्छिन्नं उत्तरिउं पयत्ते यावि होत्था।

तए णं से कण्हे वासुदेवे गंगामहाणईए बहुमज्झदेसभागं संपत्ते समाणे संते तंते परितंते बद्धसेए जाए यावि होत्था।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव लवणाधिपति सुस्थित देव से मिले। मिल कर जहां गंगा महानदी थी, वहाँ आये। वहां आकर उन्होंने सब तरफ नौका की खोज की पर खोज करने पर भी नौका दिखाई नहीं दी। तब उन्होंने अपनी एक भुजा से अश्व और सारथी सहित रथ ग्रहण किया और दूसरी भुजा से बासठ योजन और आधा योजन अर्थात् साढ़े बासठ योजन विस्तार वाली गंगा महानदी को पार करने के लिए उद्यत हुए।

कृष्ण वासुदेव जब गंगा महानदी के बीचों बीच पहुंचे तो थक गये, नौका की इच्छा करने लगे और बहुत खेदयुक्त हो गये। उन्हें पसीना आ गया।

२०६—तए णं कण्हस्स वासुदेवस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'अहो णं पंच पंडवा महाबलवग्गा, जेहिं गंगा महाणदी बासट्ठि जोयणाइं अद्धजोयणं च वित्थिन्ना बाहाहिं उत्तिण्णा। इच्छंतएहिं णं पंचहिं पंडवेहिं पउमणाभे राया जाव णो पडिसेहिए।'

तए णं गंगा देवी कण्हस्स इमं एयारूवं अज्झत्थियं जाव जाणित्ता थाहं वियरइ। तए णं से कण्हे वासुदेवे मुहुत्तंतरं समासासेइ, समासासित्ता गंगामहाणदिं बासट्ठि जाव उत्तरइ, उत्तरित्ता जेणेव पंच पंडवा तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता पंच पंडवे एवं वयासी—अहो णं तुब्भे देवाणुप्पिया! महाबलवगा, जेणं तुब्भेहिं गंगा महाणदी बासट्ठि जाव उत्तिण्णा, इच्छंतएहिं पउमनाहे जाव णो पडिसेहिए।

उस समय कृष्ण वासुदेव को इस प्रकार का विचार आया कि—'अहा, पाँच पाण्डव बड़े बलवान् हैं, जिन्होंने साढ़े बासठ योजन विस्तार (पाट) वाली गंगा महानदी अपने बाहुओं से पार करली! (जान पड़ता है कि) पाँच पाण्डवों ने इच्छा करके अर्थात् चाह कर या जान-बूझ कर ही पद्मनाभ राजा को पराजित नहीं किया।'

तब गंगा देवी ने कृष्ण वासुदेव का ऐसा अध्यवसाय यावत् मनोगत संकल्प जानकर थाह दे दी—जल का थल कर दिया। उस समय कृष्ण वासुदेव ने थोड़ी देर विश्राम लिया। विश्राम लेने के बाद साढ़े बासठ योजन विस्तृत गंगा महानदी पार की। पार करके पाँच पाण्डवों के पास पहुंचे। वहाँ पहुंच कर पाँच पाण्डवों से बोले—'अहो देवानुप्रियो! तुम लोग महाबलवान् हो, क्योंकि तुमने साढ़े बासठ योजन विस्तार वाली गंगा महानदी अपने बाहुबल से पार की है। तब तो तुम लोगों ने चाह कर ही पद्मनाभ को पराजित नहीं किया।'

२०७—तए णं ते पंच पंडवा कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वत्ता समाणा कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! अम्हे तुब्भेहिं विसज्जिया समाणा जेणेव गंगा महाणदी तेणेव उवागच्छामो, उवागच्छित्ता एगट्ठियाए मग्गणगवेसणं तं चेव जाव णूमेमो, तुब्भे पडिवालेमाणा चिट्ठामो।'

तब कृष्ण वासुदेव के इस प्रकार कहने पर पाँच पाण्डवों ने कृष्ण वासुदेव से कहा—'देवानुप्रिय! आपके द्वारा विसर्जित होकर अर्थात् आज्ञा पाकर हम लोग जहाँ गंगा महानदी थी, वहाँ आये। वहाँ आकर हमने नौका की खोज की। उस नौका से पार पहुंच कर आपके बल की परीक्षा करने के लिए हमने नौका छिपा दी। फिर आपकी प्रतीक्षा करते हुए हम यहाँ ठहरे हैं।'

श्रीकृष्ण का पाण्डवों पर रोष—देशनिर्वासन

२०८—तए णं कण्हे वासुदेवे तेसिं पंचण्हं पंडवाणं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरत्ते जाव[1] तिवलियं एवं वयासी—'अहो णं जया मए लवणसमुद्दं दुवे जोयणसयसहस्सा वित्थिन्नं वीईवइत्ता पउमणाभं हयमहिय जाव पडिसेहित्ता अमरकंका संभग्गा, दोवई साहत्थि उवणीया, तया णं तुब्भेहिं मम माहप्पं ण विण्णायं, इयाणिं जाणिस्सह!' त्ति कट्टु लोहदंडं परामुसइ, पंचण्हं पंडवाणं रहे चूरेइ, चूरित्ता णिव्विसए आणवेइ आणवित्ता तत्थ णं रहमद्दणे नामं कोट्टे णिविट्ठे।

पाँच पाण्डवों का यह अर्थ (उत्तर) सुनकर और समझ कर कृष्ण वासुदेव कुपित हो उठे।

१. अ. १६ सूत्र २०३.

उनकी तीन बल वाली भृकुटि ललाट पर चढ़ गई। वह बोले—'ओह, जब मैंने दो लाख योजन विस्तीर्ण लवणसमुद्र को पार करके पद्मनाभ को हत और मथित करके, यावत् पराजित करके अमरकंका राजधानी को तहसनहस किया और अपने हाथों द्रौपदी लाकर तुम्हें सौंपी, तब तुम्हें मेरा माहात्म्य नहीं मालूम हुआ! अब तुम मेरा माहात्म्य जान लोगे! इस प्रकार कहकर उन्होंने हाथ में एक लोहदण्ड लिया और पाण्डवों के रथों को चूर-चूर कर दिया। रथ चूर-चूर करके उन्हें देश-निर्वासन की आज्ञा दी। फिर उस स्थान पर रथमर्दननामक कोट स्थापित किया—रथमर्दन तीर्थ की स्थापना की।

२०९—तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव सए खंधावारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सएणं खंधावारेणं सद्धिं अभिसमन्नागए यावि होत्था। तए णं से कण्हे वासुदेवे जेणेव बारवई नयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बारवइं णयरिं अणुपविसइ।

तत्पश्चात् कृष्ण वासुदेव अपनी सेना के पड़ाव (छावनी) में आये। आकर अपनी सेना के साथ मिल गये। उसके पश्चात् कृष्ण वासुदेव जहाँ द्वारका नगरी थी, वहाँ आये। आकर द्वारका नगरी में प्रविष्ट हुए।

२१०—तए णं ते पंच पंडवा जेणेव हत्थिणाउरे णयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता जेणेव पंडू तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल जाव एवं वयासी—'एवं खलु ताओ! अम्हे कण्हेणं णिव्विसया आणत्ता।'

तए णं पंडुराया ते पंच पंडवे एवं वयासी—'कहं णं पुत्ता! तुब्भे कण्हेणं वासुदेवेणं णिव्विसया आणत्ता?'

तए णं ते पंच पंडवा पंडुरायं एवं वयासी—'एवं खलु ताओ! अम्हे अमरकंकाओ पडिनियत्ता लवणसमुद्दं दोण्णि जोयणसयसहस्साइं वीइवइत्था तए णं से कण्हे वासुदेवे अम्हे एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! गंगामहाणदिं उत्तरह' जाव चिट्ठह, ताव अहं एवं तहेव जाव चिट्ठेमो। तए णं से कण्हे वासुदेवे सुट्ठियं लवणाहिवइं दट्ठूण तं चेव सव्वं, नवरं कण्हस्स चिंता ण जुज्ज (वुच्च) इ, जाव अम्हे णिव्विसए आणवेइ।'

तत्पश्चात् वे पाँचों पाण्डव हस्तिनापुर नगर में आये। पाण्डु राजा के पास पहुँचे। वहां पहुँच कर और हाथ जोड़ कर बोले—'हे तात! कृष्ण ने हमें देशनिर्वासन की आज्ञा दी है।'

तब पाण्डु राजा ने पाँच पाण्डवों से प्रश्न किया—'पुत्रो! किस कारण वासुदेव ने तुम्हें देशनिर्वासन की आज्ञा दी?

तब पाँच पाण्डवों ने पाण्डु राजा को उत्तर दिया—तात! हम लोग अमरकंका से लौटे और दो लाख योजन विस्तीर्ण लवणसमुद्र को पार कर चुके, तब कृष्ण वासुदेव ने हमसे कहा—देवानुप्रियो! तुम लोग चलो, गंगा महानदी पार करो, यावत् मेरी प्रतीक्षा करते हुए ठहरना। तब तक मैं सुस्थित देव से मिल कर आता हूँ—इत्यादि पूर्ववत् कहना।[1] हम लोग गंगा महानदी पार करके नौका छिपा कर उनकी राह देखते ठहरे। तदनन्तर कृष्ण वासुदेव लवण समुद्र के अधिपति

१. अ. १६, सूत्र २०४-२०७

सुस्थित देव से मिल कर आये। इत्यादि सब पूर्ववत्—समग्र वृत्तान्त कहना, केवल कृष्ण के मन में जो विचार उत्पन्न हुआ था, वह नहीं कहना। यावत् कुपित होकर उन्होंने हमें देशनिर्वासन की आज्ञा दे दी।

२११—तए णं से पंडुराया ते पंच पंडवे एवं वयासी—'दुट्ठु णं पुत्ता! कयं कण्हस्स वासुदेवस्स विप्पियं करेमाणेहिं।'

तब पाण्डु राजा ने पाँच पाण्डवों से कहा—'पुत्रो! तुमने कृष्ण वासुदेव का अप्रिय (अनिष्ट) करके बुरा काम किया।'

२१२—तए णं से पंडू राया कोंतिं देविं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिया! बारवइं कण्हस्स वासुदेवस्स णिवेदेहि—'एवं खलु देवाणुप्पिया! तुम्हे पंच पंडवा णिव्विसया आणत्ता, तुमं च णं देवाणुप्पिया! दाहिणड्ढभरहस्स सामी, तं संदिसंतु णं देवाणुप्पिया! ते पंच पंडवा कयरं देसं वा दिसिं वा विदिसिं वा गच्छंतु?'

तदनन्तर पाण्डु राजा ने कुन्ती देवी को बुला कर कहा—'देवानुप्रिये! तुम द्वारका जाओ और कृष्ण वासुदेव से निवेदन करो कि—'हे देवानुप्रिय! तुमने पाँच पाण्डवों को देशनिर्वासन की आज्ञा दी है, किन्तु हे देवानुप्रिय! तुम तो समग्र दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र के अधिपति हो। अतएव हे देवानुप्रिय! आदेश दो कि पाँच पाण्डव किस देश में या दिशा अथवा किस विदिशा में जाएँ—कहाँ निवास करें?

२१३—तए णं सा कोंती पंडुणा एवं वुत्ता समाणी हत्थिखंधं दुरूहइ, दुरूहित्ता जहा हेट्ठा जाव—'संदिसंतु णं पिउत्था! किमागमणपओयणं?

तए णं सा कोंती कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—'एवं खलु पुत्ता! तुमे पंच पंडवा णिव्विसया आणत्ता, तुमं च णं दाहिणड्ढभरह [स्स सामी। तं संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ते पंच पंडवा कयरं देसं वा दिसं वा] जाव विदिसिं वा गच्छंतु?

तब कुन्ती देवी, पाण्डु राजा के इस प्रकार कहने पर हाथी के स्कंध पर आरूढ होकर पहले कहे अनुसार द्वारका पहुँची। अग्र उद्यान में ठहरी। कृष्ण वासुदेव को सूचना करवाई। कृष्ण स्वागत के लिए आये। उन्हें महल में ले गये। यावत् पूछा—'हे पितृभगिनी! आज्ञा कीजिए, आपके आने का क्या प्रयोजन है?

तब कुन्ती देवी ने कृष्ण वासुदेव से कहा—'हे पुत्र! तुमने पांचों पाण्डवों को देश-निकाले का आदेश दिया है और तुम समग्र दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र के स्वामी हो, तो बतलाओ वे किस देश में, किस दिशा या विदिशा में जाएँ?'

पाण्डुमथुरा की स्थापना

२१४—तए णं से कण्हे वासुदेवे कोंतिं देविं एवं वयासी—'अपूइवयणा णं पिउच्छा! उत्तमपुरिसा—वासुदेवा बलदेवा चक्कवट्टी। तं गच्छंतु णं देवाणुप्पियए! पंच पंडवा दाहिणिल्लं वेयालिं, तत्थ पंडुमहुरं णिवेसंतु, ममं अदिट्ठसेवगा भवंतु।' त्ति कट्टु सक्कारेइ, सम्माणेइ, जाव [सक्कारित्ता संमाणित्ता] पडिविसज्जेइ।

तब कृष्ण वासुदेव ने कुन्ती देवी से कहा—'पितृभगिनी ! उत्तम पुरुष अर्थात् वासुदेव, बलदेव और चक्रवर्त्ती अपूतिवचन होते हैं—उनके वचन मिथ्या नहीं होते। (वे कहकर बदलते नहीं हैं, अतः मैं देशनिर्वासन की आज्ञा वापिस लेने में असमर्थ हूँ)। देवानुप्रिये ! पाँचों पाण्डव दक्षिण दिशा के वेलातट (समुद्र किनारे) जाएँ वहाँ पाण्डु-मथुरा नामक नयी नगरी बसायें और मेरे अदृष्ट सेवक होकर रहें अर्थात् मेरे सामने न आएं।' इस प्रकार कहकर उन्होंने कुन्ती देवी का सत्कार-सम्मान किया, यावत् [सत्कार-सन्मान करके] उन्हें विदा दी।

२१५—तए णं सा कोंती देवी जाव पंडुस्स एयमट्ठं णिवेदेइ। तए णं पंडू राया पंच पंडवे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे पुत्ता ! दाहिणिल्लं वेयालिं, तत्थ णं तुब्भे पंडुमहुरं णिवेसेह।'

तए णं पंच पंडवा पंडुस्स रण्णो जाव [एयमट्ठं] तह त्ति पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता सबलवाहणा हयगय हत्थिणाउराओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव दक्खिणिल्ले वेयाली तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पंडुमहुरं नगरिं निवेसंति, निवेसित्ता तत्थ णं ते विपुलभोग-समितिसमण्णागया यावि होत्था।

तत्पश्चात् कुन्ती देवी ने द्वारवती नगरी से आकर पाण्डु राजा को यह अर्थ (वृत्तान्त) निवेदन किया। तब पाण्डु राजा ने पाँचों पाँण्डवों को बुला कर कहा—पुत्रो ! तुम दक्षिणी वेलातट (समुद्र के किनारे) जाओ और वहाँ पाण्डुमथुरा नगरी बसा कर रहो।'

तब पाँचों पाण्डवों ने पाण्डु राजा की यह बात 'तथास्तु—ठीक है' कह कर स्वीकार की। स्वीकार करके बल और वाहनों के साथ घोड़े और हाथी [आदि की चतुरंगिणी सेना तथा अनेक भटों को] साथ लेकर हस्तिनापुर से बाहर निकले। निकल कर दक्षिणी वेलातट पर पहुँचे। पाण्डुमथुरा नगरी की स्थापना की। नगरी की स्थापना करके वे वहाँ विपुल भोगों के समूह से युक्त हो गये—सुखपूर्वक निवास करने लगे।

पाण्डुसेन का जन्म

२१६—तए णं सा दोवई देवी अन्नया कयाइ आवण्णसत्ता जाया यावि होत्था। तए णं दोवई देवी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं जाव सुरूवं दारगं पयाया सूमालं, कोमलयं गयतालुय-समाणं, णिव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं गोण्णं गुणनिप्फण्णं नामधेज्जं करेंति—जम्हा णं अम्हं एस दारए पंचण्हं पंडवाणं पुत्ते दोवईए देवीए अत्तए, तं होउ अम्हं इमस्स दारगस्स णामधेज्जं 'पंडुसेणे'। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेंति पंडुसेण त्ति।

तत्पश्चात् एक बार किसी समय द्रौपदी देवी गर्भवती हुई। फिर द्रौपदी देवी ने नौ मास यावत् संपूर्ण होने पर सुन्दर रूप वाले और सुकुमार तथा हाथी के तालु के समान कोमल बालक को जन्म दिया' बारह दिन व्यतीत होने पर उस बालक के माता-पिता को ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि—क्योंकि हमारा यह बालक पाँच पाण्डवों का पुत्र है और द्रौपदी देवी का आत्मज है, अतः इस बालक का नाम 'पाण्डुसेन' होना चाहिए। तत्पश्चात् उस बालक के माता-पिता ने उसका 'पाण्डुसेन' नाम रक्खा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र के पश्चात् 'अंगसुत्ताणि' में रायपसेणिय सूत्र के आधार पर निम्नलिखित पाठ अधिक दिया गया है :—

तए णं तं पंडुसेणं दारयं अम्मापियरो साइरेगट्ठवासयं चेव सोहणंसि तिहिकरण-मुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेंति ।

तए णं से कलायरिए पंडुसेणं कुमारं लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणिरुयपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सेहावेइ, सिक्खावेइ ।

जाव अलं भोगसमत्थे जाए । जुवराया जाव विहरइ ।'

अर्थात्—'पाण्डुसेन पुत्र जब कुछ अधिक आठ वर्ष का हो गया तो माता-पिता शुभ तिथि करण और मुहूर्त में उसे कलाचार्य के पास ले गये ।

कलाचार्य ने पाण्डुसेन कुमार को लेखनकला से प्रारंभ करके गणितप्रधान और शकुनिरुत तक की बहत्तर कलाएं सूत्र-मूलपाठ-से, अर्थ से और करण-प्रयोग से सिखलाईं ।

यथासमय पाण्डुसेन मानवीय भोग भोगने में समर्थ हो गया । वह युवराज पद पर प्रतिष्ठित हो गया ।

प्रस्तुत पाठ के स्थान पर टीका वाली प्रति में संक्षिप्त पाठ इस प्रकार दिया गया है—

'बावत्तरिं कलाओ जाव भोगसमत्थे जाए, जुवराया जाव विहरइ ।'

यद्यपि यह वर्णन प्रत्येक राजकुमार के लिए सामान्य है, इसमें कोई नवीन-मौलिक बात नहीं है, तथापि इससे आगे के पाठ में पाण्डवों की दीक्षा का प्रसंग वर्णित है । बालक के नामकरण के पश्चात् ही माता-पिता के दीक्षा-प्रसंग का वर्णन आ जाए तो कुछ अटपटा-सा लगता है, अतएव बीच में इस पाठ का संकलन करना ही उचित प्रतीत होता है । पुत्र युवराज हो तो उसे राजसिंहासन पर आसीन करके माता-पिता प्रव्रजित हो जाएं, यह जैन-परम्परा का वर्णन अन्यत्र भी देखा जाता है। अतएव किसी-किसी प्रति में उल्लिखित पाठ न उपलब्ध होने पर भी यहां उसका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है ।

स्थविर-आगमन : धर्मश्रवण

२१७—तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा[1] थेरा समोसढा । परिसा निग्गया । पंडवा निग्गया, धम्मं सोच्चा एवं वयासी—'जं णवरं देवाणुप्पिया ! दोवइं देविं आपुच्छामो, पंडुसेणं च कुमारं रज्जे ठावेमो, तओ पच्छा देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामो ।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया !'

उस काल और उस समय में धर्मघोष स्थविर पधारे । धर्मश्रवण करने और उन्हें वन्दना करने के लिए परिषद् निकाली । पाण्डव भी निकले । धर्म श्रवण करके उन्होंने स्थविर से कहा—'देवानुप्रिय ! हमें संसार से विरक्ति हुई है, अतएव हम दीक्षित होना चाहते हैं; केवल द्रौपदी देवी से अनुमति ले लें और पाण्डुसेन कुमार को राज्य पर स्थापित कर दें । तत्पश्चात् देवानुप्रिय के निकट मुण्डित होकर यावत् प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे ।

तब स्थविर धर्मघोष ने कहा—'देवानुप्रियो ! जैसे तुम्हें सुख उपजे, वैसा करो ।'

१. किन्हीं प्रतियों में 'धम्मघोसा' पद नहीं है ।

२१८—तए णं ते पंच पंडवा जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता दोवइं देविं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिए ! अम्हेहिं थेराणं अंतिए धम्मे णिसंते जाव पव्वयामो, तुमं देवाणुप्पिये ! किं करेसि ?'

तए णं सा दोवई देवी ते पंच पंडवे एवं वयासी—'जइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! संसार-भउव्विग्गा पव्वयह, ममं के अण्णे आलंबे वा जाव [आहारे वा पडिबंधे वा] भविस्सइ ! अहं पि य णं संसारभउव्विग्गा देवाणुप्पिएहिं सद्धिं पव्वइस्सामि ।'

तत्पश्चात् पाँचों पाण्डव अपने भवन में आये । आकर उन्होंने द्रौपदी देवी को बुलाया और उससे कहा—देवानुप्रिये ! हमने स्थविर मुनि से धर्म श्रवण किया है, यावत् हम प्रव्रज्या ग्रहण कर रहे हैं । देवानुप्रिये ! तुम्हें क्या करना है ?

तब द्रौपदी देवी ने पाँचों पाण्डवों से कहा—'देवानुप्रियो ! यदि आप संसार के भय से उद्विग्न होकर प्रव्रजित होते हो तो मेरा दूसरा कौन अवलम्बन यावत् [या आधार है ? क्या प्रतिबंध है ?] अतएव मैं भी संसार के भय से उद्विग्न होकर देवानुप्रियों के साथ दीक्षा अंगीकार करूंगी ।'

प्रव्रज्या ग्रहण

२१९—तए णं पंच पंडवा पंडुसेणस्स अभिसेओ जाव राया जाए जाव रज्जं पसाहेमाणे विहरइ । तए णं ते पंच पंडवा दोवई य देवी अन्नया कयाइं पंडुसेणं रायाणं आपुच्छंति ।

तए णं से पंडुसेणे राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! निक्खमणाभिसेयं करेह, जाव पुरिससहस्सवाहिणीओ सिवियाओ उवट्ठवेह ।' जाव पच्चोरुहंति । जेणेव थेरा तेणेव, आलित्ते णं जाव[1] समणा जाया । चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जंति, अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि छट्ठट्ठम-दसम-दुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

तत्पश्चात् पाँचों पाण्डवों ने पाण्डुसेन का राज्याभिषेक किया । यावत् पाण्डुसेन राजा हो गया, यावत् राज्य का पालन करने लगा । तब किसी समय पाँचों पाण्डवों ने और द्रौपदी ने पाण्डुसेन राजा से दीक्षा की अनुमति मांगी ।

तब पाण्डुसेन राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनसे कहा—'देवानुप्रियो ! शीघ्र ही दीक्षा-महोत्सव की तैयारी करो और हजार पुरुषों द्वारा वहन करने योग्य शिविकाएं तैयार करो । शेष वृत्तान्त पूर्ववत् जानना चाहिए, यावत् वे शिविकाओं पर आरूढ होकर चले और स्थविर मुनि के स्थान के पास पहुँच कर शिविकाओं से नीचे उतरे । उतर कर स्थविर मुनि के निकट पहुंचे । वहां जाकर स्थविर से निवेदन किया—भगवन् ! यह संसार जल रहा है आदि यावत् पाँचों पाण्डव श्रमण बन गये । चौदह पूर्वों का अध्ययन किया । अध्ययन करके बहुत वर्षों तक बेला, तेला, चौला, पंचोला तथा अर्धमास-खमण, मासखमण आदि तपस्या द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।

२२०—तए णं सा दोवई देवी सीयाओ पच्चोरुहइ, जाव पव्वइया सुव्वयाए अज्जाए

१. अ. १ मेघकुमार का दीक्षाप्रसंग देखिए ।

सिस्सिणीयत्ताए दलयति, इक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं जाव विहरइ।

द्रौपदी देवी भी शिबिका से उतरी, यावत् दीक्षित हुई। वह सुव्रता आर्या को शिष्या के रूप में सौंप दी गयी। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। अध्ययन करके बहुत वर्षों तक वह षष्ठभक्त, अष्टमभक्त, दशमभक्त और द्वादशभक्त आदि तप करती हुई विचरने लगी।

२२१—तए णं थेरा भगवंतो अन्नया कयाई पंडुमहुराओ णयरीओ सहस्संबवणाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरंति।

तत्पश्चात् किसी समय स्थविर भगवंत पाण्डुमथुरा नगरी के सहस्राम्रवननामक उद्यान से निकले। निकल कर बाहर जनपदों में विचरण करने लगे।

भगवान् अरिष्टनेमि का निर्वाण

२२२—तेणं कालेणं तेणं समएणं अरिहा अरिट्ठनेमी जेणेव सुरट्ठाजणवए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुरट्ठाजणवयंसि संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ—'एवं खलु देवाणुप्पिया! अरिहा अरिट्ठनेमी सुरट्ठाजणवए जाव विहरइ। तए णं से जुहिट्ठिल्लपामोक्खा पंच अणगारा बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासीः—

'एवं खलु देवाणुप्पिया! अरहा अरिट्ठनेमी पुव्वाणुपुव्विं जाव विहरइ, तं सेयं खलु अम्हं थेरे भगवंते आपुच्छित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं वंदणाए गमित्तए। अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते वंदंति, नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामो णं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणा अरहं अरिट्ठनेमिं जाव गमित्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया!'

उस काल और उस समय में अरिहन्त अरिष्टनेमि जहां सुराष्ट्र जनपद था, वहाँ पधारे। पधार कर सुराष्ट्र जनपद में संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। उस समय बहुत जन परस्पर इस प्रकार कहने लगे—'हे देवानुप्रियो! तीर्थंकर अरिष्टनेमि सुराष्ट्र जनपद में यावत् विचर रहे हैं।' तब युधिष्ठिर प्रभृति पाँचों अनगारों ने बहुत जनों से यह वृत्तान्त सुन कर एक दूसरे को बुलाया और कहा—'देवानुप्रियो! अरिहन्त अरिष्टनेमि अनुक्रम से विचरते हुए यावत् सुराष्ट्र जनपद में पधारे हैं, अतएव स्थविर भगवंत से पूछ कर तीर्थंकर अरिष्टनेमि को वन्दना करने के लिए जाना हमारे लिए श्रेयस्कर है।' परस्पर की यह बात सबने स्वीकार की। स्वीकार करके वे जहां स्थविर भगवंत थे, वहां गये। जाकर स्थविर भगवंत को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके उनसे कहा—भगवन्! आपकी आज्ञा पाकर हम अरिहंत अरिष्टनेमि को वन्दना करने हेतु जाने की इच्छा करते हैं।

स्थविर ने अनुज्ञा दी—'देवानुप्रियो! जैसे सुख हो, वैसा करो।'

२२३—तए णं ते जहुट्ठिलपामोक्खा पंच अणगारा थेरेहिं अब्भणुन्नाया समाणा थेरे भगवंते वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता थेराणं अंतियाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता मासंमासेण अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं गामाणुगामं दूइज्जमाणा जाव जेणेव हत्थिकप्पे नयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता हत्थिकप्पस्स बहिया सहसंबवणे उज्जाणे जाव विहरंति।

तत्पश्चात् उन युधिष्ठिर आदि पांचों अनगारों ने स्थविर भगवान् से अनुज्ञा पाकर उन्हें वन्दना-नमस्कार किया। वन्दना नमस्कार करके वे स्थविर के पास से निकले। निकल कर निरन्तर मासखमण करते हुए, एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाते हुए, यावत् जहाँ हस्तीकल्प नगर था, वहाँ पहुँचे। पहुंच कर हस्तीकल्प नगर के बाहर सहस्राम्रवननामक उद्यान में ठहरे।

२२४—तए णं ते जुहिट्ठिलवज्जा चत्तारि अणगारा मासक्खमणपारणए पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेंति, बीयाए एवं जहा गोयमसामी, णवरं जुहिट्ठिलं आपुच्छंति, जाव अडमाणा बहुजणसद्दं णिसामेंति—'एवं खलु देवाणुप्पिया! अरहा अरिट्ठनेमी उज्जितसेलसिहरे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं पंचहिं छत्तीसेहिं अणगारसएहिं सद्धिं कालगए सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे सव्वदुक्खप्पहीणे।'

तत्पश्चात् युधिष्ठिर के सिवाय शेष चार अनगारों ने मासखमण के पारणक के दिन, पहले प्रहर में स्वाध्याय किया, दूसरे प्रहर में ध्यान किया। शेष गौतम स्वामी के समान वर्णन जानना चाहिए, विशेष यह कि उन्होंने युधिष्ठिर अनगार से पूछा—भिक्षा की अनुमति मांगी। फिर वे भिक्षा के लिए जब अटन कर रहे थे, तब उन्होंने बहुत जनों से सुना कि—'देवानुप्रियो! तीर्थंकर अरिष्टनेमि गिरिनार पर्वत के शिखर पर, एक मास का निर्जल उपवास करके, पांच सौ छत्तीस साधुओं के साथ, काल-धर्म को प्राप्त हो गये हैं, यावत् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, अन्तकृत् होकर समस्त दुःखों से रहित हो गये हैं।'

२२५—तए णं ते जुहिट्ठिलवज्जा चत्तारि अणगारा बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा हत्थिकप्पाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे, जेणेव जुहिट्ठिले अणगारे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भत्तपाणं पच्चुवेक्खंति, पच्चुवेक्खित्ता गमणागमणस्स पडिक्कमंति, पडिक्कमित्ता एसणमणेसणं आलोएंति, आलोइत्ता भत्तपाणं पडिदंसेंति, पडिदंसित्ता एवं वयासी—

तब युधिष्ठिर के सिवाय वे चारों अनगार बहुत जनों के पास से यह अर्थ सुन कर हस्तीकल्प नगर से बाहर निकले। बाहर निकलकर जहाँ सहस्राम्रवन था और जहां युधिष्ठिर अनगार थे, वहां पहुँचे। पहुँच कर आहार—पानी की प्रत्युपेक्षणा की। प्रत्युपेक्षणा करके गमनागमन का प्रतिक्रमण किया। फिर एषणा-अनेषणा की आलोचना की। आलोचना करके आहार पानी दिखलाया। दिखला कर युधिष्ठिर अनगार से कहा—

२२६—'एवं खलु देवाणुप्पिया! जाव[1] कालगए, ते सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया! इमं पुव्वगहियं भत्तपाणं परिट्ठवेत्ता सेत्तुंजं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहित्तए, संलेहणा-झूसणा-झोसियाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए,' त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति,

१. अ. १६ सूत्र २२४.

पडिसुणित्ता तं पुव्वगहियं भत्तपाणं एगंते परिट्ठवंति, परिट्ठवित्ता जेणेव सेत्तुंजे पव्वए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सेत्तुंजं पव्वयं दुरूहंति, दुरूहित्ता जाव कालं अणवकंखमाणा विहरंति।

'हे देवानुप्रिय ! (हम आपकी अनुमति लेकर भिक्षा के लिए नगर में गये थे। वहाँ हमने सुना है कि तीर्थंकर अरिष्टनेमि) यावत् कालधर्म को प्राप्त हुए हैं। अतः हे देवानुप्रिय ! हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि भगवान् के निर्वाण का वृत्तान्त सुनने से पहले ग्रहण किये हुए आहार—पानी को परठ कर धीरे-धीरे शत्रुंजय पर्वत पर आरूढ हों तथा संलेखना करके झोषणा (कर्म-शोषण की क्रिया) का सेवन करके और मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए विचरें—रहें' इस प्रकार कह कर सबने परस्पर के इस अर्थ (विचार) को अंगीकार किया। अंगीकार करके वह पहले ग्रहण किया आहार—पानी एक जगह परठ दिया। परठ कर जहाँ शत्रुंजय पर्वत था, वहां गए। शत्रुंजय पर्वत पर आरूढ हुए। आरूढ होकर यावत् मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए विचरने लगे।

पाण्डवों का निर्वाण

२२७—तए णं ते जुहिट्ठिलपामोक्खा पंच अणगारा सामाइयमाइयाइं चोद्दस पुव्वाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता दोमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झोसित्ता जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे जाव[1] तमट्ठं आराहेंति। आराहित्ता अणंते जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पाडेत्ता जाव सिद्धा।

तत्पश्चात् उन युधिष्ठिर आदि पांचों अनगारों ने सामायिक से लेकर चौदह पूर्वों का अभ्यास करके बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय का पालन करके, दो मास की संलेखना से आत्मा को झोषण करके, जिस प्रयोजन के लिए नग्नता, मुंडता आदि अंगीकार की जाती है, उस प्रयोजन को सिद्ध किया। उन्हें अनन्त यावत् श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त हुआ। यावत् वे सिद्ध हो गये।

आर्या द्रौपदी का स्वर्गवास

२२८—तए णं सा दोवई अज्जा सुव्वयाणं अज्जियाणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस्स अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए आलोइयपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा बंभलोए उववन्ना।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् द्रौपदी आर्या ने सुव्रता आर्या के पास सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। अध्ययन करके बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय का पालन किया। अन्त में एक मास की संलेखना करके, आलोचना और प्रतिक्रमण करके, तथा कालमास में काल करके (यथासमय निधन को प्राप्त होकर) ब्रह्मलोकनामक स्वर्ग में जन्म लिया।

२२९—तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं दोवइस्स[2] देवस्स दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

ब्रह्मलोकनामक पाँचवें देवलोक में कितनेक देवों की दस सागरोपम की स्थिति कही गई है। उनमें द्रौपदी (द्रुपद) देव की भी दस सागरोपम की स्थिति कही गई है।

१. ओववाइय सूत्र १५४. २. पाठान्तर—'दुवयस्स।'

द्रौपदी का भविष्य

२३०—से णं भंते ! दुवए देवे ताओ जाव [देवलोगाओ आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता] महाविदेहे वासे जाव अंतं काहिइ।

गौतम स्वामी ने श्रमण भगवन् महावीर से प्रश्न किया—'भगवन् ! वह द्रुपद देव वहां से चय कर कहां जन्म लेगा ? तब भगवान् ने उत्तर दिया—'ब्रह्मलोक स्वर्ग से वहां की आयु, स्थिति एवं भव का क्षय होने पर] महाविदेह वर्ष में उत्पन्न होकर यावत् कर्मों का अन्त करेगा।

निक्षेप

२३१—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं सोलसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

प्रकृत अध्ययन का उपसंहार करते हुए श्री सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा—इस प्रकार निश्चय ही, हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने सोलहवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादित किया है। जैसा मैंने सुना वैसा तुम्हें कहा है।

।। सोलहवां अध्ययन समाप्त ।।

सत्तरहवाँ अध्ययन : आकीर्ण

सार : संक्षेप

प्रस्तुत अध्ययन का नाम आकीर्णज्ञात है। आकीर्ण अर्थात् उत्तम जाति का अश्व। अश्वों के उदाहरण द्वारा यहाँ यह प्रतिपादन किया गया है कि जो साधक इन्द्रियों के वशवर्त्ती होकर, अनुकूल विषयों को प्राप्त करके उनमें लुब्ध बन जाते हैं, वे अपनी रागवृत्ति की उत्कटता के कारण दीर्घ काल तक भव-भ्रमण करते हैं। जन्म-जरा-मरण की वेदनाओं के अतिरिक्त भी उन्हें अनेक प्रकार की व्यथाएँ सहन करनी पड़ती हैं। इसके विपरीत, प्रलोभन-जनक विषयों में जो आसक्त नहीं होते, जो इन्द्रिय-विषयों से विमुख रहते हैं, वे अपने वीतरागभाव के कारण सांसारिक यातनाओं से बच जाते हैं। यही नहीं, वे सहज—स्वाभाविक असीम आत्मानन्द को प्राप्त कर लेते हैं। कथानक इस प्रकार है—

हस्तिशीर्ष नगर के कुछ नौकावणिक्—जलयान द्वारा समुद्र के रास्ते विदेश जाकर व्यापार करने वाले व्यापारी, व्यापार के लिए निकले। वे लवणसमुद्र में जा रहे थे कि अचानक तूफान आ गया। नौका आंधी के थपेड़ों से डगमगाने लगी। चलित-विचलित होने लगी। इधर-उधर चक्कर खाने लगी। निर्यामक की बुद्धि भी चक्कर खाने लगी। उसे दिशा का भान नहीं रहा—नौका किधर जा रही है, किस ओर जाना है, यह भी वह भूल गया। वणिकों के भी होश-हवास ठिकाने नहीं रहे। वे देवी-देवताओं की मनौती मनाने लगे।

गनीमत रही कि तूफान थोड़ी देर में शान्त हो गया। निर्यामक की संज्ञा जागृत हुई। दिशा का बोध हो आया। नौका कालिक द्वीप के किनारे जा लगी।

कालिक द्वीप में पहुँचने पर वणिकों ने देखा—यहाँ चांदी, सोने, हीरों आदि रत्नों की प्रचुर खानें हैं। उन्होंने वहाँ उत्तम जाति के विविध वर्णों वाले अश्व भी देखे।

मगर वणिकों को अश्वों से कोई प्रयोजन नहीं था, अतएव वे चांदी, सोना, हीरा आदि भर कर वापिस अपने नगर में—हस्तिशीर्ष—लौट आए।

तत्कालीन परम्परा के अनुसार वणिक् बहुमूल्य उपहार लेकर राजा कनककेतु के समक्ष गए। राजा ने उनसे पूछा—देवानुप्रियो ! आप लोग अनेक नगरों में भ्रमण करते हैं, समुद्रयात्रा भी करते हैं तो इस बीच कुछ अद्‌भुत अनोखी वस्तु देखने में आई है ?

वणिकों ने कालिक द्वीप के अश्वों का उल्लेख किया, उनकी सुन्दरता का वर्णन कह सुनाया। तब राजा ने वणिकों को अश्व ले आने का आदेश दिया।

वणिक् राजा के सेवकों के साथ पुनः कालिक द्वीप गए। किन्तु उन्होंने देखा था कि वहाँ के अश्व मनुष्य की गंध पाकर दूर भाग गए थे। वे सहज ही पकड़ में आने वाले नहीं थे। अतएव वे पाँचों इन्द्रियों को लुभाने वाली सामग्री लेकर चले। कालिक द्वीप पहुँच कर उन्होंने वह सामग्री बिखेर दी। जो घोड़े इन्द्रियों को वश में न रख सके, उस सामग्री के प्रलोभन में फँस गए, वे बन्धन में फँस गए—पकड़े गए और हस्तिशीर्ष नगर में ले आए गए। वहाँ प्रशिक्षित होने में उन्हें

चाबुकों की मार खानी पड़ी। वध-बन्धन के अनेकानेक कष्ट सहन करने पड़े। उनकी स्वाधीनता का सुख नष्ट हो गया। पराधीनता में जीवन यापन करना पड़ा।

कुछ अश्व ऐसे भी थे जो वणिकों द्वारा बिखेरी गई लुभावनी सामग्री के जाल में नहीं फँसे थे। वे जाल में फँसने से भी बच गए। वे उस सामग्री से विमुख होकर दूर चले गए। उनकी स्वाधीनता नष्ट नहीं हुई। पराधीनता के कष्टों से वे बचे रहे। उन्हें न चाबुक आदि की मार सहनी पड़ी और न सवारी का काम करना पड़ा। वे स्वेच्छापूर्वक कालिक द्वीप में ही सुख से रहे।

इस प्रकार जो कोई भी साधक इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाता है, वह पराधीन बन जाता है। उसे वध-बन्धन सम्बन्धी अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। दीर्घकाल तक संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है। इससे विपरीत, जो साधक इन्द्रियों पर संयम रखता है, उनके अधीन नहीं होता, वह स्वतंत्र विहार करता हुआ इस भव में सुख का भागी होता है और भविष्य में राग-मात्र का उच्छेदन करके अजर-अमर, अविनाशी बन जाता है। अनन्त आत्मिक आनन्द को उपलब्ध कर लेता है।

इस अध्ययन में अश्ववर्णन के प्रसंग में एक 'वेढ' आया है। वेढ जैन-आगमों में यत्र-तत्र आने वाली एक विशिष्ट प्रकार की रचना है। वह रचना विशेषतः द्रष्टव्य है।

सत्तरसमं अज्झयणं : आइण्णे

जम्बू स्वामी की जिज्ञासा

१—'जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सोलसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तरसमस्स णं णायज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?'

जम्बू स्वामी ने अपने गुरु श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया—'भगवन् ! यदि यावत् निर्वाण को प्राप्त जिनेन्द्र देव श्रमण भगवान् महावीर ने सोलहवें ज्ञात-अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा है तो सत्तरहवें ज्ञात-अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?

श्री सुधर्मा द्वारा समाधान

२—'एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिसीसे णामं नयरे होत्था, वण्णओ[1] । तत्थ णं कणगकेऊ णामं राया होत्था, वण्णओ[2] ।

श्रीसुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—उस काल और उस समय में हस्तिशीर्षनामक नगर था। यहाँ नगर-वर्णन जान लेना चाहिए। उस नगर में कनककेतुनामक राजा था। राजा का भी वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए।

नौकावणिकों का कालिकद्वीपगमन

३—तत्थ णं हत्थिसीसे णयरे बहवे संजत्ताणावावाणियगा परिवसंति, अड्ढा जाव बहुजणस्स अपरिभूया यावि होत्था। तए णं तेसिं संजत्ताणावावाणियगाणं अन्नया कयाइं एगयओ सहियाणं जहा अरहण्णओ[3] जाव लवणसमुद्दं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढा यावि होत्था।

उस हस्तिशीर्ष नगर में बहुत-से सांयात्रिक नौकावणिक् (देशान्तर में नौका-जहाज द्वारा व्यापार करने वाले व्यापारी) रहते थे। वे धनाढ्य थे, यावत् बहुत लोगों से भी पराभव न पाने वाले थे। एक बार किसी समय वे सांयात्रिक नौकावणिक् आपस में मिले। उन्होंने अर्हन्नक की भांति समुद्रयात्रा पर जाने का विचार किया, वे लवणसमुद्र में कई सैकड़ों योजनों तक अवगाहन भी कर गये।

४—तए णं तेसिं जाव बहूणि उप्पाइयसयाइं जहा मागंदियदारगाणं जाव[4] कालियवाए य तत्थ समुत्थिए। तए णं सा णावा तेणं कालियवाएणं आघोलिज्जमाणी आघोलिज्जमाणी संचालिज्जमाणी संचालिज्जमाणी संखोहिज्जमाणी संखोहिज्जमाणी तत्थेव परिभमइ। तए णं से णिज्जामए णट्ठमईए णट्ठसुईए णट्ठसण्णे मूढदिसाभाए जाए यावि होत्था। ण जाणइ कयरं देसं वा दिसिं वा विदिसं वा पोयवहणे अवहिए त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पे जाव झियायइ।

१-२ औपपातिक सूत्र. ३. देखिए अष्टम अध्ययन. ४. देखिए नवम अध्ययन सूत्र १०.

उस समय उन वणिकों को माकन्दी पुत्रों के समान[1] सैकड़ों उत्पात हुए, यावत् समुद्री तूफान भी आरंभ हो गया। उस समय वह नौका उस तूफानी वायु से बार-बार काँपने लगी, बार-बार चलायमान होने लगी, बार-बार क्षुब्ध होने लगी और उसी जगह चक्कर खाने लगी। उस समय नौका के निर्यामक (खेवटिया) की बुद्धि मारी गई, श्रुति (समुद्रयात्रा संबंधी शास्त्र का ज्ञान) भी नष्ट हो गई और संज्ञा (होश-हवास) भी गायब हो गई। वह दिशाविमूढ हो गया। उसे यह भी ज्ञान न रहा कि पोतवहन (नौका) कौन-से प्रदेश में है या कौन-सी दिशा अथवा विदिशा में चल रहा है? उसके मन के संकल्प भंग हो गए। यावत् वह चिन्ता में लीन हो गया।

५—तए णं ते बहवे कुच्छिधारा य कण्णधारा य गब्भिल्लगा य संजुत्ताणावावाणियगा य जेणेव से निज्जामए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता एवं वयासी—'किण्णं तुमं देवाणुप्पिया! ओहयमणसंकप्पे जाव [करयलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए] झियायसि।'

तए णं से णिज्जामए ते बहवे कुच्छिधारा य कण्णधारा य गब्भिल्लगा य संजत्ताणावावाणियगा य एवं वयासी—'एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! णट्ठमईए जाव[2] अवहिए त्ति कट्टु तओ ओहयमणसंकप्पे जाव झियामि।'

उस समय बहुत-से कुक्षिधार (फावड़ा चलाने वाले नौकर), कर्णधार, गब्भिल्लक (भीतरी फुटकर काम करने वाले) तथा सांयात्रिक नौकावणिक् निर्यामक के पास आये। आकर उससे बोले—'देवानुप्रिय! नष्ट मन के संकल्प वाले होकर एवं मुख हथेली पर रखकर चिन्ता क्यों कर रहे हो?

तब उस निर्यामक ने उन बहुत-से कुक्षिधारकों, कर्णधारों, गब्भिल्लकों और सांयात्रिक नौकावणिकों से कहा—'देवानुप्रियो! मेरी मति मारी गई है, यावत् पोतवाहन किस देश, दिशा या विदिशा में जा रहा है, यह भी मुझे नहीं जान पड़ता। अतएव मैं भग्नमनोरथ होकर चिन्ता कर रहा हूँ।'

६—तए णं ते कण्णधारा तस्स णिज्जामयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीया तत्था उव्विग्गा उव्विग्गमणा ण्हाया कयबलिकम्मा करयल-परिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु बहूणं इंदाण य खंदाण य जहा मल्लिनाए जाव[3] उवायमाणा उवायमाणा चिट्ठंति।

तब वे कर्णधार उस निर्यामक से यह बात सुनकर और समझ कर भयभीत हुए। त्रस्त हुए, उद्विग्न हुए, घबरा गये। उन्होंने स्नान किया, बलिकर्म किया और हाथ जोड़कर बहुत-से इन्द्र, स्कंद (कार्तिकेय) आदि देवों की, मल्लि-अध्ययन में कहे अनुसार हाथ जोड़ कर, मस्तक पर अंजलि करके मनौती मनाने लगे।

७—तए णं से णिज्जामए तओ मुहुत्तंतरस्स लद्धमईए, लद्धसुईए, लद्धसण्णे अमूढदिसाभाए जाए यावि होत्था। तए णं से णिज्जामए ते बहवे कुच्छिधारा य कण्णधारा य गब्भिल्लगा य संजुत्ताणावावाणियगा य एवं वयासी—'एवं खलु अहं देवाणुप्पिया! लद्धमईए जाव अमूढदिसाभाए जाए। अम्हे णं देवाणुप्पिया! कालियदीवंतेणं संवूढा, एस णं कालियदीवे आलोक्कइ।

---

१. देखिए, अध्ययन ६ वां   २. अ. १७ सूत्र ४.   ३. देखिए अष्टम अध्ययन।

थोड़ी देर बाद वह निर्यामक लब्धमति, लब्धश्रुति, लब्धसंज्ञ और अदिङ्‌मूढ हो गया। अर्थात् उसकी बुद्धि लौट आई, शास्त्रज्ञान जाग गया, होश आ गया और दिशा का ज्ञान भी हो गया। तब उस निर्यामक ने उन बहुसंख्यक कुक्षिधारों, कर्णधारों, गब्भिल्लकों और सांयात्रिक नौकावणिकों से कहा—'देवानुप्रियो! मुझे बुद्धि प्राप्त हो गई है, यावत् मेरी दिशा-मूढता नष्ट हो गई है। देवानुप्रियो! हम लोग कालिक द्वीप के समीप आ पहुँचे हैं। वह कालिक द्वीप दिखाई दे रहा है।

८—तए णं ते कुच्छिधारा य कण्णधारा य गब्भिल्लगा य संजत्ताणावावाणियगा य तस्स निज्जामयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठ-तुट्ठा पयक्खिणाणुकूलेणं वाएणं जेणेव कालियदीवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पोयवहणं लंबेंति, लंबित्ता एगट्ठियाहिं कालियदीवं उत्तरंति।

उस समय वे कुक्षिधार, कर्णधार, गब्भिल्लक तथा सांयात्रिक नौकावणिक् उस निर्यामक (खलासी) की यह बात सुनकर और समझ कर हृष्ट-तुष्ट हुए। फिर दक्षिण दिशा के अनुकूल वायु की सहायता से वहाँ पहुँचे जहाँ कालिक द्वीप था। वहाँ पहुँच कर लंगर डाला। लंगर डाल कर छोटी नौकाओं द्वारा कालिक द्वीप में उतरे।

कालिकद्वीप के आकर और अश्व

९—तत्थ णं बहवे हिरण्णागरे य सुवण्णागरे य रयणागरे य वइरागरे य बहवे तत्थ आसे पासंति। किं ते? हरिरेणुसोणिसुत्तगा आईणवेढो।

तए णं ते आसा ते वाणियए पासंति, पासित्ता तेसिं गंधं अग्घायंति, अग्घाइत्ता भीया तत्था उव्विग्गा उव्विग्गमणा तओ अणेगाइं जोयणाइं उब्भमंति, ते णं तत्थ पउरगोयरा पउरतणपाणिया निब्भया निरुव्विग्गा सुहंसुहेणं विहरंति।

उस कालिक द्वीप में उन्होंने बहुत-सी चाँदी की खानें, सोने की खानें, रत्नों की खानें, हीरे की खानें और बहुत-से अश्व देखे। वे अश्व कैसे थे? वे आकीर्ण अर्थात् उत्तम जाति के थे। उनका वेढ अर्थात् वर्णन जातिमान् अश्वों के वर्णन के समान यहाँ समझ लेना चाहिए। वे अश्व नील वर्ण वाली रेणु के समान वर्ण वाले और श्रोणिसूत्रक अर्थात् बालकों की कमर में बांधने के काले डोरे जैसे वर्ण वाले थे। (इसी प्रकार कोई श्वेत तथा कोई लाल वर्ण के थे)।

उन अश्वों ने उन वणिकों को देखा। देख कर उनकी गंध सूँघी। गंध सूँघ कर वे अश्व भयभीत हुए, त्रास को प्राप्त हुए, उद्विग्न हुए, उनके मन में उद्वेग उत्पन्न हुआ, अतएव वे कई योजन दूर भाग गये। वहाँ उन्हें बहुत-से गोचर (चरने के खेत-चरागाह) प्राप्त हुए। खूब घास और पानी मिलने से वे निर्भय एवं निरुद्वेग होकर सुखपूर्वक वहाँ विचरने लगे।

विवेचन—अभयदेव कृत टीका वाली प्रति में तथा अन्य प्रतियों में 'हरिरेणुसोणियसुत्तगा आईणवेढो' इतना ही संक्षिप्त पाठ ग्रहण किया गया है, किन्तु टीका में अश्वों के पूरे वेढ का उल्लेख है। अंगसुत्ताणि (भाग ३) में भी वह उद्धृत है। तदनुसार विस्तृत पाठ इस प्रकार है—

हरिरेणु-सोणिसुत्तग-सकविल-मज्जार-पायकुक्कुड-वोंडसमुग्गयसामवण्णा ।
गोहूमगोरंग-गोरपाडलगोरा, पवालवण्णा य धूमवण्णा य केइ ।। १ ।।

तलपत्त-रिट्ठवण्णा य, सालिवण्णा य भासवण्णा य केइ ।
जंपिय-तिल-कीडगा य, सोलोयरिट्ठगा य पुंडपइया य कणगपिट्ठा य केइ ।। २ ।।

चक्कागपिट्ठवण्णा सारसवण्णा य हंसवण्णा य केइ ।
केइत्थ अब्भवण्णा पक्कतल-मेघवण्णा य वाहुवण्णा य ।। ३ ।।

संझाणुरागसरिसा सुयमुह-गुंजद्धराग-सरिसत्थ केइ ।
एला-पाडलगोरा सामलया-गवलसामला पुणो केइ ।। ४ ।।

वहवे अण्णे अणिद्दे सा, सामा कासीसरत्त-पीया, अच्चंत विसुद्धा वि य णं आइण्णग-जाइ-कुल-विणीय-गयमच्छरा ।

हयवरा जहोवएस-कम्मवाहिणो वि य णं सिक्खा विणीयविणया,

लंघण-वग्गण-धावण-तिवई-जईण-सिक्खियगई ।

किं ते ? मणसा वि उव्विहंताइं अणेगाइं आससयाइं पासंति ।।

भावार्थः—कालिक द्वीप में पहुंचने पर नौका-वणिकों ने चांदी, सोने, रत्नों और हीरों की खानों के साथ विविध वर्ण वाले अश्वों को भी देखा । उन अश्वों में कोई-कोई नीले वर्ण की रेणु के समान, श्रोणिसूत्रक अर्थात् वालकों की कमर में वांधने के काले डोरे के समान, तथा मार्जार, पादुकुक्कुट [विशेष जाति का कुकड़ा] एवं कच्चे कपास के फल के समान श्याम वर्ण वाले थे । कोई गेहूं और पाटल पुष्प के समान गौर वर्ण वाले थे, कोई विद्रुम-मूंगा के समान अथवा नवीन कोंपल के सदृश रक्तवर्ण—लाल थे, कोई धूम्रवर्ण-पाण्डुर-धुंए जैसे रंग के थे ।

कोई तालवृक्ष के पत्तों सरीखे तो कोई रिष्ठा-मदिरा सरीखे वर्ण वाले थे । कोई शालिवर्ण-चावल जैसे रंग वाले और कोई भस्म जैसे रंग वाले थे । कोई पुराने तिलों के कीड़ों जैसे, कोई चमकदार रिष्टक रत्न जैसे वर्ण वाले, कोई धवल श्वेत पैरों वाले, कोई कनकपृष्ठ-सुनहरी पीठ वाले थे ।

कोई सारस पक्षी की पीठ, चक्रवाक एवं हंस के समान श्वेत थे । कोई मेघ-वर्ण और कोई तालवृक्ष के पत्तों के समान वर्ण वाले थे । कोई रंगविरंगे अर्थात् अनेक रंगों वाले थे ।

कोई संध्याकाल की लालिमा, तोते की चोंच तथा गुंजा [चिरमी) के अर्धभाग के सदृश लाल थे कोई एला-पाटल या एला और पाटल जैसे रंग के थे । कोई प्रियंगु-लता और महिषशृंग के समान श्यामवर्ण थे ।

कोई-कोई अश्व ऐसे थे कि उनके वर्ण का निर्देश-कथन ही नहीं किया जा सकता, जैसे कोई श्यामाक (धान्य विशेष), काशीष (एक रक्तवर्ण द्रव्य), रक्त और पीत थे-अर्थात् चितकवरे (अनेक रंगों के) थे । वे अश्व विशुद्ध-निर्दोष थे । आकीर्ण अर्थात् वेगवत्ता आदि गुणों वाली जाति एवं कुल के थे । विनीत प्रशिक्षित- ट्रेनिंग पाए हुए) थे एवं परस्पर असहनशीलता से रहित थे-जैसे अन्य अश्व दूसरे अश्वों को सहन नहीं करते-एक दूसरे के निकट आते ही लड़ने लगते हैं, वैसे वे अश्व नहीं थे,

सहनशील थे। वे अश्व-प्रवर थे। प्रशिक्षण के अनुसार ही गमन करते थे। गड्ढा आदि को लांघने में कूदने में, दौड़ने में, धोरण अर्थात् गतिचातुर्य में, त्रिपदी-रंगभूमि में मल्ल की सी गति करने में कुशल थे। न केवल शरीर से ही वरन् मन से भी वे उछल रहे थे।

नौकावणिकों आदि ने ऐसे सैकड़ों घोड़े वहाँ देखे।

इस वेढ का अर्थ करने के पश्चात् अन्त में अभयदेव सूरि लिखते हैं—'गमनिकामात्रमेतदस्य वर्णकस्य भावार्थस्तु बहुश्रुतबोध्यः' अर्थात् इस वर्णक का यह अर्थमात्र दिया गया है, भावार्थ तो बहुश्रुत विद्वान ही जानें।

१०—तए णं ते संजत्ताणावावाणियगा अण्णमण्णं एवं वयासी—'किण्हं अम्हे देवाणुप्पिया ! आसेहिं ? इमे णं बहवे हिरण्णागरा य, सुवण्णागरा य, रयणागरा य, वइरागरा य, तं सेयं खलु अम्हं हिरण्णस्स य, सुवण्णस्स य, रयणस्स य, वइरस्स य पोयवहणं भरित्तए' त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता हिरण्णस्स य, सुवण्णस्स य, रयणस्स य, वइरस्स य, तणस्स य, अण्णस्स य, कट्ठस्स य, पाणियस्स य पोयवहणं भरेंति, भरित्ता पयक्खिणाणुकूलेणं वाएणं जेणेव गंभीरपोयवहण-पट्टणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पोयवहणं लंबेंति, लंबित्ता सगडीसागडं सज्जेंति, सज्जित्ता तं हिरण्णं जाव वइरं च एगट्ठियाहिं पोयवहणाओ संचारेंति, संचारित्ता सगडीसागडं संजोइंति, संजोइत्ता जेणेव हत्थिसीसए नयरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता हत्थिसीसयस्स नयरस्स बहिया अग्गुज्जाणे सत्थणिवेसं करेंति, करित्ता सगडीसागडं मोएंति, मोइत्ता महत्थं जाव [महग्घं महरिहं विउलं रायारिहं] पाहुडं गेण्हंति गेण्हित्ता हत्थिसीसं नयरं अणुपविसंति, अणुपविसित्ता जेणेव कणगकेऊ राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता जाव उवणेंति।

तब उन सांयात्रिक नौकावणिकों ने आपस में इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! हमें अश्वों से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। यहाँ यह बहुत-सी चाँदी की खानें, सोने की खानें, रत्नों की खानें और हीरों की खाने हैं। अतएव हम लोगों को चांदी-सोने से, रत्नों से और हीरों से जहाज भर लेना ही श्रेयस्कर है।' इस प्रकार कहकर उन्होंने एक दूसरे की बात अंगीकार की। अंगीकार करके उन्होंने हिरण्य से, सुवर्ण से, रत्नों से, हीरों से, घास से, अन्न से, काष्ठों से और मीठे पानी से अपना जहाज भर लिया। भर कर दक्षिण दिशा की अनुकूल वायु से जहाँ गंभीर पोतवहनपट्टन था, वहां आये। आकर जहाज का लंगर डाला। लंगर डाल कर गाड़ी-गाड़े तैयार किये। तैयार करके लाये हुए उस हिरण्य स्वर्ण यावत् हीरों का छोटी नौकाओं द्वारा संचार किया अर्थात् पोतवहन से गाड़े-गाड़ियों में भरा।' फिर गाड़ी-गाड़े जोते। जोतकर जहाँ हस्तिशीर्ष नगर था वहाँ पहुँचे। हस्तिशीर्ष नगर के बाहर अग्र उद्यान में सार्थ को ठहराया। गाड़ीं-गाड़े खोले। फिर बहुमूल्य [महान् पुरुषों के योग्य, विपुल एवं नृपतियोग्य] उपहार लेकर हस्तिशीर्ष नगर में प्रवेश किया। प्रवेश करके कनककेतु राजा के पास आये। वह उपहार राजा के समक्ष उपस्थित किया।

११—तए णं से कणगकेऊ तेसिं संजत्ताणावावाणियगाणं तं महत्थं जाव पडिच्छइ।

राजा कनककेतु ने उन सांयात्रिक नौकावणिकों के उस बहुमूल्य [महान् पुरुषों के एवं राजा के योग्य विपुल] उपहार को स्वीकार किया।

अश्वों का अपहरण

१२—ते संजत्ताणावावाणियगा एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया! गामागर जाव आहिंडह, लवणसमुद्दं च अभिक्खणं अभिक्खणं पोयवहणेणं ओगाहह, तं अत्थि याइं केइ भे कहिंचि अच्छेरए दिट्ठपुव्वे?'

तए णं संजुत्ताणावावाणियगा कणगकेउं रायं एवं वयासी—'एवं खलु अम्हे देवाणुप्पिया! इहेव हत्थिसीसे नयरे परिवसामो, तं चेव जाव कालियदीवंतेणं संवूढा, तत्थ णं बहवे हिरण्णागरा य जाव[1] बहवे तत्थ आसे, किं ते हरिरेणुसोणिसुत्तगा जाव[2] अणेगाइं जोयणाइं उब्भमंति। तए णं सामी! अम्हेहिं कालियदीवे ते आसा अच्छेरए दिट्ठा।

फिर राजा ने उन सांयात्रिक नौकावणिकों से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! तुम लोग ग्रामों में यावत् आकरों में (सभी प्रकार की वस्तियों में) घूमते हो और वार-बार पोतवहन द्वारा लवणसमुद्र में अवगाहन करते हो, तुमने कहीं कोई आश्चर्यजनक-अद्‌भुत-अनोखी वस्तु देखी है?

तव सांयात्रिक नौकावणिकों ने राजा कनककेतु से कहा—'देवानुप्रिय! हम लोग इसी हस्तिशीर्ष नगर के निवासी हैं; इत्यादि पूर्ववत् कहना चाहिए, यावत् हम कालिक द्वीप के समीप गए। उस द्वीप में बहुत-सी चाँदी की खानें यावत् बहुत-से अश्व हैं। वे अश्व कैसे हैं? नील वर्ण वाली रेणु के समान और श्रोणिसूत्रक के समान श्याम वर्ण वाले हैं। यावत् वे अश्व हमारी गंध से कई योजन दूर चले गए। अतएव हे स्वामिन्! हमने कालिक द्वीप में उन अश्वों को आश्चर्यभूत (विस्मय की वस्तु) देखा है।'

१३—तए णं से कणगकेऊ तेसिं संजत्ताणावावाणियगाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म ते संजत्ताणावावाणियए एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! मम कोडुंबियपुरिसेहिं सद्धिं कालियदीवाओ ते आसे आणेह।'

तए णं ते संजुत्ता कणगकेउं रायं एवं वयासी—'एवं सामी!' त्ति कट्टु आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति।

तत्पश्चात् कनककेतु राजा ने उन सांयात्रिकों से यह अर्थ सुन कर उन्हें कहा—देवानुप्रियो! तुम मेरे कौटुम्बिक पुरुषों के साथ जाओ और कालिक द्वीप से उन अश्वों को यहाँ ले आओ।'

तव सांयात्रिक वणिकों ने कनककेतु राजा से इस प्रकार कहा—'स्वामिन्! बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उन्होंने राजा का वचन आज्ञा के रूप में विनयपूर्वक स्वीकार किया।

१४—तए णं कणयकेऊ राया कोडुंवियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! संजत्ताणावावाणिएहिं सद्धिं कालियदीवाओ मम आसे आणेह।' ते वि पडिसुणेंति। तए णं ते कोडुंवियपुरिसा सगडीसागडं सज्जेंति, सज्जित्ता तत्थ णं बहूणं वीणाण य, वल्लकीण य, भामरीण य, कच्छभीण य, भंभाण य, छब्भामरीण य, विचित्तवीणाण य, अन्नेसिं च बहूणं सोइंदियपाउग्गाणं दव्वाणं सगडीसागडं भरेंति।

१-२ अ. १७ सूत्र ९.

तत्पश्चात् कनककेतु राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनसे कहा—'देवानुप्रियो ! तुम सांयात्रिक वणिकों के साथ जाओ और कालिक द्वीप से मेरे लिए अश्व ले आओ।' उन्होंने भी राजा का आदेश अंगीकार किया। तत्पश्चात् कौटुम्बिक पुरुषों ने गाड़ी-गाड़े सजाए। सजा कर उनमें बहुत-सी वीणाएँ, वल्लकी, भ्रामरी, कच्छपी, भंभा, षट्भ्रमरी आदि विविध प्रकार की वीणाओं तथा विचित्र वीणाओं से और श्रोत्रेन्द्रिय के योग्य अन्य बहुत-सी वस्तुओं से (कानों को प्रिय लगने योग्य, सामग्री-साधनों) से गाड़ी-गाड़े भर लिये।

१५—भरित्ता बहूणं किण्हाण य जाव [नीलाण य लोहियाण य हालिद्दाण य] सुक्किल्लाण य कट्ठकम्माण य [चित्तकम्माण य पोत्थकम्माण य लेप्पकम्माण य] गंथिमाण य जाव [वेढिमाण य पूरिमाण य] संघाइमाण य अन्नेसिं च बहूणं चक्खिदियपाउग्गाणं दव्वाणं सगडीसागडं भरेंति।

भरित्ता बहूणं कोट्ठपुडाण य केयइपुडाण य जाव [पत्तपुडाण य चोयपुडाण य तगरपुडाण य एलापुडाण य हिरिवेरपुडाण य उसीरपुडाण य चंपगपुडाण य मरुयपुडाण य दमणगपुडाण य जाइपुडाण य जुहियापुडाण य मल्लियपुडाण य वासंतियपुडाण य कप्पूरपुडाण य पाडलपुडाण य] अन्नेसिं च बहूणं घाणिंदियपाउग्गाणं दव्वाणं सगडीसागडं भरेंति।

भरित्ता बहुस्स खंडस्स य गुलस्स य सक्कराए य मच्छंडियाए य पुप्फुत्तरपउमुत्तर अन्नेसिं च जिब्भिदियपाउग्गाणं दव्वाणं सगडीसागडं भरेंति।

भरित्ता बहूणं कोयवयाण य कंबलाण य पावरणाण य नवतयाण य मलयाण य मसगाण य सिलावट्टाण य जाव हंसगब्भाण य अन्नेसिं च फासिंदियपाउग्गाणं दव्वाणं सगडीसागडं भरेंति।

श्रोत्रेन्द्रिय के योग्य (प्रिय) वस्तुएँ भर कर बहुत-से कृष्ण वर्ण वाले, [नील, रक्त, पीत एवं] शुक्ल वर्ण वाले काष्ठ कर्म (लकड़ी के पटिये पर चित्रित चित्र), चित्रकर्म, पुस्तकर्म (पुट्ठे पर बनाए चित्र) लेप्यकर्म (मृत्तिका से बनाए चित्र-विचित्र रूप) तथा वेढिम, पूरिम तथा संघातिम एवं अन्य चक्षु-इन्द्रिय के योग्य द्रव्य गाड़ी-गाड़ों में भरे।

यह भर कर बहुत-से कोष्ठपुट[1] (कोष्ठपुट में जो पकाये जाते हैं वे वास-सुगंधित द्रव्य विशेष) इसी प्रकार केतकीपुट, पत्रपुट, चोय-त्वक्पुट, तगरपुट, एलापुट, हिरिवेर (वालक) पुट, उसीर (खसखस का मूल अथवा एक विशिष्ट पुष्पजाति) पुट, चम्पकपुट, मरुक (मरूआ) पुट, दमनकपुट, जाती, (जाई) पुट, यूथिकापुट, मल्लिकापुट, वासंतीपुट, कपूरपुट, पाटलपुट तथा अन्य बहुत-से घ्राणेन्द्रिय को प्रिय लगने वाले पदार्थों से गाड़ी-गाड़े भरे।

तदनन्तर बहुत-से खांड, गुड़, शक्कर मत्संडिका (विशिष्ट प्रकार की शक्कर) पुष्पोत्तर (शर्करा-विशेष) तथा पद्मोत्तर जाति की शर्करा आदि अन्य अनेक जिह्वा—इद्रिय के योग्य द्रव्य गाड़ी-गाडों में भरे।

उसके बाद बहुत-से कोयतक—रुई के बने वस्त्र, कंबल-रत्न-कंबल, प्रावरण-ओढ़ने के वस्त्र, नवत-जीन, मलय-विशेष प्रकार का आसन अथवा मलय देश में बने वस्त्र, अथवा मसग-चर्म से मढ़े एक प्रकार के वस्त्र, शिलापट्टक-चिकनी शिलाएँ यावत् हंसगर्भ (श्वेत वस्त्र) तथा अन्य स्पर्शेन्द्रिय के योग्य द्रव्य गाड़ी-गाड़ों में भरे।

१. कोष्ठपुटे—ये पच्यन्ते ते कोष्ठपुटाः वासविशेषाः—अभयदेवटीका।

१६—भरित्ता सगडीसागडं जोएंति, जोइत्ता जेणेव गंभीरपोयट्ठाणे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता सगडीसागडं मोएंति, मोइत्ता पोयवहणं सज्जेंति, सज्जित्ता तेसिं उक्किट्ठाणं सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाणं कट्ठस्स य तणस्स य पाणियस्स य तंदुलाण य समियस्स य गोरसस्स य जाव[1] अन्नेसिं च बहूणं पोयवहणपाउग्गाणं पोयवहणं भरेंति।

उक्त सब द्रव्य भरकर उन्होंने गाड़ी-गाड़े जोते। जोत कर जहां गंभीर पोतपट्टन था, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर गाड़ी-गाड़े खोले। खोल कर पोतवहन तैयार किया। तैयार करके उन उत्कृष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध के द्रव्य तथा काष्ठ, तृण, जल, चावल, आटा, गोरस तथा अन्य बहुत-से पोतवहन के योग्य पदार्थ पोतवहन में भरे।

१७—भरित्ता दक्खिणाणुकूलेणं वाएणं जेणेव कालियदीवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पोयवहणं लंबेंति, लंबित्ता ताइं उक्किट्ठाइं सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाइं एगट्ठियाहिं कालियदीवं उत्तारेंति, उत्तारित्ता जहिं जहिं च णं ते आसा आसयंति वा, सयंति वा, चिट्ठंति वा, तुयट्टंति वा, तहिं तहिं च णं ते कोडुंबियपुरिसा ताओ वीणाओ य जाव[2] विचित्तवीणाओ य अन्नाणि बहूणि सोइंदियपाउग्गाणि य दव्वाणि समुदीरेमाणा समुदीरेमाणा चिट्ठंति, तेसिं च परिपेरंतेणं पासए ठवेंति, ठवित्ता णिच्चला णिप्फंदा तुसिणीया चिट्ठंति।

वे उपर्युक्त सब सामान पोतवहन में भर कर दक्षिण दिशा के अनुकूल पवन से जहां कालिक द्वीप था, वहाँ आये। आकर लंगर डाला। लंगर डाल कर उन उत्कृष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध के पदार्थों को छोटी-छोटी नौकाओं द्वारा कालिक द्वीप में उतारा। उतार कर वे घोड़े-जहाँ-जहाँ बैठते थे, सोते थे और लोटते थे, वहाँ वहाँ वे कौटुम्बिक पुरुष वह वीणा, विचित्र वीणा आदि श्रोत्रेन्द्रिय को प्रिय वाद्य बजाते रहने लगे तथा इनके पास चारों ओर जाल स्थापित कर दिए—जाल बिछा दिए। जाल बिछा करके वे निश्चल, निस्पन्द और मूक होकर स्थित हो गए।

१८—जत्थ जत्थ ते आसा आसयंति वा जाव तुयट्टंति वा, तत्थ तत्थ णं ते कोडुंबियपुरिसा बहूणि किण्हाणि य ५ कट्ठकम्माणि य जाव संघाइमाणि य अन्नाणि य बहूणि चक्खिदियपाउग्गाणि य दव्वाणि ठवेंति, तेसिं परिपेरंतेणं पासए ठवेंति, ठवित्ता णिच्चला णिप्फंदा तुसिणीया चिट्ठंति।

जहां-जहां वे अश्व बैठते थे, यावत् लोटते थे, वहां-वहां उन कौटुम्बिक पुरुषों ने बहुतेरे कृष्ण वर्ण वाले यावत् शुक्ल वर्ण वाले काष्ठकर्म यावत् संघातिम तथा अन्य बहुत-से चक्षु- इन्द्रिय के योग्य पदार्थ रख दिए। तथा उन अश्वों के पास चारों ओर जाल बिछा दिया और वे निश्चल, और मूक होकर छिप रहे।

१९—जत्थ जत्थ ते आसा आसयंति वा, सयंति वा, चिट्ठंति वा, तुयट्टंति वा, तत्थ-तत्थ णं ते कोडुंबियपुरिसा तेसिं बहूणं कोट्ठपुडाण य अन्नेसिं च घाणिंदियपाउग्गाणं दव्वाणं पुंजे य णियरे य करेंति, करित्ता तेसिं परिपेरंते जाव चिट्ठंति।

जहां-जहां वे अश्व बैठते थे, सोते थे, खड़े होते थे अथवा लोटते थे वहां वहां उन कौटुम्बिक

१. अ. ८ सूत्र ५५। २. अ. १७ सूत्र १४-१५।

पुरुषों ने बहुत से कोष्ठपुट तथा दूसरे घ्राणेन्द्रिय के प्रिय पदार्थों के पुंज (ढेर) और निकर (बिखरे हुए समूह) कर दिये। उनके पास चारों ओर पुंज करके वे मूक होकर छिप गये।

२०—जत्थ जत्थ णं ते आसा आसयंति वा, सयंति वा, चिट्ठंति वा, तुयट्टंति वा, तत्थ तत्थ गुलस्स जाव अन्नेसिं च बहूणं जिब्भिदियपाउग्गाणं दव्वाणं पुंजे य णियरे य करेंति, करित्ता वियरए खणंति, खणित्ता गुलपाणगस्स खंडपाणगस्स पोरपाणगस्स अन्नेसिं च बहूणं पाणगाणं वियरे भरेंति, भरित्ता तेसिं परिपेरंतेणं पासए ठवेंति जाव चिट्ठंति।

जहां-जहां वे अश्व बैठते थे, सोते थे, खड़े होते थे अथवा लोटते थे, वहां-वहां कौटुम्बिक पुरुषों ने गुड के यावत् अन्य बहुत-से जिह्वेन्द्रिय के योग्य पदार्थों के पुंज और निकर कर दिये। करके उन जगहों पर गड़हे खोदे। खोद कर गुड़ का पानी, खांड का पानी, पोर (ईख) का पानी तथा दूसरा बहुत तरह का पानी उन गड़हों में भर दिया। भरकर उनके पास चारों ओर जाल स्थापित करके मूक होकर छिप रहे।

२१—जहिं जहिं च णं ते आसा आसयंति वा, सयंति वा, चिट्ठंति वा, तुयट्टंति वा, तहिं तहिं च णं ते बहवे कोयवया य जाव सिलावट्टया अण्णाणि य फासिंदियपाउग्गाइं अत्थुयपच्चत्थुयाइं ठवेंति, ठवित्ता तेसिं परिपेरंतेणं जाव चिट्ठंति।

जहां-जहां वे घोड़े बैठते थे, सोते थे, खड़े होते थे यावत् लोटते थे, वहां-वहां कोयवक (रुई के वस्त्र) यावत् शिलापट्टक (चिकनी शिला) तथा अन्य स्पर्शनेन्द्रिय के योग्य आस्तरण—प्रत्यास्तरण (एक दूसरे के ऊपर बिछाए हुए वस्त्र) रख दिये। रख कर उनके पास चारों ओर जाल बिछा कर एवं मूक होकर छिप गए।

२२—तए णं ते आसा जेणेव एए उक्किट्ठा सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तत्थ णं अत्थेगइया आसा 'अपुव्वा णं इमे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधा' इति कट्टु तेसु उक्किट्ठेसु सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधेसु अमुच्छिया अगढिया अगिद्धा अणज्झोववण्णा, तेसिं उक्किट्ठाणं सद्द जाव गंधाणं दूरंदूरेणं अवक्कमंति, ते णं तत्थ पउरगोयरा पउरतणपाणिया णिब्भया णिरुव्विग्गा सुहंसुहेणं विहरंति।

तत्पश्चात् वे अश्व वहां आये, जहाँ यह उत्कृष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध (वाली वस्तुएं) रखी थीं। वहाँ आकर उनमें से कोई-कोई अश्व 'ये शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध अपूर्व हैं अर्थात् पहले कभी इनका अनुभव नहीं किया है' ऐसा विचार कर उन उत्कृष्ट शब्द रस, रूप और गंध में मूर्छित, गृद्ध, आसक्त न होकर उन उत्कृष्ट शब्द यावत् गंध से दूर चले गये। वे अश्व वहां जाकर बहुत गोचर (चरागाह) प्राप्त करके तथा प्रचुर घास-पानी पीकर निर्भय हुए, उद्वेग रहित हुए और सुखे-सुखे विचरने लगे।

कथानक का निष्कर्ष

२३—एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधेसु

णो सज्जइ, से णं इहलोगे चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावयाणं सावियाणं अच्चणिज्जे जाव [चाउरंतसंसारकंतारं] वीइवयइ।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! हमारा जो साधु या साध्वी शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध में आसक्त नहीं होता, वह इस लोक में बहुत साधुओं, साध्वियों, श्रावकों और श्राविकाओं का पूजनीय होता है, और इस चातुर्गतिक संसार-कान्तार को पार कर जाता है।

विषयलोलुपता का दुष्परिणाम

२४—तत्थ णं अत्थेगइया आसा जेणेव उक्किट्ठसद्द-फरिस-रस-रूव-गंधा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तेसु उक्किट्ठेसु सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधेसु मुच्छिया जाव अज्झोववण्णा आसेविउं पयत्ता यावि होत्था। तए णं ते आसा एए उक्किट्ठसद्द-फरिस-रस-रूव-गंधा आसेवमाणा तेहिं बहूहिं कूडेहि य पासेहि य गलएसु य पाएसु य बज्झंति।

उन घोड़ों में से कितनेक घोड़े जहां वे उत्कृष्ट शब्द, स्पर्श, रस रूप और गंध थे, वहां पहुंचे। वहां पहुंच कर वे उन उत्कृष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध में मूर्छित हुए, अति आसक्त हो गए और उनका सेवन करने में प्रवृत्त हो गए। तत्पश्चात् उस उत्कृष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का सेवन करने वाले वे अश्व कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा बहुत से कूट पाशों (कपट से फैलाए गये बंधनों) से गले में यावत् पैरों में बांधे गए-बंधनों से बांधे गए—पकड़ लिए गये।

२५—तए णं ते कोडुंबिया एए आसे गिण्हंति, गिण्हित्ता एगट्ठियाहिं पोयवहणे संचारेंति, संचारित्ता तणस्स कट्ठस्स जाव[1] भरेंति।

तए णं ते संजत्ताणावावाणियगा दक्खिणाणुकूलेणं वाएणं जेणेव गंभीरपोयपट्टणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पोयवहणं लंबेंति, लंबित्ता ते आसे उत्तारेंति, उत्तारित्ता जेणेव हत्थिसीसे णयरे, जेणेव कणगकेऊ राया, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल जाव वद्धावेंति, वद्धावित्ता ते आसे उवणेंति।

तए णं से कणगकेऊ राया तेसिं संजत्ताणावावाणियगाणं उस्सुक्कं वियरइ, वियरित्ता सक्कारेइ, संमाणेइ, सक्कारित्ता संमाणित्ता पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने उन अश्वों को पकड़ लिया। पकड़ कर वे नौकाओं द्वारा पोतवहन में ले आये। लाकर पोतवहन को तृण, काष्ठ आदि आवश्यक पदार्थों से भर लिया।

तत्पश्चात् वे सांयात्रिक नौकावणिक् दक्षिण दिशा के अनुकूल पवन द्वारा जहां गंभीर पोतपट्टन था, वहां आये। आकर पोतवहन का लंगर डाला। लंगर डाल कर उन घोड़ों को उतारा। उतार कर जहां हस्तिशीर्ष नगर था और जहां कनककेतु राजा था, वहां पहुँचे। पहुँच कर दोनों हाथ जोड़कर राजा का अभिनन्दन किया। अभिनन्दन करके वे अश्व उपस्थित किये।

राजा कनककेतु ने उन सांयात्रिक वणिकों का शुल्क माफ कर दिया। उनका सत्कार-सन्मान किया और उन्हें विदा किया।

१. अ. १७, सूत्र १६.

२६—तए णं से कणगकेऊ राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता सक्कारेइ, संमाणेइ, सक्कारित्ता संमाणित्ता पडिविसज्जेइ।

तत्पश्चात् कनककेतु राजा ने कालिक द्वीप भेजे हुए कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुला कर उनका भी सत्कार-सन्मान किया और फिर उन्हें भी विदा कर दिया।

२७—तए णं से कणगकेऊ राया आसमद्दए सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'तुब्भे णं देवाणुप्पिया! मम आसे विणएह।'

तए णं ते आसमद्दगा तह त्ति पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता ते आसे बहूहिं मुहबंधेहि य, कण्णबंधेहि य, णासाबंधेहि य, वालबंधेहि य, खुरबंधेहि य, कडगबंधेहि य, खलिणबंधेहि य, अहिलाणेहि य, पडयाणेहि य, अंकणाहि य, वेलप्पहारेहि य, वित्तप्पहारेहि य, लयप्पहारेहि य, कसप्पहारेहि य, छिवप्पहारेहि य विणयंति, विणइत्ता कणगकेउस्स रण्णो उवणेंति।

तत्पश्चात् कनककेतु राजा ने अश्वमर्दकों (अश्वपालों) को बुलाया और उनसे कहा—'देवानुप्रियो! तुम मेरे अश्वों को विनीत करो—प्रशिक्षित करो।'

तब अश्वमर्दकों ने 'बहुत अच्छा' कह कर राजा का आदेश स्वीकार किया। स्वीकार करके उन्होंने उन अश्वों को मुख बांध कर, कान बांध कर, नाक बांध कर, झौंरा (पूंछ के बालों का अग्रभाग) बांध कर, खुर बांध कर, कटक बांध फर, चौकड़ी चढ़ा कर, तोबरा चढ़ा कर, पटतानक (पलान के नीचे का पट्टा) लगा कर, खस्सी करके, वेलाप्रहार करके, बेंतों का प्रहार करके, लताओं का प्रहार करके, चाबुकों का प्रहार करके तथा चमड़े के कोड़ों का प्रहार करके विनीत किया—प्रशिक्षित किया। विनीत करके वे राजा कनककेतु के पास ले आये।

२८—तए णं से कणगकेऊ ते आसमद्दए सक्कारेइ, संमाणेइ, सक्कारित्ता संमाणित्ता पडिविसज्जेइ। तए णं ते आसा बहूहिं मुहबंधेहि य जाव छिवप्पहारेहि य बहूणि सारीरमाणसाणि दुक्खाइं पावेंति।

तत्पश्चात् कनककेतु ने उन अश्वमर्दकों का सत्कार किया, सन्मान किया। सत्कार-सन्मान करके उन्हें विदा किया। उसके बाद वे अश्व मुखबंधन से यावत् चमड़े के चाबुकों के प्रहार से बहुत शारीरिक और मानसिक दुःखों को प्राप्त हुए।

२९—एवामेव समणाउसो! जो अम्हं णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा पव्वइए समाणे इट्ठेसु सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधेसु सज्जति, रज्जति, गिज्झति, मुज्झति, अज्झोववज्जति, से णं इह लोगे चेव बहूणं समणाण य जाव सावियाण य हीलणिज्जे जाव [चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो] अणुपरियट्टिस्सइ।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! हमारा जो निर्ग्रंथ या निर्ग्रंथी दीक्षित होकर प्रिय शब्द स्पर्श रस, रूप और गंध में गृद्ध होता है, मुग्ध होता है और आसक्त होता है, वह इसी लोक में बहुत श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों तथा श्राविकाओं की अवहेलना का पात्र होता है, चातुर्गतिक संसार-अटवी में पुनः पुनः भ्रमण करता है।

इन्द्रियलोलुपता का दुष्फल

३०—कल-रिभिय-महुर-तंती-तलतालवंसकउहाभिरामेसु ।
सद्देसु रज्जमाणा, रमंति सोइंदियवसट्टा ।। १ ।।

कल अर्थात् श्रुतिसुखद और हृदयहारी, रिभित अर्थात् स्वरघोलना के प्रकार वाले, मधुर वीणा, तलताल (हाथ की ताली-करताल) और वाँसुरी के श्रेष्ठ और मनोहर वाद्यों के शब्दों में अनुरक्त होने वाले और श्रोत्रेन्द्रिय के वशवर्त्ती वने हुए प्राणी आनन्द मानते है ।।१।।

सोइंदियदुद्दन्त-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ।
दीविगरुयमसहंतो, वहवंधं तित्तिरो पत्तो ।। २ ।।

किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय की दुर्दान्तिता का अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय की उच्छृङ्खलता का इतना दोष होता है, जैसे पारधि के पिंजरे में रहे हुए तीतुर के शव्द को सहन न करता हुआ तीतुर पक्षी वध और वंधन को प्राप्त होता है ।

तात्पर्य यह है कि पारधि के पींजरे में फँसे हुए तीतुर का शव्द सुन कर वन का स्वाधीन तीतुर अपने स्थान से निकल आता है और पारधि उसे भी फँसा लेता है । श्रोत्रेन्द्रिय को न जीतने से ऐसे दुष्परिणाम की प्राप्ति होती है ।।२।।

थण-जहण-वयण-कर-चरण-णयण-गव्विय-विलासियगईसु ।
रूवेसु रज्जमाणा, रमंति चक्खिदियवसट्टा ।। ३ ।।

चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत और रूपों में अनुरक्त होने वाले पुरुष, स्त्रियों के स्तन, जघन, वदन, हाथ पैर नेत्रों में तथा गर्विष्ठ वनी हुई स्त्रियों की विलासयुक्त गति में रमण करते हैं—आनन्द मानते हैं ।।३।।

चक्खिदियदुद्दन्त-त्तणस्स अह एत्तिओ भवइ दोसो ।
जं जलणम्मि जलंते, पडइ पयंगो अबुद्धीओ ।। ४ ।।

परन्तु चक्षु इन्द्रिय की दुर्दान्तता से इतना दोष होता है कि-जैसे बुद्धिहीन पतंगिया जलती हुई आग में जा पड़ता है अर्थात् चक्षु के वशीभूत हुआ पतंग जैसे प्राणों से हाथ धो वैठता है, उसी प्रकार मनुष्य भी वध-वंधन के घोर दुःख पाते हैं ।।४।।

अगुरु-वरपवरधूवण,-उउय-मल्लाणुलेवणविहीसु ।
गंधेसु रज्जमाणा, रमंति घाणिंदियवसट्टा ।। ५ ।।

सुगंध में अनुरक्त हुए और घ्राणेन्द्रिय के वश में पड़े हुए प्राणी श्रेष्ठ अगर, श्रेष्ठ धूप विविध ऋतुओं में वृद्धि को प्राप्त माल्य (जाई आदि के पुष्पों) तथा अनुलेपन (चन्दन आदि के लेप) की विधि में रमण करते हैं अर्थात् सुगंधित पदार्थों के सेवन में आनन्द का अनुभव करते हैं ।।५।।

घाणिंदियदुद्दन्त-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ।
जं ओसहिगंधेणं, बिलाओ निद्धावई उरगो ।। ६ ।।

परन्तु घ्राणेन्द्रिय (नासिका) की दुर्दान्तता से अर्थात् नासिका-इन्द्रिय का दमन न करने से इतना दोष होता है कि ओषधि (वनस्पति) की गंध से सर्प अपने विल में से वाहर निकल आता है। अर्थात् नासिका के विषय में आसक्त हुआ सर्प सँपेरे के हाथों पकड़ा जाकर अनेक कष्ट भोगता है ।।६।।

तित्त-कडुयं कसायंब-महुरं बहुखज्ज-पेज्ज-लेज्झेसु ।
आसायंमि उ गिद्धा, रमंति जिब्भिदियवसट्टा ।। ७ ।।

रस में आसक्त और जिह्वा इन्द्रिय के वशवर्त्ती हुए प्राणी कड़वे, तीखे, कसैले, खट्टे एवं मधुर रस वाले बहुत खाद्य, पेय, लेह्य (चाटने योग्य) पदार्थों में आनन्द मानते हैं ।।७।।

जिब्भिदियदुद्दन्त-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ।
जं गललग्गुक्खित्तो, फुरइ थलविरल्लिओ मच्छो ।। ८ ।।

किन्तु जिह्वा इन्द्रिय का दमन न करने से इतना दोष उत्पन्न होता है कि गल (वडिश) में लग्न होकर जल से वाहर खींचा हुआ मत्स्य, स्थल में फेंका जाकर तड़पता है ।

अभिप्राय यह है कि मच्छीमार मछली को पकड़ने के लिए मांस का टुकड़ा कांटे में लगा कर जल में डालते हैं । मांस का लोभी मत्स्य उसे मुख में लेता है और तत्काल उसका गला विंध जाता है । मच्छीमार उसे जल से वाहर खींच लेते हैं और उसे मृत्यु का शिकार होना पड़ता है ।।८।।

उउ-भयमाण-सुहेहि य, सविभव-हियय-मणनिव्वुइकरेसु ।
फासेसु रज्जमाणा, रमंति फासिंदियवसट्टा ।। ९ ।।

स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत हुए प्राणी स्पर्शेन्द्रिय की अधीनता से पीडित होकर विभिन्न ऋतुओं में सेवन करने से सुख उत्पन्न करने वाले तथा विभव (समृद्धि) सहित, हितकारक (अथवा वैभव वालों को हितकारक) तथा मन को सुख देने वाले माला, स्त्री आदि पदार्थों में रमण करते हैं ।।९।।

फासिंदियदुद्दन्त-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ।
जं खणइ मत्थयं कुंजरस्स लोहंकुसो तिक्खो ।। १० ।।

किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय का दमन न करने से इतना दोष होता है कि लोहे का तीखा अंकुश हाथी के मस्तक को पीड़ा पहुंचाता है । अर्थात् स्वच्छंद रूप से वन में विचरण करने वाला हाथी स्पर्शनेन्द्रिय के वश में होकर पकड़ा जाता है और फिर पराधीन वन कर महावत की मार खाता है ।।१०।।

इन्द्रिय-संवर का सुफल

कलरिभियमहुरतंती-तल-ताल-वंस-ककुहाभिरामेसु ।
सद्देसु जे न गिद्धा, वसट्टमरणं न ते मरए ।। ११ ।।

कल, रिभित एवं मधुर तंत्री, तलताल तथा बाँसुरी के श्रेष्ठ और मनोहर वाद्यों के शब्दों में जो आसक्त नहीं होते, वे वशार्त्त मरण नहीं मरते ।

अर्थात्—जो इन्द्रियों के वश होकर आर्त्त-पीडित होते हैं, उन्हें वशार्त्त कहते हैं। अथवा वश को अर्थात् इन्द्रियों की पराधीनता को जो ऋत-प्राप्त हैं, वे वशार्त्त कहलाते हैं। ऐसे प्राणियों का मरण वशार्त्त-मरण है। अथवा इन्द्रियों के वशीभूत होकर मरना, विषयों के लिए हाय-हाय करते हुए प्राण त्यागना वशार्त्त मरण कहलाता है। इन्द्रियों का दमन करने वाले पुरुष ऐसा मरण नहीं मरते ॥११॥

विवेचनः—मरण, जीवन की अन्तिम परिणति है और वह ध्रुव परिणति है। मरण के अनन्तर जन्म हो अथवा न भी हो, किन्तु जन्म के पश्चात् मरण अनिवार्य है, अवश्यभावी है।

जैन परम्परा में मृत्यु को भी महोत्सव का रूप प्रदान किया गया है, यदि वह विवेक, समभाव आत्मलीनता, प्रभुमयता के साथ समाधिपूर्वक हो। वहां मृत्यु के संबंध में अनेक स्थलों पर विशद प्रकाश डाला गया है और उसका विश्लेषण किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है—

वालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे।
पंडियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे।

—उत्तराध्ययन, अ, ५, गाथा ४

अर्थात् अज्ञानी जीव अकाम-मरण से मरते हैं। उन्हें वार-वार मरना पड़ता है। किन्तु पंडितों अर्थात् ज्ञानी जनों का सकाम-मरण होता है। वह उत्कृष्ट एक वार ही होता है। उन्हें वारंवार नहीं मरना पड़ता—वे अमर—जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार मरण के दो भेद वतलाए गये हैं। कहीं-कहीं वालमरण, पण्डितमरण और बाल-पण्डितमरण, यों तीन भेद किए गए हैं। वाल-पण्डितमरण श्रमणोपासक का कहा गया है, शेष दो मरण पूर्वोक्त ज्ञानी और अज्ञानी के ही हैं।

भावपाहुड़ आदि में मरण के सत्तरह प्रकार भी कहे गये हैं। जो इस प्रकार हैं—

(१) **आवीचिमरण**—जन्म होने के पश्चात् प्रतिसमय उदय में आए हुए आयुकर्म के दलिकों का निर्जीर्ण होना-प्रतिसमय आयुदालिकों का कम होते जाना।

(२) **तद्भवमरण** - वर्त्तमान भव में प्राप्त शरीर के साथ संबंध छूट जाना।

(३) **अवधिमरण**—एक वार भोग कर छोड़े हुए परमाणुओं को दोवारा भोगने से पहले—जब तक जीव उनका भोगना प्रारंभ नहीं करता तब तक अवधिमरण कहलाता है।

(४) **आद्यन्तमरण**—सर्व से और देश से आयु क्षीण होना तथा दोनों भवों में एक-सी मृत्यु होना।

(५) **वालमरण**—अज्ञानपूर्वक हाय-हाय करते हुए मरना।

(६) **पण्ड़ितमरण**—समाधि के साथ आयु पूर्ण होना।

(७) **वलन्मरण**—संयम एवं व्रत से भ्रष्ट होकर मरना।

(८) **वाल-पण्डितमरण**—श्रावक के व्रतों का आचरण करके समाधिपूर्वक शरीर त्याग करना।

(९) **सशल्यमरण**—मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य या निदानशल्य के साथ मरना।

(१०) **प्रमादमरण**—प्रमादवश होकर तथा घोर संकल्प-विकल्पमय परिणामों के साथ प्राणों का परित्याग करना।

(११) **वशार्त्तमरण**—इन्द्रियों के वशवर्त्ती होकर कषाय के वशीभूत होकर, वेदना-वश होकर या हास्यवश होकर मरना।

(१२) **विप्रणमरण**—संयम, व्रत आदि का निर्वाह न होने के कारण प्राण घात करना।

(१३) **गृद्धपृष्ठमरण**—संग्राम में शूरवीरता के साथ प्राण त्यागना अथवा किसी विशाल-काय प्राणी के मृत कलेवर में प्रवेश करके मरना।

(१४) **भक्तप्रत्याख्यानमरण**—विधिपूर्वक आहार का त्याग करके यावज्जीवन प्रत्याख्यान करके शरीर त्यागना।

(१५) **इंगितमरण**— समाधिमरण ग्रहण करके दूसरे से वैयावृत्य (सेवा) न कराते हुए शरीर को त्यागना।

(१६) **पादपोपगमनमरण**— आहार और शरीर का यावज्जीवन त्याग करके स्वेच्छापूर्वक हलन-चलन आदि क्रियाओं का भी त्याग करके समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग करना।

(१७) **केवलिमरण**—केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् मोक्ष-गमन करते समय अन्तिम रूप से शरीर-त्याग करना।

उल्लिखित मरणों में से यहाँ और अगली गाथाओं में ग्यारहवें मरण का उल्लेख किया गया है। जो अपनी इन्द्रियों का संवर करता है, उनके वशीभूत नहीं होता किन्तु उनको अपने वश में करता है, उसे वशार्त्त मरण जैसे अकल्याणकारी मरण का पात्र नहीं बनना पड़ता।

थण-जहण-वयण-कर-चरण-नयण-गव्वियविलासियगईसु।
रूवेसु जे न सत्ता, वसट्टमरणं न ते मरए॥ १२॥

स्त्रियों के स्तन,जघन, मुख, हाथ, पैर, नयन तथा गर्वयुक्त विलास वाली गति आदि समस्त रूपों में जो आसक्त नहीं होते. वे वशार्त्त मरण नहीं मरते॥१२॥

अगरु-वरपवरधूवण-उउयमल्लाणुलेवणविहीसु।
गंधेसु जे न गिद्धा, वसट्टमरणं न ते मरए॥ १३॥

उत्तम अगर, श्रेष्ठ धूप, विविध ऋतुओं में वृद्धि को प्राप्त होने वाले पुष्पों की मालाओं तथा श्रीखंड आदि के लेपन की गंध में जो आसक्त नहीं होते, उन्हें वशार्त्तमरण नहीं मरना पड़ता॥१३॥

तित्त-कडुयं कसायंब-महुरं बहुखज्ज-पेज्ज-लेज्झेसु।
आसायंमि न गिद्धा, वसट्टमरणं न ते मरए॥ १४॥

तिक्त, कटुक, कसैले, खट्टे और मीठे खाद्य, पेय और लेह्य (चाटने योग्य) पदार्थों के आस्वादन में जो गृद्ध नहीं होते, वे वशार्त्त मरण नहीं मरते॥१४॥

उउ-भयमाणसुहेसु य, सविभव-हियय-निव्वुइकरेसु।
फासेसु जे न गिद्धा, वसट्टमरणं न ते मरए ॥ १५ ॥

हेमन्त आदि विभिन्न ऋतुओं में सेवन करने से सुख देने वाले, वैभव (धन) सहित, हितकर (प्रकृति को अनुकूल) और मन को आनन्द देने वाले स्पर्शों में जो गृद्ध नहीं होते, वे वशार्त्त मरण नहीं मरते ॥१५॥

कर्त्तव्य-निर्देश

सद्देसु य भद्दग-पावएसु सोयविसयं उवगएसु।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होअव्वं ॥ १६ ॥

साधु को भद्र (शुभ-मनोज्ञ) श्रोत्र के विषय शब्द प्राप्त होने पर कभी तुष्ट नहीं होना चाहिए और पापक (अशुभ-अमनोज्ञ) शब्द सुनने पर रुष्ट नहीं होना चाहिए ॥१६॥

रूवेसु य भद्दग-पावएसु चक्खुविसयं उवगएसु।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होअव्वं ॥ १७ ॥

शुभ अथवा अशुभ रूप चक्षु के विषय होने पर—दृष्टिगोचर होने पर साधु को कभी न तुष्ट होना चाहिए और न रुष्ट होना चाहिए ॥१७॥

गंधेसु य भद्दग-पावएसु घाणविसयमुवगएसु।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होअव्वं ॥ १८ ॥

घ्राण-इन्द्रिय को प्राप्त हुए शुभ अथवा अशुभ गंध में साधु को कभी तुष्ट अथवा रुष्ट नहीं होना चाहिए ॥१८॥

रसेसु य भद्दय-पावएसु जिब्भविसयं उवगएसु।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया न होअव्वं ॥ १९ ॥

जिह्वा इन्द्रिय के विषय को प्राप्त शुभ अथवा अशुभ रसों में साधु को कभी तुष्ट अथवा रुष्ट नहीं होना चाहिए ॥१९॥

फासेसु य भद्दय-पावएसु कायविसयमुवगएसु।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया न होअव्वं ॥ २० ॥[1]

स्पर्शनेन्द्रिय के विषय बने हुए शुभ अथवा अशुभ स्पर्शों में साधु को कभी तुष्ट या रुष्ट नहीं होना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि पांचों इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय का मनोज्ञ विषय प्राप्त होने पर प्रसन्नता का और अमनोज्ञ विषय प्राप्त होने पर अप्रसन्नता का अनुभव नहीं करना चाहिए, किन्तु दोनों अवस्थाओं में समभाव धारण करना चाहिए ॥२०॥

१. टीकाकार ने इन वीस गाथाओं को प्रकृत वाचना की न मान कर वाचनान्तर की स्वीकार की हैं।

३१—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सत्तरसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ।

सुधर्मा स्वामी अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं—'जम्बू ! निश्चय ही यावत् मुक्ति को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सत्तरहवें ज्ञात अध्ययन का यह अर्थ कहा है। वही अर्थ मैं तुझसे कहता हूँ ।

॥ सत्तरहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

अठारहवाँ अध्ययन : सुंसुमा

सार : संक्षेप

सुंसुमा ! सोने के पलने में झूली, सुख में पली, राजगृह नगर के धन्य सार्थवाह की लाड़ली कुमारी कितनी अभागिनी ! कैसा करुण अन्त हुआ उसके जीवन का !

धन्य सार्थवाह के पाँच पुत्रों के पश्चात् उसका जन्म हुआ था। जब वह छोटी थी तब चिलात (किरात) दास उसे अड़ौस-पड़ौस के बच्चों के साथ खेलाया करता था। यही उसका मुख्य काम था। चिलात बड़ा ही नटखट था, बहुत उद्दंड और दुष्ट। खेल के समय वह बालक-बालिकाओं को बहुत सताता था। बहुत बार वह उनकी कौड़ियां छीन लेता, लाख के गोले छिपा लेता, वस्त्र हरण कर लेता। कभी उन्हें धमकाता, मारता, पीटता। उसके मारे बालकों का नाकों दम था। वे घर जाकर अपने माता-पिता से उसकी शिकायत करते। धन्य सेठ उसे डाँटते मगर वह अपनी आदत से बाज न आया। उसकी हरकतें बढ़ती ही गईं।

एक बार बालकों के अभिभावक जब बहुत क्रुद्ध हुए, रुष्ट हुए तब धन्य सार्थवाह ने चिलात को खरी-खोटी सुना कर अपने घर से निकाल दिया।

चिलात अब पूरी तरह स्वच्छंद और निरंकुश हो गया। उसे कोई रोकने वाला या फटकारने वाला नहीं था। अतएव वह जुआ के अड्डों में, मदिरालयों में, वेश्यागृहों में—इधर-उधर भटकने लगा। उसके जीवन में सभी प्रकार के दुर्व्यसनों ने अड्डा जमा लिया।

राजगृह से कुछ दूरी पर सिंहगुफानामक एक चोरपल्ली थी। उसमें पाँच सौ चोरों के साथ उनका सरदार विजयनामक चोर रहता था। चिलात उस चोर-पल्ली में जा पहुँचा। वह बड़ा साहसी, बलिष्ठ और निर्भीक तो था ही, विजय ने उसे चोरकलाएँ, चोरविद्याएँ और चोरमंत्र सिखला कर चौर्य-कला में निष्णात कर दिया। विजय की मृत्यु के पश्चात् वह चोरों का सरदार-सेनापति भी बन गया।

तिरस्कृत करके घर से निकाल देने के कारण धन्य सार्थवाह के प्रति उसके मन में प्रतिशोध की भावना थी। कदाचित् सुंसुमा पर उसकी प्रीति थी किन्तु उसके जीवन की अपवित्रता ने उस प्रीति को भी अपवित्र बना दिया था। जो भी कारण हो, उसने एक बार सब साथियों को एकत्र करके धन्य का घर लूटने का निश्चय प्रकट किया। सब साथी उससे सहमत हो गए। चिलात ने कहा—लूट में जो धन मिलेगा वह सब तुम्हारा होगा, केवल सुंसुमा लड़की मेरी होगी।

निश्चयानुसार एक रात्रि में धन्य सार्थवाह के घर डाका डाला गया। प्रचुर सम्पत्ति और

सुंसुमा को लेकर चोर जब वापिस लौट गए तो धन्य सेठ, जो कहीं छिपकर अपने प्राण बचा पाया था, नगर-रक्षकों के यहाँ गया। समग्र वृत्तान्त सुनकर नगर-रक्षकों ने सशस्त्र होकर चोरों का पीछा किया। धन्य और उसके पाँचों पुत्र भी साथ चले।

नगर-रक्षकों ने निरन्तर पीछा करके चिलात को पराजित कर दिया। तब उसके साथी पाँच सौ चोर चोरी का माल छोड़ कर इधर-उधर भाग गए। नगर-रक्षक वह धन-सम्पत्ति लेकर वापिस लौट गए। चिलात सुंसुमा को लेकर अकेला भागा। धन्य सेठ अपने पुत्रों के साथ उसका लगातार पीछा करता चला गया। यह देखकर, बचने का अन्य कोई उपाय न रहने पर चिलात ने सुंसुमा का गला काट डाला और धड़ को वहीं छोड़, मस्तक साथ लेकर अटवी में कहीं भाग गया। मगर भूख-प्यास से पीडित होकर वह अटवी में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया—सिंहगुफा तक नहीं पहुंच सका।

उधर धन्य सार्थवाह ने जब अपनी पुत्री का मस्तकविहीन निर्जीव शरीर देखा तो उसके शोक-संताप का पार न रहा। वह बहुत देर तक रोता-विलाप करता रहा।

धन्य और उसके पुत्र चिलात का पीछा करते-करते बहुत दूर पहुंच गये थे। जोश ही जोश में उन्हें पता ही नहीं चला कि हम नगर से कितनी दूर आ गए हैं। अब वह जोश निश्शेष हो चुका था। वे भूख-प्यास से बुरी तरह पीडित हो गए थे। आसपास पानी तलाश किया, मगर कहीं एक बूंद न मिला। भूख-प्यास की इस स्थिति में लौट कर राजगृह तक पहुँचना भी संभव नहीं था। बड़ी विकट अवस्था थी। सभी के प्राणों पर संकट था।

यह सब सोचकर धन्य सार्थवाह ने कहा—'भोजन-पान के विना राजगृह पहुंचना संभव नहीं है, अतएव मेरा हनन करके मेरे मांस और रुधिर का उपभोग करके तुम लोग सकुशल घर पहुंचो।' किन्तु ज्येष्ठ पुत्र ने पिता के इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। उसने अपने वध की बात कही, पर अन्य भाइयों ने उसे भी मान्य नहीं किया। इस प्रकार कोई भी किसी भाई के वध के लिए सहमत नहीं हुआ। तब धन्य ने सुंसुमा के मृत कलेवर से ही भूख-प्यास की निवृत्ति करने का प्रस्ताव किया। यही निर्णय रहा। सुंसुमा के शरीर का आहार करके अपने पुत्रों के साथ धन्य सार्थवाह सकुशल राजगृह नगर पहुंच गया। यथासमय धन्य ने प्रव्रज्या अंगीकार की। सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वह विदेह क्षेत्र से सिद्धि प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित कथा का यह संक्षिप्त स्वरूप है। इसका सार-निष्कर्ष स्वयं शास्त्रकार ने अन्त में दिया है। वह इस प्रकार है—

धन्य सार्थवाह और उसके पुत्रों ने सुंसुमा के मांस-रुधिर का आहार शरीर के पोषण के लिए नहीं किया था, जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर भी नहीं किया था, किन्तु राजगृह तक पहुंचने के एक मात्र उद्देश्य से ही किया था। इसी प्रकार साधक मुनि को चाहिए कि वह इस अशुचि शरीर के पोषण के लिए नहीं वरन् मुक्तिधाम तक पहुंचने के लक्ष्य से ही आहार करे।

जैसे धन्य सार्थवाह को अपनी पुत्री के मांस-रुधिर के सेवन में लेशमात्र भी आसक्ति या लोलुपता नहीं थी, उसी प्रकार साधक के मन में आहार के प्रति अणुमात्र भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

उच्चतम कोटि की अनासक्ति प्रदर्शित करने के लिए योजित यह उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है—अनुरूप है। इस पर सही दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए—शास्त्रकार के आशय को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

अट्ठारसमं अज्झयणं : सुंसुमा

उत्क्षेप

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं सत्तरसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, अट्ठारसमस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—'भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने सत्तरहवें ज्ञात—अध्ययन का यह अर्थ कहा है, तो अठारहवें अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?'

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं नयरे होत्था, वण्णओ । तत्थ णं धण्णे णामं सत्थवाहे परिवसइ, तस्स णं भद्दा भारिया ।

तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स पुत्ता भद्दाए अत्तया पंच सत्थवाहदारगा होत्था, तंजहा-धणे, धणपाले, धणदेवे, धणगोवे, धणरक्खिए । तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स धूया भद्दाए अत्तया पंचण्हं पुत्ताणं अणुमग्गजाइया सुंसुमा णामं दारिया होत्था सूमालपाणिपाया ।

तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स चिलाए नामं दासचेडए होत्था । अहीणपंचिंदियसरीरे मंसोवचिए बालकीलावणकुसले यावि होत्था ।

श्रीसुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—'हे जम्बू ! उस काल और उस समय में राजगृहनामक नगर था, उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए । वहाँ धन्यनामक सार्थवाह निवास करता था । भद्रा नाम की उसकी पत्नी थी ।

उस धन्य सार्थवाह के पुत्र, भद्रा के आत्मज पाँच सार्थवाहदारक थे । उनके नाम इस प्रकार हैं—धन, धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित । धन्य सार्थवाह की पुत्री, भद्रा की आत्मजा और पाँचों पुत्रों के पश्चात् जन्मी हुई सुंसुमानामक बालिका थी । उसके हाथ-पैर आदि अंगोपांग सुकुमार थे ।

उस धन्य सार्थवाह का चिलातनामक दास चेटक (दासपुत्र) था । उसकी पाँचों इन्द्रियाँ पूरी थीं और शरीर भी परिपूर्ण एवं मांस से उपचित था । वह बच्चों को खेलाने में कुशल भी था ।

दास चेटक : उसकी शैतानी

३—तए णं से दासचेडे सुंसुमाए दारियाए बालग्गाहे जाए यावि होत्था । सुंसुमं दारियं कडीए गिण्हइ, गिण्हित्ता बहूहिं दारएहि य दारियाहि य डिंभएहि य डिंभयाहि य कुमारएहि य कुमारियाहि य सद्धिं अभिरममाणे अभिरममाणे विहरइ ।

अतएव वह दासचेटक सुंसुमा बालिका का बालग्राहक (बालक को खेलाने वाला । नियत किया गया । वह सुंसुमा बालिका को कमर में ले लेता और बहुत-से लड़कों, लड़कियों, बच्चों, बच्चियों, कुमारों और कुमारिकाओं के साथ खेलता रहता था ।

४—तए णं से चिलाए दासचेडे तेसिं बहूणं दारयाण य दारियाण य डिंभयाण य डिंभियाण य

कुमाराण य कुमारीण य अप्पेगइयाणं खुल्लए अवहरइ, एवं वट्टए आडोलियाओ तेंदूसए पोत्तुल्लए साडोल्लए, अप्पेगइयाणं आभरणमल्लालंकारं अवहरइ, अप्पेगइए आउसइ, एवं अवहसइ, निच्छोडेइ, निब्भच्छेइ, तज्जेइ, अप्पेगइए तालेइ ।

उस समय वह चिलात दास-चेटक उन बहुत-से लड़कों, लड़कियों, बच्चों, बच्चियों, कुमारों और कुमारियों में से किन्हीं की कोड़ियाँ हरण कर लेता—छीन लेता या चुरा लेता था । इसी प्रकार वर्तक (लाख के गोले) हर लेता, आडोलिया, (गेंद) हर लेता, दड़ा (बड़ी गेंद) कपड़ा और साडोल्लक (उत्तरीय वस्त्र) हर लेता था । किन्हीं-किन्हीं के आभरण, माला और अलंकार हरण कर लेता था । किन्हीं पर आक्रोश करता, किसी की हँसी उड़ाता, किसी को ठग लेता, किसी की भर्त्सना करता, किसी की तर्जना करता और किसी को मारता-पीटता था । तात्पर्य यह कि वह दास चेटक बहुत शैतान था ।

दास चेटक की शिकायतें

५—तए णं ते बहवे दारगा य दारिया य डिंभया य डिंभिया य कुमारा य कुमारिगा य रोयमाणा य कंदमाणा य सोयमाणा य तिप्पमाणा य विलवमाणा य साणं साणं अम्मा-पिऊणं णिवेदेंति ।

तए णं तेसिं बहूणं दारगाण य दारिगाण य डिंभाण य डिंभियाण य कुमाराण य कुमारियाण य अम्मापियरो जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता धण्णं सत्थवाहं बहूहिं खिज्जणाहि य रुंटणाहि य उवलंभणाहि य खिज्जमाणा य रुंटमाणा य उवलंभेमाणा य धण्णस्स एयमट्ठं णिवेदेंति ।

तब वे बहुत-से लड़के, लड़कियाँ, बच्चे, बच्चियाँ कुमार और कुमारिकाएँ रोते हुए, चिल्लाते हुए, शोक करते हुए, आँसू बहाते हुए, विलाप करते हुए जाकर अपने-अपने माता-पिताओं से चिलात की करतूत कहते थे ।

उस समय बहुत-से लड़कों, लड़कियों, बच्चों, बच्चियों, कुमारों और कुमारिकाओं के माता-पिता धन्य सार्थवाह के पास आते । आकर धन्य सार्थवाह को खेदजनक वचनों से, रुंवासे होकर उलाहने भरे वचनों से खेद प्रकट करते, रोते और उलाहना देते थे और धन्य सार्थवाह को यह वृत्तान्त कहते थे ।

६—तए णं धण्णे सत्थवाहे चिलायं दासचेडं एयमट्ठं भुज्जो भुज्जो णिवारेति, णो चेव णं चिलाए दासचेडे उवरमइ । तए णं से चिलाए दासचेडे तेसिं बहूणं दारगाण य दारिगाण य डिंभयाण य डिंभियाण य कुमारगाण य कुमारिगाण य अप्पेगइयाणं खुल्लए अवहरइ जाव तालेइ ।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने चिलात दासचेटक को इस बात के लिए बार-बार मना किया, मगर चिलात दास-चेटक रुका नहीं, माना नहीं । धन्य सार्थवाह के रोकने पर भी चिलात दास-चेटक उन बहुत लड़कों, लड़कियों, बच्चों, बच्चियों, कुमारों और कुमारिकाओं में से किन्हीं की कौड़ियाँ हरण करता रहा और किन्हीं-किन्हीं को यावत् मारता-पीटता रहा ।

७—तए णं ते बहवे दारगा य दारिगा य डिंभगा य डिंभिया य कुमारा य कुमारिया य रोयमाणा य जाव[1] अम्मापिऊणं णिवेदेंति।

तए णं ते आसुरुत्ता रुट्ठा कुविया चंडिक्किया मिसिमिसेमाणा जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता बहूहिं खिज्जणाहि य जाव[2] एयमट्ठं णिवेदेंति।

तब वे बहुत लड़के, लड़कियाँ, बच्चे, बच्चियाँ, कुमार और कुमारिकाएँ रोते-चिल्लाते गये, यावत् माता-पिताओं से उन्होंने यह बात कह सुनाई।

तब वे माता-पिता एकदम क्रुद्ध हुए, रुष्ट, कुपित, प्रचण्ड हुए, क्रोध से जल उठे और धन्य सार्थवाह के पास पहुंचे। पहुंच कर बहुत खेदयुक्त वचनों से उन्होंने यह बात उससे कही।

दास चेटक का निष्कासन

८—तए णं से धण्णे सत्थवाहे बहूणं दारगाणं दारियाणं डिंभयाणं डिंभियाणं कुमारगाणं कुमारियाणं अम्मापिऊणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा आसुरुत्ते चिलायं दासचेडं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउसइ, उद्धंसइ, णिब्भच्छेइ, णिच्छोडेइ, तज्जेइ, उच्चावयाहिं तालणाहिं तालेइ, साओ गिहाओ णिच्छुभइ।

तब धन्य सार्थवाह बहुत लड़कों, लड़कियों, बच्चों, बच्चियों, कुमारों और कुमारिकाओं के माता-पिताओं से यह बात सुन कर एकदम कुपित हुआ। उसने ऊँचे-नीचे आक्रोश-वचनों से चिलात दासचेट पर आक्रोश किया अर्थात् खरीखोटी सुनाई, उसका तिरस्कार किया, भर्त्सना की, धमकी दी, तर्जना की और ऊँड़ी-नीची ताड़नाओं से ताड़ना की और फिर उसे अपने घर से बाहर निकाल दिया।

दास चेटक दुर्व्यसनी बना

९—तए णं से चिलाए दासचेडे साओ गिहाओ णिच्छूढे समाणे रायगिहे नयरे सिंघाडए जाव पहेसु य देवकुलेसु य सभासु य पवासु य जूयखलएसु य वेसाघरेसु य पाणघरएसु य सुहंसुहेणं परियट्टइ।

तए णं चिलाए दासचेडे अणोहट्टिए अणिवारिए सच्छंदमई सइरप्पयारी मज्जपसंगी चोज्जपसंगी मंसपसंगी जूयप्पसंगी वेसापसंगी परदारप्पसंगी जाए यावि होत्था।

धन्य सार्थवाह द्वारा अपने घर से निकाला हुआ वह चिलात दासचेटक राजगृह नगर में, शृंगाटकों यावत् पथों में अर्थात् गली-कूचों में, देवालयों में, सभाओं में, प्याउओं में, जुआरियों के अड्डों में, वेश्याओं के घरों में तथा मद्यपानगृहों में मजे से भटकने लगा।

उस समय उस दासचेट चिलात को कोई हाथ पकड़ कर रोकने वाला (हटकने वाला) तथा वचन से रोकने वाला न रहा, अतएव वह निरंकुश बुद्धि वाला, स्वेच्छाचारी, मदिरापान में आसक्त, चोरी करने में आसक्त, मांसभक्षण में आसक्त, जुआ में आसक्त, वेश्यासक्त तथा पर स्त्रियों में भी लम्पट हो गया।

१. अ. १८ सूत्र ५. २, अ. १८ सूत्र ५.

१०—तए णं रायगिहस्स णगरस्स अदूरसामंते दाहिणपुरत्थिमे दिसिभाए सीहगुहा नामं चोरपल्ली होत्था, विसमगिरिकडग-कोडंब-संनिविट्ठा वंसीकलंक-पागार-परिक्खित्ता छिण्ण-सेल-विसमप्पवाय-फरिहोवगूढा एगदुवारा अणेगखंडी विदितजणणिग्गम-पवेसा अब्भिंतरपाणिया सुदुल्लभ-जलपेरंता सुबहुस्स वि कूवियवलस्स आगयस्स दुप्पहंसा यावि होत्था।[1]

उस समय राजगृह नगर से न अधिक दूर और न अधिक समीप प्रदेश में, दक्षिणपूर्व दिशा (आग्नेय कोण) में सिंहगुफानामक एक चोरपल्ली थी। वह पल्ली विषम गिरिनितंब के प्रान्त भाग में बसी हुई थी। बांस की झाड़ियों के प्राकार से घिरी हुई थी। अलग-अलग टेकरियों के प्रपात (दो पर्वतों के बीच के गड़हे) रूपी परिखा से युक्त थी। उसमें जाने-आने के लिए एक ही दरवाजा था, परन्तु भाग जाने के लिए छोटे-छोटे अनेक द्वार थे। जानकार लोग ही उसमें से निकल सकते और उसमें प्रवेश कर सकते थे। उसके भीतर ही पानी था। उस पल्ली से बाहर आस-पास में पानी मिलना अत्यन्त दुर्लभ था। चुराये हुए माल को छीनने के लिए आई हुई सेना भी उस पल्ली का कुछ नहीं बिगाड़ सकती थी। ऐसी थी वह चोरपल्ली!

११—तत्थ णं सीहगुहाए चोरपल्लीए विजए णामं चोरसेणावई परिवसइ अहम्मिए जाव [अहम्मिट्ठे अहम्मक्खाई अहम्माणुए अहम्मपलोई अहम्मपलज्जणे अहम्मसील-समुदायारे अहम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ। हण-छिंद-भिंद-वियत्तए लोहियपाणी चंडे रुद्दे खुद्दे साहस्सिए उक्कंचण-वंचण-माया-नियडि-कवड-कूड-साइ-संपयोगबहुले निस्सीले निव्वए निग्गुणे निप्पच्चक्खाणपोसहोववासे बहूणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सरिसिवाणं घायाए वहाए उच्छायणाए] अहम्मकेऊ समुट्ठिए बहुनगरणिग्गयजसे सूरे दढप्पहारी साहसिए सद्दवेही। से णं तत्थ सीहगुहाए चोरपल्लीए पंचण्हं चोरसयाणं आहेवच्चं जाव विहरइ।

उस सिंहगुफा पल्ली में विजयनामक चोर सेनापति रहता था। वह अधार्मिक, [अत्यन्त क्रूर कर्मकारी होने के कारण अधर्मिष्ठ, अधर्म की बात करने वाला, अधर्म-प्रलोकी—अधर्म पर ही दृष्टि रखने वाला, अधर्म-कृत्यों का अनुरागी, अधर्मशील, और अधर्माचारी था तथा अधर्म से ही जीवन-निर्वाह कर रहा था। इसका घात कर डालो, इसे काट डालो, इसे भेद डालो, ऐसी दूसरों को प्रेरणा किया करता था। उसके हाथ रुधिर से लिप्त रहते थे। वह चंड-तीव्र रोष वाला, रौद्र-नृशंस, क्षुद्र-क्षुद्र-कर्म करने वाला, साहसिक-परिणाम का विचार किए विना किसी भी काम में कूद पड़ने वाला था। प्राय: उत्कंचन, वंचन, माया, निकृति (वकवृत्ति से दूसरों को ठगना अथवा एक मायाचार को ढँकने के लिए दूसरी माया करना), कपट (वेष परिवर्त्तन करना आदि), कूट (न्यूनाधिक तोलना-नापना) एवं स्वाति-अविश्रंभ का ही प्रयोग किया करता था। वह शीलहीन,

१. वाचनान्तर में इस प्रकार का पाठ है—'जत्थ चउरंगवलनियुत्तावि कूवियवला हय-महिय-पवरवीर-घाइय-निवडिय-चिंध-धय-वडाया कीरंति।' —अभयदेव टीका पृ. २४५ (पू.)

तात्पर्य यह कि उस चोरपल्ली में रहने वाले चोर इतने वलिष्ठ और सशक्त थे कि चुराया हुआ माल छीनने के लिए यदि सवल चतुरंगिणी सेना भेजी जाय तो उसे भी वे हत और मथित कर सकते थे—उसका मान-मर्दन कर सकते थे और उसकी ध्वजा-पताका नष्ट कर सकते थे।

व्रतहीन, गुणहीन, प्रत्याख्यान और पोषधोपवास से रहित तथा बहुत-से द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृप—रेंग कर चलने वाले जंतुओं का घात, वध और उच्छेदन करने वाला था।] इन सब दोषों और पापों के कारण वह अधर्म की ध्वजा था। बहुत नगरों में उसका (चोरी करने की बहादुरी का) यश फैला हुआ था। वह शूर था, दृढ प्रहार करने वाला, साहसी और शब्दवेधी (शब्द के आधार पर बाण चला कर लक्ष्य का वेधन करने वाला) था। वह उस सिंहगुफा में पाँच सौ चोरों का अधिपतित्व करता हुआ रहता था!

१२—तए णं से विजए तक्करे चोरसेणावई बहूणं चोराण य पारदारियाण य गंठिभेयगाण य संधिच्छेयगाण य खत्तखणगाण य रायावगारीण य अणधारगाण य बालघायगाण य वीसंभघायगाण य जूयकाराण य खंडरक्खाण य अन्नेसिं च बहूणं छिन्न-भिन्न बाहिराहयाणं कुडंगे यावि होत्था।

वह चोरों का सेनापति विजय तस्कर दूसरे बहुतेरे चोरों के लिए, जारों के लिए, राजा के अपकारियों के लिए, ऋणियों के लिए, गठकटों के लिए, सेंध लगाने वालों के लिए, खात खोदने वालों के लिए बालकों के लिए, विश्वासघातियों के लिए, जुआरिओं के लिए तथा खण्डरक्षकों (दंडपाशिकों) के लिए, और मनुष्यों के हाथ-पैर आदि अवयवों को छेदन-भेदन करने वाले अन्य लोगों के लिए कुडंग (बाँस की झाड़ी) के समान-शरणभूत था। अर्थात् जैसे अपराधी लोग राजभय से बाँस की झाड़ी में छिप जाते हैं अतः बाँस की झाड़ी उनके लिए शरण रूप होती है, उसी प्रकार विजय चोर भी अन्यायी-अत्याचारी लोगों का आश्रयदाता था।

१३—तए णं से विजए तक्करे चोरसेणावई रायगिहस्स नगरस्स दाहिणपुरच्छिमं जणवयं बहूहिं गामघाएहि य नगरघाएहि य गोग्गहणेहि य बंदिग्गहणेहि य पंथकुट्टणेहि य खत्तखणणेहि य उवीलेमाणे उवीलेमाणे विद्धंसेमाणे-विद्धंसेमाणे णित्थाणं णिद्धणं करेमाणे विहरइ।

वह चोर सेनापति विजय तस्कर राजगृह नगर के दक्षिणपूर्व (अग्नि कोण) में स्थित जनपद-प्रदेश को, ग्राम के घात द्वारा, नगरघात द्वारा, गायों का हरण करके, लोगों को कैद करके, पथिकों को मारकूट कर तथा सेंध लगा कर पुनः पुनः उत्पीडित करता हुआ तथा विध्वस्त करता हुआ, लोगों को स्थानहीन एवं धनहीन बना रहा था।

चोर-सेनापति की शरण में

१४—तए णं से चिलाए दासचेडे रायगिहे णयरे बहूहिं अत्थाभिसंकीहि य चोराभिसंकीहि य दाराभिसंकीहि य धणिएहि य जूयकरेहि य परब्भवमाणे परब्भवमाणे रायगिहाओ नयराओ निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सीहगुहा चोरपल्ली तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता विजयं चोरसेणावइं उपसंपज्जित्ता णं विहरइ।

तत्पश्चात् वह चिलात दासचेट राजगृह नगर में बहुत-से अर्थाभिशंकी (हमारा धन यह चुरा लेगा ऐसी शंका करने वालों) चौराभिशंकी (चोर समझने वालों) दाराभिशंकी (यह हमारी स्त्री को ले जायगा, ऐसी शंका करने वालों), धनिकों और जुआरियों द्वारा पराभव पाया हुआ—तिरस्कृत

होकर राजगृह नगर से बाहर निकला। निकल कर जहाँ सिंहगुफानामक चोरपल्ली थी, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर चोरसेनापति विजय के पास पहुँच कर उसकी शरण में जा कर रहने लगा।

१५—तए णं से चिलाए दासचेडे विजयस्स चोरसेणावइस्स अग्ग-असि-लट्ठिग्गाहे जाए यावि होत्था। जाहे वि य णं से विजए चोरसेणावई गामघायं वा जाव [नगरघायं वा गोगहणं वा बंदिग्गहणं वा] पंथकोट्टिं वा काउं वच्चइ, ताहे वि य णं से चिलाए दासचेडे सुबहुं पि हु कूवियबलं हयमहियं जाव[1] पडिसेहेइ, पुणरवि लद्धट्ठे कयकज्जे अणहसमग्गे सीहगुहं चोरपल्लिं हव्वमागच्छइ।

तत्पश्चात् वह दासचेट चिलात विजयनामक चोर सेनापति के यहाँ प्रधान खड्गधारी या खड्ग और यष्टि का धारक हो गया। अतएव जब भी वह विजय चोर सेनापति ग्राम का घात करने के लिए [नगर-घात करने के लिए, गायों का अपहरण करने या बंदियों को पकड़ने अथवा] पथिकों को मारने-कूटने के लिए जाता था, उस समय दासचेट चिलात बहुत-सी कूविय (चोरी का माल छीनने के लिए आने वाली) सेना को हत एवं मथित करके रोकता था—भगा देता था और फिर उस धन आदि को लेकर अपना कार्य करके सिंहगुफा चोरपल्ली में सकुशल वापिस आ जाता था।

१६—तए णं से विजए चोरसेणावई चिलायं तक्करं बहूईओ चोरविज्जाओ य चोरमंते य चोरमायाओ य चोरनिगडीओ य सिक्खावेइ।

उस विजय चोर सेनापति ने चिलात तस्कर को बहुत-सी चौरविद्याएं चोरमंत्र चोर-मायाएँ और चोर-निकृतियाँ (चोरों के योग्य छल-कपट) सिखला दीं।

१७—तए णं से विजए चोरसेणावई अन्नया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते यावि होत्था। तए णं ताइं पंच चोरसयाइं विजयस्स चोरसेणावइस्स महया महया इड्ढी-सक्कार-समुदएणं णीहरणं करेंति, करित्ता बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेंइ, करित्ता जाव [कालेणं] विगयसोया जाया यावि होत्था।

तत्पश्चात् विजय चोर किसी समय मृत्यु को प्राप्त हुआ—कालधर्म से युक्त हुआ। तब उन पाँच सौ चोरों ने बड़े ठाठ और सत्कार के समूह के साथ विजय चोर सेनापति का नीहरण किया-श्मशान में ले जाने की क्रिया की। फिर बहुत-से लौकिक मृतककृत्य किये। कुछ समय बीत जाने पर वे शोकरहित हो गये।

चिलात सेनापति बना

१८—तए णं ताइं पंच चोरसयाइं अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु अम्हं देवाणुप्पिया! विजए चोरसेणावई कालधम्मुणा संजुत्ते, अयं च णं चिलाए तक्करे विजएणं चोरसेणावइणा बहूओ चोरविज्जाओ य जाव[2] सिक्खाविए, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया! चिलायं तक्करं सीहगुहाए चोरपल्लीए चोरसेणावइत्ताए अभिसिंचित्तए।' त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता चिलायं तक्करं तीए सीहगुहाए चोरसेणावइत्ताए अभिसिंचंति। तए णं से चिलाए चोरसेणावई जाए अहम्मिए जाव[3] विहरइ।

---

१. अ. १६ सूत्र १७९   २. अ. १८ सूत्र १६   ३. अ. १८ सूत्र ११

तत्पश्चात् उन पाँच सौ चोरों ने एक दूसरे को बुलाया (सब इकट्ठे हुए)। तब उन्होंने आपस में कहा—'देवानुप्रियो! हमारा चोरसेनापति विजय कालधर्म (मरण) से संयुक्त हो गया है। और विजय चोर सेनापति ने इस चिलात तस्कर को बहुत-सी चोरविद्याएँ आदि सिखलाई हैं। अतएव देवानुप्रियो! हमारे लिए यही श्रेयस्कर होगा कि चिलात तस्कर का सिंहगुफा चोरपल्ली के चोरसेनापति के रूप में अभिषेक किया जाय।' इस प्रकार कह कर उन्होंने एक दूसरे की बात स्वीकार की। चिलात तस्कर को सिंहगुफा चोरपल्ली के चोरसेनापति के रूप में अभिषिक्त किया। तब वह चिलात चोरसेनापति हो गया, तथा विजय के समान ही अधार्मिक क्रूरकर्मा एवं पापाचारी होकर रहने लगा।

१९—तए णं से चिलाए चोरसेणावई चोरणायगे जाव[1] कुडंगे यावि होत्था। से णं तत्थ सीहगुहाए चोरपल्लीए पंचण्हं चोरसयाण य एवं जहा विजओ[2] तहेव सव्वं जाव रायगिहस्स दाहिण-पुरच्छिमिल्लं जणवयं जाव णित्थाणं निद्धणं करेमाणे विहरइ।

वह चिलात चोरसेनापति चोरों का नायक यावत् कुडंग (बांस की झाड़ी) के समान चोरों जारों आदि का आश्रयभूत हो गया। वह उस सिंहगुफानामक चोरपल्ली में पांच सौ चोरों का अधिपति हो गया, इत्यादि विजय चोर के वर्णन के समान समझना चाहिए। यावत् वह राजगृह नगर के दक्षिण-पूर्व के जनपद निवासी जनों को स्थानहीन और धनहीन बनाने लगा।

२०—तए णं से चिलाए चोरसेणावई अन्नया कयाइं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता पंच चोरसए आमंतेइ। तओ पच्छा ण्हाए कयबलिकम्मे भोयणमंडवंसि तेहिं पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च जाव [मज्जं च मंसं च सीधुं च] पसण्णं च आसाएमाणे विसाएमाणे परिभाएमाणे परिभुंजेमाणे विहरइ। जिमियभुत्तुत्तरागए ते पंच चोरसए विपुलेणं धूव-पुप्फ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेइ, संमाणेइ, सक्कारित्ता संमाणित्ता एवं वयासी :—

तत्पश्चात् चिलात चोरसेनापति ने एक बार किसी समय विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तैयार करवा कर पाँच सौ चोरों को आमंत्रित किया। फिर स्नान तथा बलिकर्म करके भोजन-मंडप में उन पाँच सौ चोरों के साथ विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम का तथा सुरा (मद्य, मांस, सीधु-तथा) प्रसन्नानामक मदिराओं का आस्वादन, विस्वादन, वितरण एवं परिभोग करने लगा। भोजन कर चुकने के पश्चात् पाँच सौ चोरों का विपुल धूप, पुष्प, गंध, माला और अलंकार से सत्कार किया, सन्मान किया। सत्कार सन्मान करके उनसे इस प्रकार कहा—

धन्य सार्थवाह के घर की लूट : धन्य-कन्या का अपहरण

२१—एवं खलु देवाणुप्पिया! रायगिहे णयरे धण्णे णामं सत्थवाहे अड्ढे, तस्स णं धूया भद्दाए अत्तया पंचण्हं पुत्ताणं अणुमग्गजाइया सुंसुमा णामं दारिया यावि होत्था अहीणा जाव सुरूवा। तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं विलुंपामो। तुब्भं विपुले धणकणग जाव [रयण-मणि-मोत्तिय-संख-] सिलप्पवाले, ममं सुंसुमा दारिया।'

तए णं ते पंच चोरसया चिलायस्स चोरसेणावइस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति।

---

१. अ. १८ सूत्र १२ २. देखिए, द्वितीय अध्ययन

(चिलात ने कहा—) 'देवानुप्रियो ! राजगृह नगर में धन्यनामक धनाढ्य सार्थवाह है। उसकी पुत्री, भद्रा की आत्मजा और पाँच पुत्रों के पश्चात् जन्मी हुई सुंसुमा नाम की लड़की है। वह परिपूर्ण इन्द्रियों वाली यावत् सुन्दर रूप वाली है। तो हे देवानुप्रियो ! हम लोग चलें और धन्य सार्थवाह का घर लूटें। उस लूट में मिलने वाला विपुल धन, कनक, यावत् [रत्न, मणि, मोती, शंख तथा] शिला मूंगा वगैरह तुम्हारा होगा और सुंसुमा लड़की मेरी होगी।'

तब उन पाँच सौ चोरों ने चोरसेनापति चिलात की यह बात अंगीकार की।

२२—तए णं से चिलाए चोरसेणावई तेहिं पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं अल्लं चम्मं दुरूहइ, पच्चावरण्हकालसमयंसि पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं सन्नद्ध जाव गहियाउहपहरणे माइयगोमुहिएहिं फलएहिं, णिक्कट्ठाहिं असिलट्ठीहिं, अंसगएहिं तोणेहिं, सजीवेहिं धणूहिं, समुक्खित्तेहिं सरेहिं समुल्लालियाहिं दाहाहिं, ओसारियाहिं उरुघंटियाहिं, छिप्पतूरेहिं वज्जमाणेहिं महया महया उक्किट्ठसीहणाय-बोल-कलकलरवेणं जाव [पक्खुभियमहा-] समुद्दरवभूयं करेमाणा सीहगुहाओ चोरपल्लीओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता रायगिहस्स अदूरसामंते एगं महं गहणं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता दिवसं खवेमाणो चिट्ठइ।

तत्पश्चात् चिलात चोरसेनापति उन पाँच सौ चोरों के साथ (मंगल के लिए) आर्द्र चर्म (गीली चमड़ी) पर बैठा। फिर दिन के अंतिम प्रहर में पाँच सौ चोरों के साथ कवच धारण करके तैयार हुआ। उसने आयुध और प्रहरण ग्रहण किए। कोमल गोमुखित—गाय के मुख सरीखे किए हुए फलक (ढाल) धारण किये। तलवारें म्यानों से बाहर निकाल लीं। कंधों पर तर्कश धारण किये। धनुष जीवायुक्त कर लिए। बाण बाहर निकाल लिए। बर्छियां और भाले उछालने लगे। जंघाओं पर बांधी हुई घंटिकाएँ लटका दीं। शीघ्र ही बाजे बजने लगे। बड़े-बड़े उत्कृष्ट सिंहनाद और बोलों की कल-कल ध्वनि से ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे महासमुद्र का खलबल शब्द हो रहा हो ! इस प्रकार शोर करते हुए वे सिंहगुफानामक पल्ली से बाहर निकले। निकलकर जहाँ राजगृह नगर था, वहाँ आये। आकर राजगृह नगर से कुछ दूर एक सघन वन में घुस गये। वहाँ घुस कर शेष रहे दिन को समाप्त करने लगे—सूर्य के अस्त हो जाने की प्रतीक्षा करने लगे।

२३—तए णं से चिलाए चोरसेणावई अद्धरत्तकालसमयंसि निसंतपडिनिसंतंसि पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं माइयगोमुहिएहिं फलएहिं जाव मूइआहिं ऊरुघंटियाहिं जेणेव रायगिहे नयरे पुरच्छिमिल्ले दुवारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता उदगवत्थिं परामुसइ, परामुसित्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए तालुग्घाडणिविज्जं आवाहेइ, आवाहित्ता रायगिहस्स दुवारकवाडे उदएणं अच्छोडेइ, अच्छोडित्ता कवाडं विहाडेइ, विहाडित्ता रायगिहं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयासीः—

तत्पश्चात् चोरसेनापति चिलात आधी रात के समय, जब सब जगह शान्ति और सुनसान हो गई थी, पाँच सौ चोरों के साथ, रींछ आदि के बालों से सहित होने के कारण कोमल गोमुखित (ढालें) छाती से बांध कर यावत् जांघों पर घूघरे लटका कर राजगृह नगर के पूर्व दिशा के दरवाजे पर पहुँचा। पहुँच कर उसने जल की मशक ली। उसमें से जल की एक अंजलि लेकर आचमन किया, स्वच्छ हुआ, पवित्र हुआ। फिर ताला खोलने की विद्या का आवाहन करके राजगृह के द्वार के

किवाड़ों पर पानी छिड़का। पानी छिड़क कर किवाड़ उघाड़ लिये। तत्पश्चात् राजगृह के भीतर प्रवेश किया। प्रवेश करके ऊँचे-ऊँचे शब्दों से आघोषणा करते-करते इस प्रकार बोला—

२४—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! चिलाए णामं चोरसेणावई पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं सीहगुफाओ चोरपल्लीओ इह हव्वमागए धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं घाउकामे, तं जो णं णवियाए माउयाए दुद्धं पाउकामे, से णं निग्गच्छउ' त्ति कट्टु जेणेव धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धण्णस्स गिहं विहाडेइ।

'देवानुप्रियो ! मैं चिलातनामक चोर सेनापति, पाँच सौ चोरों के साथ, सिंहगुफा नामक चोर-पल्ली से, धन्य सार्थवाह का घर लूटने के लिए यहाँ आया हूँ। जो नवीन माता का दूध पीना चाहता हो अर्थात् मरना चाहता हो, वह निकल कर मेरे सामने आवे।' इस प्रकार कह कर वह धन्य सार्थवाह के घर आया। आकर उसने धन्य सार्थवाह का घर (द्वार) उघाड़ा।

२५—तए णं से धण्णे सत्थवाहे चिलाएणं चोरसेणावइणा पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं गिहं घाइज्जमाणं पासइ, पासित्ता भीए, तत्थे, पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं एगंतं अवक्कमइ।

तए णं से चिलाए चोरसेणावई धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं घाएइ, घाइत्ता सुबहुं धणकणग जाव सावएज्जं सुंसुमं च दारियं गेण्हइ, गेण्हित्ता रायगिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव सीहगुहा तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

धन्य सार्थवाह ने देखा कि पाँच सौ चोरों के साथ चिलात चोरसेनापति के द्वारा घर लूटा जा रहा है। यह देखकर वह भयभीत हो गया, घबरा गया और अपने पांचों पुत्रों के साथ एकान्त में चला गया—छिप गया।

तत्पश्चात् चोर सेनापति चिलात ने धन्य सार्थवाह का घर लूटा। लूट कर बहुत सारा धन, कनक यावत् स्वापतेय (द्रव्य) तथा सुंसुमा दारिका को लेकर वह राजगृह से बाहर निकल कर जिधर सिंहगुफा थी, उसी ओर जाने के लिए उद्यत हुआ।

नगररक्षकों के समक्ष फरियाद

तए णं से धण्णे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुबहुं धणकणगं सुंसुमं दारियं अवहरियं जाणित्ता महत्थं महग्घं महरिहं पाहुडं गहाय जेणेव णगरगुत्तिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं महत्थं जाव पाहुडं उवणेइ, उवणित्ता एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! चिलाए चोरसेणावई सीहगुहाओ चोरपल्लीओ इहं हव्वमागम्म पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं मम गिहं घाएत्ता सुबहुं धणकणगं सुंसुमं च दारियं गहाय जाव पडिगए, तं इच्छामो णं देवाणुप्पिया ! सुंसुमादारियाए कूवं गमित्तए। तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! से विपुले धणकणगे, ममं सुंसुमा दारिया।

चोरों के चले जाने के पश्चात् धन्य सार्थवाह अपने घर आया। आकर उसने जाना कि मेरा बहुत-सा धन कनक और सुंसुमा लड़की का अपहरण कर लिया गया है। यह जान कर वह बहुमूल्य भेंट लेकर नगर के रक्षकों के पास गया और उनसे कहा—'देवानुप्रियो ! चिलातनामक चोरसेनापति सिंहगुफानामक चोरपल्ली से यहाँ आकर, पाँच सौ चोरों के साथ, मेरा घर लूट कर और बहुत-सा

धन कनक तथा सुंसुमा लड़की को लेकर चला गया है। अतएव हम, हे देवानुप्रियो ! सुंसुमा लड़की को वापिस लाने के लिए जाना चाहते हैं। देवानुप्रियो ! जो धन कनक वापिस मिले वह सब तुम्हारा होगा और सुंसुमा दारिका मेरी रहेगी।'

चिलात का पीछा किया

२७—तए णं ते णयरगुत्तिया धण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता सन्नद्ध जाव गहियाउह-पहरणा महया महया उक्किट्ठ जाव समुद्दरवभूयं पिव करेमाणा राहगिहाओ निग्गच्छंति, निग्गच्छित्ता जेणेव चिलाए चोरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता चिलाएणं चोरसेणावइणा सद्धिं संपलग्गा यावि होत्था।

तब नगर के रक्षकों ने धन्य सार्थवाह की यह बात स्वीकार की। स्वीकार करके वे कवच धारण करके सन्नद्ध हुए। उन्होंने आयुध और प्रहरण लिए। फिर जोर-जोर के उत्कृष्ट सिंहनाद से समुद्र की खलभलाट जैसा शब्द करते हुए राजगृह से बाहर निकले। निकल कर जहाँ चिलात चोर था, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर चिलात चोरसेनापति के साथ युद्ध करने लगे।

२८—तए णं णगरगुत्तिया चिलायं चोरसेणावइं हयमहिय जाव पडिसेहंति। तए णं ते पंच चोरसया णगरगोत्तिएहिं हयमहिय जाव पडिसेहिया समाणा तं विपुलं धणकणगं विच्छड्डेमाणा य विप्पकिरेमाणा य सव्वओ समंता विप्पलाइत्था।

तए णं ते णयरगुत्तिया तं विपुलं धणकणगं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव रायगिहे तेणेव उवागच्छंति।

तब नगररक्षकों ने चोरसेनापति चिलात को हत, मथित करके यावत् पराजित कर दिया। उस समय वे पाँच सौ चोर नगररक्षकों द्वारा हत मथित होकर और पराजित होकर उस विपुल धन और कनक आदि को छोड़कर और फेंक कर चारों ओर—कोई किसी तरफ, कोई किसी तरफ भाग खड़े हुए।

तत्पश्चात् नगररक्षकों ने वह विपुल धन कनक आदि ग्रहण कर लिया। ग्रहण करके वे जिस ओर राजगृह नगर था, उसी ओर चल पड़े।

२९—तए णं से चिलाए तं चोरसेण्णं तेहिं नगरगुत्तिएहिं हयमहिय जाव पवरवीरघाइय-विवडियचिंध-धय-पडागं किच्छोवगयपाणं दिसोदिसिं पडिसेहियं (पासित्ता ?) भीते तत्थे, सुंसुमं दारियं गहाय एगं महं अगामियं दीहमद्धं अडविं अणुपविट्ठे।

तए णं धण्णे सत्थवाहे सुंसुमं दारियं चिलाएणं अडविमुहिं अवहीरमाणिं पासित्ता णं पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे सन्नद्धबद्धवम्मियकवए चिलायस्स पदमग्गविहिं अभिगच्छइ, अणुगच्छमाणे अणुगज्जेमाणे हक्कारेमाणे पुक्कारेमाणे अभितज्जेमाणे अभितासेमाणे पिट्ठओ अणुगच्छइ।

नगररक्षकों द्वारा चोरसैन्य को हत एवं मथित हुआ देख कर, तथा उसके श्रेष्ठ वीर मारे गये, ध्वजा-पताका नष्ट हो गई, प्राण संकट में पड़ गए हैं, सैनिक इधर उधर भाग छूटे हैं, यह देख

कर चिलात भयभीत और उद्विग्न हो गया। वह सुंसुमा दारिका को लेकर एक महान् अग्रामिक[1] (जिसके बीच में या आसपास कोई गाँव न हो ऐसी) तथा लम्बे मार्ग वाली अटवी में घुस गया।

उस समय धन्य सार्थवाह सुंसुमा दारिका को अटवी के सन्मुख ले जाती देख कर, पाँचों पुत्रों के साथ छठा आप स्वयं कवच पहन कर, चिलात के पैरों के मार्ग पर चला अर्थात् उसके पैरों के चिह्न देखता-देखता आगे बढ़ा। वह उसके पीछे-पीछे चलता हुआ, गर्जना करता हुआ, चुनौती देता हुआ, पुकारता हुआ, तर्जना करता हुआ और उसे त्रस्त करता हुआ उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

सुंसुमा पुत्री का शिरश्छेदन

३०—तए णं से चिलाए तं धण्णं सत्थवाहं पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठं सन्नद्धबद्धं समणुगच्छमाणं पासइ, पासित्ता अत्थामे अबले अपरक्कमे अवीरिए जाहे णो संचाएइ सुंसुमं दारियं णिव्वाहित्तए, ताहे संते तंते परितंते नीलुप्पलं असिं परामुसइ, परामुसित्ता सुंसुमाए दारियाए उत्तमंगं छिंदइ, छिंदित्ता तं गहाय तं अगामियं अडविं अणुपविट्ठे।

चिलात ने देखा कि धन्य-सार्थवाह पाँच पुत्रों के साथ आप स्वयं छठा सन्नद्ध होकर मेरा पीछा कर रहा है। यह देख कर वह निस्तेज, निर्बल, पराक्रमहीन एवं वीर्यहीन हो गया। जब वह सुंसुमा दारिका का निर्वाह करने (ले जाने) में समर्थ न हो सका, तब श्रान्त हो गया—थक गया, ग्लानि को प्राप्त हुआ और अत्यन्त श्रान्त हो गया। अतएव उसने नील कमल के समान तलवार हाथ में ली और सुंसुमा दारिका का सिर काट लिया। कटे सिर को लेकर वह उस अग्रामिक या दुर्गम अटवी में घुस गया।

३१—तए णं चिलाए तीसे अगामियाए अडवीए तण्हाए अभिभूए समाणे पम्हुट्ठदिसाभाए सीहगुहं चोरपल्लिं असंपत्ते अंतरा चेव कालगए।

चिलात उस अग्रामिक अटवी में प्यास से पीडित होकर दिशा भूल गया। वह चोरपल्ली तक नहीं पहुँच सका और बीच में ही मर गया।

विवेचन—सूत्र संख्या २०वें से यहाँ तक का कथानक अत्यन्त विस्मयजनक है। राजगृह जैसे राजधानीनगर में चोरों का, भले ही वे पांच सौ थे, चुनौती और धमकी देते हुए प्रवेश करना, किसके घर डाका डालना है, यह प्रकट करना और डाका डालना, फिर भी नगर-रक्षकों के कानों पर जूं न रेंगना—उनका सर्वथा बेखबर रहना कितना आश्चर्योत्पादक है!

धन और कन्या का अपहरण होने के पश्चात् धन्य नगर-रक्षकों के समक्ष फरियाद करने जाता है तो उसे बहुमूल्य भेंट लेकर जाना पड़ता है। इसके सिवाय भी उसे कहना पड़ता है कि चोरों द्वारा लूटा गया माल सब तुम्हारा होगा, मुझे केवल अपनी पुत्री चाहिए।

धन्य के ऐसा कहने पर नगर-रक्षक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर जाते हैं और चोरों को परास्त करते हैं। मगर चुराया हुआ धन जब उन्हें मिल जाता है तो वहीं से वापिस लौट जाते हैं। सुंसुमा लड़की के उद्धार के लिए वे कुछ भी नहीं करते, मानो उन्हें धन की ही चिन्ता थी, लड़की

---

१. टीकाकार ने 'अगामियं' का 'अग्राम्य' अर्थ किया है। इसका अर्थ अगम्य अर्थात् दुर्गम भी हो सकता है।

की नहीं ! लड़की को प्राप्त करने के लिए अकेले ही अपने पाँचों पुत्रों के साथ धन्य सार्थवाह को जाना पड़ता है।

यह सत्य है कि प्रस्तुत कथानक एक ज्ञात-उदाहरण मात्र ही है तथापि इस वर्णन से उस समय की शासन-व्यवस्था का जो चित्र उभरता है उस पर आधुनिक काल का कोई भी विचारशील व्यक्ति गौरव का अनुभव नहीं कर सकता।

इस वृत्तान्त से हमारा यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि अतीत का सभी कुछ अच्छा था। यहाँ आचार्यवर्य श्री हेमचन्द्र का कथन स्मरण आता है—'न कदाचिदनीदृशं जगत्' अर्थात् जगत् कभी ऐसा नहीं था, ऐसी बात नहीं है। वह तो सदा ऐसा ही रहता है।

३२—एवामेव समणाउसो ! जाव पव्वइए समाणे इमस्स ओरालियसरीरस्स वंतासवस्स जाव [पित्तासवस्स खेलासवस्स सुक्कासवस्स सोणियासवस्स दुरुय-उस्सास-निस्सासस्स दुरुय-मुत्त-पुरीस-पूय-बहुपडिपुण्णस्स उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाणग-वंत-पित्त-सुक्क-सोणियसंभवस्स अधुवस्स अणितियस्स असासयस्स सडण-पडण-विद्धंसणधम्मस्स पच्छा पुरं च णं अवस्स-विप्पजहणस्स] वण्णहेउं जाव आहारं आहारेइ, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावयाणं सावियाणं हीलणिज्जे जाव अणुपरियट्टिस्सइ, जहा व से चिलाए तक्करे।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! हमारे जो साधु या साध्वी प्रव्रजित होकर जिससे वमन बहता-झरता है [पित्त, कफ, शुक्र एवं शोणित बहता है, जिससे अमनोज्ञ उच्छ्वास-निश्वास निकलता है, जो अशुचि मूत्र, पुरीष, मवाद से भरपूर है, जो मल, मूत्र, कफ, रेंट (नासिकामल), वमन, पित्त, शुक्र, शोणित की उत्पत्ति का स्थान है, अध्रुव, अनित्य, अशाश्वत है, सड़ना, पड़ना तथा विध्वस्त होना जिसका स्वभाव है और जिसका आगे या पीछे अवश्य ही त्याग करना पड़ेगा ऐसे अपावन एवं] विनाशशील इस औदारिक शरीर के वर्ण (रूप-सौन्दर्य) के लिए यावत् आहार करते हैं, वे इसी लोक में बहुत-से श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं की अवहेलना का पात्र बनते हैं, और दीर्घ संसार में पर्यटन करते हैं, जैसे चिलात चोर अन्त में दुःखी हुआ, (उसी प्रकार वे भी दुःखी होते हैं)।

धन्य का शोक

३३—तए णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठे चिलायं परिधाडेमाणे परिधाडेमाणे तण्हाए छुहाए य संते तंते परितंते नो संचाएइ चिलायं चोरसेणावइं साहत्थिं गिण्हित्तए। से णं तओ पडिनियत्तइ, पडिनियत्तित्ता जेणेव सा सुंसुमा दारिया चिलाएणं जीवियाओ ववरोविया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सुंसुमं दारियं चिलाएणं जीवियाओ ववरोवियं पासइ, पासित्ता परसुनियत्तेव चंपगपायवे निव्वत्तमहेव्व इंदलट्ठी विमुक्कबंधणे धरणितलंसि सव्वंगेहिं धसत्ति पडिए।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह पाँच पुत्रों के साथ आप छठा स्वयं चिलात के पीछे दौड़ता-दौड़ता प्यास से और भूख से श्रान्त हो गया, ग्लान हो गया और बहुत थक गया। वह चोरसेनापति चिलात को अपने हाथ से पकड़ने में समर्थ न हो सका। तब वह वहां से लौट पड़ा लौट कर वहां आया जहां सुंसुमा दारिका को चिलात ने जीवन से रहित कर दिया था। वहां आकर उसने देखा कि बालिका

सुंसुमा चिलात के द्वारा मार डाली गई है। यह देख कर कुल्हाड़े से काटे हुए चम्पक वृक्ष के समान या वंधनमुक्त इन्द्रयष्टि के समान धड़ाम से वह पृथ्वी पर गिर पड़ा।

३४—तए णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठे आसत्थे कूवमाणे कंदमाणे विलवमाणे महया महया सद्देणं कुहकुहसुपरुन्ने[1] सुचिरं कालं वाहमोक्खं करेइ।

तत्पश्चात् पांच पुत्रों सहित छठा आप धन्य सार्थवाह आश्वस्त हुआ तो आक्रंदन करने लगा, विलाप करने लगा, और जोर-जोर के शब्दों से कुह-कुह (अस्पष्ट शब्द) करता रोने लगा। वह वहुत देर तक आंसू वहाता रहा।

आहार-पानी का अभाव

३५—तए णं से धण्णे पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठे चिलायं तीसे अगामियाए सव्वओ समंता परिधाडेमाणा तण्हाए छुहाए य पराभूए समाणे तीसे अगामियाए अडवीए सव्वओ समंता उदगस्स मग्गणगवेसणं करेति, करित्ता संते तंते परितंते णिव्विन्ने तीसे अगामियाए अडवीए उदगस्स मग्गणगवेसणं करेमाणे नो चेव णं उदगं आसादेइ।

पांच पुत्रों सहित छठे स्वयं धन्य सार्थवाह ने चिलात चोर के पीछे चारों ओर दौड़ने के कारण प्यास और भूख से पीडित होकर, उस अग्रामिक अटवी में सव तरफ जल की मार्गणा-गवेषणा की। गवेषणा करके वह श्रान्त हो गया, ग्लान हो गया, वहुत थक गया और खिन्न हो गया। उस अग्रामिक अटवी में जल की खोज करने पर भी वह कहीं जल न पा सका।

धन्य सार्थवाह का प्राणत्याग का प्रस्ताव

३६—तए णं उदगं अणासाएमाणे जेणेव सुंसुमा जीवियाओ ववरोविया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जेट्ठं पुत्तं धण्णे सत्थवाहे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु पुत्ता! सुंसुमाए दारियाए अट्ठाए चिलायं तक्करं सव्वओ समंता परिधाडेमाणा तण्हाए छुहाए य अभिभूया समाणा इमीसे अगामियाए अडवीए उदगस्स मग्गणगवेसणं करेमाणा णो चेव णं उदगं आसादेमो। तए णं उदगं अणासाएमाणा णो संचाएमो रायगिहं संपावित्तए। तं णं तुम्हं ममं देवाणुप्पिया! जीवियाओ ववरोवेह, मंसं च सोणियं च आहारेह, आहारित्ता तेणं आहारेणं अवहिट्ठा[2] समाणा तओ पच्छा इमं अगामियं अडविं णित्थरिहिह, रायगिहं च संपाविहिह, मित्त-णाइय-नियग-सयण-संबंधि-परियणं अभिसमागच्छिहिह, अत्थस्स य धम्मस्स य पुण्णस्स य आभागी भविस्सह।'

तत्पश्चात् कहीं भी जल न पाकर धन्य सार्थवाह, जहाँ सुंसुमा जीवन से रहित की गई थी, उस जगह आया। आकर उसने ज्येष्ठ पुत्र को वुलाया। वुलाकर उससे कहा—हे पुत्र! सुंसुमा दारिका के लिए चिलात तस्कर के पीछे-पीछे चारों ओर दौड़ते हुए प्यास और भूख से पीडित होकर हमने इस अग्रामिक अटवी में जल की तलाश की, मगर जल न पा सके। जल के विना हम लोग राजगृह नहीं पहुंच सकते। अतएव हे देवानुप्रिय! तुम मुझे जीवन से रहित कर दो और सव भाई मेरे मांस

१. पाठान्तर—'कुहकुहस्स परुन्ने'—अंगसुत्ताणि।
२. पाठान्तर—'अवयद्धा' और 'अववद्धा'—अं. सु.

और रुधिर का आहार करो। आहार करके उस आहार से स्वस्थ होकर फिर इस अग्रामिक अटवी को पार कर जाना, राजगृह नगर पा लेना, मित्रों, ज्ञातिजनों, निजजनों, स्वजनों, संबंधियों और परिजनों से मिलना तथा अर्थ, धर्म और पुण्य के भागी होना।'

ज्येष्ठ पुत्र की प्राणोत्सर्ग की तैयारी

३७—तए णं से जेट्ठपुत्ते धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी—'तुब्भे णं ताओ ! अम्हं पिया, गुरू, जणया, देवयभूया, ठावका, पइट्ठावका, संरक्खगा, संगोवगा, तं कहं णं अम्हे ताओ ! तुब्भे जीवियाओ ववरोवेमो ? तुब्भं णं मंसं च सोणियं च आहारेमो ? तं तुब्भे णं तातो ! ममं जीवियाओ ववरोवेह; मंसं च सोणियं च आहारेह, अगामियं अडविं णित्थरह।' तं चेव सव्वं भणइ जाव अत्थस्स जाव पुण्णस्स आभागी भविस्सह।

धन्य सार्थवाह के इस प्रकार कहने पर ज्येष्ठ पुत्र ने धन्य सार्थवाह से कहा—'तात ! आप हमारे पिता हो, गुरु हो, जनक हो, देवता-स्वरूप हो, स्थापक (विवाह आदि करके गृहस्थधर्म में स्थापित करने वाले) हो, प्रतिष्ठापक (अपने पद पर स्थापित करने वाले) हो, कष्ट से रक्षा करने वाले हो, दुर्व्यसनों से बचाने वाले हो, अतः हे तात ! हम आपको जीवन से रहित कैसे करें ? कैसे आपके मांस और रुधिर का आहार करें ? हे तात ! आप मुझे जीवन-हीन कर दो और मेरे मांस तथा रुधिर का आहार करो और इस अग्रामिक अटवी को पार करो।' इत्यादि सब पूर्ववत् कहा, यहां तक कि अर्थ, धर्म और पुण्य के भागी बनो।

३८—तए णं धण्णं सत्थवाहं दोच्चे पुत्ते एवं वयासी—'मा णं ताओ ! अम्हे जेट्ठं भायरं गुरुं देवयं जीवियाओ ववरोवेमो, तुब्भे णं ताओ ! मम जीवियाओ ववरोवेह, जाव आभागी भविस्सह।' एवं जाव पंचमे पुत्ते।

तत्पश्चात् दूसरे पुत्र ने धन्य सार्थवाह से कहा—'हे तात ! हम गुरु और देव के समान ज्येष्ठ बन्धु को जीवन से रहित नहीं करेंगे। हे तात ! आप मुझको जीवन से रहित कीजिए, यावत् आप सब पुण्य के भागी बनिए।' तीसरे, चौथे और पांचवें पुत्र ने भी इसी प्रकार कहा।

विवेचन—सूत्र ३६ से ३८ तक का वर्णन तत्कालीन कौटुम्बिक जीवन पर प्रकाश डालने वाला है। इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि उस समय का पारिवारिक जीवन अत्यन्त प्रशस्त था। सुंसुमा का उद्धार करने के लिए धन्य सार्थवाह और उनके पांचों पुत्र चिलात का पीछा करते-करते भयंकर और अग्रामिक अटवी में पहुंच गये थे। जोश ही जोश में वे आगे बढ़ते गए जो ऐसे प्रसंग पर स्वाभाविक ही था। किन्तु जब सुंसुमा का वध कर दिया गया और चिलात आगे चला गया तो धन्य ने उसका पीछा करना छोड़ दिया। मगर लगातार वेगवान् दौड़ादौड़ से वे अतिशय श्रान्त हो हो गए। फिर सुंसुमा का वध हुआ जान कर तो उनकी निराशा की सीमा नहीं रही। थकावट, भूख, प्यास और सबसे बड़ी निराशा ने उनका बुरा हाल कर दिया। समीप में कहीं जल उपलब्ध नहीं। अटवी अग्रामिक—जिसके दूर-दूर के प्रदेश में कोई ग्राम नहीं, जहां भोजन पानी प्राप्त हो सकता। बड़ी विकट स्थिति थी। पिता सहित पांचों पुत्रों के जीवन की रक्षा का कोई उपाय नहीं था। सब का मरण-शरण हो जाना, सम्पूर्ण कुटुम्ब का निर्मूल हो जाना था। ऐसी स्थिति में धन्य

सार्थवाह ने 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' की लोकोक्ति का अनुसरण करते हुए अपने वध का प्रस्ताव उपस्थित किया। ज्येष्ठ पुत्र ने उसे स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की और अपने वध की बात सुझाई। अन्य भाइयों ने उसकी वात भी मान्य नहीं की। सभी के वध का प्रस्ताव दूसरे किसी भाई को स्वीकार्य नहीं हुआ।

यह प्रसंग हमारे समक्ष कौटुम्बिक संबंध के विषय में अतीव स्पृहणीय आदर्श प्रस्तुत करता है। पुत्रों के प्रति पिता का, पिता के प्रति पुत्रों का, भाई के प्रति भाई का स्नेह कितना प्रगाढ और उत्सर्गमय होना चाहिए। पारस्परिक प्रीति की मधुरिमा इस वर्णन से स्पष्ट है। प्रत्येक, प्रत्येक की प्राण-रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने का अभिलाषी है। इससे अधिक त्याग और वलिदान अन्य क्या हो सकता है! वस्तुतः यह चित्रण भारतीय साहित्य में असाधारण है, साहित्य की अमूल्य निधि है।

अन्तिम निर्णय

३९—तए णं धण्णे सत्थवाहे पंचपुत्ताणं हियइच्छियं जाणित्ता ते पंच पुत्ते एवं वयासी—'मा णं अम्हे पुत्ता! एगमवि जीवियाओ ववरोवेमो, एस णं सुंसमाए दारियाए सरीरे णिप्पाणे जाव [निच्चेट्ठे] जीवविप्पजढे, तं सेयं खलु पुत्ता! अम्हं सुंसुमाए दारियाए मंसं च सोणियं च आहारेत्तए। तए णं अम्हे तेणं आहारेणं अवत्थद्धा समाणा रायगिहं संपाउणिस्सामो।'

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने पांचों पुत्रों के हृदय की इच्छा जान कर उन पाँचों पुत्रों से इस प्रकार कहा—पुत्रो! हम किसी को भी जीवन से रहित न करें। यह सुंसुमा का शरीर निष्प्राण निश्चेष्ट और जीव द्वारा त्यक्त है, अतएव हे पुत्रो! सुंसुमा दारिका के मांस और रुधिर का आहार करना हमारे लिए उचित होगा। हम लोग उस आहार से स्वस्थ होकर राजगृह को पा लेंगे।

४०—तए णं ते पंच पुत्ता धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा एयमट्ठं पडिसुणेंति। तए णं धण्णे सत्थवाहे पंचहि पुत्तेहिं सद्धिं अरणिं करेइ, करित्ता सरगं च करेइ, करित्ता सरएणं अरणिं महइ, महित्ता अग्गिं पाडेइ, पाडित्ता अग्गिं संधुक्खेइ, संधुक्खित्ता दारुयाइं पक्खेवेइ, पक्खेवित्ता अग्गिं पज्जालेइ, पज्जालित्ता सुंसुमाए दारियाए मंसं च सोणियं च आहारेइ।

धन्य सार्थवाह के इस प्रकार कहने पर उन पाँच पुत्रों ने यह वात स्वीकार की। तव धन्य सार्थवाह ने पाचों पुत्रों के साथ अरणि की (अरणि काष्ठ में गड़हा किया)। फिर शर वनाया (अरणि की लम्बी लकड़ी तैयार की)। दोनों तैयार कर के शर से अरणि का मंथन किया। मंथन करके अग्नि उत्पन्न की। फिर अग्नि धौंकी। उसमें लकड़ियाँ डालीं। अग्नि प्रज्वलित की। प्रज्वलित करके सुंसुमा दारिका का मांस पका कर उस मांस का और रुधिर का आहार किया।

राजगृह में वापिसी

४१—तए णं आहारेणं अवत्थद्धा समाणा रायगिहं नयरिं संपत्ता मित्तणाइं नियग-सयण-संबंधि-परिजणं अभिसमण्णागया, तस्स य विउलस्स धणकणगरयण जाव[1] आभागी जाया वि होत्था।

१. अ. १८ सूत्र २१.

तए णं से धण्णे सत्थवाहे सुंसुमाए दारियाए बहूइं लोइयाइं जाव [मयकिच्चाइं करेइ, करेत्ता कालेणं] विगयसोए जाए यावि होत्था।

उस आहार से स्वस्थ होकर वे राजगृह नगरी तक पहुँचे। अपने मित्रों एव ज्ञातिजनों, स्वजनों, परिजनों आदि से मिले और विपुल धन कनक रत्न आदि के तथा धर्म, अर्थ एवं पुण्य के भागी हुए।

तत्पश्चात् धन्य सार्थवाह ने सुंसुमा दारिका के बहुत-से लौकिक मृतक-कृत्य किए, तदनन्तर कुछ काल बीत जाने पर वह शोकरहित हो गया।

४२—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे गुणसीलए चेइए समासढे। से णं धण्णे सत्थवाहे संपत्ते, धम्मं सोच्चा पव्वइए, एक्कारसंगवी, मासियाए संलेहणाए सोहम्मे उववण्णो, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे। उस समय धन्य सार्थवाह वन्दना करने के लिए भगवान् के निकट पहुँचा। धर्मोपदेश सुन कर दीक्षित हो गया। क्रमशः ग्यारह अंगों का वेत्ता मुनि हो गया। अन्तिम समय आने पर एक मास की संलेखना करके सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यवन करके महाविदेह क्षेत्र में संयम धारण करके सिद्धि प्राप्त करेगा।

निष्कर्ष

४३—जहा वि य णं जंबू ! धण्णेणं सत्थवाहेणं णो वण्णहेउं वा, णो रूवहेउं वा, नो विसयहेउं वा, सुंसुमाए दारियाए मंससोणिए आहारिए नन्नत्थ एगाए रायगिहं संपावणट्ठाए।

एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा इमस्स ओरालियसरीरस्स वंतासवस्स पित्तासवस्स सुक्कासवस्स सोणियासवस्स जाव[1] अवस्सं विप्पजहियव्वस्स नो वण्णहेउं वा, नो रूवहेउं वा, नो बलहेउं वा, नो विसयहेउं वा आहारं आहारेइ, नन्नत्थ एगाए सिद्धिगमणसंपावणट्ठयाए, से णं इहभवे चेव बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं अच्चणिज्जे जाव वीईवइस्सइ।

हे जम्बू ! जैसे उस धन्य सार्थवाह ने वर्ण के लिए, रूप के लिए, बल के लिए अथवा विषय के लिए सुंसुमा दारिका के मांस और रुधिर का आहार नहीं किया था, केवल राजगृह नगर को पाने के लिए ही आहार किया था।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! हमारा जो साधु या साध्वी वमन को झराने वाले, पित्त को झराने वाले, शुक्र को झराने वाले, शोणित को झराने वाले यावत् अवश्य ही त्यागने योग्य इस औदारिक शरीर के वर्ण के लिए, बल के लिए अथवा विषय के लिए आहार नहीं करते हैं, केवल सिद्धिगति को प्राप्त करने के लिए आहार करते हैं, वे इसी भव में बहुत श्रमणों, बहुत श्रमणियों, बहुत श्रावकों और बहुत श्राविकाओं के अर्चनीय होते है एवं संसार-कान्तार को पार करते हैं।

---

१. अ. १८ सूत्र ३२.

विवेचन—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् धर्म का प्रथम अथवा प्रधान साधन शरीर है। शरीर की रक्षा पर ही संयम की रक्षा निर्भर है। मानव-शरीर के माध्यम से ही मुक्ति की साधना संभव होती है। अतएव त्यागी वैरागी उच्चकोटि के सन्तों को भी शरीर टिकाए रखने के लिए आहार करना पड़ता है। तीर्थंकरों ने आहार करने का विधान भी किया है। किन्तु सन्त जनों का आहार अपने लक्ष्य की पूर्त्ति के एक मात्र ध्येय को समक्ष रख कर होना चाहिए। शरीर की पुष्टि, सुन्दरता, विषयसेवन की शक्ति, इन्द्रिय-तृप्ति आदि की दृष्टि से नहीं।

साधु-जीवन में अनासक्ति का बड़ा महत्त्व है। गृहस्थों के घरों से गोचर-चर्या द्वारा साधु को आहार उपलब्ध होता है। वह मनोज्ञ भी हो सकता है, अमनोज्ञ भी हो सकता है। आहार अमनोज्ञ हो तो उस पर अप्रीतिभाव अरुचि या द्वेष का भाव उत्पन्न न हो और मनोज्ञ आहार करते समय प्रीति या आसक्ति उत्पन्न न हो, यह साधु के समभाव की कसौटी है। यह कसौटी बड़ी विकट है। आहार न करना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन है मनोहर सुस्वादु आहार करते हुए भी पूर्ण रूप से अनासक्त रहना। विकार का कारण विद्यमान होने पर भी चित्त को विकृत न होने देने के लिए दीर्घकालिक अभ्यास, अत्यन्त धैर्य एवं दृढता की आवश्यकता होती है।

साधु के चित्त में आहार करते समय किस श्रेणी की अनासक्ति होनी चाहिए, इस तथ्य को सरलता से समझाने के लिए ही प्रस्तुत उदाहरण की योजना की गई है।

धन्य सार्थवाह को अपनी बेटी सुंसुमा अतिशय प्रिय थी। उसकी रक्षा के लिए उसने सभी संभव उपाय किए थे। उसके निर्जीव शरीर को देखकर वह संज्ञाशून्य होकर धरती पर गिर पड़ा। रोता रहा। इससे स्पष्ट है कि सुंसुमा उसकी प्रिय पुत्री थी। तथापि प्राण-रक्षा का अन्य उपाय न रहने पर उसने उसके निर्जीव शरीर के मांस-शोणित का आहार किया। कल्पना की जा सकती है कि इस प्रकार का आहार करते समय धन्य के मन में किस सीमा का अनासक्त भाव रहा होगा! निश्चय ही लेशमात्र भी आसक्ति का संस्पर्श उसके मन को नहीं हुआ होगा—अनुराग निकट भी नहीं फटका होगा। धन्य ने उस आहार में तनिक भी आनन्द न माना होगा। राजगृह नगर और अपने घर पहुँचने के लिए प्राण टिकाए रखना ही उसका एक मात्र लक्ष्य रहा होगा।

साधु को इसी प्रकार का अनासक्त भाव रखकर आहार करना चाहिए। अनासक्ति को समझाने के लिए इससे अच्छा तो दूर रहा, इसके समकक्ष भी अन्य उदाहरण मिलना संभव नहीं है। यह सर्वोत्कृट उदाहरण है।

इसी दृष्टिकोण को समक्ष रख कर इस उदाहरण की अर्थघटना करनी चाहिए।

४४—एवं खलु जंबू! समणेणं भगवया महावीरेणं अट्ठारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

जम्बू! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने अठारहवें ज्ञात अध्ययन का यह अर्थ कहा है। जैसा मैंने सुना वैसा ही तुम्हें कहा है।

॥ अठारहवां अध्ययन समाप्त ॥

उन्नीसवाँ अध्ययन : पुण्डरीक

सार : संक्षेप

प्रस्तुत अध्ययन का कथानक मानव-जीवन में होने वाले उत्थान और पतन का तथा पतन और उत्थान का सजीव चित्र उपस्थित करता है। जो कथानक यहाँ प्रतिपादित किया गया है, वह महाविदेह क्षेत्र का है।

महाविदेह क्षेत्र के पूर्वीय भाग में पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी राजधानी है। राजधानी साक्षात् देवलोक के समान मनोहर एवं सुन्दर है। वारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी है। वहाँ के राजा महापद्म के दो पुत्र थे—पुण्डरीक और कण्डरीक।

एक वार वहाँ धर्मघोप स्थविर का पदार्पण हुआ। धर्मदेशना श्रवण कर और संसार की असारता का अनुभव करके राजा महापद्म दीक्षित हो गए। पुण्डरीक राजसिंहासन पर आसीन हुए। महापद्म मुनि संयम और तपश्चर्या से आत्मा को विशुद्ध करके यथासमय सिद्ध, वुद्ध और मुक्त हो गए।

किसी समय दूसरी वार पुनः स्थविर का आगमन हुआ। इस वार धर्मोपदेश श्रवण करने से राजकुमार कण्डरीक को वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने राजा पुण्डरीक से दीक्षा की अनुमति मांगी। पुण्डरीक ने उसे राजसिंहासन प्रदान करने की पेशकश की, मगर कण्डरीक ने उसे स्वीकार नहीं किया। आखिर वह दीक्षित हो गया।

दीक्षा के पश्चात् स्थविर के साथ कण्डरीक मुनि देश-देशान्तर में विचरने लगे, किन्तु रूखा-सूखा आहार करने के कारण उनका शरीर रुग्ण हो गया। स्थविर जव पुनः पुण्डरीकिणी नगरी में आए तो राजा पुण्डरीक ने कण्डरीक मुनि को रोगाक्रान्त देखा। पुण्डरीक ने स्थविर मुनि से निवेदन किया—भंते ! मैं कण्डरीक मुनि की चिकित्सा कराना चाहता हूँ। आप मेरी यानशाला में पधारें।

स्थविर यानशाला में पधार गए। उचित चिकित्सा होने से कण्डरीक मुनि स्वस्थ हो गए। स्थविर मुनि वहाँ से अन्यत्र विहार कर गए परन्तु कण्डरीक मुनि राजसी भोजन- पान में ऐसे आसक्त हो गए कि विहार करने का नाम ही न लेते। पुण्डरीक उनकी आसक्ति और शिथिलता को समझ गए। कण्डरीक की आत्मा को जागृत करने के लिए एक वार पुण्डरीक ने उसके निकट जाकर वन्दन-नमस्कार करके कहा—'देवानुप्रिय, आप धन्य हैं, आप पुण्यशाली हैं, आपका मनुष्यजन्म सफल हुआ है, आपने अपना जीवन धन्य वनाया है। मैं पुण्यहीन हूँ, भाग्यहीन हूँ कि अभी तक मेरा मोह नहीं छूटा, मैं संसार में फँसा हूँ।

कण्डरीक को यह कथन रुचिकर तो नहीं हुआ फिर भी वह लज्जा के कारण, विना इच्छा ही विहार कर गया। मगर संयम का पालन तो तभी संभव है जव अन्तरात्मा में सच्ची विरक्ति हो, इन्द्रियविपयों के प्रति लालसा न हो और आत्महित की गहरी लगन हो। कण्डरीक में यह कुछ भी शेप नहीं रहा था। अतएव कुछ समय तक वह स्थविर के पास रह कर और सांसारिक लालसाओं

से पराजित होकर फिर लौट आया। वह लौट कर राजप्रासाद की अशोकवाटिका में जा कर बैठ गया। लज्जा के कारण प्रासाद में प्रवेश करने का उसे साहस न हुआ।

धायमाता ने उसे अशोकवाटिका में बैठा देखा। जाकर पुण्डरीक से कहा। पुण्डरीक अन्तःपुर के साथ उसके पास गया और पूर्व की भांति उसकी सराहना की। किन्तु इस वार पुण्डरीक की वह युक्ति काम न आई। कण्डरीक चुपचाप बैठा रहा। तब पुण्डरीक ने उससे पूछा-भगवन्! आप भोग भोगना चाहते है?

कण्डरीक ने लज्जा और संकोच को त्याग कर 'हाँ' कह दिया।

पुण्डरीक राजा ने उसी समय कण्डरीक का राज्याभिषेक किया, उसे राजगद्दी दे दी और कण्डरीक के संयमोपकरण लेकर स्वयं दीक्षित हो गए। उन्होंने प्रतिज्ञा धारण की कि स्थविर महाराज के दर्शन करके एवं उनके निकट चातुर्याम धर्म अंगीकार करने के पश्चात् ही मैं आहार-पानी ग्रहण करूंगा। वे पुण्डरीकिणी नगरी का परित्याग करके-विहार करके स्थविर भगवान् के निकट जाने को प्रस्थान कर गए।

कण्डरीक अपने अपथ्य आचरण के कारण अल्प काल में ही आर्त्तध्यानपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हुआ। तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले नारकों में, सप्तम पृथ्वी में उत्पन्न हुआ।

यह उत्थान के पश्चात् पतन की करुण कहानी है।

पुण्डरीक मुनि उग्र साधना करके, अन्त में समाधिपूर्वक शरीर का त्याग करके तेतीस सागरोपम की स्थिति वाले देवों में सर्वार्थसिद्धनामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। तदनन्तर वे मुक्ति के भागी होंगे।

यह पतन से उत्थान की ओर जाने का उत्कृष्ट उदाहरण है।

एगुणवीसइमं अज्झयणं : पुंडरीए

श्रीजम्बू की जिज्ञासा

१—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं अट्ठारसमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, एगूणवीसइमस्स णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

जम्बू स्वामी प्रश्न करते हैं—'भगवन् ! यदि यावत् सिद्धिप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने अठारहवें ज्ञात-अध्ययन का यह अर्थ कहा है तो उन्नीसवें ज्ञात-अध्ययन का श्रमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है ?

श्रीसुधर्मा द्वारा समाधान

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे पुव्वविदेहे सीयाए महाणदीए उत्तरिल्ले कूले नीलवंतस्स दाहिणेणं उत्तरिल्लस्स सीतामुखवणसंडस्स पच्छिमेणं एगसेलगस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं पुक्खलावई णामं विजए पण्णत्ते।

तत्थ णं पुंडरीगिणी णामं रायहाणी पन्नत्ता-णवजोयणवित्थिन्ना दुवालसजोयणायामा जाव[1] पच्चक्खं देवलोयभूया पासाईया दंसणीया अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं पुंडरीगिणीए णयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए णलिणिवणे णामं उज्जाणे होत्था। वण्णओ।

श्री सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा— जम्बू ! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीप में, पूर्व विदेह क्षेत्र में, सीतानामक महानदी के उत्तरी किनारे. नीलवन्त वर्षधर पर्वत के दक्षिण में, उत्तर तरफ के सीतामुख वनखण्ड के पश्चिम में, और एकशैल नामक वक्षार पर्वत से पूर्व दिशा में पुष्कलावती नामक विजय कहा गया है।

उस पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी नामक राजधानी है। वह नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी यावत् साक्षात् देवलोक के समान है। मनोहर है, दर्शनीय है, सुन्दर रूप वाली है और दर्शकों को आनन्द प्रदान करने वाली है। उस पुण्डरीकिणी नगरी में उत्तर पूर्व दिशा के भाग (ईशान कोण) में नलिनीवन नामक उद्यान था। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए।

महापद्मराज की दीक्षा:सिद्धिप्राप्ति

३—तत्थ णं पुंडरीगिणीए रायहाणीए महापउमे णामं राया होत्था। तस्स णं पउमावई देवी होत्था। तस्स णं महापउमस्स रण्णो पुत्ता पउमावईए देवीए अत्तया दुवे कुमारा होत्था, तं जहा—पुंडरीए य कंडरीए य सुकुमालपाणिपाया। पुंडरीए जुवराया।

उस पुण्डरीकिणी राजधानी में महापद्म नामक राजा था। पद्मावती उसकी—देवी-पटरानी

१. अ. ५ सूत्र २.

थी। महापद्म राजा के पुत्र और पद्मावती देवी के आत्मज दो कुमार थे—पुंडरीक और कंडरीक। उनके हाथ-पैर (आदि) बहुत कोमल थे। उनमें पुंडरीक युवराज था।

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरागमणं (धम्मघोसा थेरा पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा जाव जेणेव णलिणिवणे उज्जाणे तेणेव समोसढे[1] ।)

उस काल और उस समय में स्थविर मुनि का आगमन हुआ अर्थात् धर्मघोष स्थविर पाँच सौ अनगारों के साथ परिवृत होकर, अनुक्रम से चलते हुए, यावत् नलिनीवननामक उद्यान में ठहरे।

५—महापउमे राया णिग्गए। धम्मं सोच्चा पोंडरीयं रज्जे ठवेत्ता पव्वइए। पोंडरीए राया जाए। कंडरीए जुवराया। महापउमे अणगारे चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ। तए णं थेरा बहिया जणवयविहारं विहरइ। तए णं से महापउमे बहूणि वासाणि जाव सिद्धे।

महापद्म राजा स्थविर मुनि को वन्दना करने निकला। धर्मोपदेश सुनकर उसने पुंडरीक को राज्य पर स्थापित करके दीक्षा अंगीकार कर ली। अब पुंडरीक राजा हो गया और कंडरीक युवराज हो गया। महापद्म अनगार ने चौदह पूर्वों का अध्ययन किया। स्थविर मुनि बाहर जा कर जनपदों में विहार करने लगे। मुनि महापद्म ने बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय पाल कर सिद्धि प्राप्त की।

६—तए णं थेरा अन्नया कयाइं पुणरवि पुंडरीगिणीए रायहाणीए णलिणिवणे उज्जाणे समोसढा। पोंडरीए राया णिग्गए। कंडरीए महाजणसद्दं सोच्चा जहा महब्बलो जाव[2] पज्जुवासइ। थेरा धम्मं परिकहेंति। पुंडरीए समणोवासए जाए जाव पडिगए।

तत्पश्चात् एक बार किसी समय पुनः स्थविर पुंडरीकिणी राजधानी के नलिनीवन उद्यान में पधारे। पुंडरीक राजा उन्हें वन्दना करने के लिए निकला। कंडरीक भी महाजनों (बहुत लोगों) के मुख से स्थविर के आने की बात सुन कर (भगवतीसूत्र में वर्णित) महाबल कुमार की तरह गया, यावत् स्थविर की उपासना करने लगा। स्थविर मुनिराज ने धर्म का उपदेश दिया। धर्मोपदेश सुन कर पुंडरीक श्रमणोपासक हो गया और अपने घर लौट आया।

कंडरीक की दीक्षा

७—तए णं कंडरीए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठित्ता जाव[3] से जहेयं तुब्भे वदह, जं णवरं पुंडरीयं रायं आपुच्छामि, तए णं जाव पव्वयामि।

'अहासुहं देवाणुप्पिया!'

तत्पश्चात् कंडरीक युवराज खड़ा हुआ। खड़े होकर उसने इस प्रकार कहा—'भगवन्! आपने जो कहा है,—वैसा ही है—सत्य है।' मैं पुंडरीक राजा से अनुमति ले लूँ, तत्पश्चात् यावत् दीक्षा ग्रहण करूँगा।

१. किसी-किसी प्रति में ब्रेकेट में दिया पाठ अधिक है। २. भगवती श. ११, १६४.
३. अ. १ सूत्र ११५.

तब स्थविर ने कहा—'देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख उपजे, वैसा करो।'

८—तए णं से कंडरीए जाव थेरे वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता अंतियाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता तमेव चाउघंटं आसरहं दुरूहइ, जाव पच्चोरुहइ, जेणेव पुंडरीए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल जाव पुंडरीयं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए थेराणं अंतिए जाव धम्मे निसंते, से धम्मे अभिरुइए, तए णं देवाणुप्पिया ! जाव पव्वइत्तए।'

तत्पश्चात् कंडरीक ने यावत् स्थविर मुनि को वन्दन किया। वन्दन-नमस्कार करके उनके पास से निकला। निकल कर चार घंटा वाले घोड़ों के रथ पर आरूढ हुआ, यावत् राजभवन में आकर उतरा। रथ से उतर कर पुंडरीक राजा के पास गया। वहाँ जाकर हाथ जोड़ कर यावत् पुंडरीक से कहा—'देवानुप्रिय ! मैंने स्थविर मुनि से धर्म सुना है और वह धर्म मुझे रुचा है। अतएव हे देवानुप्रिय ! मैं यावत् प्रव्रज्या अंगीकार करने की इच्छा करता हूँ।'

९—तए णं पुंडरीए राया कंडरीयं जुवरायं एवं वयासी—'मा णं तुमं देवाणुप्पिया ! इदाणिं मुंडे जाव पव्वयाहि, अहं णं तुमं महया महया रायाभिसेएणं अभिसिंचामि।

तए णं से कंडरीए पुंडरीयस्स रण्णो एयमट्ठं णो आढाइ, जाव तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं पुंडरीए राया कंडरीयं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी जाव तुसिणीए संचिट्ठइ।

तब पुंडरीक राजा ने कंडरीक युवराज से इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय ! तुम इस समय मुंडित होकर यावत् दीक्षा ग्रहण मत करो। मैं तुम्हें महान् महान् राज्याभिषेक से अभिषिक्त करना चाहता हूँ।'

तब कंडरीक ने पुंडरीक राजा के इस अर्थ का आदर नहीं किया—स्वीकार नहीं किया; वह यावत् मौन रहा। तब पुंडरीक राजा ने दूसरी बार और तीसरी बार भी कण्डरीक से इस प्रकार कहा; यावत् कण्डरीक फिर भी मौन ही बना रहा।

१०—तए णं पुंडरीए कंडरीयं कुमारं जाहे नो संचाएइ बहूहिं आघवणाहि पण्णवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य ताहे अकामए चेव एयमट्ठं अणुमण्णित्था जाव णिक्खमणाभिसेएणं अभिसिंचइ जाव थेराणं सीसभिक्खं दलयइ। पव्वइए, अणगारे जाए, एक्कारसंगविऊ।

तए णं थेरा भगवंतो अन्नया कयाइं पुंडरीगिणीओ नयरीओ नलिणीवणाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमंति, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरंति।

तत्पश्चात् जब पुण्डरीक राजा, कण्डरीक कुमार को बहुत कहकर और समझा-बुझा कर और विज्ञप्ति करके रोकने में समर्थ न हुआ, तब इच्छा न होने पर भी उसने यह बात मान ली, अर्थात् दीक्षा की आज्ञा दे दी, यावत् उसे निष्क्रमण-अभिषेक से अभिषिक्त किया, यहां तक कि स्थविर मुनि को शिष्य-भिक्षा प्रदान की। तब कंडरीक प्रव्रजित हो गया- अनगार हो गया, यावत् ग्यारह अंगों का वेत्ता हो गया।

तत्पश्चात् स्थविर भगवान् अन्यदा कदाचित् पुण्डरीकिणी नगरी के नलिनीवन उद्यान से बाहर निकले। निकल कर बाहर जनपद-विहार करने लगे।

कंडरीक की रुग्णता

१२—तए णं तस्स कंडरीयस्स अणगारस्स तेहिं अंतेहि य पंतेहि य जहा सेलगस्स जाव दाहवक्कंतीए यावि विहरइ।

तत्पश्चात् कंडरीक अनगार के शरीर में अन्त-प्रान्त अर्थात् रूखे-सूखे आहार के कारण शैलक मुनि के समान यावत् दाह-ज्वर उत्पन्न हो गया। वे रुग्ण होकर रहने लगे।

१३—तए णं थेरा अन्नया कयाई जेणेव पोंडरीगिणी तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता णलिणिवणे समोसढा, पोंडरीए णिग्गए, धम्मं सुणेइ।

तए णं पुंडरीए राया धम्मं सोच्चा जेणेव कंडरीए अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कंडरीयं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता कंडरीयस्स अणगारस्स सरीरगं सव्वावाहं सरोयं पासइ, पासित्ता जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—'अहं णं भंते! कंडरीयस्स अणगारस्स अहापवत्तेहिं ओसहभेसज्जेहिं जाव तेइच्छं आउट्टामि, तं तुब्भे णं भंते! मम जाणसालासु समोसरह।'

तत्पश्चात् एक बार किसी समय स्थविर भगवंत पुण्डरीकिणी नगरी में पधारे और नलिनीवन उद्यान में ठहरे। तब पुंडरीक राजमहल से निकला और उसने धर्मदेशना श्रवण की।

तत्पश्चात् धर्म सुनकर पुंडरीक राजा कंडरीक अनगार के पास गया। वहाँ जाकर कंडरीक मुनि को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके उसने कंडरीक मुनि का शरीर सब प्रकार की बाधा से युक्त और रोग से आक्रान्त देखा। यह देखकर राजा स्थविर भगवंत के पास गया। जाकर स्थविर भगवंत को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन नमस्कार करके इस प्रकार निवेदन किया—'भगवन्! मैं कंडरीक अनगार की यथाप्रवृत्त (आपकी प्रवृत्ति-समाचारी के अनुकूल) औषध और भेषज से चिकित्सा कराता हूँ (कराना चाहता हूँ) अतः भगवन्! आप मेरी यानशाला में पधारिये।'

१४—तए णं थेरा भगवंतो पुंडरीयस्स रण्णो एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता जाव उवसंपज्जित्ता णं विहरंति। तए णं पुंडरीए राया जहा मंडुए सेलगस्स जाव बलियसरीरे जाए।

तब स्थविर भगवान् ने पुंडरीक राजा का यह निवेदन स्वीकार कर लिया। स्वीकार करके यावत् यानशाला में रहने की आज्ञा लेकर विचरने लगे-वहाँ रहने लगे। तत्पश्चात् जैसे मंडुक राजा ने शैलक ऋषि की चिकित्सा करवाई-उसी प्रकार राजा पुंडरीक ने कंडरीक की करवाई। चिकित्सा हो जाने पर कंडरीक अनगार बलवान् शरीर वाले हो गये।

कंडरीक मुनि की शिथिलता

१५—तए णं थेरा भगवंतो पोंडरीयं रायं पुच्छंति, पुच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरंति।

तए णं से कंडरीए ताओ रोयायंकाओ विप्पमुक्के समाणे तंसि मणुण्णंसि असण-पाण-खाइम-साइमंसि मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने, णो संचाएइ पोंडरीयं आपुच्छित्ता बहिया अब्भुज्जएणं जणवयविहारेणं विहरित्तए। तत्थेव ओसण्णे जाए।

तत्पश्चात् स्थविर भगवान् ने पुंडरीक राजा से पूछा अर्थात् अपने विहार की उसे सूचना दी। तदनन्तर वे बाहर जाकर जनपद-विहार विहरने लगे।

उस समय कण्डरीक अनगार उस रोग-आतंक से मुक्त हो जाने पर भी उस मनोज्ञ अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार में मूर्छित, गृद्ध, आसक्त और तल्लीन हो गए। अतएव वे पुंडरीक राजा से पूछ कर अर्थात् कहकर बाहर जनपदों में उग्र विहार करने में समर्थ न हो सके। शिथिलाचारी होकर वहीं रहने लगे।

१६—तए णं से पोंडरीए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे ण्हाए अंतेउरपरियालसंपरिवुडे जेणेव कंडरीए अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कंडरीयं तिखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—'धन्ने सि णं तुमं देवाणुप्पिया! कयत्थे कयपुण्णे कयलक्खणे, सुलद्धे णं देवाणुप्पिया! तव माणुस्सए जम्म-जीवियफले, जे णं तुमं रज्जं च जाव अंतेउरं च छड्डइत्ता विगोवइत्ता जाव पव्वइए। अहं णं अहण्णे अकयपुण्णे रज्जे जाव अंतेउरे य माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए जाव अज्झोववन्ने नो संचाएमि जाव पव्वइत्तए। तं धन्नो सि णं तुमं देवाणुप्पिया! जाव जीवियफले।'

तत्पश्चात् पुंडरीक राजा ने इस कथा का अर्थ जाना अर्थात् जब उसे यह बात विदित हुई, तब वह स्नान करके और विभूषित होकर तथा अन्तःपुर के परिवार से परिवृत होकर जहाँ कण्डरीक अनगार थे वहाँ आया। आकर उसने कण्डरीक को तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की। फिर वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना और नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय! आप धन्य हैं, कृतार्थ हैं कृतपुण्य हैं और सुलक्षण वाले हैं। देवानुप्रिय! आप को मनुष्य के जन्म और जीवन का फल सुन्दर मिला है, जो आप राज्य को और अन्तःपुर को त्याग कर और दुत्कार कर प्रव्रजित हुए हैं। और मैं अधन्य हूँ, पुण्यहीन हूँ, यावत् राज्य में, अन्तःपुर में और मानवीय कामभोगों में मूर्छित यावत् तल्लीन हो रहा हूँ, यावत् दीक्षित होने के लिए समर्थ नहीं हो पा रहा हूं। अतएव देवानुप्रिय! आप धन्य हैं, यावत् आपको जन्म और जीवन का सुन्दर फल प्राप्त हुआ है।

१७—तए णं से कंडरीए अणगारे पुंडरीयस्स एयमट्ठं णो आढाइ जाव [णो परियाणाइ, तुसिणीए] संचिट्ठइ। तए णं कंडरीए पुंडरीएणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे अकामए अवस्सवसे लज्जाए गारवेण य पोंडरीयं रायं आपुच्छइ, आपुच्छित्ता थेरेहिं सद्धिं बहिया जणवय-विहारं विहरइ। तए णं से कंडरीए थेरेहिं सद्धिं किंचि कालं उग्गंउग्गेणं विहरइ। तओ पच्छा समणत्तणपरितंते समणत्तणणिव्विण्णे समणत्तणणिब्भत्थिए समणगुणमुक्कजोगी थेराणं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता जेणेव पुंडरीगिणी णयरी, जेणेव पुंडरीयस्स भवणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता असोगवणियाए असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टगंसि णिसीयइ, णिसीइत्ता ओहयमणसंकप्पे जाव झियायमाणे संचिट्ठइ।

तत्पश्चात् कण्डरीक अनगार ने पुंडरीक राजा की इस बात का आदर नहीं किया। यावत् वह मौन बने रहे। तब पुण्डरीक ने दूसरी बार और तीसरी बार भी यही कहा। तत्पश्चात् इच्छा न होने पर भी विवशता के कारण, लज्जा से और बड़े भाई के गौरव के कारण पुंडरीक राजा से

पूछा—अपने जाने के लिए कहा। पूछ कर वह स्थविर के साथ बाहर जनपदों में विचरने लगे। उस समय स्थविर के साथ-साथ कुछ समय तक उन्होंने उग्र-उग्र विहार किया। उसके बाद वह श्रमणत्व (साधुपन) से थक गये, श्रमणत्व से ऊब गये और श्रमणत्व से निर्भर्त्सना को प्राप्त हुए। साधुता के गुणों से रहित हो गए। अतएव धीरे-धीरे स्थविर के पास से (विना आज्ञा प्राप्त किये) खिसक गये। खिसक कर जहाँ पुंडरीकिणी नगरी थी और जहाँ पुंडरीक राजा का भवन था, उसी तरफ आये। आकर अशोकवाटिका में, श्रेष्ठ अशोकवृक्ष के नीचे, पृथ्वीशिलापट्टक पर बैठ गये। बैठ कर भग्नमनोरथ एवं चिन्तामग्न हो रहे।

१८—तए णं तस्स पोंडरीयस्स अम्मधाई जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कंडरीयं अणगारं असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टयंसि ओहयमणसंकप्पं जाव झियायमाणं पासइ, पासित्ता जेणेव पोंडरीए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोंडरीयं रायं एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! तव पियभाउए कंडरीए अणगारे असोगवणियाए असोगवर-पायवस्स अहे पुढविसिलापट्टे ओहयमणसंकप्पे जाव झियायइ।'

तत्पश्चात् पुंडरीक राजा की धायमाता जहां अशोकवाटिका थी, वहां गई। वहां जाकर उसने कंडरीक अनगार को अशोक वृक्ष के नीचे, पृथ्वीशिलापट्टक पर भग्नमनोरथ यावत् चिन्तामग्न देखा। यह देखकर वह पुंडरीक राजा के पास गई और उनसे कहने लगी—देवानुप्रिय! तुम्हारा प्रिय भाई कंडरीक अनगार अशोकवाटिका में, उत्तम अशोक वृक्ष के नीचे, पृथ्वीशिलापट्ट पर भग्नमनोरथ होकर यावत् चिन्ता में डूबा बैठा है।

१९—तए णं पोंडरीए अम्मधाईए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म तहेव संभंते समाणे उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता अंतेउरपरियालसंपरिवुडे जेणेव असोगवणिया जाव कंडरीयं तिक्खुत्तो एवं वयासी—'धण्णे सि तुमं देवाणुप्पिया! जाव[1] पव्वइए, अहं णं अधण्णे जाव[2] पव्वइत्तए, तं धन्ने सि णं तुमं देवाणुप्पिया! जाव जीवियफले।'

तब पुंडरीक राजा, धायमाता की यह बात सुनते और समझते ही संभ्रान्त हो उठा। उठ कर अन्तःपुर के परिवार के साथ, अशोकवाटिका में गया। जाकर यावत् कंडरीक को तीन वार इस प्रकार कहा—'देवानुप्रिय! तुम धन्य हो कि यावत् दीक्षित हो। मैं अधन्य हूं कि यावत् दीक्षित होने के लिए समर्थ नहीं हो पाता। अतएव देवानुप्रिय! तुम धन्य हो, यावत् तुमने मानवीय जन्म और जीवन का सुन्दर फल पाया है।'

२०—तए णं कंडरीए पुंडरीएणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ, दोच्चं पि तच्चं पि जाव चिट्ठइ।

तत्पश्चात् पुडरीक राजा के द्वारा इस प्रकार कहने पर कंडरीक चुपचाप रहा। दूसरी बार और तीसरी बार कहने पर भी यावत् वह मौन ही बना रहा।

१-२. अ. १९ सूत्र १६

प्रव्रज्या का परित्याग

२१—तए णं पुंडरीए कंडरीयं एवं वयासी—'अट्ठो भंते ! भोगेहिं ?'

'हंता अट्ठो ।'

तब पुंडरीक राजा ने कंडरीक से पूछा—'भगवन् ! क्या भोगों से प्रयोजन है ? अर्थात् क्या भोग भोगने की इच्छा है ?

तब कंडरीक ने कहा—'हाँ, प्रयोजन है ।'

राज्याभिषेक

२२—तए णं पोंडरीए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कंडरीयस्स महत्थं जाव रायाभिसेयं उवट्ठवेह ।' जाव रायाभिसेएणं अभिसिंचइ ।

तत्पश्चात् पुंडरीक राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया । बुला कर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो ! शीघ्र ही कंडरीक के महान् अर्थव्यय वाले एवं महान् पुरुषों के योग्य राज्याभिषेक की तैयारी करो ।' यावत् कंडरीक राज्याभिषेक से अभिषिक्त किया गया । वह मुनिपर्याय त्याग कर राजसिंहासन पर आसीन हो गया ।

पुण्डरीक का दीक्षाग्रहण

२३—तए णं पुंडरीए सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, सयमेव चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता कंडरीयस्स संतिअं आयारभंडयं गेण्हइ, गेण्हित्ता इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—'कप्पइ मे थेरे वंदित्ता णमंसित्ता थेराणं अंतिए चाउज्जामं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं तओ पच्छा आहारं आहारित्तए' त्ति कट्टु इमं च एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हेत्ता णं पोंडरीगिणीए पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमित्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।

तत्पश्चात् पुण्डरीक ने स्वयं ही पंचमुष्ठिक लोच किया और स्वयं ही चातुर्याम धर्म अंगीकार किया । अंगीकार करके कंडरीक के आचारभाण्ड (उपकरण) ग्रहण किये और इस प्रकार का अभिग्रह ग्रहण किया—

स्थविर भगवान् को वन्दन-नमस्कार करने और उनके पास से चातुर्याम धर्म अंगीकार करने के पश्चात् ही मुझे आहार करना कल्पता है ।' ऐसा कहकर और इस प्रकार का अभिग्रह धारण करके पुंडरीक पुंडरीकिणी नगरी से बाहर निकला । निकल कर अनुक्रम से चलता हुआ, एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाता हुआ, जिस ओर स्थविर भगवान् थे, उसी ओर गमन करने को उद्यत हुआ ।

विवेचन—आगमों में अनेक स्थलों पर दीक्षा के प्रसंग में 'पंचमुट्ठियलोय' अर्थात् पञ्च मुष्टियों द्वारा लोच करने का उल्लेख आता है । अभिधानराजेन्द्रकोष में इसका अर्थ किया गया है—'पञ्चभिर्मुष्टिभिः शिरः केशापनयनम्' अर्थात् पांच मुट्ठियों से शिर के केशों का उत्पाटन करना—हटा देना ।

इस अर्थ के अनुसार पांच मुट्ठियों से शिर के केशों के उखाड़ने का अभिप्राय तो स्पष्ट होता है किन्तु दाढी और मूंछों के केशों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता । इन केशों का अपनयन

पांच मुट्ठियों से ही हो जाता है अथवा अतिरिक्त मुष्टियों से ? अगर अतिरिक्त मुट्ठियों से होता है तो उसे पंचमुष्टिक लोच कैसे कहा जाता है ?

भगवान् ऋषभदेव के लोच के सम्बन्ध में लिखा है—(ऋषभः) सयमेव चउहिं अट्ठाहिं मुट्ठिहिं लोयं करेइ—स्वयमेव चतसृभिः (अट्ठाहिं ति) मुष्टिभिः करणभूताभिर्लुञ्चनीयकेशानां पञ्चमभाग-लुञ्चिकाभिरित्यर्थः, लोचं करोति, अपरालङ्कारादिमोचनपूर्वकमेव शिरोलंकारादिमोचनं विधि-क्रमायेति पर्यन्ते मस्तकालंकारकेशमोचनम् । तीर्थंकृता पञ्चमुष्टिकलोचसम्भवेऽपि अस्य भगवतश्च-तुर्मुष्टिकलोचगोचरः श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत-ऋषभचरित्राद्यभिप्रायोऽयम्—प्रथममेकया मुष्ट्या श्मश्रुकूर्च-योर्लोचे, तिसृभिश्च शिरोलोचे कृते, एकां मुष्टिमवशिष्यमाणां पवनान्दोलिनां कनकावदातयोः प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं मरकतोपमानमाविभ्रतीं परमरमणीयां वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण—भगवन् ! मय्यनुग्रहं विधाय ध्रियतामेव इत्थमेवेति विज्ञप्ते भगवताऽपि तथैव रक्षिता.......।

इस उद्धरण से विदित होता है कि एक मुट्ठी से, लोच करने के योग्य समस्त केशों के पांचवें भाग का उत्पाटन किया जाता है। किन्तु भ० ऋषभदेव ने चार-मुट्ठी लोच किया। वह इस प्रकार—पहली एक मुट्ठी से दाढी और मूछों के केश उखाड़े और तीन मुष्टियों से सिर के केश उखाड़े। जब एक मुट्ठी शेष रही तब भगवान् के दोनों कंधों पर केशराशि सुशोभित हो रही थी। भगवान् के स्वर्ण-वर्ण कंधों पर मरकत मणि की सी अतिशय रमणीय केशराशि को देख कर शक्रेन्द्र को प्रमोदभाव उत्पन्न हुआ और उसने प्रार्थना की—'भगवन् ! मुझ पर अनुग्रह करके इस केशराशि को इसी प्रकार रहने दीजिए।' भगवान् ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार करके वैसी ही रहने दी।

इससे स्पष्ट है कि दोनों कन्धों के ऊपर वाले केश एक पांचवीं मुट्ठी से उखाड़े जाते हैं।

यह भी सम्भव है कि किस मुट्ठी से कौन से केश उखाड़े जाएँ, ऐसा कोई प्रतिवन्ध न हो; केवल यही अभीष्ट हो कि पांच मुट्ठियों में मस्तक, दाढी और मूछों के समस्त केश उखड़ जाने चाहिए।

कण्डरीक की पुनः रुग्णता

२४—तए णं तस्स कंडरीयस्स रण्णो तं पणीयं पाणभोयणं आहारियस्स समाणस्स अतिजागरिएण य अइभोयणप्पसंगेण य से आहारे णो सम्मं परिणमइ। तए णं तस्स कंडरीयस्स रण्णो तंसि आहारंसि अपरिणममाणंसि पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि सरीरंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला विउला कक्खडा पगाढा जाव [चंडा दुक्खा] दुरहियासा पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए यावि होत्था।

तत्पश्चात् प्रणीत (सरस पौष्टिक) आहार करने वाले कंडरीक राजा को अति जागरण करने से और मात्रा से अधिक भोजन करने के कारण वह आहार अच्छी तरह परिणत नहीं हुआ, पच नहीं सका। उस आहार का पाचन न होने पर, मध्य रात्रि के समय, कंडरीक राजा के शरीर में उज्ज्वल, विपुल, कर्कश, अत्यन्त गाढ़ी, प्रचंड और दुःखद वेदना उत्पन्न हो गई। उसका शरीर पित्तज्वर से व्याप्त हो गया। अतएव उसे दाह होने लगा। कंडरीक ऐसी रोगमय स्थिति में रहने लगा।

मरण एवं नारक-जन्म

२५—तए णं से कंडरीए राया रज्जे य रट्ठे य अंतेउरे य जाव अज्झोववन्ने अट्टदुहट्टवसट्टे अकामए अवस्सवसे कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठिइयंसि नरयंसि नेरइयत्ताए उववण्णे।

तत्पश्चात् कंडरीक राजा राज्य में, राष्ट्र में और अन्तःपुर में यावत् अतीव आसक्त बना हुआ, आर्त्त ध्यान के वशीभूत हुआ, इच्छा के विना ही, पराधीन होकर, कालमास में (मरण के अवसर पर) काल करके नीचे सातवीं पृथ्वी में, सर्वोत्कृष्ट (तेतीस सागरोपम) स्थिति वाले नरक में नारक रूप से उत्पन्न हुआ।

२६—एवामेव समणाउसो! जाव पव्वइए समाणे पुणरवि माणुस्सए कामभोगे आसाएइ जाव अणुपरियट्टिस्सइ, जहा व से कंडरीए राया।

इस प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! यावत् हमारा जो साधु-साध्वी दीक्षित होकर पुनः मानवीय कामभोगों की इच्छा करता है, वह यावत् कंडरीक राजा की भांति संसार में पुनः पुनः पर्यटन करता है।

पुण्डरीक की उग्र साधना

२७—तए णं से पोंडरीए अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता थेराणं अंतिए दोच्चं पि चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ, छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, करित्ता जाव अडमाणे सीयलुक्खं पाणभोयणं पडिगाहेइ, पडिगाहित्ता अहापज्जत्तमिति कट्टु पडिणियत्तइ, पडिणियत्तित्ता जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भत्तपाणं पडिदंसेइ, पडिदंसित्ता थेरेहिं भगवंतेहिं अब्भणुन्नाए समाणे अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववण्णे बिलमिव पण्णगभूएणं अप्पाणेणं तं फासुएसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं सरीरकोट्ठगंसि पक्खिवइ।

पुंडरीकिणी नगरी से रवाना होने के पश्चात् पुंडरीक अनगार वहां पहुँचे जहाँ स्थविर भगवान् थे। वहां पहुंच कर उन्होंने स्थविर भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके स्थविर के निकट दूसरी वार चातुर्याम धर्म अंगीकार किया। फिर षष्ठभक्त के पारणक में, प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया, (दूसरे प्रहर में ध्यान किया) तीसरे प्रहर में यावत् भिक्षा के लिए अटन करते हुए ठंडा और रूखा भोजन-पान ग्रहण किया। ग्रहण करके 'यह मेरे लिए पर्याप्त है' ऐसा सोच कर लौट आये। लौट कर स्थविर भगवान् के पास आये। उन्हें लाया हुआ भोजन पानी दिखलाया। फिर स्थविर भगवान् की आज्ञा होने पर मूर्च्छाहीन होकर तथा गृद्धि, आसक्ति एवं तल्लीनता से रहित होकर, जैसे सर्प बिल में सीधा चला जाता है, उसी प्रकार (स्वाद न लेते हुए) उस प्रासुक तथा एषणीय अशन, पानी, खादिम और स्वादिम आहार को उन्होंने शरीर रूपी कोठे में डाल लिया।

२८—तए णं तस्स पुंडरीयस्स अणगारस्स तं कालाइक्कंतं अरसं विरसं सीयलुक्खं पाणभोयणं

आहारियस्स समाणस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स से आहारे णो सम्मं परिणमइ। तए णं तस्स पुंडरीयस्स अणगारस्स सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला जाव[1] दुरहियासा पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए विहरइ।

तत्पश्चात् पुंडरीक अनगार उस कालातिक्रान्त (जिसके खाने का समय बीत गया है ऐसे), रसहीन, खराब रस वाले तथा ठंडे और रूखे भोजन पानी का आहार करके मध्य रात्रि के समय धर्म जागरण कर रहे थे। तब वह आहार उन्हें सम्यक् रूप से परिणत न हुआ। उस समय पुंडरीक अनगार के शरीर में उज्ज्वल विपुल, कर्कश, प्रचण्ड एवं दुःखरूप, दुस्सह वेदना उत्पन्न हो गई। उनका शरीर पित्तज्वर से व्याप्त हो गया और शरीर में दाह होने लगा।

उग्र साधना का सुफल

२९—तए णं से पुंडरीए अणगारे अत्थामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे करयल जाव एवं वयासीः—

नमोऽत्थु णं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं, णमोऽत्थु णं थेराणं भगवंताणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसयाणं, पुव्विं पि य णं मए थेराण अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जाव मिच्छादंसण-सल्ले णं पच्चक्खाए' जाव आलोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे उववण्णे। ततोऽणंतरं उव्वट्टित्ता महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं काहिइ।

तत्पश्चात् पुंडरीक अनगार निस्तेज, निर्बल, वीर्यहीन और पुरुषकार-पराक्रमहीन हो गये। उन्होंने दोनों हाथ जोड़ कर यावत् इस प्रकार कहा—

यावत् सिद्धिप्राप्त अरिहंतों को नमस्कार हो। मेरे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक स्थविर भगवान् को नमस्कार हो। स्थविर के निकट पहले भी मैंने समस्त प्राणातिपात का प्रत्याख्यान किया, यावत् मिथ्यादर्शन शल्य का (अठारहों पापस्थानों) का त्याग किया था, इत्यादि कहकर यावत् शरीर का भी त्याग करके आलोचना प्रतिक्रमण करके, कालमास में काल करके सर्वार्थसिद्धनामक अनुत्तर विमान में देवपर्याय में उत्पन्न हुए। वहाँ से अनन्तर च्यवन करके, अर्थात् बीच में कहीं अन्यत्र जन्म न लेकर सीधे महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेंगे। यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेंगे।

३०—एवामेव समणाउसो! जाव पव्वइए समाणे माणुस्सएहिं कामभोगेहिं णो सज्जइ, णो रज्जइ, जाव नो विप्पडिघायमावज्जइ, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं अच्चणिज्जे वंदणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जे त्ति कट्टु परलोए वि य णं णो आगच्छइ बहूणि दंडणाणि य मुंडणाणि य तज्जणाणि य ताडणाणि य जाव चाउरंत-संसारकंतारं जाव वीईवइस्सइ, जहा व से पोंडरीए राया।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! जो हमारा साधु या साध्वी दीक्षित होकर मनुष्य संबंधी कामभोगों में आसक्त नहीं होता, अनुरक्त नहीं होता, यावत् प्रतिघात को प्राप्त नहीं होता, वह इसी भव में बहुत श्रमणों, बहुत श्रमणियों, बहुत श्रावकों और बहुत श्राविकाओं द्वारा अर्चनीय, वन्दनीय,

---

१. अ. १९, सूत्र २४

पूजनीय, सत्करणीय, सम्माननीय, कल्याणरूप, मंगलकारक, देव और चैत्य समान उपासना करने योग्य होता है। इसके अतिरिक्त वह परलोक में भी राजदण्ड, राजनिग्रह, तर्जना और ताड़ना को प्राप्त नहीं होता, यावत् चतुर्गति रूप संसार-कान्तार को पार कर जाता है, जैसे पुंडरीक अनगार।

३१—एवं खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं सिद्धिगइनामधेज्जं ठाणं संपत्तेणं एगूणवीसइमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते।

जम्बू ! धर्म की आदि करने वाले, तीर्थ की स्थापना करने वाले, यावत् सिद्धिनामक स्थान को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने ज्ञात-अध्ययन के उन्नीसवें अध्ययन का यह अर्थ कहा है।

३२—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सिद्धिगइनामधेज्जं ठाणं संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स पढमस्स सुयक्खंधस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

श्रीसुधर्मा स्वामी पुनः कहते हैं—'इस प्रकार हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने यावत् सिद्धिगतिनामक स्थान को प्राप्त जिनेश्वर देव ने इस छठे अंग के प्रथम श्रुतस्कंध का यह अर्थ कहा है। जैसा सुना वैसा मैंने कहा है—अपनी कल्पना-बुद्धि से नहीं कहा।

३३—तस्स णं सुयक्खंधस्स एगूणवीसं अज्झयणाणि एक्कसरगाणि एगूणवीसाए दिवसेसु समप्पंति ॥१४७॥

इस प्रथम श्रुतस्कंध के उन्नीस अध्ययन हैं। एक-एक अध्ययन एक-एक दिन में पढ़ने से उन्नीस दिनों में यह अध्ययन पूर्ण होता है (इसके योगवहन में उन्नीस दिन लगते हैं)।

॥ उन्नीसवां अध्ययन समाप्त ॥

॥ प्रथम श्रुतस्कंध समाप्त ॥

द्वितीत श्रुतस्कन्ध
१-१० वर्ग

सार : संक्षेप

महाव्रतों का विधिवत् पालन करने वाला जीव, उसी भव में यदि समस्त कर्मों का क्षय कर सके तो निर्वाण प्राप्त करता है। यदि कर्म शेष रह जाएँ तो वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। किन्तु महाव्रतों को अंगीकार करके भी जो उनका विधिवत् पालन नहीं करता, कारणवश शिथिलाचारी बन जाता है, कुशील हो जाता है, सम्यग्ज्ञान आदि का विराधक हो जाता है, तीर्थंकर के उपदेश की परवाह न करके स्वेच्छाचारी बन जाता है और अन्तिम समय में अपने अनाचार की अलोचना-प्रतिक्रमण नहीं करता, वह मात्र कायक्लेश आदि बाह्य तपश्चर्या करने के कारण देवगति प्राप्त करके भी वैमानिक जैसी उच्चगति और देवत्व नहीं पाता। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क की पर्याय प्राप्त करता है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में यही तत्त्व प्रकाशित किया गया है। इसमें चारों देवनिकायों की इन्द्राणियों के पूर्व-जीवन का विवरण दिया गया है। इन सब इन्द्राणियों के पूर्व-जीवन में इतनी समानता है कि एक का वर्णन करके दूसरी सभी के जीवन को उसी के सदृश समझ लेने का उल्लेख कर दिया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में दश वर्ग हैं। वर्ग का अर्थ है श्रेणी। एक श्रेणी की जीवनियां एक वर्ग में सम्मिलित कर दी गई हैं।

प्रथम वर्ग में चमरेन्द्र की अग्रमहिषियों का वर्णन है। दूसरे वर्ग में वैरोचनेन्द्र बलीन्द्र की, तीसरे में असुरेन्द्र को छोड़कर दक्षिण दिशा के नौ भवनवासी-इन्द्रों की अग्रमहिषियों का और चौथे में उत्तर दिशा के इन्द्रों की अग्रमहिषियों का वर्णन हैं। पांचवें में दक्षिण और छठे में उत्तर दिशा के वाणव्यन्तर देवों की अग्रमहिषियों का, सातवें में ज्योतिष्केन्द्र चन्द्र की, आठवें में सूर्य-इन्द्र की तथा नौवें और दसवें वर्ग में वैमानिक निकाय के सौधर्मेन्द्र तथा ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियों का वर्णन है।

इन सब देवियों का वर्णन वस्तुतः उनके पूर्वभव का है, जिसमें वे मनुष्य पर्याय में महिला के रूप में जन्मी थी, उन्होंने साध्वीदीक्षा अंगीकार की थी और कुछ समय तक चारित्र की आराधना की थी। कुछ काल के पश्चात् वे शरीर-बकुशा हो गईं, चारित्र की विराधना करने लगीं। गुरुणी के मना करने पर भी विराधना के मार्ग से हटी नहीं। गच्छ से अलग होकर रहने लगीं और अन्तिम समय में भी उन्होंने अपने दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमणा किये बिना ही शरीर-त्याग किया।

राजगृह नगर में श्रमण भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। उस समय चमरेन्द्र असुरराज की अग्रमहिषी (पटरानी) काली देवी अपने सिंहासन पर आसीन थी। उसने अचानक अवधिज्ञान का उपयोग जम्बूद्वीप की ओर लगाया तो देखा कि भगवान् महावीर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में, राजगृह नगर में विराजमान हैं। यह देखते ही काली देवी सिंहासन से नीचे उतरी, जिस दिशा

में भगवान् थे, उसमें सात-आठ कदम आगे गई और पृथ्वी पर मस्तक टेक कर उन्हें विधिवत् वन्दना की।

तत्पश्चात् उसने भगवान् के समक्ष जाकर प्रत्यक्ष दर्शन करने, वन्दना और नमस्कार करने का निश्चय किया। उसी समय एक हजार योजन विस्तृत दिव्य यान की विक्रिया द्वारा तैयारी करने का आदेश दिया। यान तैयार हुआ और वह भगवान् के समक्ष उपस्थित हुई। वन्दन किया, नमस्कार किया, देवों की परम्परा के अनुसार अपना नाम-गोत्र प्रकाशित किया। फिर बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि दिखला कर वापिस लौट गई।

काली देवी के चले जाने पर गौतम स्वामी ने भगवान् के समक्ष निवेदन किया—भंते! काली देवी को यह दिव्य ऋद्धि-विभूति किस प्रकार प्राप्त हुई है?

तब भगवान् ने उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाया—आमलकल्पा नगरी के कालनामक गाथापति की एक पुत्री थी। उसकी माता का नाम कालश्री था। पुत्री का नाम काली था। काली नामक वह पुत्री शरीर से बड़ी बेडौल थी। उसके स्तन तो इतने लम्बे थे कि नितम्ब भाग तक लटकते थे। अतएव उसे कोई वर नहीं मिला। वह अविवाहिता ही रही।

एक बार पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ का आमलकल्पा नगरी में पदार्पण हुआ। काली ने धर्मदेशना श्रवण कर दीक्षा अंगीकार करने का संकल्प किया। माता-पिता ने सहर्ष अनुमति दे दी। ठाठ के साथ दीक्षा-महोत्सव मनाया गया। भगवान् ने दीक्षा प्रदान कर उसे आर्या पुष्पचूला को सौंप दिया। काली आर्या ने ग्यारह अंगों-आगमों का अध्ययन किया और यथाशक्ति तपश्चर्या करती हुई संयम की आराधना करने लगी।

किन्तु कुछ समय के पश्चात् काली आर्या को शरीर के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो गई। वह बार-बार अंग-उपांग धोती और जहाँ स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि करती, वहाँ जल छिड़कती। साध्वी-आचार से विपरीत उसकी यह प्रवृत्ति देखकर आर्या पुष्पचूला ने उसे ऐसा न करने के लिए समझाया। वह नहीं मानी। बार-बार टोकने पर वह गच्छ से सम्बन्ध तोड़ कर अलग उपाश्रय में रहने लगी। अब वह पूरी तरह स्वच्छन्द हो गई। संयम की विराधिका बन गई। कुछ समय इसी प्रकार व्यतीत हुआ। अन्तिम समय में उसने पन्द्रह दिन का अनशन-संथारा तो किया किन्तु अपने शिथिलाचार की न आलोचना की और न प्रतिक्रमण ही किया।

भगवान् महावीर ने कहा—यही वह काली आर्या का जीव है जो काली देवी के रूप में उत्पन्न हुआ है।

गौतम स्वामी के पुनः प्रश्न करने पर भगवान् ने कहा—देवीभव का अन्त होने पर, उद्वर्त्तन करके काली देवी महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी। वहाँ निरतिचार संयम की आराधना करके सिद्धि प्राप्त करेगी।

यह प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन का सार-संक्षेप है। आगे के वर्गों और अध्ययनों की कथाएँ काली के ही समान हैं। अतएव उनका विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। केवल उनके नाम, पूर्वभव के माता, पिता, नगर आदि का उल्लेख करके शेष वृत्तान्त काली के समान जान लेने की सूचना कर दी गई है।

द्वितीय श्रुतस्कंध : धर्मकथा

प्रथम वर्ग

प्रथमअध्ययन : काली

प्रास्ताविक

प्रथम श्रुतस्कंध में दृष्टान्तों द्वारा धर्म का प्रतिपादन किया गया है। इस द्वितीय श्रुत-स्कंध में साक्षात् कथाओं द्वारा धर्म का अर्थ प्रकट किया गया है।

१—तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे होत्था। वण्णओ। तस्स णं रायगिहस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए तत्थ णं गुणसीलए णामं चेइए होत्था। वण्णओ।

उस काल और उस समय में राजगृह नगर था। उसका वर्णन यहां कहना चाहिए। उस राजगृह के बाहर उत्तरपूर्व दिशाभाग (ईशान कोण) में गुणशीलनामक चैत्य था। उसका भी वर्णन यहाँ औपपातिक सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए।

सुधर्मा का आगमन

२—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मा णामं थेरा भगवंतो जाइसंपन्ना, कुलसंपन्ना, जाव[1] चउद्दसपुव्वी, चउणाणोवगया, पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडा, पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा, गामाणुगामं दूइज्जमाणा, सुहंसुहेणं विहरमाणा जेणेव रायगिहे णयरे, जेणेव गुणसीलए चेइए, जाव[2] संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी आर्य सुधर्मा नामक स्थविर उच्चजाति से सम्पन्न, कुल से सम्पन्न यावत् चौदह पूर्वों के वेत्ता और चार ज्ञानों से युक्त थे। वे पांच सौ अनगारों से परिवृत होकर अनुक्रम से चलते हुए, ग्रामानुग्राम विचरते हुए और सुखे-सुखे विहार करते हुए जहां राजगृह नगर था और जहां गुणशील चैत्य था, वहाँ पधारे। यावत् संयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

जम्बू का प्रश्न

३—परिसा णिग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अंतेवासी अज्जजंबू णामं अणगारे जाव[3] पज्जुवासमाणे एवं वयासी—जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स पढमसुयक्खंधस्स णायसुणायं[4] अयमट्ठे पण्णत्ते, दोच्चस्स णं भंते! सुयक्खंधस्य धम्मकहाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते?

सुधर्मा स्वामी को वन्दना करने के लिए परिषद् निकली। सुधर्मा स्वामी ने धर्म का उपदेश दिया। तत्पश्चात् परिषद् वापिस चली गई।

उस काल और उस समय में आर्य सुधर्मा अनगार के अन्तेवासी आर्य जम्बूनामक अनगार

१. प्र. अ. सूत्र ४. २. प्र. अ. सूत्र ४. ३. प्र. अ. सूत्र ६. ४. पाठान्तर-'नायाणं'।

यावत् सुधर्मा स्वामी की उपासना करते हुए बोले—'भगवन् ! यदि यावत् सिद्धि को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने छठे अंग के 'ज्ञातश्रुत' नामक प्रथम श्रुतस्कंध का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा है, तो भगवन् ! धर्मकथानामक द्वितीय श्रुतस्कंध का सिद्धपद को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है ?

सुधर्मा स्वामी का उत्तर

४—एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं धम्मकहाणं दस वग्गा पन्नत्ता, तंजहा—

(१) चमरस्स अग्गमहिसीणं पढमे वग्गे ।
(२) बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो अग्गमहिसीणं बीए वग्गे ।
(३) असुरिंदवज्जियाणं दाहिणिल्लाणं भवणवासीणं इंदाणं अग्गमहिसीणं तइए वग्गे ।
(४) उत्तरिल्लाणं असुरिंदवज्जियाणं भवणवासिइंदाणं अग्गमहिसीणं चउत्थे वग्गे ।
(५) दाहिणिल्लाणं वाणमंतराणं इंदाणं अग्गमहिसीणं पंचमे वग्गे ।
(६) उत्तरिल्लाणं वाणमंतराणं इंदाणं अग्गमहिसीणं छट्ठे वग्गे ।
(७) चंदस्स अग्गमहिसीणं सत्तमे वग्गे ।
(८) सूरस्स अग्गमहिसीणं अट्ठमे वग्गे ।
(९) सक्कस्स अग्गमहिसीणं णवमे वग्गे ।
(१०) ईसाणस्स अग्गमहिसीणं दसमे वग्गे ।

श्री सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—'इस प्रकार हे जम्बू ! यावत् सिद्धिप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने धर्मकथानामक द्वितीय श्रुतस्कंध के दस वर्ग कहे हैं । वे इस प्रकार हैं—

(१) चमरेन्द्र की अग्रमहिषियों (पटरानियों) का प्रथम वर्ग ।
(२) वैरोचनेन्द्र एवं वैरोचनराज बलि (बलीन्द्र) की अग्रमहिषियों का दूसरा वर्ग ।
(३) असुरेन्द्र को छोड़ कर शेष नौ दक्षिण दिशा के भवनपति इन्द्रों की अग्रमहिषियों का तीसरा वर्ग ।
(४) असुरेन्द्र के सिवाय नौ उत्तर दिशा के भवनपति इन्द्रों की अग्रमहिषियों का चौथा वर्ग ।
(५) दक्षिण दिशा के वाणव्यन्तर देवों के इन्द्रों की अग्रमहिषियों का पाँचवां वर्ग ।
(६) उत्तर दिशा के वाणव्यन्तर देवों के इन्द्रों की अग्रमहिषियों का छठा वर्ग ।
(७) चन्द्र की अग्रमहिषियों का सातवाँ वर्ग ।
(८) सूर्य की अग्रमहिषियों का आठवाँ वर्ग ।
(९) शक्र इन्द्र की अग्रमहिषियों का नौवां वर्ग और
(१०) ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियों का दसवाँ वर्ग ।'

५—जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेण धम्मकहाणं दस वग्गा पन्नत्ता, पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं पढमस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—
(१) काली (२) राई (३) रयणी (४) विज्जू (५) मेहा ।

जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं पढमस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

जम्बू स्वामी पुनः प्रश्न करते हैं—'भगवन् ! श्रमण भगवान् यावत् सिद्धिप्राप्त ने यदि धर्म-कथा श्रुतस्कंध के दस वर्ग कहे हैं, तो भगवन् ! प्रथम वर्ग का श्रमण यावत् सिद्धिप्राप्त भगवान् ने क्या अर्थ कहा है ?

आर्य सुधर्मा उत्तर देते हैं—जम्बू ! श्रमण यावत् सिद्धिप्राप्त भगवान् ने प्रथम वर्ग के पाँच अध्ययन कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) काली (२) राजी (३) रजनी (४) विद्युत् और (५) मेघा।'

जम्बू ने पुनः प्रश्न किया—'भगवन् ! श्रमण यावत् सिद्धिप्राप्त महावीर भगवान् ने यदि प्रथम वर्ग के पाँच अध्ययन कहे हैं तो हे भगवन् ! प्रथम अध्ययन का श्रमण यावत् सिद्धिप्राप्त भगवान् ने क्या अर्थ कहा है ?'

६—'एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे, गुणसीलए चेइए, सेणिए राया, चेलणा देवी। सामी समोसरिए। परिसा निग्गया जाव परिसा पज्जुवासइ।

श्रीसुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—जम्बू ! उस काल और उस समय में राजगृह नगर था, गुणशील चैत्य था, श्रेणिक राजा था, और चेलना रानी थी।

उस समय स्वामी (भगवान् महावीर) का पदार्पण हुआ। वन्दना करने के लिए परिषद् निकली, यावत् परिषद् भगवान् की पर्युपासना करने लगी।

काली देवी की कथा

७—तेणं कालेणं तेणं समएणं काली नामं देवी चमरचंचाए रायहाणीए कालवडिंसगभवणे कालंसि सीहासणंसि, चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं, चउहिं महयरियाहिं, सपरिवाराहिं, तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिएहिं, सत्तहिं अणियाहिवईहिं, सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं, अण्णेहिं बहुएहि य कालवडिंसयभवणवासीहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य सद्धिं संपरिवुडा महयाहय जाव विहरइ।

उस काल और उस समय में, कालीनामक देवी चमरचंचा राजधानी में, कालावतंसक भवन में, कालनामक सिंहासन पर आसीन थी। चार हजार सामानिक देवियों, चार महत्तरिका देवियों, परिवार सहित तीनों परिषदों, सात अनीकों, सात अनीकाधिपतियों, सोलह हजार आत्म-रक्षक देवों तथा अन्यान्य कालावतंसक भवन के निवासी असुरकुमार देवों और देवियों से परिवृत होकर जोर से बजने वाले वादित्र नृत्य गीत आदि से मनोरंजन करती हुई विचर रही थी।

८—इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणी आभोएमाणी पासइ। तत्थ णं समणं भगवं महावीरं जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रायगिहे नयरे गुणसिलए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संयमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमणा हयहियया सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता पाउयाओ ओमुयइ,

ओमुइत्ता तित्थगराभिमुही सत्तट्ठ पयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचित्ता दाहिणं जाणुं धरणियलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणियलंसि निवेसेइ, निवेसित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमइत्ता कडय-तुडिय-थंभियाओ भुयाओ साहरइ, साहरित्ता करयल जाव [परिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि] कट्टु एवं वयासी—

वह काली देवी इस केवल-कल्प (सम्पूर्ण) जम्बू द्वीप को अपने विपुल अवधिज्ञान से उपयोग लगाती हुई देख रही थी। उसने जम्बूद्वीपनामक द्वीप के भरत क्षेत्र में, राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में, यथाप्रतिरूप—साधु के लिए उचित स्थान की याचना करके, संयम और तप द्वारा आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर को देखा। देख कर वह हर्षित और संतुष्ट हुई। उसका चित्त आनन्दित हुआ। मन प्रीतियुक्त हो गया। वह अपहृतहृदय होकर सिंहासन से उठी। पादपीठ से नीचे उतरी। उसने पादुका (खडाऊँ) उतार दिए। फिर तीर्थंकर भगवान् के सन्मुख सात-आठ पैर आगे बढ़ी। बढ़ कर बायें घुटने को ऊपर रखा और दाहिने घुटने को पृथ्वी पर टेक दिया। फिर मस्तक कुछ ऊँचा किया। तत्पश्चात् कड़ों और बाजूबंदों से स्तंभित भुजाओं को मिलाया। मिलाकर, दोनों हाथ जोड़कर [मस्तक पर अंजलि करके, आवर्त्त करके] इस प्रकार कहने लगी—

९—'णमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं, णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थ गयं इह गए, पासउ णं मे समणे भगवं महावीरे तत्थ गए इह गयं' ति कट्टु वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहा निसण्णा।

यावत् सिद्धि को प्राप्त अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार हो। यावत् सिद्धि को प्राप्त करने की इच्छा वाले श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार हो। यहाँ रही हुई मैं, वहाँ स्थित भगवान् को वन्दना करती हूँ। वहाँ स्थित श्रमण भगवान् महावीर, यहाँ रही हुई मुझको देखें।' इस प्रकार कह कर वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना—नमस्कार करके पूर्व दिशा की ओर मुख करके अपने श्रेष्ठ सिंहासन पर आसीन हो गई।

१०—तए णं तीसे कालीए देवीए इमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था—'सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता जाव पज्जुवासित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता आभिओगिए देवे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे एवं जहा सूरियाभो तहेव आणत्तियं देइ, जाव दिव्वं सुरवराभिगमणजोग्गं करेह। करित्ता जाव पच्चप्पिणह।' ते वि तहेव जाव करित्ता जाव पच्चप्पिणंति, णवरं जोयणसहस्सविच्छिन्नं जाणं, सेसं तहेव। णामगोयं साहेइ, तहेव नट्टविहिं उवदंसेइ, जाव पडिगया।

तत्पश्चात् काली देवी को इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—'श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना करके यावत् उनकी पर्युपासना करना मेरे लिए श्रेयस्कर है।' उसने ऐसा विचार किया। विचार करके आभियोगिक देवों को बुलाया। बुलाकर उन्हें इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में विराजमान हैं, इत्यादि जैसे सूर्याभ देव[1] ने अपने

१. विस्तार के लिए देखिए, राजप्रश्नीय सूत्र ९. सारांश पहले दिया जा चुका है। देखें पृष्ठ ३३८.

आभियोगिक देवों को आज्ञा दी थी, उसी प्रकार काली देवी ने भी आज्ञा दी कि यावत् 'दिव्य और श्रेष्ठ देवताओं के गमन के योग्य यान-विमान बना कर तैयार करो, यावत् मेरी आज्ञा वापिस सौंपो।' आभियोगिक देवों ने आज्ञानुसार कार्य करके आज्ञा लौटा दी। यहाँ विशेषता यही है कि हजार योजन विस्तार वाला विमान बनाया (जबकि सूर्याभ देव के लिए लाख योजन का विमान बनाया गया था) शेष वर्णन सूर्याभ के वर्णन के समान ही समझना चाहिए। सूर्याभ की तरह ही भगवान् के पास जाकर अपना नाम-गोत्र कहा, उसी प्रकार नाटक दिखलाया। फिर वन्दन-नमस्कार करके काली देवी वापिस चली गई।

११—भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—'कालीए णं भंते ! देवीए सा दिव्वा देविड्ढी कहिं गया ? कूडागारसाला-दिट्ठंतो।

'अहो भगवन् !' इस प्रकार संबोधन करके भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'भगवन् ! काली देवी की वह दिव्य ऋद्धि कहाँ चली गई ?' भगवान् ने उत्तर में कूटाकार शाला का दृष्टान्त दिया।[1]

काली देवी का पूर्वभव

१२—'अहो णं भंते ! काली देवी महिड्ढिया। कालीए णं भंते ! देवीए सा दिव्वा देविड्ढी किण्णा लद्धा ? किण्णा पत्ता ? किण्णा अभिसमण्णागया ?'

एवं जहा सूरियाभस्स जाव एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पा णाम णयरी होत्था। वण्णओ। अंबसालवणे चेइए। जियसत्तू राया।

'अहो भगवन् ! काली देवी महती ऋद्धि वाली है। भगवन् ! काली देवी को वह दिव्य देवर्धि पूर्वभव में क्या करने से मिली ? देवभव में कैसे प्राप्त हुई ? और किस प्रकार उसके सामने आई, अर्थात् उपभोग में आने योग्य हुई ? यहाँ भी सूर्याभ देव के समान ही कथन समझना चाहिए। भगवान् ने कहा—'हे गौतम ! उस काल और उस समय में, इसी जम्बूद्वीपनामक द्वीप में, भारतवर्ष में, आमलकल्पा नामक नगरी थी। उसका वर्णन कहना चाहिए। उस नगरी के बाहर ईशान दिशा में आम्रशालवननामक चैत्य (वन) था। उस नगरी में जितशत्रुनामक राजा था।

१३—तत्थ णं आमलकप्पाए नयरीए काले णामं गाहावई होत्था, अड्ढे जाव अपरिभूए। तस्स णं कालस्स गाहावइस्स कालसिरी णामं भारिया होत्था, सुकुमालपाणिपाया जाव सुरूवा। तस्स णं कालगस्स गाहावइस्स धूया कालसिरीए भारियाए अत्तया काली णामं दारिया होत्था, वड्डा वड्डकुमारी जुण्णा जुण्णकुमारी पडियपुयत्थणी णिव्विन्नवरा वरपरिवज्जिया वि होत्था।

उस आमलकल्पा नगरी में कालनामक गाथापति (गृहस्थ) रहता था। वह धनाढ्य था और किसी से पराभूत होने वाला नहीं था। कालनामक गाथापति की पत्नी का नाम कालश्री था। वह सुकुमार हाथ पैर आदि अवयवों वाली यावत् मनोहर रूप वाली थी। उस काल गाथापति की पुत्री और कालश्री भार्या की आत्मजा कालीनामक बालिका थी। वह (उम्र से) बड़ी थी और बड़ी

१. दृष्टान्त का विवरण पहले आ चुका है, देखिये पृष्ठ ३३९.

होकर भी कुमारी (अविवाहिता) थी। वह जीर्णा (शरीर से जीर्ण होने के कारण वृद्धा) थी और जीर्ण होते हुए कुमारी थी। उसके स्तन नितंब प्रदेश तक लटक गये थे। वर (पति बनने वाले पुरुष) उससे विरक्त हो गये थे अर्थात् कोई उसे चाहता नहीं था, अतएव वह वर-रहित अविवाहित रह रही थी।

१४—तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए आइगरे जहा वद्धमाणसामी, णवरं णवहत्थुस्सेहे सोलसहिं समणसाहस्सीहिं अट्ठत्तीसाए अज्जियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे जाव अंबसालवणे समोसढ, परिसा णिग्गया जाव पज्जुवासइ।

उस काल और उस समय में पुरुषादानीय (पुरुषों में आदेय नामकर्म वाले) एवं धर्म की आदि करने वाले पार्श्वनाथ अरिहंत थे। वे वर्धमान स्वामी के समान थे। विशेषता केवल इतनी थी कि उनका शरीर नौ हाथ ऊँचा था, तथा वे सोलह हजार साधुओं और अड़तीस हजार साध्वियों से परिवृत थे। यावत् वे पुरुषादानीय पार्श्व तीर्थंकर आम्रशालवन में पधारे। वन्दना करने के लिए परिषद् निकली, यावत् वह परिषद् भगवान् की उपासना करने लगी।

१५—तए णं सा काली दारिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी हट्ठ जाव हियया जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता करयल जाव एवं वयासी—'एवं खलु अम्मयाओ! पासे अरहा पुरिसादाणीए आइगरे जाव विहरइ, तं इच्छामि णं अम्मयाओ! तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी पासस्स अरअहो पुरिसादाणीयस्स पायवंदिया गमित्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेहि।'

तत्पश्चात् वह काली दारिका इस कथा का अर्थ प्राप्त करके अर्थात् भगवान् के पधारने का समाचार जानकर हर्षित और संतुष्ट हृदय वाली हुई। जहाँ माता-पिता थे, वहां गई। जाकर दोनों हाथ जोड़ कर इस प्रकार बोली—'हे माता-पिता! पार्श्वनाथ अरिहन्त पुरुषादानीय, धर्मतीर्थ की आदि करने वाले यावत् यहाँ विचर रहे हैं। अतएव हे मातापिता! आपकी आज्ञा हो तो मैं पार्श्वनाथ अरिहन्त पुरुषादानीय के चरणों में वन्दना करने जाना चाहती हूँ।'

माता-पिता ने उत्तर दिया—'देवानुप्रिये! तुझे जैसे सुख उपजे, वैसा कर। धर्म कार्य में विलम्ब मत कर।'

१६—तए णं सा कालिया दारिया अम्मापिईहिं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठ जाव हियया ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ता सुद्धप्पवेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिया अप्प-महग्घाभरणालंकियसरीरा चेडिया-चक्कवाल-परिकिण्णा साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्ख-मित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा।

तत्पश्चात् वह कालीनामक दारिका का हृदय माता-पिता की आज्ञा पाकर हर्षित हुआ। उसने स्नान किया बलिकर्म किया, कौतुक, मंगल और प्रायश्चित्त किया तथा साफ, सभा के योग्य, मांगलिक—और श्रेष्ठ वस्त्र धारण किये। अल्प किंतु बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को भूषित किया। फिर दासियों के समूह से परिवृत होकर अपने गृह से निकली। निकल कर जहाँ बाहर की

उपस्थानशाला (सभा) थी, वहाँ आई। आकर धर्मकार्य में प्रयुक्त होने वाले श्रेष्ठ यान पर आरूढ हुई।

१७—तए णं सा काली दारिया धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा समाणी एवं जहा दोवई जाव पज्जुवासइ। तए णं पासे अरहा पुरिसादाणीए कालीए दारियाए तीसे य महइमहालियाए परिसाए धम्मं कहेइ।

तत्पश्चात् कालीनामक दारिका धार्मिक श्रेष्ठ यान पर आरूढ होकर द्रौपदी के समान भगवान् को वन्दना करके उपासना करने लगी। उस समय पुरुषादानीय तीर्थंकर पार्श्व ने काली नामक दारिका को और उपस्थित विशाल जनसमूह को धर्म का उपदेश दिया।

१८—तए णं सा काली दारिया पासस्स अरहओ पुरिसादाणीयस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठ जाव हियया पासं अरहं पुरिसादाणीयं तिक्खुत्तो वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'सद्दहामि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं जाव[1] से जहेयं तुब्भे वयह, जं णवरं देवाणुप्पिया! अम्मापियरो आपुच्छामि, तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए जाव [मुंडा भवित्ता णं अगाराओ अणगारियं] पव्वयामि।'

'अहासुहं देवाणुप्पिए?'

तत्पश्चात् उस कालीनामक दारिका ने पुरुषादानीय अरिहन्त पार्श्वनाथ के पास से धर्म सुन कर और उसे हृदयंगम करके, हर्षितहृदय होकर यावत् पुरुषादानीय अरिहन्त पार्श्वनाथ को तीन बार वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार निवेदन किया—'भगवन्! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा करती हूँ। यावत् आप जैसा कहते हैं, वह वैसा ही है। केवल, हे देवानुप्रिय! मैं अपने माता-पिता से पूछ लेती हूँ, उसके बाद मैं आप देवानुप्रिय के निकट [मुंडित होकर गृहत्याग करके] प्रव्रज्या ग्रहण करूंगी।'

भगवन् ने कहा—'देवानुप्रिये! जैसे तुम्हें सुख उपजे, करो।'

१९—तए णं सा काली दारिया पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठ जाव हियया पासं अरहं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहइ, दुरूहित्ता पासस्स अरहओ पुरिसादाणीयस्स अंतियाओ अंबसालवणाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव आमलकप्पा नयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आमलकप्पं णयरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियं जाणपवरं ठवेइ, ठवित्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल जाव एवं वयासी—

तत्पश्चात् पुरुषादानीय अरिहन्त पार्श्व के द्वारा इस प्रकार कहने पर वह कालीनामक दारिका हर्षित एवं संतुष्ट हृदय वाली हुई। उसने पार्श्व अरिहंत को वन्दन और नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके वह उसी धार्मिक श्रेष्ठ यान पर आरूढ हुई। आरूढ होकर पुरुषादानीय

१. प्र. अ. सूत्र ११५.

अरिहन्त पार्श्व के पास से, आम्रशालवननामक चैत्य से बाहर निकली और आमलकल्पा नगरी की ओर चली। आमलकल्पा नगरी के मध्य भाग में होकर जहाँ बाहर की उपस्थानशाला थी वहाँ पहुँची। धार्मिक एवं श्रेष्ठ यान को ठहराया और फिर उससे नीचे उतरी। फिर अपने माता-पिता के पास जाकर और दोनों हाथ जोड़कर यावत् इस प्रकार बोली—

२०—'एवं खलु अम्मयाओ ! मए पासस्स अरहओ अंतिए धम्मे णिसंते, से वि य णं धम्मे इच्छिए, पडिच्छिए, अभिरुइए, तए णं अहं अम्मयाओ ! संसारभउव्विग्गा, भीया जम्मणमरणाणं, इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी पासस्स अरहओ अंतिए मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

'हे माता-पिता ! मैंने पार्श्वनाथ तीर्थंकर से धर्म सुना है। और उस धर्म की मैंने इच्छा की है, पुनः पुनः इच्छा की है। वह धर्म मुझे रुचा है। इस कारण हे मात-तात ! मैं संसार के भय से उद्विग्न हो गई हूँ, जन्म-मरण से भयभीत हो गई हूँ। आपकी आज्ञा पाकर पार्श्व अरिहन्त के समीप मुंडित होकर, गृहत्याग कर अनगारिता की प्रव्रज्या धारण करना चाहती हूँ।'

माता-पिता ने कहा—'देवानुप्रिये ! जैसे सुख उपजे, करो। धर्मकार्य में विलंब न करो।'

२१—तए णं से काले गाहावई विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परियणं आमंतेइ, आमंतित्ता ततो पच्छा ण्हाए जाव विपुलेणं पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता तस्सेव मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परियणस्स पुरओ कालियं दारियं सेयापीएहिं कलसेहिं ण्हावेइ, ण्हावित्ता सव्वालंकारविभूसियं करेइ, करित्ता पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूहेइ, दुरूहित्ता मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परियणेणं सद्धिं संपरिवुडा सव्विड्ढीए, जाव रवेणं आमलकप्पं नयरिं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता जेणेव अंबसालवणे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता छत्ताईए तित्थगराइसए पासइ, पासित्ता सीयं ठवेइ, ठवित्ता कालियं दारियं सीयाओ पच्चोरुहेइ। तए णं कालिं दारियं अम्मापियरो पुरओ काउं जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

तत्पश्चात् कालनामक गाथापति ने विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम भोजन तैयार करवाया। तैयार करवाकर मित्रों, ज्ञातिजनों, निजकों, स्वजनों संबंधियों और परिजनों को आमंत्रित किया। आमंत्रण देकर स्नान किया। फिर यावत् विपुल पुष्प, वस्त्र, गंध, माल्य और अलंकार से उनका सत्कार सन्मान करके उन्हीं जाति, मित्र, निजक, स्वजन, संबंधी और परिजनों के सामने कालीनामक दारिका को श्वेत एवं पीत अर्थात् चांदी और सोने के कलशों से स्नान करवाया। स्नान करवाने के पश्चात् उसे सर्व अलंकारों से विभूषित किया। फिर पुरुषसहस्रवाहिनी शिविका पर आरूढ किया। आरूढ करके मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, संबंधी और परिजनों के साथ परिवृत होकर सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ, यावत् वाद्यों की ध्वनि के साथ, आमलकल्पा नगरी के बीचों-बीच होकर निकले। निकल कर आम्रशालवन की ओर चले। चलकर छत्र आदि तीर्थंकर भगवान् के अतिशय देखे। अतिशयों पर दृष्टि पड़ते ही शिविका रोक दी गई। फिर माता-पिता कालीनामक दारिका को शिविका से नीचे उतार कर और फिर उसे आगे करके जिस ओर पुरुषादानीय तीर्थंकर

पार्श्व थे, उसी ओर गये। जाकर भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करने के पश्चात् इस प्रकार कहा—

२२—'एवं खलु देवाणुप्पिया ! काली दारिया अम्हं धूया इट्ठा कंता जाव किमंग पुण पासणयाए ? एस णं देवाणुप्पिया ! संसार-भउव्विग्गा इच्छइ देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडा भवित्ता णं जाव पव्वइत्तए, तं एयं णं देवाणुप्पियाणं सिस्सिणीभिक्खं दलयामो, पडिच्छंतु णं देवाणुप्पिया ! सिस्सिणिभिक्खं।'

'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

देवानुप्रिय ! कालीनामक दारिका हमारी पुत्री है। हमें यह इष्ट है और प्रिय है, यावत् इसका दर्शन भी दुर्लभ है। देवानुप्रिय ! यह संसार-भ्रमण के भय से उद्विग्न होकर आप देवानुप्रिय के निकट मुंडित होकर यावत् प्रव्रजित होने की इच्छा करती है; अतएव हम यह शिष्यनीभिक्षा देवानुप्रिय को प्रदान करते हैं। देवानुप्रिय शिष्यनीभिक्षा स्वीकार करें।'

तब भगवान् बोले—देवानुप्रिय ! जैसे सुख उपजे करो। धर्मकार्य में विलम्ब न करो।'

२३—तए णं सा काली कुमारी पासं अरहं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसिभायं अवक्कमइ, अवक्कमित्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयइ, ओमुइत्ता सयमेव लोयं करेइ, करित्ता जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पासं अरहं तिक्खुत्तो वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-'आलित्ते णं भंते ! लोए' एवं जहा देवाणंदा,[1] जाव सयमेव पव्वावेउं।

तत्पश्चात् काली कुमारी ने पार्श्व अरहंत को वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके वह उत्तरपूर्व (ईशान) दिशा के भाग में गई। वहाँ जाकर उसने स्वयं ही आभूषण, माला और अलंकार उतारे और स्वयं ही लोच किया। फिर जहाँ पुरुषादानीय अरहन्त पार्श्व थे वहाँ आई। आकर पार्श्व अरहन्त को तीन बार वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोली—'भगवन् ! यह लोक आदीप्त है अर्थात् जन्म-मरण आदि के संताप से जल रहा है, इत्यादि (भगवतीसूत्रवर्णित) देवानन्दा के समान जानना चाहिए। यावत् मैं चाहती हूँ कि आप स्वयं ही मुझे दीक्षा प्रदान करें।

२४—तए णं पासे अरहा पुरिसादाणीए कालिं सयमेव पुप्फचूलाए अज्जाए सिस्सिणियत्ताए दलयति।

तए णं सा पुप्फचूला अज्जा कालिं कुमारिं सयमेव पव्वावेइ, जाव उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं सा काली अज्जा जाया ईरियासमिया जाव[2] गुत्तबंभयारिणी। तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूलाअज्जाए अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, बहूणि चउत्थ जाव [छट्ठट्ठम-दसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं अप्पाणं भावेमाणी] विहरइ।

तत्पश्चात् पुरुषादानीय अरहन्त पार्श्व ने स्वयमेव काली कुमारी को, पुष्पचूला आर्या को शिष्यनी के रूप में प्रदान किया।

तब पुष्पचूला आर्या ने काली कुमारी को स्वयं ही दीक्षित किया। यावत् वह काली प्रव्रज्या अंगीकार करके विचरने लगी। तत्पश्चात् वह काली आर्या ईर्यासमिति से युक्त यावत् गुप्त

१. भगवती, श ९ २. अ. १४ सू. २८.

ब्रह्मचारिणी आर्या हो गई। तदनन्तर उस काली आर्या ने पुष्पचूला आर्या के निकट सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा बहुत-से चतुर्थभक्त-उपवास, [षष्ठभक्त, अष्टमभक्त, दशमभक्त, द्वादशमभक्त, अर्ध मासखमण, मासखमण] आदि तपश्चरण करती हुई विचरने लगी।

२५—तए णं सा काली अज्जा अन्नया कयाइं सरीरबाउसिया जाया यावि होत्था, अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवइ, पाए धोवइ, सीसं धोवइ, मुहं धोवइ, थणंतराइं धोवइ, कक्खंतराणि धोवइ, गुज्झंतराइं धोवइ, जत्थ जत्थ वि य णं ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएइ, तं पुव्वामेव अब्भुक्खेत्ता पच्छा आसयइ वा सयइ वा।

तत्पश्चात् किसी समय, एक बार काली आर्या शरीरबाकुशिका (शरीर को साफ-सुथरा रखने की वृत्ति वाली— शरीरासक्त) हो गई। अतएव वह बार-बार हाथ धोने लगी, पैर धोने लगी, सिर धोने लगी, मुख धोने लगी, स्तनों के अन्तर धोने लगी, कांखों के अन्तर-प्रदेश धोने लगी और गुह्य स्थान धोने लगी। जहाँ जहाँ वह कायोत्सर्ग शय्या या स्वाध्याय करती थी, उस स्थान पर पहले जल छिड़क कर बाद में बैठती अथवा सोती थी।

२६—तए णं सा पुप्फचूला अज्जा कालिं अज्जं एवं वयासी-'नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिए! समणीणं णिग्गंथीणं सरीरबाउसियाणं होत्तए, तुमं च णं देवाणुप्पिए, सरीरबाउसिया जाया अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवसि जाव आसयाहि वा सयाहि वा, तं तुमं देवाणुप्पिए! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पायच्छित्तं पडिवज्जाहि।'

तब पुष्पचूला आर्या ने उस काली आर्या से कहा—'देवानुप्रिये! श्रमणी निर्ग्रन्थियों को शरीरबकुशा होना नहीं कल्पता। और तुम देवानुप्रिये! शरीरबकुशा हो गई हो। वारंवार हाथ धोती हो, यावत् पानी छिड़ककर बैठती और सोती हो। अतएव देवानुप्रिये! तुम इस पापस्थान की आलोचना करो, यावत् प्रायश्चित्त अंगीकार करो।'

२७—तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूलाए एयमट्ठं नो आढाइ जाव तुसिणीया संचिट्ठइ।

तब काली आर्या ने पुष्पचूला आर्या की यह बात स्वीकार नहीं की। यावत् वह चुप बनी रही।

२८—तए णं ताओ पुप्फचूलाओ अज्जाओ कालिं अज्जं अभिक्खणं अभिक्खणं हीलेंति, णिंदंति, खिंसंति, गरिहंति, अवमण्णंति, अभिक्खणं अभिक्खणं एयमट्ठं निवारेंति।

तत्पश्चात् वे पुष्पचूला आदि आर्याएँ, काली आर्या की बार-बार अवहेलना करने लगीं, निन्दा करने लगीं, चिढ़ने लगीं, गर्हा करने लगीं, अवज्ञा करने लगीं और बार-बार इस अर्थ (निषिद्ध कर्म) को रोकने लगीं।

२९—तए णं तीसे कालीए अज्जाए समणीहिं णिग्गंथीहिं अभिक्खणं अभिक्खणं हीलिज्जमाणीए जाव निवारिज्जमाणीए इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था-'जया णं अहं अगारवासमज्झे वसित्था, तया णं अहं सयंवसा, जप्पभिइं च णं अहं मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, तप्पभिइं च णं अहं परवसा जाया, तं सेयं खलु मम कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव

जलंते पाडिक्कियं उवस्सयं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए' त्ति कट्टु, एवं सपेहेइ, संपेहित्ता कल्लं जाव जलंते पाडिएक्कं उवस्सयं गिण्हइ, तत्थ णं अणिवारिया अणोहट्टिया सच्छंदमई अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थे धोवइ, जाव आसयइ वा सयइ वा।

निर्ग्रंथी श्रमणियों द्वारा वार-वार अवहेलना की गई यावत् रोकी गई उस काली आर्यिका के मन में इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—'जब मैं गृहवास में वसती थी, तब मैं स्वाधीन थी, किन्तु जब से मैंने मुंडित होकर गृहत्याग कर अनगारिता की दीक्षा अंगीकार की है, तब से मैं पराधीन हो गई हूँ। अतएव कल रजनी के प्रभातयुक्त होने पर यावत् सूर्य के देदीप्यमान होने पर अलग उपाश्रय ग्रहण, करके रहना ही मेरे लिए श्रेयस्कर होगा।' उसने ऐसा विचार किया। विचार करके दूसरे दिन सूर्य के प्रकाशमान होने पर उसने पृथक् उपाश्रय ग्रहण कर लिया। वहाँ कोई रोकने वाला नहीं रहा, हटकने (निषेध करने) वाला नहीं रहा, अतएव वह स्वच्छंदमति हो गई और वार-वार हाथ-पैर आदि धोने लगी, यावत् जल छिड़क-छिड़क कर बैठने और सोने लगी।

३०—तए णं सा काली अज्जा पासत्था पासत्थविहारी, ओसण्णा ओसण्णविहारी, कुसीला कुसीलविहारी, अहाछंदा, अहाछंदविहारी, संसत्ता संसत्तविहारी, बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणइ, पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ, झूसित्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेएइ, छेदित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा चमरचंचाए रायहाणीए कालवडिंसए भवणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिया अंगुलस्स असंखेज्जाए भागमेत्ताए ओगाहणाए कालीदेवित्ताए उववन्ना।

तत्पश्चात् वह काली आर्या, पासत्था (पार्श्वस्था-ज्ञान दर्शन चारित्र के पास रहने वाली) पासत्थविहारिणी, अवसन्ना, (धर्म-क्रिया में आलसी) अवसन्नविहारिणी, कुशीला, कुशीलविहारिणी, यथाछंदा (मनचाहा व्यवहार करने वाली), यथाछंदविहारिणी संसक्ता (ज्ञानादि की विराधना करने वाली), तथा संसक्तविहारिणी होकर, बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय (साध्वी-अवस्था) का पालन करके, अर्द्धमास (एक पखवाडे) की संलेखना द्वारा आत्मा (अपने शरीर) को क्षीण करके तीस बार के भोजन को अनशन से छेद कर, उस पापकर्म की आलोचना—प्रतिक्रमण किए बिना ही, कालमास में काल करके चमरचंचा राजधानी में, कालावतंसकनामक विमान में, उपपात (देवों के उत्पन्न होने की) सभा में, देवशय्या में, देवदूष्य वस्त्र से अंतरित होकर (देवदूष्य वस्त्र के नीचे) अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना द्वारा, काली देवी के रूप में उत्पन्न हुई।

३१—तए णं सा काली देवी अहुणोववन्ना समाणी पंचविहाए पज्जत्तीए जहा सूरियाभो जाव भासामणपज्जत्तीए।

तत्पश्चात् काली देवी उत्पन्न होकर तत्काल (अन्तर्मुहूर्त्त में) सूर्याभ देवी की तरह यावत् भाषापर्याप्ति और मनः पर्याप्ति आदि पाँच प्रकार की पर्याप्तियों से युक्त हो गई।

३२—तए णं सा काली देवी चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव अण्णेसिं च बहूणं कालवडेंसगभवणवासीणं असुरकुमाराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव विहरइ। एवं खलु गोयमा! कालीए देवीए सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुई दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए।

तत्पश्चात् वह काली देवी चार हजार सामानिक देवों तथा अन्य बहुतेरे कालावतंसक नामक भवन में निवास करने वाले असुरकुमार देवों और देवियों का अधिपतित्व करती हुई यावत् रहने लगी। इस प्रकार हे गौतम ! काली देवी ने वह दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव प्राप्त किया है यावत् उपभोग में आने योग्य बनाया है।

३३—कालीए णं भंते ! देवीए केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! अड्ढाइज्जाइं पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

काली णं भंते ! देवी ताओ देवलोगाओ अणंतरं उववट्टित्ता कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, जाव अंतं काहिइ।

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! काली देवी की कितने कल की स्थिति कही गई है ?'

भगवान्—'हे गौतम ! अढ़ाई पल्योपम की स्थिति कही है।'

गौतम—'भगवन् ! काली देवी उस देवलोक से अनन्तर चय करके (शरीर त्याग) कर कहाँ उत्पन्न होगी ?'

भगवान्—'गौतम ! महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर यावत् सिद्धि प्राप्त करेगी यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेगी।'

३४—एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं पढमवग्गस्स पढमज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ॥१४८॥

श्रीसुधर्मा स्वामी अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते है—हे जम्बू ! यावत् सिद्धि को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ कहा है। वही मैंने तुमसे कहा है।

३५—जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं धम्मकहाणं पढमस्स वग्गस्स पढमज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, विइयस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

जम्बू स्वामी ने अपने गुरुदेव आर्य सुधर्मा से प्रश्न किया—'भगवन् ! यदि यावत् सिद्धि को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने धर्मकथा के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ कहा है तो यावत् सिद्धिप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?'

३६—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णगरे, गुणसीलए चेइए, सामी समोसढे, परिसा णिग्गया जाव पज्जुवासइ।

श्रीसुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में राजगृह नगर था तथा गुणशीलनामक उद्यान था। स्वामी (भगवान् महावीर) पधारे। वन्दन करने के लिए परिषद् निकली यावत् भगवान् की उपासना करने लगी।

३६—तेणं कालेणं तेणं समएणं राई देवी चमरचंचाए रायहाणीए एवं जहा काली तहेव आगया, णट्टविहिं उवदंसेत्ता पड़िगया। 'भंते त्ति' भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता पुव्वभवपुच्छा।

उस काल और उस समय में राजीनामक देवी चमरचंचा राजधानी से काली देवी के समान भगवान् की सेवा में आई और नाटयविधि दिखला कर चली गई। उस समय 'हे भगवन्!' इस प्रकार कह कर गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके राजी देवी के पूर्वभव की पृच्छा की। (तब भगवान् ने आगे कहा जाने वाला वृत्तान्त कहा)।

३८—एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं आमलकप्पा णयरी, अंबसालवणे चेइए, जियसत्तू राया, राई गाहावई, राईसिरी भारिया, राई दारिया, पासस्स समोसरणं, राई दारिया जहेव काली तहेव णिक्खंता, तहेव सरीरबाउसिया, तं चेव सव्वं जाव अंतं काहिइ।

हे गौतम! उस काल और उस समय में आमलकल्पा नगरी थी। आम्रशालवननामक उद्यान था। जितशत्रु राजा था। राजीनामक गाथापति था। उसकी पत्नी का नाम राजीश्री था। राजी उसकी पुत्री थी। किसी समय पार्श्व तीर्थंकर पधारे। काली की भांति राजी दारिका भी भगवान् को वन्दना करने के लिए निकली। वह भी काली की तरह दीक्षित होकर शरीरवकुशा हो गई। शेष समस्त वृत्तान्त काली के समान ही समझना चाहिए, यावत् वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त करेगी।

३९—एवं खलु जंबू! बिइयज्झयणस्स निक्खेवओ।

इस प्रकार हे जम्बू! द्वितीय अध्ययन का निक्षेप जानना चाहिए।'

तइयं अज्झयणं

[तृतीय अध्ययन]

रजनी

४०—जइ णं भंते ! तइयस्स उक्खेवओ [समणेणं भगवया महावीरेणं धम्मकहाणं पढमस्स वग्गस्स विइयज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, तइयस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

तीसरे अध्ययन का उत्क्षेप (उपोद्‌घात) इस प्रकार है—'भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने धर्मकथा के प्रथम वर्ग के द्वितीय अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा है तो, भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने तीसरे अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?

४१—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे, गुणसीलए चेइए, एवं जहेव राई तहेव रयणी वि। णवरं—आमलकप्पा णयरी, रयणी (रयणे) गाहावई, रयणसिरी भारिया, रयणी दारिया, सेसं तहेव जाव अंतं काहिइ।

जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर में श्री सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! राजगृह नगर था, गुणशील चैत्य था। इत्यादि जो वृत्तान्त राजी के विषय में कहा गया है, वही सब रजनी के विषय में भी नाटयविधि दिखलाने आदि का वृत्तान्त कहना चाहिए। विशेषता यह है—आमलकल्पा नगरी में रजनी (रयण-रत्न ?) नामक गाथापति था। उसकी पत्नी का नाम रजनीश्री था। उसकी पुत्री का भी नाम रजनी था। शेष सब वृत्तान्त पूर्ववत् समझ लेना चाहिए, यावत् वह महाविदेह क्षेत्र से मुक्ति प्राप्त करेगी।

चउत्थं अज्झयणं

[चतुर्थ अध्ययन]

विज्जू–विद्युत्

४२—एवं विज्जू वि। आमलकप्पा नयरी। विज्जू गाहावई। विज्जुसिरी भारिया। विज्जू दारिया। सेसं तहेव।

इसी प्रकार विद्युत् देवी का कथानक समझना चाहिए। विशेष यह कि आमलकल्पा नगरी थी। उसमें विद्युत् नामक गाथापति निवास करता था। उसकी पत्नी विद्युत्श्री थी। विद्युत् नामक उसकी पुत्री थी। शेष समग्र कथा पूर्ववत्।

पंचमं अज्झयणं

[पञ्चम अध्ययन]

मेहा—मेघा

४३—एवं मेहा वि। आमलकप्पाए नयरीए मेहे गाहावई, मेहसिरी भारिया, मेहा दारिया, सेसं तहेव।

मेघा देवी का कथानक भी ऐसा ही जान लेना चाहिए। नामों की विशेपता यों है—आमलकल्पा नगरी थी। उसमें मेघनामक गाथापति निवास करता था। मेघश्री उसकी भार्या थी। पुत्री का नाम मेघा का। शेष कथन पूर्ववत्, अर्थात् उसने भी आकर नाटचप्रदर्शन किया। उसके चले जाने के पश्चात् गौतम स्वामी ने उसके विषय में जिज्ञासा की। भगवान् ने उसके पूर्वभव का वृत्तान्त बतलाया और अन्त में कहा कि वह भी सिद्धि प्राप्त करेगी।

बीओ वग्गो-द्वितीय वर्ग

पढमं अज्झयणं

प्रथम अध्ययन

४४—जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं—जाव दोच्चस्स वग्गस्स उक्खेवओ ।

जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया-भगवन् ! यावत् मुक्तिप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने प्रथम वर्ग का यह अर्थ कहा है तो दूसरे वर्ग का क्या अर्थ कहा है ?

४५– एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—(१) सुंभा (२) निसुंभा (३) रंभा (४) निरंभा (५) मदणा ।

श्री सुधर्मा स्वामी उत्तर देते हैं—जम्बू ! श्रमण यावत् मुक्तिप्राप्त भगवान् महावीर ने दूसरे वर्ग के पांच अध्ययन कहे हैं । वे इस प्रकार हैं– (१) शुंभा (२) निशुंभा (३) रंभा (४) निरंभा और (५) मदना ।

४६—जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं धम्मकहाणं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पण्णत्ता, दोच्चस्स णं भंते ! वग्गस्स पढमज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

(प्रश्न) भगवन् ! यदि श्रमण यावत् सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने धर्मकथा के द्वितीय वर्ग के पांच अध्ययन प्रज्ञप्त किए हैं तो द्वितीय वर्ग के प्रथम अध्ययन का क्या अर्थ प्रज्ञप्त किया है ?

४७—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे, गुणसीलए चेइए, सामी समोसढे, परिसा निग्गया जाव पज्जुवासइ ।

(उत्तर) जम्बू : उस काल और उस समय में राजगृह नगर था, गुणशील चैत्य था । भगवान् का पदार्पण हुआ । परिषद् (नगर से) निकली और भगवान् की उपासना करने लगी ।

४८—तेणं कालेणं तेणं समएणं सुंभा देवी बलिचंचाए रायहाणीए सुंभवडेंसए भवने सुंभंसि सीहासणंसि विहरइ । कालीगमएणं जाव नट्टविहिं उवदंसेत्ता पडिगया ।

उस काल और उस समय में (भगवान् जब राजगृह में पधारे तब) शुंभानामक देवी बलिचंचा राजधानी में, शुंभावतंसक भवन में शुंभनामक सिंहासन पर आसीन थी । इत्यादि काली देवी के अध्ययन के अनुसार समग्र वृत्तान्त कहना चाहिए । वह नाटचविधि प्रदर्शित करके वापिस लौट गई ।

४९—पुव्वभवपुच्छा । सावत्थी नयरी, कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया, सुंभे गाहावई, सुंभसिरी भारिया, सुंभा दारिया, सेसं जहा कालीए । णवरं—अद्धुट्ठाइं पलिओवमाइं ठिई ।

एवं खलु निक्खेवओ अज्झयणस्स।

शुंभा देवी जब नाट्यविधि दिखला कर चली गई तो गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव के विषय में पृच्छा की। भगवान् ने उत्तर दिया—श्रावस्ती नगरी थी। कोष्ठकनामक चैत्य था। जितशत्रु राजा था। श्रावस्ती में शुंभ नाम का गाथापति था। शुंभश्री उस की पत्नी थी। शुंभा उनकी पुत्री का नाम था। शेष सर्व वृत्तान्त काली देवी के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है—शुंभा देवी की साढ़े तीन पल्योपम की स्थिति—आयु है।

हे जम्बू ! दूसरे वर्ग के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ है। उसका निक्षेप कह लेना चाहिए।

२-५ अज्झयणाणि
[२-३-४-५ वाँ अध्ययन]

५०—एवं सेसा वि चत्तारि अज्झयणा। सावत्थीए। णवरं—माया पिया सरिसनामया।

शेष चार अध्ययन पूर्वोक्त प्रकार के ही हैं। इसमें नगरी का नाम श्रावस्ती कहना चाहिए और उन-उन देवियों (पूर्वभव की पुत्रियों) के समान उनके माता-पिता के नाम समझ लेने चाहिए। यथा-निशुंभा नामक पुत्री के पिता का नाम निशुंभ और माता का नाम निशुंभश्री। रंभा के पिता का नाम रंभ और माता का नाम रंभश्री। निरंभा के पिता निरंभ गाथापति और माता निरंभश्री। मदना के पिता मदन और माता मदनश्री।

पूर्वभव में इन देवियों के ये नाम थे। इन्हीं नामों से देव भव में भी इनका उल्लेख किया गया है।

तइओ वग्गो—तृतीय वर्ग

पढमं अज्झयणं

प्रथम अध्ययन

५१—उक्खेवओ तइयवग्गस्स ।

एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं तइअस्स वग्गस्स चउप्पण्णं अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा-पढमे अज्झयणे जाव चउप्पण्णइमे अज्झयणे ।

तीसरे वर्ग का उपोद्घात समझ लेना चाहिए, अर्थात् जम्बू स्वामी के प्रश्न से उसकी भूमिका जान लेना चाहिए ।

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर यावत् मुक्तिप्राप्त ने तीसरे वर्ग के चौपन अध्ययन कहे हैं । वे इस प्रकार—प्रथम अध्ययन यावत् चौपनवाँ अध्ययन ।

५२—जइ णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं धम्मकहाणं तइयस्स वग्गस्स चउप्पण्णं अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?

(प्रश्न) भगवन् ! यदि यावत् सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने धर्मकथा के तीसरे वर्ग के चौपन अध्ययन कहे हैं तो भगवन् ! प्रथम अध्ययन का श्रमण यावत् सिद्धिप्राप्त भगवान् ने क्या अर्थ कहा है ?

५३—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे, गुणसीलए चेइए, सामी समोसढे, परिसा णिग्गया जाव पज्जुवासइ ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं इला[1] देवी धरणीए[2] रायहाणीए इलावतंसए[3] भवणे इलंसि[4] सीहासणंसि, एवं कालीगमएणं जाव नट्टविहिं उवदंसेत्ता पडिगया ।

(उत्तर) हे जम्बू ! उस काल और उस समय में राजगृह नगर था । गुणशील चैत्य था । भगवान् पधारे । परिषद निकली और भगवान् की उपासना करने लगी ।

उस काल और उस समय इला देवी धरणीनामक राजधानी में इलावतंसक भवन में, इला नामक सिंहासन पर आसीन थी । (उसने अवधिज्ञान से भगवान् का पदार्पण जाना, भगवान् की सेवा में उपस्थित हुई और) काली देवी के समान वह भी यावत् नाट्यविधि दिखलाकर लौट गई ।

५४—पुव्वभवपुच्छा ।

वाराणसीए णयरीए काममहावणे चेइए, इले गाहावई, इलसिरी भारिया, इला दारिया,

---

१. पाठान्तर –'अला' । २. पाठान्तर—'धरणाए' । ३. पाठान्तर—अलाव० । ४. पाठान्तर—'अलंसि' ।

सेसं जहा कालीए। णवरं—धरणस्स अग्गमहिसित्ताए उववाओ, सातिरेगं अद्धपलिओवमं ठिई। सेसं तहेव।

इला देवी के चले जाने पर गौतम स्वामी ने उसका पूर्वभव पूछा।

भगवान् ने उत्तर दिया—वाराणसी नगरी थी। उसमें काममहावननामक चैत्य था। इल गाथापति था। उसकी इलश्री पत्नी थी। इला पुत्री थी। शेष वृत्तान्त काली देवी के समान। विशेष यह कि इला आर्या शरीर त्याग कर धरणेन्द्र की अग्रमहिषी के रूप में उत्पन्न हुई। उसकी आयु अर्द्ध पल्योपम से कुछ अधिक है। शेष वृत्तान्त पूर्ववत्।

५५—एवं खलु·······निक्खेवओ पढमज्झयणस्स।

यहाँ प्रथम अध्ययन का निक्षेप-उपसंहार कह लेना चाहिए।

२-६ अज्झयणाणि
(२-६ अध्ययन)

५६—एवं कमा सतेरा, सोयामणी, इंदा, घणा, विज्जुया वि; सव्वाओ एयाओ धरणस्स अग्गमहिसीओ।

इसी क्रम से (१) सतेरा, (२) सौदामिनी (३) इन्द्रा (४) घना और (५) विद्युता, इन पाँच देवियों के पांच अध्ययन समझ लेने चाहिए। ये सब धरणेन्द्र की अग्रमहिषियां हैं।

विवेचन—किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में कमा (क्रमा) को पृथक् नाम माना गया है और 'घणा विज्जुया' इन दो के स्थानों पर 'घनविद्युता' एक नाम मान कर पाँच की पूर्ति की गई है। एक प्रति में 'कमा' पृथक् और 'घणा' तथा 'विज्जुआ' को भी पृथक् स्वीकार किया है, किन्तु ऐसा मानने पर एक नाम अधिक हो जाता है, जो समीचीन नहीं है।

७-१२ अज्झयणाणि
(७-१२ अध्ययन)

५७—एवं छ अज्झयणा वेणुदेवस्स वि अविसेसिया भाणियव्वा।

इसी प्रकार छह अध्ययन, बिना किसी विशेषता के वेणुदेव के भी कह लेने चाहिए।

१३-५४ अज्झयणाणि
(१३-५४ अध्ययन)

५८—एवं जाव [हरिस्स अग्गिसिहस्स पुण्णस्स जलकंतस्स अमियगतिस्स वेलंबस्स] घोसस्स वि एए चेव छ-छ अज्झयणा।

इसी प्रकार [हरि, अग्निशिख, पूर्ण, जलकान्त, अमितगति वेलम्ब और] घोष इन्द्र की पटरानियों के भी यही छह-छह अध्ययन कह लेने चाहिए।

५९—एवमेते दाहिणिल्लाणं इंदाणं चउप्पण्णं अज्झयणा भवंति। सव्वाओ वि वाणारसीए महाकामवणे चेइए।

तइयवग्गस्स निक्खेवओ।

इस प्रकार दक्षिण दिशा के इन्द्रों के चौपन अध्ययन होते हैं। ये सब वाणारसी नगरी के महाकामवननामक चैत्य में कहने चाहिए।

यहां तीसरे वर्ग का निक्षेप भी कह लेना चाहिए, अर्थात् भगवान् ने तीसरे वर्ग का यह अर्थ कहा है।

—

चउत्थो वग्गो–चतुर्थ वर्ग

पढमं अज्झयणं

प्रथम अध्ययन

रूपा

६०—चउत्थस्स उक्खेवओ।

एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं धम्मकहाणं चउत्थस्स वग्गस्स चउप्पण्णं अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा-पढमे अज्यणे जाव चउप्पण्णइमे अज्झयणे।

प्रारम्भ में चौथे वर्ग का उपोद्घात कह लेना चाहिए, अर्थात् जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने यदि तीसरे वर्ग का यह पूर्वोक्त अर्थ कहा है तो चौथे वर्ग का श्रमण भगवान् ने क्या अर्थ कहा है ?

इस प्रश्न का उत्तर सुधर्मा स्वामी देते हैं—जम्बू ! यावत् सिद्धिप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने धर्मकथा के चौथे वर्ग के चौपन अध्ययन कहे हैं। वे इस प्रकार हैं प्रथम अध्ययन यावत् चौपनवां अध्ययन।

६१—पढमस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासइ।

यहाँ प्रथम अध्ययन का उपोद्घात कह लेना चाहिए।

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में राजगृह नगर (गुणशील चैत्य) में भगवान् पधारे। नगर से परिषद् निकली यावत् भगवान् की पर्युपासना करने लगी।

६२—तेणं कालेणं तेणं समएणं रूया देवी, रूयाणंदा[1] रायहाणी, रूयगवडिंसए भवणे, रूयगंसि सीहासणंसि, जहा कालीए तहा; नवरं पुव्वभवे चंपाए पुण्णभद्दे चेइए; रूयगगाहावई, रूयगसिरी भारिया, रूया दारिया, सेसं तहेव। णवरं भूयाणंद-अग्गमहिसित्ताए उववाओ, देसूणं पलिओवमं ठिई।

निक्खेवओ।

उस काल और उस में रूपा देवी, रूपानन्दा राजधानी में, रूपकावतंसक भवन में, रूपक नामक सिंहासन पर आसीन थी। इत्यादि वृत्तान्त काली देवी के समान समझना चाहिए। विशेषता इतनी है—पूर्वभव में चम्पा नगरी थी, पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ चम्पा नगरी में रूपक नामक गाथापति था। रूपकश्री उसकी भार्या थी। रूपा उसकी पुत्री थी। शेष सब वृत्तान्त पूर्ववत् है। विशेषता यह कि

---

१. पाठान्तर—'भूयाणंदा'—राजधानी का नाम 'भूतानन्दा' था।

रूपा भूतानन्दनामक इन्द्र की अग्रमहिषी के रूप में जन्मी। उसकी स्थिति कुछ कम एक पल्योपम की है।

यहाँ चौथे वर्ग के प्रथम अध्ययन का निक्षेप समझ लेना चाहिए, अर्थात् यह कहना चाहिए कि श्रमण भगवान् महावीर यावत् सिद्धिप्राप्त ने चतुर्थ वर्ग के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ कहा है।

२-६ अध्ययन

६३—एवं सुरूया वि, रूयंसा वि, रूयगावई वि, रूयकंता वि रूयप्पभा वि।

इसी प्रकार सुरूपा भी, रूपांशा थी, रूपवती भी, रूपकान्ता भी और रूपप्रभा के विषय में भी समझ लेना चाहिए, अर्थात् इन पाँच देवियों के पाँच अध्ययन भी ऐसे ही जानने चाहिए।

७-५४ अध्ययन

६४—एयाओ चेव उत्तरिल्लाणं इंदाणं भाणियव्वाओ जाव (वेणुदालिस्स हरिस्सहस्स अग्गिमावणस्स विसिट्ठस्स, जलप्पभस्स अमितवाहणस्स पभंजणस्स) महाघोसस्स।

निक्खेवओ चउत्थवग्गस्स।

इसी प्रकार उत्तर दिशा के इन्द्रों की छह-छह पटरानियों के छह-छह अध्ययन कह लेना चाहिए, अर्थात् वेणुदाली, हरिस्सह अग्निमाणवक, विशिष्ट, जलप्रभ, अमितवाहन, प्रभंजन तथा महाघोष की पटरानियों के छह-छह अध्ययन होते हैं। सब मिलकर चौपन अध्ययन हो जाते हैं।

यहाँ चौथे वर्ग का निक्षेप-उपसंहार पूर्ववत् कह लेना चाहिए।

पंचमो वग्गो-पंचम वर्ग

प्रथम अध्ययन

कमला

६५—पंचमवग्गस्स उक्खेवओ।

एवं खलु जंबू ! जाव बत्तीसं अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—

कमला कमलप्पभा चेव, उप्पला य सुदंसणा।
रूववई बहुरूवा, सुरूवा सुभगा वि य ॥ १ ॥
पुण्णा बहुपुत्तिया चेव, उत्तमा भारिया वि य।
पउमा वसुमती चेव, कणगा कणगप्पभा ॥ २ ॥
वडेंसा केउमई चेव, वइरसेणा रइप्पिया।
रोहिणी नवमिया चेव, हिरी पुप्फवती ति य ॥ ३ ॥
भुयगा भुयगवई चेव, महाकच्छाऽपराइया।
सुघोसा विमला चेव, सुस्सरा य सरस्सई ॥ ४ ॥

पंचम वर्ग का उपोद्घात पूर्ववत् कहना चाहिए।

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—जम्बू ! पांचवें वर्ग में बत्तीस अध्ययन हैं। उनके नाम ये हैं—(१) कमला देवी (२) कमलप्रभा देवी (३) उत्पला (४) सुदर्शना (५) रूपवती (६) बहुरूपा (७) सुरूपा (८) सुभगा (९) पूर्णा (१०) बहुपुत्रिका (११) उत्तमा (१२) भारिका (१३) पद्मा (१४) वसुमती (१५) कनका (१६) कनकप्रभा (१७) अवतंसा (१८) केतुमती (१९) वज्रसेना (२०) रतिप्रिया (२१) रोहिणी (२२) नवमिका (२३) ह्री (२४) पुष्पवती (२५) भुजगा (२६) भुजगवती (२७) महाकच्छा (२८) अपराजिता (२९) सुघोषा (३०) विमला (३१) सुस्वरा (३२) सरस्वती।

इन बत्तीस देवियों के वर्णन से सम्बद्ध बत्तीस अध्ययन पंचम वर्ग में जानने चाहिए।

प्रथम अध्ययन

६६—उक्खेवओ पढमज्झयणस्स।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासइ।

प्रथम अध्ययन का उपोद्घात कहना चाहिए, यथा जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने पांचवें वर्ग के प्रथम अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ?

तब सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—जम्बू ! उस काल और उस समय राजगृह नगर था। भगवान् महावीर वहाँ पधारे। यावत् परिषद् निकलकर भगवान् की पर्युपासना करने लगी।

६७—तेणं कालेणं तेणं समएणं कमला देवी कमलाए रायहाणीए कमलवडेंसए भवणे कमलंसि सीहासणंसि, सेसं जहा कालीए तहेव। नवरं—पुव्वभवे नागपुरे नयरे सहसंबवणे उज्जाणे, कमलस्स गाहावइस्स कमससिरीए भारियाए कमला दारिया पासस्स अरहओ अंतिए निक्खंता, कालस्स पिसायकुमारिंदस्स अग्गमहिसी, अद्धपलिओवमं ठिई।

उस काल और उस समय कमला देवी कमलानामक राजधानी में, कमलावतंसक भवन में, कमलनामक सिंहासन पर आसीन थी। आगे की शेष समस्त घटना काली देवी के अध्ययन के अनुसार ही जानना चाहिए। काली देवी से विशेषता मात्र यह है—पूर्वभव में कमला देवी नागपुर नगर में थी। वहाँ सहस्राम्रवननामक चैत्य था। कमल गाथापति था। कमलश्री उसकी पत्नी थी और कमला पुत्री थी। कमला अरहन्त पार्श्व के निकट दीक्षित हो गई। शेष वृत्तान्त पूर्ववत् जान लेना चाहिए यावत् वह कालनामक पिशाचेन्द्र की अग्रमहिषी के रूप में जन्मी। उसकी आयु वहां अर्ध पल्योपम की है।

शेष अध्ययन

६८—एवं सेसा वि अज्झयणा दाहिणिल्लाणं वाणमंतरिंदाणं भाणियव्वाओ। सव्वाओ नागपुरे सहसंबवणे उज्जाणे, माया-पिया धूया सरिसनामया, ठिई अद्धपलिओवमं।

इसी प्रकार शेष एकत्तीस अध्ययन दक्षिण दिशा के वाणव्यन्तर इन्द्रों के कह लेने चाहिए। कमलप्रभा आदि ३१ कन्याओं ने पूर्वभव में नागपुर में जन्म लिया था। वहाँ सहस्राम्रवन उद्यान था। सब के माता-पिता के नाम कन्याओं के नाम के समान ही हैं। देवीभव में स्थिति सब की आधे-आधे पल्योपम की कहनी चाहिए।

छट्ठो वग्गो—षष्ठ वर्ग

१-३२ अध्ययन

६६—छट्ठो वि वग्गो पंचमवग्गसरिसो। णवरं महाकालिंदाणं उत्तरिल्लाणं इंदाणं अग्गमहिसीओ।

पुव्वभवे सागेयनयरे, उत्तरकुरु-उज्जाणे, माया-पिया धूया सरिसणामया। सेसं तं चेव।

छठा वर्ग भी पाँचवें वर्ग के समान है। विशेषता इतनी ही है कि ये सब कुमारियां महाकाल इन्द्र आदि उत्तर दिशा के आठ इन्द्रों की बत्तीस अग्रमहिषियाँ हुई।

पूर्वभव में सब साकेतनगर में उत्पन्न हुईं। उत्तरकुरुनामक उद्यान उस नगर में था। इन कुमारियों के नाम के समान ही उनके माता-पिता के नाम थे। शेष सब पूर्ववत्।

—

सत्तमो वग्गो–सप्तम वर्ग

१-४ अध्ययन

७०—सत्तमस्स उक्खेवओ ।

एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारि अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—सूरप्पभा, आयवा, अच्चिमाली, पभंकरा ।

सातवें वर्ग का उत्क्षेप कहना चाहिए—जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने छठे वर्ग का यह अर्थ कहा तो सातवें वर्ग का क्या अर्थ कहा है ?

उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा—हे जम्बू ! भगवान् महावीर ने सप्तम वर्ग के चार अध्ययन प्रज्ञप्त किए हैं । उनके नाम ये हैं—(१) सूर्यप्रभा (२) आतपा (३) अर्चिमाली और (४) प्रभंकरा ।

७१—पढमज्झयणस्स उक्खेवओ ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासइ ।

यहाँ प्रथम अध्ययन का उपोद्घात कहना चाहिए ।

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—जम्बू ! उस काल और उस समय राजगृह में भगवान् पधारे यावत् परिषद् उनकी उपासना करने लगी ।

७२—तेणं कालेणं तेणं समएणं सूरप्पभा देवी सूरंसि विमाणंसि सूरप्पभंसि सीहासणंसि, सेसं जहा कालीए तहा, णवरं पुव्वभवो अरक्खुरीए नयरीए सूरप्पभस्स गाहावइस्स सूरसिरीए भारियाए सूरप्पभा दारिया । सूरस्स अग्गमहिसी, ठिई अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अब्भहियं । सेसं जहा कालीए । एवं सेसाओ वि सव्वाओ अरक्खुरीए नयरीए ।

सत्तमो वग्गो समत्तो

उस काल और उस समय सूर्य (सूर) प्रभादेवी सूर्य विमान में सूर्यप्रभ सिंहासन पर आसीन थी । शेष समग्र कथानक कालीदेवी के समान । विशेष बात इतनी कि—पूर्वभव में अरक्खुरी नगरी में सूर्याभ गाथापति की सूर्यश्री भार्या थी । उनकी सूर्यप्रभा नामक पुत्री थी । अन्त में मरण के पश्चात् वह सूर्यनामक ज्योतिष्क-इन्द्र की अग्रमहिषी हुई । उसकी स्थिति वहाँ पाँच सौ वर्ष अधिक आधे पल्योपम की है । शेष सर्व वृत्तान्त कालीदेवी के समान जानना चाहिए ।

इसी प्रकार शेष सब—तीनों देवियों का वृत्तान्त जानना चाहिए । वे भी (पूर्वभव में) अरक्खुरी नगरी में उत्पन्न हुई थीं ।

।। सातवां वर्ग समाप्त ।।

अट्ठमो वग्गो—अष्टम वर्ग

१-४ अध्ययन

७३—अट्ठमस्स उक्खेवओ।

एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारि अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—(१) चंदप्पहा (२) दोसिणाभा (३) अच्चिमाली (४) पभंकरा।

आठवें वर्ग का उपोद्घात कह लेना चाहिए, अर्थात् जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया कि श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें वर्ग का यह अर्थ प्ररूपित किया है तो आठवें वर्ग का क्या अर्थ कहा है ?

सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—जम्बू ! श्रमण भगवान् ने आठवें वर्ग के चार अध्ययन प्ररूपित किए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) चन्द्रप्रभा (२) दोसिणाभा [ज्योत्स्नाभा] (३) अर्चिमाली (४) प्रभंकरा।

७४—पढमज्झयणस्स उक्खेवओ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं, जाव परिसा पज्जुवासइ।

प्रथम अध्ययन का उपोद्घात पूर्ववत् कह लेना चाहिए। सुधर्मा स्वामी ने कहा—जम्बू ! उस काल और उस समय में भगवान् राजगृह नगर में पधारे यावत् परिषद् उनकी पर्युपास्ति करने लगी।

७५—तेणं कालेणं तेणं समएणं चंदप्पमा देवी चंदप्पभंसि विमाणंसि चंदप्पभंसि सीहासणंसि, सेसं जहा कालीए। णवरं पुव्वभवे महुराए णयरीए चंदवडेंसए उज्जाणे, चंदप्पभे गाहावई, चंदसिरी भारिया, चंदप्पभा दारिया, चंदस्स अग्गमहिसी, ठिई अद्धपलिओवमं पण्णासाए वाससाहस्सेहिं अब्भहियं।

एवं सेसाओ वि महुराए णयरीए. माया-पियरो वि धूया-सरिसणामा।

अट्ठमो वग्गो समत्तो।

उस काल और उस समय में चन्द्रप्रभा देवी, चन्द्रप्रभ विमान में, चन्द्रप्रभ सिंहासन पर आसीन थी। शेष वर्णन कालीदेवी के समान ही है। विशेषता यह—पूर्वभव में वह मथुरा नगरी की निवासिनी थी। वहाँ चन्द्रावतंसक उद्यान था। वहाँ चन्द्रप्रभ गाथापति रहता था। चन्द्रश्री उसकी पत्नी थी। चन्द्रप्रभा उन की पुत्री थी। वह (अगले भव में) चन्द्रनामक ज्योतिष्क इन्द्र की अग्र-महिषी हुई। उसकी आयु पचास हजार वर्ष अधिक अर्ध पल्योपम की है। शेष सब काली देवी के समान।

॥ आठवाँ वर्ग समाप्त ॥

नवमो वग्गो—नौवाँ वर्ग

१-८ अध्ययन

७६—नवमस्स उक्खेवओ।

एवं खलु जंबू! जाव अट्ठ अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—(१) पउमा (२) सिवा (३) सती (४) अंजू (५) रोहिणी (६) णवमिया (७) अचला (८) अच्छरा।

नौवें वर्ग का उपोद्घात। सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू! यावत् श्रमण भगवान् महावीर ने नौवें वर्ग के आठ अध्ययन कहे हैं। वे इस प्रकार हैं— (१) पद्मा (२) शिवा (३) सती (४) अंजू (५) रोहिणी (६) नवमिका (७) अचला और (८) अप्सरा।

७७—पढमज्झयणस्स उक्खेवओ।

एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं। जाव परिसा पज्जुवासइ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं पउमावई देवी सोहम्मे कप्पे पउमवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए, पउमंसि सीहासणंसि, जहा कालीए।

एवं अट्ठ वि अज्झयणा काली-गमएणं नायव्वा। नवरं-सावत्थीए दो जणीओ, हत्थिणाउरे दो जणीओ, कंपिल्लपुरे दो जणीओ, सागेयनयरे दो जणीओ, पउमे पियरो, विजया मायराओ। सव्वाओ वि पासस्स अंतिए पव्वइयाओ, सक्कस्स अग्गमहिसीओ, ठिई सत्त पलिओवमाइं, महाविदेहे वासे अंतं काहिंति। णवमो वग्गो समत्तो।

प्रथम अध्ययन का उत्क्षेप कह लेना चाहिए।

सुधर्मा स्वामी ने कहा—जम्बू! उस काल और उस समय स्वामी-भगवान् महावीर राजगृह में पधारे। यावत् जनमूह उनकी पर्युपासना करने लगा।

उस काल और उस समय पद्मावती देवी, सौधर्म कल्प में, पद्मावतंसक विमान में, सुधर्मा सभा में, पद्मनामक सिंहासन पर आसीन थी। शेष वृत्तान्त काली देवी के समान जानना चाहिए।

कालीदेवी के गम के अनुसार आठों अध्ययन इसी प्रकार समझ लेने चाहिए। काली-अध्ययन से जो विशेषता है वह इस प्रकार है—पूर्वभव में दो जनी श्रावस्ती में, दो जनी हस्तिनापुर में, दो जनी काम्पिल्यपुर में और दो जनी साकेतनगर में उत्पन्न हुई थीं। सब के पिता का नाम पद्म और माता का नाम विजया था। सभी पार्श्व अरहंत के निकट दीक्षित हुई थीं। सभी शक्रेन्द्र की अग्रमहिषियां हुई। उनकी स्थिति सात पल्योपम की है। सभी यावत् महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर (संयम का पालन करके) यावत् समस्त दुःखों का अन्त करेंगी – मुक्ति प्राप्त करेंगी।

॥ नौवाँ वर्ग समाप्त ॥

दसमो वग्गो-दसवाँ वर्ग

१—८ अध्ययन

७८—दसमस्स उक्खेवओ।

एवं खलु जंबू ! जाव अट्ठ अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—

कण्हा य कण्हराई, रामा तह रामरक्खिया वसु या।
वसुगुत्ता वसुमित्ता, वसुंधरा चेव ईसाणे॥ १॥

दसवें वर्ग का उपोद्घात। सुधर्मा स्वामी का उत्तर—जम्बू ! यावत् सिद्धिप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने दसवें वर्ग के आठ अध्ययन प्ररूपित किए हैं। वे इस प्रकार—(१) कृष्णा (२) कृष्णराजि (३) रामा (४) रामरक्षिता (५) वसु (६) वसुगुप्ता (७) वसुमित्रा और (७) वसुन्धरा। ये आठ ईशानेन्द्र की आठ अग्रमहिषियां हैं।

७९—पढमज्झयणस्स उक्खेवओ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं, जाव परिसा पज्जुवासइ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं कण्हा देवी ईसाणे कप्पे कण्हवडेंसए विमाणे, सभाए सुहम्माए, कण्हंसि सीहासणंसि, सेसं जहा कालीए।

एवं अट्ठ वि अज्झयणा कालीगमएणं णेयव्वा। णवरं—पुव्वभवे वाणारसीए णयरीए दो जणीओ, रायगिहे णयरे दो जणीओ, सावत्थीए णयरीए दो जणीओ, कोसंबीए नयरीए दो जणीओ। रामे पिया, धम्मा माया। सव्वाओ वि पासस्स अरहओ अंतिए पव्वइयाओ। पुप्फचूलाए अज्जाए सिस्सिणीयत्ताए, ईसाणस्स अग्गमहिसीओ, ठिई णव पलिओवमाइं, महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति, बुज्झिहिंति, मुच्चिहिंति, सव्वदुक्खाणं अंतं काहिंति।

एवं खलु जंबू ! निक्खेवओ दसमवग्गस्स।

दसमो वग्गो समत्तो।

प्रथम अध्ययन का उपोद्घात कहना चाहिए, अर्थात् जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया कि—भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने नौवें वर्ग का यह पूर्वोक्त अर्थ कहा है तो भगवान् ने दसवें वर्ग का क्या अर्थ कहा है ?

इस प्रश्न के उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा—जम्बू ! उस काल और उस समय में स्वामी राजगृह नगर में पधारे, यावत् परिषद् ने उपासना की।

उस काल और उस समय कृष्णा देवी, ईशान कल्प (देवलोक) में, कृष्णावतंसक विमान में, सुधर्मा सभा में, कृष्ण सिंहासन पर आसीन थी। शेष वृत्तान्त काली देवी के समान है, अर्थात् कृष्णा देवी भगवान् का राजगृह में पदार्पण जानकर सेवा में उपस्थित हुई। काली देवी के समान

नाट्यविधि का प्रदर्शन किया और वन्दन तथा नमस्कार करके चली गई। तब गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव की पृच्छा की। भगवान् ने उस के पूर्वभव का वृत्तान्त कहा, इत्यादि।

आठों अध्ययन काली-अध्ययन सदृश ही समझ लेने चाहिए। इनमें जो विशेष बात है, वह इस प्रकार है—पूर्वभव में, इन आठ में से दो जनी बनारस नगरी में, दो जनी राजगृह में, दो जनी श्रावस्ती में और दो जनी कौशाम्बी में उत्पन्न हुई थीं। सब के पिता का नाम राम और माता का नाम धर्मा था। सभी पार्श्व तीर्थंकर के निकट दीक्षित हुई थीं। वे पुष्पचूलानामक आर्या की शिष्या हुईं। वर्त्तमान भव में ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियाँ हैं। सब की आयु नौ पल्योपम की कही गई है। सब महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होंगी और सब दुःखों का अन्त करेंगी।

यहां दसवें वर्ग का निक्षेप-उपसंहार कहना चाहिए, अर्थात् यों कह लेना चाहिए कि यावत् सिद्धिप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने दसवें वर्ग का यह अर्थ कहा है।

॥ दसवां वर्ग समाप्त ॥

अन्तिम उपसंहार

८०—एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं सयंसंबुद्धेणं पुरिसुत्तमेणं जाव संपत्तेणं धम्मकहाणं अयमट्ठे पण्णत्ते।

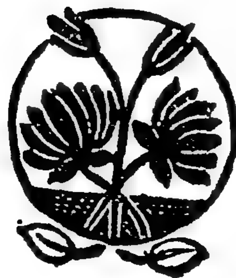
धम्मकहासुयक्खंधो समत्तो दसहिं वग्गेहिं।

णायाधम्मकहाओ समत्ताओ।

हे जम्बू ! अपने युग में धर्म की आदि करने वाले, तीर्थ के संस्थापक, स्वयं बोध प्राप्त करने वाले, पुरुषोत्तम यावत् सिद्धि को प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने धर्मकथा नामक द्वितीय श्रुतस्कंध का यह अर्थ कहा है।

धर्मकथानामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध दस वर्गों में समाप्त।

॥ ज्ञाताधर्मकथा समाप्त ॥



परिशिष्ट

- ☐ उवणय-गाहाओ
- ☐ व्यक्ति-नाम-सूची
- ☐ स्थल-विशेष-सूची

—ज्ञाताधर्मकथांग

उवणय-गाहाओ

टीकाकार द्वारा प्रत्येक अध्ययन के अन्त में विभिन्नसंख्यक गाथाएं उद्धृत की गई हैं, जिन्हें उपनय-गाथाओं के नाम से अभिहित किया गया है। ये गाथाएँ मूल सूत्र का अंश नहीं हैं, किसी स्थविर आचार्य द्वारा रचित हैं। अध्ययन के मूल भाव को स्पष्ट करने वाली होने से उन्हें परिशिष्ट के रूप में यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

प्रथम अध्ययन

१—महुरेहिं णिउणेहिं वयणेहिं चोययंति आयरिया।
सीसे कहिंचि खलिए, जह मेहमुणि महावीरो॥

किसी प्रसंग पर शिष्य संयम से स्खलित हो जाय तो आचार्य उसे मधुर तथा निपुण वचनों से संयम में स्थिरता के लिए प्रेरित करते हैं। जैसे भगवान् महावीर ने मेघ मुनि को स्थिर किया।

द्वितीय अध्ययन

२—सिवसाहणेसु आहार-विरहिओ जं न वट्टए देहो।
तम्हा धण्णोव्व विजयं साहू तं तेण पोसेज्जा॥

मोक्ष के साधनों में आहार के विना यह देह समर्थ नहीं हो सकता, अतएव साधु आहार से शरीर का उसी प्रकार पोषण करे जैसे धन्य सार्थवाह ने विजय चोर का (लेशमात्र अनुराग न होने पर भी) पोषण किया।

तृतीय अध्ययन

१—जिणवर-भासिय-भावेसु, भावसच्चेसु भावओ मइमं।
नो कुज्जा संदेहं, संदेहोऽणत्थहेउ त्ति॥

२—णिस्संदेहत्तं पुण गुणहेउं जं तओ तयं कज्जं।
एत्थं दो सेट्ठिसुया, अंडयगाही उदाहरणं॥

३—कत्थइ मइदुब्बल्लेणं, तव्विहायरियविरहओ वा वि।
नेयगहणत्तणेणं, नाणावरणोदएणं य॥

४—हेऊदाहरणासंभवे य, सइ सुट्ठु जं न बुज्झिज्जा।
सव्वण्णुमयमवितहं, तहावि इइ चिंतए मइमं॥

५—अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा।
जिय-राग-दोस-मोहा, य णन्नहावाइणो तेणं॥

१—सन्देह अनर्थ का कारण है, अतः बुद्धिमान् पुरुष वीतराग जिनेश्वर द्वारा भाषित भावसत्य विषयों—भावों में सन्देह न करे।

२—निस्सन्देहता—आप्तवचनों पर श्रद्धा, करने योग्य है। इस विषय में मयूरी के अंडे ग्रहण करने वाले दो श्रेष्ठिपुत्र (जिनदत्तपुत्र और सागरदत्तपुत्र) उदाहरण हैं।

३-४—बुद्धि की दुर्बलता, तज्ज्ञ आचार्य का संयोग न मिलना, ज्ञेय विषय की अतिगहनता, ज्ञानावरणीय कर्म का उदय अथवा हेतु एवं उदाहरण का अभाव होने से कोई तत्त्व ठीक तरह से समझ में न आए, तो भी सर्वज्ञ का मत (सिद्धान्त) अवितथ (असत्य नहीं) है, विवेकी पुरुष को ऐसा विचार करना चाहिए। तथा—

५—जिनेश्वर देव दूसरों से अनुपकृत होकर भी परोपकारपरायण, राग, द्वेष और मोह-अज्ञान से अतीत हैं, अतः अन्यथावादी हो ही नहीं सकते।

चतुर्थ अध्ययन

१—विसएसु इंदियाइं, संभंता राग-दोस-निम्मुक्का।
पावंति निव्वुइसुहं, कुम्मुव्व मयंगदहसोक्खं॥

२—अवरे उ अणत्थपरंपराउ पावंति पावकम्मवसा।
संसार-सागरगया गोमाउग्गसिय-कुम्मो व्व॥

विषयों से इन्द्रियों को रोकते हुए अर्थात् इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति न रखने वाले, राग-द्वेष से रहित साधक मुक्ति का सुख प्राप्त करते हैं, जैसे कूर्म (कच्छप) ने मृतगंगातीर ह्रद में पहुँच कर सुख प्राप्त किया। इसके विपरीत, पापकर्म के वशीभूत प्राणी, संसार-सागर में गोते खाते हुए, शृगालों द्वारा ग्रस्त कूर्म की तरह अनेक अनर्थ-परम्पराओं को प्राप्त करते हैं।

पंचम अध्ययन

१—सिढिलियसंजमकज्जा वि होइउं उज्जमंति जइ पच्छा।
संवेगाओ तो सेलउव्व आराहया होंति॥

संयम-आराधना में शिथिल हो जाने पर भी यदि कोई साधक बाद में संवेग उत्पन्न हो जाने से संयम में उद्यत हो जाते हैं तो वे शैलक राजर्षि के समान आराधक होते हैं।

षष्ठ अध्ययन

१—जह मिउलेवालित्तं गरुयं तुंबं अहो वयइ एवं।
आसव-कय-कम्मगुरू, जीवा वच्चंति अहरगइं॥

२—तं चेव तव्विमुक्कं जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का लोयग्गपइट्ठिया होंति॥

१—जैसे मिट्टी के लेप से भारी होकर तूम्वा जल के तल में चला जाता है, इसी प्रकार आस्रव द्वारा उपार्जित कर्मों से भारी हो कर जीव अधोगति में जाता है।

२—जैसे वही तूम्बा मिट्टी के लेप से विमुक्त होने पर, लघु होकर, जल के ऊपर स्थित होता है, वैसे ही कर्म से विमुक्त जीव लोक के अग्र-ऊपरी भाग में प्रतिष्ठित-विराजमान हो जाते हैं।

सप्तम अध्ययन

१—जह सेट्ठी तह गुरुणो, जह णाइजणो तहा समणसंघो।
जह वहुया तह भव्वा, जह सालिकणा तह वयाइं॥

२—जह सा उज्भियणामा, उज्भियसाली जहत्थमभिहाणा।
पेसण-गारित्तेणं, असंखदुक्खक्खणी जाया॥

३—तह भव्वो जो कोई, संघसमक्खं गुरुविदिण्णाइं।
पडिवज्जिउं समुज्भइ, महव्वयाइं महामोहा॥

४—सो इह चेव भवम्मि, जणाण धिक्कारभायणं होइ।
परलोए उ दुहत्तो, नाणाजोणीसु संचरइ॥

५—जह वा सा भोगवती, जहत्थनामोवभुत्तसालिकणा।
पेसणविसेसकारित्तणेण पत्ता दुहं चेव॥

६—तह जो महव्वयाइं उवभंजुइ जीवियत्ति पालितो।
आहाराइसु सत्तो, चत्तो सिवसाहणिच्छाए॥

७—सो इत्थ जहिच्छाए, पावइ आहारमाइ लिंगित्ति।
विउसाण नाइपुज्जो परलोयम्मि दुही चेव॥

८—जह वा रक्खिय वहुया, रक्खियसालीकणा जहत्थक्खा।
परिजणमण्णा जाया, भोगसुहाइं च संपत्ता॥

९—तह जो जीवो सम्मं पडिवज्जिज्जा महव्वए पंच।
पालेइ निरइयारे, पमायलेसंपि वज्जेंतो॥

१०—सो अप्पहिएक्करई, इहलोयंमि वि विऊहिं पणयपओ।
एगंतसुही जायइ, परम्मि मोक्खं पि पावेइ॥

११—जह रोहिणी उ सुण्हा, रोवियसाली जहत्थमभिहाणा।
वड्ढित्ता सालिकणे पत्ता सव्वस्स सामित्तं॥

१२—तह जो भव्वो पाविय वयाइं पालेइ अप्पणा सम्मं।
अन्नेसिं पि भव्वाणं देइ अणेगेसिं हियहेउं॥

१३—सो इह संघपहाणो, जुगप्पहाणेत्ति लहइ संसद्दं।
अप्प-परेसिं कल्लाणकारओ गोयमपहुव्व॥

१४—तित्थस्स वुड्ढिकारी, अक्खेवणओ कुतित्थियाईणं।
विउसनर-सेविय-कमो, कमेण सिद्धि पि पावेइ॥

१—श्रेष्ठी (धन्य सार्थवाह) के स्थान पर गुरु, ज्ञातिजनों के स्थान पर श्रमणसंघ, वहुओं के स्थान पर भव्य प्राणी और शालिकणों के स्थान पर महाव्रत समझने चाहिए।

२—जैसे उज्झिता बहू यथार्थ नाम वाली थी और शालि के दानों को फेंक देने के कारण दास्य-कर्म करने से असंख्य दुःखों को प्राप्त हुई।

३—वैसे ही जो भव्य जीव गुरु द्वारा प्रदत्त महाव्रतों को संघ के समक्ष स्वीकार करके, महामोह के वशीभूत होकर त्याग देता है—

४—वह इस भव में जनता के तिरस्कार का पात्र होता है और परलोक में भी दुःख से पीडित होकर अनेक योनियों में भ्रमण करता है।

५—जैसे यथार्थ नाम वाली भोगवती वहू शालिकणों को खा गई, वह भी विशेष प्रकार के दासी-कर्म करने के कारण दुःख को ही प्राप्त हुई।

६—वैसे ही जो महाव्रतों को जीविका का साधन मान कर पालता एवं उनका उसी प्रकार से उपयोग करता है, आहारादि में आसक्त होता है और ये महाव्रत मुक्ति के साधन हैं, इस भावना से रहित होता है—

७—वह केवल साधुलिंगधारी यथेष्ट आहारादि प्राप्त करता है. पर विद्वानों का पूजनीय नहीं होता। परलोक में भी दुःखी होता है।

८—जिस प्रकार यथार्थ नामवाली वहू रक्षिता ने शालिकणों की रक्षा की और पारिवारिक जनों में मान्य हुई। उसने भोग-सुखों को भी प्राप्त किया।

९—उसी प्रकार जो जीव महाव्रतों को स्वीकार करके लेश मात्र भी प्रमाद नहीं करता हुआ उनका निरतिचार पालन करता है—

१०—वह एक मात्र आत्महित में आनन्द मानने वाला इस लोक में विद्वानों द्वारा पूजित तथा एकान्त रूप से सुखी होता है। परभव में मोक्ष भी प्राप्त करता है।

११—जैसे यथार्थ नाम वाली रोहिणी नामक पुत्रवधू शालि के रोप द्वारा, उनकी वृद्धि करके समस्त धन की स्वामिनी बनी—

१२—उसी प्रकार जो भव्य प्राणी महाव्रतों को प्राप्त करके स्वयं उनका सम्यक् प्रकार से पालन करता है और दूसरे भी भव्य प्राणियों को उनके हित के लिए प्रदान करता है।

१३—वह इस भव में गौतम स्वामी के समान संघप्रधान एवं युगप्रधान पदवी को प्राप्त करता है तथा अपना और दूसरों का कल्याण करने वाला होता है।

१४—वह तीर्थ का अभ्युदय करने वाला, कुतीर्थिकों का निराकरण करने वाला और विद्वानों द्वारा पूजित होकर क्रमशः सिद्धि को भी प्राप्त करता है।

अष्टम अध्ययन

१—उग्ग-तव-संजमवओ पगिट्ठफलसाहगस्स वि जियस्स।
धम्मविसएवि सुहुमावि, होइ माया अणत्थाय॥

२—जह मल्लिस्स महावलभवम्मि तित्थगरनामबंधे वि ।
तवविसय-थेवमाया जाया जुवइत्तहेउत्ति ।।

१—उग्रतप तथा संयमवान् एवं उत्कृष्ट फल के साधक जीव द्वारा की गई सूक्ष्म और धर्मविषयक माया भी अनर्थ का कारण होती है, यथा—

२—मल्ली कुमारी को महावल के भव में तीर्थंकरनामकर्म का बंध होने पर भी तप के विषय में की गई थोड़ी-सी माया भी युवतीत्व (स्त्रीत्व) का कारण बन गई ।

नौवां अध्ययन

१—जह रयणदीवदेवी, तह एत्थं अविरई महापावा ।
जह लाहत्थी वणिया, तह सुहकामा इहं जीवा ।।
२—जह तेहिं भीएहिं, दिट्ठो आघायमंडले पुरिसो ।
संसारदुक्खभीया, पासंति तहेव धम्मकहं ।।
३—जह तेण तेसि कहिया, देवी दुक्खाण कारणं घोरं ।
तत्तो च्चिय नित्थारो, सेलगजक्खाओ नन्नत्तो ।।
४—तह धम्मकही भव्वाणं, साहए दिट्ठ-अविरइ-सहावो ।
सयलदुहहेउभूआ, विसया विरयंति जीवाणं ।।
५—सत्ताणं दुहत्ताणं, सरणं चरणं जिणिंदपण्णत्तं ।
आनन्दरूव-निव्वाण-साहणं तह य देसेइ ।।
६—जह तेसिं तरियव्वो, रुंदसमुद्दो तहेव संसारो ।
जह तेसिं सगिहगमणं, निव्वाणगमो तहा एत्थं ।।
७—जह सेलगपिट्ठाओ, भट्ठो देवीइ मोहियमईओ ।
सावय-सहस्स-पउरंमि, सायरे पाविओ निहणं ।।
८—तह अविरईइ नडिओ, चरणचुओ दुक्ख-सावयाइण्णो ।
निवडइ अपार-संसार-सायरे दारुणसरूवे ।।
९—जह देवीए अक्खोहो, पत्तो सट्ठाणं जीवियसुहाइं ।
तह चरणट्ठिओ साहू, अक्खोहो जाइ निव्वाणं ।।

१—रत्नद्वीप की देवी के स्थान पर यहाँ महापापमय अविरति समझना चाहिए। लाभ के अभिलाषी वणिकों की जगह यहाँ सुख की कामना करने वाले जीव समझना चाहिए ।

२—जैसे उन्होंने (जिनरक्षित और जिनपालनामक वणिकों ने) आघात-मंडल में एक पुरुष को देखा, उसी प्रकार संसार से भयभीत जन धर्मकथा (धर्मकथा करने वाले उपदेशक) को देखते हैं ।

३—जैसे उस पुरुष ने उन्हें बतलाया कि यह (रत्न देवी) घोर दुःखों का कारण है, और उससे निस्तार पाने का उपाय शैलक यक्ष के सिवाय अन्य नहीं है ।

४—उसी प्रकार अविरति के स्वभाव को जानने वाले धर्मोपदेशक भव्य जीवों से कहते हैं—इन्द्रियों के विषय समस्त दुःखों के हेतु हैं, अतः वे जीवों को उनसे विरत करते हैं ।

५—दुःखों से पीडित प्राणियों के लिए जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित चारित्र ही शरण है। वही आनन्दस्वरूप निर्वाण का साधन है।

६—जैसे उन वणिकों को विस्तृत सागर तरना था, उसी प्रकार भव्य जीवों को विशाल संसार तरना है। जैसे उन्हें अपने घर पहुँचना था, उसी प्रकार यहाँ मोक्ष में पहुँचना समझना चाहिए।

७—देवी द्वारा मोहितमति (जिनरक्षित) शैलक यक्ष की पीठ से भ्रष्ट होकर सहस्रों हिंसक जन्तुओं से व्याप्त सागर में निधन को प्राप्त हुआ।

८—उसी प्रकार अविरति से बाधित होकर जो जीव चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है वह दुःख रूपी हिंसक जन्तुओं से व्याप्त, भयंकर स्वरूप वाले अपार संसार-सागर में पड़ता है।

९—जैसे देवी के प्रलोभन-मोहजनक वचनों से क्षुब्ध न होने वाला (जिनपालित) अपने स्थान पर पहुँच कर जीवन और सुखों को अथवा जीवन संबंधी सुखों को प्राप्त कर सका, उसी प्रकार चारित्र में स्थित एवं विषयों से क्षुब्ध न होने वाला साधु निर्वाण प्राप्त करता है।

दशम अध्ययन

१—जह चंदो तह साहू, राहुवरोहो जहा तह पमाओ।
वण्णाई गुणगणो जह तहा खमाई समणधम्मा॥
२—पुण्णो वि पइदिणं जह, हायंतो सव्वहा ससी नस्से।
तह पुण्णचरित्तो वि हु, कुसीलसंसग्गिमाईहिं॥
३—जणियपमाओ साहू, हायंतो पइदिणं खमाईहिं।
जायइ नट्ठचरित्तो, तत्तो दुक्खाइं पावेइ॥
४—हीणगुणो वि हु होउं, सुहगुरुजोगाइ जणियसंवेगो।
पुण्णसरूवो जायइ, विवड्ढमाणो ससहरो व्व॥

१-यहाँ चन्द्रमा के समान साधु और राहु-ग्रहण के समान प्रमाद जानना चाहिए। चन्द्रमा के वर्ण, कान्ति आदि गुणों के समान साधु के क्षमा आदि दस श्रमणधर्म जानना चाहिए।

२-३—(पूर्णिमा के दिन) परिपूर्ण होकर भी चन्द्रमा प्रतिदिन घटता-घटता (अमावस्या को) सर्वथा लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार पूर्ण चारित्रवान् साधु भी कुशीलों के संसर्ग आदि कारणों से प्रमादयुक्त होकर, प्रतिदिन क्षमा आदि गुणों से हीन होता-होता अन्त में चारित्रहीन बन जाता है। इससे उसे दुःखों की प्राप्ति होती है।

४—कोई साधु भले हीन गुण वाला हो किन्तु सद्गुरु के संसर्ग से उसमें संवेग उत्पन्न हो जाता है तो वह चन्द्रमा के समान क्रमशः वृद्धि पाता हुआ पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

ग्यारहवां अध्ययन

१—जह दावद्दवतरुवणमेवं साहू जहेव दीविच्चा।
वाया तह समणा इयसपक्खवयणाइं दुसहाइं॥
२—जह सामुद्दयवाया तहण्णतित्थाइकडुयवयणाइं।
कुसुमाइसंपया जह, सिवमग्गाराहणा तह उ॥

३—जह कुसुमाइविणासो, सिवमग्गविराहणा तहा नेया।
जह दीववाउजोगे, बहु इड्ढी ईसि य अणिड्ढी ॥
४—तह साहम्मिय-वयणाण सहणमाराहणा भवे बहुया।
इयराणमसहणे पुण, सिवमग्गविराहणा थोवा ॥
५—जह जलहि-वाउजोगे, थेविड्ढी बहुयरा यऽणिड्ढी य।
तह परपक्ख-क्खमणे, आराहणमीसि बहु इयरं ॥
६—जह उभयवाउविरहे, सव्वा तरुसंपया विणट्ठत्ति।
अणिमित्तोभयमच्छररूवेह विराहणा तह य ॥
७—जह उभयवाउजोगे, सव्वसमिड्ढी वणस्स संजाया।
तह उभयवयणसहणे, सिवमग्गाराहणा वुत्ता ॥
८—ता पुन्नसमणधम्माराहणचित्तो सया महासत्तो।
सव्वेणवि कीरंतं, सहेज्ज सव्वंपि पडिकूलं ॥

१—जैसे दावद्रव जाति के वृक्ष कहे गए हैं, वैसे यहाँ साधु समझना चाहिए। जैसे द्वीप संबंधी वायु है, वैसे यहाँ श्रमण आदि (श्रमणी, श्रावक, श्राविका) रूप स्वपक्ष के दुस्सह वचन जानने चाहिए।

२—जैसे सामुद्रिक पवन है वैसे यहाँ अन्यतीर्थिकों के कटुक वचन आदि जानना। वृक्षों में पुष्प आदि सम्पत्ति के समान यहाँ मोक्षमार्ग की आराधना समझना।

३—पुष्प आदि समृद्धि के अभाव को यहाँ मोक्षमार्ग की विराधना जान लेना चाहिए। जैसे द्वीप संबंधी वायु के सद्भाव में अधिक समृद्धि और थोड़ी असमृद्धि होती है—

४—उसी प्रकार सार्धमिकों के दुर्वचनों को सहन करने से बहुत आराधना होती है, किन्तु अन्ययूथिकों के दुर्वचनों को सहन न करने से मोक्षमार्ग की किंचित् विराधना भी होती है।

५—जैसे सामुद्रिक वायु का संयोग मिलने पर किंचित् समृद्धि और बहुतर असमृद्धि होती है, उसी प्रकार परपक्ष (अन्ययूथिकों) के वचन सहन करने से थोड़ी आराधना होती है, (स्वयूथ्यों के वचन न सहने से) विराधना अधिक होती हैं।

६—जैसे दोनों—द्वैपिक और सामुद्रिक प्रकार के पवन के अभाव में समस्त तरु-सम्पदा (पत्र-पुष्प-फल आदि) का विनाश हो जाता है वैसे ही निष्कारण दोनों के प्रति मत्सरता होना यहाँ विराधना है।

७—जैसे दोनों प्रकार के पवन का योग प्राप्त होने पर वन-वृक्षसमूह को सर्व प्रकार की पूर्ण समृद्धि प्राप्त होती है उसी प्रकार दोनों पक्षों (स्वयूथिकों, अन्ययूथिकों) के दुर्वचनों को सहन करने से मोक्षमार्ग की पूर्ण आराधना कही गई है।

८—अतएव जिसके चित्त में पूर्ण श्रमणधर्म की आराधना करने की अभिलाषा है, वह सभी प्रकार के मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले प्रतिकूल व्यवहार-वचनप्रयोग, उपसर्ग आदि को सहन करे।

बारहवाँ अध्ययन

१—मिच्छत्तमोहियमणा पावपसत्तावि पाणिणो विगुणा।
फरिहोदगं व गुणिणो हवंति वरगुरुप्पसायाओ ॥

१—जिनका मन मिथ्यात्व से मूढ बना हुआ है, जो पापों में अतीव आसक्त हैं और गुणों से शून्य हैं वे प्राणी भी श्रेष्ठ गुरु का प्रसाद पाकर गुणवान् बन जाते हैं, जैसे (सुबुद्धि अमात्य के प्रसाद से) खाई का गंदा पानी शुद्ध, सुगंधसम्पन्न और उत्तम जल बन गया।

तेरहवाँ अध्ययन

१—संपन्नगुणो वि जओ, सुसाहु-संसग्गवज्जिओ पायं।
पावइ गुणपरिहाणिं, दद्दुरजीवोव्व मणियारो॥

अथवा

२—तित्थयरवंदणत्थं चलिओ भावेण पावए सग्गं।
जह दद्दुरदेवेणं, पत्तं वेमाणियसुरत्तं॥

१—कोई भव्य जीव गुण-सम्पन्न होकर भी, कभी-कभी सुसाधु के सम्पर्क से जब रहित होता है तो गुणों की हानि को प्राप्त होता है—सुसाधु-समागम के अभाव में उसके गुणों का ह्रास हो जाता है, जैसे नन्द मणिकार का जीव (सम्यक्त्वगुण की हानि के कारण) दर्दुर (मंडूक) के पर्याय में उत्पन्न हुआ। अथवा इस अध्ययन का उपनय यों समझना चाहिए—

तीर्थंकर भगवान् की वन्दना के लिए रवाना हुआ प्राणी (भले भगवान् के समक्ष न पहुँच पाए, मार्ग में ही उसका निधन हो जाए तो भी वह) भक्ति भावना के कारण स्वर्ग प्राप्त करता है। यथा-दर्दुर (मेंढक) मात्र भावना के कारण वैमानिक देव-पर्याय को प्राप्त करने में समर्थ हो सका।

चौदहवाँ अध्ययन

१—जाव न दुक्खं पत्ता, माणब्भंसं च पाणिणो पायं।
ताव न धम्मं गेण्हंति, भावओ तेयलीसुयव्व॥

१—प्रायः—कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्यों को जब तक दुःख प्राप्त नहीं होता और जब तक उनका मान-मर्दन नहीं होता, तब तक वे तेतलीपुत्र अमात्य की तरह भावपूर्वक—अन्तःकरण से धर्म को ग्रहण नहीं करते।

पन्द्रहवाँ अध्ययन

१—चंपा इव मणुयगई, धणो व्व भयवं जिणो दएक्करसो।
अहिछत्तानयरिसमं इह निव्वाणं मुणेयव्वं॥
२—घोसणया इव तित्थकरस्स सिवमग्गदेसणमहग्घं।
चरगाइणो व्व इत्थं सिवसुहकामा जिया बहवे॥
३—नंदिफलाइ व्व इहं सिवपहपडिवण्णगाण विसया उ।
तब्भक्खणाओ मरणं, जह तह विसएहि संसारो॥
४—तव्वज्जणेण जह इट्ठपुरगमो विसयवज्जणेण तहा।
परमाणंदनिबंधण-सिवपुरगमणं मुणेयव्वं॥

१—चम्पा नगरी के समान मनुष्यगति, धन्य सार्थवाह के समान एकान्त दयालु भगवान् तीर्थंकर और अहिच्छत्रा नगरी के समान निर्वाण समझना चाहिए।

२—धन्य सार्थवाह की घोषणा के समान तीर्थंकर भगवान् की मोक्षमार्ग की अनमोल देशना और चरक आदि के समान मुक्ति-सुख की कामना करने वाले बहुतेरे प्राणी जानना चाहिए।

३—मोक्षमार्ग को अंगीकार करने वालों के लिए इन्द्रियों के विषय (विषमय) नंदीफल के समान हैं। जैसे नन्दीफलों के भक्षण से मरण कहा, उसी प्रकार यहाँ इन्द्रियविषयों के सेवन से संसार-जन्म-मरण जानना चाहिए।

४—नन्दीफलों के नहीं सेवन करने से जैसे इष्ट पुर (अहिच्छत्रा नगरी) की प्राप्ति कही, उसी प्रकार विषयों के परित्याग से निर्वाण-नगर की प्राप्ति होती है, जो परमानन्द का कारण है।

सोलहवाँ अध्ययन

१—सुबहू वि तव-किलेसो, नियाणदोसेण दूसिओ संतो।
न सिवाय दोवतीए, जह किल सुकुमालियाजम्मे॥

अथवा

२—अमणुन्नमभत्तीए, पत्ते दाणं भवे अणत्थाय।
जह कडुयतुंबदाणं, नागसिरिभवंमि दोवईए॥

१—तपश्चर्या का कोई कितना ही कष्ट क्यों न सहन करे किन्तु जब वह निदान के दोष से दूषित हो जाती है तो मोक्षप्रद नहीं होती, जैसे सुकुमालिका के भव में द्रौपदी के जीव का तपश्चरण-क्लेश मोक्षदायक नहीं हुआ।

अथवा इस अध्ययन का उपनय इस प्रकार समझना चाहिए—सुपात्र को भी दिया गया आहार अगर अमनोज्ञ हो और भक्तिपूर्वक न दिया गया हो तो अनर्थ का कारण होता है, जैसे नागश्री ब्राह्मणी के भव में द्रौपदी के जीव द्वारा दिया गया कटुक तूंबे का दान।

सत्तरहवाँ अध्ययन

१—जह सो कालियदीवो अणुवमसोक्खो तहेव जइधम्मो।
जह आसा तह साहू, वणियव्वऽणुकूलकारिजणा॥
२—जह सद्दाइ-अगिद्धा पत्ता नो पासबंधणं आसा।
तह विसएसु अगिद्धा, वज्झंति न कम्मणा साहू॥
३—जह सच्छंदविहारो, आसाणं तह य इह वरमुणीणं।
जर-मरणाइविवज्जिय-संपत्ताणंद-निव्वाणं॥
४—जह सद्दाइसु गिद्धा, बद्धा आसा तहेव विसयरया।
पावेंति कम्मबंधं, परमासुहकारणं घोरं॥
५—जह ते कालियदीवा णीया अन्नत्थ दुहगणं पत्ता।
तह धम्मपरिब्भट्ठा, अधम्मपत्ता इहं जीवा॥
६—पावेंति कम्म-नरवइ-वसया संसार-वाहयालीए।
आसप्पमद्दएहि व, नेरइयाईहिं दुक्खाइं॥

१—जैसे यहाँ कालिक द्वीप कहा है वैसे अनुपम सुख प्रदान करने वाला श्रमणधर्म समझना चाहिए। अश्वों के समान साधु और वणिकों के समान अनुकूल उपसर्ग करने वाले (ललचाने वाले) लोग हैं।

२—जैसे शब्द आदि विषयों में आसक्त न होने वाले अश्व जाल में नहीं फंसे, उसी प्रकार जो साधु इन्द्रियविषयों में आसक्त नहीं होते वे साधु कर्मों से बद्ध नहीं होते।

३—जैसे अश्वों का स्वच्छंद विहार कहा, उसी प्रकार श्रेष्ठ मुनिजनों का जरा-मरण से रहित और आनन्दमय निर्वाण समझना। तात्पर्य यह है कि शब्दादि विषयों से विरत रहने वाले अश्व जैसे स्वाधीन-इच्छानुसार विचरण करने में समर्थ हुए, वैसे ही विषयों से विरत महामुनि मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

४—इससे विपरीत, शब्दादि विषयों में अनुरक्त हुए अश्व जैसे बन्धन-बद्ध हुए, उसी प्रकार जो विषयों में अनुरागवान् हैं, वे प्राणी अत्यन्त दुःख के कारणभूत एवं घोर कर्मबंधन को प्राप्त करते हैं।

५—जैसे शब्दादि में आसक्त हुए अश्व अन्यत्र ले जाए गए और दुःख-समूह को प्राप्त हुए, उसी प्रकार धर्म से भ्रष्ट जीव अधर्म को प्राप्त होकर दुःखों को प्राप्त होते हैं।

६—ऐसे प्राणी कर्म रूपी राजा के वशीभूत होते हैं। वे सवारी जैसे सांसारिक दुःखों को, अश्वमर्दकों द्वारा होने वाली पीडा के समान (परभव में) नारकों द्वारा दिये जाने वाले कष्टों के पात्र बनते हैं।

अठारहवां अध्ययन

१—जह सो चिलाइपुत्तो, सुंसुमगिद्धो अकज्जपडिबद्धो।
धण-पारद्धो पत्तो, महाडविं वसणसय-कलिअं॥
२—तह जीवो विसयसुहे, लुद्धो काऊण पावकिरियाओ।
कम्मवसेणं पावइ, भवाडवीए महादुक्खं॥
३—धणसेट्ठी विव गुरुणो, पुत्ता इव साहवो भवो अडवी।
सुय-मांसमिवाहारो, रायगिहं इह सिवं नेयं॥
४—जह अडवि-नयर-नित्थरण-पावणत्थं तएहिं सुयमंसं।
भुत्तं तहेह साहू, गुरूण आणाए आहारं॥
५—भवलंघण-सिवपावण-हेउं भुंजंति न उण गेहीए।
वण्ण-बल-रूवहेउं, च भावियप्पा महासत्ता॥

१—जैसे चिलातीपुत्र सुंसुमा पर आसक्त होकर कुकर्म करने पर उतारू हो गया और धन्य श्रेष्ठी के पीछा करने पर सैकड़ों संकटों से व्याप्त महा-अटवी को प्राप्त हुआ।

२—उसी प्रकार जीव विषय-सुखों में लुब्ध होकर पापक्रियाएं करता है। पापक्रियाएं करके कर्म के वशीभूत होकर इस संसार रूपी अटवी में घोर दुःख पाता है।

३—यहाँ धन्य श्रेष्ठी के समान गुरु हैं, उसके पुत्रों के समान साधु हैं और अटवी के समान संसार है। सुता (पुत्री) के मांस के समान आहार है और राजगृह के समान मोक्ष है।

४—जैसे उन्होंने अटवी पार करने और नगर तक पहुंचने के उद्देश्य से ही सुता के मांस का भक्षण किया, उसी प्रकार साधु, गुरु की आज्ञा से आहार करते हैं।

५—वे भावितात्मा एवं महासत्त्वशाली मुनि आहार करते हैं एक मात्र संसार को पार करने और मोक्ष प्राप्त करने के ही उद्देश्य से। आसक्ति से अथवा शरीर के वर्ण, बल या रूप के लिए नहीं।

उन्नीसवाँ अध्ययन

—वाससहस्सं पि जई, काऊणं संजमं सुविउलं पि।
अंते किलिट्ठभावो, न विसुज्झइ कंडरीयव्व॥
२—अप्पेण वि कालेणं, केइ जहा गहियसीलसामण्णा।
साहिंति निययकज्जं, पुंडरीयमहारिसि व्व जहा॥

१—कोई हजार वर्षों तक अत्यन्त विपुल-उच्चकोटि के संयम का पालन करे किन्तु अन्त में उसकी भावना संक्लेशयुक्त—मलीन हो जाए तो वह कंडरीक के समान सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

२—इसके विपरीत, कोई शील एवं श्रामण्य—साधुधर्म को अंगीकार करके अल्प काल में भी महर्षि पुण्डरीक के समान अपने प्रयोजन को—शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लक्ष्य को, प्राप्त कर लेते हैं।

व्यक्ति-नाम सूची

परिशिष्ट (३)

स्थल-विशेषसूची

(क) नगर-नगरी

(ख) पर्वत

(ग) जलाशय

(घ) उद्यान : वन

(ङ) द्वीप : देश : क्षेत्र

(च) भवन : गृह : विमान

(छ) प्रकीर्णक स्थल

आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
३. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, मद्रास
४. श्री एस. किशनचन्द्रजी चोरड़िया, मद्रास
५. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
७. श्री पुखराजजी शीशोदिया, ब्यावर
८. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
९. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद

स्तम्भ

१. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
२. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
३. श्री पूसालालजी किस्तूरचन्दजी सुराणा, बालाघाट
४. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
५. श्री तिलोकचन्दजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
६. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७. श्री हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री वर्द्धमान इन्डस्ट्रीज, कानपुर
१०. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रिखबचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री आर. परसनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
१६. श्री मिश्रीलालजी तिलोकचन्दजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, ब्यावर
२. श्री दीपचन्दजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
३. श्री ज्ञानराजजी मूथा, पाली
४. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
५. श्री रतनलालजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
६. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
७. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
८. श्री प्रेमराजजी जतनलालजी मेहता, मेड़ता
९. श्री जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला बागलकोट
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा, (K.G.F.) एवं जाडन
११. श्री केशरीमलजी जँवरीलालजी तालेरा, पाली
१२. श्री नेमीचन्दजी ललवाणी, चांगाटोला
१३. श्री बिरदीचन्दजी प्रकाशचन्दजी तलेसरा, पाली
१४. श्री सिरेकँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुमनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम
१५. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१६. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
१७. श्री लालचन्दजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
१८. श्री भैंरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, धोवड़ी तथा नागौर
१९. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट

२०. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२१. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूंठा
२२. श्री मोहनराजजी बालिया, अहमदाबाद
२३. श्री चेतनमलजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, नागौर
२५. बादलचन्दजी मेहता, इन्दौर
२६. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२७. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
२८. श्री इन्दरचन्दजी वैद, राजनांदगाँव
२९. श्री मांगीलालजी धर्मीचन्नजी चोरड़िया, चांगाटोला
३०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा, चांगाटोला
३१. श्री भंवरलालजी मूलचन्दजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री सिद्धकरणजी बैद, चांगाटोला
३३. श्री जालमचन्दजी रिखबचन्दजी बाफणा, आगरा
३४. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, अजमेर
३६. श्री घेवरचन्दजी पुखराजजी, गोहाटी
३७. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, आगरा
३८. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३९. श्री गुणचन्दजी दल्लीचन्दजी कटारिया, वेल्लारी
४०. श्री अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
४१. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडी-लोहारा
४२. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
४३. श्री जड़ावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४४. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४५. श्री जबरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४६. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी मेहता, कुप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
२. श्री अमरचन्दजी बालचन्दजी मोदी, ब्यावर
३. श्री चम्पालालजी मीठालालजी सकलेचा, जालना
४. श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
५. श्री भंवरलालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
८. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
९. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
१०. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
११. श्री पुखराजजी बुधराजजी बोहरा, पीपलिया
१२. श्री चम्पालालजी बुधराजजी बाफणा, ब्यावर
१३. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१४. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रुणवाल, वर
१५. श्री मोहनलालजी मंगलचन्दजी पगारिया, रायपुर
१६. श्री भंवरलालजी गोतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१७. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१८. श्री फूलचन्दजी गोतमचन्दजी कांठेड़, पाली
१९. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, पाली
२०. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
२१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२२. श्री माणकराजजी किशनराजजी, मेड़तासिटी
२३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता मेड़तासिटी
२४. श्री वी. गजराजजी बोकड़िया, सलेम
२५. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्

२६. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
२७. श्री हरकराजजी मेहता, जोधपुर
२८. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
२९. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टाटिया, जोधपुर
३०. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टाटिया, जोधपुर
३१. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
३२. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
३३. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
३४. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
३५. श्री आसुमल एण्ड कम्पनी, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लालचन्दजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री घेवरचन्दजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
३८. श्री पुखराजजी बोहरा, जोधपुर
३९. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
४०. श्री लालचन्दजी सिरेमलजी बाला, जोधपुर
४१. श्री ताराचन्दजी केवलचन्दजी कर्णावट, जोधपुर
४२. श्री मिश्रीलालजी लिखमीचन्दजी सांड, जोधपुर
४३. श्री उत्तमचन्दजी माँगीलालजी, जोधपुर
४४. श्री मांगीलालजी रेखचन्दजी पारख, जोधपुर
४५. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
४६. श्री सरदारमल एण्ड कम्पनी, जोधपुर
४७. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
४८. श्री नेमीचन्दजी डाकलिया, जोधपुर
४९. श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
५०. श्री मुन्नीलालजी, मूलचन्दजी, पुखराजजी गुलेच्छा, जोधपुर
५१. श्री सुन्दरबाई गोठी, महामन्दिर
५२. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा
५३. श्री पुखराजजी लोढ़ा, (महामन्दिर) जोधपुर
५४. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
५५. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
५६. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
५७. श्री भीकमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
५८. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनादगाँव
५९. श्री विजयलालजी प्रेमचन्दजी गोलेच्छा, राजनादगाँव
६०. श्री घीसूलालजी लालचन्दजी पारख, दुर्ग
६१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
६२. श्री ओखचन्दजी हेमराजजी पारख, दुर्ग
६३. श्री भंवरलालजी मूथा, जयपुर
६४. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
६५. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी काँकरिया, भिलाई
६६. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी, भिलाई
६९. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुड्डी
७०. श्री प्रेमराजजी मिट्ठालालजी कामदार, चावंडिया
७१. श्री भंवरलालजी माणकचन्दजी सुराणा, मद्रास
७२. श्री भंवरलालजी नवरतनमलजी साँखला, मेट्टूपालियम
७३. श्री सूरजकरणजी सुराणा, लाम्बा
७४. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
७५. श्री हरकचन्दजी जुगराजजी बाफणा, बैंगलोर
७६. श्री लालचन्दजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
७७. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७८. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
७९. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर

८०. श्री अखेचन्दजी भण्डारी, कलकत्ता
८१. श्री बालचन्दजी थानमलजी भुरट, (कुचेरा) कलकत्ता
८२. श्री चन्दनमलजी प्रेमचन्दजी मोदी, भिलाई
८३. श्री तिलोकचन्दजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
८४. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
८५. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, भैरुंदा
८६. श्री माँगीलालजी मदनलालजी, भैरुंदा
८७. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़तासीटी
८८. श्री भींवराजजी बागमार, कुचेरा
८९. श्री गंगारामजी इन्दरचन्दजी बोहरा, कुचेरा
९०. श्री फकीरचन्दजी कमलचन्दजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
९१. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
९२. श्री प्रकाशचन्दजी जैन, नागौर
९३. श्री भंवरलालजी रिखबचन्दजी नाहटा, नागौर
९४. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
९५. श्री पारसमलजी महावीरचन्दजी बाफणा, गोठन
९६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
९७. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
९८. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
९९. श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, दल्लीराजहरा
१००. श्री जंवरीलालजी शान्तिलालजी सुराणा, बुलारम
१०१. श्री फतेराजजी नेमीचन्दजी कर्णावट, कलकत्ता
१०२. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गोहाटी
१०३. श्री जुगराजजी बरमेचा, मद्रास
१०४. श्री कुशालचन्दजी रिखबचन्दजी सुराणा, बुलारम
१०५. श्री माणकचन्दजी रतनलालजी मुणोत, नागौर
१०६ श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०७. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भण्डारी, बैंगलोर
१०८. श्री रामप्रसन्न ज्ञान प्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
१०९. श्री तेजराजजी कोठारी, माँगलियावास
११०. श्री अमरचन्दजी चम्पालालजी छाजेड़ पादू बड़ी
१११. श्री मांगीलालजी शान्तिलालजी रुणवाल, हरसोलाव
११२. श्री कमलाकँवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
११३. श्री लक्ष्मीचन्दजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
११४. श्री भंवरलालजी माँगीलालजी बेताला, डेह
११५. श्री कंचनदेवी एवं निर्मलादेवी, मद्रास
११६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
११७. श्री चाँदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११८. श्री माँगीलालजी उत्तमचन्दजी बाफणा, बैंगलोर
११९. श्री इन्दरचन्दजी जुगराजजी बाफणा, बैंगलोर
१२०. श्री चम्पालालजी माणकचन्दजी सिंगी, कुचेरा
१२१. श्री संचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
१२२. श्री भूरमलजी दुल्लीचन्दजी बोकड़िया मेड़तासीटी
१२३. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़ सिकन्दराबाद
१२४. श्रीमती रामकुंवर धर्मपत्नी श्री चाँदमलजी लोढ़ा बम्बई
१२५. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
